" अथर्व वेद मंत्रकी संप्राप्ति होनेसे सब पुरुषार्थ सिद्ध होंगे । " यह अथर्व मंत्रोंका महत्त्व है, इस वेदमें (शांतिक कर्म) शांति स्थापनके कर्म, (पौष्टिक कर्म) पुष्टि बलवृद्धि आदिकी सिद्धि के कर्म, (राजकर्म) राज्यशासन, समाजव्यवस्था आदि कर्म के आदेश होनेके कारण यह वेद प्रजाहित की दृष्टिसे विशेष महत्त्व रखता है । इस विषयमें देखिये—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥

अथर्वपरिशिष्ट· ४ । ६

" जिस राजाके राज्यमें अथर्ववेद जाननेवाला विद्वान् शांति स्थापनके कर्मपर निरत रहता है ष्ट्र उपद्रवरहित होकर बढता जाता है । "

२ अथर्व शाखा ।

१ पैप्पलाद, २ तौद, ३ मौद, ४ शौनकीय, ५ जाजल, ६ जलद, ७ ब्रह्मवाद, ८ देवदर्श, ९ चारणवैद्य ये अथर्वके नौ शाखाभेद हैं । इनमें इस समय पिप्पलाद और शौनक ये दो संहितायें उपलब्ध हैं, अन्य उपलब्ध नहीं हैं । इनमें थोडासा मंत्रपाठभेद और सूक्त क्रमभेद भी है, अन्य व्यवस्था प्रायः समान है ।

३ अथर्व के कर्म ।

१ स्थालीपाकः — अन्नसिद्धि ।
२ मेधाजननम् — बुद्धिकी वृद्धि करनेका उपाय ।
३ ब्रह्मचर्यम् — वीर्य रक्षण, ब्रह्मचर्यव्रत आदि ।
४ ग्राम-नगर-राष्ट्र-वर्धनम् — ग्राम, नगर, कीले, राज्य आदि की प्राप्ति और उनका संवर्धन ।
५ पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादिसम्पत्साधकानि — पुत्र, पशु, धन, धान्य, प्रजा, स्त्री, हाथी, घोडे, रथ, पालकी आदि ऐश्वर्यके साधनोंकी सिद्धि करनेके उपाय ।
६ साम्मनस्यम्—जनतामें ऐक्य, मिलाप, प्रेम, एकता आदिकी स्थापना के उपाय।
७ राजकर्म—राजाके लिये करने योग्य कर्म ।
८ शत्रुत्रासनम्—शत्रुको कष्ट पहुंचानेका उपाय ।

९ संग्रामविजयः — युद्धमें विजय संपादन करना।

१० शस्त्रनिवारणम् — शत्रुओंके शस्त्रोंका निवारण करना।

११ परसेनामोहनोद्वेजनस्तंभनोच्चाटनादीनि — शत्रुसेनामें मोह भ्रम उत्पन्न करना, उनमें उद्वेग-भय-उत्पन्न करना, उनकी हलचल को रोकना, उनको उखाड देना आदिका साधन।

१२ स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि — अपनी सेनाका उत्साह बढाना, और उसको निर्भय करना।

१३ संग्रामे जयपराजयपरीक्षा — युद्धमें जय होगा या पराजय होगा इसका विचार।

१४ सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्माणि — सेनापति मंत्री आदि मुख्य ओहदेदारोंके विजयका उद्योग।

१५ परसेनासंचरणम् — शत्रुकी सेनामें संचार करके गुप्त रीतिसे सब ज्ञान प्राप्त करना और वहांके अपने ऊपर आनेवाले अनिष्टोंको दूर करना।

१६ शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशनम् — शत्रुद्वारा उखडे गये अपने राजाको पुनः स्वराष्ट्रमें स्थापन करनेके उद्योग।

१७ पापक्षयकर्म– पतनके साधनोंको दूर करना।

१८ गोसमृद्धिकृषिपुष्टिकराणि – गौ बैल आदिकोंका संवर्धन और कृषिका पोषण करना।

१९ गृहसम्पत्कराणि – घरकी शोभा बढानेके कर्म।

२० भैषज्यानि – रोग निवारक औषधियां।

२१ गर्भाधानादि कर्म — (सब संस्कार)

२२ सभाजयसाधनम् — सभामें जय, विवादमें जय और कलह शांत करनेके उपाय।

२३ वृष्टिसाधनम् — योग्य समयपर वृष्टि करानेका उपाय।

२४ उत्थानकर्म — शत्रुपर चढाई करना।

२५ वाणिज्यलाभः — क्रय विक्रय आदिमें लाभ।

२६ ऋणविमोचनम् — ऋण उतारना।

२७ अभिचारनिवारणम् — नाशसे अपना बचाव करना।

२८ अभिचारः — शत्रुके नाशका उपाय।

२९ स्वस्त्ययनम् — सुखसे देशदेशांतरमें भ्रमण।
३० आयुष्यम् — दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति।
३१ यज्ञयाग आदि।

इत्यादि अनेक विषय इस वेदमें आनेके कारण इसका अध्ययन विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे करना आवश्यक है। ये सब उपाय और कर्म मनुष्यमात्रके अभ्युदय निःश्रेयसके साधक होनेके कारण मानव जातीके लिये लाभदायक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। परन्तु यहां विचार इतनाही है कि, ये सब विषय अथर्ववेदके सूक्तोंसे हम किस रीतिसे जान कर अनुभवमें ला सकते हैं। निःसंदेह यह महान् और गंभीर तथा कष्टसे ज्ञान होनेयोग्य विषय है। इस लिये यदि सुविज्ञ पाठक इसमें अपना सहयोग देंगे तोही इस गंभीर विषयका कुछ पता लग सकता है, और गुप्त विषय अधिक खुल सकता है। क्यों कि किसी एक मनुष्यके प्रयत्नसे इस कठिन विषयकी उलझान होना प्रायः अशक्य ही है।

४ मनका संबंध।

अथर्ववेद द्वारा जो कर्म किये जाते हैं वे मनकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए सामर्थ्यसे ही किये जाते हैं, क्यों कि आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अंतःशक्तियोंसे ही अथर्ववेद का विशेष संबंध है, इस विषयमें देखिये—

मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति।
गोपथ ब्रा० ३।२

तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुरुते। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति॥
ऐतरेय ब्रा० ५।३३

अर्थात् "ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद द्वारा वाणीपर संस्कार होकर एक भाग सुसंस्कृत होता है और अथर्ववेद द्वारा मनपर संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है।" मनुष्यमें वाणी और मन ये ही मुख्य दो पक्ष हैं। उन दोनों से ही मानवी उन्नतिके साधक अभ्युदय निःश्रेयस विषयक कर्म होते हैं।

शरीरके रोग दूर करना हो अथवा राष्ट्रका विजय संपादन करना हो, तो ये सब कर्म मानसिक सामर्थ्यसे ही हो सकते हैं। इसी लिये अथर्ववेदने मनःशक्तिकी अभिवृद्धि द्वारा उक्त कर्म और विविध पुरुषार्थ सिद्ध करने के उपाय बताये हैं।

५ शांतिकर्म के विभाग।

समाज तथा राष्ट्रमें शांति स्थापन करना अथर्ववेद का मुख्य विषय है। वैमनस्य, शत्रुता, द्वेष आदि भावोंको दूर करके मित्रता, एक विचार, सुमनस्विता आदिकी वृद्धि करना अथर्ववेदका साध्य है। इसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथर्ववेदका शांति प्रकरण है। इस प्रकरणमें कई प्रकारकी शांतियां हैं, जिनका थोडासा वर्णन यहां करना उचित है—

१ भूचाल, विद्युत्पात आदिके भय निवारण करनेके लिये महाशान्ति।
२ आयुष्य प्राप्ति और वृद्धिके लिये वैश्वदेवी शांति।
३ अग्न्यादि भयकी निवृत्तिके लिये आग्नेयी शांति।
४ रोगादि निवृत्तिके लिये भार्गवी शान्ति।
५ ब्रह्मवर्चस- ज्ञानका तेज प्राप्त करनेके मार्गमें आनेवाले विघ्न दूर करनेके लिये ब्राह्मी शान्ति।
६ राज्यलक्ष्मी और ब्रह्मवर्चस प्राप्त करनेके लिये अर्थात् क्षात्र और ब्राह्म तेज की वृद्धि करनेके लिये बार्हस्पत्य शान्ति।
७ प्रजा क्षय न हो और प्रजा पशु अन्न आदिकी प्राप्ति हो इसलिये प्राजापत्या शान्ति।
८ शुद्धि करनेके लिये सावित्री शान्ति।
९ ज्ञान सम्पन्नताके लिये गायत्री शान्ति।
१० धनादि ऐश्वर्य प्राप्ति करने, शत्रुसे होनेवाला भय दूर करने और अपने शत्रुको उखाड देनेके लिये आङ्गिरसी शान्ति।
११ परचक्र दूर हो और अपने राष्ट्रका विजय हो तथा अपना बल, अपनी पुष्टि और अपना ऐश्वर्य बढे इस लिये ऐन्द्री शान्ति।
१२ राज्यका विस्तार करनेके लिये माहेन्द्री शान्ति।
१३ अपने धनका नाश न हो और अपना ऐश्वर्य बढे इस लिये करने योग्य कौबेरी शान्ति।
१४ विद्या तेज धन और आयु बढानेवाली आदित्या शान्ति।
१५ अन्नकी विपुलता करनेवाली वैष्णवी शान्ति।
१६ वैभव मान बढानेवाली तथा वस्तु संस्कार पूर्वक [illegible] शान्ति

करनेवाली वास्तोष्पत्या शान्ति।

१७ रोग और आपत्ति आदिके कष्टोंसे बचाने वाली रौद्री शान्ति।

१८ विजय प्राप्त कराने वाली अपराजिता शान्ति।

१९ मृत्युका भय दूर करनेवाली याम्या शान्ति।

२० जलभय दूर करनेवाली वारुणी शान्ति।

२१ वायुभय दूर करनेवाली वायव्या शान्ति।

२२ कुलक्षय दूर करनेवाली और कुलवृद्धि करनेवाली सन्तती शान्ति।

२३ यन्त्रादि भोग बढानेवाली तथा कारीगरीकी वृद्धि करनेवाली त्वाष्ट्री शान्ति।

२४ बालकोंको हृष्ट पुष्ट करके उनको अपमृत्युसे बचाने के लिये कौमारी शान्ति।

२५ दुर्गतिसे बचानेके लिये नैर्ऋती शान्ति।

२६ मलशुद्धि करनेवाली मारुद्गणी शान्ति।

२७ घोडोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये गांधर्वी शान्ति।

२८ हाथियोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये पारावती शान्ति।

२९ भूमिके संबंधी कष्ट दूर करनेके लिये पार्थिवी शान्ति।

३० सब प्रकारका भय दूर करनेवाली अभया शान्ति।

ये और इस प्रकारकी अनेक शान्तियां अथर्व वेदसे सिद्ध होती हैं। इनके नामोंका भी यदि विचार पाठक करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्यका जीवन सुखमय करनेके लिये ही इनका उपयोग निःसंदेह है। वेद मंत्रोंका मनन करके प्राचीन ऋषि मुनि अपनी उन्नति की विद्याएं किस रीतिसे सिद्ध करते थे, इसकी कल्पना इन शान्तियोंका विचार करनेसे हो सकती है। कई शान्तियोंके नामोंसे पता लग सकता है कि किस ऋषिकी योजनासे किस शांतिकर्मकी उत्पत्ति हुई। यदि वैदिक धर्म जीवित और जाग्रत करके फिर अपने जीवन में ढालना है तो पाठकोंको भी इसी दृष्टिसे विचार करना अत्यावश्यक है।

विविध इष्टियां, याग, क्रतु, मख आदिकी जो योजना वैदिक धर्ममें है, वह उक्त बातकी सिद्धता करनेके लिये ही है। इन सबका विचार कैसा है और इनकी सिद्धि किस रीतिसे की जा सकती है इसका यथामति विचार आगे किया जायगा। परन्तु यहां निवेदन है कि पाठकभी अपनी बुद्धियोंको इस दृष्टिसे काममें लावें और जो खोज होगी वह

प्रकाशित करें। क्यों कि अनेक बुद्धियोंके एकाग्र होनेसे ही यह विद्या पुनः प्रकट हो सकती है अन्यथा इसके प्रकट होनेका कोई संभव नहीं है।

६ मन्त्रोंके अनेक उद्देश्य।

अथर्ववेदके थोडेसे मन्त्रोंसे इतने विविध कर्म किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं, यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है, कि वेदके मन्त्र और सूक्त "अनेक मुख" होते हैं अर्थात् एकही सूक्त और एकही मंत्रसे अनेक उद्देश्योंकी सिद्धि होती है। मंत्रका उत्तानार्थ एक भाव बताता है, अंदरका गूढ आशय कुछ विशेष उपदेश देता है, व्यंग्य अर्थ श्लेषार्थ आदि अनेक रीतिसे अनेक उपदेश प्रकट होते हैं। इस कारण एकही मंत्र और एकही सूक्त अनेक विध उपदेश देते हैं, और इस ढंगसे अनेकानेक विद्याएं और अनेकानेक कर्म वेदसे प्रकट होते हैं और इन सब के द्वारा मनुष्यके ऐहिक और पारलौकिक सुखवृद्धिके साधन सिद्ध हो जाते हैं।

७ सूक्तोंके गण।

अथर्व वेदके सूक्तों और मंत्रोंके कई गण हैं, जिनके नाम "अभय गण, अपराजित गण, सांग्रामिक गण" इस प्रकार अनेक हैं। प्रथम कांडमें अपराजित गणके सूक्त निम्न लिखित हैं --

१ विद्मा शरस्य पितरं ० (१। २)
२ मा नो विदन् वि व्याधिनः ० (१। १९)
३ अदारसृद्भवतु देव ० (१। २०)
४ स्वस्तिदा विशां पतिः ० (१। २१)

इसके पश्चात् षष्ठ काण्डमें अपराजित गणके सूक्त निम्नलिखित हैं —

५ अव मन्युः ० (६। ६५)
६ निर्हस्तः शत्रुः ० (६। ६६)
७ परि वर्त्मानि ० (६। ६७)
८ अभिभूर्यज्ञः ० (६। ९७)
९ इन्द्रो जयाति ० (६। ९८)
१० अभि त्वेन्द्र ० (६। ९९)

कौनसा सूक्त किस गणमें है, यह समझनेसे उसका अर्थ करना, उसके अर्थका मनन करना और उससे बोध लेना, बडा सुगम हो सकता है । तथा गणोंके मंत्रोंके अंदर परस्पर संबंध देखना भी सुगम हो जाता है । इस लिये इस गणोंका विचार वेद पढनेके समय अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये । हम आगे बतायेंगे कि कौनसा सूक्त किस गणमें आता है और उसका परस्पर संबंध किस पद्धतिसे देखना होता है ।

पूर्वोक्त शांतियोंमें जिन जिन शान्तियोंका संबंध राज्यव्यवस्थासे है, उन शांतिकर्मोंके साथ अपराजित गणके मंत्रोंका संबंध है, इस एक बातसे पाठक बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकते हैं । एक एक गणके विषयमें हम स्वतंत्र निबंध लिखकर उसका अधिक विचार आगे करेंगे । उसका अनुसंधान पाठक करें इसी लिये यह बात यहां दर्शायी है ।

जब इन सब गणोंका विचार हो जायगा तब ही वेद की विद्या ज्ञात हो सकती है, अन्यथा नहीं । यहां यह भी स्पष्ट कहना आवश्यक है कि कई सूक्त किसी गणके साथ सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् वे स्वतंत्र हैं अथवा उनका सम्बन्ध गणसूक्तोंके समान किसी अन्य सूक्तोंसे नहीं है ।

" स्वतंत्र-सूक्त " और " गण-सूक्त " इनका विचार करनेके समय स्वतंत्र सूक्तके मंत्रोंका मनन स्वतंत्र रीतिसे करना चाहिये, और गणसूक्तोंके मंत्रोंका मनन संपूर्णगणोंके संबंधका विचार करके ही करना चाहिये ।

८ अथर्ववेदका महत्त्व ।

ऋग्वेदसे ज्ञान, यजुर्वेदसे उत्तम कर्म और सामवेदसे उत्तम पुरुषकी उपासना, इन तीन काण्डों का अभ्यास होनेके पश्चात् आत्माका ज्ञान और बल प्राप्त करनेके मार्ग बतानेका कार्य अथर्ववेद करता है । इस कारण इसको "ब्रह्मवेद" अथवा "आत्मवेद" भी कहते हैं।

उत्तम ज्ञान, प्रशस्त कर्म और उत्तम पुरुषकी उपासना द्वारा अंतःशुद्धि होनेके पश्चात् ब्रह्मका ज्ञान संभवनीय है, इस लिये यह पूर्वोक्त वेदत्रयीसे भिन्न यह " चतुर्थ वेद " कहा जाता है ।

उपासक लोग आत्माको जगत्में ढूंढते ढूंढते थक गये, उस समय उनको साक्षात्कार
कि " आत्माको जगत्में कहां ढूंढते हो ? यहां आओ और " अपने पासही उसे ढूंढो

अथार्वाङेनमेतास्वेवाऽप्स्वन्विच्छेति, तद्यदब्रवीदथार्वाङेन-
मेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति, तदथर्वाऽभवत् ॥

गोपथ ब्राह्मण १—४

" अब पासही उसे ढूंढो ! " वह पासही है। यह बात इस अथर्व [अथ+अर्वा
अथर्वा (क्)] वेदने कही, इसी लिये इसका नाम " अथर्व वेद " हुआ है। यह गो
ब्राह्मणका कथन अथर्ववेदका ज्ञानक्षेत्र कहां तक है इसका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें
रहा है। आत्माका पता अपने पासही लगना है, यह बताना अथर्ववेदके ज्ञान
है। इसी लिये इसका नाम " ब्रह्म वेद " है क्यों कि यही ब्रह्मका ज्ञान बताता है।

" थर्व " शब्द चंचलताका वाचक है। और " अ-थर्व " शब्द शांतिका अ
एकाग्रताका द्योतक है। आत्मानुभव अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार जो होना है, वह चि
चंचलता हटनेके पश्चात् और चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर उसमें शांति आनेके प
ही होना है। यह आत्मज्ञानके मार्गकी सूचना इस प्रकार अपने नामसे ही इस अथ
ने बता दी है। वेदके नामोंका महत्त्व पाठक यहाँ देख सकते हैं।

" अथर्वन् " (अथ+अर्वन्) इस शब्दका अर्थ " अब इस ओर " ऐसा होता
जगत्में दो पदार्थ हैं, एक मैं और दूसरा मेरेसे भिन्न संपूर्ण जगत्। हरएक म
समझता है कि मेरेसे भिन्न पदार्थोंसे ही मुझमें शक्ति आती है, मैं स्वयं अशक्त हूं
शक्ति दूसरोंसे प्राप्त होती है। इस सर्वसाधारण विचारसे भिन्न परंतु अत्यंत सत्य वि
जो अथर्ववेद जनताके सन्मुख रखना चाहता है, वह यह है कि " अब शक्तिके
अपनी ओर " ही देखो। सब जगत्में यह नियम देखो कि वृद्धि अंदरसे होती
वृक्ष अंदरसे बढते हैं, बालक अंदरसे बढते हैं, अर्थात् व्यक्तिकी वृद्धि अंदरसे हो
है, इस लिये अपने अंदर अपनी ओर देखकर विचार करो। बाह्य जगत्में न देखने
परंतु उसके साथ अपनी शक्तियोंको जोडकर अपनी उन्नतिके हेतु अपने अंदर दे
शक्ति अपने अंदर है न कि बाहर है। यह अथर्व वेदकी शिक्षा अत्यंत महत्त्वकी है

इस अथर्ववेदका स्वाध्याय करना है । ब्रह्मवेद होनेके कारण यह वेद संपूर्ण रीतिसे समझना कठिन है, इस लिये इस वेदके जितने मंत्र समझमें आवेंगे, उनकाही स्वाध्याय करना है । जिनका ठीक प्रकार ज्ञान नहीं हुआ उनके विषयमें हम कुछभी नहीं लिखेंगे। तथा जो मंत्र स्वाध्यायके लिये यहां लेंगे उनके विषयमें थोडेसे थोडे शब्दोंमेंही जो कुछ लिखना हो वह लिखेंगे, अर्थात् बहुत विस्तार नहीं करेंगे। परंतु जहां तक हो सके वहां तक कोई बात संदिग्ध नहीं छोडेंगे। इससे स्वाध्याय करनेवालोंको बडी सुविधा होगी ।

अथर्व वेद ।

प्रथम काण्ड ।

इस प्रथम कांडमें छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं ।

१ प्रथम अनुवाकमें छः सूक्त हैं, तीसरे सूक्तमें ९ मंत्र हैं; शेष पांच सूक्तोंमें प्रत्येकमें चार चार हैं । इस प्रकार इस अनुवाक में २९ मंत्र हैं ।

१ द्वितीय अनुवाकमें (७ से ११ तक) पांच सूक्त हैं । सप्तम सूक्तमें ७ और ग्यारहवें में ६; शेष तीनमें प्रत्येकमें चार चार मंत्र हैं । इस प्रकार कुल २५ मंत्र हैं ।

३ तृतीय चतुर्थ और पंचम अनुवाकों (१२ से २८ तक सूक्तों) के प्रत्येकसूक्तमें चार मंत्रवाले क्रमशः पांच, पांच और सात सूक्त हैं । तीनोंकी मंत्रसंख्या ६८ है ।

४ षष्ठ अनुवाकमें सात (२९ से ३५ तक) सूक्त हैं । २९ वें सूक्तमें छः मंत्र और ३४ वें में पांच मंत्र हैं, शेषमें चार चार हैं । इस प्रकार कुल मंत्रसंख्या ३१ है ।

इन ३५ सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त ३० हैं, पांच मंत्रवाला एक, छः मंत्रवाले दो, सात मंत्रवाला एक, और नौ मंत्रवाला एक है । यह सूक्त और मंत्रविभाग देखनेसे पता लगता है कि यह अथर्व वेदका प्रथम काण्ड प्रधानतया चार मंत्रवाले सूक्तों का ही है । इसका प्रथम सूक्त यह है, इस में बुद्धि बढानेका विषय कहा है जिसका नाम "मेधा जनन" है–

मेधाजनन ।

(१)

बुद्धिका संवर्धन करना ।

(ऋषिः- अथर्वा । देवता - वाचस्पतिः ।)

ॐ ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो ऽअद्य दधातु मे ॥ १ ॥

अन्वयः— विश्वा(नि) रूपाणि बिभ्रतः, ये त्रि-सप्ताः परियन्ति, तेषां तन्वः बला(नि) वाचस्पतिः अद्य मे दधातु ।

अर्थ— सब रूपोंको धारण करके, जो तीन - गुणा - सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते हैं, उनके शरीरके बल वाणीका स्वामी आज मुझे देवे ।

पदार्थ दो प्रकारके हैं एक रूपवाले और दूसरे रूप रहित । आत्मा परमात्मा रूप रहित हैं और संपूर्ण जगत् रूप वाले पदार्थोंसे भरा है । पदार्थोंके विविध रूप जो मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष वनस्पति पाषाण आदि में दिखाई देते हैं-कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं ? इस शंकाके उत्तरमें वेद कह रहा है, कि जगत्के मूलमें जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप, तेज,वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार-हैं ये ही संपूर्ण जगत् में दिखाई देने वाले विविध रूप धारण करते हैं । ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओंमें गुजरते हुए जगत के रूप और आकार धारण करते हैं । (१) सत्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गति हीन अवस्था, इन तीन अवस्थाओंमें पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरनेसे कुल इक्कीस पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टीका रूप धारण करते हैं !

सृष्टिके हरएक आकार धारी पदार्थमें बडी शक्ति है । हमारा शरीर भी सृष्टिके अंतर्गत होनेसे एक रूपवान पदार्थ है और इस में भी पूर्वोक्त " तीन गुणा सात "

पदार्थ हैं। और इसी कारण शरीरके अंदरके इन इक्कीस तत्त्वोंका संबंध बाह्य जगत् के पूर्वोक्त इक्कीस तत्त्वोंके साथ है। शरीरका स्वास्थ्य या रोगीपन इन संबंध के ठीक होने और न होनेपर अवलंबित है।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंको बाह्य जगत्के तत्त्वोंके साथ योग्य संबंध रखने द्वारा अपना आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदरसे बढानेकी सूचना इस मंत्र द्वारा यहां मिलती है। जैसे बाह्य शुद्ध वायुसे अपना प्राण का बल, बाह्य सूर्य प्रकाशसे अपने नेत्र का बल, इसी प्रकार अन्यान्य बल बढा कर अपनी शक्ति पराकाष्ठातक बढानी चाहिये। यह अथर्व वेदका मुख्य विषय है।

जगत का तत्त्वज्ञान जानकर, जगत् का अपने साथ संबंध अनुभव करके, अपना बल बढानेकी विद्या का अध्ययन करके, उसका अनुष्ठान करना चाहिये। यह उन्नतिका मूल मंत्र इस प्रथम मंत्रमें बताया है। यहां प्रश्न होता है, कि यह विद्या कौन दे सकता है? उत्तर में मंत्रने बताया है कि "वाचस्पति" ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है।

"वाचस्पति" कौन है? वाक्, वाच्, वाणी, वक्तृत्व, उपदेश, व्याख्यान ये समानार्थक शब्द हैं। वक्तृत्व करनेवाला अर्थात् उत्तम उपदेशक गुरु ही यहां वाचस्पति से अभिप्रेत है। इस अर्थको लेनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार हुआ–

"*मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंसे गुजर कर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हैं। इनके बलोंको अपने अंदर धारण करनेकी विद्या व्याख्याता गुरु आजही मुझे पढावे।*"

अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहिताका पाठ ऐसा है–

"ये त्रिपप्ता पर्यन्ति ...... । ... तेषां तन्वमभ्यादधातु मे ॥"

इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है–"जो मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमें गुजरकर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र (पर्यन्ति) घूमते हैं, व्याख्याता गुरु ही आज उनके बलोंको मेरे (तन्वं) शरीर में (अभ्यादधातु) धारण करावे, अर्थात् धारण करनेके उपाय बतावे।"

२

पुन॒रेहि॑ वाचस्पते दे॒वेन॒ मन॑सा स॒ह ।
वसो॑ष्पते॒ नि र॑मय॒ मय्ये॒वास्तु॒ मयि॑ श्रु॒तम् ॥ १ ॥

अन्वयः— हे वाचस्पते! देवेन मनसा सह पुनः एहि। हे वसोष्पते! निरमय। श्रुतं मयि मयि एव अस्तु।

अर्थ– हे वाणीके स्वामी! दिव्य मनके साथ सन्मुख आओ। हे वसुओं के स्वामी! मुझे आनंदित करो। पढा हुआ ज्ञान मुझमें स्थिर रहे।

इस मंत्रमें प्रारंभमें ही "पुनः" शब्द है। इसका अर्थ "बारंबार, पुनः पुनः अथवा संमुख" है। शिष्य विद्याकी एक ओर और गुरु दूसरी ओर होता है, इसलिये गुरु शिष्य के सन्मुख और शिष्य गुरुके सन्मुख होते हैं। इन दोनोंको इसी प्रकार रहना चाहिये। यदि ये परस्पर सन्मुख न रहे तो पढाई असंभव है।

गुरु (देवेन मनसा) दैवीभावनासे युक्त मनसेही शिष्यके साथ वर्ताव करे। मन दो प्रकार के हैं– एक देव मन, और दूसरा राक्षस मन। राक्षस मन जगत् में झगडे उत्पन्न करता है और देव मन जगत्में शांति रखता है। गुरु देवमनसे ही शिष्यको पढावे।

गुरु शिष्यको (नि रमय) रममाण करे, अर्थात् ऐसा पढावे कि जिससे शिष्य आनंदके साथ पढता जाय। इस शब्दके द्वारा पढाईकी "रमण पद्धति" वेदने प्रकट की है। इससे भिन्न " रोदन पद्धति" है जिसमें रोते हुए शिष्य पढाये जाते हैं।

गुरुके दो गुण इस मंत्रने बताये हैं। एक गुण (वाचस्पतिः) अर्थात् वाणीका प्रयोग करने में समर्थ, शिष्यको विद्या समझा देनेमें निपुण, उत्तम वक्ता। तथा दूसरा गुण (वसोष्पतिः) वसुओंका पति अर्थात् अग्न्यादि पदार्थोंका प्रयोग करने में निपुण। शब्दों द्वारा (Theoretical) ज्ञान जो कहेगा, उसको वस्तुओंद्वारा (Practical) साक्षात् प्रत्यक्ष करा देनेमें समर्थ गुरु होना चाहिये।

शिष्य भी ऐसा हो कि जो (मयि श्रुतं अस्तु) अपने में ज्ञान स्थिर रहनेकी इच्छा करनेवाला हो। अर्थात् दिलसे पढनेवाला और सच्चा (विद्यार्थी–विद्या+अर्थी) विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला हो।

इन अर्थोंको ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है —

"हे उत्तम उपदेश करनेवाले गुरु! देव भावसे युक्त मन से ही शिष्यके सन्मुख जा। हे अग्न्यादि वसुओंके प्रयोग कर्ता गुरु! तूं शिष्यको रमाता हुआ उसे विद्या पढाओ। शिष्य भी कहे कि पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर स्थिर रहे।"

अथर्ववेद पिप्पलाद संहितामें मंत्रका प्रारंभ "उप नेह" शब्दसे होता है और "वसोष्पते" के स्थानपर "असोष्पते" पाठ है। असुपति (असोः पति) का अर्थ प्राणोंका पति गुरु। "प्राणोंका पति" अर्थात् योगादि साधन द्वारा प्राणोंको स्वाधीन रखनेवाला उत्तम योगी गुरु हो। यह शब्दभी गुरुका एक उत्तम लक्षण बता रहा है।

३

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

अन्वयः- ज्यया उभे आर्त्नी इव, इह एव उभौ अभिवितनु । वाचस्पतिः नियच्छतु । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ।

अर्थ- डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटीयोंकी तरह, यहांही (दोनोंको) तनाओ। वाणीका पति नियमसे चले। पढाहुआ ज्ञान मेरे में स्थिर रहे।

धनुष्यकी दोनों कोटीयाँ डोरीसे तनी रहती हैं इस तनी हुई अवस्थामें ही धनुष्य विजयका साधन हो सकता है। जिस समय दोनों कोटियोंसे डोरी हट जाती है उस समय वह धनुष्य शत्रुनाश या विजय प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार जाती या समाजरूपी धनुष्यकी दो कोटियां गुरु और शिष्य हैं, इन दोनोंको विद्यारूपी डोरी बांधी गयी है और इस डोरीसे यह धनुष्य तना हुआ अर्थात् अपने कार्यमें सिद्ध रहता है। समाजको यह धनुष्य सदा सिद्ध रखना चाहिये। इसीकी सिद्धतासे जाती, समाज या राष्ट्र जीवित जाग्रत और उन्नत रहता है। जिस समय विद्याकी डोरी गुरु शिष्य रूपी धनुष्यसे हट जाती है उस समय अज्ञान युग शुरू होनेके कारण जाती पतित होजाती है।

(वाचस्पतिः) उत्तम वक्ता गुरुही स्वयं (नियच्छतु) नियममें चले और शिष्योंको नियमके अनुसार चलावे। गुरुकुल, आचार्यकुल अथवा विद्यालयादि संस्थाएं उत्तम नियमोंके अनुसार चलायीं जांय। वहां स्वेच्छा विहार न हो।

शिष्य प्रयत्न करें और पढा हुआ ज्ञान अपने अंदर सदा स्थिर रखनेके लिये अति दक्ष रहें। पहिले पढा हुआ ज्ञान स्थिर रहा तो ही आगे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह भाव ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

"जिस प्रकार डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटियां विजय के लिये तनी होती हैं, उसी प्रकार गुरु और शिष्य ये समाजकी दो कोटियां विद्यासे सज्ज रखिये। आचार्य स्वयं नियमानुसार चलें और शिष्योंको नियमानुसार चलावें। शिष्य अध्ययन किया हुआ ज्ञान दृढ करके आगे बढे।"

४

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

अन्वयः— वाचस्पतिः उपहूतः। वाचस्पतिः अस्मान् उपह्वयताम्।

श्रुतेन सङ्गमेमहि । श्रुतेन मा विराधिषि ।

अर्थ— वाणीका स्वामी बुलाया गया। वह वाणीका स्वामी हम सबको बुलावे। ज्ञानसे हम सब युक्त हों। हम ज्ञानके साथ कभी विरोध न करें।

" उपहूत " का अर्थ " बुलाया, पुकारा, आह्वान किया अथवा पूछा गया " है। उत्तम व्याख्याता गुरुको हमने बुलाया और उसे प्रश्न पूछे गये अर्थात् विद्याका व्याख्यान करने के लिये उसे आह्वान किया गया है। गुरुभी शिष्यके प्रश्न सुनकर उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देकर उनका समाधान करे। अर्थात् गुरु कोई बात शिष्यसे छिपाकर न रखे। इस प्रकार दोनोंके परस्पर प्रेमसे विद्याकी वृद्धि होती रहे।

हरएक अपने मनमें यह इच्छा रखे कि " हम सब ज्ञानसे युक्त हों, ज्ञानकी वृद्धि करते रहें और कभी ज्ञानकी प्रगतिमें बाधा न डालें, ज्ञानका विरोध न करें और मिथ्या ज्ञानका प्रचार न करें। "

इस स्पष्टीकरण का विचार करनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है–

" हम तत्त्व व्याख्याता गुरुसे प्रार्थना करते हैं, वह हमें योग्य उत्तर देवे। इस [प्रश्नोत्तरकी रीतिसे हम सब] ज्ञानसे युक्त होते रहें और कभी हमसे ज्ञानकी उन्नति में बाधा उत्पन्न न हो। "

मनन।

इस अथर्ववेदके प्रथम सूक्तके ये चार मंत्र शिष्यके मुख में रखे हैं, इसका अतिसंक्षेप से तात्पर्य यह है —

" जो इक्कीस [पदार्थ जगत्की वस्तुओंके] आकार धारण करते हुए [सर्वत्र] फैले हैं, उनकी शक्तियां मेरे [शरीरके अंदर स्थिर करनेकी विद्या] गुरु हमें सिखावे ॥ १ ॥ हे गुरु ! तू मनमें शुभ संकल्प धारण करके हमारे सन्मुख आ, हमें रमाते [हुए पढा]। प्राप्त किया हुआ ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ २ ॥ डोरीसे दोनों धनुष्कोटियोंके तनावके समान यहां तू [विद्यासे हम दोनोंको] तना [कर बांध दे] गुरु नियमसे चले और हमें चलावे। ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ ३ ॥ हम गुरुसे प्रश्न पूछते हैं, वह हमें उत्तर देवे। हम सब ज्ञानी बनें। कोईभी ज्ञानका विरोध न करे ॥ ४ ॥

इन मंत्रोंका जितना मनन होगा, इनपर जितना विचार होगा, उतना ज्ञान बढानेका उपाय- (मेधाजनन) – हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करें और अपनी परिस्थितिमें अपने ज्ञानकी वृद्धि करनेके उपाय सोचें। इसमें निम्न

लिखित पांच बातोंका अवश्य विचार हो—

१ विद्या– जिनसे जगत् बनता है उन मूल तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना और उनका अपनी उन्नतिसे संबंध देखना तथा उसका अनुष्ठान करनेका विधि जानना, यही सीखने योग्य विद्या है।

२ गुरु– उक्त सिखानेवाला गुरु (वाचस्पतिः) वाणीका उत्तम प्रयोग करने में समर्थ, उत्तम रीतिसे विद्या पढाने वाला हो, (वसोष्पतिः) अग्न्यादि मूल तत्त्वोंका प्रयोग यथावत् करनेवाला हो, (असोष्पतिः) प्राणविद्याका ज्ञाता हो। " पति " शब्द यहां " प्रभुत्व " (mastership) का भाव बताता है।

३ पढानेकी रीति–गुरु अपने (देवेन मनसा) मनके शुभ संकल्पके साथ पढावे। (निरमय) रमणपद्धतिसे पढावे, शिष्योंका आनंद बढाता हुआ पढावे। स्वयं (नियच्छतु) सुनियमोंसे चले और शिष्योंको सुनियमोंसे चलावे। शिष्योंके प्रश्नोंका (उपह्वयतां) आदर पूर्वक उत्तर देकर उनका समाधान करे।

४ शिष्य– शिष्य सदा प्रयत्न पूर्वक इच्छा करे कि (श्रुतेन संगमेमहि) हम ज्ञानी बनें, (श्रुतं मयि अस्तु) प्राप्त ज्ञान मेरे अंदर स्थिर रहे। तथा (श्रुतेन मा विराधिषि) ज्ञान का विरोध कभी न करें।

५ गुरुशिष्य– सज्ज धनुष्यके दोनों नोक जिस प्रकार डोरीसे तने रहते हैं, उस प्रकार विद्या रूपी डोरीसे समाजके गुरु शिष्य रूपी दोनों नोंक एक दूसरेसे पूर्णतया सुसंबध रहें। कभी उनमें ढीलेपन न आजावे।

यह सब सूक्त शिष्य के मुख द्वारा उच्चारित होनेके समान है, इससे अनुमान होता है कि गुरुको लाने, रखने आदि के प्रबंधादि व्ययका उत्तर दातृत्व शिष्यों या शिष्योंके संरक्षकोंपर ही पूर्णतया है।

अनुसन्धान।

इस प्रथम सूक्तमें " मेधाजनन " अर्थात् बुद्धिका संवर्धन करनेके मूलभूत नियम बताये हैं। गुरु, शिष्य तथा विद्यालय आदिका प्रबंध किस रीतिसे करना चाहिये, गुरु किस प्रकार पढावे, शिष्य किस ढंगसे पढे और दोनों मिलकर राष्ट्रकी उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार किया गया।

इसके पश्चात् विद्याकी पढाई शुरू होती है. जिसमें अपराजित गणका सूक्त " विद्मा शरस्य पितरं " यह है। अथर्ववेदमें यह द्वितीय सूक्त है। तृतीय सूक्त भी इसी वाक्य से प्रारंभ होता है। इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे। —

विजय सूक्त ।

(२)

यह "अपराजित गण" का प्रथम सूक्त है जिसका ऋषि "अथर्वा" और देवता "पर्जन्य" है।

विद्मा शरस्यं पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ १ ॥
ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥
वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥
यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

अर्थ-(शरस्य) शर का, बाणका पिता (भूरि-धायसं पर्जन्यं) बहुत प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला पर्जन्य है यह (विद्म) हम जानते हैं। तथा (अस्य) इसकी माता (भूरि-वर्पसं) बहुत प्रकारकी कुशलताओंसे युक्त पृथिवी है, यह हमें (सुविद्म) उत्तम प्रकारसे पता है॥ १॥ हे (ज्याके) माता! (नः) हम सब पुत्रों को। (परि नम) परिणत कर अर्थात् हमारे (तन्वं) शरीरको (अश्मानं) पत्थर जैसा सुदृढ (कृधि) कर (वीडुः) बलवान बनकर (अ-रातीः) अदान के भावोंको तथा (द्वेषांसि) द्वेषोंको अर्थात् सब शत्रुओंको (वरीयः) पूर्ण रीतिसे (अप कृधि) दूर कर॥ २॥ (यत्) जिस प्रकार (वृक्षं) वृक्षके साथ (परिषस्वजानाः) लिपटी हुई या बंधी हुई (गावः) गौएं अपने (ऋभुं शरं) तेजस्वी पुत्र शरको (अनुस्फुरं) फूर्तीके साथ (अर्चन्ति) चाहती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र! (अस्मत्) हमसे (दिद्युं शरुं) तेज-पुत्र-बाणको (यावय) दूर बढा॥ ३॥ जिस प्रकार (द्यां) द्युलोक और पृथ्वीके (अन्तः) बीचमें (तेजनं) तेज (तिष्ठति) होता है, (एव) इसी प्रकार यह (मुञ्जः) मुंज (रोगं च आस्रावं च) रोग और स्रावके (अंतः) बीचमें (इत तिष्ठतु) निश्चयसे रहे॥ ४॥

*

भावार्थ- धारण पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पर्जन्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सरकंडा-पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १ ॥ माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिणाम करावे कि जिससे वह बलवान बन कर शत्रुओंको पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥ जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवें अपने बछडेको वेगसे प्राप्त करना चाहती हैं, उसी प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे आगे बढे ॥ ३ ॥ जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोग और स्राव-घाव-के बीचमें शर ठहरे ॥ ४ ॥

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके हरएक वाक्यका आगे पीछेका संबंध देखकर जो भाव व्यक्त होता है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये । वह भाव देखने के लिये आगेका स्पष्टीकरण देखिये —

१ वैयक्तिक विजय ।

इस सूक्तमें पहिला वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश निम्न प्रकार बताये हैं—

१ उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मंत्र १)
२ शरीर बलवान बनाया जावे, (मंत्र २)
३ रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जावे, (मंत्र २)
४ शरीरमें फूर्ती लाई जावे, (मंत्र ३)
५ जगत् में अपना तेज फैलाने का यत्न किया जावे, (मंत्र ४)
६ शोधनों से रोगोंको दूर किया जावे, (मंत्र ४)

पाठक विचारकी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करेंगे, तो उनको उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारों मंत्रोंके अन्दर गुप्तरूपसे दिखाई देंगे । इनका विशेष विचार होनेके लिये यहां मंत्रोंके शब्दार्थ और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं—

२ पिताके गुण-धर्म-कर्म ।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म बतानेवाले ये शब्द आये हैं–" पिता, पर्जन्य, भूरि-धायस् , वृक्ष, द्यौः । " इनके अर्थों का बोध होने से पिताके गुण-धर्म-कर्मोंका बोध हो सकता है; इसलिये इनका आशय देखिये --

१ पिता– (पाता) रक्षक, संभालने वाला ।

२ पर्जन्यः– (पूर्ति+जन्यः) पूर्ति करने वाला, पूर्णता करनेवाला । न्यूनताको दूर करनेवाला ।

३ भूरिधायस्— (भूरि) बहुत प्रकारसे (धायस्) धारण पोषण करनेवाला, दाता, उदारचरित ।

४ वृक्षः–आधार, स्वयं धूप सह कर दूसरोंको छाया देनेवाला ।

५ द्यौः—प्रकाश देनेवाला, अंधकारका नाश करनेवाला ।

मुख्यतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म कर्मोंका प्रकाश कर रहे हैं । इनका आशय यह है–" पिता ऐसा हो कि जो अपने पुत्रादिकोंका उत्तम पालन करे उनके अंदर जो जो न्यूनताएं हों उनकी पूर्णता करे अर्थात् अपनी संतानको पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको हृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संतान की उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लडकियोंको ज्ञान दे कर उन को उत्तम नागरिक बनावे । "

३ माताके गुण--धर्म--कर्म ।

"माता, पृथिवी, भूरिवर्पस्, ज्याका, गौ " ये पांच शब्द पूर्वोक्त मन्त्रोंमें माताके गुणधर्मकर्मोंको प्रकट कर रहे हैं । इनका अर्थ देखिये–

१ माता–बालकोंका हित करनेवाली, ।

२ पृथिवी —क्षमाशील, सहनशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक कष्ट सहन करनेवाली ।

३ भूरिवर्पस्–(भूरि) बहुत (वर्पस्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यंत कुशल, सदा कर्म करनेमें दक्ष, परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली ।

४ ज्या, ज्याका–(ज्या–जया) जयका साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रस्सी, बलशालिनी ।

५ गौ–प्रगतिशील, दुग्धादिद्वारा पुत्रोंकी पुष्टि करनेवाली । किरण, स्वर्ग, रत्न, वाणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश, सूर्य आदिके शुभगुणोंसे युक्त ।

माता के गुणधर्म इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो रहे हैं । अर्थात्– " बालबच्चोंका हित करनेवाली क्षमाशील, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये करने योग्य कर्मोंमें सदा दक्ष रहने वाली, बहुतही कुशलतासे अपने कुटुंबकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, गौके समान दुग्धादिद्वारा बालकों की पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्गके समान सुखदायिनी, रत्नके समान घरकी शोभा बढानेवाली, शुभ भाषण करनेमें चतुर, विदुषी, जलके समान शांति बढानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शानेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अज्ञानान्धकार दूर करनेवाली माता होनी चाहिये " ये ।

पिताके गुणधर्मकर्म पहिले बताये, और यहां माताके गुण धर्म बताये हैं । ये आदर्श माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पाला तथा बढाया जायगा, वह भी सच्चा वीर पुत्रही होगा तथा पुत्रीभी उसी प्रकार वीरा बनेगी इसमें क्या संदेह है ?

४ पुत्रके गुण-धर्म-कर्म ।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पुत्रके गुणधर्मकर्म बतानेवाले ये शब्द हैं-" शरः,अश्मा-तनुः, वीडुः, ऋभुः, शरुः, दिद्युः, तेजनं, मुञ्जः, " इनके अर्थ ये हैं—

१ शरः-(शृणाति) जो शत्रुका नाश कर सकता है ।

२ अश्मा-तनुः-पत्थरके समान सुदृढ शरीरवाला ।

३ वीडुः—बलिष्ठ, शूर ।

४ ऋभुः-बुद्धिमान्, कुशल, कारीगर, तेजस्वी ।

५ शरुः-शत्रुका नाश करनेवाला ।

६ दिद्युः-तेजस्वी ।

७ तेजनः—प्रकाशमान ।

८ मुञ्जः-(मुञ्जति मार्जयति) शुद्धता और पवित्रता करनेवाला ।

पुत्र ऐसा हो कि जो "शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुदृढांगवाला हो,शूर, बुद्धिमान ,कुशल, कारीगर, तेजस्वी, यशस्वी, और पवित्र आचारवाला हो । " माता पिता को उचित है, कि वे ऐसा यत्न करें कि पुत्रमें ये गुणधर्म और कर्म बढें और इन गुणोंके द्वारा कुलका यश फैले ।

यह बात स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त गुणधर्म कर्मोंसे युक्त मातापिता होंगे तो उनके पुत्रों और पुत्रियोंमें ये गुण धर्म आसकते हैं ।

५ एक अद्भुत अलंकार ।
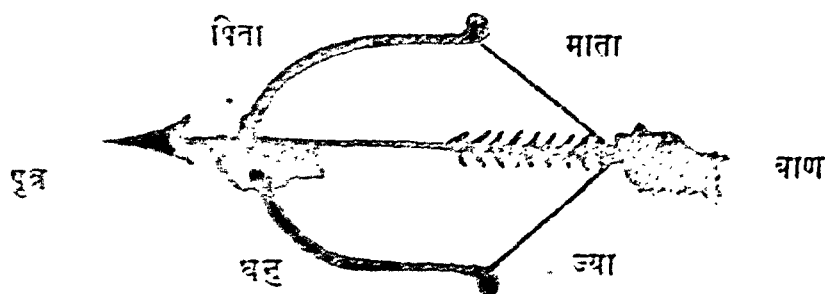
इस सूक्तमें बाण, धनुष्य और डोरीके अलंकारसे एक महत्त्व पूर्ण बातका प्रकाश किया है। धनुष्यका सख्त भाग जिसपर डोरी चढाई जाती है वह पुरुषरूप समझिये, डोरी मातारूप है और पुत्र बाण रूप है। पिताका बल और माता की प्रेरणा इनसे युक्त होकर पुत्र संसारमें फेंका जाता है। वह संसारमें जाकर अपने शत्रुओंका नाश करके यश का भागी होता है। इस अलंकारका विचार पाठक करेंगे तो उनको बडाही बोध प्राप्त हो सकता है। पुत्रकी उन्नतिमें माता पिताका कार्य कितना होता है इसकी ठीक कल्पना इस अलंकार से पाठकोंके मन में आ सकती है।

डोरीके विना केवल धनु जैसा शत्रुनाश करनेमें असमर्थ है उसी प्रकार स्त्रीके विना पुरुष असमर्थ है। तथा जिस प्रकार धनुके विना डोरी कार्य करनेमें असमर्थ है उसी रीतिसे पुरुषके विना स्त्री असमर्थ है। माता पिता की योग्य प्रेरणा और योग्य शिक्षा द्वारा सुशिक्षित बना पुत्रही जगत्में यशस्वी होता है। यह अलंकार गृहस्थियोंको बडाही बोधप्रद हो सकता है।

पिताके सूचक " पर्जन्य, वृक्ष" आदि शब्द तथा माताके सूचक" पृथिवी " आदि शब्द उनका ऋतुगामित्व होकर ब्रह्मचारी होनेकी सूचना कर रहे हैं। [इस विषयमें स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित "ब्रह्मचर्य" पुस्तकके अंदर अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य सूक्त-की व्याख्यामें पृथ्वी, पर्जन्य और वृक्षोंके ब्रह्मचर्यका प्रकरण अवश्य देखिये।]

६ कुटुम्बका विजय।

व्यक्तिकी उन्नति के विषयमें पहिले बतायाही है कि वैयक्तिक विजय की सूचनाएं इस सूक्तमें किस रूपमें हैं। कुटुंबके या परिवार के विजय का संबंध पूर्वोक्त अलंकार तथा स्पष्टीकरणके देखनेसे स्पष्ट हो सकता है। कुटुंबका विजय माता पिताके उत्तम कर्तव्य पालन करने और सुप्रजा निर्माण करनेसे ही प्राप्त होता है।

(मंत्र १) जैसा " अनेक प्रकारसे पोषण करने वाला पर्जन्य पिता ऋतुगामी होकर वर्षा ऋतुमें अपने जलरूपी वीर्यका सिंचन उत्तम उपजाऊ भूमिमें करता है और शर रूपी विजयी संतानकी उत्पत्ति करता है, " तद्वत् माता पिता ऋतुगामी होकर वीर पुत्र उत्पन्न करें।

(मंत्र २) " हे जयका साधन करनेवाली माता! अपने पुत्रोंका शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बना, जिससे पुत्र बलवान बनकर अपने शत्रुओंको दूर कर सके।"

(मंत्र ३)–" जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गौवें अपने तेज बछडेको चाहती हैं " [उसी प्रकार पिताके साथ रहती हुई माता भी अपने लिये तेजस्वी पुत्र उत्पन्न

करनेकी ही इच्छा करे।] अथवा – " (वृक्षं) धनुष्यके साथ रहनेवाली डोरी तेजस्वी (शरं) बाण ही वेगसे छोडती है। " [उसी प्रकार पतिकी उपासना करने वाली स्त्री वीर पुत्र उत्पन्न होनेकी ही अभिलाषा करे।] " हे (इन्द्र) परमात्मन् ! हमसे तेजस्वी (शरुः) बाण के समान तेजस्वी पुत्र चले अर्थात् उत्पन्न हो। " [मातापिता परमात्माकी प्रार्थना ऐसी करें कि हे ईश्वर ! हमारा ऐसा पुत्र होवे कि जो दूर दूर जाकर जगत्में विजय प्राप्त करे।]

(मंत्र ४) - " जिस प्रकार [पिता] द्युलोक और [माता] पृथिवीके मध्यमें विद्युत् आदि तेजस्वी पदार्थ [पुत्ररूपसे] रहते हैं, " [उसी प्रकार माता पिता के मध्यमें तेजस्वी सुंदर बालक चमकता रहे।] " जैसा मुञ्ज शर रोग और स्रावके घाव के बीचमें रहता है " अर्थात् उनको दूर करता है उसी प्रकार [यह पवित्रता करनेवाला पुत्र रोग और घावके मध्यमें रहता हुआ भी स्वयं अपना बचाव करे और कुलका भी उद्धार करे।]

यह भाव पहिलेकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें स्पष्टीकरणके लिये पूर्वापर संबंध रखनेवाले अधिक वाक्य जोड दिये हैं, जिससे पाठकों को पता लग जायगा, कि यह सूक्त कुटुंबके विजयका उपदेश किस ढंगसे दे रहा है। जातीके या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थितिपर तथा सुप्रजानिर्माणपर ही अवलंबित है। जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें। आदर्श कुटुंब व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है।

७ पूर्वापर सम्बन्ध।

पहिले सूक्त में विद्या पढानेका उपदेश दिया है। इस द्वितीय सूक्तसे पढाईका प्रारंभ होरहा है। विद्याका प्रारंभ बिलकुल साधारण बातसे ही किया गया है। घासकी उत्पत्ति का विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं। "मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इस लिये घासका पिता मेघ और माता भूमि है।" इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है ! इतनी साधारण घटना का उपदेश करते हुए " पिता-माता-पुत्र " रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बतायी है यह पाठक यहां देख चुके हैं। घास के अंदर मुञ्ज या शर एक जातीका घास है। यह सरकंडा स्वयं शत्रुका वध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्यों कि कोमल रहता है। परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कोमल सरकंडा धनुष्यपर

चढकर डोरीकी गति प्राप्त करके शत्रुका नाश करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार कोमल बालक गुरु गृहकी कठिन तपस्या करता हुआ ब्रह्मचर्य पालन रूपी काठिन वज्रसे युक्त होकर उन्नतिके नियमोंके पालनसे अपनी गतिको एक मार्गमें रखता हुआ अपने, कुटुंबके, जातीके, तथा राष्ट्रके शत्रुओंको भगादेनेमें समर्थ होता है।

पहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें धनुष्यकी उपमा देकर बताया है कि " गुरु शिष्यरूपी धनुष्यकी दो कोटियां विद्यारूपी डोरीसे तनी हैं। " प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस सूक्तका धनुष्यका दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है। दृष्टांतमें एकदेशी बात को ही देखना होता है, इस लिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई दोष नहीं है। प्रथम सूक्तके दृष्टांत में भी दोरीका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मातृत्वका सादृश्य है।

जंगलमें वृक्षके साथ बंधी हुई गाय भी अपने बछडे का स्मरण करती रहती है, गायका बछडेके ऊपर का प्रेम सबसे बढिया प्रेम है। इस प्रकारका प्रेम अपने बालक के विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये। अपना बालक अति तेजस्वी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे और इस भावना के साथ यदि माता अपने बालकको दूध पिलावेगी, तो उक्त गुण पुत्रमें निःसंदेह उतरेंगे। इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करनेके योग्य है।

८ कुटुम्बका आदर्श।

चतुर्थ मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना सन्मुख रखा है। द्युलोक पिता, भूमि माता और इनके बीच का तेजस्वी गोलक इनका पुत्र है। अपने घरमें भी यही आदर्श होवे। आकाश और पृथ्वीमें जैसा सूर्य होता है उसी प्रकार पिता और माताके मध्यमें बालक चमकता रहे। कितना उच्च आदर्श है! हरएक गृहस्थी इसका स्मरण रखें।

९ औषधिप्रयोग।

मुञ्ज घास अपने रस आदिसे अनेक रोगों और अनेक स्रावों को दूर करता है, क्यों कि मुञ्ज शोधक, शुद्धता तथा निर्मलता करने वाला है। इस लिये स्पष्ट है कि यदि शोधकता और पवित्रता का गुण अपने अंदर बढाया जाय तो रोगादि दूर रह करते हैं। हरएक के लिये यह सूचना अपनाने योग्य है।

मुञ्ज या शर औषधिका प्रयोग करके स्रावके रोग तथा मूत्राघात आदि रोग दूर होते हैं। इस विषय का सूचक उपदेश इस सूक्त के अंत में है। वैद्य लोग इसका विचार करें।

करनेकी ही इच्छा करे।] अथवा - "(वृक्षं) धनुष्यके साथ रहनेवाली डोरी तेजस्वी (शरं) बाण ही वेगसे छोडती है।" [उसी प्रकार पतिकी उपासना करने वाली स्त्री वीर पुत्र उत्पन्न होनेकी ही अभिलापा करे।] "हे (इन्द्र) परमात्मन्! हमसे तेजस्वी (शरुः) बाण के समान तेजस्वी पुत्र चले अर्थात् उत्पन्न हो।" [मातापिता परमात्माकी प्रार्थना ऐसी करें कि हे ईश्वर! हमारा ऐसा पुत्र होवे कि जो दूर दूर जाकर जगत्में विजय प्राप्त करे।]

(मंत्र ४) - "जिस प्रकार [पिता] द्युलोक और [माता] पृथिवीके मध्यमें विद्युत् आदि तेजस्वी पदार्थ [पुत्ररूपसे] रहते हैं," [उसी प्रकार माता पिता के मध्यमें तेजस्वी सुंदर बालक चमकता रहे।] "जैसा मुञ्ज शर रोग और स्रावके घाव के बीचमें रहता है" अर्थात् उनको दूर करता है उसी प्रकार [यह पवित्रता करनेवाला पुत्र रोग और घावके मध्यमें रहता हुआ भी स्वयं अपना बचाव करे और कुलका भी उद्धार करे।]

यह भाव पहिलेकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें स्पष्टीकरणके लिये पूर्वापर संबंध रखनेवाले अधिक वाक्य जोड दिये हैं, जिससे पाठकों को पता लग जायगा, कि यह सूक्त कुटुंबके विजयका उपदेश किस ढंगसे दे रहा है। जातीके या राष्ट्रके विजयकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थितिपर तथा सुप्रजानिर्माणपर ही अवलंबित है। जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी बुनियाद इस प्रकार कुटुंबमें रखें। आदर्श कुटुंब व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है।

७ पूर्वापर सम्बन्ध।

पहिले सूक्त में विद्या पढानेका उपदेश दिया है। इस द्वितीय सूक्तसे पढाईका प्रारंभ होरहा है। विद्याका प्रारंभ बिलकुल साधारण बातसे ही किया गया है। घासकी उत्पत्ति का विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं। "मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इस लिये घासका पिता मेघ और माता भूमि है।" इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है! इतनी साधारण घटना का उपदेश करते हुए "पिता-माता-पुत्र" रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बतायी है यह पाठक यहां देख चुके हैं। घास के अंदर मुञ्ज या शर एक जातीका घास है। यह सरकंडा स्वयं शत्रुका वध करनेमें समर्थ नहीं होता। क्यों कि कोमल रहता है। परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाये जाते हैं, तब वही कोमल सरकंडा धनुष्यपर

१० राष्ट्रका विजय।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्युदय के नियमोंमें समानता है। पाठक इस बातको अच्छी प्रकार जानते ही हैं। व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बात को छोडनेसे दोनों स्थानोंमें नियमों की एकरूपताका अनुभव आसकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान लें और पूर्व स्थानमें एक घर या एक परिवार के विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूप से राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकों को राष्ट्रीय उन्नतिका विषय पूर्वोक्त रीतिसे ही ज्ञात होजायगा।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है; घरमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाद्वारा चुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंध कर्त्री है। घरमें पुत्र वीर बनाया जाता है और राष्ट्रमें बालचमुओंमें वीरता बढाई जाती है। इत्यादि साम्य देख कर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और पुत्रके गुणधर्मकर्म यहां राष्ट्रीय क्षेत्रमें अतिविस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंको अतिस्पष्ट हो जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्न लिखित प्रकार होगा—

" प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सच्चा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है॥ १॥ हे मातृभूमि! हम सबके शरीर अति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान बनकर अपने शत्रुओंको भगा देंगे॥ २॥ जिस प्रकार गौ अपने बछडे का हित सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर! मातृभूमिके प्रेमसे बढे हुए वीर आगे बढें॥ ३॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तेजोगोलक होते हैं उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर चमकते रहें। तथा वे पवित्रता करते हुए रोगादि भयसे दूर हों॥ ४॥ "

साधारणतः यह आशय अतिसंक्षेपसे है। पाठक इस प्रकार विचार करें और वेदके आशय को समझनेका यत्न करें।

आरोग्य सूक्त।

[३]

पूर्व सूक्तका अनुसंधान करनेसे यह ज्ञान हुआ कि पर्जन्य पिता है, पृथ्वी माता है और इनसे हुए तृणवनस्पति आदि सब हैं। यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या पर्जन्य के समान सूर्य, चंद्र, वायु आदि भी वनस्पतियोंके लिये पितृस्थानीय हैं वा नहीं, क्या इनके न होते हुए, केवल अकेला एक ही पर्जन्य तृणादि की उत्पत्ति करनेमें समर्थ हो सकता है? इसके उत्तरमें यह तृतीय सूक्त है —

[ऋषि—अथर्वा। देवता—(मंत्रोंमें उक्त अनेक) देवताएं]

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ १॥
विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ २॥
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ३॥
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ४॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ५॥

अर्थ— (विद्म) हमें पता है कि शरके पिता (शत-वृष्ण्यं) सैकड़ों बलोंसे युक्त पर्जन्य, ... मित्र, ... वरुण, ... चंद्र, ... सूर्य ... (ये पांच) हैं। (तेन) इन पांचोंके वीर्यसे (ते तन्वे) तेरे शरीरके लिये मैं (शं करं) आरोग्य करूं। (पृथिव्यां) पृथिवीके ऊपर (ते निषेचनम्) तेरा सिंचन होवे और सब दोष (ते) तेरे शरीरसे (बाल् इति) शीघ्रही (बहिः अस्तु) बाहर हो जावें ॥ १—५ ॥

१० राष्ट्रका विजय।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्युदय के नियमोंमें समानता है। पाठक इस बातको अच्छी प्रकार जानते ही हैं। व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बात को छोडनेसे दोनों स्थानोंमें नियमों की एकरूपताका अनुभव आसकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान लें और पूर्व स्थानमें एक घर या एक परिवार के विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूप से राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकों को राष्ट्रीय उन्नतिका विषय पूर्वोक्त रीतिसे ही ज्ञात होजायगा।

घरमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है; घरमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाद्वारा चुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंध कर्त्री है। घरमें पुत्र वीर बनाया जाता है और राष्ट्रमें बालचमुओंमें वीरता बढाई जाती है। इत्यादि साम्य देख कर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और पुत्रके गुणधर्मकर्म यहां राष्ट्रीय क्षेत्रमें अतिविस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंको अतिस्पष्ट हो जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्न लिखित प्रकार होगा—

" प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सच्चा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मातृभूमि! हम सबके शरीर अति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान बनकर अपने शत्रुओंको भगा देंगे ॥ २ ॥ जिस प्रकार गौ अपने बछडे का हित सदा चाहती है, उसी प्रकार हे ईश्वर! मातृभूमिके प्रेमसे बढे हुए वीर आगे बढें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तेजोगोलक होते हैं उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर चमकते रहें। तथा वे पवित्रता करते हुए रोगादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥ "

साधारणतः यह आशय अतिसंक्षेपसे है। पाठक इस प्रकार विचार करें और वेदके आशय को समझनेका यत्न करें।

आरोग्य सूक्त।

[३]

पूर्व सूक्तका अभ्यास करनेसे यह ज्ञान हुआ कि पर्जन्य पिता है, पृथ्वी माता है और इनके पुत्र वृक्षवनस्पति आदि सब हैं। यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या पर्जन्य के समान सूर्य, चंद्र, वायु आदि भी वृक्षवनस्पतियोंके लिये पितृस्थानीय हैं या नहीं, क्या इनके न होते हुए, केवल अकेला एक ही पर्जन्य तृणादि की उत्पत्ति करनेमें समर्थ हो सकता है? इसके उत्तरमें यह तृतीय सूक्त है —

[ऋषि–अथर्वा। देवता-- (मंत्रोंमें उक्त अनेक) देवताएँ]

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥
विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

अर्थ— (विद्म) हमें पता है कि शरके पिता (शत-वृष्ण्यं) सैकड़ों बलोंसे युक्त पर्जन्य. ··· मित्र, ··· वरुण, ··· चंद्र, ··· सूर्य ··· (ये पांच) हैं। (तेन) इन पांचोंके वीर्यसे (ते तन्वे) तेरे शरीरके लिये मैं (शं करं) आरोग्य करूं। (पृथिव्यां) पृथिवीके अन्दर (ते निषेचनम्) तेरा सिंचन होवे और सब दोष (ते) तेरे शरीरसे (बाल् इति) शीघ्रही (बहिः अस्तु) बाहर हो जावें। ॥ १—५ ॥

भावार्थ-तृणादि मनुष्य पर्यंत सृष्टिकी माता भूमि है और पिता पर्जन्य मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य ये पांच हैं। इनमें अनंत बल हैं। उनके बलोंका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके शरीर में आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्यका जीवन दीर्घ हो सकता है और उसके शरीरसे सब दोष बाहर हो जाते हैं।

आरोग्य का साधन।

पांच मंत्रोंका मिलकर यह एकही गणमंत्र है और इस में मनुष्यादि प्राणियों तथा वृक्षवनस्पतियोंके आरोग्यके मुख्य साधन दिये हैं। "शर" शब्द घास वाचक होता हुआ भी सामान्य अर्थमें यहां उपलक्षण है और तृणसे लेकर मनुष्य तक सृष्टिका आशय उसमें है। विशेष अर्थमें "शर" संज्ञक वनस्पतिका गुणधर्म बताया जाता है यह बात भी स्पष्ट ही है।

इन मंत्रोंमें "पांच पिता" कहे हैं। पिता "शब्द" पाता अर्थात् रक्षा, संरक्षण करनेवाला इस अर्थमें यहां प्रयुक्त है। तृणादिसे लेकर मानव सृष्टि पर्यंत सब की सुरक्षा करनेका कार्य इनका ही है। ये पांचों सब सृष्टिकी रक्षा कर ही रहे हैं। देखिये।

१ पर्जन्य वृष्टिद्वारा जलसिंचन करके सबका रक्षण करता है।

२ मित्र प्राणवायु है और इस वायुसे ही सब जीवित रहते हैं।

३ वरुण जलकी देवता है और वह जल सबका जीवन ही कहलाता है।

४ चंद्र औषधियोंका अधिराजा है और औषधियाँ खाकर ही मनुष्य पशुपक्षी जीवित रहते हैं।

५ सूर्य सबका जीवन दाता प्रसिद्ध ही है। सूर्य न रहे तो सब जीवन नष्ट ही होगा।

इन पांचोंकी विविध शक्तियां हमारे जीवनके लिये सहायक हो रहीं हैं, इसलिये ये पांचों हमारे संरक्षक हैं और संरक्षक होनेसे ही हमारे पितृस्थानीय हैं। इनसे आरोग्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? यह प्रश्न बडा गहन और बडी अन्वेषणाकी अपेक्षा रखता है, परंतु संक्षेपसे यहां इस विधिकी सूचना दी जाती है, पाठक विचार करें और लाभ उठावें —

सूर्य देवसे आरोग्य

सूर्य पवित्रता करनेवाला है । सूर्यकिरण से जीवनका तत्त्व सर्वत्र फैलता है । सूर्य किरणोंका स्नान नंगे शरीरसे करनेसे अर्थात् धूपमें अपना शरीर तपानेसे आरोग्य प्राप्त होता है । सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा करनेका भी एक वडा भारी शास्त्र है ।

पञ्चपाद् पिता ।

ये पांच देव अनेक प्रकारसे मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदिकोंका आरोग्य साधन करते हैं । वृक्षवनस्पति और आरण्यक पशु उक्त पंचपाद पितरों अर्थात् पाचों देवोंके साथ – पांचों पिताओंके साथ – पांचों रक्षकोंके साथ नित्य रहते हैं, इस लिये सदा आरोग्य संपन्न होते हैं । नागारिक पशुपक्षी मनुष्यके कृत्रिम–बनावटी जीवनसे संबंधित होने के कारण रोगोंसे अधिक ग्रस्त होते हैं । जंगली लोग प्रायः सीदे सादे रहने के कारण अधिक नीरोग होते हैं । परंतु नागरिक लोग कि जो सदा तंग मकानों में रहते हैं, सदा तंग वस्त्रोंसे वेष्टित होते हैं और जल वायु तथा सूर्य प्रकाश आदिकों से अपने आपको दूर रखते हैं, अर्थात् जो अपने पंचपिताओंसे ही विमुख रहते हैं वेही अधिकसे अधिक रोगी होते हैं और प्राति दिन इन तंगीसे पीडित नागरिक लोगोंमें ही विविध रोग वढरहे हैं और अस्वास्थ्यसे ये ही सदा दुःखी होते हैं ।

इस लिये वेद कहता है कि पर्जन्य, मित्र (प्राण) वायु, जलदेव वरुण, चंद्र, सूर्य-देव इन पांच देवोंको अपना पिता अर्थात् अपना संरक्षक जानो और—

तेना ते तन्वे शं करम् ।

"इन पांचों देवोंके विविध वलोंसे अपने शरीरका आरोग्य प्राप्त करो" अथवा "मैं उक्त देवोंकी शक्तियोंसे तेरे शरीर का आरोग्य करूं ।" आरोग्य इनसेही प्राप्त होता है । आरोग्यका मुख्य ज्ञान इस मंत्रमें स्पष्टतया आगया है । पाठक इनका विचार करें और इस निसर्गनियमोंका पालन करके अपना आरोग्य प्राप्त करें ।

पृथ्वीमें जीवन ।

पृथ्वीमें प्राणिमात्रका सामान्यतः और मनुष्यका उच्च जीवन विशेषतः उक्त पांचों शक्तियोंपर ही निर्भर है । मंत्रका " निषेचन " शब्द " जीवनरूप जल " का सूचक है । इस लिये—

मूत्रदोष निवारण।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ६॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥७॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥८॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥९॥

अर्थ— (यत्) जो (आंत्रेषु) आंतोंमें (गवीन्योः) मूत्र नाडियोंमें तथा जो (वस्तौ) मूत्राशयमें मूत्र (संश्रुतं) इकट्ठा हुआ है। वह तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर (मुच्यताम्) निकल जावे॥ ६॥ (वेशन्त्याः) झील के पानीके (वर्त्रं) बंध को (इव) जिस प्रकार खोल देते हैं तद्वत् तेरे (मेहनं) मूत्रद्वार को (प्रभिनद्मि) मैं खोल देता हूं""॥७॥ समुद्रके अथवा (उदधेः) बडे तालाब के जलके लिये मार्ग खुला करनेके समान तेरा (वस्ति-बिलं) मूत्राशयका बिल मैंने (विषितं) खोल दिया है"" ॥ ८ ॥ जिस प्रकार धनुष्यसे छूटा हुआ (इषुका) बाण (परा अपतत्) दूर जाता है, उस प्रकार तेरा सब मूत्र शीघ्र बाहर निकल जावे॥ ९॥

भावार्थ— तालाब आदिसे जिस प्रकार नहर निकाल देते हैं जिससे तालाब का पानी सुख पूर्वक बाहर जाता है उसी प्रकार मूत्राशयसे मूत्र मूत्रनाडियों द्वारा मूत्रेंद्रियसे बाहर निकल जावे।

मूत्र खुली रीतिसे बाहर जाने से शरीरके बहुत दोष दूर हो जाते हैं। शरीरके सब विष मानो इस मूत्रमें इकट्ठे होते हैं और वे मूत्र बाहर जानेसे विषभी उसके साथ बाहर जाते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है। इसीलिये किसी रोगी का मूत्र अंदर रुक जानेसे मूत्रके विष शरीरमें फैलते हैं और रोगी शीघ्रही मर जाता है। इस कारण आरोग्य के लिये मूत्रका उत्सर्ग नियम पूर्वक होना अत्यंत आवश्यक है। यदि वह मूत्र मूत्राशयमें रुक जाय तो मूत्र नलिका को खोल कर मूत्रका मार्ग खुला करना आवश्यक है। इस कार्य के लिये शर या मुञ्ज औषधि का प्रयोग बडा सहायक है। वैद्य लोग इसका उपयोग करें। इस पर दूसरा उपाय मूत्रद्वार खोलनेका है, इसके लिये लोह शलाका, वस्तियंत्र (Catheter कैथेटर) का प्रयोग करनेकी सूचना इन मंत्रों की उपमाओं से मिलती है। यह मूत्राशय यंत्र सोनेका, चांदीका या लोहेका बनाया जाता है, यह बारीक नलिका आरंभमें गोल सी होती है। आजकल यह रबर आदि

अन्यान्य पदार्थोंका भी बनाबनाया मिलता है। इस समय इसको हरएक डाक्टरके पास पाठक देख सकते हैं। यह मूत्र इंद्रियसे मूत्राशय में योग्य रीतिसे डाला जाता है। यह वहां पहुंचनेसे अंदर रुका हुआ मूत्र इसके अंदर की नलीसे बाहर हो जाता है।

योगी लोग इसकी सहायतासे वज्रोली अमरोली आदि क्रियाएं साध्य करते हैं मूत्र-द्वारसे कोसा दूध अथवा जल आदि अंदर मूत्राशयमें खींचने और उसके द्वारा मूत्राशय को शुद्ध करनेका सामर्थ्य अपनेमें बढाते हैं। इसका अभ्यास बढानेसे न केवल मूत्राशय पर प्रभुत्व प्राप्त होता है, परंतु संपूर्ण वीर्य नाडियोंके समेत संपूर्ण वीर्याशयपर भी प्रभुत्व प्राप्त होता है। ऊर्ध्वरेता होनेकी सिद्धि इसी के योग्य अभ्याससे प्राप्त होती है। योगी लोग इस अभ्यास को अतिगुप्त रखते हैं और योग्य परीक्षा होनेके पश्चात् ही यह अभ्यास शिष्यको सिखाया जाता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य रहना इसी अभ्याससे साध्य होता है। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन होनेकी संभावना इस अभ्यास से हो सकती है।

जिस प्रकार तालाव या कूवेके अंदरसे पहिला जल निकालने से उसकी स्वच्छता हो सकती है, और शुद्ध नया जल उसमें आनेसे उसका अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है, इसी प्रकार मूत्राशय का पूर्वोक्त प्रकार योगादि साधन द्वारा बल बढानेसे बडा ही आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

सामान्य मनुष्योंके लिये मुञ्ज औषधिके प्रयोगसे, अथवा मूत्राशयमें मूत्रवस्ति यंत्रके प्रयोगसे लाभ होता है। योगियोंको वज्रोली आदि अभ्याससे मूत्रस्थानकी सब नस नाडी बलवती और शुद्ध करनेसे आरोग्य प्राप्त होता है।

पूर्वापर सम्बन्ध।

द्वितीय सूक्त में आरोग्य साधनका विषय प्रारंभ किया था। उसी आरोग्य प्राप्तिका विस्तृत नियम इस तृतीय सूक्तके प्रथम पांच मंत्रोंके गणमें कहा है। सबके आरोग्य का मानो यह मूलमंत्र ही है। हरएक अवस्थामें सुगमतया आरोग्यसाधन करनेका उपाय इस गणमंत्रमें वर्णन किया है। इस तृतीय सूक्तके अंतिम चार मंत्रोंमें मूत्राशयके दोष को दूर करनेका साधन बताया है।

इस सूक्तका "शत-वृष्ण्यं" शब्द अत्यंत महत्त्व पूर्ण है। "वृष्ण्य" शब्द बल, वीर्य, उत्साह, प्रजननसामर्थ्य आदिका वाचक है। ये सैंकडों बल देनेवाले पूर्वोक्त पांचों देव हैं यह यहां इस सूक्त से स्पष्ट हुआ है। वीर्यवर्धक अन्य उपायोंका अवलंबन न करके पाठक

यदि इन पांचोंको ही योग्य रीतिसे वर्तते रहेंगे तो उनको अनुपम लाभ हो सकता है।

द्वितीय सूक्तमें, " भूरि धायस " शब्द है जिसका अर्थ " अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला" पूर्व स्थानमें दिया है। यह भी पर्जन्य के साहचर्य के कारण इस सूक्तमें अनुवृत्तिसे आता है और पांचों देवोंका विशेषण बनता है। पाठक इस शब्दको लेकर मंत्रोंका अर्थ देखें और बोध प्राप्त करें।

" भूरि–धायस " शब्द का "शत–वृष्ण्य" शब्दसे निकट संबंध है, मानो ये दोनों शब्द एक दूसरे के सहायक हैं। विशेष प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला ही सेंकडों वीर्योंको देने वाला हो सकता है। क्योंकि पुष्टिके साथ ही बलका संबंध है। इस प्रकार पूर्व सूक्तसे इस सूक्तका संबंध देखिये।

शारीर शास्त्रका ज्ञान।

इस सूक्तके मननसे पाठकोंने जान ही लिया होगा कि शारीर शास्त्र का ज्ञान अथर्वविद्या के यथावत् जाननेके लिये अत्यंत आवश्यक है। मूत्राशयमें शलाकाका प्रयोग विना वहांके अवयवोंके जाननेसे नहीं हो सकता। शारीरको न जाननेवाला मनुष्य योगसाधन भी नहीं कर सकता, तथा अथर्ववेदका ज्ञान भी यथा योग्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यह "अंगि–रस" का विषय है, अर्थात् अंगोंके रसोंकाही यह अथर्व शास्त्र है। अर्थात् जिसने अंगोंका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अंगोंके अंदरके जीवन रसोंका जिसको कुछभी ज्ञान नहीं है वह अथर्व विद्यासे बहुत लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

डाक्टर लोग जिस प्रकार मुर्दोंकी चीर फाड करके शरीरांगोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार योगियों और अथर्वांगिरसविद्याके पढने वालोंको करना उचित है।

हमने यहां सोचा था कि इस सूक्तमें वर्णित शलाकाके प्रयोग के लिये आवश्यक अवयवोंका परिचय चित्रोंद्वारा किया जावे, परंतु इससे कई लोग अधिक भ्रममें भी पड सकते हैं और जो चित्रोंको ठीक प्रकार समझ नहीं सकते वे उलटाही प्रयोग करके दोष के भागी हो सकते हैं। इस भय को सामने देख कर इस बातको चित्रोंसे स्पष्ट करनेका विचार इस समय के लिये दूर कर दिया है। और हम यहां पाठकोंसे निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस प्रयोग का ज्ञान सुविज्ञ डाक्टरोंसे ही प्राप्त करें तथा ऊपर दिये हुए योग–प्रक्रियाका ज्ञान किसी उत्तम योगीके पास जाकर सीखें; क्योंकि अंगरस चिकित्सामें इन बातोंकी आवश्यकता है। इनके विना केवल मंत्रार्थ पढनेसे अथवा शाब्दिक ज्ञान समझने मात्रसे भी उपयोग नहीं हो सकता।

पूर्व सूक्तमें आरोग्य साधक जलका संक्षेपसे वर्णन किया है इस लिये अब उसी जलका विशेष वर्णन क्रमसे आगेके तीन सूक्तोंमें करते हैं -

[४]

(ऋषिः— सिंधुद्वीपः । देवता - आपः ।)

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चन्तीर्मधुना पयः ॥ १ ॥
अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्यध्वरम् ॥ २ ॥
अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥
अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ ४ ॥

अर्थ- (अध्वरीयतां) यज्ञकर्ताओंके (जामयः) बहिनोंके समान और (अम्बयः) माताओंके समान जलकी नदियां (अध्वभिः यन्ति) अपने मार्गोंसे जाती हैं जो (मधुना) मधु-शहदके साथ (पयः) दूध या जल (पृञ्चन्तीः) मिलाती हैं ॥ १ ॥ (याः) जो (अमूः) ये नदियां (उप सूर्ये) सूर्यके सम्मुख होती हैं अथवा (याभिः) जिनके साथ सूर्य होता है। वे हम सबका (अध्वरं) यज्ञ (हिन्वन्ति) सांग करती हैं ॥ २ ॥ (यत्र) जहां हमारी (गावः) गौवें पानी (पिबन्ति) पीती हैं उन (देवीः आपः) दिव्य जलोंकी (सिन्धुभ्यः) नदियोंके लिये हवि करनेके कारण (उपह्वये) मैं प्रशंसा करता हूं: ॥ ३ ॥ (अप्सु अन्तः) जलमें अमृत है, (अप्सु भेषजं)जलमें दवाई है। (उत) और (अपां प्रशस्तिभिः) जलके प्रशंसनीय गुण धर्मोंसे (अश्वाः वाजिनः) घोडे बलवान (भवथ) होते और गौवें बल युक्त होती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-जल उनके लिये माता और बहिनके समान हित कारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं। जलकी नदियां बह रही हैं, मानो वह दूधमें शहद मिला रही हैं। जो जल सूर्य किरण से शुद्ध बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है वह जल हमारा आरोग्य सिद्ध करे। जिन नदियोंमें हमारी गौवें जल पीती हैं और जिनके लिये हवि बनाया जाता है उनके जलका गुणगान करना चाहिये। जलमें अमृत है, जलमें औषध है, जलके शुभ गुण से घोडे बलवान् बनते हैं और गौवें भी बलवती बनती हैं।

[५]

(ऋषिः— सिन्धुद्वीपः। देवता - आपः।)

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (आपः) जलो ! (हि) क्योंकि आप (मयोभुवः) सुख-कारक (स्थ) हो इस लिये (ताः) सो तुम (नः ऊर्जे) हमारे बल के लिये तथा (महे रणाय चक्षसे) बडी रमणीयताके दर्शन के लिये हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥ (यः) जो (वः) आपके अंदर (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याणकारी रस है (तस्य) उसका (नः इह भाजयत) हमें यहां भागी करो (इव) जैसी (उशतीः मातरः) इच्छा करनेवाली माताएं करती हैं ॥ २ ॥ हे जलो ! जिसके (क्षयाय) निवासके लिये आप (जिन्वथ) तृप्ति करते हो (तस्मै) उसके लिये हम (वः अरं गमाम)

आपको पूर्णतया प्राप्त करेंगे। और आप (नः) हमें (जनयथ) बढाओ ॥ ३ ॥ (वार्याणां) इच्छा करने योग्य सुखोंके (ईशाना) स्वामी इस लिये (चर्षणीनां) प्राणिमात्रके (क्षयन्तीः) निवासके हेतु ऐसे (अपः) जलों से (भेषजं याचामि) औषधकी याचना करता हूं ॥

भावार्थ— जल सुख कारक है, उससे बल बढता है, रमणीयता प्राप्त होती है और पुष्टि भी होती है ॥ जिस प्रकार पुत्रको माताके दूधसे पुष्टिका भाग मिलता है, उसी प्रकार जलके अंदरके उत्तम सुखवर्धक रस हमें प्राप्त हों। जिससे प्राणि मात्रकी स्थिति होती है, वह रस हमें प्राप्त हो और उससे हमारी वृद्धि होती रहे॥ जलसे इष्ट सुख प्राप्त होते हैं और प्राणि मात्रकी स्थिति होती है, उस जलसे हमें औषधरस प्राप्त होता रहे।

[६]

[ऋषिः-सिंधुद्वीपः। देवता-आपः]

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥
अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा ।
अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वशं॑भुवम् ॥ २ ॥
आपः॑ पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे३॒ मम॑ ।
ज्योक्च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ३ ॥
शं न॒ आपो॑ धन्व॒न्या३॒: शमु॑ सन्त्वनू॒प्याः॑ ।
शं न॑: खनि॒त्रिमा॒ आप॒: शमु॒ याः कु॒म्भ आभृ॑ताः
शि॒वा नः॑ सन्तु॒ वार्षि॑कीः ॥ ४ ॥

अर्थ- (देवीः आपः) दिव्य जल (नः शं) हमें सुख दे और (अभिष्टये) इष्ट प्राप्तिके लिये तथा (पीतये) पीनेके लिये हो और हमपर शांतिका (अभिस्रवन्तु) स्रोत चलावे ॥१॥ (मे) मुझे (सोमः अब्रवीत्) सोमने कहा कि (अप्सु अन्तः) जलमें (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं और अग्नि (विश्व-शं-भुवं) सब कल्याण करनेवाला है ॥२॥ हे (आपः) जलो! (भेषजं पृ-

धर्म भिन्न हैं। इसी कारण ये सब जल विभिन्न गुणधर्मसे युक्त होते हैं। जलका उपयोग आरोग्यके लिये करना हो, तो प्रथम सब से उत्तम शुद्ध और पवित्र जल प्राप्त करना आवश्यक है।

उक्त जल जो बाहर प्राप्त होता है वह घरमें लाकर घडों में रखने के कारण उसके गुणधर्ममें बदल होता है। अर्थात् कूवेका ताजा पानी जो गुणधर्म रखता है, वही घरमें लाकर (कुंभे आभृताः ६।४) घडेमें कई दिन रखनेपर भिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होना संभव है। तथा प्रवाही नदीका पानी और कूवेके स्थिर पानीके गुणधर्मभी भिन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार एक ही जल विभिन्न स्थानमें और विभिन्न परिस्थितिमें रहनेसे विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। यह दर्शानेके लिये निम्न लिखित मंत्रमें कहा है —

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। (४।२)

" वह जल जो सूर्यके सन्मुख रहता है, अथवा जिसके साथ सूर्य रहता है। " अर्थात् सूर्य किरणोंके साथ स्पर्श करनेवाला जल भिन्न गुणधर्म वाला बनता है और सदा अंधेरे में रहनेके कारण जिस पर सूर्य किरण नहीं गिरते उसके गुणधर्म भिन्न होते हैं। जिन कूवोंपर वृक्षादिकी हमेशा छाया होती है और जिनपर नहीं होती उनके जलोंके गुणधर्म भिन्न होते हैं। तथा--

अम्बयो यन्त्यध्वभिः। (४।१)

" नदियां अपने मार्गसे चलती हैं। " इसमें जलमें गतिका वर्णन है। यह गतिमान जल और स्थिर जल विभिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होता है। स्थिर जलमें कृमिकीटक तथा सडावट होना संभव है उस प्रकार गतिवाले जलमें नहीं। इसी प्रकार गतिकी मंदता और तेजीके कारण भी जलके गुण धर्मोंमें भेद होते हैं। तथा–

पृञ्चन्तीर्मधुना पयः। (४।१)

" मधु अर्थात् पुष्प पराग आदि से जल में मिलावट होती है। " इससे भी पानीके गुण धर्म बदलते हैं। नदी तालावके तटपर वृक्षादि होते हैं और उस जलमें वृक्षवनस्पतियोंसे फूल, फूलके पराग, पत्ते आदि गिरते हैं, जलमें सडते या मिलते हैं। यह कारण है कि जिससे जलके गुणधर्म बदलते हैं। तथा–

यत्र गावः पिबन्ति। (४ । ३)

" जिस जलाशय में गौवें पानी पीती हैं, " जहां गौवें, भैंसे आदि पशु जाते हैं, जलपान करते हैं। उस पानीकी अवस्था भी बदल जाती है।

जल लेनेके समय इन बातोंका विचार करना चाहिये। जो जलकी अवस्थाएं वर्णन की हैं, उनमें सबसे उत्तम अवस्थावाला जल ही पीने आदि कार्य के लिये योग्य है। हरएक अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जल लाभदायक नहीं होगा। वेद ने ये सब जलकी अवस्थाएं बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जलमें भी उत्तम मध्यम अधम अवस्थाका जल हो सकता है और यदि उत्तम आरोग्य प्राप्त करना हो तो उत्तमसे उत्तम पवित्र जल ही लेना चाहिये। पाठक इन अवस्थाओंका उत्तम विचार करें।

जलमें औषध।

जलका नाम ही "अमृत" है अर्थात् जीवन रूप रस ही जल है यही बात मंत्र कहता है–

अप्सु अमृतम्। (४ । ४)
अप्सु भेषजम्। (४ । ४)

" जलमें अमृत है, जलमें औषध है " जल अमृतमय है और औषधिमय है। मरनेसे बचानेवाला अमृत कहलाता है और शरीरके दोषोंको धोकर शरीरकी निर्दोषता सिद्ध करनेवाला भेषज कहलाता है। जल इन गुणोंसे युक्त है। इसी लिये जलको कहा है–

शिवतमः रसः। (५ । २)

" जल अत्यंत कल्याण करनेवाला रस है। " केवल " शिवो रसः " कहा नहीं है, परंतु " शिवतमो रसः " कहा है, इससे स्पष्ट है कि इससे अत्यंत कल्याण होना संभव है। यही बात अन्य शब्दोंसेभी वेद स्पष्ट कर रहा है—

आपः मयोभुवः। (५ । १)

" जल हित कारक है। " यहांका " मयस्" शब्द "सुख, आनंद, समाधान, तृप्ति" आदि अर्थका बोध कराता है। यदि जल पूर्ण आरोग्य साधक न होगा तो उससे आनंद कहना असंभव है। इस लिये जल अमृतमय है यह स्पष्ट सिद्ध होता है इसी लिये कहा है।–

अप्सु विश्वानि भेषजानि। (६ । २)

"जलमें सब दवाइयां हैं।" जलमें केवल एकही रोग की औषधि नहीं प्रत्युत सब प्रकारकी औषधियां हैं। इसीलिये हरएक बीमारीका जलचिकित्सा से इलाज किया जा सकता है। योग्य वैद्य और पथ्यपालन करनेवाला रोगी होगा, तो आरोग्य निःसंदेह प्राप्त होगा। इसलिये कहा है —

आपः पृणीत भेषजम्। (६ । ३)

अपो याचामि भेषजम्। (५ । ४)

"जल औषध करता है। जलसे औषध मांगता हूं।" अर्थात् जलसे चिकित्सा होती है। रोगों की निवृत्ति जलचिकित्सासे हो सकती है। रोगोंके कारण शरीरमें जो विषमता होती है उसे दूर करना और शरीरके सप्त धातुओंमें समता स्थापित करना जल चिकित्सासे संभवनीय है।

समता और विषमता।

शरीरकी समता आरोग्य है और विषमता रोग है। समता स्थापन करनेकी सूचना वेदके "शं, शांति" आदि शब्द करते हैं और विषमता दूर करनेका भाव "योः" शब्द वेदमें कर रहा है। दोनों मिल कर "शं-योः" शब्द बनता है। इसका संयुक्त तात्पर्य "समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना" है। इसलिये कहा है—

शंयोरभि स्रवन्तु नः। (६ । १)

समता की स्थापना और विषमता को दूर करना हमारे लिये जलकी धाराएं करें।" किंवा जलधाराएं उक्त दोनों बातोंका प्रवाह हमपर छोडें। जलमें उक्त दोनों बातोंकी सिद्धता होती है यह बात यहां सिद्ध की है। तथा—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु। (६ । १)

"दिव्य जल हमारे लिये शान्तिदायक हो" इसमें भी यही भाव है। (सू. ६ मं. ४) यह मंत्र तो कई बार शान्ति या समता का उल्लेख करता है। समता की स्थापना और विषमताका दूर करना, ये दो कार्य होनेसे ही उत्तम स्वास्थ्य होता है, इसी लिये मंत्रमें कहा है—

वरूथं तन्वे मम। (६ । ३)

"मेरे शरीरका रक्षण" जल से हो। "वरूथ" का अर्थ "संरक्षक कवच" है। उसका वर्णन "रक्षक कवच" से किया है अर्थात् जल कवचके समान रक्षा करनेवाला है। यह भाव स्पष्ट है।

बलकी वृद्धि ।

उक्त प्रकार आरोग्य प्राप्त होनेके पश्चात् शरीरका बल बढानेका प्रश्न आता है । इस विषयमें मंत्र कहता है—

नः ऊर्जे दधातन । (५।१)

" हमें बलके लिये पुष्ट करो । " अर्थात् जलसे धारण पोषण होकर उत्तम प्रकार बल बढना भी संभव है । विषमता दूर होकर समताकी स्थापना होगई तो बल बढ सकता है। जलसे रमणीयता भी शरीरमें बढती है देखिये—

महे रणाय चक्षसे । (५।१)

" बडी (रणाय) रमणीयता के लिये " जलका उपयोग होता है । जलसे शरीरकी रमणीयता बढजाती है । शरीरकी बाह्य शुद्धि होकर जैसी सुंदरता बढ जाती है उसी प्रकार जल अंतःशुद्धि करता है इस लिये आरोग्य बढाने द्वारा शरीरका सौंदर्य बढानेमें सहायक होता है । आरोग्य के साथ सुंदरता का विशेष संबंध है । तात्पर्य यह जल मनुष्यकी यहां की सुस्थिति के लिये कारण होता है, इस लिये कहा है–

क्षयाय जिन्वथ । (५ । ३)

क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । (५ । ४)

" निवास के लिये तृप्ति करते हो । प्राणियों के निवास का कारण है । " इन मंत्रों का स्पष्ट कथन है कि जल मनुष्यादि प्राणियोंकी यहां सुस्थिति करनेका मुख्य हेतु है । इसी लिये कहते हैं —

ईशाना वार्याणाम् । (५ । ४)

" स्वीकारने योग्य गुणोंका अधिपति जल है । " अर्थात् प्राणियोंको जिन जिन बातोंकी आवश्यकता होती है उनका अस्तित्व जलमें है, इसी कारण जल निवासका हेतु बनता है ।

दीर्घ आयुष्यका साधन ।

मनुष्यादि प्राणियोंके दीर्घ आयुका साधक जल है यह बात इस भागमें देखिये–

ज्योक्च सूर्यं दृशे (६ । ३)

" बहुत दिन तक सूर्यका दर्शन करूं । " यह एक महावरा है । इसका अर्थ है कि

"मैं बहुत दीर्घ आयुतक जीवित रहूं" अर्थात् जलके योग्य उपयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त करना संभव है । "ज + ल" वह है कि जो जन्मसे लेकर लय पर्यंत उपयोगी है।

प्रजनन शक्ति ।

जल का नाम वीर्य है । इसकी सूचना निम्न मंत्र भागसे मिलती है-

आपो जनयथा च नः । (५ । ३)

"जल हमें उत्पन्न करता है ।" अर्थात् इसके कारण हममें किंवा प्राणियोंमें प्रजनन शक्ति होती है । आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य, धातुओंकी समता आदिका प्रजनन शक्तिके साथ निकट संबंध है, यह बात पाठक जान सकते हैं । इस लिये इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रजनन शक्तिका नाम वाजीकरण है और इसका वर्णन मंत्रमें निम्न प्रकार हुआ है —

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ (४ । ४)

"जल के प्रशस्त गुणोंसे अश्व (पुरुष) वाजी बनते हैं और गौवें (स्त्रियें) वाजिनी बनती हैं ।" वाजी शब्द प्रजनन शक्तिसे युक्त होनेका भाव बता रहा है । अश्व और गौ शब्द यहां पुरुष और स्त्री जातीका बोध करते हैं । जलके प्रयोगसे वाजीकरण की सिद्धि इस प्रकार यहां कही है । तथा और देखिये —

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयोऽध्वरीयताम् । (४।१)

"यज्ञकर्ताओंकी माताएं और बहिने अपने मार्गोंसे जाती हैं ।" जो स्त्रियोंके लिये उचित मार्ग है उसीसे जाती हैं । अर्थात् नियमानुकूल वर्ताव करती हुई प्रगति करती हैं । स्त्री पुरुष अपने योग्य नियमोंसे चलेंगे तोही उत्तम प्रजनन होना संभव है, इस बातकी सूचना यहां मिलती है ।

इस रीतिसे इन तीनों सूक्तोंमें जलविषयक महत्त्व पूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया है ।

[अथर्ववेद प्रथम कांडमें प्रथम अनुवाक समाप्त ।]

धर्म-प्रचार-सूक्त ।

(ऋषिः- चातनः । देवता- इन्द्राग्नी)

(७)

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥
आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥
वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥
अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥
पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥
आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥
त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (स्तुवानं) स्तुति करनेवाले (यातुधानं किमीदिनं) घातक शत्रुओंको भी (आ वह) यहां लेआ । (हि) क्योंकि हे देव ! (वन्दितः त्वं) नमनको प्राप्त हुआ तू (दस्योः) डाकूका (हन्ता) हनन या प्राप्ति करने वाला (बभूविथ) होता है ॥ १ ॥ हे (परमेष्ठिन्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले (जातवेदः) ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और (तनू-वशिन्)

शरीरका संयम करनेवाले अग्ने! तू (तौलस्य आज्यस्य) तोले हुए घी आदि का (प्राशान) भोजन कर और (यातुधानान्) दुष्टोंको (वि लापय) विलाप करा ॥ २ ॥ (ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अत्रिणः) भक्षकनेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं वे (विलपन्तु) विलाप करें। (अथ) और अब, हे अग्ने! (इदं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (प्रतिहर्यतम्) स्वीकार करो ॥ ३ ॥ (पूर्वः अग्निः आरभतां) पहिला अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् (बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु) बाहुबलवाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिसे (सर्वः यातुमान्) सब दुष्ट लोग (एत्य) आकर (ब्रवीतु) बोले, कि (अयं अस्मि इति) यह मैं हूं ॥ ४ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हम देखें। हे (नृ-चक्षः) मनुष्योंके मार्ग दर्शक! (यातुधानान्) दुष्टोंको (नः) हमारा आदेश (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कह दे। (त्वया) तुझसे (पुरस्तात्) पहिले (परि तप्ताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं ब्रुवाणाः) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आजावें ॥ ५ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी! (आरभस्व) आरंभ कर (अस्माक+अर्थाय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है। हे अग्ने! तू हमारा दूत बनकर यातुधानोंको विलाप करा ॥ ६ ॥ हे अग्ने! तू (यातुधानान्) दुष्टोंको (उपबद्धान्) बांधे हुए अर्थात् बांधकर (इह आ वह) यहां लेआ। (अथ) और इन्द्र अपने वज्रसे (एषां शीर्षाणि) इनके मस्तक (वृश्चतु) काट डाले ॥ ७ ॥

इनका भावार्थ हम सबसे पीछे लिखेंगे, क्योंकि इस सूक्तके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये। इस सूक्तके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं, और जबतक इनका निश्चित ठीक अर्थ ध्यानमें न आवेगा, तब तक इस सूक्तका उपदेश समझमें नहीं आसकता। सबसे प्रथम " अग्नि " कौन है इसका निश्चय करना चाहिये—

अग्नि कौन है ?

इस सूक्तमें अग्निपद से किसका ग्रहण करना चाहिये, इसका निश्चय कराने वाले ये शब्द इस सूक्तमें हैं— " जातवेदः, परमेष्ठिन्, तनूवशिन्, नृचक्षः, वन्दितः, दूतः, देवः, अग्निः। " इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्निका स्वरूप सबसे प्रथम हम देखेंगे—

१ जातवेदः— (जातं वेत्ति) जो बनी हुई सृष्टिको ठीक ठीक जानता है । (ज्ञात-वेदः) जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । अर्थात् ज्ञानी सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का यथावत् जाननेवाला ।

२ परमेष्ठिन्— (परमे पदे स्थाता) परमपद में ठहरनेवाला अर्थात् समाधिकी अंतिम अवस्थाको जो प्राप्त है, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्या-चतुर्थ अवस्थाका अनुभव करनेवाला ।

३ तनूवशिन्-(तनू-वशिन्) अपने शरीर और इन्द्रियोंको स्वाधीन करने वाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह करनेवाला । आसनादि योगाभ्याससे जिसने अपनी कायासिद्धि की है । यही मनुष्य "परमे-ष्ठिन्" होना संभव है ।

४ नृ-चक्षः—"चक्षस्" शब्द स्पष्ट शब्दोंद्वारा उपदेश देने का भाव बता रहा है । मनुष्योंको जो योग्य धर्म मार्गका उपदेश देता है ।

ज्ञानी उपदेशक ।

ये चार शब्द अग्निके गुण धर्म बता रहे हैं । ये शब्द देखनेसे स्पष्ट होता है, कि यहांका अग्नि "धर्मोपदेशक पण्डित" ही है । सृष्टि विद्या जाननेवाला, अध्यात्म शास्त्रमें प्रवीण, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखने वाला, समाधि की सिद्धि जिसको प्राप्त है, वह ही ब्राह्मण पण्डित " नृ-चक्षः " अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेश करनेके लिये योग्य है । उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशककी तैयारी कैसी होनी चाहिये, इसका बोध यहां प्राप्त हो सकता है । ऐसे उपदेशक हों, तो ही धर्मका ठीक प्रचार होना संभव है ।

५ वन्दितः—इस प्रकारके उपदेशकको ही सब लोग वन्दन कर सकते हैं ।

६ दूतः— जो सन्देश पहुंचाता है वह दूत होता है । यह उपदेशक पण्डित धर्मका सन्देश सब जनतातक पहुंचाता है इस लिये यह "धर्मका दूत" है । दूत शब्दका दूसरा अर्थ "नौकर, भृत्य" है वह अर्थ यहां नहीं है । धर्मका सन्देश स्थान स्थानपर पहुंचाने वाला यह दूत धर्मका उपदेशक ही है ।

७ देवः— प्रकाशमान, तेजस्वी ।

८ अग्निः— प्रकाश देकर अन्धकारका नाश करनेवाला, ज्ञानकी रोशनी बढाकर अज्ञानान्धकार का नाश करनेवाला। उष्णता (गर्मी) उत्पन्न करके हलचल करने वाला।

ये सब शब्द योग्य उपदेशक का ही वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार वेदमें "अग्नि" शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक है। तथा "इन्द्र" शब्द क्षत्रियका वाचक है।

ब्रह्म क्षत्रिय ।

"ब्रह्म क्षत्रिय" शब्द ब्राह्मण और क्षत्रिय का बोध करता है। वेदमें ये दो शब्द इकट्ठे कई स्थानपर आगये हैं। यही भाव "अग्नि-इन्द्र" ये दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर व्यक्त कर रहे हैं। अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका वाचक है। अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र शब्दका अर्थ देखेंगे—

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द क्षत्रिय वाचक है, क्यों कि इसका अर्थ ही शत्रु नाशक है—

१ इन्द्रः- (इन्+द्रः) शत्रुओंको छिन्न भिन्न करने वाला।

२ बाहुमान्- बाहुवाला, भुजावाला, अर्थात् बाहुबलके लिये सुप्रसिद्ध । हरएक मनुष्य भुजावाला होता ही है, परन्तु क्षत्रियको ही " बाहुमान्" इस लिये कहा है, कि उसका कार्य ही बाहुबल का होता है।

३ इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु=क्षत्रिय तलवारसे शत्रुओंके सिर काटे। यह क्षत्रिय का कार्य इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें वर्णन किया है। युद्धमें शत्रुओंके सिर काटनेका कार्य तथा दुष्टोंके सिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही प्रसिद्ध है।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें " इन्द्र " शब्द क्षत्रिय का भाव सूचित करता है। अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और इन्द्र शब्दसे शासन का कार्य करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये।

धर्मोपदेशका क्षेत्र ।

पाठक यह न समझें, कि साप्ताहिक या वार्षिक जलसोंमें व्याख्यान देना ही धर्मोपदेशक का कार्य क्षेत्र है। वहां तो धार्मिक लोग ही आते हैं। पहिलेसे जिनकी प्रवृत्ति धर्ममें होती है, वे ही धार्मिक लोग जलसोंमें आते हैं; इस लिये ऐसे धार्मिकोंको धर्मोपदेश देना धोये हुए कपडे को फिर धोनेके समान ही है। वास्तव में मलिन

को ही धोकर स्वच्छ करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक वृत्तिके लोगों को ही धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही सच्चा धर्म प्रचार है, यह बतानेके लिये इस सूक्तमें धर्म प्रचार करने योग्य लोगोंका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे किया है —"यातुधान, किमीदिन्, दस्यु, अत्रिन् ।" अब इनका आशय देखिये—

१ यातु—"यातु" भटकनेवाले का नाम है । जिसको घरदार कुछभी नहीं है और जो वन्य पशुके समान इधर उधर भटकता रहता है उसका नाम "यातु" है । भटकने का अर्थ बतानेवाला " या " धातु इसमें है ।

२ यातुमान्— यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्, शब्दका भाव " यातुवाला " है अर्थात् जिसके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं। अर्थात् भटकने वालों के जमाव का मुखिया ।

३ यातुमावान्– बहुतसे यातुमानों को अपने काबूमें रखनेवाला ।

४ यातुधानः– यातुओंका धारण पोषण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनका पोषण करनेवाला । " यातु धान्य " भी इसी भावका वाचक है ।

पाठकोंने जान लिया होगा, कि ये शब्द विशेष बातको व्यक्त कर रहे हैं। जिसको घरदार स्त्रीपुत्र आदि होते हैं, और जो कुटुंबमें रहता है, वह उतना उपद्रव देनेवाला नहीं होता; जितना कि जिसका घरदार कुछभी न हो, और जो भटकने वाला होता है। वह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका मनका समाधान उसको नहीं होता, इस लिये हरएक प्रकारका उपद्रव देनेके लिये वह तैयार होता है; इसी कारण " यातु " शब्द "बुरी वृत्ति वाला" इस अर्थमें प्रवृत्त होता है। दुष्ट, डाकु, चोर, लुटेरे, बटमार आदि इसी शब्दके अर्थ आगे जाकर बने हैं । ये चोर डाकु जबतक अकेले अकेले रहते हैं, तब तक उनका नाम " यातु " है, ऐसे दोचार डाकुओंको अपने वशमें रखकर डाका डालनेवाला "यातु-मान्, यातु-वान्, यातुमत्" अर्थात् यातुवाला किंवा डाकुवाला कहा जाता है । पहिले की अपेक्षा इससे समाजको अधिक कष्ट पहुंचते हैं । इस प्रकारके छोटे डाकुओंके अनेक संघोंको अपने आधीन रखने वाला " यातु-मा-वान् " अर्थात् डाकुओंकी कई जमातोंको अपने आधीन रखनेवाला । यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट ग्रामों और प्रांतोंको भी पहुंचा सकता है । इसीके नाम "यातु-धान, यातु-धान्य" हैं। पाठक इससे जान सकते हैं, कि ये वैदिक शब्द जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते हैं, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं । अब और देखिये –

५ अत्रिन् – अत्री (अतति) सतत भटकता रहता है। यह शब्द भी पूर्व शब्द का ही भाव बताता है। इसका दूसरा भाव (अत्ति) खानेवाला, सदा अपने भोगके लिये दूसरोंका गला काटनेवाला। जो थोडेसे धनके लिये खून करते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है।

६ किमीदिन्– (किं इदानीं) अब क्या खांय, इस प्रकार की वृत्तिवाले भूखे किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घात पात करनेवाले दुष्ट लोग।

७ दस्यु— (दस् उपक्षये) घातपात करनेवाले, दूसरोंका नाश करनेवाले हर प्रकारके दुष्ट लोग।

ये सब लोग समाजके सुखका नाश करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंको कष्ट होते हैं। ये ग्राममें आगये, तो ग्राममें चोरी, डकैती, खून, लूटमार होती है, स्त्री विषयक अत्याचार होते हैं, सज्जनोंको अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं इस लिये इन लोगों-को धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस सूक्तका आदेश है। जो घरदारसे हीन हैं, जो जंगलों और वनों में रहते हैं, जो चोरी डकैती आदि दुष्ट कर्म करते हैं, उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये। अर्थात् जो नागरिक हैं, जो पहिलेसे ही धर्मके प्रेमी हैं उनमें धर्म की जागृति करनी योग्य है: परंतु जिनके पास धर्म की आवाज नहीं पहुंची और जिनका जीवन क्रम ही धर्मबाह्य मार्गसे सदा चलता रहता है, उनका सुधार करके ही उनको उत्तम नागरिक बनाना चाहिये। धर्मोपदेशक यह अपना कार्य क्षेत्र देखें।

धर्मोपदेशक के गुण, शासन कार्य में नियुक्त क्षत्रिय के गुण, और जिन लोगोंमें धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके गुणकर्म हमने इस सूक्तके आधारसे देखे। अब इन शब्दार्थोंके प्रकाश में यह सूक्त देखना है –

दुष्टोंका सुधार।

प्रथम मंत्र—" हे धर्मोपदेशक! तुम्हारी प्रशंसा करनेवाले दुष्ट डकैतों को यहां ले आ, क्यों कि तू वंदना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है " ॥ १ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो आदेश हैं—

(१) तोल कर घी आदि भोजन खा और

(२) दुष्टोंको रुला।

धर्मोपदेशकों को ये दोनों बातें ध्यान में धरनी चाहिये। धर्मोपदेशक जिस समय बाहर प्रचार के लिये जाते हैं उस समय भगत लोग उनको मेवा, मिठाई, घी, मक्खन, दूध आदि पदार्थ आवश्यकतासे भी अधिक देते हैं। तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भक्तिकी तीव्रता अत्यधिक होने के कारण वे ऐसे उपदेशकों का अधिक ही आदर करते हैं। इस समय बहुत संभव है कि जिह्वाकी लालचमें आकर उपदेशक अधिक खायें, और जीगर की बिगाडके कारण बीमार पडे। इस लिये वेद ने उपदेश दिया, कि धर्मोपदेशकोंको तोलकर ही खाना चाहिये। ये उपदेशक सदा भ्रमण में रहनेके के कारण तथा जलवायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचक शक्तिमें बिगाड होना संभव है; अतः जितनी पाचक शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है! इस कारण वेद कहता है, कि " उपदेशक तोलकर ही घी आदि पदार्थ खावें" कभी अधिक न खावें।

मंत्रमें दूसरी बात " दुष्टोंको रुलाने" की है। यदि उपदेशक प्रभाव शाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे श्रोताओंको अपने दुराचार का पता लगा तथा उनके अंतःकरण में धर्म भावना जागृत हो गई तो उनके रो पडनेमें तथा अपने पूर्व दुराचार-मय जीवन के विषयमें पूर्ण पश्चात्ताप होनेमें कोई सन्देहही नहीं है। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चात्ताप।

तृतीय मंत्र- " दुष्ट लोग रो पडें, और हे धर्मोपदेशक! तेरे लिये यह हमारा दान है; क्षत्रिय भी इसका स्वीकार करे" ॥ ३ ॥

सच्चे धर्मोपदेशक के धर्मोपदेश सुनकर दुष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चात्ताप होवे और वे रो पडें। तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंको तथा उनके सहायक क्षत्रियोंको भी यथा शक्ति दान देती रहे। जनताकी धनादिकी सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे। अब चतुर्थ मन्त्र देखिये—

धर्मोपदेशक कार्य चलावे ।

चतुर्थ मन्त्र—" पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य प्रारंभ करे । पीछेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे । इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर 'मैं यहां हूं' ऐसा कहें " ॥ ४ ॥

धर्मोपदेशक देशदेशान्तरमें, जहां जहां वे पहुंच सकें, वहां निडर होकर जाकर, अपना धर्मप्रचार का कार्य जोरसे करते जांय । कठिन से कठिन परिस्थितिमें भी न डरते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें । पीछेसे क्षत्रिय उनकी उचित सहायता करे । परन्तु ऐसा कभी न होवे कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके क्षात्रबलके जोरपर धर्मप्रचार का कार्य चलावें, यह ठीक नहीं । इस लिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्षात्र बल के भरोसेसे अपना धर्म प्रचारका कार्य न करें, प्रत्युत धर्मप्रचारको अपना आवश्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे । इस धर्म प्रचारका परिणाम ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारलें और खुले दिलसे उपदेशकोंके पास आकर कहें कि " हम अब आपकी शरणमें आगये हैं । " यही धर्म प्रचारका साध्य है । धर्म प्रचारसे दुराचारी डाकु सुधर जांय और अच्छे धार्मिक बनें, वे अपने पूर्व दुराचारका पश्चात्ताप करें, तथा जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनको रोना आवे । क्षत्रियके बल की अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक शक्तिसे यह कार्य करें । पीछेसे क्षत्रिय उनको मदत पहुंचावे । क्षत्रिय के जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सात्विक वृत्तिसे जो हृदय पलटा देता है, वही सच्चा धर्मपरिवर्तन है । इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका आशय देखने के पश्चात् अब अगला मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी पश्चात्तापसे शुद्धि ।

पंचम मंत्र— " हे ज्ञानी उपदेशक ! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे । हे मनुष्योंको सन्मार्ग बतलानेवाले! तुम दुष्टोंको हमारे धर्म का उपदेश करो । तुम्हारे प्रयत्नसे पश्चात्ताप को प्राप्त हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और वैसाही कहें । " ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेश के लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव कहते हुये लोग कहते हैं कि " हे उपदेशक! अब तू उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तुम अपने परिशुद्ध सदुपदेशसे कितने लोगोंके हृदयमें पलटा उत्पन्न करते हो और कितनों को सत्य धर्मकी दीक्षा देते हो। इसीसे तुम्हारे पराक्रम का हमें पता लग जायगा। तुम जाओ, हम तुम्हारा गौरव करते हैं। सत्यधर्मका संदेश सब जनता तक पहुंचाओ। तेरे उपदेश की ज्ञानाग्निसे तपे हुए और पश्चात्तापको प्राप्त हुए लोग हमारे अंदर आवें और कहें " कि हमने अब धर्मामृत पीया है। और अब हम आपके बने हैं।"

" तप्त, संतप्त, परितप्त " ये शब्द पश्चात्ताप के सूचक हैं। तप शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपाकर सोना चांदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके मलोंको दूर करता है। इसी प्रकार यहांका अग्नि-जो ज्ञानी धर्मोपदेशक है-वह अपनी ज्ञानाग्निमें सब दुष्टोंको तपाता है और अच्छी प्रकार उनके मलोंको दूर करता है। शुद्धिकी यही विधि है। भोगके जीवनको छोडकर तपके जीवनमें आना ही धार्मिक बनना है। इस दृष्टीसे इस मंत्रका " परि-तप्ताः " शब्द बडे भावका सूचक है। अब छठे मंत्रका भावार्थ देखिये—

धर्मका दूत।

षष्ठ मंत्र-" हे ज्ञानी पुरुष! अपना कार्य आरंभ कर। हमारे कार्य के लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचाने वाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चात्तापसे तपा दे " ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकको लोग कहते हैं कि-" अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरंभ करदो। बिना डर देशदेशांतरमें जा और वहां सत्य धर्मका प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्य के लिये तुम्हें आगे भेजा जाता है, अथवा आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश जगत्में फैलाना है, इस संदेशको स्थान स्थानमें पहुंचानेवाला दूतही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला दो और इस समय तक जो लोग अधार्मिक वृत्तिसे रहते हैं, उनके अंदरके मल, दोषादि शुद्ध करो और उनको अपने पूर्व दुराचारका पूर्ण पश्चात्ताप होने दो। उनके

दिलोंको ऐसा पलटा दो कि जिससे वे अपने पूर्वाचरण का स्मरण करके रोने लगें।" इस प्रकार जगत् का सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

डाकुओंको दण्ड।

इतना धर्मोपदेश होकर भी जो सुधरेंगे नहीं और अपना दुराचार जारी रखेंगे, अथवा पूर्वोक्त प्रकारके श्रेष्ठ धर्मोपदेशकोंके पराकाष्ठाके प्रयत्न करनेपर भी जो अपना दुष्ट आचरण नहीं छोडते और जनताको चोरी डकैती आदिसे अत्यंत कष्ट देते ही रहेंगे, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मण का कार्य नहीं, वह कार्य क्षत्रियका है यह आशय अगले मंत्रमें कहा है-

सप्तम मन्त्र- " हे धर्मोपदेशक ! तुम्हारे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट डाकु आदि अपने दुराचार छोडते नहीं उनको बांध कर यहां ला और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर तलवारसे काटदे " ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बनानेका यत्न करे। जो सदाचारी बनेंगे वे अपनेमें संमिलित हो जायगे। परंतु जो वारंवार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखेंगे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि सब शासन संस्था समाज की शांतिके लिये ही है! परंतु दुष्टोंको भी सुधरनेका पूरा अवसर देना चाहिये। जब वारंवार प्रयत्न करनेपर भी वे सुधरेंगे नहीं, तो क्षत्रिय आगे बढे और अपना कठोर दण्ड आगे करे! क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बांधकर उनके सिर ही काटदे, इससे अन्योंको भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण।

इस सूक्तमें ब्राह्मणके प्रयत्न के लिये छः मंत्र हैं और एकही मंत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेको सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम छः गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सदुपदेशसे करे, इतने प्रयत्न करनेपरभी यदि वे न सुधरे, कमसे कम छः वार प्रयत्न करनेपर भी न सुधरे, छःवार अवसर देनेपर भी जो लोग दुष्टता नहीं छोडते, उनपर ही क्षत्रियका वज्र प्रहार होना योग्य है। क्योंकि जिनको जन्मसे ही दुष्टता करने का अभ्यास होगा वे एक वारके उपदेशसे पलट जायगे अथवा सुधरेंगे यह कठिन

यवा अगम्य है। इस लिये भिन्न उपायोंसे उनको अधिक अवसर देने चाहियें।
ना करने पर भी जो नहीं सुधरते उनको या तो बंधन में डालना या शिरच्छेद
ना चाहिये।

ब्राह्मण भी हनन करता है और क्षत्रियभी करता है परन्तु दोनोंके हननों में बडा
री भेद है। पहिले मन्त्र में ब्राह्मण की रीति बताई है और सप्तम मन्त्रमें क्षत्रिय की
ति बतादी है। क्षत्रिय की रीति यही है कि तलवार लेकर दुष्टका गला काट डालना,
यवा दुष्टोंको कारागृहमें बान्धकर रखना। ब्राह्मण की रीति इससे भिन्न है; ब्राह्मण
देश करता है, उपदेश द्वारा श्रोताओंके दिलोंको पलटा देता है, उनको अनुगामी
ा देता है, उनके मनकी दुष्टता का नाश करता है। दोनोंका उद्देश्य दुष्टोंकी संख्या
म करने का ही होता है, परन्तु ब्राह्मण दुष्टोंको सुधारनेका प्रयत्न करता है, हृदय शुद्ध
ाता है और दुष्टोंकी संख्या घटाता है। और क्षत्रिय उनकी कतल करके उनकी संख्या
ाता है। इसी लिये ब्राह्मण के प्रयत्न श्रेष्ठ और क्षत्रियके दूसरे दर्जेके हैं।

वेदमें जहां "हनन, दहन, परिताप, विलाप" आदि शब्द आते हैं वहां सर्वत्र
कसाही अर्थ लेना उचित नहीं। वे शब्द ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुए हैं वा क्षत्रिय
लिये हुए हैं यह देखना चाहिये। हनन से शत्रुकी संख्या घटती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय
नों अपने अपने शस्त्रसे हनन करते हैं, परन्तु ऊपर बतायाही है, कि ब्राह्मण विचार
रेवर्तन द्वारा शत्रुका नाश करता है और क्षत्रिय शिरच्छेदादि द्वारा शत्रुको घटाता है।
ी प्रकार "विलाप" भी दो प्रकार का है। क्षत्रिय शत्रुकी कतल करता है उस
मय भी शत्रुके लोग विलाप करते हैं और रोते पीटते ही हैं। उसी प्रकार ब्राह्मण
र्मोपदेश द्वारा जिस समय श्रोताओंके हृदयमें भक्तिभाव और धर्मप्रेम उत्पन्न करने
ारा कृत दुराचारका पश्चात्ताप उत्पन्न करता है उस समय भी वे लोग रोते हैं और
ांसू बहाते हैं। इन दोनों आंसू बहाने में बडा भारी भेद है। जो इष्ट परिवर्तन ब्राह्मण
र सकता है वह क्षत्रिय कदापि नहीं कर सकता। यही बात "परिताप, सन्ताप"
ादिके विषयमें समझनी चाहिये।

इस सूक्तका अर्थ करनेवाले विद्वानोंने इस ब्रह्मक्षत्रिय प्रणालीके भेदको न समझने
कारण इन शब्दोंके अर्थोंका बडा अनर्थ किया है। इस लिये पाठक इस भेदको
हिले समझें और पश्चात् मन्त्रोंके उपदेश जाननेका यत्न करें। यह बात एकवार ठीक

प्रकार समझमें आगई, तो मन्त्रोंका आशय समझनेमें कोई कठिनता नहीं होगी, परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके क्रमशः कोमल और तीक्ष्ण भावोंका भेद यदि ठीक प्रकार समझमें नहीं आया, तो अर्थका अनर्थ प्रतीत होगा। इस लिये दुष्टोंकी संख्या ब्राह्मण किस प्रकार घटाता है और क्षत्रिय किस प्रकार घटाता है, इसी प्रकार ये दोनों शत्रुओंको किस रीतिसे रुलाते हैं, नचाते हैं और जलाते हैं, यह पाठक अपने विचारसे और यहां बताये मार्गसे ठीक समझें और इन सूक्तोंका तात्पर्य जानें।

(८)

(ऋषिः-चातनः। देवता - अग्निः, बृहस्पतिः)

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥
अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥
यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥
यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

अर्थ– (नदी फेनं इव) नदी फेन को जैसी लाती है उस प्रकार (इदं हविः) यह दान (यातुधानान् आवहत) दुष्टोंको यहां लावे। (यः पुमान्) जो पुरुष अथवा जो स्त्री (इदं अकः) यह पाप करती रही है। (सः जनः) वह मनुष्य तेरी (स्तुवतां) प्रशंसा करे ॥ १ ॥ (स्तुवानः अयं) प्रशंसा करनेवाला यह डाकु (आगमत) आया है, (इमं) इसका (स्म प्रति हर्यत) अवश्य स्वागत करो। हे (बृहस्पते) ज्ञानी उपदेशक ! इस को (वशे लब्ध्वा) वशमें रखकर, हे (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम ! (वि विध्यतं) इसका विशेष निरीक्षण करो ॥ २ ॥ हे (सोमप) सोमपान करनेवाले ! (यातुधानस्य प्रजां) दुष्टकी सन्तान के प्रति (जहि) जा, पहुंच और (च नयस्व) उन्हें लेजा अर्थात् सन्मार्गसे चला। तथा (स्तुवानस्य)

प्रशंसा करनेवालेका (परं उत अवरं) श्रेष्ठ और कनिष्ठ (आक्षि) आंखें (नि पादय) नीचे कर दो ॥ ३ ॥ हे (अग्ने जातवेदः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष ! (यत्र गुहा) जहां कहां गुफामें (एषां) इन (अत्रिणां सतां) भटकनेवाले सज्जनों के (जनिमानि) कुलों और संतानों को (वेत्थ) तू जानता है (तान् ब्रह्मणा वावृधानः) उनको ज्ञानसे बढाता हुआ (एषां शततर्हं जहि) इनके सैकडों कष्टोंका नाश कर ॥ ४ ॥

यह सूक्त भी पूर्व सूक्त का ही उपदेश विशेष रीतिसे बताता है। दुष्ट लोगोंको किस रीतिसे सुधारना योग्य है इसका विचार इस सूक्तमें देखने योग्य है। इस सूक्तमें ब्राह्मण उपदेशक का एक और विशेषण आगया है वह " बृहस्पतिः " है। इसका अर्थ ज्ञान-पति प्रसिद्ध है, बृहस्पति देवोंका गुरु ब्राह्मण ही है; इस लिये इस विषयमें शंका ही नहीं है। "सोम" शब्द इसीका वाचक इस सूक्त में है। "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।" ब्राह्मणोंका मुखिया सोम है, उसी प्रकार बृहस्पति भी श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मण ही है। पाठक इन शब्दोंको पूर्वोक्त सूक्तके ब्राह्मण वाचक शब्दोंके साथ मिलाकर देखें और सबका मिलकर मनन करें, तो उनको पता लग जायगा कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये। अब क्रमशः मन्त्रोंका आशय देखिये-

धर्मोपदेशका परिणाम।

प्रथम मन्त्र- "जिस प्रकार नदी फेन को लाती है, उस प्रकार यह दान दुष्टोंको यहां ले आवे। उनमें से स्त्री या पुरुष जो कोई इस प्रकारका पाप करता है वही आदमी स्तुति करनेवाला बने।" ॥ १ ॥

वृष्टिजलसे भरी हुई नदी जिस प्रकार अपने साथ फेनको लाती है उसी प्रकार धर्म प्रचार के लिये अर्पण किया हुआ यह हमारा दान दुष्ट लोगोंको यहां शीघ्र लावे। अर्थात् इस दानका विनियोग धर्मप्रचारमें हो कर उस धर्मप्रचारसे इतना प्रचारका कार्य होवे, कि जिससे सब दुष्टलोग अपनी दुष्टता छोडकर उत्तम नागरिक बननेके लिये हमारे पास आजावें। उनमें स्त्रियां हों या पुरुष हों, जो कोई उनमें पापाचरण करनेवाला हो, वह उपदेश सुनते ही धर्म भावसे प्रेरित होकर तथा धर्ममें आनेके लिये उत्सुक होकर, धर्मकी प्रशंसा करे और अधर्माचरण की निंदा करे। पाठक ध्यान रखें, कि हृदयके भाव परिवर्तित होनेका यह पहिला लक्षण है। धर्ममें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धर्मसंबंधके

लोग उससे किस प्रकार आचरण करें इस विषयका उपदेश द्वितीय मंत्रमें देखिये—

नवप्रविष्टका आदर।

द्वितीय मंत्र- " यह स्तुति करता हुआ आगया है, इसका स्वागत करो। हे ज्ञानी पुरुष ! उसको अपने वशमें रख कर, ब्राह्मण और उनका मुखिया भी उस पर ध्यान रखें ॥ २ ॥ "

उपदेश श्रवण करके धर्मकी ओर आकर्षित होकर धर्मकी प्रशंसा करता हुआ यह पुरुष आगया है। अर्थात् जो पहिले अधार्मिक दुराचारी डाकु था उसका मन धर्मकी ओर झुका है और वह खुले दिलसे कहता है कि धर्म मार्गसे जाना ही उत्तम है। धर्मकी महत्ता वह जानने लगा है और अधर्माचरणसे मनुष्यकी जो गिरावट होती है वह उसके मनमें अब अच्छी प्रकार आगई है। उस गिरावटसे बचनेके कारण वह अब धर्मसंघमें शामिल होना चाहता है और उसी उद्देशसे वह धार्मिक लोगोंके पास आगया है। इस समय धार्मिक लोगोंको चाहिये कि वे उसका स्वागत करें, उसका स्वीकार आदर पूर्वक करें अर्थात् उसको अपनायें। बृहस्पति अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मण हो उसके पास वह रहे, वह उनके कहे नियमोंके अनुसार चले, तथा अन्य समय उनपर निरीक्षण उपदेशक और ब्राह्मणोंका मुखिया करते रहें, और वारंवार उनको धर्मपथका बोध कराते रहें।

इस प्रकार उसकी योग्यता बढाई जाय और उसके धार्मिक भावका पोषण किया जाय। नहीं तो धर्मसंघमें प्रविष्ट हुआ नव मानव सत्संगियोंकी उदासीनताके कारण उदासीन होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा; इस लिये नवीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अपनानेके विषयमें सत्संगियोंपर यह बडा भारी बोझ है। इस विषयमें वेदके चार आदेश ध्यानमें धरने योग्य हैं—

(१) यह नवीन प्रविष्ट हुआ है,

(२) इसका गौरव करो,

(३) प्रविष्ट होते ही ज्ञानी इसे नियममें चलानेकी शिक्षा दे और

(४) अन्य विद्वान उसका निरीक्षण करें।

होती है, साधुकी दृष्टि और होती है तथा डाकूकी दृष्टि भी और होती है। बालककी दृष्टि, तथा तरुण और वृद्धोंकी दृष्टिमें भेद है। इस लिये वेदमें कहा कि उनकी दृष्टि नम्र करदो धार्मिक आचार जीवन में ढाले गये तो ही यह दृष्टि बनती है अन्यथा नहीं। अस्तु। इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् चतुर्थ मंत्र का आशय अब देखिये—

घरोंमें प्रचार।

चतुर्थ मंत्र–"हे ज्ञानी उपदेशक! जहां कहां गुफाओंमें इन भटकने वालोंमेंसे किंचित् भले पुरुषोंके कुल या संतान होंगे, वहां पहुंच कर ज्ञान की उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले सैंकडों कष्टोंको दूर करदो॥ ४॥"

चोर डाकु आदिओंके सुधारका विचार करते समय उनको संघोंमें उपदेश करना यह साधारण ही बात है, इससे अधिक परिणाम कारक बात यह है, कि उनके परिवारोंमें जाकर वहां उनको धर्मोपदेश करना चाहिये। ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले आदमी (सतां अत्रिणां) होंगे, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् नरमसे होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होना संभव है। इनके घरोंमें जाकर उनको, उनकी स्त्रियोंको तथा उनके बाल बच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये। उनकी उन्नति (ब्रह्मणा वावृधानः) ज्ञान द्वारा करनेका यत्न करना चाहिये, अर्थात् उनको ज्ञान देना चाहिये। सच्चा धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है। एकवार धर्मज्ञान में इनकी रुची बढ गयी, तो इनसे होने वाले सेंकडों कष्ट दूर हो जांयगे और इनका भी कल्याण होगा।

इस प्रकार इन दो सूक्तोंका उपदेश विशेष मनन करने योग्य है। धर्म प्रचार करने वाले उपदेशक तथा उपदेशकोंको नियुक्त करनेवाले सज्जन इन वैदिक आदेशोंका मनन करें और उचित बोध लेकर अपने आचरणमें लानेका यत्न करें।

वर्चः-प्राप्ति-सूक्त ।

यह सूक्त "वर्चस्य-गण" का प्रथम सूक्त है। वर्चस्य गण के सूक्तोंमें "तेज संवर्धन, बलवर्धन, धनकी प्राप्ति, शरीरकी पुष्टि, समाज या राष्ट्रमें संमान प्राप्ति" आदि अनेक विषय होते हैं। वर्चस्यगणमें कई सूक्त हैं, उनका निर्देश आगे उसी उसी स्थानपर किया जायगा--

(९)

[ऋषिः-अथर्वा । देवता-वस्वादयो नानादेवताः]

अस्मिन्वसु वसंवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥
अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥
येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥
एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (अस्मिन्) इस पुरुषमें (वसवः) वसु देवता तथा इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि ये देव (वसु) धनको (धारयन्तु)धारण करें। आदित्य और विश्वे देव (इमं) इस पुरुषको (उत्तरस्मिन् ज्योतिषि) अति उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवो ! (अस्य) इस पुरुषके (प्रदिशि) आदेशमें ज्योति, सूर्य, अग्नि और हिरण्य (अस्तु) होवे। (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) होवें और (इमं) इस को (उत्तमं नाकं) उत्तम सुखमें (अधि रोहय) तुम चढाओ ॥ २ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी उपदेशक! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम ज्ञानसे इन्द्रके लिये (पयांसि समभरः) दुग्धादि रस दिये जाते हैं (तेन) उस उत्तम ज्ञानसे, हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष! (इमं) इसको (इह) यहां (वर्धय) बढाओ और (एनं) इसको (सजातानां श्रैष्ठ्ये) अपनी जातिमें श्रेष्ठ स्थानमें (आधेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥ हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष! (एषां) इनके यज्ञ, (वर्चः) तेज, (रायः पोषं) धनकी वृद्धि और चित्त आदिको (अहं आददे) मैं प्राप्त करता हूं। (सपत्नाः) शत्रु हमारे नीचेके स्थानमें रहें और (इमं) इस मनुष्यको उत्तम सुखमें (अधिरोहय) पहुंचा दो ॥ ४ ॥

इस सूक्तका भावार्थ देखनेके पूर्व सूक्तके कई बातोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सूक्तका भावार्थ समझमें ही नहीं आवेगा। सबसे प्रथम सूक्तमें वर्णित देवताओंका मनुष्यसे क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है, इस लिये उसका विचार सबसे प्रथम करेंगे--

देवताओंका सम्बन्ध।

जो ब्रह्माण्डमें है, वह पिण्डमें है, तथा जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है अर्थात् जो विश्वमें है, उसका सब सत्त्व एक व्यक्तिमें है और जो व्यक्तिमें है उसका विस्तार सब विश्वमें है, इसका विशेष ज्ञान निम्नलिखित कोष्टकसे हो सकता है।

व्यक्तिमें देवतांश	समाजमें देवता	विश्वमें देवता
निवासक शक्तियां	समाज स्थितिकी आठ शक्तियां	वसवः (अष्ट)
स्थूलशरीर	मातृभूमि	पृथ्वी
रक्तादि धातु	जल नदी नद आदि	आप्
शरीरका तेज	अग्नि विद्युत् आदि	तेजः ज्योतिः
प्राण	शुद्ध वायु	वायुः
कान	स्थान	आकाशः
अन्नपान	औषधि, वनस्पति धान्यादि	सोमः
प्रकाश	प्रकाश	अहः

इन्द्रिय गण	साधारण जनता	नक्षत्राणि, देवाः
ज्ञान	ब्राह्मण, ज्ञानी मनुष्य	ब्रह्मन्
क्षात्रतेज	क्षत्रिय वीर	इन्द्रः
पुष्टि	राष्ट्रपोषक अधिकारी	पूषा
शांतभाव	जलाधिकारी	वरुणः
मित्रभाव	मित्र जन	मित्रः
वाणी	ज्ञानी उपदेशक	अग्निः
स्वातंत्र्य	स्वतंत्र विचारके लोग	आदित्याः
नेत्र, दर्शन शक्ति	दार्शनिक विद्वान्	सूर्यः
सब दिव्य गुण	सब विद्वान्, कारीगर	विश्वे देवाः
तेज	धन	हिरण्यं
दुष्ट विचार	शत्रु	सपत्नाः
आनंद	स्वाधीनता	नाक (स्वर्ग)
तेजी	"	उत्तमं ज्योतिः
सुख	"	मध्यमं "
		अधमं "

" ब्रह्मचर्य " पुस्तकमें अंशावतार का वैदिक भाव वर्णन किया है वह इस समय अवश्य पढिये । (स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित । मूल्य १।)

इस कोष्टकसे पाठकोंको पता लगजायगा कि सूत्रोक्त देवता शरीरमें किस रूपमें हैं, राष्ट्रमें किस रूपमें हैं और जगत् में किस रूपमें हैं । सूर्यदेव जगत्में कहां है यह सब जानते हैं, वही अंशरूपसे शरीरमें है जिसको नेत्र या दर्शनशक्ति कहते हैं, राष्ट्रमें भी जो पुरुष विशेष विचार से राष्ट्रकी अवस्थाका विचार करते हैं वे दार्शनिक पुरुष राष्ट्रके सूर्य हैं क्यों कि उनके दर्शाये मार्गसे जाता हुआ राष्ट्र उत्तम अवस्थामें पहुंच सकता है । इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें देखना योग्य है ।

इस सूक्तमें प्रारंभमें ही "अस्मिन्" पद है इसका अर्थ " इस मनुष्यमें " ऐसा है । प्रश्न होता है कि किस मनुष्य के उद्देश्यसे यह शब्द यहां आया है ? पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध देखनेसे स्पष्टता पूर्वक पता लगता है कि इस शब्दका संबंध पूर्व

सूक्तमें वर्णित "नवप्रविष्ट शुद्ध हुए" मनुष्यके साथ ही है। जो मनुष्य मनकी वृत्ति बदलनेके कारण अपने धर्ममें प्रविष्ट हुआ है, उसकी सबसे अधिक उन्नति करनेकी इच्छा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य ही है। अपने धर्ममें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य है, वह उसको शीघ्र प्राप्त हो, इस विषयकी इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये, अर्थात् उसको विशेष तेज प्राप्त हो ऐसी इच्छा धरनी चाहिये। यद्यपि इस सूक्तका पूर्वापर संबंध देखनेसे यह सूक्त नव प्रविष्ट की तेजवृद्धिके लिये है ऐसा प्रतीत होता है; तथापि हरएक मनुष्यकी तेज वृद्धिके सामान्य निर्देश भी इसमें हैं और इस दृष्टिसे यह सामान्य सूक्त सब मनुष्योंके उपयोगी भी है। पाठक इसका दोनों प्रकारसे विचार करें।

अब यहां पूर्वोक्त मंत्रोंका भावार्थ दियाजाता है और वह भावार्थ देनेके समय व्यक्तिमें जो देवतांश हैं उनको लेकर ही दिया जाता है। पाठक इसकी तुलना पूर्वोक्त कोष्टकसे करें—

उन्नतिका मूलमन्त्र।

प्रथम मंत्र- "इस मनुष्यमें जो निवासक शक्तियां हैं तथा क्षात्र बल, पुष्टि, शांति, मित्रता तथा वाणी आदिकी शक्तियां हैं, ये सब शक्तियां इसमें धन्यता स्थापित करें। इसके स्वतंत्र विचार और इसकी सब इंद्रियां इसको उत्तम तेजमें धारण करें॥ १॥"

मनुष्यमें अथवा जगत्के हरएक पदार्थमें कुछ निवासक (वसु) शक्तियां हैं जिनके कारण वह पदार्थ या प्राणी अपनी अवस्था में रहते हैं। जिस समय निवासक वसु शक्तियां बढती रहती हैं, उस समय पोषण होता है और घटती जाती हैं, उस समय क्षीणता होती है; तथा निवासक शक्तियोंके नाश होनेपर मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके बढने घटनेसे वे वे गुण बढते या घटते हैं। मनुष्यमें वसुशक्तियां आठ हैं और अन्य देवताओंसे प्राप्त अन्य शक्तियां भी हैं। इन शक्तियोंके विकसित रूपमें प्रकाशित होने से ही मनुष्य वसु अर्थात् धन प्राप्त करता है और अपने आपको धन्य कर सकता है। सारांश रूपसे उन्नतिका यही मूल मंत्र है। (१) अपनी निवासक वसु शक्तियोंका विकास करना, तथा (२) अपने अंदर क्षात्रतेजकी वृद्धि करना, (३) अपनी, पुष्टि करना (४) अपने अंदर समता और शांति रखना, (५) मनमें मित्रभाव बढाना और हिंसक भाव कम करना, तथा (६) वाणीकी शक्ति विकसित

करना। इन छः शक्तियोंके बढ जानेसे मनुष्य हरएक प्रकार का धन प्राप्त कर सकता है और उससे अपने आपको धन्य बना सकता है। यहां का "वसु" शब्द धन वाचक है परंतु यह धन केवल पैसाही नहीं, परंतु यह वह धन है, कि जिससे मनुष्य अपने आपको श्रेष्ठ पुरुषोंमें धन्य मान सकता है। इस वसुमें सब निवासक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त होनेवाली धन्यता आजाती है। (१) "निवासक शक्ति, (२) क्षात्रतेज, (३) पुष्टि, (४) समता, (५) मित्रभाव, (६) वक्तृत्व," इन छः गुणोंकी वृद्धि करनेकी सूचना इस प्रकार प्रथम मंत्रके प्रथमार्ध में दी है और दूसरे अर्ध में कहा है कि (७) इसके स्वतंत्र विचार और (८) इसकी इंद्रिय शक्तियां इनको उत्तमोत्तम तेजस्वी स्थानमें पहुंचायें। मनुष्यके स्वतंत्र विचार ही मनुष्यको उठाते या गिराते हैं, उसी प्रकार इंद्रियां स्वाधीन रहीं तो ही वह संयमी मनुष्य श्रेष्ठ बनता है अन्यथा इंद्रियोंके आधीन बनकर दुर्व्यसनी बनाहुआ मनुष्य प्रतिदिन हीन होता जाता है। मनुष्यकी निःसंदेह उन्नति करनेका यह अष्टविध साधन प्रथम मंत्रने दिया है। वह हरएक मनुष्यको देखने योग्य है। अब दूसरा मंत्र देखिये—

विजयके लिये संयम।

द्वितीय मंत्र-"हे देवो! इस मनुष्यकी आज्ञामें तेजी, नेत्र, वाणी और धन रहे। हमारे शत्रु नीचे हो जांय और इसको सुखकी उत्तम अवस्था प्राप्त हो॥ २॥"

इस मंत्रमें "(अस्य प्रदिशि सूर्यः अस्तु) इसकी आज्ञामें सूर्य रहे" यह वाक्य है। पाठक जान सकते हैं कि किसी भी मनुष्यकी आज्ञामें सूर्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है; परन्तु सूर्यका अंश जो शरीरमें नेत्र स्थानमें रहा है और जिसको नेत्र इन्द्रिय कहते हैं वह तो संयमी पुरुषके आधीन रह सकता है। इससे पूर्व कोष्टककी बात सिद्ध होती है कि व्यक्तिके विषयमें विचार करनेके समय देवताओंके शरीर स्थानीय अंशही लेने चाहिये जैसा कि पहले मंत्र में किया है और इस मंत्रमें भी करना है।

मनुष्यके अंदर वायु ज्योती का अंश तेजी, सूर्य का अंश नेत्र, अग्निका अंश वाणीके रूपमें रहा है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंश यहां रहे हैं, वे ही इन्द्रिय शक्तियां हैं। मनुष्यकी फुर्ती, आंख और वाणी तथा उपलक्षणसे अन्य इन्द्रियां भी मनुष्यकी

आज्ञामें रहें, अर्थात् इन्द्रियां स्वतंत्र न बनें । तात्पर्य मनुष्य इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह करके अपनी शक्तियोंको अपने आधीन रखे । अपने इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना आत्मविजय प्राप्त करना है । इस प्रकारका आत्मविजयी मनुष्य ही शत्रुओंको दबा सकता और उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है । यदि जगत्में विजय पाना है, शत्रुओंको दबाना है, तथा उत्तम सुख कमाना है, तो अपनी शक्तियोंको सबसे प्रथम स्वाधीन करना चाहिये, यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां मिलता है । अब तृतीय मंत्र देखिये-

ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति ।

तृतीय मंत्र— " जिस उत्तम ज्ञानसे क्षत्रियको उत्तमोत्तम रस प्राप्त होते हैं, हे धर्मोपदेशक ! उसी उत्तम ज्ञानसे यहां इस मनुष्य की वृद्धि कर और अपनी जातीमें इसे श्रेष्ठता प्राप्त हो ॥ ३ ॥ "

क्षत्रियको, इन्द्रको अथवा राजाको जिस ज्ञानसे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं और जिस ज्ञानसे वह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, वह ज्ञान इस मनुष्यको प्राप्त हो और यह मनुष्य भी वैसाही अपनी जातीमें अथवा अपने राष्ट्रमें श्रेष्ठ बने । राष्ट्रके हरएक पुरुषको श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करनेके सब साधन खुले रहने चाहियें । वह मनुष्य नूतन प्रविष्ट हो या उसी जातीमें उत्पन्न हुआ हो । तथा हरएक मनुष्यमें यह महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिये कि मैं भी उस ज्ञानको प्राप्त करके वैसाही श्रेष्ठ बनूंगा, मैं अपनी जातीका नेता बनूंगा और अपने देशमें श्रेष्ठता प्राप्त करूंगा । यह मंत्रका आशय हरएकको नित्य स्मरणमें रखना उचित है । अब अगला मंत्र देखिये—

जनताकी भलाई करना ।

चतुर्थ मंत्र— "इन सबके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूं, और इनके धनकी वृद्धि मैं करूंगा, तथा इनके सत्कर्म मैं फैलाऊंगा । हमारे शत्रु नीचे दब जांय और हमको उत्तम सुखका स्थान प्राप्त हो ॥ ४ ॥

(१) पहिले मंत्रके उपदेशानुसार आचरण करनेसे अपनी शक्तियोंकी उन्नति की, (२) दूसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपने इन्द्रिय संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त किया, (३) तीसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपने ज्ञानवृद्धि द्वारा प्रशस्त कर्म करके अपनी जातीमें बहुमान प्राप्त किया, तब (४) इस चतुर्थ मंत्रमें वर्णित जनताकी भलाई करनेके उत्तमो-

त्तम कर्म करने और कराने का योग्य अवसर प्राप्त होता है। पाठक यहां चार मंत्रोंमें वर्णित यह चार सीढियां देखें और विचारें, तो पता लग जायगा कि यहां इस सूक्तमें वेदने थोडे शब्दोंमें मानवी उन्नतिका अत्यंत उत्तम उपदेश किया है, इसका पाठक जितना विचार करें उतना थोडा ही है। देखिये-

उन्नतिकी चार सीढियां।

"अपनी शक्तियोंका विकास ॥"

प्रथम मन्त्र- शरीरकी धारक शक्तियों, इन्द्रियों और अवयवों की सब शक्तियों तथा मनकी विचार शक्तियों का उत्तम विकास करो ॥

"स्वशक्तियोंका संयम ॥"

द्वितीय मन्त्र- अपने आधीन अपनी सब शक्तियां रखो, संमय द्वारा आत्मविजय प्राप्त करके शत्रुको दूर करो और सुखी हो जाओ ॥

"ज्ञानवृद्धिद्वारा स्वजातिमें संमान ॥"

तृतीय मन्त्र- ज्ञानकी वृद्धिद्वारा विविध रस प्राप्त करो, और अपनी वृद्धिद्वारा स्वजातीमें श्रेष्ठ बनो।

"जनताकी उन्नति के लिये प्रयत्न"

चतुर्थ मन्त्र— लोगोंके चित्त अपनी ओर आकर्षित करो, लोगोंके धनों की वृद्धि करो और उनके प्रशस्त कर्मोंको फैला दो। इससे शत्रुओंको दूर करके सुखके स्थानमें विराजो ॥

ये चार मन्त्र चार महत्व पूर्ण आदेश दे रहे हैं (१) स्वशक्ति-संवर्धन, (२) आत्म-संयम, (३) ज्ञान के कारण स्वजातीमें श्रेष्ठत्व और (४) जनताकी भलाई के लिये प्रयत्न, ये संक्षेपसे चार आदेश हैं। इन चार मन्त्रोंपर चार विस्तृत व्याख्यान हो सकते हैं इतना इनके उपदेशों का विस्तार और महत्व है।

चतुर्थ मन्त्रमें "एषां" शब्द है, यह "इन सब लोगोंका" यह भाव बता रहा है। इन सब लोगोंके चित्त में अपनी ओर खींचता हूं, इनके धनोंकी वृद्धि करनेके उपाय

मैं करता हूं, इनके प्रशस्त कर्मोंको बढाता हूं, और इनके सब शत्रुओंको नीचे दबाकर इन सबका सुख बढानेका प्रयत्न करता हूं। यह इस चतुर्थ मन्त्रका भाव अति स्पष्ट और सुगम है। पाठक इसका मनन करें और इस सूक्तको अपने आचरण में ढाल दें।

वर्चस्य गण के सूक्तके उत्तम उपदेशका अनुभव पाठकोंको यहां आया ही होगा। इसी प्रकार आगे भी कई सूक्त इस गणके आवेंगे। उस समय सूचना दी जायगी। पाठक गणोंके अनुसार सूक्तोंका विचार करें और लाभ उठावें।

इन सूक्तोंका स्मरणीय उपदेश।

१ तौलस्य प्राशान– तोलकर खाओ। मित भोजन करो।

२ प्रजां नयस्व– सन्तानको ठीक मार्ग बताओ।

३ ब्रह्मणा वावृधानः– ज्ञानसे (बढने वाला तथा दूसरोंको) बढाने वाला (बनो)।

४ उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु – अधिक श्रेष्ठ तेजमें (इसकी) धारणा करें।

५ अस्य प्रदिशि ज्योतिः सूर्यः अग्निः उत हिरण्यं अस्तु – इसकी आज्ञामें तेज सूर्य अग्नि और धन रहे, (अर्थात्) इस (मनुष्य) की आज्ञामें जगत् के पदार्थ रहें और कभी मनुष्य उनकी आज्ञामें जाकरपराधीन न बने।

६ सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु – शत्रु हमारे नीचे रहें।

७ उत्तमं नाकमधि रोहयैनम् – इसे उत्तम स्थानमें चढाओ।

८ सजातानां श्रैष्ठ्य आधेह्येनम् – इसको अपनी जातीमें श्रेष्ठ बनाओ।

असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा।

(१०)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—असुरो वरुणः ।)

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥
नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम् ।
सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥
यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥
मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ (अयं) यह (देवानां असुरः) देवोंको भी जीवन देनेवाला ईश्वर (विराजति) प्रकाशता है। (हि) क्यों कि (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण देव अर्थात् ईश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य है। (ततः परि) इतना होनेपर भी (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (शाशदानः) तीक्ष्ण बना हुआ मैं (उग्रस्य मन्योः) प्रचंड ईश्वरके क्रोधसे (इमं) इस मनुष्यको (उत् नयामि) ऊपर उठाता हूं ॥ १ ॥ हे (वरुण राजन्) ईश्वर ! (ते मन्यवे) तेरे क्रोधको (नमः अस्तु) नमस्कार होवे। हे (उग्र) प्रचंड ईश्वर ! तू (विश्वं द्रुग्धं) सब द्रोहादि पापोंको (निचिकेषि) ठीक प्रकार जानता है। (सहस्रं अन्यान्) हजारों अन्योंको (साकं) साथ साथ मैं (प्रसुवामि) प्रेरणा करता हूं। (अयं) यह मनुष्य (तव) तेरा बन कर ही (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीवाति) जीता रह सकता है ॥ २ ॥ हे मनुष्य ! (यत्) जो (अनृतं वृजिनं)

असत्य और पाप वचन (जिह्वया) जिह्वासे (बहु उवक्थ) बहुतसा तू बोला है. उससे तथा (सत्यधर्मा) सच्चे न्यायी (राज्ञः वरुणात्) राजा वरुण देव ईश्वर से (अहं) मैं (त्वा) तुझको (मुंचामि) छुडाता हूं ॥ ३ ॥ हे मनुष्य ! त्वा तुझको (महतः वैश्वानरात् अर्णवात्) बडे समुद्रके समान गंभीर विश्वनायक देवसे (परि मुंचामि) छुडाता हूं । हे (उग्र) वीर ! (इह) यहां (सजातान्) अपनी जातिवालोंको (आ वद) सब कह दे और (नः) हमारा (ब्रह्म) ज्ञान (अप चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

सूक्तका संबंध।

[illegible] "शुरू हुए नवप्रविष्ट" मनुष्यकी उन्नतिकी उपाय योजना [illegible] है, इस [illegible] सूक्तमें उसी नव प्रविष्ट मनुष्यको असत्यादि पापोंसे छुडानेकी [illegible] उपदेश है। यद्यपि पूर्वापर संबंधसे यह सूक्त नवप्रविष्टकी पापसे मुक्तता करने [illegible] करता है तथापि मनुष्य मात्र को पाप मोचन के विषयमें [illegible] भी यही सूक्त साथ साथ कर रहा है यह बात भी इस सूक्तमें [illegible] है। यह सूक्त अति सरल है इस लिये इसके समझनेके लिये विशेष [illegible] आवश्यकता नहीं है, इसका सरल भावार्थ ही सब बातोंको स्पष्ट कर [illegible] आशय—

[illegible] सूर्यादि देवताओंको शक्ति प्रदान करने वाला प्रभु [illegible] विराजता है. सबका सर्वोपरि शासक वही है, इस- [illegible] सत्य होती है। अर्थात् उसकी इच्छाके [illegible] नहीं सकता। तथापि ज्ञानसे सत्यमार्गोंको जानने [illegible] मनुष्यको निम्नलिखित मार्गसे उस ईश्वरके क्रोधसे [illegible] हे ईश्वर ! तेरे क्रोधके सामने हम नम्र होते हैं, तेरे [illegible] क्योंकि तू हम सबोंके पापोंको यथावत् जानता है [illegible] तेरे सामने छिपा नहीं सकते। हे प्रभो ! [illegible] की सभाओंमें घोषित की है। यह संदेह [illegible] मनुष्य तेरा भक्त बनेगा तो ही [illegible] कौन बचा सकता है ? ॥ १ ॥ हे पापी

मनुष्य ! तू अपनी जबानसे बहुत असत्य और बहुत पाप वचन बोलता है। इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता। मैं तुम्हें उसकी शरण में ले जाता हूं और उसकी कृपासे तेरा बचाव कर सकता हूं ॥ ३ ॥ हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वर के क्रोधसे इस प्रकार छुडाता हूं। हे वीर ! तू अपनी जातिमें सब बातें कह और हमारे ज्ञानको जान कर अपनाओ ॥ ४ ॥

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग ।

यद्यपि यह सूक्त अति सरल है तथापि पाठकोंके विशेष सरल बोधके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण किया जाता है।

इस सूक्तमें पापसे छुटकारा पानेका जो मार्ग बताया है वह निम्न लिखित है—

एक शासक ईश्वर ।

(१) " देवानां असुरो विराजति "– सूर्यचंद्रादि देवोंको विविध शक्ति देनेवाला एक प्रभु ईश्वरही सब जगत् का परम शासक है। इससे अधिक शक्ति शाली दूसरा कोई नहीं है। (मंत्र १)

(२) " राज्ञो वरुणस्य वशा हि सत्या " – उस प्रभु ईश्वरका सत्य शासन है। उसी की इच्छा सर्वोपरि है। उसके अपूर्व शासन का कोई उल्लंघन कर नहीं सकता। (मंत्र १)

(३) " विश्वं स्तुम्र निचिकेषि द्रुग्धम् "– हे प्रभु ईश्वर ! तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है। अर्थात कोई मनुष्य अपने पाप उससे छिपा नहीं सकता। क्यों कि वह सर्वज्ञ है इसलिये हम सबके बुरे भले कर्म वह यथावत् उसी समय जानता है। (मंत्र २)

ईश्वर को सर्वोपरि मानना, सबसे सामर्थ्य शाली वह है यह स्मरण रखना और उससे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आवश्यक है। पापसे बचाने वाले ये तीन महत्त्व पूर्ण विश्वास हम बताते हैं, पाठक इनका मनन करें और इनको अपने अंदर स्थिर करें। येही तीन बातें मनुष्यको पापसे बचाव कर सकते हैं।

सुख-प्रसूति-सूक्त।

(११)

[ऋषिः — अथर्वा । देवता — पूषा]

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥
चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥
सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥ ३ ॥
नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ ५ ॥
यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

अर्थ-हे (पूषन्) पोषक ईश्वर ! (ते वषट्) तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं। (अस्मिन् सूतौ) इस प्रसूतिके कार्यमें (अर्यमा होता वेधाः)

आर्य मन वाला दाता विधाता ईश्वर सहायता (कृणोतु) करे । (ऋत-प्रजाता) नियम पूर्वक बालकोंको जन्म देनेवाली (नारी) स्त्री (सिस्रतां) दक्षतासे रहे । तथा अपने (पर्वाणि) अंगोंको (सूतवै उ) सुख प्रसूतिके लिये (विजिहतां) ढीले करें ॥ १ ॥ (दिवः) आकाशकी (उत) तथा (भूम्याः) भूमिकी (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें रहनेवाले (देवाः) देवोंने (गर्भं समैरयन्) गर्भ को बनाया, इस लिये वेही (सूतवे)उसकी सुखप्रसूति के लिये (तं वि ऊर्णुवन्तु) उसको प्रकट करें, उसको बाहर खुला करें ॥ २ ॥ (सूषा)उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली माता (व्यूर्णोतु) अपने अंगोंको खुला करे । हम (योनिं) योनिको (विहापयामसि) खोलते हैं । हे (सूषणे) प्रसूत होनेवाली स्त्री ! (त्वं) तू भी (श्रथय) अंदरसे प्रेरणा कर । और हे (विष्कले) वीर स्त्री ! (त्वं) तू (अवसृज) बालक को उत्पन्न कर ॥ ३ ॥ (न इव मांसे) नहीं तो मांसमें, (न पीवसि) न चर्बीमें, और (न इव मज्जसु) न तो मज्जामें वह (आहतं) लिपटा है । (पृश्नि शेवलं) नरम सेवार के समान (जरायु) जेली (शुने अत्तवे) कुत्तेके लिये खानेको (अवैतु) नीचे आवे, (जरायु) जेली (अवपद्यताम्) नीचे गिरजावे ॥ ४ ॥ (ते मेहनं) तेरे गर्भके मार्गको, (योनिं) योनिको तथा (गवीनिके) दोनों नाडियोंको (वि वि वि भिनद्मि) विशेष रीतिसे खुला करता हूं । (मातरं पुत्रं च) माता और पुत्रको (वि) अलग करता हूँ तथा (कुमारं जरायुणा वि) बच्चेको जेरीसे अलग करता हूं । (जरायु) जेरी (अव पद्यताम्) नीचे गिर जावे ॥ ५ ॥ जैसे वायु, जैसे मन, और जैसे पक्षी (पतन्ति) चलते हैं (एव) इसी प्रकार हे (दशमास्य) दश महिनेवाले गर्भ ! तू (जरायुणा साकं) जेरीके साथ (पत)नीचे आ तथा (जरायु अव पद्यताम्) जेरी नीचे गिरजावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे सबके पोषण करनेवाले जगदीश ! तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं । इस प्रसूति के समय सब जगत्का निर्माता तूही हमारा सहायक बन । यह स्त्री भी दक्षतासे रहे । और इस समय अपने अंगोंको ढीला करे ॥१॥ आकाश और भूमिकी चारों दिशाओंमें रहनेवाले सूर्यादि सम्पूर्ण देवोंने इस गर्भको बनाया है और वेही इस समय अपनी सहाय-

तासे इसको सुख पूर्वक गर्भस्थानसे बाहर लावें ॥ २ ॥ स्त्री अब अपने अंग खुले करें, सहाय करने वाली धाई योनिको खोलें । हे स्त्री ! तूही मनसे अंदरसे प्रेरणा कर और सुखसे बालक को उत्पन्न कर ॥ ३ ॥ यह गर्भ मांस, चर्बी या मज्जामें चिपका नहीं होता है। वह पानीमें पत्थरोंपर बनने वाले नरम सेवार के समान अति कोमल थैलीमें लिपटा हुआ होता है, वह सब थैलीकी थैली एक दम बाहर आवे और वह नालके साथ जेली कुत्तों-को खानेके लिये दी जावे ॥ ४ ॥ योनि, गर्भस्थान और पिछली नाडियोंको ढीला किया जावे, प्रसूती होते ही मातासे बचा अलग किया जावे और बचेसे जेली नाल समेत अलग की जावे। नाल समेत सब जेली पूर्णतासे बाहर निकल आवे ॥ ५ ॥ जिस प्रकार मन वेगसे विषयोंमें गिरता है, जैसे वायु और पक्षी वेगसे आकाशमें चलते हैं उसी प्रकार दसवें महिने में गर्भ जेरीके साथ गर्भ स्थानसे बाहर आवे और जेरी आदि सब नीचे गिरजावे अर्थात् माताके गर्भस्थानमें उसका कुछ भाग अवशिष्ट न रहे ॥ ६ ॥

प्रसूति प्रकरण ।

इस सूक्तसे नया प्रकरण प्रारंभ हुआ है । यह प्रकरण विशेषतः स्त्रियोंके लिये और सामान्यतः सबके लिये विशेष लाभकारी है । स्त्रियोंको प्रसूतिके जितने कष्ट सहने पडते हैं उनका दुःख स्त्रियां ही जानती हैं । प्रसूतिके समय न्यून कष्ट होना प्रयत्नसे साध्य है । गर्भ धारणासे लेकर प्रसूतिके समयतक अथवा गर्भ धारणासे भी पूर्व समयमें भी जो नियम पालन करने योग्य होते हैं, उनका योग्य रीतिसे पालन करनेसे स्त्रियोंके कष्ट बहुतसे दूर होना संभव है । इस विषयमें आगे बहुत उपदेश आनेवाला है । यहां इस सूक्तमें जितना विषय आया है, उसको अब यहां देखिये —

ईशभक्ति ।

परमेश्वरकी भक्ति ही मनुष्यको दुःखोंसे पार कर सकती है । [illegible] परमेश्वरके उत्तम भक्त होंगे, तो उस परिवार के स्त्रियोंको प्रसूतिके [illegible] लिये इस सूक्तके प्रथम मंत्रके पूर्वार्ध में ही सबसे पहिले ईश्वर [illegible] किया है ।

"वषट्" शब्द "स्वाहा" अर्थमें अर्थात् "आत्मसमर्पण" के अर्थमें प्रयुक्त होता है। (हे पूषन्! ते वषट्) हे ईश्वर! तेरे लिये हम अपने आपको समर्पण कर रहे हैं। तू ही (अर्य-मा) श्रेष्ठ सज्जनोंका मान्य करनेवाला अर्थात् हितकर्ता है, तू ही (वेधाः) सब जगत् का रचयिता और निर्माता है और तूही (होता) सब सुखोंका दाता है। इसलिये हम तेरे आश्रयसे रहते हैं और तेरे लिये ही पूर्णतया समर्पित होते हैं।

यहां पूर्व सूक्तमें वर्णन किये ईश्वरके गुण अनुसंधानसे देखने योग्य हैं। "सब सूर्यादि देवताओंको शक्ति देनेवाला एक ईश्वर है और उसका शासनही सर्वोपरि है।" इत्यादि भाव जो पूर्व सूक्तमें कहे हैं, यहां देखिये। "सबसे समर्थ प्रभु ईश्वर मेरा सहायकारी है, और मैं उसकी गोदमें हूं" इत्यादि भक्तिके भाव जिसके हृदयमें अकृत्रिम प्रेमके साथ रहते हैं, वह मनुष्य विशेष शक्तिसे और आरोग्यसे युक्त होता है और प्रायः ऐसा मनुष्य सदा आनंदमें रहता है।

काम विकारका संयम करनेके लिये परमेश्वर भक्तिही एक दिव्य औषधि है। काम-विकारका नियमन हुआ तो स्त्रियोंके प्रसूतिके दुःख सौमें नौवे कम होंगे, क्योंकि कामकी अति होनेसे ही स्त्रियां अशक्त बनती हैं और अशक्तताके कारण प्रसूतिके कष्ट अधिक होते हैं तथा प्रसूतिके पश्चात् के क्षयादि रोग भी कष्ट देते हैं। इस लिये कामभोगका नियमन परमेश्वर भक्तिसे करनेका उपदेश हरएक स्त्रीपुरुषको यहां अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये।

देवोंका गर्भमें विकास।

सूर्यादि देवताएं अपना अपना अंश गर्भमें रखतीं हैं, सब देवताओं का अंशावतार गर्भमें होनेके पश्चात् आत्मा उसमें आता है। इत्यादि विषय वेदमें स्थान स्थानपर आया है। [इस विषयमें स्वाध्यायमंडल द्वारा प्रकाशित "ब्रह्मचर्य" पुस्तक में "देवोंका अंशावतार" शीर्षक विस्तृत लेख अवश्य पढिये। वहां विविध वेदमंत्रोंद्वारा यह विषय स्पष्ट कर दिया है।] तात्पर्य गर्भमें अंशरूपसे अनेक देवताएं रहती हैं और उनका संबंध बाह्य देवताओं के साथ है। भूमि और आकाशके चारों दिशाओं में रहनेवाली सब देवताएं अपने गर्भमें अंशरूपसे आगई हैं, मानो उन का संमेलन (समन्वयन) ही गर्भमें हुआ है और उनका अधिष्ठाता आत्मा भी उसी गर्भमें है। यह दृढविश्वास गर्भ धारण

करने वाली माता का होना चाहिये । अर्थात् जो गर्भ अपने अंदर है वह अपने केवल कामोपभोग का ही फल नहीं है, परंतु उसमें और विशेष महत्त्वपूर्ण आत्मशक्तिका और दैवी शक्ति का संबंध है । ऐसा भाव गर्भवती स्त्रीमें स्थिर रहनेसे गर्भवतीका स्वास्थ्य तथा गर्भका पोषण भी उत्तम होता है । गर्भाधान के समय में भी देवताओंका आह्वान किया जाता है । उस समय के मंत्र इस दृष्टिसे पाठक देखेंगे तो उनको पता लगेगा कि गर्भाधान कामविकार के पोषणके लिये नहीं है परंतु उच्च शक्तियोंकी धारणा के लिये ही है । अस्तु । गर्भिणी स्त्री अपने गर्भके विषयमें इतना उच्च भाव मनमें धारण करे और समझे कि जिन देवताओंके अंश गर्भमें इकट्ठे हुए हैं वेही देवताएं गर्भ का पोषण और सुख प्रसूतिमें अवश्य सहायता देंगी । अर्थात् इसप्रकार देवताओंकी सहायता और परमात्मा का आधार मुझे है इसलिये मुझे कोई कष्ट नहीं होंगे । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका द्वितीय मंत्र पढें ।

गर्भवती स्त्री ।

पूर्वोक्त भाव गर्भवती अपने अंदर दृढतासे धारण करें । अब गर्भवती स्त्री अथवा गृहस्थाश्रममें रहने वाली स्त्री निम्न बातोंका विचार करें —

१ नारी—जो धर्मनीतिसे (नृणाति) चलती है अर्थात् धर्म नियमोंसे अपना आचरण करती है, तथा (नर) पुरुष के साथ रहती है, वह नारी कहलाती है । अर्थात् विशेष गृहस्थधर्मके नियमोंका पालन करनेका भाव इस शब्दसे सूचित होता है । (मंत्र १)

२ ऋत+प्रजाता—(ऋत) सत्यनियमानुकूल (प्रजाता) प्रजनन कर्मसे युक्त । अर्थात् गर्भ धारण, गर्भ पोषण और प्रसूति आदि सब कर्म जिसके सत्य धर्म नियमोंके अनुकूल होते हैं । ऋतुगामी होना, गर्भ धारण के पश्चात् तीन वर्ष के उपरान्त अथवा बालक दूधपीना छोड दे तत्पश्चात् ऋतुगामी होना, इत्यादि सब नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री सुखसे प्रसूत होती है । (मंत्र १)

३ सूषा, सूषणा—जिस स्त्रीको प्रसूतिके कष्ट नहीं होते, अर्थात् जो सुखसे प्रसूत होती है । स्त्रियोंको योग्य नियमोंके पालन द्वारा यह गुण अपनेमें लाना चाहिये । (मंत्र ३)

४ विष्कला– वीर स्त्री अर्थात् धैर्यवती स्त्री । स्त्रियोंको अपने अंदर धैर्य बढाना आवश्यक है । थोडेसे कष्ट होने लगे तो घबराना नहीं चाहिये । धैर्यसे उनको सहना चाहिये । (मंत्र ३)

गर्भवती स्त्रियोंको इन शब्दों द्वारा प्राप्त होनेवाला बोध अपने अंदर धारण करना उचित है, क्योंकि सुखप्रसूतिके लिये इन गुणोंकी आवश्यकता है ।

गर्भ ।

इस सूक्तमें गर्भ का नाम " दश-मास्य " आया है । इसका अर्थ "दस मास की आयुवाला" ऐसा है । यह शब्द परिपूर्ण गर्भ का समय बता रहा है । दसवें महिनेमें प्रसूतिका ठीक समय है । दसवें महिनेसे पूर्व जो प्रसूति होती है, वह गर्भकी अपक्व अवस्थामें होनेके कारण माताके कष्ट बढाती है । योग्य समयके पूर्व होनेवाले गर्भपात और गर्भस्राव ये सब माताके कष्ट बढानेवाले हैं और ये सब दुःख गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुषोंके नियम रहित बर्तावसे ही होते हैं । जो गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष योग्य नियमोंका पालन करते हैं, उनकी स्त्रियोंकी सुखसे प्रसूति होती है ।

सुख प्रसूतिके लिये आदेश ।

१ स्त्री परमेश्वरकी भक्ति करे । (मंत्र १)

२ अपने गर्भमें देवताओंका अंशावतार हुआ है ऐसा भाव मनमें धारण करे । (मंत्र २)

३ (सिस्रतां) दक्षतासे अपना व्यवहार करे । (मंत्र १)

४ प्रसूतिके समय (पर्वाणि विजिहतां) अपने अंगोंको ढीला करे । (मंत्र १)

५ (सूषा व्यूर्णोतु) सुख प्रसूति चाहनेवाली स्त्री अपने अंगोंको ढीला अथवा खुला करे अर्थात् सख्त न बनावे । (मंत्र ३)

६ (सूषणि त्वं अवपय) सुख प्रसूति चाहनेवाली स्त्री मन की इच्छा शक्तिसे भी अंदर से प्रेरणा करे, तथा मनसे प्रसूतिके अंगोंको प्रेरित करे । यह प्रेरणा स्वयं उस स्त्री को ही अंदर से करनी चाहिये । (मंत्र ३)

धाईकी सहायता।

१ प्रसूतिके समय धाई की सहायता आवश्यक होती है। यह धाईभी प्रसूत होने वाली स्त्रीको उक्त सूचनाएं देती रहे और धीरज देती रहे। " परमेश्वर तेरा सहायक है और सब देव ही तुम्हारे गर्भ में हैं अतः उनकी भी सहायता तुम्हें है " इत्यादि वाक्योंसे उसका धीरज बढावे।

२ आवश्यकता होनेपर योनिस्थान उचित रीतिसे खुला करे। (मंत्र ३)

३ जेरी के अंदर गर्भ होता है। गर्भके साथ जेरी नाल आदि सब बाहर आजाय और कोई उसका पदार्थ माता के गर्भाशयमें न रह जाय इस विषयमें धाई दक्षतासे अपना कार्य करे। वह पदार्थ अंदर रहनेसे बहुत ही दुःख होना संभव है। (मंत्र ४)

४ प्रसूतिके समय गर्भ मार्ग, योनि और पीछले अवयव खुले करने चाहिये। उनको यथा योग्य रीतिसे खुले करे, ताकि प्रसूति सुखसे होवे। (मंत्र ५)

५ प्रसूति होते ही माताके पाससे पुत्रको अलग करके उसपरका जेरी का वेष्टण हटा कर जो आवश्यक कार्य करना हो वह सब योग्य रीतिसे करे। (मंत्र ५)

सूचना।

यह विषय शारीर शास्त्रका है, केवल पांडित्यका नहीं है। इस सूक्तके शब्दोंका अर्थ भी शारीर शास्त्रके प्रसूति प्रकरण के अनुकूल ही समझना उचित है। इसलिये जो वैद्य या डाक्टर हैं, जिन्होंने सुख प्रसूति शास्त्र का विचार किया है, तथा जिन स्त्रियोंको इस शास्त्र के ज्ञानके साथ अच्छा अनुभव भी है, उनको इस सूक्तका अधिक विचार करना चाहिये। वेही इस सूक्तके "मिम्नतां, विजिहतां, व्यूर्णोतु" आदि शब्दोंको ठीक प्रकार समझते हैं और वेही इस सूक्तकी ठीक व्याख्या कर सकते हैं।

आशा है कि प्रसूति शास्त्र के अभ्यासी इसका अभ्यास करेंगे और अधिक निर्दोष व्याख्या कर सकेंगे।

[इति द्वितीय अनुवाक समाप्त।]

श्वासादि-रोग-निवारण-सूक्त ।

[१२]

[ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता—यक्ष्मनाशनम्]

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे ३ मम ॥ ४ ॥

अर्थ—(वात-भ्र-जाः) वायु और मेघसे उत्पन्न होकर (प्रथमः जरायु-जः) पहिला जेरीसे उत्पन्न होनेवाला, (उस्रियः वृषा) तेजस्वी बलवान सूर्य (वृष्ट्या स्तनयन्) वृष्टिके साथ गरजता हुआ (एति) चलता है। (ऋजुगः) वह सीधा चलनेवाला और (रुजन्) रोग दूर करनेवाला (नः तन्वे) हमारे शरीरको (मृडाति) सुख देता है। (यः) जो (एकं ओजः) एक सामर्थ्यको (त्रेधा) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) प्रकाशित करता है। १।

(अंगे अंगे) प्रत्येक अवयवमें (शोचिषा शिश्रियाणं) अपने तेजसे आश्रय करनेवाले (त्वा) तुझको (नमस्यन्तः) नमन करते हुए (हविषा विधेम) अर्पण द्वारा पूजा करते हैं। (यः) जो (ग्रभीता) ग्रहण करनेवाला (अस्य पर्व) इसके जोड को (अग्रभीत्) ग्रहण करता है उसके (अंकान् समंकान्) चिन्होंको और मिले हुए चिन्होंको (हविषा विधेम) हवनके (अर्पणसे पूजें ॥ २ ॥ (शीर्षक्त्याः) सिरदर्दसे (उत) और (यः कासः) जो खांसी है उससे (एनं मुञ्च) इसको छुडा। तथा (अस्य) इसके (परुः परुः) जोड जोडमें जो रोग (आविवेश) घुसगया है उससे भी छुडा। (यः- अभ्रजाः) जो मेघोंकी वृष्टिसे उत्पन्न हुआ है अथवा जो (वात+जाः) वायुसे उत्पन्न हुआ है तथा जो (शुष्मः) उष्णताके कारण उत्पन्न हुआ है, उसके दूर करनेके लिये (वनस्पतीन् पर्वतान् च) वृक्ष वनस्पति और पर्वतोंके साथ (सचतां) संबंध करें ॥ ३ ॥ (मे परस्मै गात्राय शं) मेरे श्रेष्ठ अवयवोंका कल्याण हो। (अवराय शं अस्तु) मेरे साधारण अवयवोंके लिये कल्याण हो। (मे चतुर्भ्यः अंगेभ्यः शं) मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य प्राप्त हो। (मम तन्वे शं अस्तु) मेरे शरीरके लिये सुख होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः - वायु और मेघसे प्रकट होकर मेघोंके आवरणसे प्रथम बाहर निकला हुआ तेजस्वी सूर्य वृष्टि और मेघगर्जना के साथ आ रहा है। वह अपनी सीधी गतिसे दोषों अथवा रोगोंको दूर करता हुआ हमारे शरीरों की निरोगता बढाता है और हमें सुख देता है। वह सूर्यका एक ही तेज तीन प्रकारसे कार्य करता है ॥ १ ॥ वह शरीर के प्रत्येक अंगमें अपने तेज के अंशसे रहता है, उसका महत्त्व जान कर, हम हवन द्वारा उसका सत्कार करते हैं। जो मनुष्यके हरएक जोड में रहता है उसके प्रत्येक चिन्हका भी हवन द्वारा हम सत्कार करते हैं ॥ २ ॥ इसकी सहायतासे सिरदर्द हटाओ, खांसी हटाओ, जोडके अंदरकी पीडा को हटाओ। जो रोग मेघोंकी वृष्टिसे अर्थात् कफसे, वायुके प्रकोपसे अर्थात् वातसे और गर्मीके कारण अर्थात् पित्तसे होते हैं उनको भी हटाओ। इसके लिये वन- स्पतियों और पर्वतोंका सेवन करो ॥ ३ ॥ इससे मेरे उत्तम अंग साधारण

अंग तथा मेरे चारों अंग अर्थात् मेरा सब शरीर नीरोग होवे ॥ ४ ॥

यह भावार्थ मंत्रोंके अर्थोंके अनुसंधानसे पाठक पढेंगे तो उनके ध्यानमें सूक्तका तात्पर्य आजायगा, क्योंकि यह सूक्त सरल और सुगमही है। तथापि पाठकोंके विशेष बोधके लिये यहां विशेष बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है। यह " तक्मनाशन गण" का सूक्त है अर्थात् रोगादिनाशक भाव इसमें है।

महत्त्वपूर्ण रूपक।

सबसे पहले प्रथम मंत्रमें वर्णित महत्त्वपूर्ण रूपक विचार करने योग्य है। पूर्वसूक्तमें "(जरायुजः दशमास्यः पुत्रः) जेरीमें वेष्टित उत्पन्न होने वाले दशमासतक गर्भमें रहनेवाले पुत्र" का वर्णन है। उस के साथ इस सूक्तका संबंध बतानेके लिये इस सूक्त के प्रारंभमें ही "जरायुजः प्रथमः" ये शब्द आगये हैं। यहां सूर्यपुत्रका वर्णन बडे महत्त्व पूर्ण रूपकसे किया है। इस रूपकमें सूर्यही "पुत्र" है। सूर्यके पुत्र होनेका वर्णन वेदमें अनेक स्थानमें आगया है। यहांका यह वर्णन समझमें आनेके लिये कुछ निसर्गकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

वर्षातके दिनोंमें जब कई दिन आकाश मेघोंसे आच्छादित होता है और सूर्य दर्शन नहीं होता, वृष्टि होती है, वायु चलता है, विद्युत् चमकती है तब कभी कभी ऐसा होता है कि थोडा वायु चलनेसे बीचका आकाश मेघ रहित हो जाता है और [illegible] दिखाई देता है। मानो यही पुत्र दर्शन है। पुत्रजन्मके समय में भी प्रसूति [illegible] के उपर जेरी आदि का वेष्टन होता है, इत्यादि प्रकार प्रसूतिके समय होते हैं, [illegible] मानो सूर्यपर वेष्टित मेघ और उनकी वृष्टि। इस प्रकार इस रूपकमें [illegible]।

बहुत दिनोंतक मेघाच्छादित आकाशके पश्चात् जब सूर्य दर्शन होता है, तब [illegible] हो जाती है तब मनुष्योंको अत्यंत आनंद होता है, मनुष्य [illegible] जिनसे [illegible] ते हैं। इसी प्रकार जब गर्भिणी स्त्रीको पुत्र प्रसव होता है, [illegible] जाती है, उसको स्वच्छ किया जाता है, तब [illegible] माताके हृदय में [illegible] आनंद [illegible] शब्दों से [illegible] है [illegible] हृदय ही जानती है, [illegible]

(अंगे अंगे) प्रत्येक अवयवमें (शोचिषा शिश्रियाणं) अपने तेजसे आश्रय करनेवाले (त्वा) तुझको (नमस्यन्तः) नमन करते हुए (हविषा विधेम अर्पण द्वारा पूजा करते हैं। (यः) जो (ग्रभीता) ग्रहण करनेवाला (अस पर्व) इसके जोड को (अग्रभीत्) ग्रहण करता है उसके (अंकान् समंकान् चिन्होंको और मिले हुए चिन्होंको (हविषा विधेम) हवनके (अर्पण पूजें ॥ २ ॥ (शीर्षक्त्याः) ... इस प्रस्तावसे पूर्व सूक्त ... है उससे (... दर्शा है।

... प्रसूतिके समय तथा पश्चात् स्त्रियोंमें अशक्तता आजाती है और नाना रोगों संभावना उत्पन्न होती है। इस लिये इस कष्टको दूर करना सुगमतासे किस री साध्य होता है, यही बताना सूक्तका मुख्यतया विषय है। मानो इस मिषसे अ का विषय इस सूक्तमें प्रदर्शित किया है।

आरोग्य का दाता।

सूर्य ही आरोग्यका दाता है यह बात इस सूक्तके प्रथममंत्रके उत्तरार्धमें स्पष्ट

स नो मृडाति तन्वे ऋजुगो रुजन्। (मंत्र १)

" वह (सूर्य) हमारे शरीरोंको आरोग्य देता है, सीधा जाने वाला दोषों करके, " इस मंत्र भागका स्पष्ट आशय यह है कि वह सूर्य दोषोंको दूर करता आरोग्य बढाता है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि सूर्य प्रकाश ज पहुंचता वहां ठीक आरोग्य रहना संभव ही नहीं है। इस आरोग्यके वैदिक ि ध्यानमें रख कर आप अपने घरोंका और प्रसूतिके कमरेका विचार कीजिये। दाता सूर्य प्रकाश हमारे कमरों में कितना आता है? प्रसूतिके स्थानमें भी वि आना चाहिये, तभी माता और नूतन उत्पन्न बालक का उत्तम स्वास्थ्य रह स घरके कमरोंमें विपुल प्रकाश आता रहेगा तो घरवालोंका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। इ वेद कहता है कि सूर्य प्रकाश सबके स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है। पाठक अ व्यवहारमें इस ज्ञानका उपयोग करें।

प्रथम मंत्रका अंतिम कथन है कि। (एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे) अर्थात् ए तीन प्रकारसे प्रकाशित हो रही है। यह बात कई स्थानोंमें सत्य है। सूर्य का

अन्तर्यामी ईश्वर को नमन।

(१३)

[ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता- विद्युत्]

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥
नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥
प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥
यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

अर्थ- (विद्युते ते) विशेष प्रकाशमान तुझको (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे। (स्तनयित्नवे ते नमः) गडगडानेवाले तुझको नमस्कार होवे। (अश्मने ते नमः अस्तु) ओले रूप तुझको नमस्कार होवे। (येन) जिससे तू (दूडाशे अस्यसि) दुःखदायीको दूर फेंकता है ॥१॥ हे (प्रवतःनपात्) उच्चताको न गिरानेवाले! (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार होवे। (यतः) क्योंकि तू (तपः समूहसि) तपको इकट्ठा करता है। (नः तनूभ्यः मृडय) हमारे शरीरोंको सुख दे और (तोकेभ्यः मयः कृधि) बच्चोंके लिये सुख प्रदान कर ॥२॥ हे (प्रवतः नपात्) उच्चतासे न गिरानेवाले! (तुभ्यं एव नमः अस्तु) तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे। (ते हेतये तपुषे च नमः कृण्मः) तेरे वज्र और तेजके लिये नमस्कार करते हैं। (यत् ते धाम) जो तेरा स्थान (परमं गुहा) परम गुहा अर्थात् हृदयरूपी गुहामें है वह हम (विद्म) जानते हैं। उस (समुद्रे अंतः) समुद्रके अंदर (नाभिः निहिता असि) तू नाभिरूप रहा है ॥३॥ हे (देवि) देवी! (असनाय) शत्रुपर फेंकनेके लिये (धृष्णुं इषुं कृण्वानाः) बलवान

खुली आंखसे सूर्य बिंब देखते रहनेसे प्रायः नेत्ररोग दूर होजाते हैं। विशेष नेत्ररोगोंके लिये विशेष युक्तिसे सूर्य किरणका प्रयोग करना चाहिये। विशेष अंगके लिये भी विशेष युक्तिसे ही सूर्य किरणका प्रयोग करना होता है। साधारण आरोग्यके लिये वह विशेष अवयव सूर्य किरणोंमें तपानेसे भी बहुतसा कार्य हो जाता है। इस युक्तिसे केवल सूर्य किरणचिकित्सासे बहुतसे रोग दूर करना संभव है। यदि सहन हो सके इतने उष्ण सूर्य प्रकाशमें नंगा शरीर कुछ देर तक तपाया जाय तोभी सर्व साधारण शरीर की नीरोगता बढती है। शीतकाल में यह करना उत्तम है, परंतु गर्मीके दिनों और उष्ण देशोंमें विचार से और युक्तिसे ही इसका प्रयोग करना चाहिये। नहीं तो आरोग्य के स्थानपर अनारोग्य भी होगा इस लिये यह सब अभ्यास युक्तिसे ही बढाना चाहिये।

तृतीय मंत्रमें (शीर्षक्त्याः) सिरदर्द, (कासः) खांसी, (परुः) संधिस्थानके रोग उक्त प्रकार हटानेकी सूचना दी है। (वातजाः) वात,(शुष्मः) पित्त,(अभ्रजाः)कफके प्रकोप के कारण उत्पन्न हुए ये तथा अन्य रोग भी उसी युक्तिसे दूर करनेकी सूचना तृतीय मंत्रमें है। (पर्वतान् सचतां) तथा पर्वतों पर रहकर (वनस्पतीन् सचतां)उचित वनौषधियोंका सेवन करनेका भी उपदेश इसी मंत्रमें है। वनौषधियोंका सेवन दो प्रकारसे होता है, एक वृक्षादिकोंके नीचे रहना और दूसरा योग्य औषधियोंके रसादिका उपयोग करना। पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर निवास और वृक्षोंके नीचे बैठना उठना बडा आरोग्य-दायक है, यह बातें हमने कई रोगियोंपर युक्तिसे अजमाई हैं और हमारे अनुभवसे बडी लाभदायक सिद्ध हुई हैं। पाठक भी इससे लाभ उठावें।

चतुर्थ मंत्रमें सिर आदि उत्तमांग तथा पांव आदि अधरांग तात्पर्य सब शरीरका स्वास्थ्य पूर्वोक्त रीतिसे प्राप्त करनेकी सूचना प्रार्थना मंत्र द्वारा दी है।

सर्व साधारण उपाय।

इस सूक्तसे सर्व साधारण के लिये भी बडा बोध प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात यह है कि जो नंगे शरीर सूर्यके किरणोंमें घूमते हैं अर्थात् अपने शरीरको सूर्य किरणोंसे तपाते हैं उनको चर्म रोग, खांसी, दम्मा तथा क्षय आदि रोग होते ही नहीं। ये सब रोग उनको होते हैं कि जो नंगे शरीरपर सूर्य किरण नहीं लेते, अर्थात् सदा वस्त्रोंसे वेष्टित होकर तंग मकानोंमें बैठते हैं। जो इससे बोध लेंगे वे इस सूक्तसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वेदमें इसी लिये घरका नामही "क्षय"आता है। यदि पाठक अपने घरको " क्षय " का कारण समझेंगे तो वे उससे बाहर अधिक देरतक रहेंगे और सूर्य किरणसे मिलनेवाला आरोग्य प्राप्त कर सकेंगे।

अन्तर्यामी ईश्वर को नमन।

(१३)

[ऋषिः- भृग्वङ्गिराः। देवता- विद्युत्]

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥
नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥
प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥
यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

अर्थ- (विद्युते ते) विशेष प्रकाशमान तुझको (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे। (स्तनयित्नवे ते नमः) गडगडानेवाले तुझको नमस्कार होवे। (अश्मने ते नमः अस्तु) ओले रूप तुझको नमस्कार होवे। (येन) जिससे तू (दूडाशे अस्यसि) दुःखदायी को दूर फेंकता है ॥१॥ हे (प्रवतः नपात्) उच्चताको न गिरानेवाले! (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार होवे। (यतः) क्योंकि तू (तपः समूहसि) तपको इकट्ठा करता है। (नः तनूभ्यः मृडय) हमारे शरीरोंको सुख दे और (तोकेभ्यः मयः कृधि) बच्चोंके लिये सुख प्रदान कर ॥२॥ हे (प्रवतः नपात्) उच्चतासे न गिरानेवाले! (तुभ्यं एव नमः अस्तु) तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे। (ते हेतये तपुषे च नमः कृण्मः) तेरे वज्र और तेजके लिये नमस्कार करते हैं। (यत् ते धाम) जो तेरा स्थान (परमं गुहा) परम गुहा अर्थात् हृदयरूपी गुहामें है वह हम (विद्म) जानते हैं। उस (समुद्रे अंतः) समुद्रके अंदर (नाभिः निहिता असि) तू नाभिरूप रहा है ॥३॥ हे (देवि) देवी! (असनाय) शत्रुपर फेंकनेके लिये (धृष्णुं इषुं कृण्वानाः) बलवान

सुदृढ बाण करने वाले (विश्वे देवाः) सब देव (यां त्वा) जिस तुझको (अमृजन्त) प्रकट करते हैं, (तस्यै ते नमः अस्तु) उस तेरे लिये नमस्कार होवे। (सा) वह तू (विदथे गृणाना) युद्धमें प्रशंसित होने वाली (नः मृड) हमें सुख दे ॥ ४॥

भावार्थ- हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजुली आदि में अपना तेज प्रकट करती है, मेघोंमें गर्जना कराती है और अपनी शक्तिसे ओले भी बरसाती है, इन सब बातोंसे तू हमारे सब दुःखोंको दूर करती है, इस लिये तुझे हम सब प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! तू तपोमय जीवन को हमारे अंदर इकट्ठा करती है अर्थात् हमारे में तपः शक्ति बढाती है, उस तपसे हमें तथा हमारे संतानोंको सुखी कर, तेरे लिये हम प्रणाम करते हैं॥२॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! हम जानते हैं, कि तेरा स्थान हृदय रूपी श्रेष्ठ गुफामें है, वहांके समुद्रके अंदर तू मध्य आधार रूप होकर रहती है, इस लिये तेरा तेज और तेरे दुष्ट विघातक शस्त्रास्त्र अर्थात् तेरी शक्तिके सन्मुख हम सिर झुकाते हैं ॥३॥ हे देवी ईश्वरी ! शत्रुको दूर करनेके लिये शस्त्रास्त्र बनानेवाले सब विजयेच्छु लोग सदा तेरी भक्ति करते हैं इस कारण युद्धोंमें प्रशंसित होनेवाली तू हमें सुख दे । हम सब तुझे प्रणाम करते हैं ॥४॥

सूक्तकी देवता ॥

इस सूक्तकी देवता " विद्युत् " है। यद्यपि विद्युत्का अर्थ बिजुली है, और इस सूक्तका प्रारंभ मेघस्थानीय विद्युत् के वर्णन से ही हुआ है, तथापि विद्युत् का वर्णन करना मुख्य उद्देश्य इस सूक्तमें नहीं है। जिस प्रकार अन्यान्य सूक्तों में अग्नि आदि देवताओंके मिषसे परमात्माका वर्णन होता है, उसी प्रकार विद्युत् रूप स्त्री देवता के मिषसे ईश्वरका, जगन्माता, आदिमाता देवीके रूपमें, परमात्माकाही वर्णन यहां हुआ है, इस बातको स्पष्ट व्यक्त करनेवाले इसी सूक्तके निम्न मंत्र भाग यहां देखने योग्य हैं-

१ " प्रवतः न-पात् " — " प्रवत् " शब्दका अर्थ उच्च स्थान है। उच्च अवस्था, उच्चता आदि भाव इस शब्दसे प्रकट होते हैं। उच्चता से न गिराने वाला यह " प्रवतो न-पात् " का भावार्थ है। परमात्माही मनुष्यमात्रको उच्च अवस्थामें रखनेवाला और वहांसे न गिरानेवाला है। (मंत्र २, ३)

२ "ते परमं धाम गुहा " — तेरा परम धाम हृदय की गुफामें है। हृदयमें

आत्माका निवास है, वही उसका परम पवित्र निवास–स्थान है, यह उपनिषदादिमें अनेक वार आगया है ।

३ "समुद्रे अन्तः नाभिः निहिताऽसि ।" -- उसी समुद्रमें मध्यभाग तू है । हृदय गुफामें मानस सरोवर है, समुद्र है, विचारोंका अथवा भावनाओंका महासागर है । उसकी नाभी उसका आधार स्थान, वही आत्मा है । क्योंकि इस समुद्रकी सब लहरें उसकी ही प्रेरणासे अथवा शक्तिसे उठती हैं और उसीकी भक्तिसे इस समुद्रमें शांति स्थापित होती है।

४ "यां त्वा देवा असृजन्त विश्वे ।" — जिस तुझको सब देव प्रकट करते हैं । आत्माका देवोंद्वारा प्रकाशित होना वेदमें अनंत स्थानोंमें स्पष्ट हुआ है । शरीरमें नेत्रादि सब इंद्रियोंद्वारा आत्माका प्रकाशन हो रहा है । यदि नेत्रादि इंद्रियें न हों,तो आत्माका अस्तित्व भी ज्ञात नहीं हो सकता । इस प्रकार सब इंद्रियादि देव शरीरमें आत्माको प्रकट करते हैं । विश्वमें सूर्यचंद्रादि देव परमात्माकी महिमा प्रकट कर रहे हैं । मनुष्य समाजमें सब विद्वान् परमेश्वरकी प्रशंसा कह रहे हैं । इस प्रकार सर्वत्र देवोंद्वारा आत्मा प्रकाशित होता है ।

५ " विदथे गृणाना ।" युद्धके समय इसकी भक्ति की जाती है । मनुष्य संकटमें पडनेपर उसकी सहायताके लिये प्रार्थना करता है । थोडे सज्जनोंको छोड दिया जाय तो प्रायः साधारण मनुष्य संकट समयमें ही ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं । मनुष्य पर संकट न आजाय, तो वह ईश्वरकी पर्वाह भी नहीं करेगा । युद्धमें सच्ची भक्ति होती है । मुख्य युद्ध जीवनयुद्ध है । मनुष्य युद्ध करके ही जीवित रहता है । विरोधीशक्तिसे सामना करना युद्ध है ।

इन सब मंत्र भागोंका वर्णन देखनेसे पता लगता है, कि इस सूक्तको परमात्माकी तेजस शक्तिकाही मुख्यतया वर्णन करना है । और वह वर्णन स्त्रीरूप देवीके वर्णन द्वारा यहां किया है ।

जिस प्रकार मनुष्यका नेत्र देखता है, परंतु अपनी शक्तिसे वह देख नहीं सकता, किंतु हृदयस्थानीय आत्माकी शक्तिसे ही देख सकता है; इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियें आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करती हैं । जैसी यह बात शरीरमें है, उसी प्रकार जगत् की सूर्यादि देवतायें तेज फैलाना आदि कार्य अपनी शक्तिसे नहीं कर सकतीं । विश्वव्यापी परमात्माकी शक्ति लेकर ही सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती और वायु बहती है । इसलिये सूर्य प्रकाशसे, विद्युत्की चमकाहटसे अथवा वायुके

वेगसे न केवल इन देवताओंकी शक्तियां प्रकट हो रही हैं, परंतु परमात्माकी ही विविध शक्तियां प्रकट हो रही हैं। यह भाव ध्यानमें रखकर यदि पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको इस सूक्तमें विद्युत् की चमकाहट से परमात्माका तेज फैल रहा है यही भाव विदित होगा। इसी रीतिसे इस सूक्तका विचार करना चाहिये।

प्रथम मंत्रमें विद्युत् की चमकाहट, मेघोंकी प्रचंड गर्जना, मेघोंसे बर्फ की वृष्टि अथवा जलकी वृष्टि आदि द्वारा परमात्माका प्रचंड कार्य देखना उचित है। इसीसे परमात्मा प्राणिमात्रके दुःख दूर करता है। वृष्टिसे अन्न और जल प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंके अनंत क्लेश दूर हो रहे हैं। यही परमात्माकी कृपा है।

तप का महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें तपका महत्त्व वर्णन किया है। तप अपने हरएक शक्तिसे किया जाता है, वाणीका तप, मनका तप, शरीरका तप, ब्रह्मचर्यका तप, हरएक इन्द्रियका तप आदि अनेक तप मनुष्यको करने चाहियें। इन सब तपोंका जितना बडा (तपः समूहसि) समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्यको प्राप्त होगा। अर्थात तपके जीवनपर मनुष्य का महत्व अवलंबित है।

जिस कारण तपके प्रभावसे मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तपके प्रभावसे ही मनुष्य नहीं गिरता। इसीलिये इस द्वितीय मंत्रमें उच्चतासे न गिरनेका हेतु तपका प्रभाव (प्रवतः न-पात्, यत तपः समूहसि) कहा है। यहां पाठक इनका परस्पर संबंध देखें और गिरावटसे बचनेका कारण जान अपने आपको गिरावटसे बचावें। जो स्वयं अपने आपको गिरावटसे बचा सकता है, वह दूसरों को सुखी कर सकता है।

परमधाम।

तृतीय मंत्रमें परमेश्वर के परम धामका पता दिया है। परमेश्वरका परम धाम हरएक के हृदयमें है, विशेषतः भक्तके हृदयमें ही है। परमेश्वरके भक्त ही उस धामको जानते हैं और वर्णन करते हैं। कौन दूसरा उसको जान सकता है और वर्णन कर सकता है? यही स्थान जानना और इसीका अनुभव लेना मनुष्यका साध्य है।

मनुष्य समुद्रके अंदर गिर पडा है, इस समुद्र की लहरें बडी भारी लहरा रहीं हैं, प्रचंड वायु चल रहा है, मूसा धार मेघ बरस रहे हैं, बिजलियें चकमका रहीं हैं, और यह मनुष्य ऐसे प्रक्षुब्ध समुद्रमें सहायताके लिये पुकार रहा है। उसका ख्याल है, कि सहायता बाहरसे आनेवाली है। यही मनुष्यका भ्रम है, यही अज्ञान है और यही कमजोरी है।

यह तृतीय मंत्र स्पष्ट शब्दोंसे कह रहा है, कि उस प्रक्षुब्ध समुद्र का केन्द्र वही परमात्मा है और वह भक्तके हृदयमें विराजता है । हे भक्त! यदि तू सचमुच उसकी सहायताके लिये पुकार रहा है तो अपने हृदयमें ही उसे ढूंढनेका यत्न कर, वहांही उसका परम धाम है । और वहां ही वह अपने वैभवसे प्रकाश रहा है ।

पाठको! आप यह ध्यानमें रखिये कि आपमेंसे हरएक के हृदयमें वह आत्मज्योति है । वही सब उन्नति की सहायक शक्ति है । आप उसे पकड लीजिये, तो आपकी उन्नति निःसंदेह हो जायगी । सब जगत् अंदरसे बढ रहा है, बाहरसे नहीं । आपकी उन्नतिका भी यही नियम है ।

युद्धमें सहायता ।

युद्धके समय, शत्रुका हमला होनेके प्रसंगमें, डरके समयमें इस परमात्माकी सहायता सब चाहते हैं । मरण,दुःख आदिके कारण मनुष्य परमात्माकी खोज करते हैं।इसीलिये बडे सत्पुरुष दुःख को स्वीकारते हैं और अन्योंको सुख देते हैं । यही दुःखका महत्त्व है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है, कि "सब देव उसको प्रकट करते हैं।" इसीका स्पष्टीकरण इससे पूर्व किया जा चुका है । "युद्धमें उसकी प्रशंसा या स्तुति प्रार्थना होती है" इसकाभी कारण स्पष्टता पूर्वक हमने देखा है । यह सब इसलिये करते हैं कि "शत्रुको दूर भगानेके लिये प्रबल शक्ति प्राप्त हो ।" जो परमात्मा के सच्चे भक्त होते हैं, या तो उनके सन्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, अथवा जो उनकी शत्रुता करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है । अर्थात परमेश्वर भक्ति ही एक बडी भारी शक्ती है, जो संपूर्ण शत्रुओंका नाश कर सकती है ।

नमन ।

इस चार मंत्रोंके सूक्तमें परमेश्वरको सात बार नमन किया है. अर्थात् यहांका अनेक बारका नमन सिद्ध कर रहा है. कि परमेश्वर की सार्वभौम सत्ताके सामने सिर झुकाना, उसको सर्वत्र उपस्थित समझना, उसीको सर्वतोपरि समझना मनुष्यकी उन्नतिके लिये अत्यावश्यक है । उसको छोड कर किसी दूसरेको नमन न करनेके संबंधमें "तुभ्यं एव नमोऽस्तु" (मंत्र ३) यह मंत्रभाग देखने योग्य है । "मैं तुझे ही नमन करता हूं ।" तेरेसे भिन्न किसी अन्यकी उपासना मैं नहीं करता. हे ईश्वर ! तेरे सामने ही मैं सिर झुकाता हूं । मुझे अनुगृहीत कर और कृतार्थ कर । इस सूक्तमें सर्वोत्कृष्ट उपासना कही है, पाठक इसका उपयोग उपासनाके समय कर सकते हैं ।

कुलवधू सूक्त।

[ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता- यमः]

(१४)

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥
एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥
एषा ते कुलपा राजन्तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥
असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (वृक्षात् अभि स्रजं इव) वृक्षसे जिस प्रकार फूलोंकी माला लेते हैं, उस प्रकार (अस्याः भगं वर्चः आदिषि) इस कन्याका ऐश्वर्य और तेज मैं स्वीकारता हूं। (महाबुध्नः पर्वतः इव) बडे जडवाले पर्वतके समान स्थिरतासे यह कन्या (पितृषु ज्योक् आस्तां) मातापिताके घर बहुत समय तक रहे ॥ १ ॥ हे (यम राजन्) नियमपालन करनेवाले स्वामिन्! (एषा कन्या) यह कन्या (ते वधूः) तेरी वधू होकर (निधूयतां) व्यवहार करे। (अथो) अथवा (सा) वह माताके, भाईके (अथो) किंवा पिताके (गृहे बध्यताम्) घरमें रहे ॥ २ ॥ हे (राजन्) हे स्वामिन् ! (एषा) यह कन्या (ते कुल-पा) तेरे कुलका पालन करनेवाली है। (तां) उसको (उ ते परि दद्मसि) तेरे लिये देते हैं। यह (ज्योक्) उस समयतक (पितृषु आसातै)

अथवा इसका सौंदर्य और तेज मैं लेता हूं और उससे मैं सुशोभित होना चाहता हूं। अर्थात् मैं इस कन्याके साथ गृहस्थाश्रम करनेकी इच्छा करता हूं। जैसा पर्वत अपने विशाल आधारपर रहता है, उस प्रकार यह कन्या अपने मातापिताओंके सुदृढ आधार पर रहे। अर्थात् मातापिताओंसे सुशिक्षा पाकर यह कन्या सुयोग्य बने और पश्चात् मेरे (पतिके) घर आजावे।"

यह भाव प्रथम मंत्रका है। इसमें भावी पतिका प्रथम प्रस्ताव है। भावी पति कन्याका सौंदर्य और तेज पसंद करता है और उसके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करता है। अर्थात् भावी पति कन्याकी प्रार्थना उसके माता पिताके पास करता है। और साथ यह भी कहता है कि, कन्या कुछ समय तक माता पिताके घर ही रहे अर्थात् योग्य समय आनेतक कन्या मातापिताके घर रहे, तत्पश्चात् पतिके घर आवे॥ योग्य समय की मर्यादा आगे तृतीय मंत्रमें कही जायगी।

इस मंत्रके विचारसे पता लगता है कि, पुरुष अपनी सहधर्मचारिणी को पसंद करता है। पुरुष अपनी पसंती के अनुसार कन्याको चुनता है और अपना मानस कन्याके मातापिताओंसे निवेदन करता है। कन्याके मातापिता इस प्रस्ताव का विचार करते हैं और भावी पतिको योग्य उत्तर देते हैं।

इस सूक्तसे यह स्पष्ट नहीं होता है, कि कन्याको भी अपने पतिके विषयमें पसंती नापसंतीका विचार प्रदर्शित करनेका अधिकार है वा नहीं। प्रस्ताव होनेपर भी कन्याका मातापिताके घरमें देरतक वास्तव्य (पितृषु कन्या ज्योक् आस्तां) बता रहा है कि, यह प्रस्ताव कन्याके रजोदर्शन के पूर्व ही, अथवा उपवर होनेके पूर्व ही होना है। आजकल जिसको " मंगनी " कहते हैं, उसके समानही यह बात दीखती है। इस सूक्तमें कन्याका एक भी वचन नहीं है, परंतु भावी पति और कन्याके मातापिता या पालकों का ही भाषण है। इससे अनुमान होता है कि, कन्याको उतना अधिकार नहीं है, कि जितना पतिको है।

तीसरे मंत्रमें कन्याके पालक कहते हैं कि, हम (ते तां परि दद्मसि) "तेरेलिये इस कन्याको समर्पण करते हैं।" यह मंत्र भाग स्पष्ट बता रहा है कि, कन्या इस विषयमें परतंत्र है। मत्रंमें दो बार आया है कि " कन्या पिता माता अथवा भाईके घरमें रहे"

अथवा आगे जाकर हम कह सकते हैं कि, विवाह होने पर वह पतिके घर रहे। परन्तु वह कभी स्वतन्त्रतासे न रहे।

जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी जडें हैं, अथवा पर्वतका आधार उसकी अति विस्तृत बुनियाद है, उसी प्रकार कन्याका पहिला आधार मातापिता अथवा भाई हैं, और पश्चात्का आधार पति ही है। इससे भिन्न किसी अन्यका आधार स्त्रीको लेना उचित नहीं है।

प्रस्ताव का अनुमोदन।

प्रथम मंत्रमें कहा भावी पतिका प्रस्ताव सुननेके पश्चात् कन्याके माता पिता विचार करके भावी पतिसे कहते हैं, कि—

" हे नियमसे चलनेवाले स्वामिन्! यह कन्या तेरे साथ नियमपूर्वक व्यवहार करे। तबतक यह माता पिता अथवा भाईके घरमें रहे॥ हे स्वामिन्! यह कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये हम तेरे लिये इसका प्रदान करते हैं। यह तब तक मातापिता के घर रहे, जब तक इसके सिर सजानेका समय आजाय॥ तू बंधनरहित, द्रष्टा और प्राणशक्तिसे युक्त है, इसलिये तेरे ज्ञान के साथ इस कन्याके भाग्यका सम्बन्ध हम जोड देते हैं। जैसी स्त्रियां अपने जेवर संदूकमें बंद रखती हैं उसप्रकार इसके साथ तेरा भाग्य सुरक्षित रखता हूं।"

यह तीनों मंत्रोंका तात्पर्य है, यह बहुतही विचार करने योग्य है। पाठक इसका बहुत विचार करें। यहां उनकी सुविधाके लिये कुछ विचार किया जाता है—

वर की परीक्षा।

इस सूक्तमें पतिके गुण धर्म बताये हैं वे यहां प्रथम देखने योग्य हैं—

१ यमः = यम नियमोंका पालन करनेवाला, धर्मनियमोंके अनुकूल अपना आचरण रखनेवाला।

२ राजन् = राजा (रञ्जयति।) अपनी धर्मपत्नीका रंजन करनेवाला। (यहां पत्नी के विषयका अर्थ होनेसे राजन् शब्दका अर्थ यह लेना योग्य है।) राजा शब्दका अर्थ " प्रकृति का रंजन करनेवाला। " गृहस्थधर्ममें धर्मपत्नी पुरुष की प्रकृति ही है। उस धर्मपत्नीका संतोष बढानेवाला।

३ असितः— (अ-सितः अबद्धः) बंधन रहित । अर्थात् जिसका मन स्वतंत्रताका चाहनेवाला है । गुलामीके भाव जिसके मनमें नहीं हैं ।

४ कश्यपः— (पश्यकः) देखनेवाला । अपनी परिस्थितिको उत्तम रीतिसे जाननेवाला और अपने कर्तव्यको ठीक प्रकार समझनेवाला ।

५ गयः— (प्राणबलयुक्तः) प्राणायामादि योगसाधन द्वारा जिसने अपने प्राणोंका बल बढाया है ।

६ ब्रह्मणा युक्तः— ज्ञानसे युक्त । ज्ञानी ।

ये छः शब्द इस सूक्तमें पतिके गुणधर्म बता रहे हैं ।

पतिके गुणधर्म ।

धर्मनियमोंके अनुकूल आचरण करना, धर्मपत्नीको संतुष्ट रखना, स्वाधिनता के लिये यत्न करना, अपनी परिस्थितिको ठीक प्रकार जानना, योगादि साधन द्वारा अपनी दीर्घ आयु नीरोगता तथा सुदृढताका संपादन करना, तथा ज्ञान बढाना, ये गुण पतिकी योग्यता प्रदर्शित कर रहे हैं ।

यहां स्त्रीको संतुष्ट रखना धर्मानुकूल चलनेसे जितना हो सकता है उतनाही कहा है, क्योंकि " यम राजन् " ये दो शब्द मंत्रमें इकट्टे प्रयुक्त हुए हैं ।

अपनी कन्या के लिये वर ढूंढना हो तो उक्त छः गुणोंकी कसौटीसे ही ढूंढना तथा पसंद करना चाहिये । जिसका आचरण धर्मानुकूल हो, जो धर्मपत्नीके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेवाला हो, जो स्वाधीनताके लिये प्रयत्नशील हो, जो अपनी अवस्थाको जाननेवाला और तदनुकूल कार्य व्यवहार करनेवाला हो, जो बलवान तथा नीरोग हो और स्वास्थ्य रक्षा कर सकता हो, तथा जो ज्ञानवान और प्रबुद्ध हो, तो उस वरको अपनी कन्या प्रदान करना योग्य है ।

तथा जो धर्मानुकूल आचरण नहीं करता, जो किसी के साथ प्रेममय आचरण नहीं करता, जो पराधीनतामें रहता है, जो अपनी अवस्थाके प्रतिकूल आचरण करता है, तथा जो निर्बल और रोगी हो, तथा जो ज्ञानी न हो, उसको किसी भी अवस्थामें अपनी कन्याके लिये वर रूपमें पसंद नहीं करना चाहिये ।

पाठक वर परीक्षाके विषयमें इन बातोंका ध्यान रखें। अब वधू परीक्षा करनेके नियम देखिये —

वधू परीक्षा।

इस सूक्तमें वधूपरीक्षा के निम्न लिखित मंत्र भाग हैं —

१ कन्या— (कमनीया) कन्या ऐसी हो, कि जिसको देखनेसे मनमें प्रेम उत्पन्न हो। रूप, तेज, अवयवोंकी सुंदरता, स्वच्छता, ज्ञान आदि सब बातें, जिससे देखने वालेके मनमें प्रेम उत्पन्न होता हो, इस शब्दसे ज्ञात हो जाती हैं।

२ वधू – (उह्यते पतिगृहं) जो पतिके घर जा कर रहना पसंद करती है। जो पतिके घरकोही अपना सच्चा घर मानती है।

३ कुलपा–कुलका पालन करनेवाली। पिताके तथा पतिके कुलोंकी मर्यादाओंका पालन करनेवाली। जो अपने सदाचारसे दोनों कुलोंका यश बढाती है।

४ ते (पत्युः) भगम्—धर्म पत्नी ऐसी होनी चाहिये, कि जो पतिका भाग्य बढावे। जिससे पतीको धन्यता अनुभव हो।

५ पितृषु आस्ताम्– विवाहके पूर्व अथवा आपत्कालमें माता पिता अथवा भाई इनके घरमें रहनेवाली और विवाहके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली। किसी अन्यके घर जाकर रहनेकी इच्छा न करनेवाली कन्या होनी चाहिये।

६ वृक्षात् स्रक्– वृक्षसे पुष्पमालाके समान कन्या हो, पिताके कुल रूपी वृक्षको पुष्पमाला रूप कन्या सुगंधित करे।

ये छः मंत्र भाग कन्याकी परीक्षा करनेके नियम बता रहे हैं। पाठक इनका उत्तम विचार करें और इन उपदेशोंके अनुकूल कन्याकी परीक्षा करें।

कन्याके गुणधर्म।

कन्या सुरूप तथा तेजस्विनी हो, पतिके घर प्रेमपूर्वक रहनेवाली हो, दोनों कुलोंका यश अपने सदाचरणसे बढाने वाली हो, पतिका भाग्य बढानेवाली, यौवनके पूर्व पिताके घरमें तथा यौवन प्राप्त होनेके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली, तथा पुष्पमालाके समान अपने कुलकी शोभा बढाने वाली हो। इस प्रकारकी जो सुलक्षणी कन्या हो उसकोही पसंद करना योग्य है।

परंतु जो फीकी, निस्तेज, दुर्मुखी, पतिके घर जानेकी इच्छा न करनेवाली, दुराचारिणी, पतिके भाग्यको घटानेवाली, तथा दोषयुक्त हो, वह कन्या विवाह के लिये योग्य नहीं है ।

मंगनीका समय ।

इस सूक्तसे विवाहके समयका ठीक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका ज्ञापक कोई प्रमाण यहां नहीं है ॥ " कन्या सिर सजानेके समय के पूर्व माताके घर देरतक रहे ' इस तृतीय मंत्रके कथनसे मंगनीका समय ऋतुप्राप्त होनेके पूर्व कुछ वर्ष – अधिकसे अधिक एक दो वर्ष – होना संभव है । तथापि वधूपरीक्षाके जो छः लक्षण ऊपर बताये हैं, वे लक्षण स्पष्टतया व्यक्त होने के लिये प्रौढदशाकी प्राप्तिकी अत्यंत आवश्यकता है । " पतिके घर जानेकी कल्पना " जिस अवस्थामें कन्याके मनमें आती है वह अवस्था मंगनी की प्रतीत होती है । ये छः शब्द अच्छी प्रौढ प्रबुद्ध, करीब उपवर, कन्याकी अवस्था बता रहे हैं । पाठक सब शब्दोंका विचार अच्छी प्रकार करेंगे, तो उनको कन्या की किस आयुमें मंगनी होनी चाहिये इस विषयका निश्चय हो सकता है ।

भावी पति मंगनी करे और कन्याके माता पिता पूर्वोक्त लक्षणोंका खूब विचार करके भावीपतिके प्रस्तावका स्वीकार या अस्वीकार करें । इस सूक्तमें वरके मातापिता को तथा कन्याको अपना मत देनेका अधिकार है ऐसा माननेके लिये एकभी प्रमाण नहीं है । यह बात यदि किसी अन्य सूक्तमें आगे मिल जायगी, तो उस समय कही जायगी ।

सिरकी सजावट ।

तृतीय मंत्रमें कहा है " ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् । " (देरतक माता पिताके घरमें कन्या रहे, जबतक सिर सजानेका समय आजावे ।) यहां एक बात कहना आवश्यक है, कि जिस समय स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय उसको " पुष्पवती " कहते हैं । पुष्पवती का अर्थ फूलोंसे युक्त, फूलोंसे अपने आपको सजाने योग्य । प्रथम रजोदर्शन, प्रथम ऋतुप्राप्ति अथवा प्रथम पुष्पवती होते ही उसको फूलोंद्वारा सजानेकी प्रथा, विशेषतः उसका सिर फूलोंसे सजानेकी प्रथा भारतवर्षमें इस समय में भी है । म्हैसूर और मद्रासकी ओर तो पहले गर्भाधानके प्रसंग के लिये सैकडों रूपयोंके फूल इस पुष्पवती स्त्रीकी सजावट के लिये लाये जाते हैं । मुंबई में भी कई जातियोंमें यह प्रथा है । अन्य जातियोंमें कम है, परंतु सिरमें फूल पहननेका रिवाज इस ऋतुप्राप्तिके समय के

लिये विशेष है । यह रिवाज प्रतिदिन कम हो रहा है । एक धनाभाव के कारण और दूसरा उत्साहके अभाव के कारण यह रिवाज न्यून हो रहा है । धनी लोग इस प्रसंगके लिये सोने और रत्नोंके भी फूल बनाते हैं और पुष्पवती स्त्रीके चतुर्थ दिनमें उसका सिर बहुत सजाते हैं । जिन प्रांतोंमें घुंगट निकालनेका रिवाज है, उन प्रांतोंमें यह रिवाज कम है ऐसा हमारा ख्याल है, परंतु सच्ची बात वहां के लोग ही जान सकते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि घुंगटकी प्रथा अवैदिक कारणोंसे हमारे समाजमें घुसगई है !

मंगनीके पश्चात् विवाह ।

इस सूक्तके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि, मंगनीके पश्चात् विवाह का समय बहुत दूर का नहीं है । प्रथम मंत्रमें वरसे पहिला प्रस्ताव अर्थात् मंगनीका प्रस्ताव हुआ है । और द्वितीय तथा तृतीय मंत्रमें ही कन्याके अर्पण का विषय आगया है । देखिये--

१ एषा कन्या ते वधूः निधूयताम् = यह हमारी कन्या तेरी पत्नी बन कर निःशेष व्यवहार करे । तथा—

२ एषा (कन्या) ते कुलपा, तां उ ते परिदद्मसि । = यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये उसको तेरे लिये हम प्रदान करते हैं।

३ ते भगं अपिनह्यामि = तेरा भाग्य [इस कन्या के साथ] बांधता हूं, अर्थात् इससे तू अलग न हो ।

ये मंत्र भाग स्पष्ट बता रहे हैं कि मंगनीका स्वीकार होनेके पश्चात् शीघ्रही विवाहका समय होता है । यद्यपि इसमें समय का साक्षात् उल्लेख नहीं है, तथापि, (१) मंगनी (२) कन्यादान की संमती, (३) सिर सजानेके समयतक अर्थात् पुष्पवती होनेतक कन्याके पितृघरमें निवास का विधान स्पष्ट बता रहा है, कि मंगनी के पश्चात् विवाह होनेके बाद ऋतुमती और पुष्पवती होनेके नंतर कन्याका पतिके घर निवास होनेका क्रम दिखाई देता है । पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें । यह विषय अन्यान्य सूक्तोंके साथ संबंधित है, इस लिये इस विवाह प्रकरणके सूक्त जहां जहां आवेंगे वहां वहां इसके साथ संबंध देख करही सब बातोंका निर्णय होगा । पाठक भी इस विषयमें अपने विचारों की सहायता देंगे, तो अधिक निर्दोष निश्चय होना संभव है ।

संगठन-महायज्ञ-सूक्त।

[ऋषिः- अथर्वा। देवता-सिंधुः]

(१५)

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ — (सिंधवः) नदियां (सं सं स्रवन्तु) उत्तम रीति से मिलकर बहती रहें, (वाताः सं) वायु उत्तम रीतिसे मिलकर बहते रहें, (पतत्रिणः सं) पक्षी भी उत्तम गतिसे मिलकर उडते रहें। इसी प्रकार (प्र दिवः)उत्तम दिव्य जन (मे इमं यज्ञं) मेरे इस यज्ञको (जुषन्तां) सेवन करें, क्योंकि मैं (संस्राव्येण हविषा) संगठन के अर्पणसे (जुहोमि) दान कर रहा हूं॥ १॥ (इह एव) यहां ही (मे हवं) मेरे यज्ञ के प्रति (आयात) आओ (उत) और हे (संस्रावणाः) संगठन करने वाले (गिरः) वक्ताओ! (इमं वर्धयत) इस संगठन को बढाओ। (यः पशुः) जो सब पशुभाव है वह

(इह एतु) यहां आवे और (अस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो संपत्ति है, वह (तिष्ठतु) रहे ॥२॥ (नदीनां) नदियोंके जो (अक्षिताः उत्सासः) अक्षय स्रोत इस (सदं) संगठन स्थानमें (संस्रवन्ति) वहरहे हैं, (तेभिः मे सर्वैःसंस्रावैः) उन मेरे सब स्रोतोंसे हम सब (धनं) धन (संस्रावयामसि) इकट्ठा करते हैं॥३॥ (ये) जो (सर्पिषः) घीकी (क्षीरस्य) दूधकी (च उदकस्य) और जलकी धाराएं (संस्रवन्ति) वह रही हैं, (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन सब धाराओंसे हम (धनं संस्रावयामसि) धन इकट्ठा करते हैं ॥४॥

भावार्थ – नदियां मिलकर वहतीं हैं, वायु मिलकर वहते हैं, पक्षी भी मिलकर उडते हैं, उस प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञमें मिल जुल कर संमिलित हों, क्योंकि मैं संगठनके वढानेवाले अर्पण से ही यह संगठन का महा यज्ञ कर रहा हूं ॥ १ ॥ सीधे मेरे इस संगठनके महायज्ञमें आ-जाओ और हे संगठनके साधक वक्ता लोगो ! तुम अपने उत्तम संगठन वढानेवाले वक्तृत्वोंसे इस संगठन महा यज्ञको फैला दो। जो हम सबमें पशुभाव हो, वह यहां इस यज्ञ में आवे और हम सबमें धन्यनाका भाव चिरकालतक निवास करे ॥ २ ॥ जो नदियोंके अक्षय स्रोत इस संगठन महायज्ञमें वह रहे हैं उन सब स्रोतोंसे हम अपना धन संगठन द्वारा वढाते हैं ॥ ३ ॥ क्या घी, क्या दूध और क्या जलकी धाराएं हमारे पास वह रहीं हैं, उन सब धाराओंसे हम अपना धन इस संगठन द्वारा वढाते हैं ॥ ४ ॥

संगठनसे शक्तिकी वृद्धि।

यह संगठन महायज्ञका सूक्त है। इसके प्रथम मंत्रमें संगठन से शक्ति बढनेका वर्णन है, वह संगठन करनेवालोंको देखना और उसपर खूब विचार करना चाहिये। देखिये—

१ सिंधवः— नदियां। जो जल वहता है उसको स्रोत कहते हैं। इस प्रकारके सैंकडों और हजारों स्रोत जब इकट्टे होते हैं और अपना भेदभाव छोडकर एकरूप हो-

कर बहते हैं, तब उसका नाम "नदी" होता है। नदी भी जिस समय महापूरसे बहती है, उस समय विविध छोटे स्रोतोंके एक रूप होकर बहनेके कारण जो महाशक्ति प्रकट होती है, वह अपूर्व ही शक्ति है। यह नदी इस समय बडे बडे वृक्षोंको उखाड देती है; जो उसके सामने आजाते हैं उनको भी अपने साथ बहा देती है। बडे वृक्ष, बडे मकान, बडे पहाड भी महानदीके वेगके सामने तुच्छ हो जाते हैं। यह वेग कहांसे आता है?

पाठक विचार करेंगे तो पता लग जायगा कि यह वेग छोटे स्रोतमें नहीं होता, परंतु जब अनंत छोटे स्रोत एक रूप होकर और अपना भेद भाव नष्ट कर एकरूपसे बहने लगते हैं; अर्थात अनंत छोटे स्रोत अपना संगठन करते हैं, तभी उनमें यह अश्रुत-पूर्व शक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार नदियां मनुष्यको " संगठन द्वारा अपनी शक्ति बढानेका उपदेश " दे रहीं हैं।

२ वातः—वायु भी इसी प्रकार मनुष्यों को संगठन का उपदेश दे रहे हैं। छोटे छोटे वायु जिस समय बहते हैं उस समय वृक्षके पत्ते भी नहीं हिलते, परंतु वेही सब एक होकर प्रचंड वेगसे जब बहने लगते हैं तब महावृक्ष टूट जाते हैं और मनुष्य भी डर जाते हैं। पाठक इन झंझा वातोंसे भी संगठन के बलका उपदेश ले सकते हैं। इस प्रकार वायु भी संगठन का उपदेश मनुष्यों को दे रहा है।

३ पक्षी—- पक्षी भी संगठन करते हैं। जब एकएक पक्षी होता है तो उसको दूसरा कोई भी मार सकता है, परंतु जब सैंकडों और हजारों चिडियां एक कलापमें रहकर अपना संगठन करती हैं, तब उनकी शक्ति बडी भारी होती है। इस प्रकारके पक्षियों के कलाप बडे बडे खेतोंका धान अल्प समयमें प्राप्त करके खा जाते हैं। यह संगठन का सामर्थ्य पाठक देखें और अपना संघ बना कर अपना ऐश्वर्य बढावें। पक्षी यह उपदेश मनुष्योंको अपने आचरण से दे रहे हैं।

इस प्रकार पहिले मंत्रमें ये तीन उदाहरण मनुष्योंको संमुख रखकर संगठन का महत्त्व बताया है। यदि पाठक इन उदाहरणोंका उत्तम मनन करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि अपना संगठन किस प्रकार किया जाय।

यज्ञमें संगतिकरण।

यज्ञ में संगठन होता ही है। कोई यज्ञ ऐसा नहीं है कि जिसमें संगतिकरण न हो। यज्ञका मुख्य अर्थ संगठन ही है। प्रथम मंत्रके द्वितीयार्ध में इसलिये कहा है, कि नदियोंमें, वायुओंमें और पक्षियोंमें संगठण की शक्ति अनुभव करके उसप्रकार अपने संगठन बनानेके उद्देश्यसे हमारे समाज के अथवा हमारे देश, जाती या राष्ट्रके लोग, इस संगठन महायज्ञमें संमिलित हों। एक स्थानपर जमा होना पहिली सीढी है। इसके पश्चात् परस्पर समर्पण करने से संगठनकी शक्ति बढने लगती है। हवनमें सात प्रकारकी समिधाएं एकत्रित होती हैं और अग्नि द्वारा प्रकाश करती हैं। यदि एक एक समिधा अलग होगी तो अग्नि बुझ जायगा। इसीप्रकार जातिके सब लोग संगठित होनेसे उस जातीका यश चारों दिशाओंमें फैलता है, परंतु जिस जातीमें एकता नहीं होती, उसकी दिन प्रति दिन गिरावट होती जाती है। इससे यहां स्पष्ट हुआ कि संगठन करनेवाले लोगोंमें परस्पर के लिये आत्मसमर्पण का भाव अवश्य चाहिये।

इस प्रकार प्रथम मंत्रने संगठन करनेके मूल सिद्धान्तोंका उत्तम उपदेश दिया है।

संगठन का प्रचार।

" सब लोग यहां आजांय, उनकी एक परिषद् बने और संगठन बढानेवाले उत्तम वक्ता अपने ऐक्यभाव बढानेवाले वक्तृत्व से इस संगठन महायज्ञ का फैलाव करें। " यह द्वितीय मंत्रके पूर्वार्धका भाव है।

सभा, परिषद्, महासभा आदि द्वारा जातियोंका संगठन करनेकी रीति इस मंत्रार्धमें कही है। सब लोग इसका महत्त्व जानते ही हैं। आगे जाकर इसी द्वितीय मंत्रमें एक महत्व पूर्ण बात कही है वह अवश्य ध्यानसे देखने योग्य है—

पशुभाव का यज्ञ।

"जो सब पशुभाव हम सबमें हों वह इस यज्ञमें आजावे, और वहां ही रहे अर्थात् फिर हमारे साथ वह पशुभाव न रहे।" पशुभाव की प्रधानता जिन मनुष्योंमें होती है, उनमें ही आपसके झगडे होते हैं। यदि पशुभाव संगठन के लिये दूर किया जाय और मनुष्यत्व का भाव बढाया जाय, तो आपस के झगडे नहीं होंगे। इस लिये पशुभाव

की यज्ञमें समाप्ति करनेकी सूचना इस द्वितीय मंत्रके तृतीय चरणमें दी है और संगठन के लिये वह अत्यंत आवश्यक है। इसके विना कोई संगठन हो ही नहीं सकता।

पशुभाव छोडनेका फल।

पशुभाव छोडने और मनुष्यत्वका विकास करनेसे तथा संगठनसे अपनी शक्ति बढानेसे जो फल होता है उसका वर्णन द्वितीय मंत्रके चतुर्थ चरणमें किया है—

"जो धन है वह इस हमारे समाजमें स्थिर रहे।" संगठन का यही परिणाम होना है। जिससे मनुष्य धन्य होता है उसका नाम धन है। मनुष्यको धन्य बनानेवाले सब धन मनुष्यको अपने संगठन करनेके पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं। इस द्वितीय मंत्रमें संगठनके नियम बताये हैं, वे ये हैं—

१ एक स्थानपर संमिलित होना, सभा करना,

२ उत्तम वक्ता जनताको संगठन का महत्त्व समझा देवे;

३ अपने अंदरका पशुभाव छोड कर, पशुभावसे मुक्त होकर, लोग वापस जांय, सब लोग मनुष्य बन कर परस्पर वर्ताव करें।

इन बातोंके करनेसे संगठन होना संभवनीय है। इस प्रकार जो लोग संगठन करेंगे, वे जगत् में धन्य हो जांयगे।

तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें फिर नदीयोंके और जलोंके स्रोतों का वर्णन आया है, जो पूर्वोक्त रीतिसे एकताका उपदेश पुनः पुनः कर रहा है। संगठन करनेवालोंको घी, दूध, दही आदि पदार्थ भरपूर मिल सकते हैं, मानों उनमें इन पदार्थोंकी नदियांही बहेंगी। इस लिये संगठन करना मनुष्योंकी उन्नतिका एक मात्र प्रधान साधन है।

इस कारण तृतीय और चतुर्थ मंत्रोंके उत्तरार्धमें कहा है, कि "इन संघटित प्रयत्नोंसे हम अपना धन बढाते हैं।" संघटित प्रयत्नोंसे ही यश धन और नाम बढता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे और संगठन द्वारा अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढाकर अपना यश चारों दिशाओंमें फैलायेंगे।

चोर-नाशन-सूक्त ।

[ऋषिः- चातनः । देवताः — अग्निः, इंद्रः, वरुणः]

(१६)

येंऽमावास्यांं रात्रिमुदस्थुंर्व्राजमत्त्रिणंः ।
अग्निस्तुरीयों यातुहा सो अस्मभ्यमधिं ब्रवत् ॥ १ ॥
सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपांवति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायंच्छत्तदङ्ग यांतुचातंनम् ॥ २ ॥
इदं विष्कंन्धं सहत इदं बांधते अत्त्रिणंः ।
अनेन विश्वां ससहे या जातानिं पिशाच्याः ॥ ३ ॥
यदिं नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेंन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ ४ ॥

अर्थ-(ये आत्रिणः) जो डाकू चोर (अमावास्यां रात्रीं) अमावसीकी रात्रीके समय हमारे(व्राजं)समूहपर(उदस्थुः) हमला करते हैं,उस विषयमें (यातुहा सः तुरीयः अग्निः) चोरों का नाशक वह चतुर्थ अग्नि (अस्मभ्यं) हमें (अधि ब्रवत्) सूचना दें ॥ १ ॥ वरुण ने सीसेके विषयमें (अध्याह) कहा है। अग्नि सीसेको (उपावति) रक्षक कहता है। इन्द्रने तो (मे) मुझे सीसा (प्रायच्छत) दिया है। हे (अंग) प्रिय ! (तत् यातुचातनम्) वह डाकू हटानेवाला है ॥ २ ॥ (इदं) यह सीसा (विष्कंध) रुकावट करने वालोंको (सहते) हटाता है। यह सीसा (अत्रिणः) डाकुओंको (बाधते) पीडा देता है। (अनेन) इससे (पिशाच्या या विश्वा जातानि) पिशाचों की जो सब जातियां हैं, उनको (ससहे) मैं हटाता हूं ॥ ३ ॥ (यदि नः गां हंसि) यदि हमारी गायको तू मारता है, (यदि अश्वं) यदि घोडेको और (यदि पुरुषं) यदि मनुष्यको मारता है (तं त्वा) तो उस तुझको (सीसेन विध्यामः) सीसेसे हम वेधते हैं, (यथा) जिससे तू (नः अ-वीर-हा असः) हमारे वीरोंका नाश करनेवाला न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-- अमावास्या की अंधेरी रात्रीके समय जो डाकू हमारे संघ-पर हमला चढाते हैं, उस विषयमें हमें ज्ञानीसे उपदेश मिला है ॥१॥ जलका रक्षक तथा उपदेशक सीसेकी गोली का प्रयोग करनेको प्रेरणा देते हैं। शूर वीरने तो सीसेकी गोली हमें दे रखी है। हे बंधुओ! यह डाकुओं को हटानेवाली है ॥ २ ॥ यह सीसेकी गोली डाकुओंको हटाती है और प्रतिबंध करनेवालोंको दूर करती है। इससे खून पीने वाली सब जाति-योंको दूर भगाया जाता है ॥ ३ ॥ हे चोर! यदि तू हमारी गाय, हमारा घोडा अथवा मनुष्यका वध करेगा, तो तुझपर हम गोली चलावेंगे, जिससे तू हमारा नाश करने के लिये फिर जीवित न रह सकेगा ॥ ४ ॥

सीसेकी गोली ।

इस सूक्तमें सीसेकी गोलीका प्रयोग डाकुओंपर करनेको कहा है। सूक्तमें केवल "सीस" शब्द है, गोली का वाचक शब्द नहीं है। तथापि "सीसेन विध्यामः" (सीसे के द्वारा वेध करेंगे) इस प्रयोगसे सीस शब्दसे सीसेकी गोली का भाव समझना उचित है। केवल सिसेका उपयोग डाकुओंके नाशमें किसी अन्य प्रकार संभवनीय नहीं दीखता है। (विध्यामः) वेध करनेका भाव दूरसे चांदमारीके समान निशाना मारना है। आजकल सीसेकी गोली बंदूककी नलीमें रखकर दूरसे शत्रुको वेधते हैं। बाणभी धनुष्यपरसे दूरसेही निशाने पर फेंका जाता है। तात्पर्य इन मंत्रोंके शब्द बता रहे हैं कि सीसेकी गोलीसे दूरसेही डाकुओंका वेध करना चाहिये। लाठी सोटीके समान यह पाससे नहीं प्रयोग होता है इतना ही यहां बताना है।

शत्रु ।

"अत्रिन्, यातु" आदि शब्दोंके अर्थ सप्तम सूक्तके विवरणमें किये हैं, पाठक वहां ही देखें। ये सब शब्द डाकु चोर लुटेरे अर्थात् समाजके शत्रुओंके वाचक हैं। इनसे भिन्न जिन शब्दोंका इससे पूर्व विचार नहीं हुआ उनका विचार यहां करते हैं —

१ विष्कम्भ- प्रतिबंध करनेवाला, रुकावटें उत्पन्न करनेवाला, हरएक बातमें विघ्न डालने वाला।

२ पिशाच, पिशाची-रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर लोग, जो मनुष्यका मांस भी खाते हैं।

ये सब तथा (अत्रिन्) भूके डाकू, (यातुः) चोर ये सब समाज के शत्रु हैं। इनको उपदेशद्वारा सुधारनेका विषय पूर्व आये हुए (कां० १ सू० ७, ८) धर्मप्रचारके सूक्तोंमें आचुका है। जो नहीं सुधरते उनको दंडके लिये क्षत्रियोंके आधीन करनेकी आज्ञा भी सप्तम सूक्तके अंतमें दी है। उपदेश और दण्ड इन दो उपायोंसे जो नहीं सुधरते उनपर सीसेकी गोलीका प्रयोग करनेका विधान इस सूक्तमें आया है। अपने संगठन करनेका उपदेश पूर्व सूक्तमें करनेके पश्चात् इस सूक्तमें शत्रुपर गोली चलानेकी आज्ञा है यह विशेष ध्यानसे देखना चाहिये। जिनका आपसमें उत्तम संगठन नहीं है यदि ऐसे लोग शत्रुपर हमला करेंगे, तो संभव है कि वे स्वयं ही नष्टभ्रष्ट हो जांयगे। इसलिये " प्रथम अपना संगठन और पश्चात् शत्रुपर चढाई " यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये।

आर्य वीर।

अग्नि, इन्द्र आदिके विषयमें सूक्त सात के प्रसंगमें वर्णन आया ही है। (अग्निः) ज्ञानी उपदेशक, (इन्द्रः) शूरवीर ये आर्यवीर हैं यह पहिले बताया है। इन दो शब्दोंसे ब्राह्मण और क्षत्रियोंका बोध होता है यह बात पहिले बतायी जाचुकी है।

इस सूक्तमें " वरुण " शब्द आया है। वरुण समुद्र अथवा जलका अधिपति वेदमें तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। जलस्थान, नदी आदि, तथा समुद्र परसे जो शत्रुओंके हमले होते हैं उनसे रक्षा करनेका यह ओहदेदार है। जिस प्रकार " अग्नि " शब्द ब्राह्मणत्ववाचक, " इन्द्र " शब्द क्षात्रधर्मका बोधक है उसी प्रकार " वरुण " शब्द जलमार्गसे आने जानेवाले और देशांतरोंमें व्यापार करनेवाले वैश्योंका अथवा वैश्यत्वका सूचक यहां प्रतीत होता है। इस लिये गोली चलाने के विषयमें (अग्नि) ब्राह्मण, (इन्द्र) क्षत्रिय और (वरुण) वैश्यने भी संमति दी है और (इन्द्र) क्षत्रिय ने तो सीसेकी गोलियां हमारेपास दे रखी हैं, इत्यादि द्वितीय मंत्रका भाव इस प्रकार स्पष्ट होजाता है। सप्तम सूक्त में दिये उपदेशानुसार ब्राह्मण प्रचारकोंने प्रयत्न किया और उन्होंने कहा कि ये डाकू सुधरते नहीं हैं, क्षत्रियोंने भी कहा कि अनेक वार देह-दंड देने पर भी इन दुष्टोंका सुधार नहीं हुआ, वैश्यतो लूटे जानेके कारण कहते ही रहे. इस प्रकार तीनों वर्णोंकी परिषद्ने जब गोली चलानेकी आज्ञा दी, तब इन सूक्तके आधारपर गोली चलायी जा सकती है। पाठक यह पूर्वापर संबंध अवश्य ध्यानमें रखें।

सूक्तकी शेष बातें स्पष्ट हैं। इस लिये अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है।

(यहां तृतीय अनुवाक और पहिला प्रपाठक भी समाप्त हुआ।)

रक्त स्राव बंद करना।

[ऋषिः - ब्रह्मा । देवता - योषित्]

(१७)

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥
तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही ॥ २ ॥
शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥
परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत् ।
तिष्ठतेलयता सु कम् ॥ ४ ॥

अर्थ - (अमूः याः) यह जो (लोहित - वाससः) रक्त लाल कपडे पहनी हुई (योषितः) स्त्रियें हैं अर्थात् लाल रंगका खून लेजानेवाली (हिराः) धमनियें शरीरमें हैं वह (तिष्ठन्तु) ठहर जांय अर्थात् अपना चलना बंद करें,(इव) जिस प्रकार (अ - भ्रातरः) विना भाईके (हत-वर्चसः) निस्तेज वनी (जामयः) बहिनें ठहर जाती हैं ॥ १ ॥ (अवरे तिष्ठ) हे नीचेकी नाडी ! तू ठहर । (परे तिष्ठ) हे ऊपरवाली नाडी ! तू ठहर । (उत मध्यमे) और बीचवाली (त्वं तिष्ठ) तू भी ठहर । (कनिष्ठिका च तिष्ठति) छोटी नाडी भी ठहरती है तथा (धमनिः इत् तिष्ठात्) बडी नाडी भी ठहर जावे॥२॥ (धमनीनां शतस्य) सैंकडों धमनियोंके और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों नाडियों के बीचमें (इमाः मध्यमाः अस्थुः) यह मध्यम नाडियां ठहर गई हैं । (साकं) साथ साथ (अंताः) अंत भाग भी (अरंसत) ठीक हुए हैं॥३॥ (बृहती धनूः) बडे धनुष्धने (वः परि अक्रमीत्) तुम पर हमला किया,

है, अतः (सिकतावतीः तिष्ठत) रेतवाली अथवा शर्करा वाली बनकर ठहर जाओ, जिससे (कं) सुख (सु इलयत) प्राप्त करोगे ॥ ४ ॥

भावार्थ–शरीरमें लाल रंग का रक्त शरीरभर पहुंचानेवाली धमनियां हैं। जब घाव लग जावे तब उनकी गति रोकनी चाहिये, जिस प्रकार दुर्भाग्य को प्राप्त हुई भाई रहित बहिनोंकी गति रुक जाती है ॥ १ ॥ नीचेवाली, ऊपरवाली, तथा बीचवाली छोटी और बडी सब नाडियोंको बंद करना चाहिये ॥२॥ सैकडों और हजारों नाडियोंमें से आवश्यक नाडियांही बंद की जावें अर्थात् उनके फटे हुए अंतिम भाग ठीक किये जावें ॥ ३ ॥ बडे मनुष्यके बडे बाणोंसे धमनियोंपर हमला होकर नाडियां फट गई हैं, उन का शर्कराके साथ संबंध करनेसे शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

घाव और रक्तस्राव ।

शरीरमें शस्त्रादिसे घाव होनेपर घावके ऊपरली और नीचेकी नाडियोंको बंधसे बांधनेसे रक्तका स्राव बंद होजाता है। घाव देख कर ही निश्चय करना चाहिये, कि कौन से भागपर बंध लगाना चाहिये । यदि रक्त स्राव इस प्रकार बंद किया जाय तो ही रोगीको शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है, अन्यथा रक्तके बहुत स्राव होनेके कारण ही मनुष्य मर सकता है । इस लिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिये ।

इससे पूर्व सूक्तमें शत्रुको गोलीसे मारनेकी सूचना दी है। इस लडाईमें शरीरपर घाव होना संभव है, इस लिये इस रक्तस्राव बंद करनेके विषयमें इस सूक्तमें उपदेश दिया है। " सिकतावती " अर्थात् रेतवाली अथवा शर्करावाली धमनी करनेसे रक्तस्राव बंद होता है ; बारीक मिश्रीका बारीक चूर्ण लगानेसे स्राव बंद होता है, यह कथन विचार करने योग्य है ।

दुर्भाग्यकी स्त्री ।

(हत-वर्चसः जामयः) जिनका तेज नष्ट हुआ है ऐसी स्त्रियें, दुर्भाग्य को प्राप्त हुई स्त्रियें अर्थात् पति मरनेके कारण जिनकी भाग्यहीन अवस्था हुई है ऐसी स्त्रियें जिस,

माता अथवा भाईके घर जाकर रहें, किसी अन्य स्थानपर न जावें यह उपदेश पूर्व आगे चतुर्दश सूक्त (कां. १ सू. १४) में कहा है। परंतु यदि वही स्त्रियें (अ-भ्रातरः)भ्रातासे हीन हों अर्थात् उनको भाई न हो तो उनकी गति रुक जाती है, अर्थात ऐसी स्त्रियें कहीं भी जा नहीं सकतीं। जिस प्रकार पति जीवित रहने पर स्त्रियें बडे बडे समारंभोंमें और उत्सवों में जा सकती हैं, उस प्रकार पति मर जानेके पश्चात् वे जा नहीं सकती अर्थात् उनकी गति रुक जाती है। पहले उनकी गति सर्वत्र होती थी, परंतु दुर्भाग्य वश होनेके पश्चात् उनका भ्रमण नहीं हो सकता।

यहां स्त्री विषयक एक वैदिक मर्यादा का पता लगता है, कि पति मरने के पश्चात् स्त्री उस प्रकार नहीं घूम सकती कि जैसी पतिके होनेके समय घूम सकती है। घरमें रहना, उत्सवोंके आनंद प्रसंगोंमें न जाना, मंगलोत्सवोंमें भाग न लेना इत्यादि मृतपति स्त्रीके व्यवहार की रीति यहां प्रतीत होती है।

मृतपतिक स्त्री भाई होनेपर भाईके घर जा सकती है, भाई न रहनेपर किंवा पिता माता न रहने पर उनको दुःखमें ही रहना होता है। इस समय वह दुर्भाग्यवती स्त्री परमेश्वर भक्तिसे अपना समय गुजारे और परोपकार का कार्य करे॥

विधवाके वस्त्र।

" हतवर्चसः जामयः लोहितवाससः योषितः। " ये शब्द विधवा स्त्रीके कपडोंका लाल रंग होना बता रहे हैं। "निस्तेज दुर्भाग्यमय बहिनें लालवस्त्र पहनेवाली स्त्रियें " ये शब्द दुर्भाग्य मय स्त्रियोंके लाल रंगके कपडे होनेकी सूचना दे रहे हैं। दक्षिण भारतमें इस समय भी यह वैदिक प्रथा जारी है, इस लिये विधवा स्त्रियें यहां केवल लाल रंगके कपडे पहनती हैं। पतियुक्त स्त्रियें केवल लाल रंग का कपडा नहीं पहनतीं, परंतु अन्य रंगोंकी लकीरोंसे युक्त कपडे अर्थात् लालके साथ अन्यान्य रंग मिले जुले हों तो वैसे सब रंगके कपडे पहनती हैं। केवल श्वेत वस्त्र भी विधवा स्त्रियां पहनती हैं, यह श्वेत वस्त्रका रिवाज संपूर्ण भारत वर्षमें एक जैसाही है।

पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें, क्योंकि इस विषयका निश्चय होनेके लिये कई अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

(१८)

(ऋषिः— द्रविणोदाः । देवता — वैनायकं सौभगम्)

निर्लक्ष्म्यं॑ ललाम्यं॑ १ निरराति॑ सुवामसि ।
अथ॒ या भ॒द्रा तानि॑ नः प्र॒जाया॒ अराति॑ नयामसि ॥ १ ॥
निररणिं सवि॒ता सा॑विषत्प॒दोर्निर्हस्त॑योर्वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा ।
निर॒स्मभ्य॒मनु॑मती ररा॑णा प्रेमां दे॒वा अ॑साविषुः सौभ॑गाय ॥ २ ॥
यत्त॑ आ॒त्मनि॑ त॒न्वां॑ घोरमस्ति॒ यद्वा॒ केशे॑षु प्रति॒चक्ष॑णे वा ।
सर्वं॒ तद्वाचाप॑ हन्मो व॒यं दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता सू॑दयतु ॥ ३ ॥
रिश्य॑पदीं॒ वृष॑दतीं गोषे॒धां वि॑ध॒मामु॒त ।
वि॒लीढ्यं॑ ल॒लाम्यं॑ १ ता अ॒स्मन्ना॑शयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ-(ललाम्यं) सिरपर होनेवाले (लक्ष्म्यं) बुरे चिन्हको (निः) निःशेषतासे दूर करते हैं, तथा (अ-रातिं) कंजूसी आदि (निः सुवामसि) निःशेष दूर करते हैं। (अथ या भद्रा) और जो कल्याण कारक चिन्ह हैं (तानि नः प्रजायै) ये सब हमारी संतान के लिये हम प्राप्त करते हैं और (अरातिं) कंजूसी आदिको (नयामसि) दूर भगाते हैं ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र और अर्यमा (पदोः हस्तयोः) पावों और हाथोंकी। (अरणिं) पीडाको (निः निः साविषत्) दूर करें। (रराणा अनुमतिः) दानशील अनुमति (अस्मभ्यं निः) हमारे लिये निःशेष प्रेरणा की है। तथा ([illegible]) [illegible] (इमां) इस स्त्रीको (सौभगाय) सौभाग्य के लिये (प्र [illegible]

किया है ॥ २ ॥ (यत् ते आत्मनि) जो तेरी आत्मामें तथा (तन्वां) शरीरमें (वा यत् केशेषु) अथवा जो केशोंमें (वा प्रति चक्षणे) अथवा जो दृष्टिमें (घोरं अस्ति) भयानक चिन्ह है (तत् सर्वं) वह सब (वयं वाचा हन्मः) हम वाणीसे हटा देते हैं। (सविता देवः) सविता देव (त्वा सूदयतु) तुझे सिद्ध करे अर्थात् परिपक्व बनावे ॥ ३ ॥ (रिश्यपदीं) हरण के समान पांव वाली, (वृषदतीं) बैलके समान दांतवाली, (गोषेधां) गायके समान चलनेवाली, (विधमां) विरुद्ध शब्द बोलनेवाली, जिसका शब्द कठोर है ऐसी स्त्री (उत ललाम्यं विलीढ्यं) और सिरपरका कुलक्षण यह सब हम (अस्मत् नाशयामसि) अपनेसे नाश करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ- सिरपर तथा शरीर पर जो कुलक्षण होंगे उनको दूर करना चाहिये तथा अंतःकरणमें कंजूसी आदि जो दुर्गुण हैं उनको भी दूर करना चाहिये, और जो सुलक्षण हैं उनको अपने तथा अपने संतानोंके पास स्थिर करना अथवा बढाना चाहिये। तथा कंजूसी आदि मनके बुरे भावोंको हटाना चाहिये ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अनुमति आदि सब देव और देवता हाथों और पावों की पीडा को दूर करें, इस विषयमें वे हमें उपदेश दें। क्योंकि देवोंने स्त्री और पुरुषको उत्तम भाग्य के लिये ही बनाया है ॥२॥ तुम्हारे आत्मा अथवा मनमें, शरीरमें, केशोंमें तथा दृष्टिमें जो कुछ कुलक्षण हों, जो कुछभी दुर्गुण हों उनको हम वचनसे हटाते हैं। परमेश्वर तुम्हें उत्तम लक्षणोंसे युक्त बनावें ॥३॥ हरिणके समान पांव, बैलके समान दांत, गायके समान चलनेकी आदत, कठोर बुरा आवाज होना तथा सिरपरका अन्य कुलक्षण यह सब हमसे दूर हो ॥ ४ ॥

कुलक्षण और सुलक्षण।

इस सूक्तमें शरीरके तथा मन बुद्धि आत्मा आदिके भी जो कुलक्षण हों उनको दूर करने तथा अपने आपको पूर्ण सुलक्षण युक्त बनानेका उपदेश किया है। इस सूक्त में वर्णित कुलक्षण ये हैं-

(१) ललाम्यं लक्ष्म्यं- सिरपरका लक्षण, कपाल छोटा होना, भालपर बाल होने, बुद्धिहीन दीखना आदि कुलक्षण। (मंत्र १)

(२) ललाम्यं विलीढ्यं- सिर पर बालोंके गुच्छे रहने और उससे सिरकी

शोभाका विगाड आदि कुलक्षण। (मंत्र ४)

(३) रिश्यपदी —हरिणके समान कृश पांव। (मंत्र ४)

(४) वृषदती- बैलके समान बडे दांत। (मंत्र ४)

(५) गोषेधा — गायके समान चलना। (मंत्र ४)

(६) वि-धमा - कानोंको बुरा लगनेवाला आवाज,जिसका मीठा मंजुल आवाज नहीं। (मंत्र ४)

ये अंतिम (३-६) चार कुलक्षण स्त्रीलिंग निर्देशसे स्त्रियोंके लिये बहुत बुरे हैं अर्थात् स्त्रियोंमें ये न हों। वधू पसंद करनेके समय इन लक्षणोंका विचार करना योग्य है।

(७) केशेषु घोरं — वालोंमें क्रूरता अथवा भयंकरता दिखाई देना अर्थात् वालोंके कारण मुख क्रूरसा दीखना। (मंत्र ३)

(८) प्रतिचक्षणे क्रूरं- नेत्रों में क्रूरता, भयानक नेत्र,भयानक दृष्टि। (मंत्र ३)

(९) तन्वा क्रूरं- शरीरमें भयानकता, अर्थात् शरीरके अवयवके तेढामेढा होनेके कारण भयानक दृश्य। (मं. ३)

(१०) आत्मनि क्रूरं- मन बुद्धि चित्त आत्मामें क्रूरताके भाव होना। (मंत्र ३)

(११) अ-राति— कंजूसी, उदारभाव का अभाव। (मं. १)

(१२) पदोः हस्तयोः अ-रणिः— पांव और हाथों की पीडा अथवा कुछ विकार। (मं. २)

ये बारह कुलक्षण इस सूक्त में कहे हैं। इस सूक्त का विचार करनेके समय इससे पूर्व आया हुआ " कुलवधू सूक्त " (अथर्व. १ । १४) भी देखने योग्य है। अर्थात् इन दोनोंका विचार करनेसे ही वधूवर परीक्षा करनेका ज्ञान हो सकता है । इस लिये पाठक इन दोनों सूक्तोंका साथ साथ विचार करें। इन कुलक्षणों में से कई लक्षण केवल स्त्रियोंमें और कई पुरुषों तथा कई दोनोंमें होंगे। अथवा सब लक्षण न्यूनाधिक भेदसे स्त्रीपुरुषों में दिखाई देना भी संभव है।

ये कुलक्षण दूर करना और इन के विरोधी सुलक्षण अपने में बढाना हरएक का कर्तव्य है। इन कुलक्षणोंका विचार करनेसे सुलक्षणोंका भी ज्ञान हो सकता हैं जिससे शरीर सुडौल दिखाई देता है वे शरीरके सुलक्षण समझने चाहिये। इसी प्रकार इंद्रियों, मन, बुद्धि, वाचा आदिके भी सुलक्षण हैं। इन सबका निश्चित ज्ञान प्राप्त

करके अपनेमें से कुलक्षण दूर करना और सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएक का आवश्यक कर्तव्य है।

वाणीसे कुलक्षणोंको हटाना।

मंत्र ३ में " सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं। " अर्थात् हम ये सब कुलक्षण वाणीसे दूर करते हैं, अथवा वाणीसे इन कुलक्षणोंका नाश करते हैं, कहा है; तथा साथ साथ " देवस्त्वा सविता सूदयतु " अर्थात् सविता देव तुम्हें पूर्ण सुलक्षण युक्त बनावें, कहा है। परमेश्वर कृपासे मनुष्य सुलक्षणोंसे युक्त हो सकता है, इस में किसीको संदेह नहीं हो सकता, परंतु वाणीसे कुलक्षणोंको दूर करने के विषयमें बहुत लोगोंको संदेह होना संभव है, अतः इस विषयमें कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। वेदमें यह विषय कई सूक्तोंमें आगया है इस लिये पाठक इस का खूब विचार करें।

वाणीसे प्रेरणा।

वाणीसे अपने आपको अथवा दूसरे को भी प्रेरणा या सूचना देकर रोग दूर करना, तथा मन आदिके कुलक्षण दूर करना संभवनीय है, यह बात वेदमें अनेक स्थानों में प्रकाशित हुई है। यह सूचना इस प्रकार दी जाती है — " मेरे अंदर ...... यह कुलक्षण हैं, यह केवल थोडी देर रहनेवाला है, यह चिरकाल नहीं रहेगा, यह कम हो रहा है, अतिशीघ्र कम होगा। मेरे अंदर सुलक्षण बढ रहे हैं, मैं सुलक्षणोंसे युक्त होऊंगा। मैं निर्दोष बन रहा हूं। मैं निरोगी रहूंगा। मैं दोषोंको हटाता हूं और अपनेमें गुणोंको विकसित करता हूं।"

इत्यादि रीतिसे अनेक प्रकार की सूचनायें मनको देने और उनका प्रतिबिंब मनके अंदर स्थिर रखनेसे इष्ट सिद्धि होती है। वेदका यह मानस शास्त्रका सिद्धांत हर एक को विचार करने योग्य है। " मैं हीन हूं, दीन हूं " आदि विचार जो लोग आज कल बोलते हैं, ये विचार मनमें प्रतिबिंबित होनेसे मनपर कुसंस्कार होनेके कारण हमारी गिरावट के कारण हो रहे हैं। इसलिये शुद्ध वाणीका उच्चार ही हमेशा करना चाहिये कभीभी अशुद्ध गिरे हुए भावोंसे युक्त शब्दोंका उच्चार नहीं करना चाहिये। वाणीकी शुद्ध प्रेरणा के विषयमें साक्षात् उपदेश देनेवाले कई सूक्त आगे आनेवाले हैं, इसलिये इस विषयमें यहां इतनाही लेख पर्याप्त है। अस्तु इस प्रकार शुद्ध वाणीद्वारा और परमेश्वर भक्तिद्वारा अपने कुलक्षणोंको दूर करना और अपने अंदर सुलक्षणोंको बढाना हरएक मनुष्यको योग्य है।

हाथों और पांवोंका दर्द।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि सविता (सूर्य), वरुण (जल), मित्र (प्राणवायु), अर्यमा (आगका पौधा) ये हाथों और पांवों के दर्द को तथा शरीरके दर्दको दूर करें। सूर्यप्रकाश, समुद्र आदिका जल, शुद्ध वायु, आगके पत्तोंका सेक आदिसे बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं। इस विषय में इससे पूर्व बहुत कुछ कहा गया है और आगे भी यह विषय वारंवार आनेवाला है। आरोग्य तो इन से ही प्राप्त होता है।

सौभाग्य के लिये।

" इमां देवा असाविषुः सौभगाय।" इस को देवोंने सौभाग्य के लिये बनाया है। विशेष करके स्त्रीके उद्देश्यसे यह मंत्रभाग है, परंतु सबके लिये भी यह माना जा सकता है। अर्थात् मनुष्य मात्र स्त्री हो या पुरुष हो वह अपना कल्याण साधन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है और वह यदि परमेश्वर भक्ति करेगा तथा शुद्ध वाणी की सूचनासे अपने मन को प्रभावित करेगा तो अवश्यमेव सौभाग्यका भागी बनेगा। हरएक मनुष्य यह वैदिक धर्मके सिद्धांतको मनमें स्थिर करे। अपनी उन्नतिको सिद्ध करना हरएक के पुरुषार्थपर अवलंबित है। यदि अपनी अवनति हुई है तो निश्चय जानना चाहिये कि पुरुषार्थ में त्रुटी हुई है।

सन्तान का कल्याण

यदि अपने में कुछ कुलक्षण रहे भी, तथापि अपने संतानों में सब सुलक्षण आजांय (या भद्रा तानि नः प्रजायै) यह प्रथम मंत्रका उपदेश हरएक गृहस्थीको ध्यान में धरना चाहिए। अपनी संतान निर्दोष और सुलक्षणोंसे तथा सद्गुणोंसे युक्त बने यह भाव यदि हरएक गृहस्थी में रहेगा, तो प्रति पुश्त में मनुष्यों का सुधार होता जायगा और राष्ट्र प्रतिदिन उन्नतिकी सीढीपर चढेगा। यह उपदेश हरएक प्रकारसे कल्याण करने वाला है इस लिये इसको कोई गृहस्थी न भूले।

इस प्रकार पाठक इस सूक्तका विचार करें और अपने कुलक्षणों को दूर करके अपने अंदर सुलक्षण बढानेका प्रयत्न करें।
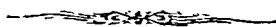
शत्रु-नाशन-सूक्त ।

(१९)

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता- ईश्वरः, ब्रह्म)

मा नों विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥१॥
विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥
यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥
यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ- (वि-व्याधिनः) विशेष वेधनेवाले शत्रु (नः मा विदन्) हम तक न पहुंचें। (अभिव्याधिनः) चारों ओरसे मारने काटनेवाले शत्रु (नः मो विदन्) हम तक कभी न पहुंचें। हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विषूचीः शरव्याः) सब ओर फैलने वाले बाण समूहोंको (अस्मत् आरात् पातय) हमसे दूर गिरा ॥ १ ॥ (ये अस्ताः) जो फेंके हुए और (ये च अस्याः) जो फेंके जांयगे, वे सब (विष्वञ्चः शरवः) चारों ओर फैले हुए बाण आदि शस्त्र (अस्मत पतन्तु) हमसे दूर जाकर गिरें (दैवीः मनुष्येषवः) हे मनुष्यों के दिव्य बाणो! (मम अमित्रान्) मेरे शत्रुओं को (विविध्यत) वेध कर डालो ॥ २ ॥ (यः नः स्वः) जो हमारा अपना अथवा (यः अरणः) जो दूसरा परकीय हो, किंवा जो (स-जातः) समान उच्च जातिका कुलीन (उत) अथवा

जो (निष्ट्यः) भिन्न जातिवाला या संकर जातिका हीन (अस्मान् अभिदास
हमपर चढाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, (एतान् मम अमित्रा
इन मेरे शत्रुओंको (रुद्रः) रुलानेवाला वीर (शरव्यया विविध्यतु) बाण
वेध करे ॥३॥ (यः) जो (सपत्नः) विरोधी और (यः अ-सपत्नः) जो प्र
विरोधी नहीं है (च यः द्विषन्) और जो द्वेष करता हुआ (नःशपाति) हम
शापता है (तं) उसका (सर्वे देवाः) सब देव (धूर्वन्तु) नाश करें। (मम अं
वर्म) मेरा आंतरिक कवच (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ- हमारे वीरोंका शौर्य ऐसा हो कि हमारा नाश करने
इच्छा करने वाले सब शत्रु हमसे सदा दूर रहें और हमतक वे कभी
पहुंच सकें। उनके शस्त्र भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥ सब शस्त्र हमसे
गिरें। और हमारे शत्रुओंपरही सब शस्त्र गिरते रहें ॥ २ ॥ कोई हम
मित्र या शत्रु, हमारी जातीवाला वा परजातीका, कुलीन या हीन,
भी क्यों न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा नाश करने की चे
करता है तो उसका नाश शस्त्रोंसे करना योग्य है॥ ३ ॥ जो प्रकट
छिपाहुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या हमें बुरे शब्द बोल
है सब सज्जन उसको दूर करें। मेरा आंतरिक कवच सत्य ज्ञान ही है ॥

यह " सांग्रामिक गण " का सूक्त है, इस कारण " अपराजित गण " के सू
के साथ भी इसका संबंध है, अतः पाठक इस गणके सूक्तोंके साथ इस का भी वि
करें।

आन्तरिक कवच ।

इस सूक्तमें जो सबसे महत्त्व पूर्ण बात कही है वह आंतरिक कवच की है। दे
कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होने के कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस
सकते। ग्रामके कवच कोट होते हैं इनके कारण शत्रु ग्राममें घुस नहीं सकते। शर
कवच लोहेके अथवा तारके बनाये जाते हैं जिनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीर पर न
नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है। शरीरके अंदर आत्मा और अंतःकरण है. मन
चित्त और अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है. इसकी साथ आत्माके लिये रहता
इस " अन्तःकरण " के लिये " अंतः कवच " अवश्य चाहिये. जो इस प्रकार

होना चाहिये, अपना स्वभाव ही ऐसा बनना चाहिये । इसी भावसे मनुष्यका सबसे अधिक कल्याण है ।

अन्य कवच । क्षात्र कवच ।

शरीरके, नगरोंके तथा देशोंके अन्यान्य कवच उक्त विश्वासके अभावमें आवश्यक ही हैं । स्वसंरक्षण के शस्त्रास्त्र आदि सब इस अवस्थामें ही सहायक हैं । अर्थात् जबतक जनता पूर्वोक्त अधिकारके लिये योग्य नहीं होती, तब तक शूरवीर क्षत्रियगण राष्ट्रका संरक्षण इन शस्त्रास्त्रोंसे करें । यह क्षात्र साधन हैं । ज्ञान कवच से सुरक्षित होना ब्राह्म साधन है और लोहेके कवचों तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुरक्षित होना क्षात्र साधन है । ब्राह्म-साधन स्वीकारने योग्य जनताकी उन्नति धर्म साधनसे करनी चाहिये और जबतक उतनी उन्नति नहीं होती, तबतक क्षात्र साधनसे शत्रुओंका प्रतिकार करना योग्य है । क्षात्रसाधनोंसे युद्धोंके बहुत होनेसे ही मनुष्य इन साधनोंकी क्रूरताका अनुभव करता है और ब्राह्म साधन को स्वीकारने का यत्न करता है ।

इस प्रकार युद्ध भी मनुष्यको ब्राह्मसाधनतक पहुंचाने वाले मार्ग दर्शक बनते हैं ।

दासभाव का नाश ।

तृतीय मंत्र में कहा है कि " जो अपना या पराया हमें दास बनाने की चेष्टा करता है उसका नाश करना चाहिये । " राष्ट्रीय पारतंत्र्य शारीरिक दास भाव का द्योतक है, इस के अतिरिक्त मानसिक, बौद्धिक, तथा वाचिक, पारतंत्र्य भी है और ये सबसे अधिक घातक है । किसी प्रकारका भी पारतंत्र्य जो अपना नाशका कारण हो वह स्वीकारना नहीं चाहिये, परंतु उसके कारणको दूर करना चाहिये । आर्योंको दास कभी नहीं बनना चाहिये ! स्वाधीनता ही मनुष्यका साध्य है । ज्ञान और पुरुषार्थसे स्वाधीनता–बंधनसे मुक्ति—प्राप्त होती है, इसकाभी आशय यही है । मनुष्य के सब दुःख दासत्व के कारण हैं । इस लिये कोई मनुष्य या कोई राष्ट्र दूसरे मनुष्यको या राष्ट्र को दासत्वमें दबाने का यत्न न करे और यदि किसी से ऐसा प्रयत्न हुआ तो सब मनुष्य उसका विरोध करें ।

दासभाव को हटानेका उपदेश पाठक इस सूक्त में विशेष प्रकार से देखें और उस को अपने जीवन में घटावें । पाठक इस सूक्तके इस प्रकार विचार करने से बहुत ही बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

महान् शासक।

(२०)

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — सोमः)

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृजि॒ना द्वेष्या॒ या ॥१॥
यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो॑ऽघायू॒नामु॒दीर॑ते। यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥
इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्व॒धं व॑रुण यावय। वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥
शा॒स इ॒त्था म॒हाँ अ॑स्यमित्रसा॒हो अ॑स्तृ॒तः। न यस्य॑ ह॒न्यते॒ सखा॒ न जी॒यते॑ क॒दा च॒न ॥४॥

अर्थ— हे (देव सोम) सोम देव ! (अ-दार-सृत् भवतु) आपसकी फूट उत्पन्न करनेका कार्य न हो। हे मरुतः) मरुतो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (नः मृडत) हमें सुखी करो। (अभि-भाः नः मा विदद्) पराभव हमारे पास न आवे, (अशस्तिः मो) अकीर्ति हमें प्राप्त न हो, (या द्वेष्या वृजिना) जो द्वेष बढाने वाले कुटिल कृत्य हैं वेभी (नः मा विदद्) हमारे पास न हों ॥ १ ॥ (अघायूनां) पाप मय जीवन वालोंका (यः सेन्यः वधः) जो सेनाके शूर वीरोंसे वध (अद्य उदीरते) आज हो रहा है। हे मित्र और वरुणो ! (युवं) तुम (तं अस्मत् परि यावयतं) उसको हमसे सर्वथा हटा दो ॥ २ ॥ हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! (यत् इतः च यत् अमुतः) जो यहांसे और जो वहांसे वध होगा उस (वधं यावय) उसको भी दूर कर दे। (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख अथवा आश्रय हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वधको अतिदूर कर दे ॥ ३ ॥ (इत्था महान् शासः) इस प्रकार सत्य और महान् शासक ईश्वर (अ-मित्र-साहः अ-स्तृतः) शत्रुका पराजय करने वाला और कभी न हरनेवाला (असि) तू है। (यस्य सखा) जिसका मित्र (कदाचन न हन्यते) कभीभी नहीं मारा जाता और (न जीयते) न पराजित होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! आपसकी फूट बढानेवाला कोई कार्य हमसे न हो। इस सत्कर्मसे हमें सुख प्राप्त हो ! पराजय, अपकीर्ति, अयश, द्वेष

और कुटिलता हमारे पास न आवें ॥ १ ॥ हे देव ! शूरवीरोंके द्वारा जो पापियोंके वध हो रहे हैं, वैसे वधोंके प्रसंग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हों ॥ २ ॥ हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वध करनेका भाव न रहे । वधका भावही हम सबसे दूर कर और तेरा बडा आश्रय—सुखपूर्ण आश्रय– हमें दो ॥ ३ ॥ इस रीतिसे तेराही महान् सत्य शासन सब के ऊपर है, तूही सच्चा शत्रुओंका दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर जो रहता है न उसका वध कभी होगा और नाही उसका कभी पराजय होगा ॥ ४ ॥

पूर्व सूक्तसे संबंध ।

पूर्व सूक्तके अंतमें "ईश्वर भक्ति युक्त सत्यज्ञान ही मेरा सच्चा कवच है" यह विशेष बात कही है,उसीका विशेष वर्णन इस सूक्तमें हो रहा है । सबसे पहिले आपसकी फूट को दूर करनेकी सूचना दी है ।

आपसकी फूट हटादो ।

"अ-दार-सृत् भवतु" हमारा आचरण फूट हटाने वाला हो, यह इस उपदेश का तात्पर्य है । देखिये—

दार = फूट (दॄ = फटना धातु)
दार + सृत = फूटका प्रयत्न, फूटका कार्य ।
अ + दार + सृत् = फूट हटानेवाला कार्य ।

"अ+दार+सृत् भवतु" अर्थात् "आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबमें होता रहे ।" आपस की फूटके कारण शत्रु हमला करते हैं और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंको भगानेका यत्न करना पडता है । इस लिये युद्धका कारण आपस की फूट है । यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोक एक मनमें रहेंगे तो दूसरे लोग हमला करनेके लिये भी डरेंगे । जहां आपसमें फूट होती है वहीं शत्रुओंका हमला होता है । इस लिये युद्धोंका कारण आपसकी फूटमें देखना और आपस की फूटको दूर करना चाहिये । राष्ट्रीय सुखकी यही बुनियाद है ।

आपसकी फूट हटजाने के पश्चात् ही (सृडन) सुख होनेकी संभावना है । अन्यथा सुखकी आशा नहीं है । आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होता निम्न लिखित प्रकार प्रथम मंत्रके उत्तरार्ध में वर्णन किया है ।

महान् शासक।

(२०)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता — सोमः)

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमास्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः ।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृजि॒ना द्वेष्या॒ या ॥१॥
यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धोऽघायू॒नामु॒दीर॑ते । यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥
इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्व॒धं व॑रुण यावय । वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥
शा॒स इ॒त्था म॒हाँ अ॑स्यमित्रसा॒हो अ॑स्तृ॒तः । न यस्य॑ ह॒न्यते॒ सखा॒ न जी॒यते॑ क॒दा च॒न ॥४॥

अर्थ— हे (देव सोम) सोम देव ! (अ-दार-सृत् भवतु) आपसकी फूट उत्पन्न करनेका कार्य न हो। हे मरुतः) मरुतो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (नः मृडत) हमें सुखी करो। (अभि-भाः नः मा विदद्) पराभव हमारे पास न आवे, (अशस्तिः मो) अकीर्ति हमें प्राप्त न हो, (या द्वेष्या वृजिना) जो द्वेष बढाने वाले कुटिल कृत्य हैं वेभी (नः मा विदद्) हमारे पास न हों ॥ १ ॥ (अघायूनां) पाप मय जीवन वालोंका (यः सेन्यः वधः) जो सेनाके शूर वीरोंसे वध (अद्य उदीरते) आज हो रहा है। हे मित्र और वरुणो ! (युवं) तुम (तं अस्मत् परि यावयतं) उसको हमसे सर्वथा हटा दो ॥ २ ॥ हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! (यत् इतः च यत् अमुतः) जो यहांसे और जो वहांसे वध होगा उस (वधं यावय) उसको भी दूर कर दे। (महत् शर्म वियच्छ) वडा सुख अथवा आश्रय हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वधको अतिदूर कर दे ॥ ३ ॥ (इत्था महान् शासः) इस प्रकार सत्य और महान् शासक ईश्वर (अ-मित्र-साहः अ-स्तृतः) शत्रुका पराजय करने वाला और कभी न हरनेवाला (असि) तू है। (यस्य सखा) जिसका मित्र (कदाचन न हन्यते) कभीभी नहीं मारा जाता और (न जीयते) न पराजित होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! आपसकी फूट वढानेवाला कोई कार्य हमसे न हो। इस सत्कर्मसे हमें सुख प्राप्त हो ! पराजय, अपकीर्ति, अयश, द्वेष

और कुटिलता हमारे पास न आवें ॥ १ ॥ हे देव ! शूरवीरोंके द्वारा जो पापियोंके वध हो रहे हैं, वैसे वधोंके प्रसंग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हों ॥ २ ॥ हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वध करनेका भाव न रहे। वधका भावही हम सबसे दूर कर और तेरा बडा आश्रय—सुखपूर्ण आश्रय– हमें दो ॥ ३ ॥ इस रीतिसे तेराही महान् सत्य शासन सब के ऊपर है, तूही सच्चा शत्रुओंका दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर जो रहता है न उसका वध कभी होगा और नाही उसका कभी पराजय होगा ॥ ४ ॥

पूर्व सूक्तसे संबंध।

पूर्व सूक्तके अंतमें "ईश्वर भक्ति युक्त सत्यज्ञान ही मेरा सच्चा कवच है" यह विशेष बात कही है, उसीका विशेष वर्णन इस सूक्तमें हो रहा है। सबसे पहिले आपसकी फूट को दूर करनेकी सूचना दी है।

आपसकी फूट हटाओ।

"अ-दार-सृत् भवतु" हमारा आचरण फूट हटाने वाला हो, यह इस उपदेश का तात्पर्य है। देखिये—

दार = फूट (दॄ= फटना धातु)

दार + सृत = फूटका प्रयत्न, फूटका कार्य।

अ + दार + सृत् = फूट हटानेवाला कार्य।

"अ+दार+सृत् भवतु" अर्थात् "आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबसे होता रहे।" आपस की फूटके कारण शत्रु हमला करते हैं और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंको भगानेका यत्न करना पडता है। इस लिये युद्धका कारण आपस की फूट है। यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोक एक मतसे रहेंगे तो दूसरे लोग हमला करनेके लिये भी डरेंगे। जहां आपसमें फूट होती है वहीं शत्रुओंका हमला होता है। इस लिये युद्धोंका कारण आपसकी फूटमें देखना और आपस की फूटको दूर करना चाहिये। राष्ट्रीय सुखकी यही बुनियाद है।

आपसकी फूट हटजाने के पश्चात् ही (सृडन) सुख होनेकी संभावना है। अन्यथा सुखकी आशा नहीं है। आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होगा निम्न लिखित प्रकार प्रथम मंत्रके उत्तरार्ध में वर्णन किया है।

१ अभिभा नः मा विदत् = पराजय हमारे पास न आवे,

२ अशस्तिः मो = दुष्कीर्ति हमारे पास न आवे,

३ वृजिना नः मा = कुटिल कृत्य हमसे न हों,

४ द्वेष्या नः मा विदत् = द्वेष भाव हमारे पास न आवें ।

जिस समय हम आपसकी फूट हटायेंगे, उस समय हमें किसी के द्वेष करने का कोई कारण नहीं रहेगा, किसीसे कपट युक्त कुटिल व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी, हमारा कभी पराभव न होगा अथवा हम पर कोई आपत्ति नहीं आवेगी और हमारी अपकीर्त्ति भी नहीं होगी; अर्थात् जब हम आपसकी फूट हटाकर अपनी उत्तम संघटना करेंगे और एकताके बलसे आगे बढेंगे, उस समय सब लोग हमारे मित्र बन कर हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करेंगे, हम भी सबके साथ सरल व्यवहार करते जायगे, एकताके कारण हमारा बल बढेगा और उस हेतुसे कभी पराभव नहीं होगा तथा हमारा यश फैलता जायगा। (मंत्र १)

द्वितीय और तृतीय मंत्रमें जो सैनिक वीरोंसे होने वाले दुष्टोंके संहारका वर्णन है, वह वर्णन भी हमारी आपसकी फूट के कारण ही दुष्ट लोग हमें सताते हैं और उनका वध करनेका प्रयोजन उत्पन्न होता है, अर्थात् यदि हमारा समाज सुसंघटित होगा तो उस वधकी जडही नष्ट होनेसे वह वध भी नहीं होंगे और हमें (महत् शर्म) वडा सुख प्राप्त होगा। "शर्म" शब्दका अर्थ "सुख और आश्रय" है। पूर्वापर संबंधसे यहां परमेश्वरका आश्रय अभीष्ट है। क्यों कि सच्चा सुख भी परमात्माके आश्रयसे ही होता है। (मंत्र. २, ३)

वडा शासक ।

एक ईश्वर ही सबसे बडा शासन कर्ता है, उसके ऊपर किसी अन्यका अधिकार नहीं है, सब उसीके शासनमें कार्य करते हैं, वही सर्वोपरि है। वह शत्रुताका सच्चा नाशक और कभी पराजित न होने वाला है। यदि ऐसे समर्थ प्रभुका मित्र बनकर कोई रहे तो उसका कभी नाश न होगा, और कभी पराजय भी न होगा। अर्थात् प्रभुका मित्र बन कर व्यवहार करने वालेका यश सर्वत्र फैलेगा और उसका ही नाम सर्वत्र होगा। (मंत्र ४)

पूर्व सूक्तमें जिस "ज्ञान-कवच, ब्रह्म-वर्म" का वर्णन किया है वह ब्रह्म-कवच यही है कि "परमेश्वर का शासन सर्वोपरि मानना और उसका सखा बनकर व्यवहार करना।"

आशा है कि पाठक इस प्रकार प्रभुके मित्र बननेका यत्न करेंगे।

प्रजा-पालक-सूक्त ।

(२१)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता- इन्द्रः)

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अर्थ- (स्वस्ति- दा) मंगल देनेवाला, (विशां पतिः) प्रजाओंका पालक, (वृत्र-हा) घेरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि-मृधः वशी) विशेष हिंसकोंको वशमें करनेवाला, (वृषा) बलवान् (सोम-पाः) सोम का पान करने वाला, (अभयं-करः) अभय देनेवाला (इन्द्रः) प्रभु राजा (नः) हमारे (पुरः एतु) आगे चले, हमारा नेता बने ॥१॥ हे इन्द्र ! (नः मृधः) हमारे शत्रुओंको (विजहि) मार डाल । (पृतन्यतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला चढाने वालोंको (नीचा यच्छ) नीचेही प्रतिबंध कर।(यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है, या हमारा घात करना चाहता है, उसको

(अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दे ॥२॥ (रक्षः मृधः वि वि-जहि) राक्षसों और हिंसकोंको मारडाल, (वृत्रस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रु नाशक प्रभो ! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥३॥ हे (इन्द्र) प्रभो! राजन्! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदलदे। (जिज्यासतः वधं अप) हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर। (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वध को दूर कर ॥४॥

भावार्थ—प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेर कर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृत पान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्र-गामी बने ॥१॥ हे राजन्! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेना लेकर हमला करने वाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥ हिंसक क्रूर शत्रुओंको मारडाल, घेर कर सतानेवाले दुष्टों को काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे ॥ ३ ॥ शत्रुओं के मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करने वालोंको दूर करदे, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्म।

यह " अभयगण " का सूक्त है। इस सूक्तमें क्षात्र धर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें। उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं। इस मंत्रकी कसौटीसे राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है। अन्य तीन मंत्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करने का उपदेश है। सब प्रकारके अंतर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। यह सूक्त अतिसरल है इस लिये इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

[चतुर्थ अनुवाक समाप्त]

(अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दें ॥२॥ (रक्षः मृधः वि विजहि) राक्षसों और हिंसकोंको मारडाल, (वृत्रस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रु नाशक प्रभो! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥३॥ हे (इन्द्र) प्रभो! राजन्! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदलदे। (जिज्यासतः वधं अप) हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर। (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वध को दूर कर ॥४॥

भावार्थ—प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेर कर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृत पान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्रगामी बने ॥१॥ हे राजन्! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥ हिंसक क्रूर शत्रुओंको मारडाल, घेर कर सतानेवाले दुष्टोंको काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे॥ ३ ॥ शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करनेवालोंको दूर करदे, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्म।

यह " अभयगण " का सूक्त है। इस सूक्तमें क्षात्र धर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें। उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं। इस मंत्रकी कसौटीसे राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है। अन्य तीन मंत्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करने का उपदेश है। सब प्रकारके अंतर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। यह सूक्त अतिसरल है इस लिये इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

[चतुर्थ अनुवाक समाप्त]

(अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दें ॥२॥ (रक्षः मृधः वि वि जहि) राक्षसों और हिंसकोंको मारडाल, (वृत्रस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रु नाशक प्रभो ! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥३॥ हे (इन्द्र) प्रभो! राजन्! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदलदे। (जिज्यासतः वधं अप) हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर। (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वध को दूर कर ॥४॥

भावार्थ—प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेर कर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृत पान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्रगामी बने ॥१॥ हे राजन्! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो खानपान और नाश करना चाहता है उसको [illegible] ॥ २ ॥ हिंसक क्रूर शत्रुओंको मारडाल, घेर कर सतानेवाले दुष्टोंको [illegible], सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे ॥ ३ ॥ शत्रुओंके [illegible] बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करनेवालोंको दूर करदे, खानपान आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्म।

यह [illegible] का सूक्त है। इस सूक्तमें क्षात्र धर्मका उपदेश और राजाके [illegible] है इसका मनन पाठक करें। उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं। इन [illegible] राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है। [illegible] मंत्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करने का उपदेश है। सब प्रकारके अंतर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। यह सूक्त अतिसरल है इस लिये इसका अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

[[illegible] अनुवाक समाप्त]

हृदयरोग तथा कामिला रोग

की चिकित्सा ।

(२२)

[ऋषिः—ब्रह्मा । देवता — सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः]

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥
परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥
या रोहिणीर्देवत्या ३ गावो या उत रोहिणीः ।
रूपं-रूपं वयो-वयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥
शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ-(ते हृद्-द्योतः च हरिमा) तेरा हृदयका जलन और पीलापन सूर्य (अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चलाजावे । गौके अथवा सूर्यके(रोहितस्य तेन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्ट पुष्ट करते हैं ॥ १॥ (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको(दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये घेरते हैं ।(यथा)जिससे (अयं)यह (अ- रपा असत्)नीरोग हो जाय और(अ-हरितः भुवत्) पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २॥ (याः देवत्या रोहिणीः गावः) जो दिव्य लाल रंग की गौवें हैं (उत या रोहिणीः)और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः)उनसे(रूपं रूपं) सुंदरता और(वयः वयः) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें घेरते हैं ॥ ३॥ (ते हरिमाणं) तेरे पीलक रोगको (शुकेषु रोपणाकासु च)तोते और पौधोंके रंगों में (दध्मसि) धारण करते हैं (अथो) और ते (हरिमाणं) तेरा फीकापन हम (हारिद्रवेषु) हरी वनस्पतियोंमे (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

(अधमं तमः गमय) हीन अंधकारमें पहुंचा दें ॥२॥ (रक्षः मृधः वि जहि) राक्षसों और हिंसकोंको मारडाल, (वृत्रस्य हनू विरुज) घेरकर हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबडोंको तोड दे। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रु नाशक प्रभो! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मन्युं विरुज) उत्साहको तोड दे ॥३॥ हे (इन्द्र) प्रभो! राजन्! (द्विषतः मनः अप) द्वेषीका मन बदलदे। (जिज्यासतः वधं अप) हमारी आयुका नाश करनेवालेको दूर कर। (महत् शर्म वियच्छ) बडा सुख हमें दे और (वधं वरीयः यावय) वध को दूर कर ॥४॥

भावार्थ—प्रजाजनोंका हित और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम पालन करनेवाला, घेर कर नाश करनेवाले शत्रुको दूर करनेवाला, बलिष्ठ, अमृत पान करनेवाला, प्रजाको अभय देनेवाला राजा ही हमारा अग्र-गामी बने ॥१॥ हे राजन्! प्रजाके शत्रुका नाश कर, सेना लेकर हमला करने वाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको भगा दे ॥ २ ॥ हिंसक क्रूर शत्रुओंको मारडाल, घेर कर सतानेवाले दुष्टों को काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे ॥ ३ ॥ शत्रुओं के मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड दें, नाश करने वालोंको दूर करदे, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

क्षात्रधर्म।

यह " अभयगण " का सूक्त है। इस सूक्तमें क्षात्र धर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें। उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं। इस मंत्रकी कसौटीसे राजा उत्तम है या नहीं इसकी परीक्षा हो सकती है। अन्य तीन मंत्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करने का उपदेश है। सब प्रकारके अंतर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिकार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। यह सूक्त अतिसरल है इस लिये इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

[चतुर्थ अनुवाक समाप्त]

हृदयरोग तथा कामिला रोग

की चिकित्सा ।

(२२)

[ऋषिः-ब्रह्मा । देवता — सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः]

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥
परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥
या रोहिणीर्देवत्या ३ गावो या उत रोहिणीः ।
रूपं-रूपं वयो-वयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥
सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ-(ते हृद्-द्योतः च हरिमा) तेरा हृदयका जलन और पीलापन सूर्य (अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चलाजावे । गौके अथवा सूर्यके(रोहितस्य तेन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्ट पुष्ट करते हैं ॥ १॥ (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको(दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये घेरते हैं ।(यथा)जिससे (अयं)यह (अ- रपा असत्)नीरोग हो जाय और(अ-हरितः भुवत्) पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २॥ (याः देवत्या रोहिणीः गावः) जो दिव्य लाल रंग की गौवें हैं (उत या रोहिणीः)और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः)उनसे(रूपं रूपं) सुंदरता और(वयः वयः) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें घेरते हैं ॥ ३॥ (ते हरिमाणं) तेरे पीलक रोगको (सुकेषु रोपणाकासु च)तोते और पौधोंके रंगों में (दध्मसि) धारण करते हैं (अथो) और ते (हरिमाणं) तेरा फीकापन हम (हारिद्रवेषु) हरी वनस्पतियोंमे (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेरा हृदयरोग और पीलक रोग सूर्य किरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा। लाल रंग की गौवें और सूर्यकी लाल किरणें होती हैं, इनके द्वारा नीरोगता हो सकती है॥ १॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, पीलक रोग दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है॥ २॥ लाल रंगकी गौवें और लाल रंगकी सूर्य किरणें दिव्य गुणोंसे युक्त होती हैं। रूप और बलके अनुसार उनके द्वारा रोगी घेरा जावे ॥ ३॥ इस लालरंगकी चिकित्सासे रोगीका पीलापन तथा फीकापन दूर होगा और वह हरे पक्षी और हरी वनस्पतियोंमें जाकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पास फिर नहीं आवेगा॥ ४॥

वर्णचिकित्सा।

यह सूक्त "वर्ण चिकित्सा" के महत्त्वपूर्ण विषयका उपदेश दे रहा है। मनुष्य को हृदयका रोग और कामिला नामक पीला रोग कष्ट देते हैं। अपचन, पेटके विकार, तमाखू, मद्यप्राशन आदि अनेक कारण हैं, जिनके कारण हृदय के दोष उत्पन्न होते हैं। तरुण अवस्थामें वीर्यदोष होनेके कारण भी हृदय के विकार उत्पन्न होते हैं। कामिला रोग पित्त के दूषित होनेके कारण उत्पन्न होता है। इन रोगोंके कारण मनुष्य कृश, निस्तेज, फीका, दुर्बल और दीन होता है। इस लिये इन रोगोंको हटानेका उपाय इस सूक्तमें वेद बता रहा है। सूर्यकिरणों द्वारा चिकित्सा तथा लाल रंगवाली गौओंके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है।

सूर्य किरण चिकित्सा॥

सूर्य किरणोंमें सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली शीशोंकी सहायतासे इष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते हैं। नंगे शरीर पर इन किरणोंको रखनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं। यह रंगीन सूर्य किरणोंका स्नानही है। यह नंगे शरीरसे ही करना चाहिये। छतपर लाल रंगके शीशे रखनेसे कमरे में लालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती हैं, इसमें नंगे शरीरसे रहनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है।

जिस प्रकार उक्त रोगोंके लिये लालरंगकी किरणोंसे चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य वर्णोंके सूर्य किरणोंसे चिकित्सा होना संभवनीय है। इस लिये सुयोग्य वैद्य इस का अधिक विचार करें और सूर्य किरण चिकित्सासे रोगियों के रोग दूर करके जनताके सुखकी वृद्धि करें।

परिधारण विधि।

सूर्य किरण चिकित्सामें "परिधारण विधि" का महत्त्व है इस सूक्तमें "परि दध्मसि" शब्द चार वार, "निदध्मसि" शब्द एक वार और "दध्मसि" शब्द एक वार आया है। "चारों ओरसे धारण करना" यह भाव इन शब्दों से व्यक्त होता है। शरीरके चारों ओरसे संबंध करनेका नाम "परिधारण" है। जिस प्रकार तालावके पानीमें तैरनेसे शरीर के साथ जलका परिधारण होसकता है, उसी प्रकार लाल रंगके सूर्य किरण कमरेमें लेकर उसमें नंगे शरीर रहना और शरीरको उलट पुलट करके सब शरीरके साथ लालरंग के सूर्य किरणोंका संबंध करना परिधारण विधिका तात्पर्य है।

१ रोहितैः वर्णैः परिदध्मसि। (मंत्र २)
२ दीर्घायुत्वाय परिदध्मसि। (")
३ गो रोहितस्य वर्णेन त्वा परिदध्मसि। (मंत्र १)
४ ताभिष्ट्वा परिदध्मसि। (मंत्र. ३)

ये सब मंत्र भाग रक्त वर्ण के सूर्य किरणोंका स्नान अर्थात् "परिधारण" करनेका विधान कर रहे हैं। रोगीको नंगे शरीर पूर्वोक्त रक्त वर्णके शीशेवाले कमरेमें रखने और उसके शरीरका संबंध रक्त वर्णके सूर्य किरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है और इससे नीरोगता, दीर्घ आयुष्य प्राप्ति तथा बल प्राप्ति भी होसकती है। अन्यान्य रोगोंके निवारणके लिये अन्यान्य वर्णोंके किरणोंके स्नानों की योजना करना चतुर वैद्योंकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है।

रूप और बल।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारणविधि अथवा किरण स्नान करना योग्य है यह सूचना तृतीय मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं। रूपका अर्थ शरीरका सौंदर्य, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है। यदि गोरा शरीर हो, यदि सुकुमार नाजुक शरीर हो तो उसके लिये कितना किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिये सवेरका कोमल प्रकाश, या दोपहरका कठोर प्रकाश वर्तना चाहिये, इत्यादिका विचार करना वैद्योंका कार्य है। जो काले शरीर वाले तथा सुदृढ या कठोर शरीरवाले होते हैं उनके लिये किरणस्नानका प्रमाण भी भिन्न होना योग्य है। तथा जो घरमें बैठनेवाले लोग होते हैं और जो धूपमें कार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है। इस विचार का नाम

ही " रूप और बल के अनुसार विचार " करना है। (रूपं रूपं वयो वयः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्र भाग अत्यंत महत्त्वका है । रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरण स्नान की योजना करना चाहिये । नहीं तो कोमल प्रकृति वालेको अधिक स्नान देनेसे आरोग्य के स्थापर अनारोग्य होगा । अथवा कठोर प्रकृतिवाले को अल्प प्रमाणमें देनेसे उसपर कुछ भी परिणाम न होगा । इस दृष्टिसे तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध बहुत मनन करने योग्य है ।

रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा ।

इसी सूक्तसे रंगीन गौके दूधसे रोगी की चिकित्सा करनेकी विधि भी बतादी है। गौवें सफेद, काले, लाल, भुरे, नसवारी, बादामी, तथा विविध रंग के धब्बोंवाली होतीं हैं। सूर्य किरण गौके पीठपर गिरते हैं और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है । श्वेत गौके दूधका गुण धर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्नगुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यान्य रंगवाले गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे । एक बार वर्णचिकित्साका तत्त्व मानने पर यह परिणाम माननाही पडता है। इसी लिये इस सूक्तके मंत्र ३ में "रोहिणीः गावः" अर्थात् लाल गौवों के दूधका तथा अन्यान्य गोरसोंका उपयोग हृदय विकार और कामिला रोग की निवृत्ति के लिये करनेका विधान है ।यह विधान मनन करनेसे बडा बोधप्रद प्रतीत होता है । और इसके मनन करनेसे अन्यान्य रोगों के लिये अन्यान्य गौवोंके गोरसोंका उपयोग करनेका उपदेश भी प्राप्त होगा । वर्ण चिकित्सा का ही तत्त्व गोदुग्ध चिकित्सा के लिये बर्ता जायगा । दोनोंके बीच में तत्त्व एक ही है।

पथ्य ।

वर्ण चिकित्सा के साथ साथ गोरस सेवनका पथ्य रखनेसे अत्यधिक लाभ होना संभवनीय है । अर्थात् लालरंगके किरणों के परिधारण करने के दिन लाल गौके दूध का सेवन करना, इत्यादि प्रकार यह पथ्य समझना उचित है ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं ।

समय होता है, इनमें रंग चढाने का सामर्थ्य है । इसलिये इनके लेपन से श्वेतकुष्ठ दूर होता है ॥१॥ शरीर पर जो श्वेत कुष्ठके धब्बे होते हैं, उन श्वेत धब्बोंको इस औषधिके लेपन से दूर कर दे और अपने चमडीका असली रंग शरीरपर आने दें ॥ २ ॥ यह वनस्पति नष्ट होने पर भी काला रंग बनता है, उसका स्थान काले रंगका होता है और वनस्पति भी स्वयं काले रंगवाली है, इसी कारण यह वनस्पति श्वेत धब्बोंको दूर कर देती है ॥३॥ दुराचारके दोषोंसे उत्पन्न, हड्डीसे उत्पन्न, मांससे उत्पन्न हुए सब प्रकार के श्वेत कुष्ठके धब्बोंको इस ज्ञानसे दूर किया जाता है ॥४॥

श्वेतकुष्ठ।

शरीरका रंग गन्नमी सा होता है। गोरे कालेका भेद होनेपर भी चमडी का एक विलक्षण रंग होता है। जो रंग नष्ट होनेसे चमडीपर श्वेतसे धब्बे दिखाई देते हैं। उन का नाम ही श्वेत कुष्ठ होता है। यह श्वेत कुष्ठ शरीरपर होनेसे शरीरका सौंदर्य नष्ट होता है और सुडौल सुंदर मनुष्य भी कुरूपसा दिखाई देता है, इस लिये इस (श्वेत लक्ष्म) श्वेत चिन्ह- श्वेत कुष्ठ- दूर करनेका उपाय वेदने यहां बताया है ।

निदान।

वेद इस श्वेत कुष्ठके निदान इस सूक्तमें निम्न प्रकार देता है—

(१) दूष्या कृतस्य –दोष युक्त कृत्य अर्थात् दोष पूर्ण आचरण। सदाचार न होनेसे अथवा आचार विषयक कोई दोष कुलमें रहनेसे यह कुष्ठ होता है। जिस प्रकारसे व्यक्ति दोषसे तथा कुलके दोषसे भी यह कुष्ठ होता है।

(२) अस्थिजस्य— अस्थिगत दोषसे यह होता है।

(३) तनूजस्य— शारीरिक अर्थात् मांस के दोष से होता है।

(४) त्वचि- चमडीके अंदर कुछ दोष होनेसे भी यह होता है।

ये दोष सबके सब हों या इनमेंसे थोडे हों यह कुष्ठ हो जाता है।

दो भेद और उनका उपाय।

इस कुष्ठमें दो भेद होते हैं, एक किलास और दूसरा पलित। पलित शब्दसे केवल श्वेतत्व का ही बोध होता है इस कारण यह श्वेत धब्बोंका वाचक स्पष्ट है। इसको छोडकर दूसरे कुष्ठका नाम किलास प्रतीत होता है, जिसमें चमडी विरूपसी बनती है। सुयोग्य वैद्य इन शब्दोंका अर्थ निश्चय करें।

"रामा, कृष्णा, असिक्नी" इन औषधियोंका इस कुष्ठ पर उपयोग होता है। ये

नाम निश्चयसे किन औषधियोंके बोधक हैं और किन औषधियोंका उपयोग इस कुष्ठके निवारण करनेके लिये हो सकता है, यह निश्चय केवल शब्द शास्त्रज्ञ नहीं कर सकता; न यह विषय केवल कोशोंकी सहायतासे हल हो सकता है। इस विषयमें केवल सुयोग्य वैद्य ही निश्चित मत दे सकते हैं, तथा वे ही योग्य मार्गसे खोज कर सकते हैं। इस लिये इस लेख द्वारा वैद्योंको प्रेरणा देनाही यहां हमारा कार्य है। वेदमें बहुत विद्याएं होनेसे अनेक विद्याओंके पंडित विद्वान मिलने पर ही वेदकी खोज हो सकती है। अतः सुयोग्य वैद्योंको आयुर्वेद विषयक वेद भागकी खोज लगानी चाहिये और यह प्रत्यक्ष विषय होनेसे इन औषधादिका प्रयोग करके ही इसका सप्रयोग प्रतिपादन करना चाहिये। आशा है कि वैद्य और डाक्टर इस विषयमें योग्य सहायता देंगे।

रंगका घुसना।

कई लोग समझते हैं कि ऊपर ही ऊपर वनस्पतिका रस आदि लगानेसे चमडीका ऊपरका रंग बदल जाता है, परंतु यह सत्य नहीं है। इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें—

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः।

"अपना रंग अंदर घुस जाय" यह मंत्र भाग बता रहा है कि इन औषधियोंका परिणाम चमडीके अंदर ही होना अभीष्ट है, न कि केवल ऊपर ही ऊपर। ऊपर परिणाम हो, परंतु "विशतां" क्रिया "अंदर घुसने" का भाव बता रही है। इस लिये चमडीके अंदर रंग घुस जाता है और वहां वह स्थिर हो जाता है। यह मंत्र का कथन स्पष्ट है।

औषधियोंका पोषण।

औषधियोंका पोषण दिनके समय होता है या रात्रीके समय, यह प्रश्न बडे शास्त्रीय महत्त्व का है। औषधियोंका राजा सोम-चंद्र-है, इस लिये औषधियोंका पोषण और वर्धन रात्रीके समय होता है। यही बात "नक्तं जाता" शब्दोंसे इस सूक्त में बतायी है। रात्रीके समय बनी बढी या पुष्ट हुई औषधी होती है। प्रायः सभी औषधियोंके संबंध में यह बात सत्य है ऐसा हमारा ख्याल है। वनस्पति विद्या जाननेवाले लोग इस कथन का अधिक विचार करें।

" सौभाग्य वर्धन " के (१८ वें) सूक्तमें सौंदर्य वर्धन का उपदेश दिया है, इस लिये उस कार्य के लिये श्वेत कुष्ठ यदि किसीको हो, तो उसको दूर करना आवश्यक ही है। अतः पाठक इस सूक्तको पूर्वोक्त १८ वें सूक्तके साथ पढें। आशा है कि पाठक इस प्रकार पूर्वापर सूक्तोंका संबंध देख कर सूक्तार्थसे अधिकसे अधिक लाभ उठावें।

*

(२४)

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता – आसुरी वनस्पतिः।)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत्त्वचम् ॥ २ ॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥
श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

अर्थ–सुपर्ण (प्रथमः जातः) सबसे पहिले हुआ (तस्य पित्तं) उसका पित्त (त्वं आसिथ) तूने प्राप्त किया है। (युधा जिता) युद्धसे जीती हुई वह आसुरी (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको (तत् रूपं चक्रे) वह रूप करती रही ॥ १ ॥ (प्रथमा आसुरी) पहिली आसुरीने (इदं किलास-भेषजं) यह कुष्ठका औषध (चक्रे) बनाया। (इदं) यह (किलास–नाशनं) कुष्ठ रोगका नाश करनेवाला है। इसने (किलासं) कुष्ठका (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचं) त्वचाको (स–रूपां) समान रंगवाली (अकरत्) बनादिया ॥ २ ॥ हे औषधे! तेरी माता (सरूपा) समान रंगवाली है तथा तेरा पिता भी समान रंगवाला है। इस लिये (त्वं स–रूप–कृत्) तू भी समान रूप करनेवाली है (सा) वह तू (इदं सरूपं) इसको समान रंगरूपवाला

(कृधि) कर ॥३॥ श्यामा नामक वनस्पति (सरूपं-करणी) समान रूपरंग बनानेवाली है। यह (पृथिव्याः अध्युद्भृता) पृथ्वीसे उखाडी गई है। (इदं उ सु प्रसाधय) यह कर्म ठीक प्रकार सिद्ध कर और (पुनः रूपाणि कल्पय) फिर पूर्ववत् रंगरूप बना दे ॥४॥

भावार्थ— सुपर्ण नाम सूर्य है उसकी किरणोंमें पित्त बढानेकी शक्ति है। सूर्य किरणों द्वारा वह पित्त वनस्पतियोंमें संचित होता है। योग्य उपायोंसे स्वाधीन बनी हुई वनस्पतियां रूप रंग का सुधार करने में सहायक होती हैं ॥१॥ आसुरी वनस्पति से कुष्ठ रोग के लिये उत्तम औषध बनता है। यह निश्चयसे कुष्ठ रोग दूर करती है और इससे शरीर की त्वचा समान रंग रूपवाली बनती है ॥ २ ॥ जिस पौधों के संयोगसे यह वनस्पति बनती है, वे पौधे (अर्थात् इसके माता पिता रूपी पौधे भी) शरीर का रंग सुधारने वाले हैं। इसलिये यह वनस्पति भी रंग का सुधार करने में समर्थ है ॥ ३ ॥ यह श्यामा वनस्पति शरीर की चमडीका रंग ठीक करनेवाली है। यह भूमिसे उखाडी हुई यह कार्य करती है। अतः इसके उपयोगसे शरीरका रंग सुधारा जाय ॥४॥

वनस्पतिके माता पिता।

इस सूक्त के तृतीय मंत्रमें वनस्पतिके मातापिताओंका वर्णन है अर्थात् दो वृक्षवनस्पतियोंके संयोगसे बननेवाली यह तीसरी वनस्पति है। दो वृक्षोंके कलम जोडनेसे तीसरी वनस्पति विशेष गुणधर्म से युक्त बनती है, यह उद्यान शास्त्र जाननेवाले जानते ही हैं। कुष्ठनाशक श्यामा आसुरी वनस्पति इस प्रकार बनायी जाती है। शरीरके रंगका सुधार करनेवाली दो औषधियों के संयोगसे यह श्यामा बनती है। जो आधारका पौधा होता है उसका नाम माता और जिसकी शाखा उस पर चिपकायी या जोडी जाती है वह उस का पिता तथा इस संयोगसे जो नयी वनस्पति बनती है वह उन दोनोंका पुत्र है। पाठक इस उद्यान विद्याको इस मंत्रमें देखें। (मंत्र ३)

सरूप-करण।

शरीरके वास्तविक रंगके समान कुष्ठरोग के स्थान के चमडेका रंग बनाना " सरूप-करण " का तात्पर्य है। आसुरी श्यामा वनस्पति यह करती है इसी लिये कुष्ठरोगपर इसका उपयोग होता है। (मं० १—३)

वनस्पतिपर विजय।

"युद्धसे जीती हुई आसुरी वनस्पति औषध बनाती है।" यह प्रथम मंत्रका कथन विशेष मननीय है। वैद्यको हरएक दवापर इस प्रकार प्रभुत्व संपादन करना पडता है। औषधी उसके हाथमें आनेकी आवश्यकता है। वनस्पति के गुणधर्मोंसे पूर्ण परिचय, और उसका उपयोग करनेका उत्तम ज्ञान वैद्यको होना आवश्यक है। नहीं तो औषध सिद्ध नहीं कहा जा सकता। (मं. १)

सूर्यका प्रभाव।

सूर्य में नाना प्रकार के वीर्य हैं। वे वीर्य किरणों द्वारा वनस्पतियोंमें जाते हैं। वनस्पतिद्वारा वेही वीर्य प्राप्त होते हैं और रोग नाश अथवा बलवर्धन करते हैं। इस प्रकार यह सब सूर्यकाही प्रभाव है। (मं. १)

सूर्यसे वीर्य प्राप्ति।

सूर्यमे नाना प्रकारके वीर्य प्राप्त करनेकी यह सूचना बहुत ही मनन करने योग्य है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद १।११५।१

" सूर्य ही स्थावर जंगम का आत्मा है " यह वेदका उपदेश भी यहां मनन करना चाहिये। जब सूर्यसे नाना प्रकारसे वीर्य प्राप्त करके हम अधिक वीर्यवान हो जांयगे तभी यह मंत्रभाग हमारे अनुभवमें आ सकता है।

नंगे शरीर सूर्य किरणोंमें विचरनेसे और सूर्य किरणों द्वारा अपनी चमडी अच्छी प्रकार तपानेसे शरीर के अंदर सूर्यका जीवन संचारित होता है इसी प्रकार सूर्यसे तपा हुआ वायु प्राणायामसे अंदर लेनेके अभ्याससे क्षयरोग में भी बडा लाभ पहुंचता है। इसी प्रकार कई रीतियों से हम सूर्यसे वीर्य प्राप्त कर सकते हैं। पाठक स्वयं इसका अधिक विचार करेंगे तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है।

वैद्योंको उचित है, कि वे खोजसे श्यामा वनस्पति को प्राप्त करें और उसके योगसे कुष्ठ रोग दूर करें। तथा सूर्यसे अनेक वीर्य प्राप्त करनेके उपाय ढूंढकर निकाल दें और उनका उपयोग आरोग्य बढानेमें करते रहें।

शीत-ज्वर-दूरीकरण-सूक्त।

(२५)

(ऋषिः-भृग्वङ्गिराः। देवता—अग्निः, तक्मा।)

यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृंग्धि तक्मन् ॥ १ ॥
यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृंग्धि तक्मन् ॥ २ ॥
यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृंग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥
नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

अर्थ- (यत्र) जहां (धर्म-धृतः) धर्मका पालन करने वाले सदाचारी लोक (नमांसि कृण्वन्) नमस्कार करते हैं, वहां (प्रविश्य) प्रवेश करके (यत् अग्निः) जो अग्नि (आपः अदहत्) प्राणधारक जल तत्त्वको जलाता है (तत्र) वहां (ते परमं जनित्रं) तेरा परम जन्म स्थान है, ऐसा (आहुः) कहते हैं। हे (तक्मन्) कष्ट देनेवाले ज्वर! (सः संविद्वान्) जानता हुआ तू (नः परि वृंग्धि) हमको छोड दे॥ १ ॥ (यदि अर्चिः) यदि तू ज्वाला रूप, (यदि वा शोचिः असि) अथवा यदि तापरूप हो, (यदि ते जनित्रं) यदि तेरा जन्म स्थान (शकल्य-इषि) अंगप्रत्यंगमें परिणाम करता है, तो तू (ह्रूडुः नाम असि) ह्रूडु [अर्थात गति करनेवाला] इस नामका है। अतः हे (हरितस्य देव तक्मन्) पीलक रोगको उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव! (सः संविद्वान्) वह तू यह जानता हुआ (नः परि वृंग्धि) हमें छोड दे॥ २ ॥ (यदि शोकः)

यदि तू पीडा देनेवाला अथवा (यदि अभि शोकः) यदि सर्वत्र पीडा उत्पन्न करनेवाला हो, (यदि वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि) किंवा वरुण राजा का तू पुत्र ही क्यों न हो, तुम्हारा नाम ह्रूडु है। हे पीलक रोगके उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! तू हम सबको यह जानकर छोड दे ॥ ३ ॥ (शीताय तक्मने नमः) शीत ज्वर के लिये नमस्कार, (रूराय शोचिषे नमः कृणोमि) रूखे तापको भी नमस्कार करता हूं । (यः अन्येद्युः) जो एक दिन छोड कर आनेवाला ज्वर है, (उभयद्युः) जो दो दिन आनेवाला (अभ्येति) होता है, जो (तृतीयकाय) तिहारी है, उस (तक्मने नमः अस्तु) ज्वर के लिये नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—धार्मिक लोग जहां प्राणायाम द्वारा पहुंचते और प्राण शक्ति का महत्त्व जानकर उसको प्रणाम भी करते हैं उस प्राणके मूलस्थानमें पहुंच कर यह ज्वरका अग्नि प्राणधारक आप् तत्त्वको जला देता है। यही इस ज्वरका परम स्थान है । यह जानकर इससे मनुष्य बचे ॥ १ ॥ यह ज्वर बहुत जोरकी तपिश चढानेवाला हो किंवा अंदर ही अंदर तपनेवाला हो, किंवा हरएक अंग प्रत्यंगको कमजोर करनेवाला हो वह हरएक जीवनके अणुको हिला देता है इसलिये इसको " ह्रूडु " कहते हैं, यह पांडुरोग अथवा कामिला रोगको उत्पन्न करता है,यह जान कर हरएक मनुष्य इससे अपना बचाव करें ॥ २ ॥ कई ज्वर विशेष अंगमें दर्द उत्पन्न करते हैं और कई संपूर्ण अंगप्रत्यंगोंमें पीडा उत्पन्न करते हैं, जलराज वरुणसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह हरएक अंगप्रत्यंग को हिला देता है और पलिक रोग शरीरमें उत्पन्न करदेता है । इस लिये हरएक मनुष्य इससे बचता रहे ॥ ३ ॥ शीत ज्वर, रूक्ष ज्वर, प्रतिदिन आनेवाला, एकदिन छोडकर आनेवाला, दो दिन छोडकर आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला ऐसे अनेक प्रकारके जो ज्वर हैं उनको नमस्कार हो अर्थात् ये हम सबसे दूर रहें ॥ ४ ॥

ज्वर की उत्पत्ति ।

यह "तक्मनाशन गण " का सूक्त है और इस सूक्त में ज्वरकी उत्पत्ति निम्न लिखित प्रकार लिखी है—

वरुणस्य राज्ञः पुत्रः। (मंत्र ३)

यह "वरुण राजा का पुत्र है।" अर्थात् वरुणसे इसकी उत्पत्ति है। जल का अधिपति वरुण है यह सब जानते ही हैं। वरुण राजाके जलरूपी साम्राज्यमें यह जन्म लेता है। इसका सीधा आशय यह व्यक्त होरहा है कि जहां जल स्थिररूपसे रहता या सडता है वहां से इस ज्वरकी उत्पात्ति होती है। आजकल भी प्रायः यह बात निश्चितसी होचुकी है कि जहां जल प्रवाहित नहीं होता परंतु रुका रहता है, वहां ही शीतज्वर की उत्पात्ति होती है और शीतज्वर ऐसे ही स्थानों से फैलता है।

यदि यह ज्ञान निश्चित हुआ तो ज्वरनाशक पहिला उपाय यही हो सकता है, कि अपने घरके आसपास तथा अपने ग्राममें अथवा निकट कोई ऐसे स्थान नहीं रखने चाहिये कि जहां जल रुकता और सडता रहे। पाठक ज्वरनाशक इस प्रथम और सबसे मुख्य उपायका विचार करें। और इससे अपना लाभ उठावें।

ज्वरका परिणाम।

इस सूक्तमें ज्वरका नाम "ह्रूडु" लिखा है। इसका अर्थ "गति करनेवाला" है। यह ज्वर जब शरीरमें आता है तब शरीरके खून में तथा अंगप्रत्यंगों के जीवन रसमें गति उत्पन्न करता है। और इसी कारण अंगप्रत्यंग का जीवनरस (आप् तत्त्व) जल जाता है। यही बात प्रथम मंत्रमें कही है—

अग्निः आपः अदहत् ॥ (मंत्र १)

"यह ज्वर जीवन रस को ही जला देता है।" इसी कारण ज्वरमें शरीरकी शक्ति कम होती है। आप् तत्त्व प्राणशक्ति का धारण करनेवाला है। (आपोमयः प्राणः) आप्तत्त्वमय प्राण है यह उपनिषदोंका कथन है। प्राणके आश्रयका शरीरस्थ आप् तत्त्व इस ज्वरके द्वारा जल जाता है, इसी कारण ज्वर आनेपर जीवन शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण इस ज्वरको पीलक रोगका उत्पादक कहा है। देखिये—

हरितस्य देव! (मंत्र २.३)

"पीलापन उत्पन्न करनेवाला" फीका निस्तेज बनानेवाला, पीलारोग, कामिला, पांडुरोग, जीवनरसका क्षय करनेवाला रोग इन सबका उत्पादक ज्वर है। यह ज्वर इतने भयानक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, इसी लिये इसके प्रतिबंधके अनेक उपाय अवश्य करना चाहिये। यह ज्वर प्राणके मूल स्थानपर हमला करके दुर्बलता उत्पन्न करता है इस विषयमें यह मंत्र देखिये

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि ॥ [मंत्र १]

"जहां धार्मिक लोग जाकर मनन करते हैं वहां प्रविष्ट होकर यह अग्नि–ज्वर–प्राण धारक जीवन रस को जलाता है।"

योगादि साधन द्वारा धार्मिक लोग समाधि अवस्थामें हृदय कमलमें प्रविष्ट होते हैं, उसी हृदयमें जीवनका रस है, वही रस ज्वरसे जलता है। अर्थात् ज्वरका हृदयपर बहुत बुरा परिणाम होता है, जिससे बहुत कमजोरी भी उत्पन्न होती है। इसी कारण यह ज्वर पीलक रोग अथवा पांडुरोग उत्पन्न करता है ऐसा इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है। यह हिमज्वर जिसको आजकल " मलेरिया " कहा जाता है वह बहुत ही हानिकारक है। इस लिये उसको हरएक प्रयत्नसे दूर रखना चाहिये, यही निम्न लिखित मंत्र भागमें सूचित किया है ––

स नः संविद्वान् परिवृंग्धि तक्मन् ॥ (मंत्र १, २, ३)

"यह बात जानता हुआ ज्वर दूर रखा जाय" अर्थात् ज्वर के कारण दूर करके उसका हमला मनुष्यपर न हो इस विषयमें योग्य प्रयत्न किये जांय। ज्वर आनेके बाद उसके प्रतिकार का यत्न करना चाहिये इसमें किसीका विवाद नहीं हो सकता,परंतु इस सूक्त द्वारा वेद यही उपदेश देना चाहता है, कि अपने घर की और ग्राम की व्यवस्था मनुष्य इस प्रकार रखे कि यह मलेरिया ज्वर आवेही न और उसके निवारण के लिये दवाइयां पीनी न पड़ें। क्यों कि यह विष इतना घातक है कि एक बार आया हुआ हिमज्वर अपना परिणाम स्थिर रूपसे शरीरमें रख जाता है और उसके निवारण के लिये सालों साल और बडे व्ययसे यत्न करने आवश्यक होते हैं।

हिमज्वर के नाम।

इस सूक्तमें हिमज्वरके निम्नलिखित नाम दिये हैं—

१ ह्रूडु– गति उत्पन्न करनेवाला, शरीरमें कंप उत्पन्न करनेवाला, ज्वर का शीत जिस समय प्रारंभ होता है, उस समय मनुष्य कांपने लगता है। मराठी भाषामें इस हिम ज्वरका नाम " हुडहुडा ताप" है, यह शब्द भी वैदिक " ह्रूडु " शब्दके साथ मिलता जुलता है। यही शब्द विभिन्न हस्त लिखित पुस्तकोंमें निम्नलिखित प्रकार लिखा हुआ मिलता है - ह्रूडु, ह्रूडु, ह्रूडु, ह्रुडु, रुडु, ह्रूडु, रुड्ड, ह्रुड्ड"। अथर्ववेदकी पिप्पलाद शाखा की संहितामें " हुडु " पाठ है। यह " हुडु " शब्द मराठी " हुडहुडा " शब्द के ही सदृश शब्द है। (मंत्र २ , ३)

२ शीतः- जो ज्वर शीत लग कर प्रारंभ होता है ॥ यह प्रतिदिन आनेवाला समझना उचित है । (मंत्र ४)

३ अन्येद्युः- एक दिन छोडकर आनेवाला । (मं० ४)

४ उभयद्युः- दूसरे दिन आनेवाला अथवा दो दिन छोडकर आनेवाला । (मं० ४)

५ तृतीयकः- तीसरे दिन आनेवाला किंवा तीनदिन छोड कर आनेवाला अथवा नियत दिन बीचमें छोड कर आनेवाला । (मं० ४)

६ तक्मा:०- जीवन दुःखमय बनानेवाला ज्वर ।

७ अर्चिः- अग्निकी ज्वालाएं भडकनेके समान जिसकी उष्णता बाहर बहुत होती है । (मं० २)

८ शोचिः, शोकः-जिसमें शरीरमें पीडा होती है । (मं० २)

९ शकल्य-इषिः- अंग प्रत्यंग अलग अलग होनेके समान शिथिलता आती है। (मं० २)

१० अभिशोकः- जिसमें सब शरीरमें बडा दर्द करता है । (मं० ३)

इन नामोंका विचार करनेसे इस ज्वरके स्वरूपका पता लग सकता है और निश्चय होता है कि यह वर्णन शीतज्वर जिसे मलेरिया आजकल कहते हैं इसका ही है ।

घरके पास जल सडता न रहे, घरके पासकी भूमि अच्छी रहे और किसी भी स्थान में इस रोगकी उत्पत्ति होने योग्य परिस्थिति न हो, इसी प्रकार ग्राम में और ग्रामके आस पास भी स्थान योग्य और आरोग्य कारक हों, जिससे यह रोग उत्पन्न ही न होगा । क्योंकि यह ज्वर जल के दलदल से उत्पन्न होता है । इसीलिये " जल देवता का पुत्र " इसका एक नाम इसी सूक्त में दिया है । यदि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे तो उनको इससे बचनेका उपाय ज्ञात हो सकता है । आशा है कि वे इसका विचार करेंगे और अपने आपको इससे बचायेंगे ॥

नमः शब्द ।

इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें "नमः" शब्द तीनवार आया है। यहांका यह नमनवाचक शब्द घातक मनुष्यको दूर रखनेके लिये किये जानेवाले नमस्कार के समान उस ज्वरसे बचनेका भाव सूचित करता है ऐसा हमारा ख्याल है। कोशोंमें "नमस्कर, नमस्कारी" शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं । यदि " नमः "शब्दसे किसी औषधीका बोध होता हो तो वह खोज करना चाहिये । " नमः " शब्दके अर्थ " नमस्कार, अन्न, शस्त्र, दण्ड " इतने प्रसिद्ध हैं, " नमस्करी, नमस्कार, नमस्कारी " ये शब्द औषधियोंके भी वाचक हैं । अतः इस विषयका अन्वेषण वैद्य लोग करें ।

*

सुख-प्राप्ति-सूक्त ।

(२६)

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवताः- इन्द्रादयः)

आरे३ सावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् । आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥
सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥
यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः । शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥३ ॥
सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (देवासः) देवो! (असौ हेतिः) यह शस्त्र (अस्मत् आरे अस्तु) हमसे दूर रहे । और (यं अस्यथ) जिसे तुम फेंकते हो वह (अश्मा आरे असत्) पत्थर भी हमसे दूर रहे ॥ १ ॥ (असौ रातिः) यह दानशील, (भगः) धनयुक्त सविता, (चित्रराधः इन्द्रः) विशेष ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्र हमारा (सखा अस्तु) मित्र होवे ॥ २ ॥ हे (प्रवतः नपात्) अपने आपका रक्षण करनेवाले को न गिरानेवाले! हे (सूर्यत्वचसः मरुतः) सूर्यके समान तेजस्वी मरुत् देवो! (यूयं) तुम (नः) हमारे लिये (सप्रथः शर्म) विस्तृत सुख (यच्छाथ)दो ॥ ३ ॥ (सुषूदत) तुम हमें आश्रय दो, (मृडत) हमें सुखी करो, (नः तनूभ्यः मृडय) हमारे शरीरोंको आरोग्य दो तथा (तोकेभ्यः मयः कृधि) बालबच्चोंके लिये आनन्द करो ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे देवो! आपका दंडरूप शस्त्र आदि हमारे ऊपर प्रयुक्त होनेका अवसर न आवे, अर्थात् हमसे ऐसा कोई कार्य न हो कि जिसके लिये हम दण्डके भागी बनें ॥ १ ॥ इन्द्र सविता भग आदि देवगण हमारे सहायक हों ॥ २ ॥ मरुत देव हमारा सुख बढावें ॥ ३ ॥ सब देव हमें उत्तम आधार दें , हमारे शरीरका आरोग्य बढावें , हमारे मनकी शांति वृद्धिंगत करें , हमारे बाल बच्चोंको कुशल रखें और सब प्रकार से हमारा आनंद बढावें ॥ ४ ॥

देवोंसे मित्रता ।

इन्द्र, सविता, भग, मरुत् आदि देवोंसे मित्रता करनेसे सुख मिलता है और उनके प्रतिकूल आचरण करनेसे दुःख प्राप्त होता है। इस लिये प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है कि उन देवोंका दंड हमपर न चले, और दूसरे मंत्रमें प्रार्थना है कि ये सब देव हमारे मित्र-हमारे सहायक-बन कर हमारा सुख बढावें; अथवा हमारा ऐसा आचरण बने कि ये हमारे सहायक बनें और विरोधी न हों। देखिये इसका आशय क्या है-

१ सविता- सूर्यदेव है, यह स्वयं मित्रता करनेके लिये हमारे पास नहीं आता है, परन्तु सवेरे उदय होनेके समयसे अपना हाथ हमारे पास भेजता है और हमसे मिलना चाहता है. परंतु पाठक ही ख्याल करें कि हम अपने आपको तंग मकानोंमें बंद रखते हैं, और सविता देवके पवित्र हाथके पास जाते ही नहीं; सूर्य ही आरोग्य की देवता है. उसके साथ इस प्रकार विरोध करनेसे उसका वज्राघात हमपर गिरता है जिससे नाना रोगके दुःखोंमें गिरना आवश्यक होता है।

२ मरुत्- नाम वायु देवता का है। यह वायु देव भी हमारी सहायता करनेके लिये हरएक स्थानमें हमारे पहिलेसे ही उपस्थित है, परन्तु हम खुली हवा सेवन नहीं करते हैं, परिशुद्ध वायु हमारे घरों और कमरोंमें आवे ऐसी व्यवस्था नहीं करते. इतनाही नहीं परन्तु वायुको बिगाडनेके अनंत साधन निर्माण करते हैं। इत्यादि कारणोंसे वायु देवता का क्रोध हमपर होता है और उनका वज्राघात हमें सहन करना पडता है। जिससे विविध बीमारियां वायुके क्रोधसे हमें सता रहीं हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध जानना उचित है। इस विषयमें अथर्ववेद स्वाध्याय कां० १ सूक्त ३, ९, देखिये, इन सूक्तोंके स्पष्टीकरण के प्रसङ्गमें देवताओंसे हमारे संबंधका वर्णन किया है। इस लिये इस सूक्तके साथ उन सूक्तोंका संबंध अवश्य देखना चाहिये।

जिस प्रकार ये बाह्य देवताएं हमारे मित्र बनकर रहनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और सुख बढ सकता है, उसी प्रकार उनके प्रतिनिधि-जो हमारे शरीरमें स्थान स्थानमें रहे हैं उनको मित्र बनाकर रखनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है, इस विषयमें अब थोडासा विवरण देखिये—

१ सविता सूर्य देव आकाशमें है, उसीका प्रतिनिधि अंशरूप देव हमारे आंखमें तथा नाभिस्थानके सूर्य चक्रमें रहा है। क्रमशः इनके काम दर्शनशक्ति और पाचनशक्तिके

साथ संबंधित हैं। पाठक यहां अनुभव करें कि ये देव यदि हमारे मित्र बनकर रहें तो ही स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है। यदि आंख किसी समय धोखा देवे, अथवा रूपके विषयमें मोहित होकर हीन मार्गसे इस शरीरको ले चले, तो उससे प्राप्त होनेवाली शरीर की कष्टमय दशा की कल्पना पाठक ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पेट की पाचन शक्ति ठीक न रहनेसे कितने रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंसे छिपा नहीं है। अर्थात् शरीर स्थानीय सूर्य-सविता के अंश रूप देव के सखा बनकर न रहनेसे मनुष्यकी आपत्तियोंकी संख्या कितनी बढ सकती है इसका पाठक ही विचार करें।

२ इसी प्रकार मरुत् वायु देव फेंफडोंमें तथा शरीरके नाना स्थानोंमें रहते हैं। यदि उनका कभी प्रकोप हो जाय तो नाना विकारोंकी उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार इन्द्रदेव अंतःकरण के स्थानमें तथा अन्यान्य देव शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें रहते हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं, कि उनके " सखा " बनकर रहनेसे ही मनुष्य मात्रको स्वास्थ्य और आनंद प्राप्त हो सकता है। इनके विरोधी बननेसे दुःखका पारावार नहीं होगा।

पहिले मंत्रमें " देवोंके दण्डसे दूर रहने की " और दूसरे मंत्रमें " देवोंसे मित्रता रखने की " सूचना का इस प्रकार विचार पाठक करें और यह परम उपयोगी उपदेश अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करें और परम आनंद प्राप्त करें। तीसरे मंत्रका " इसी आचरणसे विस्तृत सुख मिलता है, " वह कथन अब सुस्पष्ट ही हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें जो कहा है कि " ये ही देव हमें सहारा देते हैं, हमें सुखी रखते हैं, हमारे शरीरका आरोग्य बढाते हैं और बालबच्चोंको भी आनंदित रखते हैं, " यह कथन अब पाठकोंको भी दिनके प्रकाशके समान प्रत्यक्ष हुआ होगा। इस लिये स्वास्थ्य और सुखकी प्राप्तिके इस सच्चे मार्गका अवलंबन पाठक करें।

विशेष सूचना।

विशेष कर पाठक इस बातका अधिक ख्याल रखें, कि वेद सुख स्वास्थ्य और आनंदके प्राप्त करने के लिये धनादि साधन नहीं बताता है, प्रत्युत "जल, वायु, सूर्य आदि के साथ सख्य करो " यही साधन बता रहा है। यह हरएक कर सकता है। चाहे धन किसी-को मिले या न भी मिले, परंतु " जल वायु और सूर्य प्रकाश " तो हरएक को मिल सकता है। इस स्वास्थ्यके अति सुलभ साधनका पाठक अधिक विचार करें, वेदकी इस शैलीका अवश्य मनन करें और इस उपदेश के अनुसार आचरण करके लाभ उठावें।

विजयी स्त्री का पराक्रम ।

(२७)

(ऋषिः- अथर्वा । देवता - इन्द्राणी)

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या ३ वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥१॥
विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥
न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाऽभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥
प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

अर्थ--- (अमूः पारे) वह पारमें (निर्जरायवः) झिल्लीसे निकली हुई (त्रि- सप्ताः) तीन गुणा सात (पृदाकः) सर्पिणीयोंके समान सेनाएं हैं। (तासां) उनकी (जरायुभिः) कैंचुलियोंसे (वयं) हम (अघ - आयोः परिपंथिनः) पापी दुष्टशत्रुकी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें (अपि व्ययामसि) ढके देते हैं ॥ १ ॥ (पिनाकं इव बिभ्रती) धनुष्य धारण करनेवाली, और शत्रुको (कृन्तती) काटने वाली वीरसेना (विषुची एतु) चारों और आगे बढे । जिससे (पुनर्भुवाः) फिर इकट्ठी की हुई शत्रुसेनाका (मनः विष्वक्) मन इधर उधर हो जावे । और उससे (अघायवः) पापी शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २॥ (बहवः न समशकन्) बहुत शत्रु भी उनके सामने ठहर नहीं सकते, फिर (अर्भकाः) जो बालक हैं वे (न अभि दाधृषुः) धैर्य ही नहीं कर सकते । (वेणोः अद्गाः इव) बांसके अंकुरों के समान (अभितः) सब ओरसे (अघायवः) पापीलोग (असमृद्धाः) निर्धन होवें ॥ ३ ॥ हे (पादौ) दोनों पांवो ! (प्रेतं) आगे बढो, (प्र स्फुरतं) फुरती करो, (पृणतः गृहान् वहतं) संतोष देनेवाले घरोंके प्रति हमें पहुंचाओ । (अजीता) विना जीती, (अमुषिता) विना लूटी हुई और (प्रथमा) मुखिया

साथ संबंधित हैं। पाठक यहां अनुभव करें कि ये देव यदि हमारे मित्र बनकर रहें तो ही स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है। यदि आंख किसी समय धोखा देवे, अथवा रूपके विषयमें मोहित होकर हीन मार्गसे इस शरीरको ले चले, तो उससे प्राप्त होनेवाली शरीर की कष्टमय दशा की कल्पना पाठक ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पेट की पाचन शक्ति ठीक न रहनेसे कितने रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंसे छिपा नहीं है। अर्थात् शरीर स्थानीय सूर्य-सविता के अंश रूप देव के सखा बनकर न रहनेसे मनुष्यकी आपत्तियोंकी संख्या कितनी बढ सकती है इसका पाठक ही विचार करें।

२ इसी प्रकार मरुत् वायु देव फेंफडोंमें तथा शरीरके नाना स्थानोंमें रहते हैं। यदि उनका कभी प्रकोप हो जाय तो नाना विकारोंकी उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार इन्द्रदेव अंतःकरण के स्थानमें तथा अन्यान्य देव शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें रहते हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं, कि उनके " सखा " बनकर रहनेसे ही मनुष्य मात्रको स्वास्थ्य और आनंद प्राप्त हो सकता है। इनके विरोधी बननेसे दुःखका पारावार नहीं होगा।

पहिले मंत्रमें " देवोंके दण्डसे दूर रहने की " और दूसरे मंत्रमें " देवोंसे मित्रता रखने की " सूचना का इस प्रकार विचार पाठक करें और यह परम उपयोगी उपदेश अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करें और परम आनंद प्राप्त करें। तीसरे मंत्रका " इसी आचरणसे विस्तृत सुख मिलता है, " यह कथन अब सुस्पष्ट ही हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें जो कहा है कि " ये ही देव हमें सहारा देते हैं, हमें सुखी रखते हैं, हमारे शरीरका आरोग्य बढाते हैं और बालबच्चोंको भी आनंदित रखते हैं, " यह कथन अब पाठकोंको भी दिनके प्रकाशके समान प्रत्यक्ष हुआ [illegible] और सुखकी प्राप्तिके इस सच्चे मार्गका [illegible] क्योंकि इसकी प्रेरणासे सैनि[illegible] [illegible] विजय प्राप्त करते हैं।

वीर स्त्री।

विशे[illegible]

" इन्द्राणी अर्थात् राणी सेनाकी मुखिया बनकर सेना को प्रोत्साहन देती हुई चले, हरएक के पांव आगे बढें, हरएकका मन उत्साहसे युक्त रहे, संतोष बढाने [illegible] सज्जनों के घरों में ही लोग जायं। " परंतु जो लोग संतोषको कम करने वाले, [illegible] का नाश करने वाले, और मनकी आशाका घात करनेवाले हों उनके पास [illegible] जावे, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावोंसे मनुष्योंको निरुत्साहित ही करते हैं [illegible] मंत्र ४ का भाव विचार करने योग्य है।

दुष्ट-नाशन-सूक्त ।

(२८)

(ऋषिः— चातनः । देवता- स्वस्त्ययनम् ।)

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥१॥
प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः ।
प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥२॥
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३॥
पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो॒३ वि घ्नतां यातुधान्यो॒३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥४॥

अर्थ-(अमीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला और (रक्षोहा)राक्षसों का नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) सदा भूखों को (यातुधानान्) लुटेरों को तथा (द्वयाविनः) दुमुखे कपटियोंको (अप दहन्) जलाता हुआ (उप प्रागात्) पास पहुंचा है ॥ १ ॥ हे अग्निदेव ! (यातुधानान् प्रति दह) लुटेरों को जलादे तथा (किमीदिनः प्रति) सदा भूखोंको भी जलादे । हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण मार्गवाले अग्निदेव! (प्रतीचीः यातुधान्यः) संमुख आनेवाली लुटेरी स्त्रियोंको भी (संदह) ठीक जला दो ॥ २ ॥ यह दुष्ट लुटेरी स्त्रियां (शपनेन शशाप) शापसे शाप देती हैं, (या अघं मूरं आदधे) जो पाप ही प्रारंभसे स्वीकारती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरेभे) जन्मे हुए बालक को खाना आरंभ करती हैं और (सा अत्तु) वह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥ (यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अत्तु) पुत्र खाती है, (स्वसारं उत नप्त्यं) बहिन को तथा नानी को खाती है । (अध) और (विकेश्यः)

पापीलोग ये हैं और इनके बुरे आचरण के कारणही वे शत्रुत्व करने योग्य हैं। "असमृद्धा अघायवः" यह शब्द प्रयोग इस सूक्त में दोबार आया है। "पापी समृद्धिसे रहित होते हैं।" यह इसका भाव है। पापसे कभी वृद्धि नहीं होगी। पाप से मनुष्य गिरताही जाता है। यह भाव इस में देखने योग्य है। जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा धनाढ्य बनना चाहते हैं उनको यह मंत्र भाग देखना योग्य है। यह मंत्र उपदेश दे रहा है कि "पापी कभी उन्नत नहीं होगा;" यदि किसी अवस्थासे वह धनवान् हुआ, तो भी वह उसका धन उसके नाशका ही हेतु निःसंदेह बनेगा। तात्पर्य परिणाम की दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापी लोग अवश्यही नाशको प्राप्त होंगे।

तीन गुणा सात।

सेनाके तीन गुणा सात विभाग हैं। रथयोधी, गजयोधी, अश्वयोधी, पदाती, दुर्गयोधी, जलयोधी तथा कूटयोधी ये सात प्रकार के सैनिक होते हैं। प्रत्येकमें अधिकारी, प्रत्यक्ष युद्धकारी और सहायक इन तीन भेदोंसे तीन गुणा सात सैनिक होते हैं।

निर्जरायु।

"जरायु" शब्द झिल्ली, जेरी का वाचक है, परन्तु यहां श्लेषार्थ से प्रयुक्त है। यहां इसका अर्थ (जरा + आयु) वृद्धावस्था अथवा जीर्णता किंवा थकावट, तथा आयुष्य। (निः + जरा - आयुः) जो जीर्णता, थकावट, वृद्धावस्था अथवा आयुकी पर्वा न करने वाले होते हैं, अर्थात् जो अपने जीने मरनेकी पर्वाह न करके लडते हैं, जो अपनी अवस्थाकी तथा सुखदुःख की पर्वाह न करते हुए अपने यशके लिये ही लडते रहते हैं उनको "निर्जरायु" अर्थात् "जरा और आयुके विचारसे मुक्त" कहते हैं। जीवित की आशा छोड कर लडनेवाले सैनिक।

इस सूक्तके मंत्र वीरा स्त्री विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इस लिये ये मंत्र विशेष मननके साथ पढने योग्य हैं। तथा इस में कई शब्द श्लेष अर्थ बताने वाले भी हैं जैसा कि ऊपर बताया है। इन सब बातोंका विचार करके यदि पाठक इस सूक्त का अभ्यास करेंगे तो उनको बहुत बोध मिल सकता है।

आशा है कि इस प्रकार पाठक अपने राष्ट्र में वीरा स्त्री और वीर पुरुष उत्पन्न करेंगे और अपना यश बढानेका परम पुरुषार्थ करेंगे।

यह सूक्त "स्वस्त्ययन गण" का है इस लिये इस गण के अन्य सूक्तों के साथ पाठक इसका विचार करें।

दुष्ट-नाशन-सूक्त।

(२८)

(ऋषिः— चातनः। देवता- स्वस्त्ययनम्।)

उप प्रागा॑द्दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः।
द॒हन्नप॑ द्वया॒विनो॑ यातु॒धाना॑न्किमी॒दिनः॑ ॥१॥
प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न्प्रति॑ देव किमी॒दिनः॑।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥२॥
या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु सा ॥३॥
पु॒त्रम॑त्तु यातु॒धानीः॒ स्वसा॑रमु॒त न॒प्त्य॑म्।
अधा॑ मि॒थो वि॑के॒श्यो॒३॒॑ वि घ्न॑तां यातु॒धान्यो॒३॒॑ वि तृ॑ह्यन्तामरा॒य्यः॑ ॥४॥

अर्थ- (अमीव-चातनः) रोगोंको दूर करनेवाला और (रक्षोहा)राक्षसों का नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) सदा भूखों को (यातुधानान्) लुटेरों को तथा (द्वयाविनः) दुमुखे कपटियोंको (अप दहन्) जलाता हुआ (उप प्रागात्) पास पहुंचा है ॥ १ ॥ हे अग्निदेव! (यातुधानान् प्रति दह) लुटेरों को जलादे तथा (किमीदिनः प्रति) सदा भूखोंको भी जलादे। हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण मार्गवाले अग्निदेव! (प्रतीचीः यातुधान्यः) संमुख आनेवाली लुटेरी स्त्रियोंको भी (संदह) ठीक जला दो ॥ २ ॥ यह दुष्ट लुटेरी स्त्रियां (शपनेन शशाप) शापसे शाप देती हैं, (या अघं मूरं आदधे) जो पाप ही प्रारंभसे स्वीकारती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरेभे) जन्मे हुए बालक को खाना आरंभ करती हैं और (सा अत्तु) वह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥ (यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अत्तु) पुत्र खाती है, (स्वसारं उत नप्त्यं) बहिन को तथा नाती को खाती है। (अथ) और (विकेश्यः)

केश पकड पकड कर (मिथः प्रतां) आपसमें झगडती हैं। (अराय्यः यातुधानीः) दानभाव-रहित घातकी स्त्री (विनूलन्तां) आपसमें मारपीट करती हैं ॥४॥

भावार्थ- रोग दूर करनेमें समर्थ अर्थात् उत्तम वैद्य, आसुर भावको हटाने वाला, अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक स्वार्थी लुटेरे तथा कपटियोंको दूर करता हुआ आगे चले॥१॥ हे उपदेशक! तू लुटेरे स्वार्थी दुष्टोंको नाश कर, तथा सामने आने वाली दुष्ट स्त्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥ २ ॥ इन दुष्टोंका लक्षण यह है, कि ये आपसमें गालियां देते रहते हैं, हरएक काम पाप हेतुसे करते हैं, यहांतक ये क्रूर होते हैं, कि रक्त पीने की इच्छासे नये उत्पन्न बालक को ही चूसना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥ इनकी स्त्री अपने पुत्रको खाती है, बहिन तथा नाती को भी खाती है, तथा एक दूसरेके बाल पकडकर आपसमें ही लडती रहती हैं ॥ ४ ॥

पूर्वापर संबंध ।

इसी प्रथम कांडके ७ तथा ८ वें सूक्तकी व्याख्या के प्रसंगमें धर्मप्रचार प्रकरणमें अग्नि देव किस प्रकार ब्राह्मण उपदेशक ही है, तथा वह किस प्रकार जलाता है अर्थात् दुष्टोंको सुधारता है, इत्यादि सब विषय अतिस्पष्ट कर दिया है। इसलिये इन ७ और ८ वें सूक्तके स्पष्टीकरण पाठक यहां पहिले पढें और पश्चात् यह सूक्त पढें।

संस्कृतमें " विदग्ध " (विशेप प्रकारसे जलाहुआ) यह शब्द " अति विद्वान् " के लिये प्रयुक्त होता है। यहां अज्ञान का दहन जलन आदि समझना उचित है। जिस प्रकार अग्नि लोहे आदि को तपाकर शुद्ध करता है उसी प्रकार उपदेशक द्वारा प्रेरित ज्ञानाग्नि अज्ञानी मनुष्योंके अज्ञान को जला कर शुद्ध करता है। इस कारण " ब्राह्मण "के लिये वेदमें "अग्नि" शब्द आता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के वाचक वेदमें " अग्नि और इन्द्र " प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणधर्म अग्नि देवताके और क्षात्रधर्म इन्द्र देवताके सूक्तोंसे प्रकट होता है, इत्यादि बातें विस्तारसे ७ और ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दी हैं। वही धर्म प्रचार की बात इस सूक्त में है इसलिये पाठक उक्त पूर्व सूक्तोंके साथ इस सूक्तका संबंध देखें।

इस सूक्तमें " अमीव - चातनः " (रोगोंका दूर करनेवाला) यह शब्द विशेषण रूपमें आया है। यह यहां चिकित्सा द्वारा रोग दूर सकने वाले वैद्यका बोध

करता है। उपदेशक जैसा शास्त्रमें प्रवीण चाहिये वैसाही वह उत्तम वैद्य भी चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगोंकी चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है। धर्म प्रचारक के अन्य गुण सूक्त ७, ८ में देखिये।

दुर्जनोंके लक्षण।

इस सूक्तमें दुर्जनोंके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक लक्षण कहे हैं जो सूक्त ७, ८ में कहे लक्षणोंकी पूर्ति कर रहे हैं; इस लिये उनका विचार यहां करते हैं—

१ द्वयाविन-मनमें एक भाव और बाहर एक भाव ऐसा कपट करनेवाले। (मं० १)

"किमीदिन्, यातुधान्" इन शब्दोंका भाव सूक्त ७, ८ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। इस सूक्तमें दुर्जनों के कई व्यवहार बताये हैं, वेभी यहां देखिये—

२ शपनेन शशाप- शापसे शाप देना, बुरे शब्द बोलना, गालियां देना इ०। (मं ३)

३ अघं मूरं आदधे = प्रारंभमें पापका भाव रखना है। हरएक काममें पाप [illegible] ही उसका प्रारंभ करना।

४ रसस्य हरणाय जातं तोकं आरेभे - रक्त पीनेके लिये नवजात बच्चेको खाती है।

५ यातुधानी पुत्रं स्वसारं नप्त्यं अत्ति = यह दुष्ट आसुरी स्त्री बच्चा बहिन अथवा नाती को खाती है।

६ विकेश्यः मिथः विघ्नतां, वितृहन्तां = आपसमें केश पकड कर परस्पर मार पीट करती है।

ये सब दुर्जन स्त्रीपुरुषोंके लक्षण हैं। बालबच्चोंको खाने वाले लोग इस समय अफ्रिका में कई स्थानों पर हैं, परंतु अन्य देशोंमें अब वे नहीं हैं। जहां कहीं वे हों, वहां धर्मोपदेशक चला जावे और उनको उपदेश देकर उत्तम मनुष्य बना देवे, आर्य बनावे, उनकी दुष्टता दूर करके उनको सज्जन बना देवे।

ऐसे मनुष्य-भक्षक दुष्ट क्रूर हिंसक मनुष्योंमें भी जाकर धर्मोपदेश देकर उनको सुधारनेका यत्न करनेका उपदेश होनेसे इससे कुछ सुधरे हुए, किंचित् [illegible] मनुष्योंमें धर्म जागृति करने का आदेश स्वयंही स्पष्ट हो जाता है।

दुष्टोंका सुधार।

दुष्ट लोगोंमें दुष्टता होनेके कारण ही वे [illegible]

आदि द्वारा हटाकर उनको सभ्य बनाना ब्राह्ममार्ग है और उनको दंड देकर डरावेसे उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्र मार्ग है । वेदमें अग्निदेवता से ब्राह्ममार्ग और इन्द्र देवतासे क्षात्र मार्ग बताया है । जलाते या तपाते तो दोनों ही हैं, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके अज्ञानको जलाता है और दूसरा शस्त्रदण्ड और इसीप्रकार के कठोर उपायोंसे पीडा देकर उनको सुधारता है ।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंडद्वारा तपाने के उपाय से ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्नि द्वारा तपानेका उपाय अधिक उत्तम है । और इसमें कष्ट भी कम हैं ।

पाठक अग्नि शब्द से आग का ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूक्त से न निकालें, क्यों कि इस सूक्तका संबंध आगेपीछेके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तों में अभीष्ट हैं यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है । इसके अतिरिक्त " रोग दूर करनेवाला अग्नि" इस सूक्तमें कहा है, यदि यह उन लोगोंको जलाही देवे तो उस के रोगमुक्त करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है । इस लिये यहां अग्निका जलाना " ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना" ही है । दुष्ट गुणधर्मोंको हटाना और वहां श्रेष्ठ गुण धर्म स्थापित करना ही यहां अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्यही धर्मोपदेशक का कार्य करे, यह सूचना इस सूक्तमें हमें मिलती है । क्यों कि रोगिके मनपर वैद्यके उपदेश का जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओं पर नहीं होता । रोगीका मन आतुर होता है इस लिये श्रवण की हुई उत्तम बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है ।

[यह तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें "अत्तु" शब्द है जिसका अर्थ "खावे" ऐसा होता है । परंतु " शशाप, आदधे " इन क्रियाओंके अनुसंधानसे " अत्तु " के स्थानपर "अत्ति" मानना युक्त है । क्यों कि यहां यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अघं आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोकं अत्ति) बच्चेको खाते रहते हैं, अर्थात् यह उनकी रीति है । पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है । तथापि पाठक अधिक योग्य और कोई अन्य भाव इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी ।]

इति पंचम अनुवाक समाप्त ।

(२९)

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता-अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥
अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥
अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥
अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥
उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ – हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) जिससे इन्द्रका विजय हुआ था, (तेन अभीवर्तेन मणिना) उस विजय करनेवाले मणिसे (अस्मान्) हमको (राष्ट्राय अभिवर्धय) राष्ट्रके लिये बढा दो ॥ १ ॥ (याः नः अरातयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नान्) वैरि-

आदि द्वारा हटाकर उनको सभ्य बनाना ब्राह्ममार्ग है और उनको दंड देकर डरावेसे उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्र मार्ग है । वेदमें अग्निदेवता से ब्राह्ममार्ग और इन्द्र देवतासे क्षात्र मार्ग बताया है । जलाते या तपाते तो दोनों ही हैं, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके अज्ञानको जलाता है और दूसरा शस्त्रदण्ड और इसीप्रकार के कठोर उपायोंसे पीडा देकर उनको सुधारता है ।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंडद्वारा तपाने के उपाय से ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्नि द्वारा तपानेका उपाय अधिक उत्तम है । और इसमें कष्ट भी कम हैं ।

पाठक अग्नि शब्द से आग का ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूक्त से न निकालें, क्यों कि इस सूक्तका संबंध आगेपीछेके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तों में अभीष्ट है यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है । इसके अतिरिक्त " रोग दूर करनेवाला अग्नि" इस सूक्तमें कहा है, यदि यह उन लोगोंको जलाही देवे तो उस के रोगमुक्त करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है । इस लिये यहां अग्निका जलाना " ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना" ही है । दुष्ट गुणधर्मोंको हटाना और वहां श्रेष्ठ गुण धर्म स्थापित करना ही यहां अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्यही धर्मोपदेशक का कार्य करे, यह सूचना इस सूक्तमें हमें मिलती है । क्यों कि रोगिके मनपर वैद्यके उपदेश का जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओं पर नहीं होता । रोगीका मन आतुर होता है इस लिये श्रवण की हुई उत्तम बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है ।

[यह तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें "अत्तु" शब्द है जिसका अर्थ "खावे" ऐसा होता है । परंतु " शशाप, आदधे " इन क्रियाओंके अनुसंधानसे " अत्तु " के स्थानपर "अत्ति" मानना युक्त है। क्यों कि यहां यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अघं आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोकं अत्ति) बच्चेको खाते रहते हैं, अर्थात् यह उनकी रीति है । पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है । तथापि पाठक अधिक योग्य और कोई अन्य भाव इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी ।]

इति पंचम अनुवाक समाप्त ।

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त ।

(२९)

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता-अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥
अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥
अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥
अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥
उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ – हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) जिससे इन्द्रका विजय हुआ था, (तेन अभीवर्तेन मणिना) उस विजय करनेवाले मणिसे (अस्मान्) हमको (राष्ट्राय अभिवर्धय)राष्ट्रके लिये बढा दो॥ १ ॥ (याः नः अरातयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नान्) वैरि-

आदि द्वारा हटाकर उनको सभ्य बनाना ब्राह्ममार्ग है और उनको दंड देकर डरावेसे उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षात्र मार्ग है । वेदमें अग्निदेवता से ब्राह्ममार्ग और इन्द्र देवतासे क्षात्र मार्ग बताया है । जलाते या तपाते तो दोनों ही हैं, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके अज्ञानको जलाता है और दूसरा शस्त्रदण्ड और इसीप्रकार के कठोर उपायोंसे पीडा देकर उनको सुधारता है ।

सुधार तो दोनोंसे होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंडद्वारा तपाने के उपाय से ब्राह्मणोंके ज्ञानाग्नि द्वारा तपानेका उपाय अधिक उत्तम है । और इसमें कष्ट भी कम हैं ।

पाठक अग्नि शब्द से आग का ग्रहण करके उससे दुष्टोंको जलानेका भाव इस सूक्त से न निकालें, क्यों कि इस सूक्तका संबंध आगेपीछेके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर ज्ञानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तों में अभीष्ट है यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है । इसके अतिरिक्त " रोग दूर करनेवाला अग्नि" इस सूक्तमें कहा है, यदि यह उन लोगोंको जलाही देवे तो उस के रोगमुक्त करनेके गुणसे क्या लाभ हो सकता है । इस लिये यहां अग्निका जलाना " ज्ञानाग्निसे अज्ञानताका जलाना" ही है । दुष्ट गुणधर्मोंको हटाना और वहां श्रेष्ठ गुण धर्म स्थापित करना ही यहां अभीष्ट है और इसीलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम वैद्यही धर्मोपदेशक का कार्य करे, यह सूचना इस सूक्तमें हमें मिलती है । क्यों कि रोगिके मनपर वैद्यके उपदेश का जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानसे श्रोताओं पर नहीं होता । रोगीका मन आतुर होता है इस लिये श्रवण की हुई उत्तम बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है ।

[यह तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें "अत्तु" शब्द है जिसका अर्थ "खावे" ऐसा होता है । परंतु " शशाप, आदधे " इन क्रियाओंके अनुसंधानसे " अत्तु " के स्थानपर "अत्ति" मानना युक्त है । क्यों कि यहां यातुधानोंकी रीति बताई है जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अघं आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोकं अत्ति) बच्चेको खाते रहते हैं, अर्थात् यह उनकी रीति है । पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अभीष्ट है ऐसा हमें प्रतीत होता है । तथापि पाठक अधिक योग्य और कोई अन्य भाव इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी ।]

इति पंचम अनुवाक समाप्त ।

(२९)

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता-अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥
अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥
अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥
अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥
उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ – हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) जिससे इन्द्रका विजय हुआ था, (तेन अभीवर्तेन मणिना) उस विजय करनेवाले मणिसे (अस्मान्) हमको (राष्ट्राय अभिवर्धय) राष्ट्रके लिये बढा दो ॥ १ ॥ (याः नः अरातयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नान्) वैरि-

योंको (अभिवृत्य) पराभूत करके, (यः नः दुरस्यति) जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो (पृतन्यन्तं) सेनासे हमपर चढाई करता है उस से (अभि अभि तिष्ठ) युद्ध करनेके लिये स्थिर हो जाओ ॥ २ ॥ (सविता देवः)सूर्य देवने तथा (सोमः)चंद्रमा देवने भी (त्वा)तुझे (अभि अभि अवीवृधत्) सब प्रकारसे बढाया है। (विश्वा भूतानि) सब भूत (त्वा अभि) तुझे बढा रहे हैं, जिससे तू (अभिवर्तः असासि) शत्रुको दबानेवाला हुआ है ॥ ३ ॥ (अभिवर्तः) शत्रुको घेरनेवाला,(अभिभवः) शत्रुका पराभव करनेवाला, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला यह (मणिः) मणि है। यह (सपत्नेभ्यः पराभुवे) प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये तथा (राष्ट्राय) राष्ट्रके अभ्युदयके लिये (मह्यं बध्यतां)मुझपर बांधा जावे ॥ ४ ॥ (असौ सूर्यः उदगात्) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, (इदं मामकं वचः उत) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, (यथा) जिससे (अहं शत्रुहः) शत्रुका नाश करनेवाला, (सपत्नहा) प्रतिपक्षिका घात करनेवाला होकर मैं (असपत्नः असानि) शत्रुरहित होऊं ॥ ५ ॥ (यथा) जिससे (अहं) मैं (सपत्न-क्षयणः) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, (वृषा) बलवान् और (विषासहिः) विजयी होकर (अभिराष्ट्रः) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्राप्त करके (एषां वीराणां) इन वीरोंका (जनस्य च) और सब लोगोंका (वि राजानि) विशेष प्रकारसे रंजन करने वाला राजा होऊं ॥ ६ ॥

भावार्थ-हे राष्ट्रके ज्ञानी पुरुषो ! जिस राजचिह्न रूपी मणिको धारण करके इन्द्र विजयी हुआ था, उसी विजयी मणिसे हमें राष्ट्रके हितके लिये बढाइये ॥ १ ॥ जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं उनको परास्त करनेके लिये; तथा जो हमसे बुरा व्यवहार करते हैं और जो हमपर सेना भेज कर चढाई करते हैं उनको ठीक करनेके लिये अपनी तैयारी करके होतो यह [illegible] ... द्र आदि देव तथा सब भूतमात्र तुझे सहायता अर्थको दबाले [illegible] ... सब शत्रुओंको दबानेवाला बन गया है ॥ ३ ॥ ॥ २ ॥ [illegible] ... राभव करनेवाला, प्रतिपक्षियोंको दूर करने- [illegible] वैरि [illegible] ... ये है। इस लिये प्रतिपक्षियोंका पराभव

करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये मुझपर यह मा
बांध दीजिये ॥ ४ ॥ जैसा यह सूर्य उदय हुआ है, वैसा यह मेरा वचन
प्रकट हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि जिससे मैं शत्रुका नाश करनेवाल
प्रतिपक्षियोंको दूर करनेवाला होकर शत्रु रहित हो जाऊं ॥ ५ ॥ मैं प्रति
पक्षियोंका नाश करके बलवान बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अ
कूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हि
साधन करूंगा ॥ ६ ॥

अनुसन्धान ।

यह सूक्त राज प्रकरण का है इस लिये इसी कांडके अपराजित गणके सब सूक्तों
साथ इसका विचार करना योग्य है । तथा आगे आनेवाले राज प्रकरणके सूक्तोंके सा
भी इसका संबंध देखने योग्य है । इससे पूर्व अपराजित गणके सूक्त २, १९, २०, २
ये आये हैं, इनके अतिरिक्त अभय गण, सांग्रामिक गणके सूक्तोंके साथ भी इ
सूक्तोंका विचार करना चाहिये ।

अभीवर्त मणि ।

जिस प्रकार राजाके चिन्ह राजदंड, छत्र, चामर आदि होते हैं उसी प्रकार
" अभीवर्त मणि " भी एक राजचिन्ह है । इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोल
जाता है ।

देवोंका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति है । यह पुरोहि
इन्द्रके शरीरपर यह अभीवर्त मणि बांधता है । अर्थात् राज पुरोहित ही राजाके शरीरप
यह राजचिन्ह रूपी मणि बांध देवे । यहां संबंध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि य
सूक्त संवाद रूप है । यह संवाद इस प्रकार है । देखिये—

इस सूक्तका संवाद ।

राजा—हे पुरोहित जी! जो अभीवर्त मणि इन्द्रके शरीर पर देव गुरु बृहस्पतिने बां
दिया था और जिससे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था, वह राजचिन्हरूपी मणि मेरे शरी
पर आप धारण कराइये, जिससे मैं राष्ट्रका वर्धन करनेमें समर्थ हो जाऊं ॥ १ ॥

पुरोहित — हे राजन्! जो अनुदार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं तथा जो हमारे राष्ट्र

साथ बुरा व्यवहार करते हैं और हमपर सैन्यसे चढाई करते हैं उनको परास्त करनेकी तैयारी करो ॥ २ ॥ सूर्य, चंद्र तथा सब भूत तुम्हारी सहायता कर रहे हैं, जिससे तू शत्रुको दबा सकता है ॥ ३ ॥

राजा = पुरोहित जी ! यह राजचिन्ह रूपी मणि शत्रुको घेरने, वैरीका पराभव करने और प्रतिपक्षियोंको हटाने का सामर्थ्य देनेवाला है। इसलिये विरोधियोंका पराभव और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्यमें मुझे समर्थ बनानेके लिये मुझपर यह मणि बांध दीजिये ॥ ४ ॥ जैसा सूर्य उदयको प्राप्त होता है वैसाही मेरेसे शब्दोंका प्रकाश होता है,इस लिये आप ऐसा करें कि जिससे मैं शत्रुका नाश कर सकूं ॥५॥ मैं बलवान् बनकर प्रतिपक्षियोंको दूर करूंगा और विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और राष्ट्रका हित करूंगा ॥ ६ ॥

पाठक यह संवाद विचारसे पढेंगे तो उनके ध्यानमें इस सूक्तका आशय शीघ्रतासे आसकेगा। राजा राजचिन्ह धारण करता है, उस समय पुरोहित राजासे प्रजाहितकी कुछ बातें करनेके लिये कहते हैं और राजा भी राष्ट्रहित करनेकी प्रतिज्ञा उस समय करता है। पुरोहित ब्राह्मशक्तिका और राजा क्षात्र शक्तिका प्रतिनिधि है। राष्ट्रकी ब्राह्मशक्ति पुरोहितके मुखसे राजकर्तव्यका उपदेश राजाको करती है, राजगद्दीपर राजाको रखना या न रखना राष्ट्रकी ब्राह्मशक्ति के आधीन रहना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मशक्तिके आधीन क्षात्रशक्ति रहनी चाहिये। यह बात यहां प्रकाशित होती है। ज्ञानी लोगोंपर शूरोंकी हुकुमत न रहे, परंतु शूर ज्ञानीलोगोंके आधीन कार्य करें। राष्ट्रकी (Civil & military) ब्राह्म तथा क्षात्र शक्ति एक दूसरेके साथ कैसा वर्ताव करे, यह इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है। ब्राह्मशक्ति द्वारा संमत हुआ राजा ही राजगद्दीपर आसकता है अन्य नहीं।

राजाके गुण।

इस सूक्त में जो राजाके गुण बताये हैं, वे निम्न शब्दों द्वारा पाठक देख सकते हैं—

१ **अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय** = हमारी शक्ति राष्ट्रकी उन्नति के लिये बढे अर्थात राजाके अंदर जो शक्ति बढती है वह राष्ट्रकी उन्नतिके लिये ही सार्थक में लगे, यही भाव राजाके अंदर रहे। अपनी बढी हुई तन मन धन आदि सब शक्ति अपने भोग के लिये नहीं है प्रत्युत राष्ट्रकी भलाई के लिये ही है यह जिस राजाका निश्चय होगा वही सच्चा राजा कहा जासकता है ॥ (मंत्र १)

२ राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे = राष्ट्रकी उन्नति और वैरियोंका पराभव करने के लिये राजचिह्नरूप मणि मेरे (राजाके) शरीर पर बांधाजावे। मणि आदि रत्न तथा अन्य राज चिन्ह जो राजा धारण करता है वह अपनी शोभा बढानेके लिये नहीं है. प्रत्युत वे केवल दो ही उद्देश्य के लिये हैं, (१) राष्ट्रकी उन्नति हो, और (२) जनताके शत्रु दूर किये जांय। राजाके अंदर यह शक्ति उत्पन्न करने के लिये ही उसपर राजचिन्ह चढाये जाते हैं। (मंत्र ४)

३ अभिराष्ट्रः- (अभितः राष्ट्रं यस्य) जिसके चारों ओर राष्ट्र है, ऐसा राजा हो। अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे, राष्ट्र के लिये रहे, राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे। राजाका हित राष्ट्रहित ही हो, और राष्ट्रका हित राजहित हो, अर्थात् दोनोंके हित संबंध में फरक न रहे। राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो। राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने सामने रखने वाले राजाका बोध इस शब्दसे होता है। जिस राजाके लिये अपनी जान देनेके लिये राष्ट्र तैयार होता है उस राजाका यह नाम है। यह शब्द आदर्श राजाका वाचक है। (मंत्र. ३)

४ शत्रुहा–शत्रुका नाश करने वाला। (मं० ५)

५ असपत्नः—अंदरके प्रतिपक्षी या विरोधी जिसको न हों। (मं. ५)

६ सपत्न-हा—प्रतिपक्षीका नाश करनेवाला. अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराभव करने वाला। (मंत्र ५) " सपत्न-क्षयणः " यह शब्दभी इसी अर्थ में (मं. ६ में) आया है।

७ वृषा–बलवान्। सब प्रकार के बलोंसे युक्त राजा होना चाहिये, अन्यथा वह परास्त होगा। (मं० ६)

८ विषासहिः – शत्रुके हमले होनेपर उनको सहन करके अपने स्थानसे पीछे न हटने वाला। (मं० ६)

९ वीराणां जनस्य च विराजानि–राष्ट्रके वीरोंका तथा राष्ट्रकी संपूर्ण जनता इन सब को संतुष्ट करनेवाला। (मं. ६)

१० प्रतिपक्षियोंको दबाना, वैरियोंका नाश करना, सेना के साथ चढाई करनेवाले का प्रतिकार करना और जो दुष्ट व्यवहार करता है उसको ठीक करना आदि राजाके कर्तव्य (मं० २) में कहे हैं।

ये दस कर्तव्य राजाके इस सूक्तमें कहे हैं ये सब मनन करने योग्य हैं। ये सब कर्तव्य वही भाव बता रहे हैं कि राजा अपने भोग के लिये राजगद्दीपर नहीं आता है, प्रत्युत राष्ट्रके हित करनेके लिये ही आता है। यदि राजालोग इस सूक्त का अधिक मनन करके अपने लिये योग्य बोध लेंगे तो बहुत ही उत्तम होगा।

राजचिह्न।

छत्र, चामर, राजदण्ड, मणि, रत्न, रत्नमाला, मुकुट, विशेष कपडेलत्ते, राजसभा का ठाठ, हाथी, घोडे आदि सब जो राजचिन्ह करके समझे जाते हैं, इन चिन्होंके धारण करनेसे जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पडता है और उस प्रभाव के कारण राजाके इर्द गिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिन्हमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिन्ह धारण करनेवाले साधारण सिपाहीमें भी अन्य सामान्य जानोंकी अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है; इसी प्रकार उक्त चिन्होंके कारण अमूर्त्त राज शासन का एक विशेष प्रभाव जनता पर पडता है जिस कारण राजा शक्तियोंका केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिन्होंसे और संपूर्ण ठाठ से राजा जाता है उस समय उसका बडा भारी प्रभाव सामान्यजनता पर पडता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है। इस सूक्त के चतुर्थ मंत्रमें " यह मणि ही शत्रुनाश करने वाला, प्रभाव बढानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है " इत्यादि कहा है, उसका भाव उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। सिपाहीकी शक्ति उसके चिन्हों से ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक विशेष भावनासे ही उत्पन्न होती है। संपूर्ण राजचिन्हों की शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है। अस्तु, अब शत्रुके लक्षण देखिये—

शत्रुके लक्षण।

इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है—

१ यः दुरस्याति = जो दुष्ट व्यवहार करता है । (मं. २)

२ सपत्नः = भिन्न पक्षका मनुष्य । राष्ट्रमें जितने पक्ष होंगे, उतने पक्षवाले आपस में सपत्न होंगे । सपत्न शब्द (Party Politics)पक्ष भेदका राजकारण बता रहा है ।

३ अरातिः = अनुदार, जो मनमें श्रेष्ठ भाव नहीं रखता ।

४ पृतन्यन् = सैन्यसे चढाई करनेवाला ।

इन शब्दोंके विचार से शत्रुका पता लग सकता है । इनमें कई अंदरके शत्रु हैं और कई बाहरके हैं ।

सबकी सहायता ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि " सूर्य चंद्र और सब भूतमात्र जिस राजाके सहायक होते हैं वह शत्रुको पराजित करता है ॥ " (मं० ३) इसमें सूर्य चंद्र आदि शब्द बाह्य सृष्टिकी सहायता बतारहे हैं, (Nature's help) निसर्गकी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्त्व पूर्ण भाग है । राष्ट्रकी रचना ही ऐसी हो कि जहां शत्रुका प्रवेश सुगमता से न हो सके । यह एक शक्ति ही है ।

दूसरी शक्ति (विश्वा भूतानि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है । पंचमहाभूतोंसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे ज्ञात हो सकती है । " भूत " शब्दका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ " प्राणी, मनुष्य " ऐसा होता है । जिस राजाके राष्ट्रके सब प्राणी और सब मनुष्य सहायक हों, उसकी शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या संदेह है ? यही सब जनताकी शुभ इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलंबित है ॥

वैदिक राज प्रकरण के विषयमें इस सूक्तमें बडा अच्छा उपदेश है । यदि पाठक अधिक मनन करेंगे तो उनको राज प्रकरण के बहुत उत्तम निर्देश इस सूक्तमें मिल सकते हैं ।

केवल राष्ट्रके लिये ।

इस सूक्तके अंदर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहां विचार करना आवश्यक है । इस से पाठकों को इस बातका भी पता लग जायगा कि वेदके विशेष उपदेशों में भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त होते हैं । देखिये प्रथम मंत्रमें कहा है—

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय । (मंत्र १)

इसका अर्थ— " हमें राष्ट्रके लिये बढाओ " अर्थात् हमारी उन्नति इस लिये करो कि हम राष्ट्रहित साधन करने के योग्य बनें। हमारा शरीर सुदृढ हो, हमारी आयु दीर्घ हो, हमारे इंद्रिय अधिक कार्य क्षम बनें, हमारा मन मननशक्ति से युक्त हो, हमारी बुद्धी ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आत्मिक बल बढे, तथा हमारी कौटुंबिक, सामाजिक तथा अन्यान्य शक्तियां बढें। ये सब शक्तियां इस लिये बढें कि इन के योगसे हमारा राष्ट्र अभ्युदयसे युक्त हो। इन शक्तियों की वृद्धि इसलिये नहीं करनी है कि इनसे केवल व्यक्तिका ही सुख बढे, केवल एक जातीके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलके पास परम अधिकार हो जाय; परंतु ये शक्तियां इस लिये बढानी चाहियें कि इन के संयोगसे राष्ट्रकी प्रगती हो, राष्ट्रकी उच्चता हो।

सामान्य अर्थ देखनेके समय इस प्रथम मंत्रका " अस्मान् " शब्द बडा महत्व रखता है। इसका अर्थ होता है " हम सबको "। अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हित के लिये वृद्धिंगत करो। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एक की ही उन्नति या किसी एक की शक्तिका विकास ही यहां अपेक्षित नहीं है, परंतु सबकी शक्तिका विकास यहां अपेक्षित है। राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रजाजनोंकी शक्तिका विकास करना है वह हरएक प्रजाजन का, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए, करना चाहिये। अर्थात् जातिविशिष्ट या संघविशिष्ट पक्षपातके लिये यहां कोई स्थान रहना नहीं चाहिये।

जो मैं करता हूं वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो यही भाव हरएक के मनमें रहना चाहियें।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां।

सपत्नेभ्यः पराभुवे॥ (मं० ४)

" मुझे राष्ट्रके लिये बांध दे ताकि मैं राष्ट्रके शत्रुओंका पराभव कर सकूं। " यह भाव मनमें धारण करना चाहिये। मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊँ, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा संबंध जुड जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जीवित रहूं, इत्यादि प्रकारके भाव उक्त मंत्रमें हैं। जो जिसके साथ बांधा जाता है वह उसीके साथ रहता है। यदि स्वराष्ट्राभिमानसे मनुष्य राष्ट्रके साथ एक वार अच्छी प्रकार कसकर बांधा जाय तो वह वहांसे नहीं हटेगा। इसी प्रकार

नुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांधे जांय और ऐसा परस्पर संबंध जडनेके कारण राष्ट्रमें पूर्व संघ शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदको अभीष्ट है।

हरएक मनुष्य "अभिराष्ट्र" (मं ६) बने अर्थात् राष्ट्रहित करनेका ध्येय अपने न्मुख रखे। वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके सन्मुख अपने ाष्ट्रके अभ्युदयका विचार जाग्रत रहे। इस प्रकार जिसके मनके सामने राष्ट्रका विचार दा जाग्रत रहता है, उसीको वेद "अभिराष्ट्र" कहता है। (अभितः राष्ट्रं) अपने ारों ओर अपना राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने संमुख अपने राष्ट्रको खने वाला जो होता है उसका यह नाम है।

"राष्ट्र" का अर्थ।

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनता का वाचक वेदमें नहीं है। केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्य समाजका बोध "राष्ट्र" शब्द से वेदमें नहीं होता है। इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु वेद जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र कितने होंगे इसका विचार पाठकोंको अवश्य करना चाहिये। वेदमें "राष्ट्र" शब्द "(राजते तत् राष्ट्रं) जो चमकता है, वह राष्ट्र है" इस अर्थका बोधक है। जो मनुष्योंका समुदाय भूमंडल पर अपने कमाये यशसे चमकता है और सब अन्य लोगोंके आंख अपनी ओर खींच सकता है, वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है। अन्य मानवी समुदाय राष्ट्र नहीं हैं। इस प्रकारका राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बडा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा। परंतु जो विस्तारसे अति प्रचंड हो, परंतु यशकी दृष्टिसे जिसमें चमकाहट न हो तो वह राष्ट्र नहीं होगा। वैदिक धर्मियोंको अपने परिश्रमसे अपने राष्ट्रमें इस प्रकार का तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, तभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा। वेदमें राष्ट्रवर्धन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है। पाठक जिस समय इन सूक्तोंका विचार करने लगें उस समय आगे पीछेके राष्ट्रीय सूक्तोंका संबंध अवश्य देखें और सब उपदेशका इकट्ठा मनन करें।

पाठक इस प्रकार मंत्रोंके सामान्य उपदेशोंमें अधिक मनन करके बोध उठावें। वेदमें राष्ट्र हितके उपदेश किस प्रकार स्पष्ट मिलते हैं यह इस रीतिसे पाठक देख सकते हैं

आयुष्य--वर्धन--सूक्त।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा आयुष्कामः। देवता—विश्वे देवाः)

विश्वे॑ दे॒वा वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒मम॒ुताऽऽदि॑त्या जागृ॒त यू॒यम॒स्मिन्।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॑त् पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥ १ ॥

ये वो॑ देवाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणु॒तेदमु॒क्तम्।
सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ ॥ २ ॥

ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒न्तः।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान्परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून् ॥ ३ ॥

येषां॑ प्रया॒जा उ॒त वा॑नुया॒जा हु॒तभा॑गा अहु॒ताद॑श्च दे॒वाः।
येषां॑ वः॒ पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ विभ॑क्ता॒स्तान्वो॑ अ॒स्मै स॑त्र॒सदः॑ कृणोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वे देवाः) सब देवो ! हे (वसवः) वसुदेवो ! (इमं रक्षत) इसकी रक्षा करो। (उत) और हे (आदित्याः) आदित्य देवो ! (यूयं अस्मिन् जागृत) तुम इसमें जागते रहो। (इमं) इस पुरुषको (सनाभिः) अपने बंधुका (उत वा अन्य-नाभिः) अथवा किसी दुसरेका (वधः मा प्रापत्) वधकारक शस्त्र न प्राप्त करे, न प्रहार करे तथा (यः पौरुषेयः वधः) जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातपात है वह भी (इमं मा प्रापत्) इस को प्राप्त न करे ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवो ! (ये वः पितरः)

जो आपके पिता हैं तथा (च ये पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब (स-चेतसः) सावधान होकर (मे इदं उक्तं शृणुत) मेरा यह कथन श्रवण करें। (सर्वेभ्यो वः एतं परिददामि) सब आपकी निग्राणीमें इसको मैं देता हूं (एनं जरसे स्वस्ति वहाथ) इसको वृद्ध आयुतक सुखपूर्वक पहुंचा दो ॥ २ ॥ (ये देवाः दिवि स्थ) जो देव द्युलोकमें हैं, (ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्षे) जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं, और जो (ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः) औषधि, पशु और जलोंके अंदर हैं (ते अस्मै जरसं आयुः कृणुत) वे इसके लिये वृद्धावस्थावाली दीर्घ आयु करें। यह पुरुष (शतं अन्यान् मृत्यून् परिवृणक्तु) सैंकडों अन्य अपमृत्यु को हटादेवे ॥ ३ ॥ (येषां) जिन तुम्हारे अंदर (प्रयाजाः) विशेष यजन करनेवाले, (उत वा अनु-याजाः) अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा (हुत-भागाः अहुतादः च देवाः) हवनमें भाग रखनेवाले और हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं, (येषां वः पञ्च प्रदिशः विभक्ताः) जिन आपकी ही पांच दिशायें विभक्त की गई हैं, (तान् वः) उन तुमको (अस्मै) इस पुरुष की दीर्घ आयुके लिये (सत्र-सदः कृणोमि) सदस्य करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सब देवो, हे वसु देवो ! मनुष्यकी रक्षा करो ! हे आदित्य देवो ! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो। मनुष्यका उसीके बंधुसे अथवा कोई अन्य मनुष्यसे अथवा कोई पुरुषसे वध न हो ॥ १ ॥ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनें ! मनुष्यको दीर्घ आयु तक ले जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी दीर्घ आयु करो ॥ २ ॥ जो देव द्युलोक, अंतरिक्षलोक, भूलोक, औषधि, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्यकी दीर्घ आयु करें। तुम्हारी सहायतासे मनुष्य सैकडों अपमृत्युसे बचें ॥ ३ ॥ विशेष याजन करनेवाले, अनुकूल याजन करनेवाले, हवन का भाग लेनेवाले तथा हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएं विभक्त की हैं, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुष्यवर्धन करनेके [illegible] मनुष्यकी आयु दीर्घ बनाने में सहायता करें ॥ ४ ॥

आयुष्य-वर्धन-सूक्त।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा आयुष्कामः । देवता—विश्वे देवाः)

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् ।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥ १ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्यैनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान्परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वे देवाः) सब देवो ! हे (वसवः) वसुदेवो ! (इमं रक्षत) इसकी रक्षा करो। (उत) और हे (आदित्याः) आदित्य देवो ! (यूयं अस्मिन जागृत) तुम इसमें जागते रहो। (इमं) इस पुरुषको (सनाभिः) अपने बंधुका (उत वा अन्य-नाभिः) अथवा किसी दुसरेका (वधः मा प्रापत्) वधकारक शस्त्र न प्राप्त करे, न प्रहार करे तथा (यः पौरुषेयः वधः) जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातपात है वह भी (इमं मा प्रापत्) इस को प्राप्त न करे ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवो ! (ये वः पितरः)

जो आपके पिता हैं तथा (च ये पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब (स-चेतसः) सावधान होकर (मे इदं उक्तं श्रृणुत) मेरा यह कथन श्रवण करें। (सर्वेभ्यो वः एतं परिददामि) सब आपकी निग्राणीमें इसको मैं देता हूं (एनं जरसे स्वस्ति वहाथ) इसको वृद्ध आयुतक सुखपूर्वक पहुंचा दो ॥ २ ॥ (ये देवाः दिवि स्थ) जो देव द्युलोकमें हैं, (ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्षे) जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं, और जो (ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः) औषधि, पशु और जलोंके अंदर हैं (ते अस्मै जरसं आयुः कृणुत) वे इसके लिये वृद्धावस्थावाली दीर्घ आयु करें। यह पुरुष (शतं अन्यान् मृत्यून् परिवृणक्तु) सैंकडों अन्य अपमृत्यु को हटादेवे ॥ ३ ॥ (येषां) जिन तुम्हारे अंदर (प्रयाजाः) विशेष यजन करनेवाले, (उत वा अनु-याजाः) अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा (हुत-भागाः अहुतादः च देवाः) हवनमें भाग रखनेवाले और हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं, (येषां वः पञ्च प्रदिशः विभक्ताः) जिन आपकी ही पांच दिशायें विभक्त की गई हैं, (तान् वः) उन तुमको (अस्मै) इस पुरुष की दीर्घ आयुके लिये (सत्र-सदः कृणोमि) सदस्य करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सब देवो, हे वसु देवो ! मनुष्यकी रक्षा करो ! हे आदित्य देवो ! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो। मनुष्यका उसीके बंधुसे अथवा कोई अन्य मनुष्यसे अथवा कोई पुरुषसे वध न हो॥ १ ॥ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनें ! मनुष्यको पूर्ण दीर्घ आयु तक ले जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी दीर्घ आयु करो ॥ २ ॥ जो देव द्युलोक, अंतरिक्षलोक, भूलोक, औषधि, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्यकी दीर्घ आयु करें। तुम्हारी सहाय-तासे मनुष्य सैंकडों अपमृत्युसे बचें ॥ ३ ॥ विशेष याजन करनेवाले, अनुकूल याजन करनेवाले, हवन का भाग लेनेवाले तथा हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएं विभक्त की हैं, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुष्यवर्धक सभाके सदस्य बनें और मनुष्यकी आयु दीर्घ बनाने में सहायता करें ॥ ४ ॥

आयुका संवर्धन ।

मनुष्य का आयुष्य न केवल पूर्ण होना चाहिये प्रत्युत अतिदीर्घ होना चाहिये । पूर्ण आयुष्यकी मर्यादा तो १२० वर्षोंकी है, इससे कम १०८ वर्षकी और इससे कम १०० सौ वर्षकी है । सौ वर्षकी मर्यादा तो हरएक को प्राप्त होनी ही चाहिये, परंतु उसके प्रयत्न इससे अधिक आयुष्य प्राप्त करनेकी ओर होने चाहियें इसका सूचक मंत्र यह है–

भूयश्च शरदः शतात् । यजुर्वेद. ३६ । २४

सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त हो । १२० वर्षोंसे अधिक आयु जितनी भी होगी वह दीर्घ या अतिदीर्घ संज्ञाको प्राप्त होगी । अर्थात् अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना वैदिक धर्मके अनुकूल है । इस दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति की वैदिक रीति इस सूक्तमें दर्शाई है, इसलिये पाठक इस सूक्तका विचार करें तथा जो जो सूक्त इस विषयके साथ संबंध रखनेवाले हैं उनकाभी मनन इसके विचारके साथ करें ।

सामाजिक निर्भयता ।

दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति के लिये समाजमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिमें, तथा धार्मिक और अन्यान्य दृष्टियोंसे निर्भयता रहना अत्यंत आवश्यक है । निर्भयता सुरक्षितता न रहेगी तो मनुष्य दीर्घायु हो नहीं सकते । समाजमें कोई एक दूसरे पर हमला करने- वाला न हो, इस प्रकार का समाज बनना चाहिये । राजनैतिक कारण से हो, धर्मके नामपर हो, अथवा किसी दूसरे निमित्तसे हो, कानून अपने हाथ में लेकर एक दूसरे पर हमला करना किसीको भी उचित नहीं है, यह दर्शाने के लिये प्रथम मंत्रका उत्तरार्ध है, इसका आशय यह है—

" इस मनुष्यका वध कोई सजातीय, अन्य जातीय या कोई अन्य मनुष्य किसी साधनसे न करे ॥ " (मंत्र१)

यह वेदका उपदेश मनुष्य मात्र के लिये है, हरएक मनुष्य यह ध्यानमें रखे और अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करे । " मैं किसी का वध न करूंगा, किसी दूसरेकी हिंसा में नहीं करूंगा । मैं अहिंसा वृत्तिसे आचरण करूंगा । " यह प्रतिज्ञा हरएक मनुष्य करे और तदनुकूल आचरण करें ।

इस मंत्रमें जो शांति वर्णन की है वह मनुष्य मात्रमें स्थिर रहनी चाहिये, यह बुनियाद है और इसी अहिंसा वृत्तिपर दीर्घायुका मंदिर खडा होना है। जबतक मनुष्यमें हिंसक वृत्ति रहेगी तब तक वह दीर्घायु बन नहीं सकता। घातपात करनेकी वृत्ति, क्रोधकी लहर, दूसरे का खून करनेकी वासना, दूसरे को दबा कर अपनी धनसंपत्ति बढानेकी अभिलाषा जबतक रहेगी तब तक मनुष्यकी आयु क्षीण ही होती जायगी। इस लिये वध करनेकी वृत्ति अपने समाजमें से दूर करनेका यत्न मनुष्य प्रथम करें।

देवोंके आधीन आयुष्य।

मनुष्यका समाज जितना अहिंसावृत्तिवाला होगा उतनी उसकी आयुष्यमर्यादा दीर्घ होसकती है। यह बात जितनी सिद्ध होगी उतनी सिद्ध करके आगे का मार्ग आक्रमण करना चाहिये। आगेका मार्ग यह है कि- " अपना आयुष्य देवोंके आधीन है, देव हमारी रक्षा कर रहे हैं " यह भाव मनमें धारण करना। इसकी सूचना प्रथम मंत्रके पूर्वार्धने दी है, उसका आशय यह है--

" हे सब वसु देवो! मनुष्यकी रक्षा करो। हे सब आदित्यो! मनुष्यमें जागते रहो। " (मंत्र१)

इस मंत्रमें भी दो भाग हैं। पहिले भागमें वसु देवोंकी रक्षक शक्तिके साथ संबंध बताया है और दूसरे भागमें आदित्य देवोंको मनुष्यके अंदर, मनुष्यके देहमें, जाग्रत रहनेकी सूचना दी है। ये दोनों बातें दीर्घ आयु करनेके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। अब इनका संबंध देखिये--

सबसे पहिले मनुष्य यह विचार मनमें धारण करे कि संपूर्ण देव मेरी रक्षा कर रहे हैं, परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु मेरी रक्षा कर रहा है और उसकी आधीनता में सूर्यादि सब देव सदा मेरी रक्षा कर रहे हैं। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं इसलिये मेरा परमपिता परमात्मा मेरी रक्षा करता था, करता है और करतारहेगा। परमात्माके आधीन अन्य सब देव होनेके कारण देवभी उस परमात्माके पुत्रकी रक्षा अवश्य करेंगे ही।

इस प्रकार संपूर्ण देव मेरा संरक्षण करते हैं इसलिये मैं निर्भय हूं यह विचार मनमें दृढ करके मनके अंदर जो जो चिंताके विचार आयेंगे उनको हटाना चाहिये और विश्वाससे मनकी ऐसी दृढ अवस्था बनानी चाहिये कि जिसमें चिंताका विचार ही न

उठे और चिंतारहित निर्भय होनेके भाव आनंद वृत्तिके साथ मनमें रहें। दीर्घायुष्यके लिये इस प्रकार परमात्मापर तथा अन्यान्य देवोंकी संरक्षक शक्तिपर अपना पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, अन्यथा दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना असंभव है।

कई पाठक शंका करेंगे कि अन्यान्य देव हमारी रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं? इस विषयमें इससे पूर्व कई स्थानोंपर उल्लेख आगया है। तथापि संक्षेपसे यहांभी इसका विचार करते हैं। पाठक जानते ही हैं कि प्रथम मंत्रमें "वसु" देवोंका उल्लेख है, ये सब जगत् के निवासक देव होनेके कारण ही इनको "वसु" कहते हैं। सबके जो निवासक होते हैं वे सबकी रक्षा अवश्य ही करेंगे।

सब वसुओंका भी परम वसु परमात्मा है क्यों कि वह जैसा सब जगत् को वसाता है इसी प्रकार जगत् के संरक्षक सब देवोंको भी वसाता है। उसके बाद पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये अष्टवसु हैं ऐसा कहा जाता है। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, आदि के साथ हमारे क्षणक्षण के आयुष्यका संबंध है, इनमें से एक का भी संबंध हमसे टूट गया तो हमारा नाश होगा। इतना महत्त्व इनका है और इसी कारण इनके रक्षण में सदा मनुष्य रहता है ऐसा ऊपरवाले मंत्रमें कहा हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि मनुष्य की रक्षा इन देवोंके कारण हो रही है और अति निःपक्षपातसे हो रही है। ये देव कभी किसी का पक्षपात नहीं करते हैं। सूर्य सब पर एकसा प्रकाशता है, वायु सबके लिये एकसा बह रहा है, जल सबके लिये आकाशसे गिरता है, पृथ्वी सबको समानतया आधार दे रही है, इस प्रकार ये सब देव न केवल सबकी रक्षा कर रहे हैं प्रत्युत सबके साथ निःपक्षपात का भी बर्ताव कर रहे हैं।

हमारे जीवन के साथ इनका संबंध इतना घनिष्ठ है कि इनके विना हमारा जीवन ही अशक्य है। वायुके विना प्राण धारणा कैसी होगी? सूर्य के विना जीवनही असंभव होगा, इत्यादि प्रकार पाठक देखें और मनमें निश्चयपूर्वक यह बात धारण करें कि परमात्माके नियमके आधीन रहते हुए ये सब देव हमारी रक्षा कर रहे हैं।

हम क्या करते हैं?

सब देव तो हमारी रक्षा कर ही रहे हैं, परंतु हम क्या कर रहे हैं, हम उनकी रक्षा में रहनेका यत्न कर रहे हैं या उनकी रक्षासे बाहर होनेके यत्न में हैं? इसका विचार

पाठकोंको करना चाहिये। देखिये, परमात्माकी और देवोंकी रक्षासे हम कैसे बाहर जाते हैं—परमात्मापर जो विश्वास ही नहीं रखते वे परमात्माकी रक्षा से बाहर हो जाते हैं। दयामय परमात्मा तो भी उनकी रक्षा करता ही रहता है यह उनकी ही अपार दया है, परंतु ये अविश्वासी लोग उनकी अपार दयासे लाभ नहीं उठाते। अविश्वासके कारण जितनी हानि है, किसी अन्य कारणसे नहीं हो सकती। दीर्घ आयुकी प्राप्ति के लिये इसी कारण मनमें परमात्मविषयक दृढ विश्वास चाहिये।

इसके बाद सूर्य अपने प्रकाश से सबको जीवनामृत देनेद्वारा सब की रक्षा करही रहा है, परंतु मनुष्य सूर्य प्रकाशसे दूर रहते हैं, तंग गलियोंके तंग मकानोंमें रहते हैं, दिनभर कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं और इस प्रकार सूर्यदेवकी संरक्षक शक्तिसे अपने आपको दूर रखते हैं। इनके लिये भगवान् सहस्ररश्मी सूर्यदेव क्या कर सकते हैं? इसी प्रकार वायु और जल आदि देवोंके विषय में समझना उचित है। ये देव तो सबकी रक्षा करही रहे हैं परंतु मनुष्योंको भी चाहिये कि वे इनकी उत्तम रक्षासे अपने आपको दूर न रखें और जहांतक होसके उतना प्रयत्न करके उनकी रक्षामें अपने आपको अधिक रखें।

पाठक यहां समझही गये होंगे कि संपूर्ण देव मनुष्यमात्र की किस रीतिसे रक्षा कर रहे हैं और मनुष्य उनकी रक्षासे किस प्रकार दूर होते हैं और स्वयं अपना नुकसान किस प्रकार कर रहे हैं।

आदित्य देवोंकी जाग्रती।

इस प्रथम मंत्रमें दीर्घ आयुष्य वर्धक एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है- " हे आदित्य देवो! इस मनुष्यमें जाग्रत रहो!" मनुष्यके अंदर आदित्य से ही सब जीवन शक्ति आरही है। यह जीवन शक्ति जैसी मनुष्यमें कार्य करती है उसी प्रकार सब जगत्में कार्य कर रही है। इसी शक्तिसे सब जगत् चल रहा है। परंतु यहां मनुष्य का ही हमें विचार करना है। मनुष्यमें यह आदित्य शक्ति मस्तिष्कमें रहती है, नेत्र में रहती है और पेट में रही है। मस्तिष्क में मज्जाकेंद्र चलाती है, पेटमें पाचक केंद्र को चेतना देती है और नेत्रमें देखनेका व्यापार करती है। इनमें से कोई भी आदित्य शक्ति कम हुई तो भी मनुष्यका आयुष्य घटता जायगा। मस्तिष्क का मज्जाकेंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो संपूर्ण शरीर चेतना रहित हो जाता है, [illegible]

जो जो प्रयत्न किये, उनका फल ही ये सब चिकित्साएं हैं। आजकल भी इस दिशासे विविध प्रयत्न हो रहे हैं। इन देवताओंमें विविध और अनंत शक्तियां हैं, उनकी समाप्ति नहीं होगी, इसलिये मनुष्योंको विविध रीतिसे यत्न करके इन देवताओंसे विशेष लाभ उठानेके लिये यत्न करना चाहिये। इतने प्राचीन कालमें ऋषिलोग यह उद्योग करते थे और लाभ उठाते थे और दीर्घजीवी भी बने थे। यह सिलसिला टूट गया है, तथापि आजकल प्रयत्न करनेपर उसी मार्गसे बहुत खोज होना संभव है। जो पाठक इस क्षेत्रमें कार्य कर सकते हैं कार्य करें और विद्याकी उन्नति करें तथा यशके भागी बनें। अस्तु। इस प्रकार इन देवताओं की शक्ति अपने अंदर लेने और उस शक्तिको अपने अंदर स्थिर करनेसे मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है।

साधारणसे साधारण प्रयत्नसे भी बडा लाभ हो सकता है। जैसा सूर्य किरणों में अपना नंगा शरीर तपानेसे, वायु में नगें शरीर घूमनेसे, जलमें तैरनेसे, उत्तम औषधियोंका रस पीनेसे और गोदुग्ध आदिके सेवनसे साधारण परिस्थितिमें रहने वाले मनुष्य भी बहुत लाभ उठा सकते हैं। फिर जो विविध यंत्र निर्माण द्वारा इन दैवी शक्तियोंसे अधिक लाभ उठानेका पुरुषार्थ करेंगे उनके विषयमें क्या कहना है। इस प्रकार ये देवताएं गौके समान हैं, इससे जितना दूध दोहना चाहो आप उतना दुह सकते हैं। इनमें अखंड अमृत रस भरा है। जो जितना पुरुषार्थ करेगा, उसको उतना अमृत मिलेगा और वह उतना अमर होगा।

देवताओंके चार वर्ग।

इस प्रकार तीन मंत्रोंमें देवताओंसे अमृतरस प्राप्त करने द्वारा अमरत्व प्राप्त करने अर्थात् दीर्घायु बननेके अनुष्ठान का स्वरूप बतानेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रमें देवताओंके चार वर्गोंका वर्णन किया है और इन देवताओंको अपने सहकारी सदस्य बनानेका उपदेश दिया है। इस चतुर्थ मंत्रका आशय यह है—

" देवोंमें प्रयाज, अनुयाज, हुतभाग और अहुताद ये चार वर्गके देव हैं। इन देवोंसे ये पांचों दिशाएं विभक्त हुई हैं। ये सब देव मनुष्यके सहकारी सभ्य बनें।" (मंत्र४)

इन चार वर्गोंके देवोंके लक्षण इनके वाचक शब्दोंसे ही व्यक्त होते हैं। ये लक्षण देखिये-

१ प्रयाजाः– विशेष यजन करने वाले,

२ अनुयाजाः– अनुकूल यजन करने वाले,

३ हुतभागाः– हवन का भाग लेने वाले,

४ अहुतादः–हवनका भाग न खानेवाले।

पाठक इन देवोंको अपने शरीरमें सबसे प्रथम देखें– (१) जिनपर इच्छा शक्तिका परिणाम नहीं होता, परंतु जो अवयव अपनी ही गतिसे कार्य करते हैं उन अवयवों का नाम प्रयाज है, जैसे हृदय आदि अवयव। (२) जो अवयव अपनी इच्छा शक्ति से अनुकूल कार्य में लगाये जा सकते हैं उनको अनुयाज कहते हैं, जैसे हाथ, पांव, आंख आदि। (३) हुतभाग वह इन्द्रिय हैं जो भोग की इच्छुक हैं और कार्य करने से थकती हैं और विश्रामसे तथा अन्नरस मिलनेसे पुष्ट होती हैं। (४) शरीरमें अहुताद केवल ग्यारह प्राणही हैं, क्योंकि ये प्राण शरीर में सदा कार्य करते हैं और स्वयं कुछभी भोग नहीं लेते, जन्मसे लेकर मरनेतक बराबर कार्य करते हैं।

इस प्राणका वर्णन तथा अन्य इन्द्रियोंका वर्णन इसी प्रकार उपनिषदोंमें किया है। प्राणाग्निहोत्र उपनिषदमें शरीर यज्ञके प्रयाज और अनुयाज का वर्णन इस प्रकार है–

शारीरयज्ञस्य ···· के प्रयाजाः केऽनुयाजाः ॥

महाभूतानि प्रयाजाः ॥

भूतान्यनुयाजाः ॥   प्राणाग्निहोत्र० ॥ ३ — ४

शरीरमें चले हुए यज्ञके प्रयाज और अनुयाज कौन हैं? महाभूत प्रयाज और भूत अनुयाज हैं। इसीप्रकार हुतभाग और अहुताद विषयक वर्णन उपनिषदोंमें तथा ब्राह्मणों में लिखा है जिसका तात्पर्य ऊपर दियाही है।

इसी आभ्यंतर यज्ञका नकशा बाह्य यज्ञमें किया जाता है. उसका वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनुयाजों से प्रयाज अधिक महत्त्व के हैं तथा हुतभागों से अहुताद विशेष महत्त्व रखते हैं। जो शरीर शास्त्र जानते हैं उनको इसका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्यों कि वे जानते ही हैं कि इच्छा शक्तिकी नियंत्रणासे चलनेवाले हस्तपादादि अवयवोंकी अपेक्षा अनिच्छासे कार्य करनेवाले हृदयादि अंतरावयव अधिक महत्त्वके हैं। तथा अहुताद अर्थात् कुछभी भोग न लेते हुए जन्मसे मरने-तक अविश्रान्त कार्य करनेवाले प्राणादिक अधिक श्रेष्ठ हैं और [illegible]

ज्ञान हो और हम (सूर्यं ज्योक् एव दृशेम) सूर्य को बहुत काल तक देखते रहें अर्थात् हम दीर्घायुषी हों ॥ ४ ॥

भावार्थ—चार दिशाओंके चार अमर दिक्पाल हैं, वे इस बने हुए जगत्के अध्यक्ष हैं। उनकी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥ चार दिशाओंके चार दिक्पाल हैं, वे हमें हरएक पापसे बचावें और दुर्गतिसे भी हमारा छुटकारा करें॥ २ ॥ मैं न थकता हुआ उनका सत्कार करता हूं, लंगडा लूला न बन कर मैं उनको घी देता हूं, जो इन चार दिक्पालोंके चतुर्थ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्था तक पहुंचावे ॥ ३ ॥ हमारे माता पिता, हमारे अन्य इष्टमित्र, हमारे गाय घोडे आदि पशु तथा जो भी हमारे प्राणी हों वे सब इस इस प्रकार सुखी हों। हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारसे बढे तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

दिक्पाल।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिशाएं हैं। उनकी रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, ये अपनी अपनी दिशाका संरक्षण कर रहे हैं। ये विश्वके रक्षक इतने दक्ष हैं कि इनको न समझते हुए कोई मनुष्य किसी भी प्रकार बुरा कार्य कर नहीं सकता। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह उक्त बात मनमें धारण करे और इन दैवी लोक-पालोंके दण्ड के योग्य कोई आचरण न करे।

राजा अपने राज्यकी व्यवस्था और राज्यका सुशासन करनेके लिये अपने राज्यमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य शासक अधिकारी नियत करे, वह अधि-कारी दक्षतासे अपने विभागका योग्य शासन करे। दुष्टोंको दंड दे और सुष्टोंका प्रति-पालन करे। और कहांभी अनाचार होने न दें। यह राष्ट्रनीति का पाठ इस सूक्तसे हमें मिलता है।

विश्व के अंदर राष्ट्र, और राष्ट्र के अंदर व्यक्तिका देह है। और इन तीनों स्थानों में नियम एक जैसा ही है। इस लिये राष्ट्र शासन का विचार होने के पश्चात् जिन व्यक्तियोंका राष्ट्र बनता है उन व्यक्तियोंके अंदर चार दिशाओंके चार दिक्पाल किस रूपमें हैं और उनका शासन इस अध्यात्मभूमिकामें कैसा चल रहा है और उससे हमें वैदिक सदाचार के विषय में कौनसा बोध लेना है, इस का विचार अब करना चाहिये।

देहमें चार दिक्पाल ।

देहमें मुख को " पूर्व द्वार " कहते हैं और गुदाको " पश्चिम
ये द्वार एक दूसरेके साथ संबंधित भी हैं । पूर्व द्वारसे अर्थात् मुख
अंदर घुसता है, वहां का कार्य करता है और शरीर के मलादिके रू
पश्चिम द्वारसे अर्थात् गुदासे बाहर हो जाता है । अर्थात् पोषक अ
से इस शरीरमें होता है और मल को दूर करनेका कार्य पश्चिम द्वा
कार्य शरीरके स्वास्थ्य के लिये अत्यंत आवश्यक ही हैं । परंतु यह
स्वास्थ्य के साथ का संबंध है, इससे और दो द्वार हैं जिनका संबंध
अधोगति के साथ अधिक है; वे दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जि
तथा " दक्षिण द्वार " कहते हैं ।

" उत्तर द्वार " मस्तकमें है जिसका नाम " विदृति द्वार " उ
इस द्वारसे शरीरमें जीवात्माका प्रवेश होता है और इसी द्वारसे
समय यह बाहर जाता है उस समय से यह जन्ममरण के दुःखसे
शरीरके बंधनमें पडता नहीं। बालक के मस्तकमें छोटेपन में इस स्थ
नहीं। इसका नाम उत्तर द्वार है क्यों कि इस द्वार से जानेसे उच्चतर अ

यह द्वार मज्जा केन्द्रके साथ संबंधित है । इसी मज्जा केन्द्रके स
निचला द्वार शिस्न है जिससे वीर्यका पात होता है । इसके योग्य
योग्य संतति उत्पन्न होती है, परंतु इसके अनियम में चलानेसे भ
होती है । ये दो द्वार मनुष्यको उच्च और नीच बनानेमें समर्थ हैं ।
उत्तर मार्गसे जानेका उपनिपदोंका वर्णन इसी उत्तर मार्गको सूचि
नाम " उत्तरायण (उत्तर+अयन) " अर्थात् उत्तर मार्गसे जान
" दक्षिणायन " अर्थात् दक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके संयमसे
पालन पूर्वक उन्नति होना संभव है, परंतु असंयमसे मनुष्य इतना
कोई ठिकाना ही नहीं होता । ये दो मार्ग मज्जातंतुओंके साथ संबं

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार ये शरीर में अन्ननलिका के
तथा उत्तर द्वार और दक्षिण द्वार ये दो मार्ग मज्जा तंतुओंके सा
ये चार द्वारों के चार संरक्षक देव हैं परंतु ये देव राक्षसोंके हमले

आशा और दिशा।

इस सूक्तमें दिशा वाचक " आशा " शब्द है और, उसके पालक का नाम " आशा-पाल " मंत्रोंमें आया है। " आशा " शब्दके दो अर्थ हैं। एक " दिशा " और दूसरा " आशा, महत्त्वाकांक्षा, उमीद "। मनुष्यकी जैसी आशा, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा और उम्मीद होती है उसी प्रकारकी उसकी कार्य करनेकी दिशा होती है। मनुष्य जिस समय आशाहीन होजाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगत्से हटनेका या मर जानेका इच्छुक होता है। यह विचार यदि पाठकोंके मन में जम जायगा, तो उन को पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्य के साथ कितना घनिष्ठ संबंध रखता है।

जिस समय " आशा " शब्दका अर्थ " आशा, आकांक्षा, " आदि किया जाता है उस समय यही सूक्त मनुष्यका अभ्युदयका मार्ग बताता है। तथा जिस समय इसी " आशा " शब्दका अर्थ " दिशा " किया जाता है,उस समय यही सूक्त बाह्य जगत् तथा राष्ट्र के प्रबंध का भाव बताता है। सूक्तकी यह शब्दरचना विशेष गंभीर है और वह हरएक को वेदकी अद्भुत वर्णन शैलीका स्वरूप बता रही है।

सूक्त का मनुष्यवाचक भावार्थ।

मनुष्य की चार आशाएँ हैं, उनके चार अमर पालक हैं। इन भूताध्यक्षोंकी हम हवनसे पूजा करते हैं ॥ १ ॥ मनुष्यकी चार आशाओंके चार पालक हैं, वे हमें पापसे बचावें और दुष्ट अवस्थासे भी बचावें ॥ २ ॥ मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हविसे तथा घृतसे इनको तृप्त करता हूं। इन चार आशाओंके पालकोंमें से चतुर्थ पालक जो है वह हमें उत्तम आनंदको प्राप्त करनेमें सहायकारी होवे ॥ ३ ॥ इनकी सहायतासे हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, गाय, घोडे आदि सब सुखी हों। हमारा अभ्युदय होवे और हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु बनें।

केवल एक " आशा " शब्दका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेसे व्यक्ति विषयक उन्नतिके मार्गके संबंधमें कैसा उत्तम उपदेश मिल सकता है यह पाठक यहां देखें। यह उपदेश इतना महत्त्व पूर्ण है कि इसके अनुसार चलनेसे मनुष्य ऐहिक अभ्युदय तथा पारमार्थिक निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है। इस सूक्त पर बहुत लिखा जा सकता है परंतु यहां संक्षेपसे ही इसका विवरण करेंगे-

मनुष्य में चार द्वारों की चार आशाएँ।

मनुष्यके शरीरमें चार द्वार हैं, इस बातका वर्णन इससे पूर्व कियाही है। इन चार द्वारोंके कारण चार आशाएं मनुष्यके मनमें उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार घरके जितने द्वार होते हैं उनसे बाहर जाने और उन दिशाओंसे कार्य करनेकी इच्छा घरके मालिक की होती है; उसी प्रकार इस शरीररूपी घरके स्वामी आत्म देवकी आशाएं इस घरके द्वारोंसे जगत्में गमन करके वहांके कार्य क्षेत्रमें पुरुषार्थ करनेकी होती हैं। वास्तवमें इस शरीरमें अनेक द्वार हैं, इसमें नौ द्वार हैं ऐसा अन्यत्र कई स्थानोंमें कहा है। देखिये-

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
अथर्व० १०।२।३१

"आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नामक नगरी है, इसमें सुवर्णमय कोश है वही तेजस्वी स्वर्ग है।"

इस अथर्व श्रुतिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है, कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार हैं इसमें कोई संदेह ही नहीं है। दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख, गुदा और शिस्न ये नौ द्वार यहां कहे हैं। इन में से मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिस्न दक्षिण द्वार इन तीनोंका संबंध इस अपने प्रचलित सूक्तके मंत्रमें है। जो चतुर्थद्वार है वह आठ चक्रवाले पृष्ठवंशके ऊपर मस्तिष्कसे भी ऊपर के भागमें विदति नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत पवमानोऽधि शीर्षतः॥
अथर्व० १०।२।२६

"मस्तक और हृदय को सी कर अर्थात् एक केन्द्रमें लीन करके मस्तकमें भी ऊपर सिरके बीचमें से प्राण फेंका जाता है।"

विदृति द्वार से प्रवेश ।
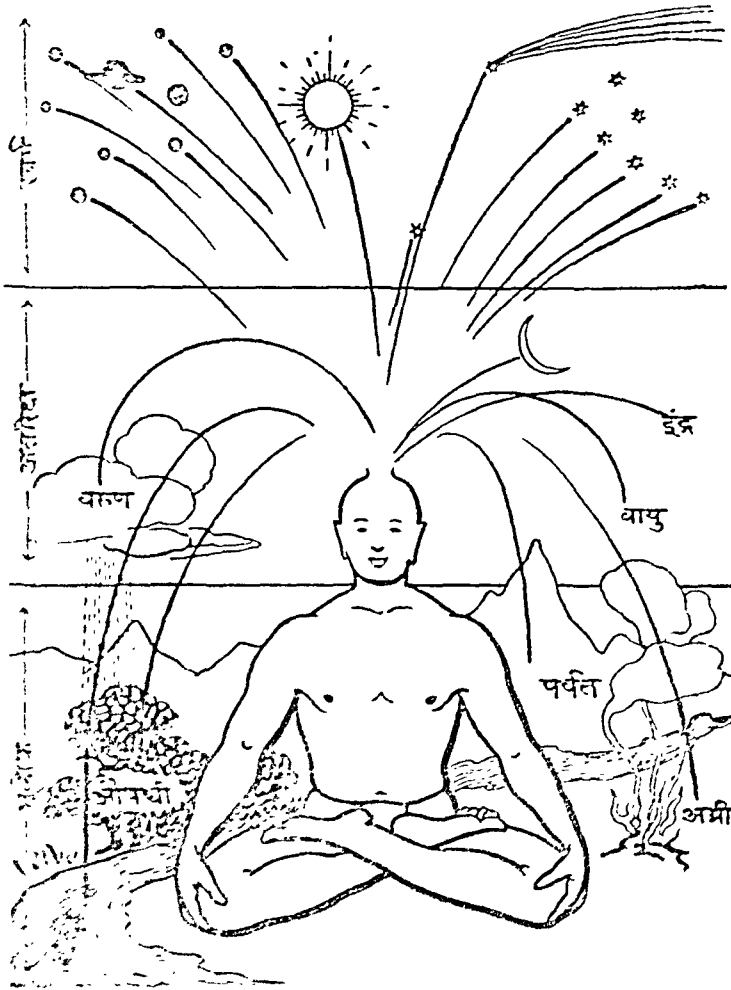
विदृति द्वारसे तैंतीस देवोंके साथ आत्माका शरीरमें प्रवेश। अंदर आनेपर यह द्वार बंद होता है। पश्चात् प्राणसाधन द्वारा अपनी इच्छासे इसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति। साधारण जन देह त्याग करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगीही अथर्ववेदके कहे मार्गसे मस्तिष्कके परे इसी द्वारसे जाना है और मुक्त होना है।

इस मंत्रमें "मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः। अधि शीर्षतः।" आदि शब्दों द्वारा मस्तक के ऊपरले उत्तर द्वार का वर्णन किया है। अर्थात् जो चार द्वार हमने इस मंत्रके व्याख्यान के प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है। नौ द्वारों में से तीन और इस मज्जा संस्थानका एक मिल कर चार द्वार हैं और उनकी चार आशाएं अथवा दिशाएं हैं। अब ये आशाएं देखिये–

द्वार		आशा
१ पश्चिमद्वार	= गुदा	= की आशा विसर्जन करना। शरीर धर्म।
२ पूर्वद्वार	= मुख	= ,, ,, मधुर भोजन करना। अर्थ प्राप्ति।
३ दक्षिणद्वार	= शिस्न	= ,, ,, भोग का उपभोग करना। काम।
४ उत्तर द्वार	= विद्दति	= ,, ,, बंधन से मुक्त होना। मोक्ष।

आरोग्यका आधार।

इसमें पश्चिमद्वारसे जो आशा है वह केवल "शरीर धर्म" पालन करने की ही है तथापि इस शौच धर्मसे अर्थात् पवित्र बनने के कर्मसे शरीर शुद्धि होनेके कारण इससे शरीर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। सब अन्य भोग इसके आश्रयसे हैं यह बात हरएक जान सकते हैं। इस द्वारका कार्य बिगड जानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारों की आशाएं पूर्ण होने की असमर्थता होती है। इस के उत्तम प्रकार कार्य करने पर अन्य आशाएं सफल होने की संभावना है। इस लिये हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वार की आशा मनुष्य के मनमें " आरोग्य की प्राप्ति " रूप से रहती है। इस आशा का कार्य क्षेत्र बहुत बडा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा उतना वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम द्वार के व्यवहार ठीक न चलें तो उसके रोगी होनेमें कोई शंका ही नहीं है।

खानपान।

अब पूर्व द्वार की आशा देखिये। संक्षेपसे इतना कहना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वार से मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करने की इच्छा करता है। मधुरताका प्रेम

मस्तकमें
विदृति द्वार
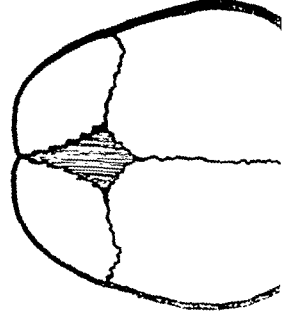
सहस्रा—
आज्ञा—
विशुद्धि-
अनाहत-
सूर्य—
मणिपूरक-
स्वाधिष्ठान
(कुंडलिनी)
मूलाधार-
पृष्ठवं

पृष्ठवंश

करते करते मनुष्य इतना अधिक खाता है कि वह अजीर्णसे बीमार हो जाता है। इस लिये इस विषयमें प्रयत्न पूर्वक संयम रखना चाहिये। रुची का गुलाम और जिह्वाका दास जो बनता है उसका आयु कष्टप्रद ही होता है। हरएक इंद्रिय के विषयमें यही बात है। इस प्रकार इंद्रिय भोग के लिये धन की आवश्यकता है इस हेतु इस द्वार की आशा " अर्थ की प्राप्ति " ही है। यह आशा अत्यधिक बढानेसे कष्ट होंगे और संयम द्वारा अत्यावश्यकता के अनुसार भोग लेनेसे सुख बढेगा, उन्नति होगी। मुख द्वारसे शब्द बोलनेका भी एक काम होता है। उत्तम शब्द प्रयोगसे जगत्में शांति फैलती है और कुशब्दके प्रयोगसे अशांति फैलती है। इस विषय में भी जिह्वापर संयम रहना आवश्यक है। अन्यथा अनर्थ होनेमें कोई देर नहीं लगेगी। इस प्रकार इस द्वितीय द्वार की आशा का संबंध मनुष्यकी उन्नतिके साथ है।

कामोपभोग।

तीसरा दक्षिण द्वार है। इस शिश्न द्वारा जगत् में उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजाजनन करना आवश्यक है। परंतु जगत् में इसके असंयमसे जो अनर्थ हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं है। इसका संयम महत्प्रयाससे साध्य होता है। उर्ध्वरेता होना ही वैदिक धर्मका साध्य है। इसके विचारसे इस द्वारकी आशा का पता लग जायगा। यह केंद्र अत्यंत महत्त्वका है परंतु जनता का लक्ष्य इसके कार्यमें विगाड करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न अति कम हैं।

बंधन का नाश।

अब चतुर्थ विद्दति द्वारपर हम आते हैं। यह विद्दति द्वार है। इससे जीवात्मा इस शरीरमें घुसा है, परंतु इसी द्वारसे बाहर जानेका मार्ग इसको मिलता नहीं है। युद्ध-भूमिमें प्रवेश करना यह जानता है, परंतु सुरक्षित वापस फिरनेकी विद्या इसे पता नहीं है। चक्र व्यूहमें घुसनेकी विद्या जाननेवाला, परंतु चक्रव्यूहमें घुस कर युद्धमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित वापस आनेकी विद्या न जानने वाला अभिनव कुमार अभि-मन्यु यही है। यदि यह सुरक्षित वापस आनेकी विद्या जानेगा तो यह विजय-अर्जुन-होगा, फिर इसको डर किसका है? " विजय " बननेके लिये ही यह सब धर्म मार्ग हैं। जिस समय आये हुए मार्गसे यह जीवात्मा वापस जानेकी शक्ति प्राप्त कर सकेगा उस समय इसको कोई बंधन कष्ट नहीं पहुंचा सकता। हरएक बंधन को दूर करनेकी

इच्छा इसमें इस द्वारके कारण हैं।

इस प्रकार चार द्वार की चार आशाएं हैं और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्य क्षेत्रमें बुरा या भला कार्य करता है और गिरता है या उठता है। इन आशाओंके कार्य क्षेत्र की कल्पना पाठकोंको ठीक प्रकार होगई, तो इस सूक्तके मंत्रोंका विचार समझनेमें कोई कठिनता नहीं होगी। इस लिये प्रथम इन चार द्वारोंका विचार पाठक वारंवार मनन द्वारा करें और यह बात ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें। तत्पश्चात् निम्न लिखित स्पष्टीकरण पढें—

अमर दिक्पाल।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रके कथनमें तीन बातें कही हैं- "(१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक हैं। (२) वेही चार भूताध्यक्ष हैं। (३) उनकी पूजा हम हवन से करते हैं।"

मनुष्यमें चार आशाएं कौनसी हैं, उन आशाओंका स्वरूप क्या है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उत्थापनका किस प्रकार संबंध है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है। चार आशाएं मनुष्यके अंदर सनातन हैं, (१) शरीर धर्मका ख्याल करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) कामका भोग करना और (४) बंधन से निवृत्त होना, ये चार भावनाएं अथवा कामनाएं मनुष्यमें सदा जागती हैं, मूढमें तथा प्राज्ञमें ये समानतासे रहती हैं। पशु पक्षियोंमें भी अल्पांशसे ये रहती हैं अर्थात् भूतमात्रमें ये सदा रहती हैं, इसलिये इनका सनातन अधिकार प्राणिमात्रपर है, मानो ये ही भूतोंके अध्यक्ष हैं। इनको अध्यक्ष इसलिये कहा है कि इनकी प्रेरणासे ही प्राणी अपने अपने सब व्यवहार करते हैं। यदि ये आशाएं प्राणियोंके अंदर न रहीं तो उनकी हलचल भी बंद हो जायगी। मनुष्यके संपूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो रहे हैं। इस लिये ये ही चार आशा-पालक मनुष्यके चार अधिकारी हैं। इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका बुरा या भला परिणाम भोगता है।

हवनसे पूजन।

इनका पूजन हवन से ही हो रहा है। पूर्व द्वार मुख है, उसमें अन्नपानका हवन हो रहा है। कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता। इसी प्रकार दक्षिण द्वार

शिस्न देवके पूजक सब ही प्राणी हैं, इतनाही नहीं परंतु इस कामदेव की अति पूजा से लोग अपना ही घात कर रहे हैं। इतनी बात सत्य है कि उत्तर द्वार जिसका नाम विदृति है उस के पूजक अत्यंत अल्प हैं और पश्चिमद्वार की पूजा करना थोडे ही जानते हैं। पश्चिम द्वार की पूजा योगमें प्रसिद्ध " अपानायाम " से की जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वार से करनेका प्राणायाम होता है उसी प्रकार पश्चिम गुद द्वार से अपानायाम किया जाता है। इस की क्रिया भी थोडे लोग जानते हैं। यह क्रिया योग शास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे नाभिके निचले भागका आरोग्य प्राप्त होता है। उत्तर द्वार विदृतिके उपासक खास योगी होते हैं वे इस स्थानकी चालना करके अपनी मुक्तता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा यह है-

१ पूर्वद्वार--- (मुख)- अन्नपानादिके हवनसे पूजा,

२ दक्षिण द्वार- (शिस्न)- भोगादिद्वारा कामदेवकी पूजा,

३ पश्चिम द्वार- (गुदा)-अपानायाम-अपानका प्राणमें हवन करके पूजा, इसका उल्लेख भगवद्गीतामें भी है - अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। भग० गी० ४-२९

४ उत्तर द्वार -(विदृति)—मस्तिष्कके मज्जाकेंद्रके सहस्रारचक्रमें ध्यानादिसे पूजा।

यहां पाठक जान गये होंगे कि पहिली दो उपासनाएं जगत् में अधिक हैं और दूसरी दो कम हैं। परंतु बीजरूपसे हैं। प्रथम मंत्रमें " हम चारों अमर आशापालोंकी हवन द्वारा पूजा करेंगे " ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इस लिये कि हरएक मनुष्य चारोंकी उपासना द्वारा अपना उद्धार करे।

यहां नियमन की बात पाठकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये। यह नियमन इस प्रकार है —

पूर्वद्वार ⊖ मुख

उत्तरद्वार ⊖ सिरमें विदृति

आंत्र अन्नमार्ग

पृष्ठवंश मज्जामार्ग

पश्चिमद्वार ⊖ गुदा

दक्षिणद्वार ⊖ शिस्न

चाहिये । क्यों कि उसी की कृपासे आनंद, उन्नति, यश, आदि की यहां प्राप्ति होती है और सद्गति भी मिल सकती है ।

दीर्घ आयु ।

पूर्वोक्त प्रकार तीन मंत्रोंका विचार करनेके पश्चात् अब चतुर्थ मंत्र इस प्रकार हमारे सन्मुख आता है– " इन आशापालोंकी सहायतासे हम तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, गाय, घोडे, आदि सब सुखी हों । हमारा अभ्युदय होवे तथा हम ज्ञानी बनकर निःश्रेयस के भागी बनें और दीर्घायु बनें । " इस मंत्रमें चार बातें कहीं हैं—

१ स्वस्ति (सु+ अस्ति) = सबका उत्तम अस्तित्व हो अर्थात् इस लोकका जीवन सुख पूर्वक हो ।

२ सुभूतं = (सु + भूति) = उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, यह उत्तम अभ्युदय का सूचक विधान है ।

३ सुविदत्रं = (सु + विद् + त्रं) = उत्तम ज्ञान मिले । आत्म ज्ञान ही सब ज्ञानोंमें उत्तम और निःश्रेयस का हेतु है । वह हमें प्राप्त हो ।

४ ज्योक् = दीर्घकाल जीवन हो । यह तो अभ्युदय और निःश्रेयससे सहज ही प्राप्त हो सकता है ।

वेद मंत्रोंमें वारंवार " ज्योक् च सूर्यं दृशेम " अर्थात् " दीर्घकाल तक सूर्यको हम देखते रहें । " यह एक महावाक्य है, इसका तात्पर्य " हमारी आयु अतिदीर्घ हो " यह है । परंतु यहां ध्यानमें विशेषतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका संबंध सूर्यसे अवश्यही है । जहां जहां दीर्घ आयु प्राप्त करने का उपदेश वेदमें आया है वहां वहां सूर्यका संबंध अवश्य बताया है । इस लिये जो लोग दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं वे सूर्यके साथ आयुष्य वर्धन का संबंध है यह बात न भूलें । ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु प्राप्त होती है इस विषयमें अथर्ववेदमें अन्यत्र कहा है —

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

अथर्व० १० । २

"जो निश्चयसे ब्रह्मकी अमृतसे परिपूर्ण नगरीको जानता है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके साथी अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ २९ ॥ अति वृद्धावस्थासे पूर्व उसको प्राण और चक्षु छोडते नहीं जो ब्रह्मपुरीको जानता है और जिस पुरीमें रहनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं ॥ ३० ॥"

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु, सुसंतान और आरोग्य पूर्ण इंद्रियोंसे युक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है। यही भाव संक्षेपसे अपने प्रचलित सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कहा है। इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इह पर लोकमें यशस्वी होता है। यही इस सूक्तका उपदेश है।

विशेष दृष्टि।

यह सूक्त केवल बाह्य दिशाएं और उनके पालकोंका ही वर्णन नहीं करता है। बाह्य दिशा ओंका वर्णन इस सूक्तमें है, परंतु दिशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए "आशा" शब्द का प्रयोग इसमें इसी लिये हुआ है कि मनुष्य अपनी आशाओं और उनकी पालक शक्तियोंको अपने अंदर अनुभव करे और उनके संयम, नियमन, और योग्य उपासन आदिसे अपना अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करे।

इस सूक्तका यह श्लेषालंकार बडा ही महत्त्व पूर्ण है। और जो इस सूक्तको केवल बाह्य दिशाओंके लिये ही समझते हैं वे इसके महत्त्व पूर्ण उपदेशसे वंचित ही रहते हैं। पाठक इस दृष्टिसे इसका अध्ययन करें।

इस सूक्तका संबंध आयुष्य गण, अपराजित गण आदि अनेक गणोंसे विषयकी अनुकूलतासे है। यह सूक्त स्वयं वास्तोष्पतिगण अथवा वसु गण का है। इस लिये "यहांके निवास" के साथ इसका अपूर्व संबंध है। इस प्रकार की दृष्टिसे विचार करनेसे पाठक इससे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं और उसको आचरणमें ढालकर अपना अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

जीवन-रसका महासागर।

(३२)

(ऋषिः— ब्रह्म । देवता— द्यावापृथिवी)

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ॥ २ ॥
यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥
विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ–हे (जनासः) लोगो ! (इदं विदथ) यह ज्ञान प्राप्त करो । वही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मके विषयमें कहेगा । (येन वीरुधः प्राणन्ति) जिससे औषधियां आदि प्राण प्राप्त करती हैं, (तत् पृथिव्यां न, नो दिवि) वह पृथ्वीमें नहीं और ना ही द्युलोक में है ॥ १ ॥ (आसां अन्तरिक्षे स्थाम) इन औषधि आदिकोंका अन्तरिक्षमें स्थान है (श्रान्त-सदां इव) थक कर बैठेहुओंके समान (अस्य भूतस्य आस्थानं) इस बने हुएका स्थान जो है (तत् वेधसः विदुः वा न) वह ज्ञानी जानते हैं वा नहीं ? ॥ २ ॥ (यत् रेजमाने रोदसी) जो हिलने वाले द्यावापृथिवीने और (भूमिः च) केवल भूमिने भी (निरतक्षतं) बनाया (तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं) वह आज तक सदासर्वदा रसमय है (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसे

सनातन जीवन।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि — " जो इस द्यावापृथिवीके अंदर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा सर्वदा, जिस समय बना है उस समयसे लेकर इस समयतक बराबर जीवन रससे परिपूर्ण होनेके कारण नवीन सा रहा है, इसमें जीवन रस ऐसा भरा है जैसा सरोवरसे चलनेवाले विविध स्रोतोंमें सरोवरका जल चलता है।"

जगत्के माता पिता।

अदिति भूमि जगत् की माता है और द्यौष्पिता जगत् का पिता है। भूलोक और द्युलोक, भूमि और सूर्य, स्त्रीशक्ति और पुरुष शक्ति, ऋण शक्ति और धन शक्ति, रयि शक्ति और प्राण शक्ति, प्रकृति और पुरुष, प्रकृति और आत्मा इस प्रकारके दो शक्तियोंसे यह जगत् बना है, इस लिये इनको जगत्के माता पिता कहा है। विविध ग्रंथकारोंने उक्त द्वन्द्व शक्तियोंके विविध नामोंमेंसे किसी नामका प्रयोग किया है और जगत्के मूल उत्पादक शक्तियोंका वर्णन किया है।

जीवनका एक महासागर!

वेदमें द्यावा पृथिवी — द्युलोक और पृथ्वीलोक — को जगत् के माता पिता करके वर्णन किया है क्यों कि संपूर्ण जगत् इन्हींके अंदर समाया है। यह बना हुआ जगत् यद्यपि बननेके पश्चात् बढता और बिगडता भी है तथापि बने हुए संपूर्ण पदार्थोंमें जो जीवन तत्त्व व्याप रहा है वह एक रूपसे व्यापता है, इस लिये संपूर्ण जगत्के नियम अटल और एक जैसे हैं। हजारों वर्षोंके पूर्व जैसा जीवन संसारमें चलता था वैसा ही आज भी चल रहा है! इससे जीवनामृत की अगाध सत्ता की कल्पना हो सकती है।

जिस प्रकार एकही सागरसे अनेक स्रोत चलते हों तो उनमें एकही जीवन रस सब में एकसा प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसारके अंदर बने हुए अनंत पदार्थों में एक ही अगाध जीवन के महासागरसे जीवन रस फैल रहा है, मानो संपूर्ण पदार्थ उस जीवनामृतसे ओत प्रोत भरपूर हो रहे हैं।

पाठक क्षणभर अपने आपको भी उसी जीवन महासागरमें ओत प्रोत भरनेवाले एक घडेके समान समझें और अपने अंदर वही जीवन स्रोत चल रहा है इसका ध्यान करें। जिस प्रकार तैरनेवाला मनुष्य अपने चारों ओर जलका अनुभव करता है उसी प्रकार मनुष्यभी उसी जीवन महासागर में तैरनेवाला एक प्राणी है, इस लिये इस प्रकार ध्यान करनेसे उस जीवनामृतके महासागर की उत्तमी कल्पना हो सकती है।

यह जीवन सदाही नवीन है कभी भी यह पुराना नहीं होता, कभी बिगडता नहीं। अन्य पदार्थ बनने और बिगडने पर भी यह एकसा नवीन रहता है। और यही सबको जीवन देता है। (तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं) वह आज और सदा सर्वदा एक जैसा अभिनव रसपूर्ण रहता है। सबको जीवन देने पर भी जिसकी जीवन शक्ति रतिमात्र भी कम नहीं होती, इतनी अगाध जीवन शक्ति उसमें है।

सबका एक आश्रय।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि — " संपूर्ण विश्व अर्थात् यह स्थूल जगत् एक दूसरी शक्तिके ऊपर रहता है और वह शक्ति और दूसरी शक्तिके आश्रयसे रही है। वही आधारका तत्त्व पृथ्वी और द्युलोक के स्वरूपमें दिखाई दे रहा है इस लिये मैं द्युलोकमें उसकी प्रकाशशक्तिको और पृथ्वीमें उसकी आधार शक्तिको नमस्कार करता हूं। " अर्थात् संपूर्ण जगत्में उसकी शक्ति ही जगत् के रूप में प्रकट होगई है ऐसा जानकर, जगत्को देखकर उस शक्तिका स्मरण करता हुआ उस विषयमें अपनी नम्रता प्रकट करता हूं।

स्थूल सूक्ष्म और कारण।

इस मंत्रमें "विश्व" शब्द स्थूल जगत्का बोधक है। इस स्थूल का आधार (अन्या) दूसरा है, इससे सूक्ष्म है और वह इसके अंदर है अथवा उसके बाहर यह सब विश्व है। प्रत्येक स्थूल पदार्थके अंदर यह सूक्ष्म तत्त्व है और यह भी तीसरे अतिसूक्ष्म तत्त्व पर आश्रित है। यह तीसरा तत्त्व ही सबका एक मात्र आधार है और इसीका जीवन अमृत सबमें एक रस होकर व्याप रहा है। इसी जीवनके समुद्रमें सब विश्वके पदार्थ तैर रहे हैं अथवा संपूर्ण पदार्थ रूपी छोटे बडे स्रोत उसी एक अद्वितीय जीवन-महासागर से चल रहे हैं। इनमें उसीका जीवन कार्य कर रहा है यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य है। अनेकों में एकही जीवन भरा है इसका अनुभव यहां होता है।

यह सूक्त केवल पढनेके लिये नहीं है, प्रत्युत यह मनकी धारणा करके अपने मनमें धारणासे स्थिर करने के अनुष्ठानके लिये ही है। जो पाठक इस की उक्त प्रकार धारणा कर सकेंगे वे ही इससे योग्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे। पाठक यहां देखें कि छोटेसे छोटे सूक्तों द्वारा वेद कैसा अद्भुत उपदेश दे रहा है। निःसंदेह यह उपदेश जीवन पलटा देनेमें समर्थ है। परंतु यह लाभ वही प्राप्त करेगा कि जो इसको जीवन में ढालने का यत्न करेगा।

जल-सूक्त ।

(३३)

(ऋषिः– शन्तातिः । देवता—आपः । चन्द्रमाः)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥
यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ– जो (हिरण्य-वर्णाः) सुवर्णके समान चमकनेवाले वर्ण से युक्त (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्रता बढानेवाला (यासु सविता जातः) जिनसें सविता हुआ है और (यासु अग्निः) जिनमें अग्नि है,(याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अग्निं गर्भं दधिरे) अग्निको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल (नः शं स्योनाः भवन्तु) हम सबको शांति और सुख देने वाला होवे ॥ १ ॥ (यासां मध्ये) जिस जलके मध्यमें रहता हुआ (वरुणः राजा) वरुण राजा (जनानां सत्यानृते अवपश्यन्) जनोंके सत्य और असत्य कर्मोंका अवलोकन करता हुआ (याति) चलता है। (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ २ ॥ (देवाः दिवि) देव द्युलोकमें (यासां भक्षं कृण्वन्ति) जिनका भक्षण करते हैं और जो (अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) अन्तरिक्षमें अनेक प्रकार से रहता है और जो उत्तमवर्ण वाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ३ ॥ हे (आपः) जल! (शिवेन चक्षुषा मा पश्यत) कल्याण कारक नेत्र द्वारा मुझको तुम देखो। (शिवया तन्वा मे

त्वचं उपस्पृशत) कल्याणमय अपने शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो। जो (घृतश्चुतः) तेज देनेवाला (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्र (आपः) जल है (ताः नः शं स्योनाः भवन्तु) वह जल हमारे लिये शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ- अंतरिक्ष में संचार करनेवाले मेघमंडलमें तेजस्वी पवित्र और शुद्ध जल है, जिनमेघोंमें से सूर्य दिखाई देता हो, जिनमें विद्युत् रूपी अग्नि कभी व्यक्त और कभी गुप्त रूपसे दिखाई देता हो, वह जल हमें शांति और आरोग्य देनेवाला होवे ॥ १ ॥ जिनमेंसे वरुण राजा घूमता है और जाते जाते मनुष्योंके सत्य और असत्य विचारों और कर्मोंका निरीक्षण करता है, जिन मेघोंने विद्युत् रूपी अग्निको गर्भके रूपमें धारण किया है उन मेघोंका उदक हमें सुख और आरोग्य देवे ॥२॥ द्युलोक के देव जिसका भक्षण करते हैं और जो विविध रूपरंगवाले अंतरिक्षस्थानीय मेघोंमें रहता है तथा जो विद्युतका धारण करते हैं उन मेघोंका जल हमारे लिये सुख और आरोग्य देवे ॥ ३ ॥ जल हमारा कल्याण करे और उसका हमारे शरीरके साथ होनेवाला स्पर्श हमें आल्हाद देनेवाला प्रतीत हो। मेघोंका तेजस्वी और पवित्र जल हमें शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

वृष्टिका जल ।

इन चारों मंत्रोंमें वृष्टिजलका काव्यमय वर्णन है। इन मंत्रोंका वर्णन इतना काव्यमय है और छंदभी ऐसा उत्तम है कि एक स्वरसे पाठ करनेपर पाठक को एक अद्भुत आनंद का अनुभव होता है। इन मंत्रोंमें जलके विशेषण "शुचि, पावक, सु-वर्ण" आदि शब्द वृष्टि जलकी शुद्धता बता रहे हैं। वृष्टि जल जितना शुद्ध होता है उतना कोई दूसरा जल नहीं होता। शरीर शुद्धिकी इच्छा करनेवाले दिव्य लोग इसी जलका पान करें और आरोग्य प्राप्त करें। इसके पानसे शरीर पवित्र और नीरोग होता है। सामान्यतया वृष्टि जल शुद्ध ही होता है परंतु जिस वृष्टिमें सूर्यकिरणें भी प्रकाशतीं हैं उसकी विशेषता अधिक है। इसी प्रकार चंद्रमाकी किरणोंका भी परिणाम होता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें उत्तम स्वास्थ्यका लक्षण बताया है वह ध्यानमें धारण करने योग्य है- " जलका स्पर्श हमारी चमडीको आल्हाद देवे। " जबतक शरीर नीरोग होता है तबतकही शीत जलका स्पर्श आनंद कारक प्रतीत होता है, परंतु शरीर रुग्ण होते ही जल स्पर्श बुरा लगने लगता है।

मधु–विद्या ।

(३४)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता–मधुवल्ली)

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि　　॥ १ ॥
जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि　　॥ २ ॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः　　॥ ३ ॥
मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।
मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव　　॥ ४ ॥
परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः　　॥ ५ ॥

अर्थ– (इयं वीरुत मधुजाता) यह वनस्पति मधुरता के साथ उत्पन्न हुई है, मैं (त्वा मधुना खनामसि) तुझे मधुसे खोदता हूं। (मधोः अधि प्रजाता असि) शहदके साथ तू उत्पन्न हुई है अतः (सा) वह तू (नः मधुमतः कृधि) हम सबको मधुर कर ॥ १ ॥ (मे जिह्वाया अग्रे मधु) मेरी जिह्वाके अग्र भागमें मधुरता रहे। (जिह्वामूले मधूलकं) मेरी जिह्वाके मूलमें भी मीठास रहे। हे मधुरना ! तू (मम क्रतौ इत् अह असः) मेरे कर्ममें निश्चयसे रह। (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे ॥ २ ॥ (मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा चालचलन मीठा हो। (मे परायणं मधुमत) मेरा दूर होना भी मीठा हो। मैं (वाचा मधुमत वदामि) वाणीसे मीठा बोलता हूं जिस से मैं (मधुसन्दृशः भूयासं) मधुरताकी मूर्ति बनूंगा ॥ ३ ॥ मैं (मधोः मधुतरः असि) शहदसे भी अधिक मीठा

हूं। (मधुघात् मधुमत्तरः) मधुरपदार्थसे अधिक मधुर हूं। (मां इत् किल त्वं वनाः) मुझपर ही तू प्रेम कर (मधुमतीं शाखां इव) जैसे मधुर रसवाली वृक्ष शाखासे प्रेम करते हैं ॥ ४ ॥ (अ-विद्विषे) वैर दूर करने के लिये (परितत्नुना इक्षुणा त्वा परि अगाम्) फैले हुए ईखके साथ तुझे घेरता हूं। (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली होवे और (यथा मत् न अपगाः असः) जिससे तू मुझसे दूर न होनेवाली होवे ॥५॥

भावार्थ— यह ईख नामक वनस्पति स्वभावसे मधुर है और उसको लगाने वाला और उखाडनेवाला भी मधुरता की भावनासे ही उसको लगाता है और उखाडता है। इस प्रकार यह वनस्पति परमात्मासे मीठास अपने साथ लाती है, इस लिये हम चाहते हैं कि यह हम सबको मधुरतासे युक्त बनावे ॥ १ ॥ मेरी जिह्वाके अग्र भागमें मधुरता रहे, जिह्वाके मूल में और मध्यमें मधुरता रहे। मेरे कर्ममें मधुरता रहे, और मेरा चित्त भी मधुर विचारोंका मनन करे ॥ २ ॥ मेरा चालचलन मीठा हो, मेरा आना जाना मीठा हो, मेरे इशारे और भाव तथा मेरे शब्द भी मीठे हों। ऐसा होनेसे मैं अंदर बाहरसे मीठास की मूर्ति ही बनूंगा ॥ ३ ॥ मैं शहदसे भी मीठा बनता हूं, मैं मिठाईसे भी मीठा बनता हूं, इसलिये जिस प्रकार मधुर फलवाली शाखापर पक्षी प्रेम करते हैं इस प्रकार तू मुझपर प्रेम कर ॥ ४ ॥ कोई किसीका द्वेष न करे इस उद्देश्यसे व्यापक मधुरवल्लियोंका अर्थात् व्यापक मधुर विचारोंकी बाढ चारों ओर बनाता हूं ता कि इस बाढमें सब मधुरता ही बढे और सब एक दूसरेपर प्रेम करें और विद्वेषसे कोई किसीसे विमुख न हो ॥ ५ ॥

मधुविद्या।

वेदमें कई विद्याएं हैं अध्यात्मविद्या, देवविद्या जन विद्या, युद्ध विद्या; इसी प्रकार मधुविद्या भी वेदमें है। मधुविद्या जगत् की ओर किस प्रकार देखना चाहिये वह दृष्टि-कोण ही मनुष्य में उत्पन्न करती है। उपनिषदों में भी यह मधुविद्या वेद मंत्रोंसे ली है। यह जगत् मधुरूप है अर्थात् मीठा है ऐसा मानकर जगत् की ओर देखना इस बातका मधु विद्या उपदेश करती है। दूसरी विद्या जगत् को कष्टका आगर बताती है इसको पाठक कटुविद्या कह सकते हैं। परंतु यह कटुविद्या वेदमें नहीं है। वेद जगत् की ओर दुःख दृष्टिसे देखता नहीं, नाही दुःखदृष्टिसे जगत्को देखने का उपदेश करता है। वेदमें मधु-

अब मधुविद्याका प्रथम मंत्र देखिये-"यह ईख नामक वनस्पति मिठास के साथ जन्मी है, मनुष्य मीठी भावनाके साथ उसे खोदते हैं। यह मधुरता लेकर आगई है, इस लिये हम सबको यह वल्ली मीठाससे युक्त करे।" (मंत्र १)

यह प्रथम मंत्र बडा अर्थपूर्ण है। इसमें चार बातें हैं -(१) स्वयं मीठे स्वभाव का होना, (२) मीठे स्वभाव वालोंसे संबंध करना, (३) स्वयं मधुर जीवन को व्यतीत करना, और (४) दूसरोंको मीठा बना देना। पाठक देखें कि-(१)ईख स्वयं स्वभावसे मीठा होता है, (२) मीठा उत्पन्न करने की इच्छा वाले किसानोंसे उसकी मित्रता होती है, (३) ईख स्वयं मीठा जीवन रस अपने साथ लाता है और (४) जिस चीज के साथ मिलता है उसको मीठा बनाता है। क्या पाठक इस आदर्श मीठे जीवनसे बोध नहीं ले सकते ?

ये चार उपदेश हैं जो मनुष्यको विचार करने चाहियें। यह ईख अपने व्यवहार से मनुष्यको उपदेश दे रहा और बता रहा है कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे मनुष्य मीठा बन सकता है। इसके मननसे प्राप्त होनेवाले नियम ये हैं —

१ अपना स्वभाव मीठा बनाना। अपनेमें यदि कोई कटुता, कठोरता या तीक्ष्णता हो तो उसको दूर करना तथा प्रति समय आत्मपरीक्षा करके, दोष दूर करके, अपने अंदर मीठा स्वभाव बढानेका यत्न करना।

२ मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं ऐसे मनुष्योंके साथ मित्रता करे कि जो मीठे स्वभाव वाले हों अथवा मधुरता फैलाने के इच्छुक हों।

३ अपना जीवन ही मीठा बनाना, चालचलन, बोलना चालना मीठा रखना। अपने इशारेसे भी कटुताका भाव व्यक्त न करना।

४ प्रयत्न इस बातका करना कि दूसरोंके भी स्वभाव मीठे बनें और कठोर प्रकृतिवाले मनुष्य भी सुधर कर उत्तम मधुर प्रकृतिवाले बनें।

पाठक प्रथम मंत्रका मनन करेंगे तो उनको ये उपदेश मिल सकते हैं। "ईख स्वयं मीठा है, मीठा चाहनेवाले किसान से मित्रता करता है, अपनेमें मधुर जीवन रस लाता है और जिसमें मिल जाता है उनको मीठा बना देता है।" इस प्रथम मंत्रके चार पादोंका भाव उक्त चार उपदेश दे रहे हैं। पाठक इन उपदेशोंको अपनानेका प्रयत्न करें। (मंत्र १)

यहां अन्योक्ति अलंकार है। पाठक इस काव्यमय मंत्रका यह अलंकार देखें और समझें। वेदमें ऐसे अलंकारोंसे बहुत उपदेश दिया है।

मीठा जीवन ।

पूर्वोक्त प्रथम मंत्रके तीसरे पादमें अन्योक्ति अलंकारसे सूचित किया है कि "मनुष्य मीठास के साथ जीवन व्यतीत करे।" अर्थात् अपना जीवन मधुर बनावे। इसी बातकी व्याख्या अगले तीन मंत्रोंमें स्वयं वेद करता है, इसलिये उक्त तीन मंत्रोंका भाव थोडा विस्तार से यहां देते हैं—

(दूसरा मंत्र) – "मेरी जिह्वाके मूल, मध्य और अग्रभागमें मीठास रहे अर्थात् मैं वाणीसे मधुर शब्द ही बोलूंगा। कभी कटु शब्दका प्रयोग बोलनेमें और लेखमें नहीं करूंगा, कि जिससे जगत्में कटुता फैले। मेरा चित्त भी मीठे विचारोंका चिंतन करेगा। इस प्रकार चित्तके विचार और वाणीके उच्चार एक रूपता से मीठे बनगये तो मेरे (क्रतु) आचार व्यवहार अर्थात् कर्मभी मीठे हो जांयगे। इस प्रकार विचार उच्चार आचारमें मीठा बना हुआ मैं जगत् में मधुरता फैलाऊंगा। मेरे विचार से, मेरे भाषणसे और मेरे आचार व्यवहार से चारों ओर मीठास फैलेगी।"

(तीसरा मंत्र)–"मेरा आचार व्यवहार मीठा हो, मेरे पासके और दूरके व्यवहार मीठे हों, मेरे इशारे मीठे हों, मैं वाणीसे मधुर ही शब्द उच्चारूंगा और उस भाषणका आशयभी मधुरता बढानेवाला ही होगा। जिस समय मेरे विचार उच्चार और आचार में स्वाभाविक और अकृत्रिम मधुरता टपकने लगेगी, उस समय मैं माधुर्य की मूर्ति ही बनूंगा।"

(चतुर्थ मंत्र)—" जब शहदसेभी मैं अधिक मीठा बनूंगा, और लड्डूसेभी मैं अधिक मीठा बनूंगा, तब तुम सब लोग निःसंदेह मुझपर वैसा प्रेम करोगे कि जैसा पक्षिगण मीठे फलोंसे युक्त वृक्षशाखापर प्रेम करते हैं।"

ये तीन मंत्र कितना अद्भुत उपदेश दे रहे हैं इसका विचार पाठक अवश्य करें। ऊपर भावार्थ देते समय ही भावार्थ ठीक व्यक्त करने के लिये कुछ अधिक शब्द रखे हैं, उनके कारण इनका अब अधिक स्पष्टीकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिज्ञा ।

ये मंत्र प्रतिज्ञा के रूपमें हैं। मैं प्रतिज्ञा इस प्रकार करता हूं यह भाव इन मंत्रोंमें है। जो पाठक इन मंत्रोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठानेके इच्छुक हैं वे यही प्रतिज्ञा करें,

यदि उन्होंनें ऐसी प्रतिज्ञा की और उस प्रकार उनका आचरण हुआ तो उनका यश सर्वत्र फैल जायगा। यह पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा है। अपने विचार उच्चार आचारसे किसी प्रकार किसकी भी हिंसा न हो, किसीका द्वेष न हो, किसीका वैर न हो, किसीकी शत्रुता न हो, इस प्रकार अपना आदर्श जीवन बननेपर जगत्में आनंदका ही साम्राज्य बन जायगा। इस आनंदका साम्राज्य स्थापन करना वैदिक धर्मियोंका परम धर्मही है और इसी लिये इस मधुविद्याका उपदेश इस सूक्तमें हुआ है।

मीठी बाड।

खेतको बाड बनाते हैं जिससे खेतका नाश करने वाले पशु उस खेततक पहुंच नहीं सकते और खेत सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार स्वयं मीठा और मधुरता फैलानेवाला मनुष्य अपने चारों ओर मीठी बाड बनावे। जिससे उसके विरोधी शत्रु-क्रौर्य द्वेषभाव आदि शत्रु-उस तक न आसकें। यह बाड अपने मनमें सुविचारोंकी हो, अपने इंद्रियोंके साथ संयम की हो, अपने घरमें परस्पर प्रेमकी हो, समाजमें परस्पर मित्रताकी हो। अपने सब मित्रभी उत्तम मीठे विचार जीवन में लाने और मधुरता फैलाने वाले हों। ऐसी बाड होगई तो अंदरका मीठास का खेत बिगडेगा नहीं। इसविषयमें पंचम मंत्र देखने योग्य है-

(पंचम मंत्र) — " मैं विद्वेषको हटानेके लिये चारों ओर फैलनेवाले मीठे ईखोंकी बाड तुम्हारे चारों ओर करता हूं जिससे तू मेरी इच्छा करेगी और मुझसे दूर भी न होगी।"

यह जितना स्त्री पुरुषके आपसके अविद्वेषके लिये सत्य है उतनाही अन्य परिवारों और मित्रजनोंके अविद्वेष और प्रेम बढानेके विषयमें सत्य है। परंतु अपने चारों ओर मीठी बाड करनेकी युक्ति पाठकोंको अवश्य जाननी चाहिये। अपने साथ ईख की गंडेरियां लेनेसे यह कार्य नहीं होगा। यह कार्य करनेके लिये जो ईख चाहिये वे विचार उच्चार और आचार के तथा मनोभावना के ईख चाहिये। जो पाठक अपने अंतःकरणके क्षेत्रमें ईख लगायेंगे और उसकी पुष्टि अपने मीठे जीवन से करेंगे, वे ही यह वैदिक उपदेश आचरणमें ढाल सकते हैं।

ये मंत्र स्पष्ट हैं। अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, परंतु पाठक इनको काव्य की दृष्टीसे समझनेका यत्न करेंगे तभी वे लाभ उठा सकेंगे।

तेजस्विता बल और दीर्घायुष्य की प्राप्ति ।

(३६)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता– हिरण्यं, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः ।)

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥३॥
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

अर्थ– (सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः) शुभ मन वाले और बलकी वृद्धि करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष (शत – अनीकाय) बल के सौ विभागों के संचालक के लिये (यत् हिरण्यं अबध्नन्) जो सुवर्ण बांधते रहे (तत्) वह सुवर्ण (आयुषे वर्चसे) जीवन, तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये (ते बध्नामि) तेरे ऊपर बांधता हूं ॥ १ ॥ (न रक्षांसि, न पिशाचाः) न राक्षस और न पिशाच (एनं सहन्ते) इस पुरुष का हमला सह सकते हैं (हि) क्यों कि (एतत् देवानां प्रथमजं ओजः) यह देवोंसे प्रथम उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है । (यः दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति) जो मनुष्य दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है (सः जीवेषु दीर्घं आयुः कृणुते) वह जीवोंमें अपनी दीर्घ आयु करता है । २ । (अपां

तेजः ज्योतिःओजः बलं च) जलका तेज, कान्ति, पराक्रम और बल (उत) तथा (वनस्पतीनां वीर्याणि) औषधियोंके सब वीर्य (अस्मिन् अधि धारयामः) इस पुरुषमें धारण कराते हैं (इन्द्रे इन्द्रियाणि इव) जैसे आत्मामें इन्द्रिय धारण होते हैं। इस प्रकार (दक्षमाणः हिरण्यं बिभ्रत्) बल बढाने की इच्छा करनेवाला सुवर्ण का धारण करे ॥३॥ (समानां मासां ऋतुभिः)सम महिनोंके ऋतुओं के द्वारा (संवत्सरस्य पयसा) वर्ष रूपी गौके दूधसे (त्वा वयं पिपर्मि) तुझे हम सब पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे देवाः) तथा सब देव (अ-हृणीयमानाः)संकोच न करते हुए (ते अनु मन्यन्तां) तेरा अनुमोदन करें ॥ ४ ॥

भावार्थ — बल बढाने वाले और मनमें शुभ विचारों की धारणा करने वाले श्रेष्ठ महात्मा पुरुष सेना संचालकके देहपर बलवृद्धिके लिये जिस सुवर्ण के आभूषण को लटका देते हैं, वही आभूषण मैं तेरे शरीरपर इस लिये लटकाता हूं कि इससे तेरा जीवन सुधरे, तेज बढे, बल तथा सामर्थ्य वृद्धिंगत हो और तुझे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ १ ॥ यह आभूषण धारण करनेवाले वीर पुरुषके हमलेको न राक्षस और ना ही पिशाच सह सकते हैं, वे इसके हमलेसे घबराकर दूर भाग जाते हैं, क्यों कि यह देवोंसे निकला हुआ सबसे प्रथम दर्जेका बल ही है। इसका नाम दाक्षायण अर्थात् बल बढाने वाला सुवर्णका आभूषण है। जो इसका धारण करता है वह मनुष्योंमें सबसे अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ २ ॥ हम सब इस पुरुषमें जीवन का तेज, पराक्रम, सामर्थ्य और बल धारण कराते हैं और साथ साथ औषधियोंसे नाना प्रकारके वीर्यशाली बल भी धारण कराते हैं। इस प्रकार इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें इंद्रिय शक्तियां रहती हैं उसी प्रकार इस सुवर्णका आभूषण धारण करने वाले मनुष्यके अंदर सब प्रकारके बल रहें, वे बाहर प्रकट हो जांय ॥ ३ ॥ दो महिनोंका एक ऋतु होता है। प्रत्येक ऋतुकी शक्ति अलग अलग होती है, मानो संवत्सररूपी गौका दूध ही संवत्सरके छह ऋतुओंमें निछोडा हुआ है। यह दूध मनुष्य पीवे और बलवान् बने। इसकी अनुकूलता इन्द्र अग्नि तथा अन्य सब देव करें ॥ ४॥

दाक्षायण हिरण्य ।

हिरण्य शब्दका अर्थ सुवर्ण अथवा सोना है,यह परिशुद्ध स्थितिमें बहुत ही बलवर्धक है । यह पेटमें भी लिया जाता है और शरीर पर भी धारण किया जाता है । श्री० यास्काचार्य हिरण्य शब्दके दो अर्थ देते हैं-" हितरमणीयं, हृदयरमणीयं " अर्थात् यह सुवर्ण हितकारक और रमणीय है तथा हृदयकी रमणीयता बढानेवाला है । सुवर्ण बलवर्धक तथा रोग नाशक हैं इसलिये आरोग्य चाहने वाले इसका उपयोग कर सकते हैं ।

इस सूक्तमें " दाक्षायण" शब्द (दक्ष+अयन) अर्थात् बलकेलिये प्रयत्न करने वाला इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । प्रथम मंत्रमें यह शब्द मनुष्योंका विशेषण है और द्वितीय मंत्रमें यह सुवर्णका विशेषण है । तृतीय मंत्रमें इसी अर्थका " दक्ष-माण" शब्द है जो शक्तिवान का वाचक है । पाठक विचार करेंगे तो उनका निश्चय होगा कि " दाक्षायण और दक्षमाण" ये दो शब्द करीब शक्तिमान् के ही वाचक हैं । दक्ष शब्द बलवाचक वेदमें प्रसिद्ध है । इसप्रकार इस सूक्तमें बल बढानेका जो मार्ग बताया है, उसमें सबसे प्रथम हिरण्यधारण है। हिरण्यधारण दो प्रकारसे होता है,एक तो आभूषण शरीरपर धारण करना और दूसरा सुवर्ण शरीरमें सेवन करना। सुवर्ण शरीरमें खानेकी रीति वैद्यग्रंथोंमें प्रसिद्ध है । सब अन्य धातु तथा औषधियां सेवन करनेपर शरीरमें नहीं रहती, परंतु सुवर्णकी ही यह विशेषता है कि वह शरीरके अंदर हड्डीयोंके जोडोंमें जा कर स्थिर रूपसे रहता है और मृत्युके समय तक साथ देता है । इस प्रकारकी सुवर्णधारणासे अनेक रोगोंसे मुक्तता होती है । इस रीतिसे धारण किया हुआ सुवर्ण देह मृत होनेपर उसके जलानेके बाद शरीरकी राखसे सबका सब मिलता है। अर्थात् यदि किसी पुरुषने एक तोला सुवर्ण वैद्यकीय रीतिसे सेवन किया तो वह तोलाभर सुवर्ण मृतशरीरके दाह होने के पश्चात् उसके संबंधियोंको प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार कोई हानी न करता हुआ यह सुवर्ण बल और आरोग्य देता है ।

जो वैद्य इस सुवर्ण धारण विधिको जानते हैं उनका नाम "दाक्षायण " प्रथम मंत्रने कहा है । इस प्रकारका परिशुद्ध सुवर्ण बलवर्धक होनेसे उसका नाम भी " दाक्षायण " है यह बात द्वितीय मंत्रने बता दी है । जो मनुष्य इस प्रकार सुवर्ण धारण विधिसे अपना आयुष्य बढाना चाहता है उसका भी नाम वेदने तृतीय मंत्रमें " दक्ष-माण " बताया है । इस प्रकार यह सूक्त बलवर्धन की बात प्रारंभसे अंत तक बता रहा है ।

दाक्षायणी विद्या।

बल बढानेकी विद्या का नाम दाक्षायणी विद्या है। (दक्ष + अयनः) बल प्राप्त करनेके मार्ग का उपदेश इस विद्यामें होता है। इस विद्यामें मनके साथ विशेष संबंध रहता है। (सु+मनस्यमानः) उत्तम मनसे युक्त अर्थात् मनकी विशेष शक्तिसे संपन्न। कमजोरी की भावनासे मन अशक्त होता है और सामर्थ्य की भावनासे बलशाली होता है। मनकी शक्ति बढानेकी जो विद्या है उस विद्याके अनुसार मन सुनियमोंसे युक्त बनानेवाले श्रेष्ठ लोग "सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः" शब्दों द्वारा वेदमें बताये हैं। पाठक अपने मनकी अवस्थाके साथ अपने बलका संबंध देखें और इन शब्दों द्वारा जो सुमनस्क होने की सूचना मिलती है, वह लेलें और इस प्रकार मानसिक धारणासे अपना बल बढावें।

सुवर्ण धारण।

यद्यपि प्रथम मंत्रमें केवल स्थूल शरीरपर सुवर्ण बांधनेका विधान किया है तथापि आगे जाकर पेटमें वीर्य वर्धक नाना रस पीनेका उपदेश इसी सूक्तमें आनेवाला है। सुवर्ण तथा अन्य कई रत्न हैं कि जो शरीरपर धारण करनेसे भी बलवर्धन तथा आरोग्य वर्धन कर सकते हैं। यह बात सूर्यकिरण चिकित्सा तथा वर्णचिकित्साके साथ संबंध रखनेवाली है। अर्थात् सुवर्ण रत्नादिका धारण करना भी शरीरके लिये आरोग्य-प्रद है। औषधियोंके जडोंके मणी शरीरपर धारण करनेसे भी आरोग्य की दृष्टीसे बडा लाभ करते हैं। संसर्ग जन्य रोगोंमें वचा--मणिके धारणसे अनेक लाभ हैं। यही बात सुवर्ण रत्नादि धारण से होती है। परंतु इसके लिये शुद्ध सुवर्ण चाहिये।

इस विषयमें प्रथम मंत्रमें कहा है कि — " बल बढानेकी विद्या जाननेवाले और उत्तम मनःशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा शरीरपर लटकाया हुआ सुवर्ण जीवन, तेज, बल, तथा दीर्घ आयुष्य देता है। " इसमें शरीरपर सुवर्ण लटकाने वाले मनुष्यों की उत्तम मनोभावना भी लाभदायक होती है यह सूचित किया है; वह मनन करने योग्य है।

इस मंत्रमें "शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि" का अर्थ " सौ सैन्य विभागोंके संचालक के शरीरपर सुवर्ण लटकाता हूं " ऐसा किया है, परंतु इसमें और भी एक गूढता है

वह यह है कि " अनीक " शब्द बल वाचक है। बल शब्द सैन्य वाचक और बल वाचक भी है। विशेषतः " अनीक " शब्दमें " अन्-प्राणने " धातु है जो जीवन शक्तिका वाचक प्रसिद्ध है। इसलिये जीवन शक्ति का अर्थ भी अनीक शब्द में है। इस अर्थके लेनेसे " शतानीक " शब्दका अर्थ " सौ जीवन शक्तियां, अथवा सौ जीवन शक्तियोंसे युक्त " होता है। यह भाव लेनेसे उक्त मंत्र भागका अर्थ ऐसा होता है कि—

शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि। (मंत्र १)

" सौ जीवन शक्तियोंकी प्राप्ति के लिये मैं सुवर्ण का धारण करता हूं। " सुवर्ण के अंदर सेकडों वीर्य हैं, उन सबकी प्राप्तिके लिये मैं उसका धारण करता हूं। यह आशय प्रथम मंत्र भाग का है। इस प्रथम मंत्रमें इनमेंसे कुछ गुण कहे भी हैं–

आयुषे। वर्चसे। बलाय। दीर्घायुत्वाय। शतशारदाय।

" आयु, तेज, बल, दीर्घ आयु, सौं वर्षकी आयु" इत्यादि शब्द जीवन शक्तियोंके ही सूचक हैं। इनका थोडासा परिगणन यहां किया है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं और जान सकते हैं कि इसी प्रकार अनेक जीवन शक्तियां हैं, उनकी प्राप्ति अपने अंदर करनी और उनकी वृद्धि भी करनी वैदिक धर्मका उद्देश्य है। इस विचार से ज्ञात हो सकता है कि यहां " शतानीक " शब्दका अर्थ " जीवन के सौ वीर्य, जीवन की सेकडों शक्तियां " अभीष्ट है। यद्यपि यह अर्थ हमने मंत्रार्थ करते समय किया नहीं है तथापि यह अर्थ हमें यहां प्रतीत हो रहा है। इस लिये प्रसिद्ध अर्थ ऊपर देकर यहां यह अर्थ लिखा है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

इस प्रकार प्रथम मंत्रका मनन करनेके बाद इसी प्रकारका एक मंत्र यजुर्वेदमें थोडेसे पाठभेदसे आता है उसको पाठकों के विचार के लिये यहां धर देते हैं—

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्म आबध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम्॥

वा. यजु. ३४। ५२

" उत्तम मनवाले दाक्षायण लोग शतानीक के लिये जिस सुवर्ण भूषणको बांधते रहे, (तत्) वह सुवर्ण भूषण (मे आबध्नामि) मैं अपने शरीरपर बांधता हूं इस लिये कि

मैं (आयुष्मान्) उत्तम आयुसे युक्त और (जरदष्टिः) वृद्ध अवस्थाका अनुभव करनेवाला होकर (यथा शतशारदाय आसं) जिस प्रकार सौ वर्षकी पूर्ण आयुको प्राप्त होऊं।"

इसका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्यों कि पूर्वोक्त भावही इस मंत्रमें अन्य रीतिसे और भिन्न शब्दोंसे व्यक्त हुआ है। इस मंत्रका द्वितीय अर्ध ही भिन्न है, प्रथमार्ध वैसाका वैसा ही है। यहां प्रथम मंत्रका विवरण समाप्त हुआ, अब द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं—

राक्षस और पिशाच।

नरमांस भोजन करनेवाले राक्षस होते हैं और रक्त पीनेवाले पिशाच होते हैं। ये सबसे क्रूर होनेके कारण सब लोग इनसे डरते रहते हैं। परंतु जो पूर्वोक्त प्रकार "सुवर्ण प्रयोग करता है उसके हमलेको राक्षस और पिशाच भी सह नहीं सकते।" इतनी शक्ति इस सुवर्ण प्रयोगसे मनुष्यको प्राप्त होती है। सुवर्ण में इतनी शक्ति है। क्यों कि "यह देवोंका पहिला ओज है।" अर्थात् संपूर्ण देवोंकी अनेक शक्तियां इसमें संगृहित हुई हैं। इसलिये द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि–"जो यह बल वर्धक सुवर्ण शरीरमें धारण करता है वह सब प्राणियोंसेभी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है।" अर्थात् इस सुवर्ण प्रयोगसे शरीरका बल भी बढ जाता है और दीर्घ आयु भी प्राप्त होती है। यह द्वितीय मंत्रका भाव पहिले मंत्रका ही एक प्रकारका स्पष्टीकरण है, इसलिये इसका इतना ही मनन पर्याप्त है। यही मंत्र यजुर्वेदमें निम्न लिखित प्रकार है—

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ यजु० ३४।५१

"यह देवोंसे उत्पन्न हुआ पहिला तेज है, इस लिये राक्षस और पिशाच भी इसके पार नहीं हो सकते। जो दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है वह देवोंमें दीर्घ आयु करता है और वह मनुष्योंमें भी दीर्घ आयु करता है।"

इस मंत्रके द्वितीयार्धमें थोडा भेद है और जो अथर्व पाठमें "जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः" इतनाही था, वहां ही इस में "देवेषु और मनुष्येषु" ये शब्द अधिक हैं। "जीवेषु" शब्दकाही यह "देवेषु, मनुष्येषु" आदि शब्दों द्वारा अर्थ हुआ है। इस प्रकार अन्य शाखासंहिताओंके पाठभेद देखनेसे अर्थ निश्चय करने में बडी सहायता होती है।

यहां तक दो मंत्रोंका मनन हुआ। इन दो मंत्रों में शरीर पर सुवर्ण धारण करनेकी बातका उपदेश किया है। अब अगले दो मंत्रोंसे जल वनस्पति तथा ऋतुकालानुसार उत्पन्न होनेवाले अन्य बलवर्धक पदार्थोंका अंतर्बाह्य सेवन करनेकी महत्त्व पूर्ण विद्या दी जाती है, उसका पाठक विशेष ध्यानसे मनन करें।

तृतीय मंत्रमें कहा है– "जल और औषधियोंके तेज, कांति, शक्ति, बल और वीर्य वर्धक रसोंको हम वैसे धारण करते हैं कि जैसे आत्मामें इंद्रिय शक्तियां धारण हुई हैं। इसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सुवर्णका भी धारण करे।"

जलमें नाना औषधियोंके गुण हैं यह बात इसके पूर्व आये हुए जल सूक्तों में वर्णन हो चुकी है। वे सूक्त पाठक यहां देखें! औषधियोंके अंदर वीर्यवर्धक रस हैं, इसी लिये ही वैद्य औषधि प्रयोग करते हैं, अथर्व वेदमें भी यह बात आगे आजायगी। जिस प्रकार जल अंतर्बाह्य पवित्रता करके बल आदि गुणोंकी वृद्धि करता है, इसी प्रकार नाना प्रकारकी वीर्य वर्धक औषधियोंके पथ्य हित मित अन्न भक्षण पूर्वक सेवनसे मनुष्य बल प्राप्त करके दीर्घ जीवन भी प्राप्त करता है। सुवर्ण सेवन से भी अथवा सुवर्णादि धातुओंके सेवन से भी इसी प्रकार लाभ होते हैं, इसका वैद्य शास्त्रमें नाम "रस प्रयोग" है। यह रस प्रयोग सुयोग्य वैद्य ही के उपदेशानुसार करना चाहिये। यहां यजुर्वेदका इसी प्रकरण का मंत्र देखिये–

सुवर्णके गुण।

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदं हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥
वा. यजु. ३४। ५०

"(आयुष्यं) दीर्घ आयु करनेवाला, (वर्चस्यं) कान्ति बढानेवाला, (रायस्पोषं) शोभा और पुष्टि बढानेवाला, (औद्भिदं) खानसे उत्पन्न होनेवाला अथवा ऊपर उठानेवाला, (वर्चस्वत्) तेज बढानेवाला (जैत्राय) विजय के लिये (इदं हिरण्यं) यह सुवर्ण (मां उ आविशतात्) मुझे अथवा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो।"

सुवर्णका सेवन।

यह मंत्र सुवर्णके अनेक गुण बता रहा है। इतने गुणोंकी वृद्धि करनेके लिये यह सुवर्ण मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हो, यह इच्छा इस मंत्रमें स्पष्ट है। अर्थात् परिशुद्ध सुवर्णके सेवनसे इन गुणोंकी शरीरमें वृद्धि हो सकती है। इस मंत्र में "हिरण्यं आविशतु" ये

यह वेदका उपदेश मनन करने और आचरण में लाने योग्य है। इतना उपदेश करनेपर भी यदि लोग निर्वीर्य, निःसत्त्व, निस्तेज, निर्बल रहेंगे और वीर्यवान बननेका यत्न नहीं करेंगे तो वह मनुष्यों का ही दोष है। पाठक इस स्थानपर विचार करें और निश्चय करें कि वेदका उपदेश आचरणमें लानेका यत्न वे कितना कर रहे हैं और कितना नहीं। जो वैदिक धर्मी लोग अपने वैदिक धर्मके उपदेश को आचरण में नहीं ढालते वे शीघ्र प्रयत्न करके इस दिशासे योग्य सुधार अवश्य करें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

इस मंत्रके उत्तरार्धका भाव भी मनन करने योग्य है। "इन्द्र अग्नि आदि सब देव इसकी अनकूलतासे सहायता करें" अग्नि आदि देवताओंकी सहायताके विना कौन मनुष्य कैसा उन्नतिको प्राप्त हो सकता है? अग्निही हमारा अन्न पकाता है, जलही हमारी तृषा शांत करता है, पृथ्वी हमें आधार देती है, बिजुली सबको चेतना देती है, वायु सबका प्राण बनकर प्राणियोंका धारण करता है, सूर्यदेव सबको जीवन शक्ति देता है, चंद्रमा अपनी किरणोंद्वारा वनस्पतियोंका पोषण करने के हमारा सहायक बनता है, इसी प्रकार अन्यान्य देव हमारे सहायक हो रहे हैं। इन के प्रतिनिधि हमारे शरीर में रहते हैं और उनके द्वारा ये सब देव अपने अपने जीवनांश हमतक पहुंचा रहे हैं। इस विषयमें इस के पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है, इस लिये यहां अधिक विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इतने विवरणसे यह बात पाठकोंके मन में आगई होगी कि अग्नि आदि देवताओंकी सहायता किस रीतिसे हमें हो रही है और यदि इन की सहायता अधिक से अधिक प्राप्त करने और उससे अधिकसे अधिक लाभ उठाने की विधि ज्ञात हो गई, तो मनुष्योंका बहुत ही लाभ हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका विचार करेंगे और अपना आयु, आरोग्य बल और वीर्य बढा कर जगत् में यशस्वी होंगे।

यहां षष्ठ अनुवाक और

प्रथम काण्ड समाप्त।

प्रथम काण्ड का मनन ।

थोडासा मनन ।

इस प्रथम काण्डमें दो प्रपाठक, छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५२ मंत्र हैं। इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, और विषय बतानेवाला कोष्टक यहां देते हैं— जो पाठक इस काण्डका विशेष मनन करना चाहते हैं उनको यह कोष्टक बहुत लाभ दायक होगा—

अथर्व वेद प्रथम काण्ड के सूक्तों का कोष्टक ।

सूक्त	ऋषि	देवता	गण	विषय
१	अथर्वा	वाचस्पति	वर्चस्यगण	मेधाजनन
२	,,	पर्जन्य	अपराजितगण सांग्रामिक गण	विजय
३	,,	मंत्रोक्त(पृथ्वी, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य)	——	आरोग्य
४	सिंधुद्वीपः	आपः	——	,,
५	,,	,,	——	,,
६	,,	,,	——	,,
		(इति प्रथमोऽनुवाकः)		
७	चातनः	इन्द्राग्नी	——	शत्रुनाशन
८	,,	अग्निः, बृहस्पतिः	——	,,
९	अथर्वा	वस्वादयः	वर्चस्य गण	तेजस्वी प्राप्ति
१०	,,	असुरो वरुणः	——	पापनिर्मुक्ति
११	,,	पूषा	——	सुखप्रसूति
		(इति द्वितीयोऽनुवाकः)		

ऋषि विभाग ।

१ अथर्वा ऋषिः– १-३; ९-११; १५; २०, २१; २३; २७; ३०; ३४, ३५ इन चौदह सूक्तों का अथर्वा ऋषि है ।

२ ब्रह्मा (किंवा ब्रह्म) ऋषिः–१७, १९, २२, २४. २६, ३१, ३२, इन सात सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है ।

३ चातन ऋषिः–७, ८, १६, २८ इन चार सूक्तोंका चातन ऋषि है ।

४ भृग्वंगिरा ऋषिः– १२—१४; २५ इन चार सूक्तोंका भृग्वंगिरा ऋषि है ।

५ सिंधुद्वीप ऋषिः–४—६ इन तीन सूक्तोंका सिंधुद्वीप ऋषि है ।

६ द्रविणोदा ऋषिः– १८ वे एक सूक्तका यह ऋषि है ।

७ वसिष्ठ ऋषिः— २९ वे एक सूक्तका यह ऋषि है ।

८ शन्ताती ऋषिः—३३ वे एक सूक्तका यह ऋषि है ।

इस प्रकार आठ ऋषियोंके देखे मंत्र इस काण्डमें हैं । यह जैसा ऋषियोंके नामसे सूक्त विभाग हुआ है, उसी प्रकार एक एक ऋषिके मंत्रों में किन किन विषयों का विचार हुआ है यह अब देखिये—

१ अथर्वा ऋषि—मेधाजनन, विजयप्राप्ति, आरोग्यप्राप्ति, तेजःप्राप्ति, पापनिवृत्ति, सुखप्रसूति, संगठन, राजशासन, प्रजापालन, कुष्ठरोगनिवृत्ति, विजयी स्त्री, आयुष्यवर्धन, मोटा जीवन, आयुष्य बलादिसंवर्धन ।

२ ब्रह्माऋषि– रक्तस्राव दूरकरना, शत्रुनाशन, संग्राम, हृदय तथा कामिला रोग-दूरीकरण, कुष्ठनाशन, सुखवर्धन, आशापालन, दीर्घजीवन ।

३ चातन ऋषिः—शत्रुनाशन, दुष्टनाशन ।

४ भृग्वंगिरा ऋषिः—रोगनिवारण, ज्वरनाशन, ईर्ष्याशमन, विवाह ।

५ सिंधुद्वीप ऋषिः—जलसे आरोग्य ।

६ द्रविणोदा ऋषिः— सौभाग्यवर्धन ।

७ वसिष्ठ ऋषिः — राष्ट्रसंवर्धन ।

८ शन्ताती ऋषिः— वृष्टि जलसे स्वास्थ्य ।

इस प्रकार किन ऋषियोंके नामोंसे किन किन विषयोंका संबंध है यह देखना बडा बोध प्रद होता है । (१) सिंधुद्वीप ऋषिके नाममें " सिंधु " [illegible]

वाचक है और यही जल देवताके मन्त्रोंका ऋषि है। (२) चातन ऋषि के नामका अर्थात् "चातन" शब्दका अर्थ "हंकालना, घबरादेना, भगादेना, शत्रुको उखाड देना" है और इस ऋषिके सूक्तोंमें भी यही विषय है। इस प्रकार सूक्तोंके अंदर आनेवाला विषय और ऋषिनामोंका अर्थ इसका कई स्थानोंपर घनिष्ठ संबंध दिखाई देता है। इसका विचार करना योग्य है।

सूक्तों के गण।

जिन प्राचीन मुनियोंने अथर्व सूक्तों पर विचार किया था उन्होंने इन सूक्तों के गण बना दिये हैं। एक एक गणके संपूर्ण सूक्तों का विचार एक साथ होना चाहिये। ऐसा विचार करने से अर्थज्ञान भी शीघ्र होता है और शब्दोंके अर्थ निश्चित करना भी सुगम हो जाता है। इस प्रथम कांडके पैंतीस सूक्तों में कई सूक्त कई गणोंके अंदर आगये हैं और कई गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं। जो गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं उनको अर्थ की दृष्टिसे हम अन्यगणोंके साथ पढ सकते हैं। इस प्रकार गणशः विचार करने से सूक्तों का बोध शीघ्र हो जाता है, देखिये —

१ **वर्चस्य गण**– इसके सूक्त १, ९ ये हैं। तथापि तेज, आरोग्य आदि बढाने का उपदेश करनेवाले सूक्त हम इस गणके साथ पढ सकते हैं, जैसे — सूक्त ३ – ६, १८, २५, २६, ३०, ३१, ३४, ३५ आदि।

२ **अपराजित गण, सांग्रामिक गण**– इसके सूक्त २, १९ ये हैं तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले अभयगणके सूक्त हैं, तथा राष्ट्र शासन और राज्य पालन के सब सूक्त इनके साथ संबंधित हैं, जैसे–सूक्त ७, ८, १५, १६, १७, २०, २१, २७, २९, ३१, आदि।

३ **तक्मनाशन गण**– इस गणके सूक्त १२, २५ ये हैं तथापि सब रोग नाशक और आंरोग्य वर्धक सूक्त इस गणके सूक्तों के साथ पढना चाहिये। जैसे सूक्त ३ – ६; १७, २२, २३, २५, ३२, ३५ आदि—

४ **स्वस्त्ययनगण** – इस गणके सूक्त २६, २७ ये हैं।

५ **आयुष्यगण** – इस गणके सूक्त ३०, ३५ ये हैं, तथापि स्वस्त्ययन गण,

वर्चस्यगण, तक्मनाशनगण तथा शांतिगणके सूक्तोंका इससे संबंध है।

६ शांतिगण – जल देवताके सब सूक्त इस गणमें आते हैं।

७ अभयगण -- इसका सूक्त २१ वां है, तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले गण स्वस्त्ययनगण, अपराजितगण, तक्मनाशनगण, चातनसूक्त ये हैं।

इस प्रकार यह सूक्तोंके गणोंका विचार है और इस रीतिसे सूक्तोंका विचार होनेसे बहुत ही बोध प्राप्त होता है।

अध्ययन की सुगमता।

कई पाठक शङ्का करते हैं कि एक विषयके सब सूक्त इकट्ठे क्यों नहीं दिये और सब विषयोंके मिलेजुले सूक्त ही सब काण्डोंमें क्यों दिये हैं? इसका उत्तर यह है कि यदि जल आदि विषयोंके संपूर्ण सूक्त इकट्ठे होते, तो अध्ययन करने वालेको विविधताका अभाव होनेके कारण अध्ययन करनेमें बडा कष्ट हो जाता। अध्ययनकी सुविधा के लिये ही मिलेजुले सूक्त दिये हैं। अच्छी पाठशालाओंमें घण्टे दो घण्टेमें भिन्न भिन्न विषय पढाये जाते हैं, इसका यही कारण है, कि पढने वालोंके मस्तिष्क को कष्ट न हो। सवेरेसे शामतक एक ही विषयका अध्ययन करना हो तो पढने पढानेवालोंको अतिकष्ट होते हैं। इस बातका अनुभव हरएकको होगा।

इस से पाठक जान सकते हैं कि विषयोंकी विभिन्नता रखनेके लिये विभिन्न विषयों के सूक्त मिलेजुले दिये हैं।

इसमें दूसरा भी एक हेतु प्रतीत होता है, वह यह है कि, पूर्वापर संबंध का अनुमान करने और पूर्वापर संबंधका स्मरण रखनेका अभ्यास हो। यदि जलसूक्त प्रथम कांडमें आया हो, तो आगे जहां जल सूक्त आजायं वहां वहां इसका स्मरण पूर्वक अनुसंधान करना चाहिये। इस प्रकार स्मरण शक्ति भी बढ सकती है। स्मरण शक्तिका बढना और पूर्वापर संबंध जोडनेका अभ्यास होना ये दो महत्त्व पूर्ण अभ्यास इस व्यवस्थासे साध्य होते हैं।

इस प्रथम काण्डके दो प्रपाठक हैं, इस "प्रपाठक" का तात्पर्य ये दो पाठ ही हैं। दो प्र-पाठ-क" अर्थात् दो विशेष पाठ हैं। गुरुसे एकवार जितना पाठ लिया जाता है उतना एक प्र-पाठ-क होता है। इस प्रकार यह प्रथमकाण्ड दो पाठोंकी पढाई है। अथवा एक अनुवाक का एक पाठ अल्पबुद्धिवालोंकेलिये माना जाय तो यह प्रथम काण्ड की पढाई छः पाठों की मानी जा सकती है। एक अनुवाकमें भी विषयोंकी विविधता है और

एक प्रपाठकमें भी पाठ्य विषयोंकी विविधता है और इस विविधता के कारण ही पढने पढानेवालोंको बडी रोचकता उत्पन्न हो सकती है।

आजकल इतनी पढाई नहीं हो सकती, यह बुद्धि कम होने या ग्राहकता कम होनेका प्रमाण है। यह अथर्ववेद प्रबुद्ध विद्यार्थी के ही पढनेका विषय है। इसलिये अच्छे प्रबुद्ध तथा अन्य शास्त्रोंमें कृतपरिश्रम उक्त प्रकार पढाई कर सकते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है।

अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता।

जो पाठक इस प्रथम कांडके सब मंत्रोंको अच्छी प्रकार पढेंगे और थोडा मनन भी करेंगे तो उनको उसीसमय इस बातका पता लग जायगा कि, इस वेद का उपदेश इस समय में भी नवीन और अत्यंत उपयोगी तथा आज ही अपने आचरणमें लाने योग्य है। सूक्त पढनेके समय ऐसा प्रतीत होता है कि, यह उपाय आज ही हम आचरण में लायेंगे और अपना लाभ उठायेंगे। उपदेश की जीवितता और जाग्रतता इसी बात में पाठकोंके मनमें स्पष्ट रूपसे खडी हो जाती है।

वेद सब ग्रंथोंसे पुराने ग्रंथ होने पर भी नवीन से नवीन हैं और यही इनकी "सनातन विद्या" है; यह विद्या कभी पुरानी नहीं होती। जो जिस समय और जिस अवस्थामें पढेगा उसको उसी अवस्थामें और उसी समय अपनी उन्नति का उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रथम कांडके सूक्त पढकर पाठक इस बातका अनुभव करें और वेद विद्याका महत्त्व अपने मनमें स्थिर करें।

ये उपदेश जैसे व्यक्तिके विषयमें उसी प्रकार सामाजिक, राष्ट्रीय और धर्म प्रचार के विषयमें भी सत्य और सनातन प्रतीत होंगे। इस समय जिनका उपयोग नहीं हो सकता ऐसा कोई विधान इसमें नहीं है। परंतु इन उपदेशोंका महत्त्व देखनेके और अनुभव करनेके लिये पाठकोंको इस काण्डका पाठ कमसे कम दस पांच बार मनन पूर्वक करना चाहिये।

व्यक्तिके विषयमें उपदेश।

प्रथम काण्डके ३५ सूक्तोंमें करीब १६ सूक्त ऐसे हैं कि जो मनुष्य के स्वास्थ्य, आरोग्य, नीरोगता, बल, आयुष्य, बुद्धि आदि विषयोंका उपदेश देनेके कारण मनुष्यके दैनिक व्यवहार के साथ संबंध रखते हैं। हरएक मनुष्य इस समय में भी इनके उपदेश

से लाभ उठा सकता है। आरोग्य वर्धन के वैदिक उपायोंकी ओर हम पाठकोंका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। जो इस गणके सूक्त हैं उनका मनन पाठक सबसे अधिक करें और अपनी परिस्थितिमें उन उपायोंको ढालनेका जितना हो सकता है उतना यत्न करें। आरोग्य वर्धन के उपायोंमें सारांशरूपसे इन उपायोंका वर्णन विशेष बलके साथ इस काण्डमें किया है—

१ जलसे आरोग्य— जलसे आरोग्य होता है, शरीरमें शांति, सुख, नीरोगता आदि प्राप्त होती है यह बतानेवाले जल देवता के चार सूक्त दिये हैं। अनेक प्रकारके जलोंका इन सूक्तोंमें वर्णन करनेके बाद "दिव्य जल" अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होने वाले जलका महत्त्व बताया है वह कभी भूलना नहीं चाहिये। वृष्टिके दिनोंमें–जिन दिनोंमें शुद्ध जलकी वृष्टि होती है— उन दिनोंमें इस जलका संग्रह हरएक गृहस्थी कर सकता है। जहां वृष्टि बहुत थोडी होती है वहांकी बात छोड ही जाय तो अन्यत्र यह जल सालभरके पीनेके लिये पर्याप्त प्रमाणमें मिल सकता है। परंतु स्मरण रखना चाहिये कि घरके छप्पर पर जमा हुआ जल लेना नहीं चाहिये परंतु छत पर खुले और बडे मुख वाला बर्तन रखकर उस में सीधी वृष्टिधाराओं से जल संगृहित करना चाहिये। अर्थात् ऐसा इंतजाम करना चाहिये कि वृष्टि जल की धाराएं सीधीं अपने बर्तन में आजांय। बीचमें वृक्ष, छप्पर आदि किसी का स्पर्श न हो। इस प्रकारका इकट्ठा किया हुआ जल स्वच्छ और निर्मल बोतलों में भर कर रखने से सालभर रहता है और बिगडता नहीं। यह जल यदि अच्छा रखा तो दो वर्षतक रहता है और इसका यह न बिगडने का गुण ही मनुष्य का आरोग्य वर्धन करता है।

उपवासके दिन इसका पान करनेसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं। चौबीस घंटोंका उपवास कर के उस में जितना यह दिव्य जल पिया जाय उतना पीना चाहिये। यह प्रयोग हमने अजमाया है और हर अवस्थामें इस से लाभ हुआ है। इस प्रकारके उपवास के पश्चात् थोडा थोडा दूध और घी खाना चाहिये और भोजन अत्यन्त लघु होना चाहिये। हर दिन भी पीने के लिये इसका उपयोग करनेवाले बडा ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसका नाम "अमरवारुणी का पान" है। इसी को "सुरा" भी कहते हैं। सुरा शब्द केवल मद्य अर्थमें आजकल प्रयुक्त होता है, परंतु प्राचीन ग्रंथोंमें इसका अर्थ "वृष्टि जल" भी था। वरुण राजाका साम्राज्य मेघ मंडल में है और वही इस आरोग्य वर्धक वृष्टि जल को देता है। इसका वर्णन वेदके अनेक सूक्तों में है।

वेदका यह आरोग्य प्राप्तिका सीधा, सुगम और व्ययके बिना प्राप्त होनेवाला उपाय

साजीदगी इस समय नहीं रही है और इस समय बडी कृत्रिमता हमारे जीवन व्यवहारमें आगयी है, इसीका परिणाम हमारे अल्पायु दुर्बल और रोगी होनेमें हो रहा है । पाठक वेदके उपदेशके साथ इस इतिहासिक बातकाभी मनन करें ।

सूर्य प्रकाश इतने विपुल प्रमाणमें भूमिपर आता है कि वह आवश्यकतासे कई गुणा अधिक है । इतना होते हुएभी तंग गलियें, तंग मकान, अंधेर कमरे और उनमें अत्यधिक मनुष्योंकी संख्या होनेके कारण जीवन देनेवाला सूर्यनारायण हमारे आरोग्यवर्धन के लिये प्रतिदिन आता है, तथापि हमारेलिये वह उतना लाभ नहीं पहुंचा सकता जितना कि वह पहुंचाने में समर्थ है । ये सब दोष मनुष्यकृत हैं । ऋषिजीवन का हमें इस विषयमें बहुत विचार करना चाहिये और जहांतक हो सके वहां तक यत्न करके वह साजीदगी हमारे खानपान, वस्त्राभूषण तथा अन्यान्य व्यवहारमें लानी चाहिये । वेदके उपदेशानुसार ऋषिजन अपना व्यवहार रखते थे, इस लिये ऋषि लोगोंको अतिदीर्घ आयु प्राप्त होती थी, और हम उसके बिलकुल उलटे जा रहे हैं, इस लिये मृत्युके वशमें हम अधिक हो रहे हैं ।

(३) वायुसे आरोग्य—सूर्य प्रकाशके समान ही वायुका महत्त्व है । यही प्राण बनकर मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरोंमें रहता है और इसीके कारण प्राणी प्राण धारण करते हैं । यदि वायु अशुद्ध हुआ तो मनुष्य रोगी होनेमें बिलकुल देरी नहीं लगेगी । यह बात सब लोग जानते हैं, मानते हैं और बोलते भी हैं; परंतु इसका पालन कितने लोग करते हैं, इसका विचार करनेसे पता लग जायगा कि, इस विषयकी मनुष्योंकी उदासीनता निंदनीय ही है । खुली वायु और खुला सूर्य प्रकाश मनुष्योंको पूर्ण आयु प्रदान करनेमें समर्थ है, परंतु जो मनुष्य उनसे दूर भागते हैं उनका लाभ कैसा हो सकता है ?

वृष्टिजल, सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु ये तीन पदार्थ वेद मंत्रों द्वारा आरोग्य बढाने वाले बताये हैं और आजकल के शास्त्रभी इस बातकी पुष्टि कर रहे हैं, इतनाही नहीं परंतु युरोप अमरिकामें जहां शीत अधिक होता है. उन देशोंमें भी ऐसी संस्थाएं स्थापित हुई हैं कि जहां आरोग्य वर्धन के लिये सूर्य प्रकाशमें करीब करीब नंगा रहना आवश्यक माना गया है । जिन लोगोंने तंग कपडे पहननेके रिवाज जारी किये, वे ही युरोप अमरिकाके लोग इस प्रकार ऋषिजीवन की ओर झुक रहे हैं, यह देख कर हमें वेदकी सचाईका जगत् में विजय हो रहा है यह अनुभव होनेसे अधिक ही आनंद होता है । बिना प्रचार किये हुए ही लोग भूलते और भटकते हुए वैदिक सचाईका इस प्रकार ग्रहण कर रहे हैं; ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने वेद का अध्ययन करेंगे,

अथर्ववेद।

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

द्वितीयं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८६, शक १८५१, सन १९३०

अथर्ववेद।

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

द्वितीयं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८४, शक १८४९, सन १९२७

*

सबका पिता।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अथर्ववेद २ । १ । ३

" वह ईश्वर हम सबका पिता, उत्पादक और बन्धु है, वही सब स्थानों और भुवनोंको यथावत जानता है। उसी अकेले ईश्वरको अन्य सम्पूर्ण देवोंके नाम दिये जाते हैं और सम्पूर्ण भुवन उसी प्रशंसनीय ईश्वरको प्राप्त करने के लिये घूम रहे हैं। "

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

द्वितीय काण्ड।

इस द्वितीय काण्डका प्रारंभ " वेन " सूक्तसे और " वेन " शब्दसे होता है। यह मंगल वाचक शब्द है। " वेन " शब्दका अर्थ " स्तुति करने वाला, ईश्वरके गुण गानेवाला भक्त " ऐसा है। परमात्मा पूर्ण रीतिसे स्तुति करने योग्य होनेसे उसीके साक्षात्कारके और उसी के गुण वर्णन के मन्त्रोंका यह सूक्त है। इस परमात्माकी विद्याके नाम " गुप्त विद्या, गूढ विद्या, गुह्य विद्या, परा विद्या, आत्मविद्या " आदि अनेक हैं। इस गुह्य विद्यामें परमात्माका साक्षात्कार करनेके उपाय बताये जाते हैं। यह इस विद्याकी विशेषता है। विद्याओंमें श्रेष्ठ विद्या यही है जो इस काण्डके प्रारंभमें दी गई है, इस लिये इसका अध्ययन पाठक इस दृष्टिसे करें।

जिस प्रकार प्रथम काण्ड मुख्यतया चार मन्त्रवाले सूक्तोंका है, उसी प्रकार यह द्वितीय काण्ड पांच मन्त्रवाले सूक्तोंका है। इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त हैं और २०७ मन्त्र हैं। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इसमें एक सूक्त अधिक है और ५४ मन्त्र अधिक हैं। इस द्वितीय काण्डमें सूक्तोंकी मन्त्र संख्या निम्न लिखित प्रकार है—

५ मंत्रोंके	सूक्त	२२ हैं,	इनकी	मंत्र संख्या	११०	है
६ ,,	,,	५ ,,	,,	,,	३०	,,
७ ,,	,,	५ ,,	,,	,,	३५	,,
८ ,,	,,	४ ,,	,,	,,	३२	,,

कुल सूक्त संख्या ३६   कुल मंत्र संख्या २०७

*

सबका पिता।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अथर्ववेद २।१।३

" वह ईश्वर हम सबका पिता, उत्पादक और बन्धु है, वही सब स्थानों और भुवनोंको यथावत जानता है। उसी अकेले ईश्वरको अन्य सम्पूर्ण देवोंके नाम दिये जाते हैं और सम्पूर्ण भुवन उसी प्रशंसनीय ईश्वरको प्राप्त करने के लिये घूम रहे हैं।"

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
तृतीयोऽनुवाकः				
११	५	शुक्रः	कृत्यादूषणं, कृत्यापरिहरणं	१ चतुष्पदा विराट्, २–५ त्रिपदा परोष्णिहः, ४ पिपीलिकमध्या निचृत्
१२	८	भरद्वाजः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्; २ जगती; ७,८ अनुष्टुभौ
१३	५	अथर्वा	", अग्निः	" ; ४ अनुष्टुप्; ५ विराड्जगती
१४	६	चातनः	शाला, अग्निः, मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, २ भुरिक्, ४ उपरिष्टाद्विराड्बृहती.
१५	"	ब्रह्मा	प्राणः, अपानः, आयुः	त्रिपाद्गायत्री.
१६	७	"	"	१,३ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, २ एकपदासुरी उष्णिक्, ४,५ द्विपदासुरी गायत्री
१७	"	"	"	१-६ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुरी उष्णिक्.
चतुर्थोऽनुवाकः				
१८	५	चातनः (सपत्न [illegible])	अग्निः	साम्नी बृहती.
१९	"	अथर्वा	"	१–४ निचृद्विषमा गायत्री, ५ भुरिग्विषमा [illegible]
२०	"	"	वायुः	" "
२१	"	"	सूर्यः	" "
२२	"	"	चंद्रः	" "
२३	"	"	आपः	" "
२४	८	ब्रह्मा	आयुष्यं	पंक्तिः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
२५	५	चातनः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ भूरिक्
२६	"	सविता	पशुः	त्रिष्टुप् ३ उपरिष्टाद्विराड्बृहती ४,५ अनुष्टुभौ (४ भूरिक्)
पञ्चमोऽनुवाकः				
२७	७	कापिञ्जलः	वनस्पतिः रुद्रः, इन्द्रः	अनुष्टुप्
२८	५	शम्भू	जरिमा, आयुः	त्रिष्टुप्, १ जगती, ५ भूरिक्
२९	७	अथर्वा	बहुदेवता	" १ अनुष्टुप् ४ पराबृहती निचृत्प्रस्तारपंक्तिः
३०	५	प्रजापतिः	अश्विनौ	अनुष्टुप्,१ पथ्यापंक्तिः३भूरिक्
३१	"	काण्वः	मही, चंद्रमाः,	" २ उपरिष्टाद्विराड्बृहती, ३ आर्षीत्रिष्टुप् ४ प्रागुक्ता बृहती, ५ प्रागुक्ता त्रिष्टुप्
षष्ठोऽनुवाकः				
३२	६	"	आदित्यः	" १ त्रिपाद्भूरिग्गायत्री ६चतुष्पान्निचृदुष्णिक्
३३	७	ब्रह्मा	यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यं	" ३ककुंमती,४चतुष्पाद्भूरिगुष्णिग्, ५ उपरिष्टाद्विराड्बृहती,६उष्णिग्गर्भा निचृदनुष्टुभ् ७ पथ्यापंक्तिः
३४	५	अथर्वा	पशुपतिः	त्रिष्टुप्
३५	"	अंगिराः	विश्वकर्मा	" १बृहतीगर्भा,४,५भूरिक्
३६	८	पतिवेदनः	अग्नीषोमौ	" १ भूरिक् २, ५–७ अनुष्टुप् ८ निचृत्पुर उष्णिग्

इस प्रकार सूक्तोंके ऋषि देवता और छंद हैं। स्वाध्याय करनेके समय पाठकों को इनके ज्ञानसे वहुत लाभ हो सकता है। अब हम ऋषि क्रमसे सूक्तोंका कोष्टक देते हैं-

१ अथर्वा- ४, ७, १३, १९-२३, २९, ३४ ये दस सूक्त।
२ ब्रह्मा- १५-१७, २४, ३३, ये पांच सूक्त।
३ आंगिरसो भृगुः— ८-१० ये तीन सूक्त।
४ चातनः— १४, १८, २५, " " "
५ अंगिराः— ३, ३५ ये दो सूक्त।
६ काण्वः— ३१, ३२ " " "
७ आथर्वणो भृगुः—५ यह एक सूक्त।
८ वेनः — १ " "
९ मातृनामा— २ " "
१० शौनकः — ६ " "
११ शुक्रः — ११ " "
१२ भरद्वाजः — १२ " "
१३ सविता — २६ " "
१४ कपिञ्जलः— २७ " "
१५ शम्भू — २८ " "
१६ प्रजापतिः— ३० " "
१७ पतिवेदनः— ३६ " "

ये ऋषि-क्रमानुसार सूक्त हैं। अब देवता-क्रमानुसार सूक्तों की गणना देखिये—

१ ब्रह्म, आत्मा— १ यह एक सूक्त।
२ गंधर्वः — २ " "
३ इन्द्रः — ५ " "
४ अग्निः — ६, १३, १४, १८, १९, ये पांच सूक्त।
५ वनस्पतिः — ३, ७-९, २५, २७ ये छः सूक्त।
६ दीर्घायुष्यं — ३, ७, १५-१७, २४, २८ ये सात सूक्त।
७ आरोग्यं — ८, ९, ११, १५-१७, २८ ये सात सूक्त।
८ चंद्रमाः — ४, २२, ३१, ३२ ये चार सूक्त।

९ जंगिडः	— ४	यह एक सूक्त	
१० निर्ऋतिः	— १०	,,	,,
११ वायुः	— २०	,,	,,
१२ सूर्यः	— २१	,,	,,
१३ आदित्यः	— ३२	,,	,,
१४ आपः	— २३	,,	,,
१५ अश्विनौ	— ३०	,,	,,
१६ विश्वकर्मा	— ३५	,,	,,
१७ अग्नीषोमौ	— ३६	,,	,,
१८ पशुपतिः	— ३४	,,	,,
१९ पशुः	— २६	,,	,,

अन्य सूक्तों में अनेक देवताएं हैं, जो प्रत्येक मंत्रके विवरण में पाठक देख सकते हैं। समान देवताके सूक्तोंका अर्थविचार एक साथ करना चाहिये । अर्थ विचार करने के समय ये कोष्टक पाठकों के लिये बडे उपयोगी हो सकते हैं। इस कोष्टकसे कितने सूक्तों का विचार साथ साथ करना चाहिये । यह बात पाठक जान सकते हैं और इस प्रकार विचार करके मंत्रों और सूक्तोंका अनुसंधान कर सकते हैं ।

इतनी आवश्यक बात यहां कहके अब इस द्वितीय काण्डका अर्थ विचार करते हैं-

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

द्वितीय काण्ड ।

गुह्य–अध्यात्म–विद्या ।

(१)

[ऋषिः— वेनः । देवता—ब्रह्म, आत्मा]

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥
प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गंधर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥
स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥
परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥ ४ ॥
परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

अर्थ– (वेनः तत परमं पश्यत्) भक्त ही उस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदय की गुफामें है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति)जिस में सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है।(इदं पृश्निः जायमानाः अदुहत्) इसीका प्रकृतिने दोहन करकेही जन्मलेनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसलिये (स्वर्विदः व्राः) प्रकाश को जानकर व्रत पालन करने वाले मनुष्यही इसकी (अभ्यनूषत) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥ १ ॥ (यत् गुहा) जो हृदयकी गुफा में है (तत् अमृतस्य परमं धाम) वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान (विद्वान् गन्धर्वः प्रवोचत्) ज्ञानी वक्ता कहे। (अस्य त्रीणि पदा) इस के तीन पद (गुहा निहिता) हृदय की गुफा में रखे हैं, (यः तानि वेद) जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत) वह

पिताका भी पिता अर्थात् बडा समर्थ हो जाता है॥ २ ॥ (सः नः पिता) वह हम सबका पिता है, (जनिता) जन्म देनेवाला (उत सः बंधुः) और वह भाई है, वह (विश्वा भुवनानि धामानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। (यः एकः एव) वह अकेलाही एक (देवानां नाम-धः) सम्पूर्ण देवों के नाम धारण करनेवाला है, (तं सं-प्रश्नं) उसी उत्तम प्रकारसे पूछने योग्य परमात्माके प्रति (सर्वा भुवना यन्ति) संपूर्ण भुवन पहुंचते हैं॥ ३ ॥ (सद्यः) शीघ्र ही (द्यावा—पृथिवी परि आयं) द्युलोक और पृथ्वी लोकमें सर्वत्र मैं घूम आया हूं और अब (ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे) सत्यके पहिले उत्पादक की उपासना करता हूं। (वक्तरि वाचं इव) वक्तामें जैसी वाणी रहती है, उसी प्रकार यह (भुवने-स्थाः) सब भुवनों में रहता है, और (एषः धास्युः) यही सबका धारक और पोषक है, (ननु एषः अग्निः) निश्चयसे यह अग्नि ही है ॥ ४ ॥ (यत्र) जिस में (अमृतं आनशानाः देवाः) अमृत खानेवाले सब देव (समाने योनौ) समान आश्रयको (अध्यैरयन्त) प्राप्त होते हैं, उस (ऋतस्य) सत्यके (विततं कं तन्तुं दृशे) फैले हुए सुखकारक धागेको देखनेके लिये मैं (विश्वा भुवनानि परि आयं) सब भुवनोंमें घूम आया हूं। ॥ ५ ॥

भावार्थ- जिसमें जगत की विविधता भेदका त्याग कर एकरूपताको प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है, उस परमात्माको भक्तही अपने हृदयमें साक्षात देखता है। इस प्रकृतिने उसी एक आत्माकी विविध शक्तियोंको निचोड कर उत्पन्न होनेवाले इस विविध जगत् को निर्माण किया है, इस लिये आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ॥१॥ जो अपने हृदयमें ही है उस अमृतके परम धाम का वर्णन आत्मज्ञानी संयमी वक्ता ही कर सकता है। इसके तीन पाद हृदयमें गुप्त हैं, जो उन ॰ जानता है, वह परम ज्ञानी होता है ॥ २ ॥ वही हम सबका पिता, जन्म ता और भाई भी है, वही संपूर्ण प्राणियोंकी सब अवस्थाओंको यथावत् जा ता है। वह केवल अकेलाही एक है और अग्नि आदि संपूर्ण अन्य देवोंके न म उसीको प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको ही दिये जाते हैं। जिज्ञासू जन सीके विषयमें वारंवार प्रश्न पूंछते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हुए अन्तमें उसी ॰ प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ द्युलोक और पृथ्वी लोकके अंदर जो

अनंत पदार्थ हैं, उन सबका निरीक्षण करनेके बाद पता लगता है, कि अटल सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक एकही परमात्मा है, इसलिये मैं उसीकी उपासना करता हूं। जिस प्रकार वक्तामें वाणी रहती है, उसी प्रकार जगत्के सब पदार्थों अथवा सब प्राणियोंमें वह सबका धारण पोषण कर्ता एक आत्मा रहता है. उसको अग्नि भी कह सकते हैं अर्थात् जैसा अग्नि लकडीमें गुप्त रहता है उसी प्रकार वह सब पदार्थों में गुप्त रहता है ॥ ४ ॥ जिस एक परमात्मामें अग्नि वायु सूर्यादि देव समान रीतिसे आश्रित हैं और जिसकी अमृत मयी शक्ति संपूर्ण उक्त देवोंमें कार्य कर रही है, वही एक सर्वत्र फैला हुआ व्यापक सत्य है, उसी का साक्षात्कार करनेके लिये सब वस्तुमात्रका निरीक्षण मैंने किया है और पश्चात् सबके अंदर वही एक सूत्र फैला है यह मैंने अनुभव किया है ॥ ५ ॥

गूढ विद्या ।

गूढ विद्या का अर्थ है गूढ तत्त्वको जाननेकी विद्या। कई समझते हैं कि, यह विद्या गुप्त रखनी है, इस लिये इसको गूढ अथवा गुप्त विद्या कहते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है। दृश्य संसारके अंदर सबका आधारभूत एक तत्त्व है, संसारके पदार्थ दृश्य हैं और यह सर्वव्यापक आधारतत्त्व अदृश्य है। हरएक मनुष्य सब पदार्थोंके रंग रूप आकार तोल आदिको देख सकता है, परंतु उस पदार्थ के अंदर व्यापने वाले तत्त्वको, जिससे कि उस पदार्थ का अस्तित्व अनुभव होता है, उस अदृश्य तत्त्वको, वह नहीं जान सकता; बहुत थोडेही उसका अनुभव कर सकते हैं। मनुष्य का स्थूल देह सब देख सकते हैं, परंतु उसी देहमें रहने वाले गुप्त अथवा गूढ आत्माका दर्शन कौन करता है? परंतु जितना देहका अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहधारी आत्माके अस्तित्वमें है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत् के अंदर व्यापने वाले गुप्ततत्त्व के विषयमें समझना चाहिये।

दृश्य आकारवाला जगत् दिखाई देता है, इसलिये वह गुप्त नहीं है, परंतु इस दृश्य जगत् को आधार जिस गुप्त तत्त्वने दिया है, वह इस प्रकार स्थूलतासे नहीं दिखाई देता है; इसको ढूंढना, इसका अनुभव लेना, इस का साक्षात्कार करना, इस "गुप्त विद्या" का कार्य क्षेत्र है। इसलिये इसको "गुप्तविद्या, गूढविद्या, गुह्यविद्या, गुह्य-तत्त्व का ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, परविद्या, विद्या" आदि अनेक नाम हैं। इन सब शब्दोंका तात्पर्य "इस जगदाधार आत्मतत्त्वका ज्ञान" यही है

अल्प शब्द बोलनेवाला विद्वान गंधर्व शब्दसे यहां लिया जाता है। प्रायः आत्मज्ञानी वक्ताका वक्तृत्व मूकतासे ही होता है, किंवा थोडे परंतु अर्थपूर्ण शब्दोंसे ही आत्मज्ञानी पवित्रात्मा आप्त पुरुष जो कुछ कहना है, कह देता है। जबतक लौकिक विद्या का ज्ञान मनुष्यके मनमें खिलबिली मचाता रहता है, तब तकही मनुष्य मेघगर्जनाके समान वक्तृत्व करता रहता है, परंतु इसका परिणाम श्रोताओंपर विशेष नहीं होता। जब आत्मज्ञान होता है और ईश्वर साक्षात्कार होता है, तब इसका वक्तृत्व अल्प होने लगता है। परंतु प्रभाव बढता जाता है। वाक्शक्तिपर संयम होने लगता है। यह गन्धर्व अवस्था समझिये।

यहां " वेन और गंधर्व " ये दो शब्द आत्मज्ञानके अधिकारीके वाचक शब्द हैं। उपासक, भक्त तथा गंभीर शब्दोंका प्रयोग संयम के साथ करनेवाला जो होता है, वही परमात्माका साक्षात्कार करता है और वही उसका वर्णन भी कर सकता है।

पूर्व तैयारी। (प्रथम अवस्था)

उक्त उपासक आत्मज्ञानी हो सकता है, परंतु इसके बननेके लिये पूर्व तैयारी की आवश्यकता है, यह पूर्व तैयारी निम्न लिखित शब्दों द्वारा उस सूक्तमें बताई है—

सद्यः द्यावा पृथिवी परि आयम् ॥ ४ ॥

विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

" एकवार द्युलोक और पृथ्वीलोकमें चक्कर लगा कर आया हूं। संपूर्ण भुवनोंमें घूमकर आया हूं। " अर्थात् द्युलोक और पृथ्वीलोक तथा अन्यान्य भुवनों और स्थानों में जो जो द्रष्टव्य, प्राप्तव्य और भोक्तव्य है, उस को देखा, प्राप्त किया और भोगा है। जगत् में खूब भ्रमण किया, कार्य व्यवहार किये, धनदौलत कमायी, राज्यादि भोग प्राप्त किये, विजय कमाये, यश फैलाया, सब कुछ किया, मनुष्यको जो जो अभ्युदय विषयक करना संभव है, वह सब किया। यह गूढतत्त्वके दर्शन की प्रथम अवस्था है। इस अवस्थामें भोगेच्छा प्रधान होती है।

द्वितीय अवस्था।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है, जिस समय विचार उत्पन्न होता है, कि ये नाशवन्त भोग कितने भी प्राप्त किये, तथापि इनसे सच्ची तृप्ति नहीं होती; इस लिये सच्ची तृप्ति, सच्चा मनका समाधान प्राप्त करनेके लिये कुछ यत्न करना चाहिये, इस द्वितीय अवस्थामें भोगोंकी ओर प्रवृत्ति कम होती है और आत्मिक तत्त्व दर्शन की ओर प्रवृत्ति बढती जाती है; इसका निर्देश इस सूक्तमें निम्न लिखित प्रकार किया है —

अमृतस्य विततं कं तन्तुं दृशे विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

"अमृतका फैलाहुआ सुख कारक मूल सूत्र देखनेके लिये मैंने सब भुवनोंमें चक्कर मारा," अर्थात् इस द्वितीय अवस्थामें इसका चक्कर इस लिये होता है, कि इस विविधतासे परिपूर्ण जगत्के अंदर एकताका मूल स्रोत होगा तो उसे देखें; इस दुःख कष्ट भेद लडाई झगडों के परिपूर्ण जगत्में सुख आराम ऐक्य और अविरोध देनेवाला कुछ तत्त्व होगा तो उसको ढूढेंगे, इस उद्देश्यसे इसका भ्रमण होता है। यह जिज्ञासुकी दूसरी अवस्था है। इस अवस्था का मनुष्य तीर्थों क्षेत्रों और पुण्यप्रदेशों में जाता है, वहां सज्जनोंसे मिलता है, देशदेशांतरमें पहुंचता है और वहांसे ज्ञान प्राप्त करता है, इसका इस समय काउद्देश्य यही रहता है, कि इस विभेद पूर्ण दुःख मय अवस्थासे अभेद मय सुखकारक अवस्थाको प्राप्त करें। इतने परिश्रम करनेसे उसको कुछ न कुछ प्राप्त होता रहता है और फिर वह प्राप्त हुए ज्ञानको अपने में स्थिर करनेका यत्न करनेकी तैयारी करता है। इस प्रकार वह दूसरी अवस्थासे तीसरी अवस्थामें पहुंचता है। इस तीसरी अवस्थाका वर्णन इससूक्तमें निम्न लिखित शब्दों द्वारा किया है—

तृतीय अवस्था।

द्यावापृथिवी परि आयं सद्यः ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे ॥४॥

"मैं द्युलोक और पृथ्वीलोक में खूब घूम आया हूं और अब मैं सत्यके पहिले प्रवर्तक की उपासना करता हूं।"

जगत् भरमें घूम कर विचार पूर्वक निरीक्षण करनेसे इसको पता लगता है कि, इस विभिन्न जगत् में एक अभिन्न तत्त्व है और वही (कं) सच्चा सुख देनेवाला है। जब यह ज्ञान इसको होता है, तब यह उसके पास जानेकी इच्छा करता है। उपासनासे भिन्न कोई अन्य मार्ग उसको प्राप्त करनेका नहीं है, इस लिये इस मार्ग में अब यह उपासक आता है। ये अवस्थायें इस सूक्तके मंत्रों द्वारा व्यक्त होगई हैं, इन मंत्रों के साथ यजुर्वेद वाजसनेयी संहिताके मंत्र देखनेसे यह विषय अधिक खुल जाता है; इस लिये वे मंत्र अब यहां देते हैं —

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥

तथा

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥

वा. यजु. अ. ३२

"(भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर या भूतों में घूमकरके (लोकान्

परीत्य) सब लोकोंमें भ्रमण करके (सर्वा दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंमें भ्रमण करके अर्थात् इन सबको यथावत् जानकर (ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके पहिले नियमके प्रवर्तक की उपासना करके (आत्मना आत्मानं) केवल आत्मस्वरूपसे परमात्माके प्रति (अभि सं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता हूं ॥ ११ ॥ (सद्यः द्यावा-पृथिवी परि इत्वा) एक समय द्युलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थोंको देखकर (लोकान् परि) सब लोकोंको देखकर, (दिशः परि) दिशाओंका परीक्षण करके (स्वः परि) आत्म प्रकाशको जानकर (ऋतस्य विततं तन्तुं) अटल सत्यके फैले हुए धागेको अलग करके जब (तत् अपश्यत्) उस धागेको देखता है, तब (तत् अभवत्) वह वैसा बनता है कि, जैसा (तत् आसीत्) वह पहिले था ॥ १२ ॥ "

ये दो मंत्र उपासककी उन्नतिके मार्गका प्रकाश उत्तम रीतिसे कर रहे हैं। जगत् में घूम आनेकी जो बात अथर्ववेदने कही थी, उसका विशेष ही स्पष्टी करण इन दो मंत्रोंके प्रथम अर्धोंद्वारा हुआ है। " सब भूत, सब लोकलोकान्तर, सब उपदिशाएँ, द्यु और पृथ्वीके अंतर्गत सब पदार्थ, अथवा अपनी सत्ता जहां तक जासकती है, वहां तक जाकर, वहांतक विजय करके, वहांतक पुरुषार्थ प्रयत्नसे यश फैलाकर तथा उन सबका परीक्षण निरीक्षण समीक्षण आदि जो कुछ किया जाना संभव है, वह सब करके देख लिया। इतने निरीक्षणसे ज्ञात हुआ कि अटल सत्यनियमोंको चलानेवाला एकही सूत्ररूप आत्मा सबके अंदर हैं, वही सर्वत्र फैला है, उसीके आधारसे सब कुछ है, उसके आधार के विना कोई ठहर नहीं सकता। जब यह जान लिया तब उसकी ही उपासना की, और केवल अपने आत्मासेही उसमें प्रवेश किया। जब वहांका अनुभव लिया, तब उपासक वैसा बन गया, जैसा पहिले था।

पाठक इन मंत्रोंके इस आशयको देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि जो अथर्ववेदके इस सूक्तके मंत्रों द्वारा आशय व्यक्त हुआ है, वही बडे विस्तारसे इन मंत्रोंमें वर्णित हुआ है। और ये मंत्र उन्नतिकी अवस्थाएं भी स्पष्ट शब्दोंद्वारा बता रहे हैं, देखिये-

१ प्रथम अवस्था-(अज्ञानावस्था)-अपने या जगत् के विषय का पूर्ण अज्ञान।

२ द्वितीय अवस्था - (भोगावस्था) - जगत् अपने भोग के लिये है, ऐसा मानना, और जगत्को अपने स्वाधीन करनेका यत्न करना। जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करना। इसी अवस्थामें राज्यैश्वर्य भोग बढाये जाते हैं।

प्रथम मंत्रमें "व्राः" शब्द बडा महत्त्व रखता है। व्रतों या नियमोंका पालन करने वाला अपनी उन्नतिके लिये जो नियम आवश्यक होंगे उनको अपनी इच्छासे पालन करने वालेका यह नाम है। नियम स्वयं देखकर स्वयंही उस व्रतका पालन करना बडे पुरुषार्थसे साध्य होता है। इसमें व्रतभंग होनेपर अपने आपको स्वयंही दंड देना होता है, स्वयंही प्रायश्चित्त करना होता है। महान् आत्माही ऐसा कर सकते हैं। हरएक मनुष्य दूसरे पर अधिकार चला सकता है, परंतु स्वयं अपने पर अधिकार चलाना अति कठिन है। अपनी संपूर्ण शक्तियां अपने आधीन रखनी और कभी कुविचार आदि शत्रुओंके आधीन न होना इत्यादि महत्व पूर्ण बातें इस आत्मशासनमें आती हैं। परंतु जो यह करेगा, वही आत्मज्ञानी और विशेष समर्थ बनेगा और उसीका महत्त्व सब लोग मानेंगे।

सूत्रात्मा ।

मणियोंकी माला बनती है, इस मालामें जितने मणि होते हैं, उन सब में एक सूत्र होता है, जिसके आधारसे ये मणि रहते हैं। सूत्र टूट गया तो माला नहीं रहती और मणि भी बिखर जाते हैं। जिस प्रकार अनेक मणियोंके बीचमें यह एक सूत्र या तंतु होता है, उसी प्रकार इस जगत् के सूर्यचंद्रादि विविध मणियोंमें परमात्माका व्यापक सूत्र तन्तु या धागा है, जिसके आधार से यह सब विश्व रहा है, इसीका दर्शन नहीं होता, सब मालाकाही वर्णन करते हैं, परंतु जिस धागेके आधारसे ये सब मणि मालारूपमें रहे हैं, उस सूत्रका महत्व तत्त्वज्ञानी ही जान सकता है और वह उस जगदाधार को प्राप्त कर सकता है।

वेद में "तन्तु, सूत्र" आदि शब्द इस अर्थमें आगये हैं। जगत्के संपूर्ण पदार्थ मात्रके अंदर यह परमात्माका सूत्र फैला है, कोई भी पदार्थ इसके आधारके विना नहीं है। यह जानना, इस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना और इसका साक्षात्कारसे अनुभव लेना गूढ विद्याका विषय है, जो इस सूक्त द्वारा बताया है।

अमृत का धाम ।

यही आत्मा अमृतका धाम है, इसको ढूंढना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है। इसको कहां ढूंढना यही प्रश्न बडा विचारणीय है, इसकी प्राप्तिके लिये ही संपूर्ण जगत् घूम रहा है, विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, सुख और आनंदके लिये हरएक प्राणी प्रयत्न कर रहा है, और हरएकका ख्याल है कि, बाह्य पदार्थकी प्राप्तिमे सुख होता है। इस लिये मनुष्य क्या अथवा अन्य कीटपतंगादि प्राणी क्या, भ्रमण कर रहे हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा रहे हैं, इष्ट पदार्थ प्राप्त होनेपर क्षणभर सुखका

एक रूप।

जगत्‌में विविधता है और इस आत्मतत्त्वमें एकरूपता है। जगत्‌में गति है इसमें शांति है, जगत्‌में भिन्नता है इसमें एकता है; इस प्रकार जगत्‌का और आत्माका वर्णन किया जाता है, सब लोग इस वर्णन के साथ परिचित हैं, इस सूक्तमें भी देखिये-

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ॥
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥

" ज्ञानी भक्त ही उसको देखता है, जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व अपनी विविधताको छोडकर एकरूप हो जाता है। इसकी शक्तिको प्रकृति खींचती है और जन्म लेनेवाले पदार्थ पैदा करती है। इस लिये आत्मज्ञानी व्रतपालन करनेवाले भक्त उस आत्माकाही गुण गान करते हैं। "

पाठक अपने अंदर इसका अनुभव देख लें, जाग्रतीमें जगत्‌की विविधता का अनुभव आता है, स्वप्न में भी काल्पनिक सृष्टिमें विविधताका अनुभव आता है, परंतु तृतीय अवस्था गाढ निद्रा-सुषुप्ति में भिन्नताका अनुभव नहीं आता और केवल एकत्वका अनुभव व्यक्त करना असंभव है, इस लिये उस समय किसी प्रकारका भान नहीं होता। सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें " ब्रह्म रूपता " होती है, तम-रज-सत्त्व गुणोंकी भिन्नता छोड दी जाय तो उक्त तीनों स्थानोंमें ब्रह्मरूपता, आत्मरूपता अथवा साधारण भाषामें ईशरूपता होती है और इस अवस्थामें भिन्नत्वका अनुभव मिटजाता है; इस लिये इस अवस्थाको "एक-त्व" न कहते हुए " अ-द्वैत " कहते हैं। इसी उद्देशसे इस मंत्रमें कहा है कि—

यत्र विश्वं एकरूपं भवति ॥ १ ॥

" जहां संपूर्ण विश्व एकरूप होता है।" अर्थात् जिसमें जगत् की विविधता अनुभवमें नहीं आती, परंतु उस सब विविधता को एकताका रूप सा आजाता है। वृक्ष के जड, शाखा, पल्लव आदि भिन्न रूपताका अनुभव है, परंतु गुठली में इस भिन्नता की एक रूपता दिखाई देती है। इसी प्रकार इस जगद्रूपी वृक्षकी विविधता मूल उत्पत्तिकारण में जाकर देखनेसे एकरूपता में दिखाई देगी। इसी मुख्य आदि कारणसे विविध शक्तियां प्रकृति अपने अंदर धारण करके उत्पत्ति वाले पदार्थ निर्माण करती है। इस रीतिसे न उत्पन्न होने वाले एक तत्त्वसे उत्पन्न होने वाले अनेक तत्त्व बनते हैं। इनका ही नाम उक्त मंत्रमें " जायमानाः " कहा है। इनमें मनुष्यभी संमिलित हैं और अन्य प्राणी तथा अप्राणी भी हैं। इन में मनुष्यही (व्राः) व्रतपालनादि सुनियमोंसे अपनी

उन्नति करके आदि मूलको जानता और अनुभव करके और (स्वर्विदः) प्रकाश प्राप्त करके प्रतिदिन अनुष्ठान करता हुआ समर्थ बनता जाता है।

अनुभव का स्वरूप।

आत्मज्ञानी मनुष्य को अमृत धामका अनुभव किस प्रकार होता है, उसके अनुभव का स्वरूप अब देखना चाहिये —" आत्मज्ञानी मनुष्य अमृतधाम को अपनी हृदयकी गुहामें अनुभव करता है, अनंत शक्तियां वहां ही इकट्ठी हुई हैं, यह उसका अनुभव है।" (मंत्र २ देखो)

और वह अनुभव करता है कि— " वही परमात्मा हम सबका पिता, उत्पादक,और भाई है, वही सर्वज्ञ है।" (मंत्र३) इतनाही नहीं परंतु "वही हमारी माता और वही हमारा सच्चा मित्र है" यह भी उसका अनुभव है। यहां ऋग्वेद और अथर्व मंत्रों की तुलना कीजिये —

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥
यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ अथर्व.२।१।३
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥
यो देवानां नामधा एकएव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ऋग्वेद १०।८२।३
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥
वा. यजु. ३२।१०

इनमें कुछ पाठभेद है, परंतु सबका तात्पर्य ऊपर बताया ही है। यही ज्ञानी भक्त का अनुभव है। और एक अनुभव यजुर्वेदके मंत्रमें दिया है वह भी यहां देखिये —

जगत् का ताना और बाना।

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥
वा. यजु. ३२।८

" ज्ञानी भक्त उस परमात्माको जानता है जो हृदय की गुहामें है और जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोसले में रहनेके समान रहता है, तथा जिसमें यह सब विश्व एक समय (सं एति) मिल जाता है या लीन होता है और दूसरी समय (वि एति) अलग होता है। (सः विभूः) वह सर्वत्र व्यापक तथा वैभवसे युक्त है और (प्रजासु ओतः प्रोतः) प्रजाओं में ताना और

इंद्रियां -अपना भेदभाव छोडकर एक आदि कारणमें लीन होती हैं और वहां आत्मामें गोता लगाकर अमृतानुभव करती हैं। इस अमृतपानसे उनकी सब थकावट दूर होती है और जब सुषुप्तिसे हटकर ये इंद्रियां जाग्रतावस्थामें पुनः लौट आती हैं, तब पुनः तेजस्वी बनती हैं। यदि चार आठ दिन सुषुप्ति न मिली, तो मनुष्य-शरीर निवासी एक भी देव अपना कार्य करनेके लिये योग्य नहीं रहेगा। बीमारी मेंभी जबतक सुषुप्ति प्रतिदिन आती रहती है, तब तक बीमार की अवस्था चिंताजनक समझी नहीं जाती। परंतु यदि चार पांच दिन निद्रा बंद हुई तो वैद्यभी कहते हैं कि, यह रोगी आसाध्य हुआ है! इतना महत्त्व तमोगुणमय सुषुप्ति अवस्थामें प्राप्त होनेवाली ब्रह्म रूपताका और उसमें प्राप्त होनेवाले अमृतपानका है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि समाधि और मुक्ति में मिलनेवाले अमृतपानसे कितना लाभ और कितना आनंद होता होगा।

यजुर्वेदमें यही मंत्र थोडे पाठ भेदसे आगया है, वह भी यहां देखने योग्य है-

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ वा. यजु. ३२।१०॥

" वहां देव अमृत का भोग करते हुए तीसरे धाम में पहुंचते हैं।"

पूर्वोक्त मंत्र में जहां " समाने योनौ " शब्द हैं वहां इस मंत्र में " तृतीये धामन् " शब्द हैं। समान योनी का ही अर्थ तृतीय धाम है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति यदि ये तीन अवस्थाएं मान लीं जांय, तो तीसरी अवस्था सुषुप्ति ही आती है जिसमें सब देव अपना भेद भाव छोड कर एक रूप होकर ब्रह्मरूप बनकर अमृत पान करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये प्रकृतिके रूप यहां लिये जांय, तो सब इन्द्र चन्द्र सूर्यादि देव अपनी भिन्नता त्यागकर उस ब्रह्ममें लीन होकर अमृत रूप होते हैं। ज्ञानी भक्त महात्मा साधुसंत ये लोग अपने समान भाव से मुक्त अवस्थामें लीन होते हुए अमृत भोगके महानंदको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हरएक स्थानमें इसका अर्थ देखना चाहिये।

[पाठक इस सूक्तका मनन कां०१। सू०१३ और २० इन दो सूक्तोंके साथ करें]

यहां इस प्रथम सूक्तका विचार समाप्त होता है। यदि पाठक इस सूक्तके एक एक मंत्रका तथा मंत्रके एक एक भागका विचार करेंगे और उसपर अधिक मनन करेंगे, तो उनके मनमें गूढविद्याकी बातें स्वयं स्फुरित होंगी। इस सूक्तमें शब्द चुन चुनके रखे हैं, और हरएक शब्द विशेष भाव बता रहा है। विशेष विचार करनेकी सुगमता के लिये ऋग्वेद और यजुर्वेद के पाठ भी यहां दिये हैं, इससे पाठक इसका अधिक मनन कर सकते हैं। वेदकी यह विशेष विद्या है, इसलिये पाठक इस सूक्तके मननसे जितना अधिक लाभ उठावेंगे उतना अधिक अच्छा है।

एक पूजनीय ईश्वर।

२

[ऋषिः— मातृनामा। देवता—गंधर्वाप्सरसः]

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥
दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य।
मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥
अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥
अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ ४ ॥
याः क्रन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

अर्थ- (यः दिव्यः गन्धर्वः) जो दिव्य पृथिव्यादिका धारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी (विक्षु नमस्यः ईड्यः च) जगत्में यही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है। हे (दिव्य देव) दिव्य अद्भुत ईश्वर! (तं त्वा)उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासना द्वारा मिलता हूं। (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो। (ते सध-स्थं दिवि) तेरा स्थान द्युलोकमें है ॥ १ ॥ (भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी यह (गन्धर्वः) भूमि आदिकोंका धारण कर्ता (नमस्यः सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, वहही (मृडात्) सबको आनंद देवे। यही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) द्युलोकमें प्राप्त होता है, (यजतः) पूज्य है और (सूर्य-त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात्

सूर्यके अंदर भी व्यापने वाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है। इसी लिये सबको वह पूजनीय है ॥ २ ॥ (अन-अवद्याभिः आभिः) दोष रहित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह (उ सं जग्मे) निश्चयसे मिला रहता है और (अप्सरासु अपि) इन प्राण-शक्तियोंमें भी (गन्धर्वः आसीत्) भूमि आदिकोंका धारक देव विद्यमान है। (आसां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान अन्तरिक्षमें है, (यतः) जहांसे (सद्यः) शीघ्र ही ये (आ यन्ति) आती हैं और (परा यन्ति च) परे जाती हैं। यह बात (मे आहुः) मुझे बतायी है ॥ ३ ॥ (अभ्रिये दिद्युत) बादलोंकी विद्युत में अथवा (नक्षत्रिये) नक्षत्रोंके प्रकाशमेंभी (याः) जो तुम (विश्वा-वसुं गन्धर्वं) विश्वके बसानेवाले धारक देव को (सचध्वे) प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिये हे (देवीः) देवियो! (ताभ्यः वः) उन तुमको (इत् नमः कृणोमि) निश्चय पूर्वक मैं नमन करता हूं ॥ ४ ॥ (याः क्रन्दाः) जो बुलानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, (तमीषी-चयः) ग्लानिको हटानेवाली, (अक्ष-कामाः) आंखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली, (मनो-मुहः) मनको खिलानेवाली हैं (ताभ्यः गन्धर्व-पत्नी-भ्यः अप्सराभ्यः) उन गंधर्वपत्नीरूप अप्सराओंको-अर्थात् सर्व धारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको (नमः अकरम) मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत् का धारण करने-वाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंको पूजा और उपासना करने योग्य है। स्तुति प्रार्थना उपासनाओंसे अर्थात् भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है। यह ईश्वर अपने स्वर्ग-धाममें है, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥ संपूर्ण जगत् का एक स्वामी और सब जगत्का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसी की भक्ति और सेवा सबको करना चाहिये, क्यों कि वही सबको सदा आनंद देने-वाला है। वही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है। सबसे अत्यंत पूजनीय ऐसा यही एक देव है, वह सबमें रहता है, यहां तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियां हट जाती हैं ॥ २ ॥ इसके साथ जीवनकी

अनंत कलाएं हैं, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोक—अंतरिक्ष—है, जहांसे ये सब शक्तियां प्रकट होती हैं और जहां फिर गुप्त हो जाती हैं ॥ ३ ॥ बादलोंके अंदर चमकने वाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रस भरा है, और इसीकी सेवा संपूर्ण जीवनकी शक्तिरूप देवियां कर रही हैं, इस लिये उनको भी नमन करना योग्य है ॥ ४ ॥ ये प्राणशक्तियां सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको चलानेवाली, थकावटको दूर करनेवाली, आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं। यही आत्माकी शक्तियें हैं, इस दृष्टिसे मैं इनको नमस्कार करता हूं [अर्थात् वह इनको किया हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरको ही पहुंचेगा, क्योंकि ये शक्तियां उसीके आधारसे रहती हैं।] ॥५॥

पूर्व सम्बन्ध।

प्रथम सूक्तमें "गुह्य अध्यात्मविद्या" का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें जिस परमात्म देवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहां "गंधर्व" शब्द से किया गया है। उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी "गंधर्व" शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है।

गन्धर्व और अप्सरा।

"गंधर्व" शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया ही है। (गां+धर्वः) अर्थात् (गां) भूमि, सूर्य, वाणी, इंद्रियां, अंतःकरण–शक्तियां आदिकों का (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है। भूमि, सूर्य तथा अन्यान्य चराचर स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है। उसी प्रकार लघु कार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदिकोंका तथा स्थूलसूक्ष्मादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्मा का भी यही नाम है। इस सूक्तमें मुख्यतया परमात्माका वर्णन है, परंतु अल्प अंश से यह वर्णन अर्थका संक्षेप करनेसे जीवात्मामें भी घटाया जा सकता है। यह गंधर्वका रूप पाठक ठीक प्रकार स्मरणमें रखें। "गंधर्व" शब्द के अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें।

गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः ॥ (मंत्र ५.)

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं हैं। गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं।

(अप् + सरस्) अर्थात् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, यह नाम जलाश्रित प्राणका वाचक है। " आपोमयः प्राणः " — जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिये "अप्सराः" शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी वस्त्रके ताने और बानेके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्यत्र वर्णन है—

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः।

ऋग्वेद ७।३३।९

" (अप्सरसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं) यमने फैलाई हुई (परिधिं) तानेकी मर्यादा तक (वयन्तः) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं।

" यम " = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा।
" ताना " = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा।
" प्राण " = कपडा बुननेवाले जुलाहे।
" कपडा " = आयुष्य।

" मनुष्यका आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देह रूपी खुड्डीपर बुना जाता है, यहां बुननेवाले प्राण हैं। यहां " अप्सरस्" शब्द और "वसिष्ठ" ये दो शब्द प्राण-वाचक आये हैं। (अप्सरस्) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके हेतु प्राण हैं।

इससे भी अनुमान हो सकता है, कि जलतत्त्वके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपत्नी रूप है ऐसा यहां कहा है, वह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंदेह है। गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपत्नी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है। आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहांके "गंधर्व और अप्सराः" के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं। शरीर में छोटा प्राण और जगत् में विश्वव्यापक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थकी संगति हो सकती है।

महान् गन्धर्व।

इस सूक्त में पहिले दो मंत्र बडे महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहां गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है। देखिये—

१ भुवनस्य एक एव पतिः— भुवनोंका एकही स्वामी। इसके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है। यही परमेश्वर सबका एक प्रभु है। (मं. १,२)

२ एक एव नमस्यः— यही एक अद्वितीय परमात्मा सब को नमस्कार करने यो-ग्य है। इसके स्थानपर किसी भी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये। (मं. १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः— यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहां मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (गां) भूमि से लेकर संपूर्ण जगत् का सच्चा (धर्वः) धारक पोषक है। (मं. १)

४ विक्षु ईड्यः— सब जगत् में यही प्रशंसाके योग्य है।

५ दिवि ते सधस्थं— स्वर्गधाम में, गुह्यधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं. १)। [इस विषयमें प्रथम सूक्तके मंत्र १,२ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है।]

६ दिवि स्पृष्टः— इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुह्य स्थानमें ही होती है। यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पष्टीकरण है। (मं.२)

७ सूर्यत्वक्— महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बडा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं. २)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिये। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विश्वा-वसुः (गंधर्वः)— विश्वका यही निवासक है। (मं.४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहांका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है। किसीभी अन्य पदार्थमें ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिये पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिये पूजनीय देव है।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी "ब्राह्म उपासना" करनेका विधान बडा महत्त्वपूर्ण है।

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा। (मं. १)
२ नमस्यः। (मं.१,२) नमस्ते अस्तु। (मं. १)
३ विक्षु ईड्यः। (मं. १)
४ सुशेवाः। (मं. ३)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करने के मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ "मंत्रपद्ध" अथवा मन द्वारा करने की "मानस उपासना" ही

है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शरीर में ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्रभी है और मंत्रका आशय "मनन" है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीति से यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिये यहां "ब्रह्मणा" शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्र भागों का अर्थ ऐसा होता है-

१ तं त्वा यामि ब्रह्मणा--उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। [मनन]

२ नमस्यः (नमस्ते)—तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। [नमन]

३ विक्षु ईड्यः-सब जगत्में तु ही प्रसंसा करनेके लिये योग्य है। [सर्वत्र दर्शन]

४ सु-शेवाः—तूही उत्तम सेवाके लिये योग्य है। [सेवन]

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजा की विधि ज्ञात हो जाती है। (१) प्रभुके गुणोंका मनसे मनन करना, (२) उसी को मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थ में तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करने के लिये करना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासना के हैं। इन चार भागोंमें से जितने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिये। पाठक विचार करें और अपनी उपासना की परीक्षा इस कसौटीसे करें। हर-एक मनुष्य अपने आपको परमात्मा का उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है, वह इस वैदिक मानस उपासना की उक्त कसौटीसे किस सीढीपर गिनी जा सकती है, यह भी देखना चाहिये। इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेषही महत्त्व रखते हैं।

"मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन" ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार श्रेणि दर्शक माने जा सकते हैं।

१ "मनन" से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२ "नमन" इस मननसे उसका महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने लीन होता है। मननके पश्चात् की यह स्वाभाविक ही अवस्था है।

३ "दर्शन" मननसे ही इसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है। फिर चारों तरफ उस व्यापक ईशका साक्षात्कार होनेही यह होती। [illegible]

अवस्था है। जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं। इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है।

४ " सेवन " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है। सेवन और " भजन " ये दोनों शब्द समान अर्थक ही हैं- सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं। प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है।

" दीनों का उद्धार " करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं। इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धि से करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है।

नामस्मरण।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिये मैं भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूंगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा। " राम " (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इस लिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करने के यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा। " नामस्मरण " का यही उद्देश्य है। यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं; यह पाठक विचार से जानें और परमेश्वर के इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें। अनेक ग्रंथ पढने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसी लिये वेदादि ग्रंथों में परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्ग दर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये।

अस्तु। ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें। यही सीधा, सरल और अति सुगम मार्ग है।

बाह्य उपासना का फल।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रों में पाठक देख सकते हैं—

कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियां अथवा प्राण शक्तियां हैं, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इस लिये जलाश्रित होनेके कारण (अप्+सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है। इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मंत्रमें किया है। प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है। पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है। जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राणको नमन किया है।

प्राण का प्राण।

वहां प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतंत्र हैं या परतंत्र ? " पत्नी " शब्द कहने मात्रसेही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढाने वाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य देवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं। वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है। इस लिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) इसी नातेसे देखने चाहिये। जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उसी प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बल प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है। इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इस लिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्यों कि पति रहित विधवा स्त्रीको उतना नमस्कार कोई नमस्कार नहीं करते। इसी प्रकार यहां बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती ; इस लिये जो वर्णन, प्रशंसा या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका — अर्थात् आत्माका — है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। इसी कारण यहांका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देशसे है, न कि केवल प्राणके लिये।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है? यहां वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्थूल विश्वके जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, वे सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्से आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी। जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित होजाती है, उसी प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायख नहीं रहता। इसी प्रकार जगत्भी आत्मासे रहित होनेपर निःसत्त्व होगा। इस लिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिये, न कि स्थूल दृष्टि। जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उसमें पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल, आमका वृक्ष, सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक "गंधर्व" सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है; यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी संगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होगा। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है—

विरोधालङ्कार।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ (मं. ४)

ताभ्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः ॥ (मं ५)

" उन गंधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हूं।" पहिले दो मंत्रोंमें " एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है " ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए " उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है।" यह विरोधालंकार है। पहिले कथन के बिलकुल विरुद्ध दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करनेयोग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके

नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है। इस सूक्तमें विरोध भी समवल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार कहा है, इतनाही नहीं परंतु—

एक एव नमस्यः। (मं. १, २)

" यही एक नमस्कार करने योग्य देव है। " ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४, ५ में) उसकी पत्नियों को ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिये।

व्यवहारकी बात।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते, न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं ? विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिये नहीं है।

परंतु यदि " आत्माके लिये नमन नहीं है, " ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको—मृत शरीरको—नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिये किया जाता है ? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हर एक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि—प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोच्छ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धी कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती हैं, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है। देखिये—

शरीर —— इंद्रियां —— "प्राण" —— मनबुद्धि —— आत्मा

दृश्य —— ० —— अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोडनेका बिंदु है। इसीलिये स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिये योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनको जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिये प्राणकाही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इसीसे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एकही है तथापि करने वाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओं के लिये होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इस में एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ-एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा की कल्पना होना असंभव है; इस लिये चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिये स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूलके आलंबन से सूक्ष्मकी कल्पना की जाती है और इसी लिये शरीर में कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४,५)में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहां ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जडचेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पीछे रख कर जहां सूक्ष्मकी शक्तियां प्रारंभ होती हैं, वहां उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है। यहां बिलकुल स्थूल का आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिये नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिये योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल-सूर्य चंद्रादि पदार्थों-के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इस लिये जगत्में—हरएक

पदार्थमें-उसकी सत्ताका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिये। तभी तो उसको नमन होसकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाशका तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिये। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें होसकती है। यही बात इसी सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है—

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या
विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ॥ (मंत्र ४)

" मेघोंकी विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके बसानेवाले सर्वधारक परमात्माको प्राप्त करती हैं। " इस मंत्रमें यही बात कही है कि, विद्युत् की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलकों को देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी सत्ताकी जागृति होनी चाहिये, उस परत्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये। यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है।

पाठक यहां देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें " वह प्रभु ही अकेला वंदनीय है" ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मत्रं ४, ५ में) नमन किया " इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है। इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यही सीधा मार्ग है। इसी उपासना मार्गसे जाना हर एक के लिये सुगम है। मेघोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उस प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अब इसको जगत् मे व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये। इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये —

प्राणोंका आना और जाना।

समुद्र आसां स्थानं म आहुर्यतः सद्य
आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

" समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं।" इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है। (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती हैं और परे जाती हैं। प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक "आना," और दूसरी "जाना" है। श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं। प्राण अपान ये भी दो नाम हैं। एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है। ये दो गतियां सबको विदित हैं।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है। वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि—

> एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
> यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः
> नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४ (६) २१

" यह (हं-सः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव वहांसे हटायेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता। न दिन होगा और न रात्री होगी। (अथर्व० ११।४ (६) २१) " प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी। यही बात इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कही है। हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता; यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है। यह देखनेमें ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी गतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है।

प्राणोंका पति।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं। मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं। प्राणको अप्सराः शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है। इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये—

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥ (मं. ३)

"इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है।"

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटादिये और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे, तो उक्त मंत्र भाग का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है- "इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी यह सर्वव्यापक आत्मा रहता है।"

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इसके पूर्व आचुका है इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जांयगे। सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणों के अन्दर रहता है इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावहम्। यजु. अ. ४०।१७

"(सः) वह (असौ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूं।" अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके द्वारा प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनो जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं।

ब्रह्माण्ड देह।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें। परंतु यहां [illegible] अपने अंदर देख कर और अनुभव करके ही [illegible] [illegible] [illegible] ब्रह्मांड देहमें देखना [illegible] [illegible] आत्माका दर्शन करना [illegible] [illegible]

अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करना चाहिये।

जिस प्रकार प्राणी के देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देह में विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है। इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं। इस प्रकार अन्यान्य शक्तियां भी इस ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपसे हैं। दोनों स्थानोंमें शक्तियां एकही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्व का भेद है। इसीलिये अपने अंदर की व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्वव्यापक सत्ता देख सकते हैं। वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है। वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है।

इसकी प्राप्ती मानस उपासनासे करनी चाहिये। इसको सब स्थानमें उपस्थित मानकर, इसको नमन करना चाहिये। हरएक सृष्टिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा बढती जाती है।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है। यह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना होसकती है।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है। प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी वह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये। इसके सामने सिर झुकाना चाहिये।

सब जगत् में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे ही है। यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये।

"मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन" करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये। "सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन" रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये "दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये।" ईशप्राप्तिका यह सीधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

आरोग्य-सूक्त।

(३)

[ऋषिः— अंगिराः । देवता—भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।]

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥ १ ॥
आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥
शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (अदः यत्) वह जो (अवत्-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि अवधावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौडता है। (तत् ते) वह तेरे लिये ऐसा (भेषजं कृणोमि) औषध करता हूं (यथा सुभेषजं असानि) जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥ १ ॥ हे (अंग अंग) प्रिय! (आत् कुवित्) अब बहुत प्रकारसे (या ते) जो तेरेसे उत्पन्न होने वाले (शतं भिषजानि) सैकडों औषधे हैं, (तेषां) उनमेंसे (त्वं) (अनास्रावं) घावको हटाने वाला और (अ-रोगणं) रोगको दूर करने वाला (उत्तमं असि) उत्तम औषध है ॥ २ ॥ (असुराः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य

(इदं महत् अरुस्-स्राणं) इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाले औषध को (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं। (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घाव-का औषध है, (तत् उ रोगं अनीनशत्) वह रोग का नाश करता है ॥३॥ (उपजीकाः) जलमें काम करने वाले (समुद्रात् अधि) समुद्रसे (भेषजं उद्भरन्ति) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् रोगं अशीशमत्) वह रोगका शमन करता है ॥ ४ ॥ (इदं अरुस्-स्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाला (महत्) बडा औषध (पृथिव्याः अधि उद्भृतं) भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है। (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् ऊ) वह (रोगं अनीनशत्) रोगका नाश करता है ॥५॥ (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शांति दायक हों। (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे। तथा (रक्षसां विसृष्टाः इषवः) राक्षसोंद्वारा छोडे हुए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से उत्तम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकाअनेक औषधियां बनायीं जाती हैं, परंतु घावको हटाने अर्थात् रक्तस्राव को ठीक करनेके काम में यह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥२॥ प्राण को बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करने का औषध बनाते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जलमें काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी घावको ठीक कर देता है और रोग को शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ यह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोडेको ठीक करता है, घावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥ जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों। हमारे क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका " असुर " शब्द "प्राण रक्षक" वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का।

पर्वत के ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायी जाती हैं, और उन से सेकडों रोगोंपर दवाइयां बनायी जाती हैं। इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यान में नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्त का विशेष विचार करें। इस समय इस सूक्त में सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग ।

क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपस में एकता रखने का महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें " हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जांय" ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जो एक दूसरे से संघर्ष होता है और उसमें चोट [illegible] लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होने से जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्त [illegible] है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडे उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकार [illegible] बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके [illegible] उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका [illegible] नहीं लगता है। इस लिये इस समय हम इस सूक्तका अधिक [illegible] हैं।

ना
मे
गि
॥

जङ्गिड-मणि ।

(४)

[ऋषिः— अथर्वा । देवता— चंद्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वायं बृहते रणायारिंष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥
शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कंधादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ— (दीर्घायुत्वाय) दीर्घआयुकी प्राप्तिके लिये तथा (बृहते रणाय) बडे आनंद के लिये (वि-स्कन्ध-दूषणं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (अ-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं) न सडने वाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब (बिभृमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥
यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड [illegible] (जम्भारात्) जमुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण [illegible] रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करने वाले शोषकरोगसे

णके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार ता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है। क्योंकि इस संबंधमें में कुछ भी कहा नहीं है।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

" और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें" यह पंचम मंत्रका कथन है, इस स्पष्ट होजाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रथित करके गलेमें या धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है। उक्त प्रकार औषधिरसोंसे सणका धागा भी स्वयं गुण कारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, नों इकट्ठे होगये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है। विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

जंगिड मणिके लाभ।

दीर्घायुत्वं— आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत्—आयुष्य बढाता है। (मं. ५)
महत् रणं (रमणीयं) — बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)
अरिष्यन्तः— अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)
दक्षमाणः— (दक्ष) बल बढना, बलवान् होना। (मं. १)
विष्कंधदूषणः— शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)
सहस्रवीर्यः— इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)
विश्व-भेषजः— इसमें सब औषधियां हैं। (मं ३)
अभिभूः— सुख देता है। (मं. ४)
कृत्यादूषिः—अपने मारने अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि (मं. ६)
— [illegible] जिनसे रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें। इनमें से एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥ यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगों से दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥ ६ ॥

सण और जंगिड।

इस सूक्तमें " सण " और "जंगिड" इन दो वस्तुओं का उल्लेख है (मं.५)। शण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषा में भी इसका यही नाम है। सण के विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है–

१ तत्पुष्पं रक्तपित्ते हितं मलरोधकं च।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥ राजव. ३ प.
२ अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥ राजनिघंटु व. ४.

" (१) शणका फूल रक्तपित्त रोगमें हित कारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है। (२) शणके ये गुण हैं—खट्टा, कषाय रुचीवाला, मल – गर्भ—रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है। "

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें। यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं.५)। यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है। सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है। रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सणका धागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है। इस सण का नाम " त्वक्सार " है. इसका अर्थ होता है (त्वक्+सार) त्वचामें जिसका सत रहता है; इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है। व्यायाम करनेके समय जब पसीना आता है, तब उस पसीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिके रस शरीपर लगते हैं और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते हैं।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है। क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम्॥ (मं. ५)

"शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें" यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट होजाता है कि, सणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है। उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी स्वयं गुण कारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे होगये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है। जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

जंगिड मणिके लाभ।

१ दीर्घायुत्वं— आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत्—आयुष्य बढाता है। (मं. ३)

२ महत् रणं (रमणीयं) — बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)

३ अरिष्यन्तः— अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)

४ दक्षमाणः— (दक्षं) बल बढना, बलवान् होना। (मं. १)

५ विष्कंधदूषणः— शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ सहस्रवीर्यः— इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ विश्व-भेषजः— इसमें सब औषधियां हैं। (मं. ३)

८ मयोभूः— सुख देता है। (मं. २)

९ कृत्यादूषिः—अपने मारने अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है। (मं. ६)

१० अराति- दूषिः— [illegible] जिनके रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

११ सहस्वान् — बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाता है। (मं. ६)

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ जम्भारात् पातु-जमुहाई जिससे बढती है वह शरीर का दोष इससे दूर होता है। (मं. २)

१३ वि-शरात् पातु- जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है। (मं २)

१४ वि-स्कंधात् पातु- जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है। (मं. २)

१५ अभि-शोचनात्- जिससे रोनेकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है। (मं. २)

१६ आत्त्रिणः बाधते- (अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं ३)

१७ अंहसःपातु—पापवृत्तिसे बचाता है,अथवा हीन भावना मनसे हटाता है। (मं. ३)

१८ रक्षांसि सहामहे— रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है। इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है। (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं। यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है। [पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित "वेदमें रोग जन्तु शास्त्र" नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते। ये रात्रीमें प्रबल होते हैं। इस वर्णन के पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है। इसीको रक्षस् कहते हैं। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है] फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नाश करता है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उत्तम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आचुकी ही होगी।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिका बनाया जाता है। यह बडा प्रयत्न करने परभी

पता नहीं चला । तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि वचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये वचाके गुण—

१ वचागुणाः— तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथिशोफघ्नी
वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च ।

राजनिघण्टु व. ६

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी ।
३ वचापर्यायाः " मङ्गल्या । विजया । रक्षोघ्नी । भद्रा । "

" (१) वचा के गुण—तीक्ष्णता, कटुता, उष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजन का नाश करनेवाली । वात ज्वर अतिसार का नाश करनेवाली । वमन करानेवाली । उन्माद और भूतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचासे आयुष्य बढता है,वात–कफ–तृष्णाका नाश करती है। स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ॥

(३) वचा के पर्याय शब्दोंका अर्थ–(मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (रक्षो-घ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली । "

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुणधर्मोंमें समानता है । पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, सो पता लग जायगा कि इनके गुण धर्म समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है,कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	—[वचाके गुण]—	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	—	१ दीर्घायुत्वाय (मं.१) आयूंषि तारिषत् (मं.६)
२ रक्षोघ्नी । भूतघ्नी	—	२ रक्षांसि सहामहे (मं.४)
३ वातघ्नी, उन्मादघ्नी	—	३ जम्भात् पातु (मं.२) अभिशोचनात् पातु । (")

४ मंगल्या, भद्रा स्मृतिवर्धनी।	—	४ अरिष्यन्तः दक्षमाणाः। सहस्रवीर्यः	(मं. २) ”
५ विजया	—	५ अरातिदूषिः	(मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	—	६ विशरात् (वि-सारात्) पातु	(मं. २)
७ शोफघ्नी, ज्वरघ्नी कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	—	७ विश्वभेषजः	(मं.३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुण धर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिलते जुलते हैं। इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा। केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियां नहीं वर्ती जातीं, अथवा नहीं वर्ती जानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि लीजाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है।

चरकादि ग्रंथोंमें जहां बडे बडे आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहां सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है। इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नहीं होगा। तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं। सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें।

मणि धारण।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है! क्या इससे तावीज, कवच, धागा, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी? इस प्रकारकी शंकाएं यहां उपस्थित होना संभव है; इस लिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो "जंगिडमणि" का वर्णन है वह तावीज या धागा दोरा या जादूकी चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होने वाली औषधि वनस्पतियोंका

वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समानही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीसे यह बनता है तथा यह जिस धागेमें बांधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है। विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नंतर—

अरण्यादन्य आभृतः।
कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ (मंत्र. ५)

" एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है। " यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें " आ—भृतः " शब्द है, इसका धात्वर्थ, " (आ) चारों ओर से (भृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है, " ऐसा होता है। अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इस लिये जंगिडमणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सशास्त्र विषय है और इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा, दोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इस में औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हिरड) की एक तीव्र जाती होती है, उस को हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासत के अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहां के श्री० नरेश के पास वनस्पतिके लकडके मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस

अत्रि।

वेद मंत्रोंमें " अत्रि" शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है। इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होना संभव है, इस लिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है।

" अद् " (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ " भक्षक " है। दूसरा " अत् " (भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है। पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है। यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है। दूसरा अत्रि शब्द " भ्रमण करनेवाला " यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल होजाता है, कारण के विना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द होसकता है। इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा। परंतु पाठक यहां स्मरण रखें कि यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इस लिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो। तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इस लिये यहां दिया है। वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त महत्त्व पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है। पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है।

क्षत्रिय का धर्म ।

[५]

[ऋषिः—भृगुः आथर्वणः । देवता-इन्द्रः]

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥
इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥
इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥
इन्द्रस्य नु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ--हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो। (प्र वह) आगे बढ। (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंके साथ तू यहां आ । (चकानः) तृप्त होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिये (इह) यहां (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मधोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पिओ ॥ १ ॥ हे इन्द्र ! (नव्यः न) प्रशंसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्गीय आनंद के समान (मधोः जठरं पृणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो ।

५ शत्रून् ससहे=शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं० ३)

६ विड्ढि (आ विड्ढि)=उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं० ४)

७ महते रणाय स्वयुग्भिः मत्स्व=बडे युद्धके लिये अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे। शत्रु झगडा करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे। (मं०४)

८ अहिं अहन् = शत्रुका नाश करे॥ (मं० ५)

९ पर्वतानां वक्षणाः अभिनत् = पर्वतों के उपरके घने जंगल तोड कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बहनेवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं० ५)

१० अपः अनु ततर्द = जलके प्रवाह शत्रुके अधिकार में हों तो उनको सबके लिये खुले करे। (मं० ५)

११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। (मं० ६)

१२ अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष = इसके लिये लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके लें। (मं०६)

१३ सायकं वज्रं आ अदत्त = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। (मं० ७)

१४ अहीनां प्रथमजां एनं अहन् = बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। (मं० ७)

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करने वाले वाक्योंको देखिये—

राज्य शासन ।

१ मित्रः— प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। (मंत्र ३)

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व —पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज श्रवण कर। प्रजाकी इच्छाका आदर कर। (मंत्र. ४)

३ अपः अज्ञः समुद्रं अवजग्नुः— समुद्रतक बहने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे। (मं. ६)

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिये जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये-

प्रजासे सन्मान ।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः- तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञतासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है (मं. २)

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिये शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझ कर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यकही होता है। इसलिये इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्ति गत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिये इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं —

भोग ।

१ सुतस्य मधोः मदाय पिब— सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिये कर। (मं० १)

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वनस्पतिमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें सोम का नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं—

२ सुतस्य मधोः जठरं पृणस्व। (मं० २)

३ सुतासः त्वा कुक्षीः आविशन्तु। (मं० ४)

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। (मं० ७)

दो भागके करीब होती है। इसलिये शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

अंग्रेज सरकारने इनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इसीलि देशी वैद्य ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उन पीछे लग जाता।

६-७ मद्य और शराब मादक होनेसे निःसंदेह बुरे हानिकारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोपकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पन यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन वार रस निचोडा जाता है और उसी सम आहुतियां देकर पीया जाता है। सवेरे, दोपहरको और सायंकालको रस निचोडना औ पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आचुका है। इस लिये ज लोग सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यी किसीने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह वात स्पष्टतासे कही है जो शाकाहारकी पुष्टि करने वाली है।

जीवन संग्राम।

वेदमें " महते रणाय " ये शब्द वारंवार आते हैं। " वडा युद्ध " चल रहा है सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें रहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्ग दर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय? इस लिये उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिये और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिये। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी वात, क्षत्रिय की तो पूछनाही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है, उसको युद्ध तो अनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९, इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखें।

(यहां प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश।

[६]

[ऋषिः— शौनकः सम्पत्कामः । देवता—अग्निः]

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥
सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥
क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥
अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष; (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें। (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (सं दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों दिशाओं में (आ भाहि) प्रकाशित हो ॥ १ ॥ हे अग्ने! (सं इध्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो (च इमं प्र वर्धय) और इस को बहुत बढाओ। (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) बडे ऐश्वर्य के लिये उठकर खडा रह। हे अग्ने! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक (मा रिषन्) नष्ट न हों। और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों (मा-अन्ये) दूसरे नहीं ॥ २ ॥ हे अग्ने! (इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते) ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं। हे अग्ने! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे स्वीकार

में तू शुभ हो। हे अग्ने! (सपत्नहा अभिमातिजित् भव) वैरियोंका नाश करने वाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा (अ-प्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥ ३ ॥ हे अग्ने! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रभस्व) उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो। हे अग्ने! (मित्रेण मित्रधा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर। हे अग्ने! (सजातानां मध्यमे-स्थाः) सजातीयोंकी मंडली में मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर (राज्ञां वि-हव्यः) क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर (इह दीदिहि) यहां प्रकाशित हो ॥ ४ ॥ हे अग्ने! (निहः अति) मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, (स्रुधः अति) हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ-चित्तीः अति) पापी वृत्तियोंका आतिक्रमण कर, (द्विपः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर। हे अग्ने! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर। (अथ त्वं) और तू (अस्मभ्यं) हम सबके लिये (सहवीरं रयिं दाः) वीर पुरुषोंके साथ रहने वाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी ब्रह्म कुमार! महिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥ १ ॥ तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिंगत कर और बडा सौभाग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी तैयारी करके उठ कर खडा हो और तेरे कारण तेरे साथी दुर्दशाको कभी प्राप्त न हों, इतनाही नहीं परंतु तेरे सम्बन्धमें आने वाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कभी न हो कि तेरे साथी तो दुर्दशामें जांय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग उन्नति प्राप्त करें ॥ २ ॥ ये ज्ञानी लोग तेरा सन्मानसे स्वीकार करते हैं, इस लिये तू शुभ विचार वाला हो। तेरे जो भी वैरी हों और जो तेरे साथ स्पर्धा करने वाले हों, उनको जीत कर तू आगे बढ और कभी भूल न करतेहुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥ अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर, अपनी जाती में प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्य

ता बढा और यहां तेजस्वी बन ॥ ४ ॥ मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ,और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अग्निका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्यानके प्रसंगमें "अग्नि कौन है" इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहां अवश्य देखें । उस प्रकरणसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट होगा तत्पश्चात् अग्निका वर्णन करते हुए इस सूक्तने जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये-

१ हे अग्ने! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि॥ (मं०४)

" हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो। "

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। " स्वजातिकी सभामें प्रमुख स्थान में बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) " ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके " (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य " ये शब्द उसका क्षत्रियजाति से भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिन्न ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियां हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहां इसका संभव दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा। अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है। यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगई है। इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि " ब्राह्मण कुमार " का वाचक है। ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके सूक्तोंद्वारा क्षत्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई बार देखी है, इस लिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अग्नि शब्दका यह भाव ध्यानमें

धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये–

दीर्घ आयुष्य।

१ हे अग्ने ! त्वा समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु–हे ब्राह्मण कुमार ! हे बालक ! महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे युक्त हो। योगादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पीछे दिन, मासके पीछे मास, ऋतुके पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढती रहे। (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु — ऋषिलोग विद्याके उपदेश से तुझे बढावें। अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। [मं० १]

सत्यनिष्ठा।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु–जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें। अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढता है। (मं० १)

अपने तेजका वर्धन।

४ दिव्येन रोचनेन संदीदिहि—दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और नीरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३)सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकाश।

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि—सब चारों दिशाएं प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उक्त तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढाओ। (मं० १)

६ सं इध्यस्व, इमं प्रवर्धय च -- स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं० २)

ऐश्वर्य प्राप्ति।

७ महते सौभगाय उत्तिष्ठ- बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह, अर्थात् बडा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये आवश्यक पुरुषार्थ प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो। (मं० २)

स्वपक्षीयोंकी उन्नति।

८ ते उपसत्तारः मा रिषन्— तेरा आश्रय करनेवाले बुरी अवस्थामें न गिरें। तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो। तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिको न प्राप्त हों। (मं० २)

९ ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु, अन्ये मा = तेरे साथ रहने वाले ज्ञानी जन यशस्वी हों, अन्य न हों। अर्थात् तेरे साथ रहने वाले लोग यशके भागी बनें, परंतु ऐसा कभी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी त्रुटीके कारण आपत्तिमें पडें, और तेरी गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगें। तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावें, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढाओ। (मं० ३)

१० इमे ब्राह्मणाः त्वां वृणते। नः संवरणे शिवः भव -- ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिये कल्याणकारी हो। तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वास पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें। जनताका हितकारी हो कर जनताका विश्वास संपादन कर। (मं० ३)

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव = प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो। (मं० ३)

अपने घरमें जागना।

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि- गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह। अपना घर "शरीर, घर, समाज, जाती, राष्ट्र" इतनी मर्यादा तक विस्तृत है। हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है। घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु घरमें घुसेंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे। इस लिये अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिये। (मं० ३)

उत्साहसे पुरुषार्थ ।

१३ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व=अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर। शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपने में बढाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ कर। (मं० ४)

मित्रभाव ।

१४ मित्रेण मित्रधा यतस्व— मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर। मित्रके साथ कपट न कर । (मं० ४)

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव– स्वजातीयों के मध्यमें– अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर। अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन न समझी जावे। स्वजाती-के लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें। (मं० ४)

१६ राज्ञां वि–हव्यः दीदिहि–क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो। अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावें, इतनी योग्यता प्राप्त कर। (मं० ४)

चित्तवृत्तियोंका सुधार ।

१७ निहः स्रधः अचित्तीः द्विषः अति तर – झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर। अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख। (मं० ५)

१८ विश्वा दुरिता तर—सब पाप भावोंको दूर कर । पाप विचारोंसे अपने आप-को दूर रख। (मं० ५)

१९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः– तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे। अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर। हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं। हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है। प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक थोडासा मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा। इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है।

अन्योक्ति अलंकार।

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके मिषसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिये हैं, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें। यहां अन्योक्ति अलंकार है। अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश किया है।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें। यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होने वाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थ ही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता। और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि।

दो अरणियों—लकडियों—के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे (अधर अरणि) नीचे वाली लकडी स्त्रीरूप और (उत्तर-अरणि) ऊपरवाली लकडी पुरुषरूप मानी जाती है और उक्त अरणियोंसे उत्पन्न होने-वाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है। इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है।
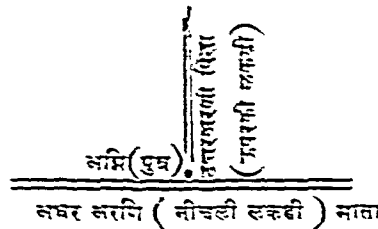
यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप मानाजाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमार के लिये है, इसके कारण पहिले बताये ही हैं। इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वे सूक्तका भी मनन कीजिये।

[सूचना- यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १-३, ५,६ इस क्रमसे आगये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेषसी भिन्नता नहीं है, इस लिये उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है]

शाप को लौटा देना ।

[७]

[ऋषिः—अथर्वा । देवता-भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः]

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥
शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ—(अघ-द्विष्टा) पाप का द्वेष करने वाली, (देव-जाता) देवों के द्वारा उत्पन्न हुई (शपथ-योपनी वीरुत्) शाप को दूर करने वाली औषधि (सर्वान् शपथान्) सब शापोंको (मत्) मुझसे (अधि-प्र अनैक्षीत) धो डालती है (आपः मलं इव) जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥ (यः च सापत्नः शपथः) जो सपत्नोंका शाप, (यः च जाम्याः शपथः) और जो स्त्री का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (तत् सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥ (दिवः मूलं अवततं) द्युलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अधि उत्ततं) पृथ्वीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥ (मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, (मे प्रजां परि) मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् धनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (अ-रातीः नः मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और (अभिमातयः नः मा तारिषुः) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥ ४ ॥ (शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चलाजावे ।

(यः सुहार्त् तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चक्षुः+ मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देने वाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणामसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५॥

भावार्थ—यह वनस्पति पापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको वढाने वाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करने वाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है॥ १ ॥ सापत्न भाईयोंसे, बहिनोंसे, स्त्रीपुरुषोंसे अथवा विद्वान् मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥ इस वनस्पति का मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥ मेरा, मेरी संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो। हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें॥ ४ ॥ शाप देने वाले के पास ही उसका शाप वापस चलाजावे। जो उत्तम हृदय वाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके फिसाद मचाने वाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं॥ ५॥

शापका स्वरूप। शाप को सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुए दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्यभी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इस लिये इस सूक्तमें "सहस्र काण्ड" नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पतिका प्रसिद्ध नाम "दूर्वा" है। जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है। पित्तरोग, मूर्च्छा रोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तिष्ककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है। इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है। इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय। सिर संतप्त होनेके समय इसको पीस कर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इस लिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम

करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें "(अघ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली" यह शब्द स्पष्ट बतारहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है,अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं। मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होतीं, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तैल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पीया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रका यही आशय है। शाप देना,गाली देना,आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे; यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दबजानेका।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है,वह पूर्वोक्त प्रकार मन की शान्ति की स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोविकारोंसे हानि। काम क्रोधादि उच्छृंखल होने वाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुई तो वह असंख्य आपत्तियां लाती हैं और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती हैं। एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इस का पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी असंयमित वृत्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती हैं। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे

मनुष्य आपत्तियों से बच जाता है । और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है ।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है । परंतु जो मनुष्य अशांत चञ्चल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियों वाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादिकोंको मर्यादासे अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियों को पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है । चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचारें ।

शापको वापस करना । पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और ये ही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्तमें यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है । देखिये—

शपथः शप्तारं एतु ॥ (मं. ५)

" शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे ! " गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे !! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है । मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत् है । मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं । " ये कम्प जहां पहुंचने के लिये भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उसी वेगसे भेजने वाले के पास वापस आते आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं । " यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिये । इसका विचार ऐसा है—

१ एक " अ " मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव " क " का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे " क " मनुष्यके पास भेजे दिये,

२ यदि " क " भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर " अ " को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है ।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर जाने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

दुष्ट हृदय। जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानियां होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चक्षुः-मंत्रः) आंखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी होजाते हैं। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आंखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहें, और सदा अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि। (मं. ५)

"आंखसे बुरे इशारे करनेवाले की पीठ तोड देते हैं।" अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें। बुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे परंतु भली संगति में ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग। इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोम रहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिसमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। सारांशसे इस उपदेश का स्वरूप यह है। यदि इस सूक्तके उपदेश मनन पूर्वक पाठक अपनायेंगे तो उनकी मनःशक्ति का सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है; पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके १०,३१ और ३४ ये तीन सूक्त देखें।

क्षेत्रिय रोग दूर करना।

[८]

[ऋषिः— भृगुः आंगिरस। देवता—यक्ष्मनाशनम्]

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १ ॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ— (भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज वढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देवें॥ १ ॥ (इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी (क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २॥ (बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी (पलाल्या) रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥ ३ ॥ (ते लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिये सत्कार है, (ईषायुगेभ्यःनमः) हलकी लकडीके लिये सत्कार है ॥ ४ ॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चलाने वाले अक्षका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो। (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढाने वाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं। वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥ रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥ भूरे और श्वेत रंगवाले जौं के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटादेती है ॥ ३ ॥ हल और उसकी लकडियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उससे पूर्वोक्त वनस्पतियां तैयार होती हैं, इस लिये उनकी प्रशंसा करना योग्य है ॥४॥ जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देता है, अथवा जिस यंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जनता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है। यह वनस्पति आनुवंशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥ ५ ॥

क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता; इस लिये रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिये। जो नीरोग होंगे उनको ही संतानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इस लिये यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां ।

" भगवती और तारका " ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कान्ति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिये—

१ भगवती=इसको वैष्णवी, लघु शतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता कहा

जाता है, तथा—

२ तारका= इस औषधिको देवताडवृक्ष, और इन्द्रवारुणी, कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रक्षार और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां हैं, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिये और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। "भगवती और तारके" ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि,इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीर की कान्ति उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं० १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है॥ (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग के दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजन का उपदेश किया है। जिस जौंके काण्ड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौंका पेय बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकारके जौंका पेय उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग में विहित है। इस पथ्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है॥ (मं० ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्य अन्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको योग्य समयमें पानी देनेवाले, इस खेतीके लिये हल चलानेवाले, हल के सामान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका संदेशा क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुंचाने वालोंका सत्कार किया है। यदि इस पथ्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य हैं। (मं. ४–५)

ज्ञानी वैद्य इन औषधियोंका और इस पथ्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अतएव असाध्य समझे हुए बीमारोंको रोग मुक्त करें।

सन्धिवातको दूर करना ।

(९)

[ऋषिः— भृगुः अङ्गिराः । देवता—वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम् ।]

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥
आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥
अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥
देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥ ४ ॥
यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (दश-वृक्ष) दस वृक्ष ! (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसी जकडने वाली गठियारोग की पीडासे (इमं मुञ्च) इसे छुडादे, (या एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको जोडोंमें पकड रखा है । हे (वनस्पते) औषधि ! (एनं जीवानां लोकं उन्नय) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥ (अयं) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित लोगोंके समूहमें (अगात्, आगात्, उदगात) आया, आपहुंचा, उठकर आया है । अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तमः) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् उ) बनाहै ॥ २ ॥ (अयं) इसने (अधीतिः अध्यगात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किये हैं। और (जीवपुराः अधि अगन्) जीवोंकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं। (हि) क्योंकि (अस्य शतं भिषजः) इसके सेकडों वैद्य हैं और (उत सहस्रं वीरुधः) हजारों औषध हैं ॥ ३ ॥ (देवाः ब्रह्माणः उत वीरुधः) देव ब्राह्मण और

रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिरप्रिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसोंके वाचक हैं। इसलिये " रक्षः ग्राही" का अर्थ रक्तका विगाड होकर होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष ।

उक्त संधिवात की चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। "दश मूल" नामसे वैद्यग्रंथोंमें दस औषधियां प्रसिद्ध हैं। वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनकी बडी प्रसिद्धि है। संभव है कि येही दशवृक्ष यहां अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोग को दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्त के प्रथम मंत्रमें "मुञ्च" क्रिया है, इस " मुञ्च " धातुसे एक " मोच " शब्द बनता है जो "सोहिञ्जना" या मुङ्गेका झाड अर्थात् शोभाञ्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी सेंग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिञ्जना वृक्षकी अंतस्त्वचा यदि जकडे हुए संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोंके अंदर जकडे हुए संधि खुल जाते हैं, यह अनुभव की बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनोंतक दूर नहीं होता वह इस अंतस्त्वचासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करने पडते हैं, क्योंकि यह अन्तस्त्वचा जोडोंपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बडी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यहां मंत्रमें "मुञ्च" शब्द है और इस वृक्षका नाम संस्कृतमें "मोच" है, इसलिये यह बात यहां कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल दूसरोंपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि " इस वनस्पतिसे सन्धिवात से जकडा हुआ रोगी नीरोग लोगोंके समूहोंमें जाता है और नीरोग लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है। (मं १)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोग होकर लोक सभामें जाता है और इसके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवी कर्तव्य करनेमें योग्य होता है। इन मंत्रोंका भाव देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो रोगी विकृतिसे जकडकर पडा है वही रोगी कुछ घन्टोंके बाद मनुष्यसमाजोंमें जाकर कार्य

प्रवीणताकी प्राप्ति।

प्रवीणताकी प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है। किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका उपाय यही है कि—

यः चकार, सः निष्करत। (मं. ५)

" जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है। " हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवइय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित्त होकर परिश्रम करते हैं वे कुशल चित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कारीगरीमें प्रवीण बननेकी बात है। एकलव्य नामक एक भील जातीका कुमार था उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन अविश्रांत रीतिसे अभ्यास करके स्वयंही अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की। यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्धि हुई है। यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं। यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है। बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अल्प अनुभवी वैद्य उतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें " ब्रह्माणः " पद है। यह ब्राह्मणोंका वाचक है। इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है। वेदमें अन्यत्र "विप्रः स उच्यते भिषक् (वा०यजु० अ० १२।८०)" कहा है, इसमें भी 'वह विप्र वैद्य कहलाता है' यह भाव है। यहांके "विप्र" शब्दके साथ इस मंत्रके "ब्राह्मणः" शब्दकी संगति लगानेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यक्रिया संमिलित है। आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं। इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता।

यह सूक्त "तक्म नाशन गण" का सूक्त है। इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें।

दुर्गतिसे बचनेका उपाय।

[१०]

[ऋषिः— भृगुः अङ्गिराः । देवता- निर्ऋतिः, द्यावापृथिवी, नानादेवताः]

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चा० ।० ॥ २ ॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः । एवाहं० ।० ॥ ३ ॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं० ।० ॥ ४ ॥
तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं० ।० ॥ ५ ॥
अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद्ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । एवाहं० ।० ॥ ६ ॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं० ।० ॥ ७ ॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे, (जामि—शंसात) संबंधियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, (द्रुहः) द्रोहसे, (वरुणस्य पाशात मुंचामि) वरुणके पाशसे छुडाता हूं । (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूं, (उभे द्यावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक तेरे लिये कल्याणकारी हों ॥ १ ॥ (ते अद्भिः सह अग्निः शं अस्तु) तेरे लिये सब जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी हो । तथा (ओषधीभिः सह सोमः शं) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिये सुखदायी हो, (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्

··· ··· मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुझको क्षेत्रिय रोगसे ··· ··· छुडाता हूं। ०॥२॥(अंतरिक्षे वातः) अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः शं धात्) तेरेलिये बलयुक्त कल्याण देवे। तथा (चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु) चारों दिशायें तेरे लिये कल्याणकारी हों। (एव अहं ० ....) इस प्रकार मैं तुझको······ बचाता हूं। ० ॥ ३ ॥ (इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो (वात -पत्नीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (सूर्यः अभिविचष्टे) जो सूर्य चारों ओर देखता है वह तुझको कल्याण कारी होवे (एव अहं ० ···) इस रीतिसे मैं······ बचाता हूं। ० ॥ ४ ॥ (तासु त्वा) उनमें तुझको (जरसि अन्तः आदधामि) मैं वृद्धावस्थाके अंदर धारण करता हूं। तेरे पास से (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुंह करके दूर चले जांय (एव अहं···) इस प्रकार मैं···· तुम्हें बचाता हूं। ०॥५॥ (यक्ष्मात्) क्षय रोगसे, (दुरितात) पापसे, (अवद्यात्) निंदनीय कर्मसे, (द्रुहः पाशात्) द्रोहके बंधनसे (ग्राह्याः) जकडने वाले संधिरोगसे तू (अमुक्थाः) मुक्त हुआ है। (उत् अमुक्थाः) तू छूट चुका है। (एव अहं······) ऐसे ही मैं······तुम्हें छुडाता हूं। ० ६ ॥ (अ — रातिं अहाः) कृपणताको तूने छोडा है, (स्योनं अविदः) सुखको तूने पाया है। (अपि सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः) और भी पुण्य कारक आनंददायी लोकमें तू आया है। (एव अहं····) ऐसे ही मैं······ तुम्हें बचाता हूं।० ॥७॥ (देवाः) देवोंने (तमसः ग्राह्याः) अंधकारकी पकडसे तथा (एनसः अधि मुञ्चन्तः) पापसे मुक्त करते हुए (ऋतं सूर्यं निः असृजन्) सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं ···) इसी प्रकार मैं······· तुम्हें बचाता हूं। ० ॥ ८ ॥

भावार्थ– आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होने वाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोडनेसे होने वाले बंधन आदि सब दुर्गतियोंसे निर्दोष होकर पवित्र बननेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥१॥ इस ज्ञान से ही द्युलोक,अंतरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात जल, अग्नि, औषधियां, सोम, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले सब पदार्थ, सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखदायक होते हैं, आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥ २-८ ॥

इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें वृद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाता हूं। इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जांयगे ॥ ५ ॥ क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहके पाश, संधि वात आदि सब आपत्तियोंसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुडाता हूं ॥ ६ ॥ इस ज्ञानसे ही तू अपने अंदरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर। मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिसे बचाता हूं ॥ ७ ॥ ॥ जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारकी पकडको दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना उद्धार कर क्योंकि यही एक उन्नतिका सबसे मुख्य साधन है ॥ ८ ॥

दुर्गतिका स्वरूप।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षपसे परंतु विशेष जोर देकर कहा है। अनेक आपत्तियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बडा महत्त्व पूर्ण सूक्त है। और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है। इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये—

१ क्षेत्रियः — मातापितासे प्राप्त होने वाले रोग, अशक्तता, अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियाँ। ये जन्मसे ही खूनके साथ ही शरीरमें आती हैं। (मं० १)

२ निर्ऋतिः— सडावट, विनाश, अधोगति, आपसकी फूट, सत्यनियमोंका पालन न होना, दुरवस्था, विरुद्ध परिस्थिति, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति। (मं १)

३ जामिशंसः— इसमें दो शब्द हैं, जामि+शंस। इनके अर्थ ये हैं "जामि"= वंश, नाता, संबंध। जल। अंगुली। सन्मान्य स्त्री। पुत्री, बहिन, बहू। ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिये हैं। अब "शंस" शब्दके अर्थ देखिये प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, कष्ट, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेसे "जामिशंस" का अर्थ निम्न लिखित प्रकार बन सकता है "नातेके कारण आनेवाली आपत्ति या दुष्कीर्ति, स्त्रीविषयसे होने वाला लांछन या कलंक" इत्यादि। इसी प्रकार अन्यान्य अर्थ भी पाठक

विचार करके देख सकते हैं परंतु अर्थोंमें आपत्ति या कष्ट का संबंध अवश्य चाहिये, क्योंकि निर्ऋति द्रोह आदिके गणमें यह " जामिशंस " शब्द आया है, इसलिये इसका आपत्ति दर्शक अर्थही यहां अपेक्षित है । (मं. १)

४ द्रुहः = द्रोह, घात पात, विश्वास देकर घात करना । (मं० १)

५ वरुणस्य पाशः = वरुण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है । सबसे जो "वर" है उसको वरुण कहते हैं । उस जगदीशके पाश सब जगत्में फैले हैं और उनसे कुकर्मी पुरुष बांधेजाते हैं । जगत्में उस परमात्माकी ऐसी व्यवस्था है, कि बुरे कर्म स्वयं पाश रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पडता है । (मं. १)

६ यक्ष्मः= क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग । (मं०५)

७ दुरितं =(दुः+इत) जो दुष्टता अंदर घुसी होती है । मन बुद्धि इंद्रिय और शरीरमें जो विजातीय दुष्ट भाव या पदार्थ घुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोंमें बिगाड हो कर कष्ट होते हैं उन का नाम दुरित है । यही पाप है । (मं० ६)

८ अवद्यं = निंदा करने योग्य । जिनसे अधोगति होती है आपत्ति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है । (मं० ६)

९ ग्राही = जो जकड कर रखता है, छोडता नहीं, जिससे मुक्त होना कठीन है । शरीरमें संधिवात आदि रोग जो जोडों को जकड रखते हैं । मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आत्मिक निर्बलता आदि हैं । (मं० ६)

१० अराति = (अ+रातिः) अनुदारता, कृपणता, कंजूशी । (मं०७)

११ तमः = अज्ञान, अधंकार, आलस्य । (मं०८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं । इन शब्दोंका शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक अवनतिके साथ संबंध यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गति का कितना बडा कार्य इस मानव समाजमें हो रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कमर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये । मनुष्योंके मन बुद्धि चित्त अहंकार इंद्रियगण तथा शारीरिक व्यवहारमें इस दुर्गतिके नाना रूपों का संचार देख कर विचारी मनुष्यका मन चक्कर में आता है और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित सा हो जाता है, उसको इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सूझता. ऐसी अवस्थामें यह

सूक्त उस मूढ बने मनुष्यसे कहता है कि "हे मनुष्य! क्यों मूढ बना है, मैं इस मार्गसे तुम्हें बचाता हूं और तुम्हें निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूं।" (मं. १)

एकमात्र उपाय।

आपत्तियां अनंत हैं। यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दों द्वारा इस सूक्तमें आपत्तियोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानो, अनन्त आपत्तियोंका वर्णन होचुका है। इन अनन्त क्लेशोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूक्त के हा[र] एक मंत्रने " ब्रह्म " शब्दसे बताया है। प्रत्येक मंत्रमें—

मुञ्चामि त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि।

" ... तुम्हें छुडाता हूं ......और तुम्हें ज्ञानसे निर्दोष करता हूं। " यह वाक्य पुन[ः] पुनः कहा है। वारंवार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स[्पष्ट] है। दुर्गतिसे मनुष्यका बचाव करने वाला एक मात्र उपाय " ब्रह्म " अर्थात् " स[त्य] ज्ञान " ही है। ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे गिरता जाता है। [जो] उन्नति, जो प्रगति, जो बंधनसे मुक्ति होनी है वह ज्ञान से ही होनी है। परम पुरुष[ार्थ] द्वारा अपना उत्कर्ष साधन करना भी ज्ञानसे ही साध्य हो सकता है। ज्ञानहीन मनु[ष्य] किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता।

ज्ञानका फल।

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्यों कि ज्ञानसे सब कुछ उन्नति होती है। कोई उच्च ध्येय ऐसा नहीं है कि जो बिना ज्ञानके सिद्ध [हो] सकता है। तथापि इस सूक्त में ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उ[सका] संक्षेपसे वर्णन किया है। अब इसी बातका विचार करेंगे। सत्यज्ञानका पहिला [फल] यह है—

(१) उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम्। (मं० १)

" द्युलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याण कारी शुभ हों " अर्थात् [जो] सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंत के सब पदार्थ शुभ होंगे। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंत के सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी ब[नाना] ... की विद्या अ[के]ले ज्ञानी मनुष्यको ही साध्य होती है। पाठक विचार करेंगे तो उ[नके] ... लग जायगा, कि यह बडी भारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती [है] ... लेकर सूर्य पर्यंत के सब पदार्थ उसके वशवर्ती होकर उसका हित करने में ...

रहते हैं । यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है ।

(२) अद्भिः सह अग्निः शम् ॥ (मं० २)

" जलोंके साथ अग्नि कल्याण कारी होता है। " ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से—दोनोंके संयोग से या वियोगसे—अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता है ।

(३) ओषधीभिः सह सोमः शम् ॥ (मं० २)

" औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है । " सोम एक बडी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है । सोम और औषधियों से प्राणिमात्र का हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है । नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है । इस लिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । पूर्वोक्त कष्टोंमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं । जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी में संमिलित है ।

(३) अन्तरिक्षे वातः वयः शं धात् । (मं०३)

" अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है ।" विद्यासेही वायु लाभकारी होसकता है । योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका द्योतक है । प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञान में संमिलित हैं । वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इस में आता है । रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं ।

(४) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम् । (मं० ३, ४)

" दिव्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे, लिये सुख कारक होंगे। " चार दिशाएं और चार उपदिशायें अर्थात् उनके अंदर रहने वाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं । इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य है ।

(५) सूर्यः अभिविचष्टे । (मं० ४)

" सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है" वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है। सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत लाभ होते हैं । इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं ।

(६) त्वा जरसि अन्तः आदधामि । (मं० ५)

" तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं। " अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है। ज्ञानसे जीवनके सुनियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है।

(७) यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः एतु। (मं० ५)

" यक्ष्मा आदि रोग तथा अन्यान्य आपत्तियां ज्ञानसे दूर होंगी। " ज्ञानसे आरोग्य संपादन के सत्य नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है।

(८) यक्ष्मात्, दुरितात्, अवद्यात्, द्रुहः, पाशात्, ग्राह्याः च अमुञ्चथाः, उद्मुञ्चथाः। (मं० ६)

" ज्ञानसे यक्ष्म, रोग, पाप, निंद्य कर्म, द्रोह, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ति होती है। " अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं। यह बात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी।

(९) स्योनं अविदः (मं० ७)

"सुख प्राप्त होगा" ज्ञानसे ही उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वशवर्ती होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसीको कहते हैं—

(१०) सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः। (मं० ७)

" सुकृतके कल्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा। " ज्ञान से ही सुकृत किये जांयगे और उन सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यही भूलोक स्वर्गधाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इस लिये हरएक वैदिकधर्मी आर्यको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल इस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके विना अन्य साधन रहे तो भी उनसे कोई लाभ नहीं होगा। इस लिये पाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिका मार्ग बताया है वह यहां देखिये-

उन्नतिका मार्ग।

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिका मार्ग दर्शाया है वह भी यहां अब देखना चाहिये—

तमसो ग्राह्या अधिमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्य
एनसः असृजन् ॥ (मं० ८)

" जिस प्रकार अंधकारकी पकडसे छुडाते हुए सब देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अधोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं ।"

अलंकार की भाषा ।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है । सूर्य और अन्य देवोंका अन्योक्ति अलंकार से रूपक बनाकर यहां वर्णन किया है । वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है । यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये–

"चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नाम्नी माता करती है और सूर्य रूपी बालक का पालन दिनप्रभा नाम्नी माता करती है । प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्रभी गाढ अंधकार में दबा रहता है । मानो इसको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, द्युपिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती हैं । सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अधिकाधिक चमकने लगता है और मध्यान्हमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजको कोई सहन कर नहीं सकता । इसी प्रकार चन्द्रभी अपनी क्षयी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है ।"

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवाले की इस ढंगसे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है । जो स्वयं यत्न नहीं करेंगे उनकी उन्नति होना कठिन है । दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें संमिलित नहीं होता । यह उन्नतिका मूल मंत्र है ।

स्वकीय प्रयत्न ।

इस मंत्रमें "ऋतं सूर्य देवाः तमसः मुञ्चतः" अर्थात् "स्वयं चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुडा सकते हैं" ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते । इसी प्रकार मनुष्यभी जो स्वयं अपने उद्धारका यत्न रातदिन करता रहता है, उसीको अन्य गुरुजन सहाय्यकारी होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लगसकता है कि इस मंत्रमें " ऋत " शब्द बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय । ऋत = "योग्य, ठीक, सत्य, हल-चल करनेवाला, गतिमान्, प्रयत्नशील, यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिवृत्ति, कर्मफल, अटल विश्वास, दिव्य सत्यनियम ।"

आत्माके गुण ।

[११]

[ऋषिः— शुक्रः । देवता— कृत्यादूषणम्]

दूष्या दूर्षिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥
स्रुक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि । आप्नुहि० ॥ २ ॥
प्रति तमभि चर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । आप्नुहि० ॥ ३ ॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि० ॥ ४ ॥
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— (दूष्याः दूषिः असि) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन हटानेवाला तू है। (हेत्याः हेतिः असि) हथियारका हथियार तू है। (मेन्याः मेनिः असि) वज्रका वज्र तू है। इसलिये (श्रेयांसं आप्नुहि) परम कल्याणको प्राप्तकर और (समं अतिक्राम) अपने समानसे अधिक आगे बढ ॥ १ ॥ (स्रक्त्यः असि) तू गतिशील है, (प्रतिसरः असि) तू आगे बढनेवाला है, (प्रत्यभिचरणः असि) तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है। ० ॥ २ ॥ (तं प्रति अभिचर) उसपर चढाईकर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं। ०॥ ३ ॥ (सूरिः असि) तू ज्ञानी है, (वर्चोधाः असि) तू तेजका धारण करनेवाला है तथा (तनू-पानः असि) शरीरका रक्षक तूहि है। ० ॥ ४ ॥ (शुक्रः असि) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, (भ्राजः असि) तू तेजस्वी है, (स्वः असि) तू आत्मिक शक्ति से युक्त है, (ज्योतिः असि) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ ॥ ५ ॥

भावार्थ— आत्मा दोषोंका दोष हटानेवाला है, वही शस्त्रोंका महा शस्त्र और अस्त्रोंका महा अस्त्र है० ॥ १ ॥ आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढनेका उसका स्वभाव है, और दुष्टताका दूर करनेवाला है० ॥ २ ॥ जो अकेला दुष्ट सब सज्जनोंको सताता है, और जिस अकेले दुष्टका सब सज्जन विरोध करते हैं, उसको हटा दे० ॥ ३ ॥ तू ज्ञानी है, तेजका धारक है, शरीरका सच्चा रक्षक तूही है० ॥ ४ ॥ तूही बलवान् है, तूही तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है। ये गुण अब देखिये—

(१) दूष्याः दूषिः असि— दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है। देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये। अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है। सडनेवाले शरीरको न सडानेवाला, मरनेवाले शरीर को जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनंदधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है। (मं१)

(२) हेत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः असि = शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह आत्मा है। शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चलाने वाला अर्थात् शस्त्रका भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पीछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है। (मं० १)

(३) स्रक्त्यः असि = आत्मा गतिमान है। "अत—सातत्यगमने" (सतत गति करना) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है। सतत प्रयत्नशीलताका यह द्योतक है। वही भाव इस शब्दमें है। छोटे बालकमें क्या अथवा बडे मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्नशीलता है। कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है। (मं० २)

(४) प्रतिसरः असि = आगे बढनेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है। आत्मा " इन्द्र " है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है। (मं० २)

(५) प्रत्यभिचरणः असि = दुष्ट शत्रुको पराभूत करने वाला। (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाव वाला ही है।) (मं० २)

यहांतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है। अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मंत्रके द्वारा करते हैं—

(६) सूरिः असि = तू ज्ञानी है। आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। (मं० ४)

(७) वर्चो-धाः असि = तेज बल ओज आदिका धारण करनेवाला है। शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं। (मं० ४)

(८) तनू-पानः असि = शरीरका रक्षक है। जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तब तक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है। जब यह आत्मा इस शरीरसे चले जाता है तब शरीर सडने लगता है। इससे स्पष्ट होता है कि शरिरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है। (मं० ४)

(९) शुक्रः असि = वीर्यवान्, बलवान् तथा शुद्ध है। आत्माको ही "शुक्रं" (यजु० ४० । ८ में) कहा है। इस लिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है। (मं० ५)

(१०) भ्राजः असि = तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है। आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है। (मं० ५)

(११) स्वः असि = आत्मिक बलसे युक्त है (स्व+र्) अपने निज बलसे युक्त है। अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है। (मं० ५)

(१२) ज्योतिः असि = स्वयं ज्योति है। प्रकाश स्वरूप है। (मं० ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं। मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है। इस सूक्तने आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं। जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है। इसमें भी वैसेही प्रभाव शाली गुणधर्म

हैं कि जैसे परमात्मामें हैं। यह आत्मा ज्ञानी, पुरुषार्थी, प्रयत्न शील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान, तथा शरीर रक्षक है। इस लिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं। यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकास की मर्यादा बहुत ही बडी है।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताकी लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे और इन शब्दोंके भावोंको अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेंगे, तो उनके मनकी कमजोरी दूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करने योग्य बलवान बन जांयगे। आत्मशक्तिका वर्णन करने वाले जो अनेक सूक्त हैं उनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है। यह अत्यंत सरल और बडा भावपूर्ण होने से बहुत मनन करने योग्य है। यह सूक्त निर्बलोंको भी बलवान् बना सकता है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि " उस शत्रुको दूर कर, जो अनेकों को सताता है।" इस मंत्रमें यह बात विचार करने योग्य है, कि शत्रुता करने वाला एक है, सताने वाला एक है और सताये जाने वाले अनेक हैं। अल्प संख्या वालों के द्वारा बहु संख्या वालों को कष्ट होनेकी कल्पना इसमें है। ऐसे प्रसंगमें शत्रुको दूर करना ही योग्य है। जो दुर्जन अनेक सज्जनों को सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय है।

श्रेयःप्राप्ति।

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय चरण एकसा ही है। वह यह है—

आप्नुहि श्रेयांसं सम अतिक्राम ॥ (मं. १-५)

" समान लोगोंके आगे बढ और परम कल्याण प्राप्त कर " यह इस वाक्य का सार है। "श्रेय प्राप्त कर' यह तो वैदिक धर्म का ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं। वैदिक धर्मने यही ध्येय सबके सामने रखा है। इस ध्येय की सिद्धि प्राप्त करनेके लिये ही इस सूक्तने आत्माके गुन उपासकोंको निवेदन किये हैं। इन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उन्नतिके पथमें आगे बढता हुआ निःश्रेयस तक पहुंच जाय। इसका मार्ग यह है—

उन्नतिका मार्ग।

इसकी उन्नतिका मार्ग एक ही वाक्यमें बताया है वह चिरस्मरणीय वाक्य है—

समं अतिक्राम। (मं १-५)

" अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढ। " यह मार्ग है। जब यह प्र श्रेणीमें पढता हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे ब जब द्वितीय श्रेणीमें पहुंचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवाल आगे बढूँ। इस प्रकार अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढता हुआ यह अपनी उन्नतिका सा करे।

अपनी उन्नतिका तो साधन हर एक को करना ही है, परंतु उस उन्नतिके साधन लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढनेका ध्येय सामने रखना ही उचित है। प्रथम श्रेण पढनेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढनेकी महत्त्वाकांक्षा मन में रखे, परंतु उस सम दशम श्रेणीसे आगे बढनेके विचार से अपना प्रथम श्रेणीका कर्तव्य न भूले। प्रा लोग असंभव ध्येय सामने रखकर अपने कर्त्तव्यसे वंचित रहते हैं। ऐसा कोई न करे, इ उद्देश्यसे यह मंत्र कह रहा है, कि अंतिम साध्य जो भी हो, उसका विचार न क हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रह कर, उ समय के अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो। इस प्रकार करते रहनेसे सबकी यथायो उन्नति होती रहेगी और यथा समय सबही उन्नतिके परम सोपानपर पहुंच जायंगे।

परंतु अपनी श्रेणीसे भिन्न श्रेणीवालोंसे स्पर्धा करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिल कठिन होगा इतनाही नहीं परंतु अवनति होना ही अधिक संभव है। यदि छोटास कुमार अपनी आयुवाले अन्य कुमारोंसे मल्लयुद्ध न करता हुआ यदि बडे पहिलवानों मल्लयुद्ध करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसको सिद्धि मिल सकती है और नाहि उसकी उन्नति हो सकती है। परंतु क्रमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुश्ती करता हुअ वह स्वयं आगे जाकर बडा मल्ल हो सकता है; इसी प्रकार अन्यान्य अभ्युदयोंके विषय समझना चाहिये। मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है।

पाठक इसका अधिक विचार करें। हमारे विचार में यह उन्नतिके मार्गका उपदेश सब के लिये सर्वदा मनन करने योग्य है। अपनी अधोगति न होते हुए क्रमसे निःसंदे उन्नतिकी प्राप्ति होना इसी मार्गसे साध्य है।

मनका बल बढाना ।

(१२)

[ऋषिः- भरद्वाजः । देवता- द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।]

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥
द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (उरु अंतरिक्षं) विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करने वाली भूमि (अद्भुतः उरुगायः) अद्भुत और बहुत प्रशंसनीय सूर्य (उत) और (वातगोपं उरु अन्तरिक्षं) वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब (मयि तप्यमाने)

(वाक् अपि असुं गच्छतु) वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— द्युलोक, पृथ्वीलोक, अंतरिक्ष लोक तथा इस अवकाश में रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मेरे अनुकूल हों अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होने पर वेभी शांत हों ॥ १ ॥ हे सत्कार करने योग्य देवो ! सुनो । यह नियम है कि बल बढाने वाला ही दूसरोंको उत्तम उपदेश करता है, परंतु बल घटानेवाला बुरे विचारों की प्रेरणासे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड कर बंधनमें रखना उचित है ॥ २ ॥ हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाडता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूं ॥३॥ जिसमें तीन छन्दों के अस्सी मंत्रों द्वारा सामगान करते हैं, उस यज्ञमें वसु रुद्र आदित्यों के साथ पितरों द्वारा कियाहुआ यज्ञ यागादि शुभ कर्म हमारा रक्षक होवे। उस सत्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे । जो पापी हमारा मन निर्बल करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलके साथ पकडता हूं ॥ ४ ॥ द्युलोक और भूलोक के अंतर्गत सब वस्तुमात्र मेरे अनुकूल हों, सब अग्न्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें । हे पितरो ! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर पतित होवे ॥ ५ ॥ हे मरुतो ! जो घमंडी मनुष्य अपने आपको ही सबसे बडा समझता है, इतना ही नहीं परंतु हम जो ज्ञान संग्रह करते हैं उसकी भी जो निंदा करता है; उसको सब कर्म कष्टप्रद हों, क्यों कि जो सत्यज्ञानका विरोध करता है उसको द्युलोक बहुत ताप देवेगा ॥ ६ ॥ तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानों को मैं ज्ञानसे खोलता हूं, तू अग्निदूत बनकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥ इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूं। यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राण को प्राप्त होवे ॥ ८ ॥

मानस शक्तिका विकास ।

मनकी शक्तिसे मनुष्य की योग्यता निश्चित होती है। जिसका मन शुद्ध और पवित्र वह महात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलीन विचारोंवाला वह दुष्ट कहलाता है । इसके पूर्व सूक्तमें आत्माके गुण वर्णन करने द्वारा आत्मिक बल बढानेका उपाय कहा, उसी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्तमें मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है । मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता ।

मानस शक्ति विकासके साधन।

त्यागभाव।

मानसिक बल बढानेवालेका नाम इस सूक्तमें "भरद्वाज," अर्थात् "भरत्+वाजः" = वाजः + भरत्) बल भरनेवाला कहा है। "वाजः" का अर्थ "घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द" यह है। इसमें घी, अन्न, जल ये पदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु येही शुद्ध सात्विक सेवन किये जाय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं। जल प्राणोंके बलके साथ संबंधित है। धन आर्थिक बलका द्योतक है। अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढाते हैं। युद्ध क्षात्र बल बढाता है। परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है। वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है। यहां बल बढाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ। पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे, तो उनको इससे अपना बल बढानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं। यह बल जो भर देता है, उसका नाम "भरद्-वाजः" होता है। यह भरद्वाज आत्मिक बल बढानेका साधन इस प्रकार सबको कथन करता है—

शुभवचन।

भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति ॥ (मं० २)

"बल बढानेवाला मुझे सूक्त कहता है" अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है। ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करनेसे ही मनकी शक्ति बढ सकती है। परमेश्वर भक्ति, उपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्तशंसन है। इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है।

ज्ञान।

इस "ज्ञानाग्नि" को ही "जात-वेद अग्नि" कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है। जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह अग्नि है। इसीको ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि, जातवेद, आदि अनेक नाम हैं। मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसको इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरण लेना योग्य है। इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
तत्राग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ (मं० ८)

" इस प्रदीप्त जातवेद नामक ज्ञानाग्निमें तेरा पांव मैं रखता हूं । यह ज्ञानाग्नि तेरे शरीरके रोम रोम में प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राणाग्नि के पास जावे । " जो मनुष्य अपना आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढानेका इच्छुक है उसको अपने आपको ज्ञान से संयुक्त होना चाहिये। जिस प्रकार लोहा अग्निमें पडनेसे वह थोडे समयमें अग्निरूप होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्निमें पडा हुआ यह मनुष्य थोडे ही समयमें अपने आपको ज्ञानाग्निसे–जातवेद अग्निसे–प्रदीप्त हुआ देखता है । यह ज्ञानावस्था है ।

जीवित वाणी ।— इस समय इसके वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति प्रकाशित होती है, मानो इसकी वाणी जीवित सी हो जाती है। (वाक् असुं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है। सामान्य मनुष्योंकी वाणी मुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानीकी वाणी जीवित होती है । वह सिद्ध पुरुष जो कहता है वह बन जाता है यह जीवित वाणीका साक्षात्कार है।

शाखा छेदन । टेढी मेढी शाखाएं काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है । वृक्षपर वल्लियोंका भार बढ गया, तो वृक्षको बढनेके लिये उस भार से मुक्त करना आवश्यक होता है । अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये वैसे बढने देना उचित नहीं हैं । इसी प्रकार इस अश्वत्थ वृक्षके विषयमें जानना चाहिये । इस विषयमें श्री भगवद्गीतामें कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥ गीता अ० १५

" ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष है । ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हैं । इन शाखाओंको असंग शस्त्रसे छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिये " तत्पश्चात् उन्नतिका मार्ग विदित हो सकता है । इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, वह अब देखिये—

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ (मं० ७)

" सात प्राणोंको और आठ ग्रंथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूं या छेदता हूं अथवा खोलता हूं । तू इस अग्निका सिद्ध दूत बनकर यम के घर को जा ।" इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाग्रंथियोंको (वृश्चामि) काटनेका उल्लेख है । और यहां काटने

का शस्त्र "ब्रह्म" अर्थात् "ज्ञान, भक्ति ,प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र" इत्यादि प्रकार का है। ब्रह्म शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है। पाठक यहां विचार करें कि क्या कभी "ज्ञान अथवा ईश उपासना" (ब्रह्मणा वृश्चामि) शस्त्र बन कर किसी को काट सकते हैं? यदि ये शस्त्र बन कर किसीको काटते होंगे तो किसको काटते हैं? यह विचार करना चाहिये।

असंगास्त्र और ब्रह्मास्त्र।— गीतामें "असंगशस्त्र" से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां नाना वासनाओंको असंग शस्त्रसे काटनेका भाव है। वासनाएं भी भोग की इच्छासे ही फलती हैं और भोग भी इंद्रियोंके विषयोंके ही होते हैं। अर्थात् असंग शस्त्रसे जिन शाखाओंको काटना है,वे शाखाएं इंद्रियभोग की वृत्तिरूप ही हैं। भगवद्गीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्रके सप्त प्राणोंको ब्रह्मास्त्रसे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाका अर्थ एक ही है—

अश्वत्थं ...असंगशस्त्रेण छित्वा ॥ (भ० गीता १५। ३)

सप्त प्राणान्... ब्रह्मणा वृश्चामि ॥ (अथर्व० २। १२। ७)

"वृश्चामि" का अर्थ भी "छेदन" ही है। दोनों स्थानोंके शस्त्र भी अभौतिक हैं। (असंग) वैराग्य, और (ब्रह्म) ज्ञान उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें सार्थ होनेवाले हैं,आत्मसाक्षात्कारमें ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं। वैराग्य के विना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस शाखाविस्तार को भगवद्गीता काटना चाहती है उसी शाखाविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है। इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें "सप्त प्राण" कौन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है—

सप्त प्राण — १ प्राणा इन्द्रियाणि ॥ ताण्ड्यब्रा० २।१४।२; २२।४।३

२ सप्त शिरसि प्राणाः ॥ ताण्ड्य ब्रा० २।१४।२; २२।४।३

३ सप्त शीर्षन् प्राणाः। शत० ब्रा० ९।२।२।८

४ सप्त वै शीर्षन् प्राणाः। ऐ. ब्रा. १।१७; तै. ब्रा. १।२।३।३

"(१) प्राण ये इन्द्रिय ही हैं। (२-४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इंद्रिय हैं।" इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंका वैदिक सारस्वतमें किया गया है। इससे सप्त प्राण ये सात इंद्रिय हैं इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। कईयोंके मतसे ये इंद्रिय दो आंख,दो कान,दो नाक और एक मुख मिल कर सात हैं और कईयोंके मत से कान, त्वचा, नेत्र,जिह्वा, नाक, शिस्न और मुख है,इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये सात भोग हैं। इनके कारण उत्तम मध्यम अथवा निकृष्ट

गति इस मनुष्यकी होती है। दोनों मतोंका तात्पर्य इतनाही है,कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फंसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके भयमें ग्रस्त होता है, वे सात इंद्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये। जिस प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंको टेढा मेढा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मा रूपी माली है,उसको अपने उद्यान के इन सप्त वृक्षोंको टेढे मेढे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लगे तो ज्ञानकी कैंचीसे मर्यादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्यादामें ही रखना उचित है।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनको असङ्गके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णवृत्तिसे दमन करना चाहिये। इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है। शाखा छेदन का तात्पर्य यही है।

आठ ग्रंथी।-- इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ ग्रंथि,या धमनियां हैं, उनको भी छेदन करने का विधान किया है। ये आठ मज्जा ग्रंथियां हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं। गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा ग्रंथियां हैं और इनसे जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है। इससे प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इसीसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन वासना का नाश करना चाहिये। देखिये गुदाके पास की मज्जा ग्रंथीसे वीर्यके साथ जीवन रस प्राप्त होता है। इसीसे स्त्री पुरुष विषयक काम होता है और इसके अतिरेकसे मनुष्य गिरता भी है; तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहा और शेष ब्रह्मचर्य पालन हुआ तो यहांकी ही दिव्य शक्ति ईशभक्तिमें परिणत होती है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाले इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है। योगमें इसको "ग्रंथिभेद, चक्रभेद" आदि संज्ञाएं हैं। इसका अर्थ इतनाही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पांव का हिलना या न हिलना होता है; उसी रीतिसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो। इंद्रियोंको और इन केन्द्रोंको पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहां शाखा छेदन है। यह श्रेष्ठ संयम है। और यही शाखाछेदन (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञान रूपी शस्त्रसे होना संभव है। अब यहां मंत्रोंकी संगति देखिये—

संयमका मार्ग।-१ समिद्धे जातवेदसि पदं = जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं० ८)। २ अग्निः शरीरं वेवेष्टि = जिस

के शरीरके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भडक उठा है (मं० ८)। ३ वागू आपि असुं गच्छतु=जिसकी वाणीभी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है (मं० ८)। ४ सप्त प्राणान् वृश्चामि=सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन जिसने किया है अर्थात् इंद्रियों को वशमें किया है (मं० ७)। ५ अष्टौ मन्यान्वृश्चामि = आठ मज्जा केन्द्रोंका भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ती किया है।

मरनेकी विद्या।-- वही आत्मिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निडर होकर यमके घर जायगा। सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और डर डर के मरना और बात है। सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है। देखिये मंत्र के शब्द—

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सादनं अयाः (मं. ७)

"(अरंकृत) अलंकृत (अग्नि-) ज्ञानाग्निका (दूतः) सेवक बनकर यमके घर जा।" क्योंकि अब तुम्हें यमका वह डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था। यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है। मानो यह मरनेकी विद्या है। जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये। जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है, और जो सत्यज्ञानके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्नि में समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पंहुंचेगा। इसी प्रकार देखिये—

निर्भय ऋषिकुमार।--कठोपनिषद्में कथा है कि,नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा,उसको देख कर यमको भी भय मालूम हुआ! उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रचण्ड शक्तियां थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियोंका व्यय उसने किया। यमने नाना भोग उसके सन्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानास्त्रसे वासना रूपी शाखाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुची नहीं की, भोगोंको छोडकर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्याग[illegible]से अन्तमें उसने ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषि [illegible] रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ वहांसे वापस आया। [illegible] क्यों हुआ? पाठको! विचार तो कीजिये। नचिकेता ऋषिकुमार अग्निका दूत बन [illegible] ज्ञानका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था; इस लिये यह

निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यमके पास जांयगे वे डरते हुए जांयगे, इस लिये पकडे जांयगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मवद्भाव। एकके दुःखसे दूसरा दुःखी।

यहां तक जो आत्मोन्नतिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीकी उच्चावस्थाकीकल्पना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानीके मनमें "आत्मवद्भाव" इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान भावसे देखने लगता है। जो जैसा सुख दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है, वह अपनेमें और दूसरेमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी उच्च मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है। इसलिये जिस समय वह सच मुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्य प्राणिमात्र सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है, और सब जगतके दुःखका भार आनंदसे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक स्वरमें मिलायी हुई तन्तुवाद्यकी तारें एक बजाई जाने पर अन्य सब स्वयं बजने लगती हैं; इसी प्रकार यह ज्ञानीके "सर्वात्मभाव के जीवन" से सब जगत्के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह "आत्मवद्भाव" की परम उच्च अवस्था है। यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताई है—

मयि तप्यमाने ते इह तप्यन्तां ॥ (मं १)

"मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहां संतप्त हों।" पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, बीचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि जितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र हैं उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूं, जगत् को सुखी करने के लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूं, मैं जगत् को दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिस के रोम रोम में भरी है, जिसके दैनिक जीवन में ढाली गई है; वह अपने आपको जगत् के साथ एकरूप देखता है, जगत् को अपने आत्माके समान समझता है, या यौं कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है।

यह मनुष्य की उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पहुंचा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुखी होता है और इसके दुःखसेभी सब दूसरे दुखी होते हैं। इस पूर्ण

अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल बढते बढते और आत्माकी शक्ति बढते बढते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, वह देखना है—

ज्ञानके विरोधी।—जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये—

१ **यः अतीव मन्यते** = जो अपने आपको ही घमंडसे ऊंचा समझता है, अपनेसे और अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है ऐसा जो मानता है, (मं० ६)

२ **क्रियमाणं नः ब्रह्म यः निन्दिषत्**= किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है, (मं०६)

३ **वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु**= सब कर्म उसके लिये तापदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किसीभी कर्मसे उसको कभी शांति नहीं मिलेगी, (मं०७)

४ **द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति**=प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती। (मं०७)

ज्ञान के विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है, और यह अत्यंत घातक है। यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये। परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलीन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है। इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इसकारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है। यह बात इस छठे मंत्रने बताई है। अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बीचके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिये—

१ **अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु।** (मं० ५)

२ **यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति स दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्।** (मं०२)

३ **अमुं दैव्येन हरसा आददे।** (मं० ४)

४ **यः अस्माकं इदं मनः हिनास्ति तं कुलिशेन वृश्चामि।** (मं० ३)

" (१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे। (२) जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे। (३) उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड रखता हूं। (४) जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं। "

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं। पहिले वाक्य ने कहा है कि उसको पाप लगे। दूसरे वाक्य ने कहा है कि उसको बांध कर नियममें रखा जावे यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है। तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसका सिर काटने की बात कही है। यह एकसे एक कडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिये। मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक वार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघद्वारा दूसरी जातीका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है, या जातीकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बढ कर होता है। इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है। यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसभा द्वारा देना होता है।

दूसरे की ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडाभारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अधोगति होती है। इस लिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे।

आनुवंशिक संस्कार।--सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है। जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सत्पुरुष हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं, अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है—

> निसृभिः अशीनिभिः सामगेभिः वसुभिः आङ्गिरोभिः आदित्येभि पितृणां इष्टापूर्त नः अवतु ॥ (मं० ४)

"वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे।" परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है। मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है। येही आनुवंशिक शुभ संस्कार हैं। हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अवश्य मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं। इस लिये परिवारों के मुख्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके

अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल बढते बढते और आत्माकी शक्ति बढते बढते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, वह देखना है—

ज्ञानके विरोधी।—जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये—

१ **यः अतीव मन्यते** = जो अपने आपको ही घमंडसे ऊंचा समझता है, अपने से और अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है ऐसा जो मानता है, (मं० ६)

२ **क्रियमाणं नः ब्रह्म यः निन्दिषत्**= किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है, (मं०६)

३ **वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु**= सब कर्म उसके लिये तापदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किसीभी कर्मसे उसको कभी शांति नहीं मिलेगी, (मं०७)

४ **द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति**=प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती। (मं०७)

ज्ञान के विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है, और यह अत्यंत घातक है। यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये। परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलीन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है। इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इसकारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है। यह बात इस छठे मंत्रने बताई है। अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बीचके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिये—

१ अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु। (मं० ५)

२ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति स दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्। (मं०२)

३ अमुं देव्येन हरसा आददे। (मं० ४)

४ यः अस्माकं इदं मनः हिनास्ति तं कुलिशेन वृश्चामि। (मं० ३)

" (१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे। (२) जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे। (३) उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड रखता हूं। (४) जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं। "

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं। पहिले वाक्य ने कहा है कि उसको पाप लगे। दूसरे वाक्य ने कहा है कि उसको बांध कर नियममें रखा जावे यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है। तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसका सिर काटने की बात कही है। यह एकसे एक कडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिये। मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक बार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघद्वारा दूसरी जातीका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है, या जातीकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बढ कर होता है। इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है। यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसभा द्वारा देना होता है।

दूसरे की ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडाभारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अधोगति होती है। इस लिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे।

आनुवंशिक संस्कार।--सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है। जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सत्पुरुष हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं, अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है—

> तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः आदित्येभि
> पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु ॥ (मं० ४)

"वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे।" परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है। मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है। येही आनुवंशिक शुभ संस्कार हैं। हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं। इस लिये परिवारों के मुख्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके

पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है।

ईश प्रार्थना।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं। इस लिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई डरनेकी बात नहीं है। स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी। इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनसे ही होनी चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तके शब्द बडे मनन करने योग्य हैं—

हे सोमप इन्द्र! शृणुहि। यत्त्वा शोचता हृदा जोहवीमि॥ (मं० ३)

" हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूं।" हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये। ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है। तथा—

ये यज्ञियाः स्थ ते देवा इदं शृणुत। (मं०२)

" जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुनें! " इस प्रकार देवोंके विषय में श्रद्धाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

द्यावापृथिवी मा अनु दीधीथाम्। विश्वेदेवासो मा अन्वारभध्वम्॥ (मं०५)

" द्यावापृथिवी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यारंभ करें।" अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवों की अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे। कोईभी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोधी हो। मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें। देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने आपको देवतामय अनुभव करना चाहिये।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहां अशुभ विचार नहीं आवेंगे और सदा वहां दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे। इस प्रकार देवोंका जाग्रत निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासक को अवश्य प्राप्त होंगे।

प्रथम वस्त्र-परिधान।

[१३]

[ऋषिः—अथर्वा। देवता- अग्निः, नानादेवताः।]

आयुर्दा अंग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेवं पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥
परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उं ॥ २ ॥
परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उं।
शतं च जीवं शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥
एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥
यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे (अग्ने अग्ने) तेजस्वी अग्ने! तू (आयुः-दा) जीवनका दाता, (जरसं वृणानः) स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, (घृत-प्रतीकः) घृतके समान तेजस्वी और (घृत-पृष्ठः) घीका सेवन करनेवाला है। अतः (मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा) मीठा सुंदर गाय का घी पीकर (पिता पुत्रान् इव) पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू (इमं अभिरक्षतात्) इसकी सब ओरसे रक्षा कर॥ १॥ (नः इमं) हमारे इस पुरुषको (परिधत्त) चारों ओरसे धारण कराओ। (वर्चसा धत्त) तेजसे युक्त करो, इसका (दीर्घं आयुः जरा-मृत्युं कृणुत) दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करो॥ (बृहस्पतिः एतत् वासः) बृहस्पतिने यह कपडा (सोमाय राज्ञे परिधत्तवे) सोम राजाको पहननेके लिये (उ प्रायच्छत्) निश्चयसे दिया है॥ २॥ (इदं वासः स्वस्तये परि अधिथाः) यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, (गृष्टीनां अभिशस्ति-

प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है। इस सूक्तका प्रथम मंत्र घृतका हवन अग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्व का सब विधान इससे पूर्व होचुका है, ऐसा समझना उचित है। अग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस अग्निको घी आदिसे प्रदीप्त किया जाता है, और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है। सभी संस्कार अग्निमें हवन करनेके साथ होते हैं। परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, अभययाचनादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभुकी प्रार्थना की गई है कि वह परम पिता हम सब पुत्रों की रक्षा करें। इस प्रकार वस्त्र परिधान की पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मोल देकर दुकानसे लाया नहीं होता। परंतु अपने पुत्रके लिये माताही कपडा बुनती है; इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा
पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ ऋग्वेद ५।४७।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं। देखिये इनका अर्थ—

(१) मातरः पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति=माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं। और-
(२) अस्मै धियः अपांसि वितन्वते=इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बतारहा है। माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें प्रत्येक धागेके साथ कितना प्रेम उस कपडेके तन्तुओंमें बुना जाता है इसका विचार पाठक अवश्य करें। यह कपडा केवल कपडा नहीं है परंतु इसी सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं ३)

"यहां कपडेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है। इसप्रकार यह कपडा बुना जाता है।" सचमुच ऐसाही होगा, जहां माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगी। धन्य है वह माता और वह बालक जो इस प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं। इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समयका मंत्र यह है—

परिधत्त, धत्त, नो वर्चसा इमम्।
जरामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः ॥ (मं २)

"पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बालकको यह वस्त्र, तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थाके पश्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे।" जब माता अपने पुत्र के लिये प्रेमसे कपडे बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि "देवोंके कुलगुरु बृहस्पतिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था।" अर्थात् यह प्रथा सनातन है। कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और सब उपस्थित सज्जन बालक का शुभ चिंतन करें। यह इस वैदिक रीतिका सारांशसे स्वरूप है। पाठक इसका विचार करके यह शुभसंस्कार अपने घरमें कर सकते हैं।

वस्त्र घरमें बुननेका प्रयोजन।

वस्त्र घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है—

१ स्वस्ति।

इदं वासः स्वस्तये अधि थाः। (मं० ३)

"यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो।" स्वस्ति का अर्थ है "सु+अस्ति" अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम हस्ति। अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना बुनाहुआ कपडा पहनना चाहिए। दूसरेका बना हुआ कपडा पहननेसे अपनी स्थिति बुरी होती है, बिगड जाती है। अपना बुना कपडा पहननेसे अपना "स्वस्ति" अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना बुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिए।

२ विनाशसे बचाव।

गृष्टीनां अभिशस्ति-पा उ अभूः।(मं० ३)

"मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है।" अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनना केवल अपनाही लाभ नहीं करता है परंतु संपूर्ण मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है। इससे हरएक मनुष्य उद्यमी होनेके कारण उस उद्यमसे ही उन सब मनुष्योंका

बचाव हो जाता है। दुःस्थिति, हीन अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वस्त्र बुननेका व्यवसाय है।

३ धन और पुष्टि।

यह घरका बुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रत्युत—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं० ३)

"उसमें तानेके धागे ऐश्वर्य के सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं।" ऐसा मानकर ही तुम कपडा बुनो। अपना कपडा स्वयं बुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं होजाता है और जिस कुटुंबमें और जिस परिवार में माता अपने बच्चोंके लिये कपडा बुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई शंकाही नहीं है। जहां इस प्रकार सुख और शांति रहेगी वहां ही —

४ दीर्घ आयु।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः (मं० ३)

" सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी" यह बात सहज ही में ध्यानमें आ सकती है। यह तृतीय मंत्र वास्तव में बालक के लिये आशीर्वाद परक है, तथापि उसमें अपने बुने कपडेका महत्त्व इस प्रकार सूक्ष्म रीतिसे दर्शाया है। पाठक इसका विचार करें और इससे बोध प्राप्त करें, तथा अपने घरमें इस महत्त्व पूर्ण बातका प्रचार करें। विशेषतः जो वैदिक धर्मी हैं उनको इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।

सुदृढ शरीर।

हाथसे काते हुए सूतका कपडा पहननेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कपडे पहननेसे आती है। यह कोमलता बहुत बुरी है, इससे सौ वर्षकी दीर्घआयु प्राप्त नहीं होती। अतः अपना शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बालकपनमें ही यह उपदेश इस सूक्त द्वारा सुनाया है, इस "प्रथमवस्त्र परिधारण" के समय ही एक विधि बनाया जाता है जिसमें वस्त्र पहनते ही उस बालकको पत्थरपर रखा जाता है और यह मंत्र बोला जाता है —

एहि, अश्मानं आतिष्ठ, ते तनूः अश्मा भवतु।
ते शरदः शतं आयुः विश्वे देवाः कृण्वन्तु॥ (मं० ४)

" यहां आ, इस पत्थरपर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब देव करें।"

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है। छोटेपनमें मातापिता अपने बालक और बालिकाओंको सुदृढांग बनानेका यत्न करें और कभी ऐसा प्रयत्न न करें कि जिससे बालक नरम शरीरवाले हों। बडी आयुमें कुमार और कुमारिका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दत्तचित्त हों। इस प्रकार किया जाय तो जाती वज्रदेही बन जायगी। योगसाधन द्वाराभी वज्रकाया बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगसाधनमें पाठक देखें। शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेके अभ्याससेभी मनुष्यका देह सुदृढ हो जाता है।

आगे पंचम मन्त्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " हे बालक! तेरे लिये जो हम यह प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र (प्रथम-वास्यं वासः) लाते हैं, उस तुझको सब देव सहायकारी हों। " इस मंत्रमें " प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र " का उल्लेख है। इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है। जन्मसे कुछ मास तक विशेष वस्त्र पहिनाया ही नहीं जाता। चतुर्थ मंत्रमें " पत्थर पर खडा करने " का उल्लेख है। अपने पांवसे न भी खडा हो सके तो भी दूसरेकी सहायतासे खडा होने योग्य बालक चाहिये। इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कमसे कम दो तीन वर्ष की आयुवाला हो, जिस समय यह " प्रथम वस्त्रपरिधारण " किया जाता है। इसी आयुमें बालक क्षणभर दूसरेकी सहायतासे क्यों न सही पत्थर पर खडा हो सकता है। कमसे कम हम इतना कह सकते हैं, कि इससे कम आयु इस कार्यके लिये योग्य नहीं है। "अश्मानं आतिष्ठ" ये शब्द प्रयोग अपने पांवसे पत्थर पर चढनेका भाव बताते हैं। इसलिये तीन वर्षकी आयु कमसे कम मानना अनुचित नहीं है। चार या पांच वर्षकी आयु माननाभी कदाचित् योग्य होगा। इस आयुमें यह वस्त्रधारण समारंभ किया जाता है। इस समय जो अंतिम आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बडा बोधप्रद है —

तं त्वा सुजातं वर्धमानम्
बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनुजायन्ताम् ॥ (मं० ५)

"उत्तम जन्मे और उत्तम प्रकार बढने वाले तुझ बालक के पीछे बहुतसे बढनेवाले भाई तुम्हारी माताजीको उत्पन्न हों।"

कई माता पिता प्रतिवर्ष सन्तान उत्पन्न करते हैं यह उचित है या नहीं इसका विचार इस आशीर्वाद वचनसे किया जा सकता है। तीन चार वर्षकी बालक की आयुमें यह "प्रथम-वस्त्र-धारण-विधि" किया जाता है, इस विषयमें इससे पूर्व बताया ही है। इसी

समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि "जैसा यह बालक हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता हुआ बढ रहा है, वैसे और भी बच्चे इसके पीछे उत्पन्न हों।" मानलो कि यह आशीर्वाद प्रथम बालकको चतुर्थवर्षकी आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालक के जन्मका समय आजाता है। इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोंके जन्मोंके बीचमें पांच वर्षोंका अंतर होता है। देखिये-

(१) प्रथम बालकका जन्म। (२) उसके चतुर्थ वर्षमें यह "प्रथम वस्त्र धारण विधि" करना है, (३) इसीमें बालक को पत्थर पर चढाकर खडा करना है और पत्थर जैसा सुदृढांग बन जानेका उपदेश सुनाना है। (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि तुम्हें हृष्ट पुष्ट भाई भी पीछेसे हों।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक होगया तो पहिले के पांचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है। अर्थात् पहिले बालकको माताका दूध चार वर्ष मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टी भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा। जहां प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है वहां दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं, बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है। इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करें और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें लाने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका यत्न करें।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका क्रम करनेवाले कुटुंब देखे हैं। पहिलेकी अपेक्षा दूसरेकी और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक नीरोगता हमने अधिक देखी है। यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहां किया है। पाठक इसे अश्लील न समझें, क्योंकि इसके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे।

विपत्तियोंको हटानेका उपाय।

(१४)

[ऋषिः-चातनः । देवता—शालाग्निर्दैवत्यं ।]

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥
निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥
असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥
भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥
यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥
परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

अर्थ— (निःसालां) घरदार न होना, (धृष्णुं) भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, (एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं) निश्चयपूर्ण एक भाषण करने वाली निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करने वाली, तथा (चण्डस्य सर्वा नप्त्यः) क्रोधकी सब की सब सन्तानें और (स-दान्वाः) दानवोंकी राक्षसवृत्तियोंका हम (नाशयामः) नाश करते हैं ॥१॥ (वः गोष्ठात् निः अजामसि) तुमको हमारी गोशालासे हम निकाल देते हैं, (अक्षात् निः) हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, (उपानसात् निः)अन्नपानके गड्डके स्थानसे तुमको हटाते हैं,(मगुन्द्याः वः निः) मनके मोह से तुमको हटाते हैं । हे (दुहितरः

दूर रहने योग्य ! तुम्हें (गृहेभ्यः चातयामहे) घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥ (असौ यः अधरात् गृहः) यह जो नीच घराना है (तत्र अराय्यः सन्तु) वहां विपत्तियां रहें (तत्र सेदिः) वहां ही क्लेश (नि उच्यतु) निवास करे (सर्वाः यातुधान्यः) सब दुष्ट वहां ही जांय ॥ ३॥(भूतपतिः इन्द्रः) प्रजापालक राजा (सदान्वाः इतः निरजतु) राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे। (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरकी जडमें निवास करनेवाली दुष्टनाएं (इन्द्रः वज्रेण अधिनिष्ठतु) इन्द्र अपने वज्रसे हटादेवे ॥ ४ ॥ हे (स-दान्वाः) आसुरी वृत्तिसे होनेवाली पीडाओ ! (यदि क्षेत्रियाणां स्थ) यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, (यदि वा पुरुषेषिताः) यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो, (यदि दस्युभ्यः जाताः) यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब (इतः नश्यत) यहांसे हटजाओ ॥५॥(आशुः गाष्ठां इव) जैसे घोडा अपने स्थान को पहुंचता है उसी प्रकार (आसां धामानि परि सरन्) इन विपत्तियोंके मूल कारणको ढूंढ कर निकाल दो । (वः सर्वान् आजीन् अजैषं) तुम्हारे सब संग्रामों को जीत लिया है जिससे हे (स-दान्वाः) पीडाओ ! (इतः नश्यत) यहांसे हट जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं उनमें कुछ ये हैं— (१) घरदार कुछभी न होना, (२) सदा औरोंका भय प्रतीत होना या दूसरोंको घबराना, (३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कभी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना, (४) मन सदा क्रोधवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तियां हैं. इनको पुरुषार्थसे हटाना चाहिये ॥१ ॥ जिसप्रकार पुत्रियोंको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियों को भी अपने पाससे दूर हटाना चाहिये। गोशालासे, घरोंसे, अपनी दृष्टिसे, अन्नपान या गाडी रथ आदि के स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २ ॥ जो नीच वृत्तिवालों के घर हैं वहीं विपत्ति, नाश तथा दुष्ट दुराचारीभी रहते हैं ॥३॥ प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे। किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥ ४ ॥ इन पीडाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होने वाली पीडाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको

दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥ जिसप्रकार घोडा अपना पांव उठा कर प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है उसीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये। सब जीवनकलहों में अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी तैयारी करने से और हरएक जीवनयुद्धमें जाग्रत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीडाएं हट सकती हैं ॥६॥

विपत्तियोंका स्वरूप ।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये—

१ निः साला=शाला अर्थात् घर दार न होना, निवास स्थान न होना, विश्रामके लिये कोई स्थान न होना। (मं० १)

२ धृष्णु=सदा भयभीत रहना, दूसरेसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकडे। इसका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है। दूसरोंको भय दिखाना, घबराना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना। इ० (मं० १)

३ एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं= एक निश्चय करनेवाली बुद्धिका नाश करनेवाला घात पातका स्वभाव। बुद्धिसे कार्याकार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव। जिसको निश्चयात्मक बुद्धिही नहीं होती, सदा संदेहमें जो रहता है। (मं० १)

४ चण्डस्य सर्वा नप्त्यः=क्रोधकी सब संतान। अर्थात् क्रोधसे जो जो आपत्तियां आना संभव है वे सब आपत्तियां। (मं० १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः)=असुरोंका नाम दानव है। दानव का अर्थ है घात पात करनेवाले; गीतामें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करते हैं उनका यह नाम है। दानव भावसे युक्त होना यह भी बडी भारी आपत्ति ही है। (मं. १)

६ अ-राय्यः = कंजूसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव। (मं० ३)

७ सेदिः = क्लेश, महाक्लेश। शारीरिक कृशता, दुर्बलता। कुछभी कार्य करने की सामर्थ्य न होना। (मं० ३)

८ यातुधान्यः = धन्यता न होना। चोर डकैति करनेवाले लोग और उनके वैसे घृणित भाव। (मं० ३)

...य संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती ... विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर ...ता है। शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकु तथा दुष्टोंसे लडना ...ाष्ट्र में विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिवृष्टि अनावृष्टि ...ादिसे युद्ध करना पडता है। इस छोटे मोठे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोठे युद्ध करने ...। इन युद्धोंको किये विना और वहां अपना विजय प्राप्त किये विना सुखमय ...ोना असंभव है। यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है—

...वः सर्वान् आजीन् अजैषम्। (मं० ६)

... युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं।" इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके ...ब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है। प्रत्येक ...पना विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। अन्यथा विजय ...शक्य है। शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति बडी रही तभी विजय हो सकता है अन्य-...जय होगा। पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी। इस लिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा ...शक्ति बढानी चाहिये। और अपना विजय संपादन करना चाहिये। विपत्तियों ... करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियां ...े प्रयत्नमें कृतकार्य हों।

...हिले जितनी भी आपत्तियां गिनी हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं। राज शासन का सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, ... शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धिके उपाय की ...पता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

...जिस प्रकार घोडा चलकर अपने प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य ... प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है। इसलिये मनुष्य प्रयत्न करकेही ...ार्थमें सिद्धिको प्राप्त करे। प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुरुषार्थसेही प्राप्त हो सकता ...। पुरुषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियां दूर होना असंभव है।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बडे महत्व पूर्ण आदेश दे रहा है। पाठक ...े इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियां हटानेका और संपत्तियां ... करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त

४ मगुन्द्याः निः अजामसि = (म-गुन्द्याः = मन+गुन्द्र्याः) मोहित करनेवाली वृत्तिसे तुमको हटाता हूं। मनकी मोहनिद्रा दूर करता हूं। य शुद्धि है। (मं० २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोशाला घरकी शुद्धि, गाडी आदि वाहन जहां रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करं आपत्तियोंको दूर करनेका उपदेश है। इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे, उन सबका ग्रहण यहां करना उचित है तात्पर्य यही है कि जहांसे आपत्तियां उठती हैं और मनुष्योंको सताती हैं, उन शुद्धता करना चाहिये। पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आपत्तियां हट जात मलीनता आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आपत्तियोंको दूर क है। यह नियम पाठक प्रायः सर्वत्र लगा सकते और आपत्तियोंको हटा सकते सम्पत्तियां प्राप्त भी कर सकते हैं।

नीचतामें विपत्तिका उगम।

विपत्तियोंका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय उपदेश है। इसमें कहा है कि— " जो यह (अधरात् गृहः) नीच घराना है सब कंजूसियाँ, विपत्तियाँ, नाश, क्लेश, कृशता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते नीच घरमें इनकी उत्पत्ति है। " अधर" शब्द यहां नीचताका द्योतक है। जो वाला नहीं वह नीचेवाला है। जहां हीनता होगी वहीं आपत्तियोंका उगम होग कोई संदेह ही नहीं है।

राजाका कर्तव्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि " (भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता अपने वज्रसे (सदान्वाः) सब डाकुओंको और (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरके छिपे हुए सब दुष्टोंको हटा देवे। " अर्थात् राजा अपने सुव्यवस्थित राजप्रबंधसे दूर करे और अपना राज्य सज्जनोंका घर जैसा बनावे। इस प्रकार उत्तम राज द्वारा दुष्टोंका प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग खुल जाता है। सुराज्य होना भी ए साधन है कि जिससे आपत्तियां कम होती हैं, या दूर हो जाती हैं।

जीवनका युद्ध।

आपत्तियोंके साथ झगडा करना, विपत्तियोंसे लडना और उनका पराभव

अपना विजय संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती हैं। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पडता है। शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकु तथा दुष्टोंसे लडना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता हैं और विश्वमें अतिवृष्टि अनावृष्टि अकाल आदिसे युद्ध करना पडता है। इस छोटे मोठे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोठे युद्ध करने ही होते हैं। इन युद्धोंको किये विना और वहां अपना विजय प्राप्त किये विना सुखमय जीवन होना असंभव है। यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है--

वः सर्वान् आजीन् अजैषम्। (मं० ६)

"सब युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं।" इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है। प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। अन्यथा विजय होना अशक्य है। शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति बडी रही तभी विजय हो सकता है अन्यथा पराजय होगा। पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी। इस लिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये। और अपना विजय संपादन करना चाहिये। विपत्तियोंको दूर करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियां हटानेके प्रयत्नमें कृतकार्य हों।

पहिले जितनी भी आपत्तियां गिनीं हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं। राज शासन का सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, बाह्य शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धिके उपाय की विशेषता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

जिस प्रकार घोडा चलकर अपने प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है। इसलिये मनुष्य प्रयत्न करकेही पुरुषार्थसे सिद्धिको प्राप्त करे। प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुरुषार्थसेही प्राप्त हो सकता है। पुरुषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियां दूर होना असंभव है।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बडे महत्व पूर्ण आदेश दे रहा है। पाठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियां हटानेका और संपत्तियां प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे।

निर्भय जीवन।

(१५)

[ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ २ ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा०॥ ३ ॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा०॥ ४ ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥५॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यथा द्यौः च पृथिवी च) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न बिभीतः) नहीं डरते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं नष्ट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण! मा बिभेः) तू मत डर ॥ १ ॥ जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते० ॥ २ ॥ जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र ० ॥ ३ ॥ ० ब्रह्म और क्षत्र ॥ ४ ॥ ० सत्य और अनृत० ॥ ५ ॥ ० भूत और भविष्य नहीं डरते इस लिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू मत डर ॥६॥

भावार्थ— द्युलोक पृथ्वी, दिन रात्री, सूर्य चन्द्र, ब्रह्म क्षत्र, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किसीसे भी कभी डरते नहीं; इसी-लिये विनाश को प्राप्त नहीं होते। इस से बोध मिलता है, कि निर्भय वृत्ति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है। अतः हे प्राण! तू इस शरीर में निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

निर्भयतासे अमरपन।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि "जो नहीं डरते जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते।" उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिया है। दिन रात या सूर्यचन्द्र किसीका भय न करते हुए निःपक्षपातसे अपना कार्य करते हैं। समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं। किसीकी पर्वा नहीं करते, किसीकी सिफारस नहीं सुनते, किसीपर दया नहीं करते अथवा किसीपर क्रोध भी नहीं करते। अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं। इसलिये ये किसीसे डरते नहीं; अतः ये विनाशको भी प्राप्त नहीं होते। इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाशको प्राप्त नहीं होगा। (मं० १-३)

ब्रह्म-क्षत्र।

आगे चतुर्थ मंत्रमें "ब्रह्म और क्षत्र" का उल्लेख है। इनका अर्थ "ज्ञान और शौर्य" है किंवा ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है। सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण सन्मुख रखकर ब्राह्मण क्षत्रियोंको चाहिये कि वे किसी मनुष्यसे न डरते हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जांय। जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निडर भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यश से इस समय तक जीवित रहे हैं। और आगेभी वे मार्ग दर्शक बनेंगे। ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आदर्श क्षत्रियोंका उदाहरण सन्मुख रखकर अन्य लोग भी भय छोडकर अभयवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे।

सत्य और अनृत।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जो सत्य होता है वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है। कई प्रसंगोंमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्यको सत्य कर देते हैं; परंतु वह बात थोडे समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है। इस लिये क्षण मात्र किसीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय वह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असली रूपमें प्रकट होने बिना नहीं रहते। इस लिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंब करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर शाश्वत पदका अधिकारी होता है।

भूत और भविष्य ।

षष्ठ मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, ये किसीसे डरते नहीं । यह बिलकुल सत्य है । सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है । जो डरानेवाले बादशहा थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरावेसे लोगोंको सताया, वे अब भूतकालमें होगये हैं । उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सन्मुख खडे होगये हैं !! साधारणसे साधारण इतिहास तत्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं । इसलिये बडे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्यके सदृश असहाय हो जाते हैं । इतना भूतकालका प्रभाव है । पाठक इस कालके प्रभाव को देखें । समर्थसे समर्थ भी इस भूतकालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता । परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी शक्ति इसी भूतकालसे बढती जाती है। रावणका पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजी का आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नहीं प्रत्युत आजभी अनंत लोगोंको मार्ग दर्शक होरहा है !! यह भूत कालका महिमा देखिये । भूतकाल निडर है किसीकी पर्वाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने करदेता है ।

भविष्य काल भी इसी प्रकार है । अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षका विजय होनेकी आशा रहती है। अधर्मके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं । क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जैसा भूत कालका डर आज नहीं रहा है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो कालोंके निडर होनेका तात्पर्य क्या है । इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझें कि सत्यका ही जय होता है, इस लिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निडर होकर अपना कर्तव्य पालन करें ।

अभय वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है ।

यहां " विश्वंभर " शब्दसे कहा है। यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेमें शंकाही नहीं है। और इस शब्द द्वारा यहां जगत् के एक देव की उत्तम कल्पना व्यक्त की गई है। (मं०५)

इस जगत् के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन भरसा) विश्वव्यापक पोषक रस है जिससे यह देव सब जगत् का पोषण करता है। (मं०५)

वैश्वानर।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम " वैश्वा-नर " है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत् का नर, सब जगत् में मुख्य, सब जगत् में मुख्य पुरुष। यही विश्वंभर नामसे आगे वर्णन किया गया है। जिसप्रकार अग्नि सर्वत्र व्यापता है इसी प्रकार यह जगच्चालक मुख्य पुरुषभी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है। सूर्य चंद्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इसीके वशमें रहते हैं और अपना अपना कार्य करते हैं। इसीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इसीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द "विश्वंभर और वैश्वानर" देखें और इनके मननसे अद्विती-य उपास्य परमात्म देवकी भक्ति करना सीखें। वह सब जगत्का भरण पोषण करने वाला है इस लिये वह हमारा भी भरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है। जिसने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी सार्वत्रिक भरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इसकी कल्पना हो सकती है। ऐसे अनंत सामर्थ्य शाली विश्वंभरकी भक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है।

देवोंद्वारा रक्षा।

सूर्य नेत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य की रक्षा कर रहा है, द्यावा पृथिवीमें चारों ओर फैली हुई दिशाएं कर्ण इंद्रियकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं। इसी प्रकार प्राण और अपान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यहां प्रत्यक्ष हो सकती है। इसी तरह अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उसी विश्वंभर की कृपासे हो रहा है इस का अनुभव करके उसी एक अद्वि-तीय प्रभुकी भक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है। आशा है कि इस रीतिसे विश्वंभरकी भक्ति करके पाठक शाश्वत कल्याणके भागी होंगे।

विश्वंभर की भक्ति।

(१६)

[ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-प्राणः; अपानः, आयुः]

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥
सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥
अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥
विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ— हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः मा पातं) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूं ॥ १ ॥ हे द्युलोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातं) श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो० ॥ २ ॥ हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर० ॥ ३ ॥ हे वैश्वानर अग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर० ॥ ४ ॥ हे विश्वंभर ! (विश्वेन भरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥ द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करें ॥ २-३ ॥ विश्व-व्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें। मैं अपने आपको उसीकी रक्षामें समर्पित करता हूं ॥ ४—५ ॥

विश्वंभर देव !

इस सूक्तके अंतिम पंचम मंत्रमें " विश्व-भर' शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव यह इसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करने वाला एक देव

४ आयुः— दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु।

५ श्रोत्रं--कान आदि इंद्रियोंकी शक्तियां। श्रवणसे प्राप्त होनेवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या।

६ चक्षुः — चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तियां। प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान।

७ परिपाणं- परित्राण की शक्ति। अपनी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति। (परि) सब प्रकारसे अपना (पाणं) संरक्षण करनेकी शक्ति।

८ भ्रातृव्य-क्षयणं- भ्रातृव्य शब्दका अर्थ यहां विशेष मननसे देखना चाहिये। दो भाईयोंके पुत्र आपसमें भ्रातृव्य कहलाते हैं। यह घरमें भ्रातृव्यपन है। इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें "भ्रातृव्य" कहलाती है। इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं। ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिये तभी विजय होगा। अन्यथा पराभव होगा। राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है। यह राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है।

९ सपत्नक्षयणं — एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं। इन पक्ष भेदों का नाम " सपत्न " है क्यों कि ये एकही पतिके अंदर हुआ करते हैं। इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने या अन्य सपत्नोंको हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है। यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है।

१० अरायक्षयणं- राय शब्द धनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है। यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है। वैश्यों और कारीगरोंके उत्कर्षसे यह बात साध्य हो सकती है।

११ पिशाचक्षयणं – रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है। (पिशिताच्-पिशाच) रक्त पीने वाले रोग भी हैं जिनमें रक्त की क्षीणता होती है। मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भोजी होते हैं। इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर पिशाच कहलाते हैं। समाज से इनको दूर रखना योग्य है।

१२ स-दान्वाक्षयणं-(स-दानव-क्षयणं) असुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना। यह पुराणोंमें " देवासुर युद्ध " नाम से प्रसिद्ध है। आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवासुरोंके झगडे चलही रहे हैं और उनमें असुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

स्वाहा विधि ॥

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये। इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी

विभिन्न हो सकती है। पाठक प्रत्येक बलका और उसके प्रयोगोंका अच्छी प्रकार मनन करेंगे तो उनको इस बातका पता लग सकता है। दूसरोंका घातपात करनेके कार्यमें अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बलों का उपयोग "स्वाहा" विधिसे करनेको कहा है। "स्वाहा" विधिका तात्पर्य "आत्मसर्वस्वका समर्पण" करना है। पूर्णकी भलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाका तात्पर्य है।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियां अपने अंदर बढजांय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तों में विशेष महत्त्व रखता है।

स्व = अपना }
हा = त्याग } = आत्म–सर्वस्व–समर्पण।

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है। यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी ब्राह्मपद्धति बता रहा है। क्षात्रादि पद्धतिमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और ब्राह्मपद्धतिमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है। सब शत्रुनाश या शत्रुसुधार इसी विधिसे कैसा करना यह एक बडी समस्या है। परंतु पाठक इसका बहुत विचार करेंगे तो इस समस्याका हल स्वयं हो सकता है। क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ "स्वाहा" का उल्लेख हुआ है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि यह एक प्रचंड शक्ति है। यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित होगई और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढता गया तो कितनी हानी की संभावना है। एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिये। कोई बडा मल्ल है, बडा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है। परंतु यदि वह मल्ल अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा। तो कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिये। आत्म समर्पणसेही शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है। और सच्चा हितभी हो सकता है।

इस लिये इन दो सूक्तोंमें बारह बार "स्वाहा" का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है। जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग मैं आत्म समर्पण की विधिसे ही करूंगा ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिये। तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है।

शुद्धि की विधि।

(१९—२३)

[ऋषिः-अथर्वा। देवता- १९अग्निः, २०वायुः, २१सूर्यः, २२चन्द्र, २३आपः]

(१९) अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान्द्वेष्टि० ॥ २ ॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२०) वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२१) सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२३) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो० ॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो० ॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो० ॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो ३ स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५ ॥

अर्थ—हे अग्नि, वायू, सूर्य, चन्द्र और आप् देवतो ! आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप) उसको तप्त करो (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) दोष हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ २ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (अतेजसं) अति तेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ-हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियां हैं, इस लिये कृपा करके हमारे द्वेषकर्ताको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हरा कर, उनमें आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्ध करो। जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

पांच देव ।

इन पांच सूक्तोंमें पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है । ये पांच देवताएं ये हैं—

" अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः । "

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और आप (जल) में पूर्ण शांति है । अर्थात् ये देवताएँ इस व्यवस्थासे एकके पश्चात् दूसरी आगई हैं कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल जावे। अंतिम दो देव चंद्र और आप् पूर्ण शांति देने वाले हैं । अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है । यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनको दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी ।

पंचायतन ।

सूर्य (उग्र प्रकाश) → चन्द्र (सौम्य प्रकाश)

वायु (गति)

अग्नि (तप) ↑　　आप् (शांति) ↓
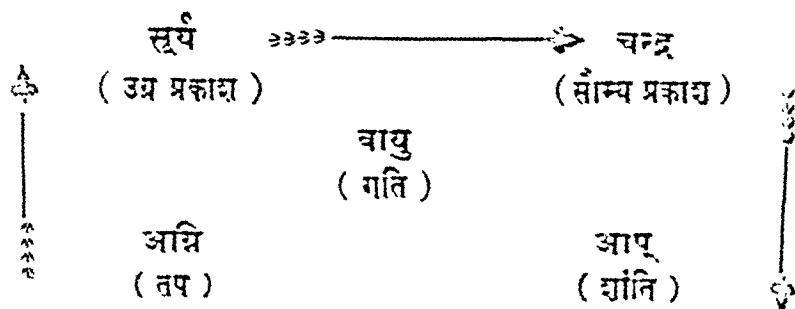
पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उसे रख देते हैं । उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्त्वकी पूर्ण शान्ति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है । शुद्ध होनेका यह मार्ग है। यह क्रम विशेष महत्त्व पूर्ण है । और इसी लिये इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इकट्ठा किया है ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियां इन सूक्तोंमें वर्णन की हैं । उनके नाम ये हैं ।

" तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः " ये पांच शक्तियां हैं । ये पांचों शक्तियां प्रत्येक देवके पास हैं । इससे पाठक जान सकते हैं कि हरएककी ये शक्तियां निज हैं। अग्निका

तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। इस लिये प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियां हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है। जैसा "हरः" नामक शक्तिके विषयमें देखिये। हरः का अर्थ है "हरण करना" हरलेना। यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये—

१ अग्नि -- शीतताका हरण करता है, तपाता है।
२ वायु -- आर्द्रता का हरण करता है, सुखाता है।
३ सूर्य — समय का हरण करता है, आयु घटाता है।
४ चन्द्र — मनस्तापका हरण करता है, मनकी प्रसन्नता देता है।
५ जल — शारीरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पदार्थ भिन्न हैं, इसी प्रकार "तपन, हरण, अर्चन, शोचन और तेजन" के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका सुधार होता है। प्रत्येक देवताके ये पांच गुण हैं और पांच देवता हैं, इस लिये सुधार होनेके लिये पच्चीस छाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेसे सहज हीमें जान जायंगे।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिये हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः-तपाना, तपना। इसका महत्त्व बडा भारी है। सुवर्णादि धातु अग्निमें तपनेसे ही शुद्ध होते हैं। कायिक वाचिक मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है। तपना अनेक प्रकारसे होता है। तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है।

२ हरः-हरण करना, हरलेना। दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना। सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है। इसी प्रकार अन्यान्य तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है।

३ अर्चिः—अर्च् धातुका अर्थ "पूजा और प्रकाश" है। पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश उस मनुष्यके अंदर डाला जाता है। दोष दूर होने के पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं।

४ शोचिः—शुच् धातुका अर्थ शोधन करना है। शुद्धता करना। तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है। शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना। हरण और शोधन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें। स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः— तेजन करना है । तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है । शस्त्र की धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां अभीष्ट है । तीखा करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना ।

उदाहरण के लिये लोहा लीजिये । पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (आर्चिः) जाता है, नंतर (शोचिः) पानीमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस शस्त्रको तेज किया जाता है । यह एक चक्कू छुरी आदि बनानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है । फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अन्यान्य रीतियोंसे होगी इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ? तात्पर्य "तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन" यह पांच प्रकारका शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । दुष्ट मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है । पाठक इसका बहुत मनन करें ।

मनुष्यकी शुद्धि ।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिये । इस कार्य के लिये पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहां और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिये । इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धीकरण विधिका पता स्वयं लग सकता है । इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहां और किस रूपमें विराजमान हैं यह देखिये—

देवतापंचायतन ।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप् ये पांच देवताएं निम्नलिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्निः (अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्)= अग्नि वाणीका रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्निका रूप वाक् है ।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्)=वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है । और यह प्राण एकादश विध होकर सब शरीरमें व्यापता है ।

३ सूर्यः (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है ।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्)=चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ बसा है ।

५ आपः (आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन्) = जल रेत बन कर शिस्नके स्थानपर बसा है।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढाल कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं। यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहांही पाठक देखें। यहां जो वाक्य ऊपर लिये हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ०उ० १।२) मेंसेही लिये हैं। इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है। अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंके अर्थ देखिये—

सूक्त १९ = [अग्नि=वाणी] = हे वाणी! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा द्वेष करता है। तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर शोधक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥ १—५ ॥

सूक्त २० = [वायु=प्राण] = हे प्राण! जो तेरे अंदर तप, दोष-हरण-शक्ति, दीपन शक्ति, शोधन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥ १—५ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है। प्रत्येक की पांच शक्तियां हैं और उनसे जो शुद्धता होनी है, उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट होचुका है। जो बाह्य देवताएं हैं उनके अंश हमारे अंदर विद्यमान हैं; उन अंशोंकी अनुकूलता प्रतिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है। यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है।

शुद्धिकी रीति।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्धि होनी चाहिये तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। इसका संक्षेपसे वर्णन देखिये—

१ वाणीका तप-सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिये। जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसको सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये। सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है। वाणीके अंदर जो दोष होंगे उनको भी दूर करना चाहिये। वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिये, जो बोलना है वह सावधानीसे परिशुद्ध विचारों से युक्त ही बोलना चाहिये। इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका

यत्न करनेसे प्राणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिये उत्सुक हो जाता है। (सू० १९)

२ प्राणका तप–प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धोंकनीसे वायु देनेसे अग्नीका दीपन होता है उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, शोधन होता है और तेजस्विताभी बढजाती है। इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है। (सू. २०)

३ आंखका तप–आंख द्वारा दुष्ट भावसे किसी ओर न देखना और मंगलभावनासे ही अपनी दृष्टिका उपयोग करना नेत्रका तप है। पाठक यहां विचार करें कि अपने आंखसे किस प्रकार पाप होते रहते हैं और किस प्रकार पतन होता है। इस से बचनेका यत्न हरएक को करना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंका संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है। अपने इंद्रियोंको बुरेपथसे हटाना और अच्छे पथ पर चलाना बडा महत्त्व पूर्ण तप है। इसीसे दोष हटते हैं, शोधन होता है और तेज भी बढता है। (सू० २१)

४ मनका तप–सत्य पालन करना मनका तप है। बुरे विचारोंको मनसे हटाना भी तप है। इस प्रकारके मनके तप करनेसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है। (सू० २२)

५ वीर्यका तप-(ब्रह्मचर्य) शिस्न इंद्रियका, वीर्यका अथवा काम का तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है। ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्यु दूर होते हैं और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं रोगादि भय दूर होते हैं और निसर्गका आरोग्य मिलता है। ब्रह्मचर्य के विषयमें सबलोग जानते ही हैं इसलिये इसके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्र के उद्धार का हेतु है। (सू. २३)

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण) सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुन बढते जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है।

द्वेष करना।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि जो (द्विष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिये। दूसरोंका द्वेष करना इतना बुरा है कि इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बडा भारी पतन का साधन है।

आज कल अखबारों और मासिकोंमें देखिये दूसरों का द्वेष अधिक किया जाता है

और उन्नतिका सच्चा मार्ग कम लिखा जाता है। दो चार मित्र इकठे बैठे या मिले तो उनकी जो बात चीत शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरेकी निन्दा या दूसरेका द्वेष होता है। मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोडदे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरेका द्वेष करना बडा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिये मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तों के प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि "जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये।" क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। पाठक इसका स्मरण करें। जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढती रहती है, किसी कारण भी वह कम नहीं होती। पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव। यह नियम अटल है। अब देखिये, जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः निन्दक मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है।

इसीलिये द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिये। और अपनी शुद्धि करना चाहिये। तथा आगेके लिये निन्दावृत्ति छोडना भी चाहिये। अन्यथा धोये हुए कपडोंको फिर कीचडमें फेंकनेके समान दुरवस्थाका सुधार हो ही नहीं सकता।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें। जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच [illegible] का [illegible] सूक्तोंके मननसे ज्ञात हो सकता है। नव प्रविष्टोंकी [illegible] ष्ठान [illegible] करनेका मार्ग उनके लिये खुला होनेसेही [illegible] हो स [illegible] दिक धर्मकी विशेषता भी उनके [illegible] स्थिर हो [illegible] स [illegible] विचा [illegible] और इन वैदिक

डाकुओंकी असफलता।

[२४]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता—आयुष्यम्)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥
शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु०।०॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः। ० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु०।० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (शेरभक शेरभ) वध करनेवाले! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय। (यस्य स्थ) जिसके साथी तू हो (तं अत्त) उसको खाओ। (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपनाही मांस खाओ ॥ १ ॥ हे (शेवृधक शेवृध) घातपात करनेवाले ०।० ॥ २ ॥ (हे म्रोक अनुम्रोक) हे चोर और चोरोंके साथी! ०।० ॥ ३ ॥ हे (सर्प अनुसर्प) हे सांपके समान छिपके हमला करनेवाले! ०।० ॥ ४ ॥ हे (जूर्णि) विनाशक! ०।० ॥ ५ ॥ हे (उपब्दे) चिल्लानेवाले! ०।० ॥ ६ ॥ हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले! ०।० ॥७ ॥ हे (भरूजि) नीच वृत्तिवाले! तुम सबके (यातवः) अनुयायी औ[illegible]तिः) शस्त्र तथा (किमीदिनीः) लूट करने

वाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जांय। जिसके अनुयायी तुम हो (तं अत्त) उसीको खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो।)

भावार्थ- जो दुष्ट मनुष्य अथवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते हैं वे शस्त्रास्त्रोंसे सज्ज होकर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लूटमार करते हैं और सज्जनोंको सताते हैं। राजाकी सुव्यवस्थासे ऐसा प्रबंध किया जावे कि इन दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको लूट न सके। इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शस्त्र व्यर्थ हों, ये डाकूसंघ भूखे मरने लगें। ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें। विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खा कर स्वयं ही नष्ट हो जांय ॥ १-८ ॥

दुष्ट लोग।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें डाकू चोर लुटेरे रहते हैं। ये डाकू रात्रीके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं। इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें। सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे। प्रतिसमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूखे मरने लगेंगे। पश्चात् आपसमें लढेंगे और आपसमें लढ कर मर जांयगे। इनके शस्त्रास्त्र जो दूसरोंके लिये थे वेही इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खायेंगे, क्यों कि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होंगी।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लूटेरे भूखसे मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है। ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और डाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है। विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंको सुधारनेका मार्ग है और जो ठीक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभ कारी होगा।

पृश्निपर्णी ।

[२५]

(ऋषिः—चातनः । देवता-वनस्पतिः)

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॑ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी तामभक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥
सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृ॒श्चामि॑ श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥
अ॒राय॑मसृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति ।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च ॥ ३ ॥
गि॒रिमे॑नाँ॒ आ वे॑शय॒ कण्वा॑ञ्जीवित॒योप॑नान् ।
तांस्त्वं दे॑वि॒ पृश्नि॑पर्ण्य॒ग्निरि॑वानु॒दह॑न्निहि ॥ ४ ॥
परा॑च एना॒न्प्र णु॑द॒ कण्वा॑ञ्जीवित॒योप॑नान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत्क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(देवी पृश्निपर्णी नः शं) देवी पृश्निपर्णी [illegible]
सुख और (निर्ऋत्यै अ-शं) व्याधियोंके लिये दुःख [illegible]
उग्रा कण्व-जम्भनी) क्योंकि वह प्रचंड रोग [illegible]
अभाक्षि) बलवती उस औषधिका मैं सेवन [illegible]
सहमाना पृश्निपर्णी अजायत) यह पहली [illegible]
(तया दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि) उस वनस्पति [illegible]
मैं कुचलता हूं (शकुनेः इव) जिस प्रकार [illegible]
हे पृश्निपर्णि ! (अ-रायं) शोभा हटाने [illegible] आदि
वाले (यः च स्फातिं जिहीर्षति) जो [illegible]
अदं) गर्भ खानेवाले, (कण्वं नाशय [illegible] , अब

उसको जीतलो ॥ ३ ॥ हे (देवि पृश्निपर्णि) देवी पृश्निपर्णी औषधि ! तू (एनान् जीवितयोपनान्) इन जीवित का नाश करनेवाले (कण्वान्) रोग बीजोंको (गिरिं आवेशय) पहाडपर लेजाओ और (त्वं तान् अग्निः इव अनुदहन्) तू उनको अग्निके समान जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो ॥४॥ (एनान् जीवित-योपनान्) इन जीवितका नाश करने वाले (कण्वान् पराचः प्रणुद) रोगबीजोंको अधोमुख से ढकेल दे । (यत्र तमांसि गच्छन्ति) जहां अंधकार होता है (तत्) वहां (क्रव्यादः अजीगमं) मांस भक्षक रोगोंको प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही सताती है; यह रोगबिजोंको दूर करती है, रोगोंको भगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥ इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधि है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिरही टूट जाता है ॥ २ ॥ जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको सुखाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥ जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर बसाओ और पृश्निपर्णी का सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसके रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥ प्राण नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो । जहां अंधेरा रहता है वहां ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी ।

इस पृश्निपर्णीको चित्रपर्णी कहते हैं । भाषामें इसको " पीठवन, पीतवन, पठौनी" कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

> त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा ।
> हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारतृड्वमीः ॥
>
> भाव. पू. १ भाग. गुडू० वर्ग.

" यह पीठवन औषधि त्रिदोष नाशक, बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृष्णा और वमन दूर होता है । " इस वनस्पतिका वर्णन इस सूक्तने किया है । इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधि का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये—

रक्त दोष ।

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलोंका वर्णन किया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है । इस विषयमें देखिये—

१ असृक् - पावानं — (असृक्) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं । अर्थात् जो रक्तको खाजाते हैं । जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं, (Animia) पांडुरोग जैसे रोग कि जिनमें रक्तकी मात्रा कम होती है । (मं० ३)

२ अ-रायं-- (राय, रै) का अर्थ श्री, शोभा, कांति, ऐश्वर्य है । शरीरकी शोभा, शरीरका सौंदर्य यहां राय शब्दसे अभीष्ट है । वह इस रोगसे हटता है । शरीरका खून कम और अशुद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हटजाती है और शरीर मरियलसा होजाता है । (मं० ३)

३ स्फातिं जिहीर्षति— पुष्टि हटाता है । शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है । शरीर कृश होता जाता है । शरीर का सुडौलपन कम होता है । अर्थात् शरीर क्षीण होता है । (मं०३)

४ गर्भादं (गर्भ-अदं) = गर्भको खानेवाला रोग । माताके गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अशक्त करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग । (मं० ३)

५ कण्वः— जिस रोगमें रोगी अशक्तताका (कणति) शब्द करते हैं, आहें मारते हैं, हाय हाय करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञात होते हैं।(मं० १,३--५)

६ निर्ऋतिः— (ऋति) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग । (निः-ऋतिः) टेढा चाल चलन, अयोग्य असत्य क्षयका मार्ग । इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं । (मं० १)

७ दुर्णामा— (दुः--नामा) दुष्ट यश वाला रोग । अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं । (मं०२)

ये सात शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम (६ निर्ऋति, ७ दुर्णामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं । अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय

देवी पृश्निपर्णी नः शं
निर्ऋत्या अ-शं अकः ॥ (मं० १)

" यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको सुख देती है और रोगोंको ही दुःख देती है।" अर्थात् रोगोंको जडसे हटाती है तथा-

तया अहं दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि। (मं० २)

" इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूं।" मानो इनका सिर ही तोड देता हूं, ताकि ये रोग अपना सिर फिर ऊपर न उठासकें।

जीवित-योपनान् कण्वान्
एनान् पराचः प्रणुद ॥ (मं० ५)

"जीवित का नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके द्वारसे ढकेल दो।" नीचे मुख करके दूर करनेका अर्थ शौच शुद्धि द्वारा दूर करनेका है। पिठवनमें मल शुद्धि करनेका गुण है। उक्त रोग बीज नष्ट करके उनको मलद्वारसे दूर कर देती है। यह इस वनस्पतिका गुण है।

पृश्निपर्णीके सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्भकी कृशता दूर होकर गर्भ बढने लगेगा, और अन्यान्य लाभ भी बहुतसे होंगे। इसके सेवनका विधि ज्ञानी वैद्योंको निश्चित करना चाहिये।

वेदमें जहांतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (Single drug systym) ही लिखा है। अर्थात् एकही औषधिका सेवन करना। साथ साथ अनेक औषधियां मिला-कर सेवन करनेका उल्लेख कम है। सेवन के लिये पानीमें घोलना या कदाचित् साथ मिश्रीमें मिलाना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिये देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निसर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है। इसलिये जो पाठक उक्त रोगोंमें इस पीठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें।

गो - रस।
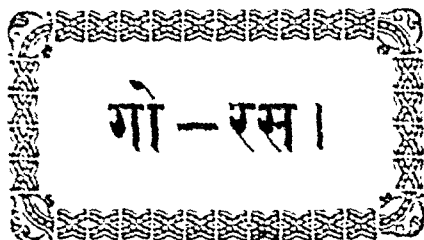
[२६]

(ऋषिः—सविता। देवता - पशवः।)

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्गोष्ठे सविता नि यच्छतु॥ १॥
इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ॥ २॥
सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥ ३॥
सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ॥ ४॥
आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥ ५॥

(इति चतुर्थोऽनुवाकः।)

अर्थ— (पशवः इह आयन्तु) पशु यहां आजावें। (ये परा-ईयुः) जो परे गये हैं। (येषां सहचारं वायुः जुजोष) जिनका साहचर्य वायु करता है। (येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद) जिनके रूप त्वष्टा जानता है। (अस्मिन् गोष्ठे तान् सविता नि यच्छतु) इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे॥ १॥ (पशवः इमं गोष्ठं संस्रवन्तु) पशु इस गोशालामें मिलकर आजांय। (बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु) बृहस्पति जानता हुआ उनको ले आवे। (सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु) सिनीवाली इनके अग्रभागको ले जावे। हे (अनुमते) अनुमते! (आ जग्मुषः नियच्छ) आनेवालोंको नियममें रख॥ २॥ (पशवः अश्वाः उ पूरुषाः सं सं सं स्रवन्तु) पशु, घोडे

और मनुष्यभी मिल जुलकर चलें। (या धान्यस्य स्फातिः सं) जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढे। मैं (सं स्राव्येण हविषा जुहोमि) मिलानेवाले हविसे हवन करता हूं॥ ३॥ (गवां क्षीरं सं सिञ्चामि) गौओंका दूध सींचता हूं। (बलं रसं आज्येन सं) बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। (अस्माकं वीराः संसिक्ताः) हमारे वीर सींचे गये हैं। (मयि गोपतौ गावः ध्रुवाः) मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर हों॥ ४॥ (गवां क्षीरं आ हरामि) गौओंका दूध मैं लाता हूं। (धान्यं रसं आहार्षं) धान्य और रस मैं लाता हूं। (अस्माकं वीरा आहृताः) हमारे वीर लाये गये हैं। और (पत्नीः इदं अस्तकं आ) पत्नियां भी इस घरमें लायीं गई हैं॥ ५॥

भावार्थ— जो पशु शुद्ध जलवायुमें भ्रमणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजांय। इनके चिन्होंको त्वष्टा जानता है। सविता उन को गोशालामें बांधकर रखे॥ १॥ सब पशु मिलकर गोशालामें आजांय, जाननेवाला बृहस्पति उनको ले आवे। सिनीवाली अग्रभागको लेचले और अनुमति शेष आनेवालोंको नियममें रखें॥ २॥ घोडे आदि सब पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर चलें और रहें। धान्यभी मिलकर बढे। सबको मिलानेवाले हवनसे मैं यज्ञ करता हूं॥ ३॥ मैं गौओंसे दूध लेता हूं तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूं। हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है। इस कार्यके लिये हमारे घर में गौवें स्थिर रहें॥ ४॥ मैं गौओंसे दूध लेता हूं, और वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूं। हमारे वीरों और बालोंको इकट्ठा करता हूं, घरमें पत्नियां भी लाई जाती हैं और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं॥ ५॥

पशुपालना।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौवें, घोडे, बैल आदि बहुत पाले जांय। यह एक प्रकारका धन ही है। आज कल रुपयोंको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ही सच्चा धन है। इनकी पालना योग्य रीतिसे करनेके विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें दिये हैं। आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पालना नहीं होती है, क्वचित् किसीके घरमें एक दो गौएं होंगी तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं। नगरके लोग प्रायः

दूध आदि मोल ही लेते हैं। इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश व्यर्थ से प्रतीत होंगे। परंतु पाठक जरा अपनी दृष्टि वैदिक कालमें ले जांय और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषिलोगोंके पास हजारहां गौवें होती थीं और उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशुभी बहुतसे होते थे। ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं।

भ्रमण और वापस आना।

गाय आदि पशुओंको शुद्ध वायुमें भ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके विना तथा सूर्य प्रकाशमें उनका भ्रमण होनेके विना न तो उनका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। और न उनका दूध गुणकारी हो सकता है। इसलिये—

येषां सहचारं वायुः जुजोष। (मं० १)

"जिनका साहचर्य वायु करता है" यह प्रथममंत्रका वाक्य गौओंके आरोग्यके लिये उनका शुद्ध वायुमें भ्रमण अत्यंत आवश्यक है यह बात बता रहा है तथा—

ये पशवः परा ईयुः ते इह आयन्तु॥ (मं.१)

"जो पशु भ्रमणके लिये बाहर गये हैं वे मिलकर वापस आजावें" इस मंत्रभागमें भी वही बात स्पष्टतासे है। पशु अपने स्थानसे मिलकर बाहर जांय और मिलकर वापस आजांय। आगे पीछे रहनेसे उनको पुनः ढूंढना होगा। इस कष्टसे बचानेके लिये सब पशु क्रमपूर्वक जांय और सब इकट्ठे वापस आजांय ऐसा जो इस मंत्रमें कहा है वह बहुत उपयोगी आदेश है।

जहां हजारों पशु होंगे वहां एक गोपालसे काम नहीं चल सकता। इस कार्य के लिये अपने अपने कार्यमें प्रवीण बहुतसे गोपाल होने चाहियें। उनका वर्णन सविता आदि नामोंसे इस सूक्तमें किया है—

१ त्वष्टा येषां रूपाणि वेद। (मं० १)
२ सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु। (मं० १)
३ बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु॥ (मं० २)
४ सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु। (मं० २)
५ अनुमते! आजग्मुषः नियच्छ। (मं० २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम प्रत्येक कार्यके लिये आगये हैं। इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही हैं, परंतु इनके मूल धात्वर्थ भी यहां देखिये—

१ त्वष्टा—सूक्ष्म करनेवाला, कुशल कारीगर। (त्वक्ष-तनूकरणे)
२ सविता--प्रेरक। (सु-प्रेरणे)। चलानेवाला।

३ बृहस्पतिः-ज्ञानवान्, (बृहस्) बडेका (पति) स्वामी। पुरोहित, निरीक्षक।
४ सिनीवाली—(सिनी) अन्नके (वाली) बलसे युक्त। अन्नवाली स्त्री।
५ अनु-मतिः—अनुकूल मति रखनेवाली स्त्री।

इन पांच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल शब्दार्थ हैं और इन अर्थोंके साथही ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं। ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिये—

"कुशल कारीगर गाय आदि पशुओंके आकारोंको जानता है। २ प्रेरक उनको गौशाला में क्रम पूर्वक नियममें रखे। ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे। ४ अन्नवाली स्त्री पशुओंके आगे चले। और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले।

यहां पशु पालनेके आदेश मिलते हैं। इनका विचार यह है-" (१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अधिकारी होवे, कि जो पशुओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्य कर्त्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थानपर आगये हैं वा नहीं, तथा उनका अन्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुस्वास्थ्य विद्याको अच्छी प्रकार जानने वाला हो, यही पशुओंको लाने लेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजांय तो उनको खान पान देनेवाली स्त्री हो जो सबसे आगे जावे, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा उसके पीछे चलनेवाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले।" इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां प्रेम पूर्वक उत्तम प्रबंध करती हैं इस लिये अंतिम दो कार्योंमें स्त्रियों को नियुक्त करनेकी सूचना वेदने दी है वह योग्य ही है।

जहां सेंकडों और हजारों गौवें पालीं जाती हों ऐसे स्थानोंमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है। आजकल जहां गौवोंका अभाव सा होगया है वहां ऐसे बडे प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है। यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दूर रखती है,इसका पाठक अवश्य विचार करें। जिस घरमें दश पांच गौवें कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हृष्ट पुष्ट होते हैं और जिस घरमें गौवें नहीं होतीं, उस घरके मनुष्य कैसे मरियलसे होते हैं इसका विचार करनेसे गोपालनेके साथ तन्दुरुस्ती का संबंध कितना घनिष्ठ है इसका पता लग सकता है। यहां तक पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ। तृतीय मंत्रमें सबके मिलजुलकर रहनेसे लाभ होगा यह बात कही है। पशु क्या और मनुष्य क्या सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी वृद्धि करें, सब मिलकर धान्य प्राप्त करें अर्थात् खेती करके धान्य की उत्पत्ति

करें। इस प्रकार धान्य, वनस्पतिरस और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढाते हुए अपनी उन्नति करें। (मं० ३)

दूध और पोषक रस।

दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्यान्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहियें, और उनका सेवन भी पर्याप्त प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश दे रहे हैं। इन मंत्रोंमें "वीराः" शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ "पुत्र, बालबच्चे संतान" भी है। यहां इन मंत्रोंमें "पत्नी" के साहचर्यके कारण यही अर्थ विशेषतः अभीष्ट है।

"मैं गौओंसे दूध लाता हूं, वनस्पतियोंका बलवर्धक रस और धान्य लाता हूं, घी भी लाया है। घरमें धर्मपत्नियां हैं और बालबच्चे भी इकट्ठे हुए हैं अथवा इष्ट मित्र वीर पुरुष भी जमा हुए हैं, इन सबको इच्छाके अनुसार यह सब खाद्यपेय दिया जाता है। (मं० ४—५)

इन दो मंत्रोंका यह आशय है। "संसिक्ता अस्माकं वीराः" हमारे वीर या बालबच्चोंके ऊपर यह रस सींचा गया, जिस प्रकार वृष्टिसे जलसे सब भीगजाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध घी आदि सब रसोंकी वृष्टि होगई है। "संसिच्" धातुका अर्थ उत्तम प्रकारसे सिंचन करना, भिगोना है। बालबच्चे दूध दही मक्खन घी, रस आदिमें पूरे पूरे भीग जांय इतना गोरस घरमें चाहिये। हृष्टपुष्टता तो तब आसकती है। वैदिक धर्म वैदिक धर्मियोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी गृह व्यवस्था ऐसी करो कि जिससे घरमें इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक हृष्टपुष्ट हों। आजकल नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण यही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है। पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढावें। सब अन्य आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होंगे। गोरक्षण, गोवर्धन तथा गोसंवर्धन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे इस विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें।

वैदिक आदेश व्यवहारमें लानेका विचार जो लोग कर रहे हैं उनको इस विषयका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें [illegible] होने का प्रत्यक्ष अनुभव आवेगा।

विजय-प्राप्ति।

(२७)

(ऋषिः—कपिञ्जलः। देवता—१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः।)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं० ॥ २ ॥
इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं० ॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं० ॥ ४ ॥
तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव। प्राशं० ॥ ५ ॥
रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ६ ॥
तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

अर्थ—(शत्रुः प्राशं न इत् जयाति) प्रतिपक्षी मेरे प्रश्नपर नहीं निश्चयसे विजय प्राप्त कर सकता। क्यों कि तू (सहमाना अभिभूः असि) जयशील और प्रभावशाली है। (प्राशं प्रतिप्राशः जहि) प्रत्येक प्रश्नपर प्रतिवादीको जीत लो। (ओषधे! अरसान् कृणु) हे औषधे! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर ॥ १ ॥ (सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत्) गरुडने तुझे प्राप्त किया है और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूअरने तुझे नाकसे खोदा है। ॥ २ ॥ (इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा बाहौ ह चक्रे) इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे बाहूपर धारण किया था ॥ ३ ॥ (असुरेभ्यः स्तरीतवे) असुरों से बचाव करनेके लिये (इन्द्रः पाटां व्याश्नात्) इन्द्रने इस पाटा वनस्पति को खाया था। ० ॥ ४ ॥ (अहं तया शत्रून् साक्षे) मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको पराजित करता हूं (इन्द्रः सालावृकान् इव) जैसे इन्द्र भेड

आदिकोंको दूर करता है ॥ ५ ॥ हे (जलाष—भेषज) जलसे चिकित्सा करनेवाले (नील—शिखण्ड) नील शिखा वाले (कर्मकृत् रुद्र) पुरुषार्थी रुद्र ! (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको (जहि) जीत लो । (ओषधे अरसान् कृणु) हे औषधे ! तूं प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥६॥ हे इन्द्र ! (यः नः अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है (तस्य प्राशं त्वं जहि) उसके प्रश्नको तूं जीत लो (शक्तिभिः नः अधिब्रूहि) शक्तियों के साथ हमें कह और (प्राशि मां उत्तरं कृधि) प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तम कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— मेरे प्रश्नसे प्रतिपक्षी का पराजय होगा। क्यों कि मेरी यह शक्ति जय शालिनी और प्रभावयुक्त है। इसी लिये प्रत्येक प्रश्नसे प्रतिपक्षीका पराभव होगा। औषधि भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥ १ ॥ इस वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सूअर खोदता है ॥ २ ॥ इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥ तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥ उसीसे शत्रुओं को भगा देता हूं ॥ ५ ॥ हे जल चिकित्सक नील शिखाधारी उत्तम पुरुषार्थी रुद्रदेव ! प्रति प्रश्नसे प्रतिवादीको परास्त कर और हे औषधे! तू प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥ हे इन्द्र ! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत लो, प्रति प्रश्नमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥ ५ ॥

विजय के क्षेत्र।

एक विजय वाद विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है। इन दोनों विजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता रहती है।

वादी और प्रतिवादी।

प्रश्न करनेवाला " प्राश " अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको " प्रति प्राश्" कहते हैं। " वादी और प्रतिवादी " इन दो शब्दोंके समानही ये " प्राश और प्रतिप्राश" शब्द हैं। पाठक इनमें समानता देखें। पहिला मंत्र तथा आगेभी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्न कर्ता यों समझिये कि उत्तर दाता भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे, और इस प्रकार कुशलतासे प्रश्न करे कि एक दो या थोडेसे प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका

मुख फीका पडजाय। कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शांतिसे एक दो प्रश्न एस ढंगते पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं। अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि जिससे सहज हीमें वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके। इस सूक्तके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई वार दी है। वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्म-विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो। यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ।

युद्धमें विजय।

अब दूसरा विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है। जिस तैयारीसे अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी।

पाटा औषधि।

इस सूक्तमें उक्त विजयकेलिये एक औषधि प्रयोग लिखा है। इस औषधिका नाम "पाटा या पाठा" (मं० ४) है इस औषधिके गुण ये हैं—

> तिक्ता गुरूष्णा वातपित्तज्वरघ्नी।
> भग्नसंधानकरी पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च। राज नि० व. ६
> श्रेयसी मुखवाचिका। कफकण्ठरुजावहा। भावप्र०।

"यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुरु, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाशक, टूटे हुएको जोडनेवाली, पित्त दाह अतिसार का नाश करनेवाली है। यह श्रेयकारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है।" भाषामें इस पाठा वनस्पतिको 'चक्रपाठा, आकनादी, निमुखा' कहते हैं।

वादविवाद के समय यह वल्ली मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और वक्तृत्वमें होनेवाले कष्ट नहीं होते। यह बात भावप्रकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है। कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके जो कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते। इसलिये इस औषधिसे वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे घबराहटभी नहीं होती। इससेभी विजय होनेमें सहायता होती है।

युद्धमें भी यह वनस्पति इस लिये उपयोगी है कि इससे टूटे हुए अवयव जोडे जाते हैं, घाव शीघ्र भर जाते हैं। महाभारतमें भी देखते हैं कि वहांके वीर युद्धसमाप्तिके नंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे। जिससे रात्री व्यतीत होते ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिये सिद्ध होजाते थे। नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है। महाभारतमें कहीं औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जडी बूटी सेवन कीजाती थी इतनाही लिखा है। इस सूक्तने "पाठा" नाम दिया है। ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें। कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

१ इन्द्रः बाहौ चक्रे। (मं० ३)

२ इन्द्रः पाटां व्याश्नात्। (मं० ४)

इन मंत्र भागोंमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है। यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य खोज करेंगे और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बडे उपकार हो सकते हैं। भारतीय युद्धके समय वीर लोग इसका उपयोग करते थे और लाभ उठाते थे। बाणोंसे रक्त पूरित हुए वीर तथा घोडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ वक्तृत्व।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिये—

शक्तिभिः अधिब्रूहि। (मं० ७)

"अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो।" अपने पास शक्तियां न रहते हुए बोलना और बडा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिये अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल बढा सकता

है। इसलिये वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें। तथा—

य: न: अभिदासति तं जहि। (मं० ७)

" जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो।" यह उपदेशभी पूर्वोक्त आदेश अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बडा लाभ कारी हो सकता है। अपना बल बढान उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अप को दास बनानेवालेका पराभव करना। यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रक विस्तार करनेका योग्य मार्ग है।

अभिदासन का निषेध।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्थानपर किय है। यहां तक यह निषेध है कि " अभिदास " का अर्थ " विनाश " ही माना है। पूर्ण नाश होना और दास बनना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है। किसी भी अवस्थामें वेद दास-गुलाम-बनना पसंद नहीं करता। पाठक इस बातका यहां मनन करें और धर्म-मयी वीरवृत्ति अपने अंदर बढानेका यत्न करें।

जलचिकित्सक।

षष्ठ मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरुषार्थी रुद्रका वर्णन है। " जलाष-भेषज " शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है। जलाष का अर्थ जलही है। नील शि-खण्डीका अर्थ नील शिखावाले है, यह तरुण जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का बोध कर-ता है। वृद्धकी शिखा श्वेत होती है, तरुणकी ही नीली या काली होती है। "कर्म-कृत्" शब्द पुरुषार्थीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्म में कुशल। " रुद्र " शब्द का अर्थही (रुद्+द्र) रुलानेवाले रोगोंको हटानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं। यह चिकित्सक का नाम यहां इसलिये आया है कि यहां युद्धमें व्रणितांग वीरोंको आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है। तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिये सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इस लिये ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेगी।

दीर्घायुष्य प्राप्ति।
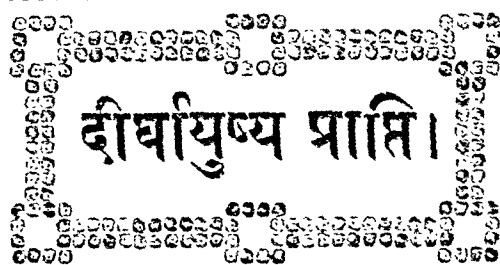
[२८]

(ऋषिः— शम्भुः । देवता- जरिमा, आयुः)

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः ॥ १ ॥
मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥
त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥
द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥
इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (जरिमन्) वृद्धावस्था ! (तुभ्यं एव अयं वर्धताम्) तेरे लिये ही यह मनुष्य बढे । (इमं ये अन्ये शतं मृत्यवः) इसको जो ये सौ अप-मृत्यु हैं (मा हिंसिषुः) मत हिंसित करें । (प्र-मनाः माता पुत्रं उपस्थे इव) प्रसन्नमनवाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु) मित्र मित्र संबंधी पापसे इसको बचावे ॥१॥ (मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एनं जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मिलकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरने वाला करें। (होता वयुनानि विद्वान् अग्निः) दाता और सब कर्मोंको यथा-वत् जाननेवाला अग्नि (तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) उनको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥ २ ॥ (ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं उन (पार्थिवानां पशूनां त्वं ईशिषे)

पृथ्वीके ऊपर के प्राणियोंका तू स्वामी है। (इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोडदें। तथा (मित्राः इमं मा वधिषुः) मित्र इसे न मारें और (मा अमित्राः) शत्रु भी न मारें ॥ ३ ॥ (द्यौः पिता पृथिवी माता संविदाने) द्यौपिता और पृथ्वी माता मिलकर (त्वा जरामृत्युं कृणुतां) तुझको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें। (यथा अदितेः उपस्थे) जिससे मातृभूमिकी गोदमें (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिमाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥ हे (अग्ने मित्र वरुण राजन्) अग्ने और मित्र तथा वरुण राजा! (प्रियं रेतः) प्रिय भोग और वीर्य का बल देकर (इमं आयुषे वर्चसे नय) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा। हे (अदिते) आदिशक्ति! तू (माता इव अस्मै शर्म यच्छ) माता के समान इसे सुख दे। हे विश्वे देवो! (यथा जरदष्टिः असत्) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे। बीचमें सैंकडों अपमृत्यु प्रयत्न करनेपरभी इसे न मार सकें। जिस प्रकार अपने प्रियपुत्र को माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥ शत्रुनाशक मित्र और वरुण ये मिलकर इसको अतिदीर्घ आयुवाला करें। सब चारित्र्य जाननेवाला तेजस्वी देव इसको सब देवताओंके जीवन चारित्र कहे ॥ २ ॥ हे ईश्वर! तू पृथ्वीपर के संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाले सब प्राणियोंका स्वामी है, तेरी कृपासे प्राण और अपान इसे बीचमें ही न छोडें तथा मित्रोंसे या शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥ ३ ॥ द्युपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥ हे अग्ने वरुण मित्र राजन्! इसको प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर दीर्घआयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ। आदिशक्ति माता के समान इसे सुख देवे। और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

" शतायु " शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है। इस सूक्तके (मं०४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) " सौ वर्षतक जीवो " कहा है इससे सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है। छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे। तथा —

ये अन्ये शतं मृत्यवः ने इमं मा हिंसिषुः । (मं० १)

"जो सेकडों अपमृत्यु हैं वे इसको बीचमें ही न मार सकें।" अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु इसका नाश न कर सके। बीचमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह यहां कहना है। लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिये ऐसे दृढ व्रती हों,और खान पान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसे दक्षतासे पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके वशमें कभी न चले जांय।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेप से कहा है, देखिये—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । (मं० ४)

" प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीओ । " इस मंत्र भागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है। यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः वह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा। प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिये। अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिये। नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है। ये ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं। इनका उल्लेख इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं० २ , ५ में) पाठक देख सकते हैं। इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है।

इनका कार्य क्षेत्र ।

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राणायामसे इस प्राणका बल बढता है और इनकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती हैं। साधारण भस्त्रा और उज्जायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिये पर्याप्त हैं। भस्त्रा प्राणायाम धोंकनीकी गतिके समान वेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है। यह थोडे समय तक ही होता है। अधिक होने वाला सुगम प्राणायाम उज्जायी है। जो स्वरयुक्त और शांत वेगसे श्वासोच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है। श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो। इच्छानुसार कुंभक कियाजावे या न कियाजावे। यह अतिसुगम और सुसाध्य

नहीं है। परंतु इनको हटाना मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता है। कई प्रसंगोंमें अपने अंदर अहिंसा भाव बढाने और सार्वत्रिक प्रेमदृष्टिकी वृद्धि करनेसे घातक लोगों के मन का भी सुधार होता है, परंतु यह सिद्धि योगानुष्ठानसे और दीर्घ आत्मसंयमसे साध्य है। इसलिये सबको यह प्राप्त होना कठिन है। अतः सर्वसाधारणके लाभार्थ ईशप्रार्थना ही एक सुगम साधन है, इसीलिये मंत्र ३ में कहा है कि—

ईशप्रार्थना।

इमं मित्राः मा वधिषुः मा अमित्राः। (मं० ३)

"हे ईश्वर! तेरी कृपासे मित्र इसका वध न करें और अमित्र भी न करें।" तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकही है, "भूत भविष्य कालके सब प्राणियोंका एक ईश्वर है, सबकी पालना वही करता है, उसी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे।" यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है। सब चराचर जगत् का पालनहारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढता है, वह अपूर्व है। श्रद्धावान् लोग ही उस बलका अनुभव करते हैं। और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्म भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं। इस लिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें (त्वं ईशिषे) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घआयु प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। पाठक इस बलसे वंचित न रहें। इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, हैं, परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पास हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते। पाठक इसका विचार करके ईशभक्तिका बल अपने अंदर बढावें जिससे सब विघ्न दूर हो सकते हैं।

देवचरित्र श्रवण।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिये। देवों अर्थात् देवताके समान सत्पुरुषोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिये, उनही ग्रंथोंका पठन करना चाहिये और उनके चरित्रोंकाही मनन करना चाहिये।

आज कल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे घृणित कथा कलापों से युक्त प्रकाशित हो रहीं हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढनेवालों में रागद्वेष बढते हैं, वीर्य भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ जाती हैं। परंतु ये पुस्तक आज कल बढ रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या दीन

दर्जे के लोग लेखन व्यवसाय में आनेके कारण हीन सारस्वत प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानी ही हानी हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानी की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिये—

वयुनानि विद्वान् होता अग्निः
तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति। (मं०२)

" सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उसे सुनावे। " यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। इस में सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला होवे, अपने सर्वस्वका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (वयुनानि विद्वान्) कर्तव्याकर्तव्य को यथावत् जानने वाला हो। इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगों का मार्ग दर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगों को (देवानां जनिमानि) देवताओंके जीवन चरित्र सुनावे। देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये,किस रीतिसे परोपकार किया, जनताका उद्धार कैसा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे। राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढने नहीं चाहिये अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने सामने रखने चाहियें। आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है। राक्षस और पिशाचों, धूर्तों और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है। यही उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिये रखेंगे तो उनके जीवनोंका भी सुधार होगा और उनकी आयु भी बढेगी। आयु बढानेके लिये भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिये लें और रावणका जीवन न लें। आजकल की उपन्यासादि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही बिगाड कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना यहां वेदने दी है। इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा।

आज कल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं। संयमशीलता बढानेवाले चरित्र कम हैं। इस लिये सद्ग्रंथ पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है। तथापि ऋषियोंकी कृपासे रामायण महाभारत ग्रंथ तथा अन्यान्य ऋषिप्रणीत चरित्र हैं, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उनको उचित है कि वे ऐसे सच्चरित्र अथवा श्रेष्ठ ग्रंथ निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके। अस्तु। इस मंत्र भागने "दिव्यचरित्रोंका श्रवण और मनन"

यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिये कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इस लिये जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंकाही मनन करें।

पापसे बचाव। दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है। पापसे पतन होता है और रोगादि बढ जानेके कारण आयुष्य क्षीण ही होती है, इसलिये इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिये–

मित्र एनं मित्रियात् अंहसः पातु ! (मं. १)

"मित्र इस मनुष्यको मित्र संबंधी पापसे बचावे।" शत्रु संबंधसे होने वाले पापसे तो बचना ही चाहिये। कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिये मित्रके हित साधनके लिये, कुछ भी बुराभला किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है। परंतु पाप जो है वह हमेशाही पाप होता है वह किसीके लिये किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा। इसलिये जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचना चाहिये। मित्र अपने मित्रको पापकर्म करने से रोके और उसको सीधे धर्म मार्गपर चलाने की सलाह देवे। मनुष्य स्वयंभी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिये हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे। मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इस लिये कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय। तात्पर्य यह है कि यदि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिये। पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है।

भोग और पराक्रम।

मनुष्यको भोग भी चाहिये और पराक्रम भी करना चाहिये। परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढते हैं और वीर्यका संयम करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं और भोगोंमें अपने वीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिये एक सहज ही सी बात है, इस लिये इसका योग्य प्रमाण होना चाहिये यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिये––

इमं प्रियं रेतः आयुषे वर्चसे नय। (मं० ५)

"इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिये ले चलो।" अर्थात् यह मनुष्य अपने लिये प्रिय भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढता जाय। परंतु भोग भोगने और

वीर्यके कार्यमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिससे बीच हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले चले। अपना समय भोग और पराक्रमके कार्योंके लिये ऐसा बांटना चाहिये कि भोग भी प्राप्त हों और वीर्यके सब कार्य भी बन जांय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सकें। अपने कार्य इस तुलनाके अनुसार करने चाहियें। रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढता है, परंतु उसके अतिरेक से ब्रह्मचर्य नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भोग की बातोंके विषयमें समझना योग्य है। इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी प्राप्त होंगे और दीर्घआयु भी मिलेगा।

देवोंकी सहायता।

१ मित्रः रिशादसो वरुणः संविदानौ जरामृत्युं कृणुतां। (मं० २)
२ द्यौष्पिता पृथिवी माता संविदाने त्वा जरामृत्युं कृणुतां। (मं० ४)
३ अदिते! माता इव शर्म यच्छ। (मं०२)
४ विश्वे देवाः! जरदष्टिः यथा असत्। (मं ५)

" मित्र और शत्रुनाशक वरुण ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें॥ द्युलोक और मातृभूमि मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें॥ हे अविनाशी आदि शक्ति! तू माता के समान सुख दे॥ हे सब देवो! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो॥ "

यहां मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इस से स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिये। यदि इनकी अनु-कूलतासे आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट ही हुआ। सूर्यदेव अपने प्रकाशसे सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे वंचित नहीं रहना चाहिये, अन्यथा वह हमें सहायता कैसी पहुंचा-येगा? वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं। यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे लाभ उठावे तब ही जलदेव वरुणसे लाभ प्राप्त हो सकता है। मातृभूमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घ जीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे लाभ प्राप्त करके दीर्घजीवी बनें।

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा ।

[२९]

[ऋषिः- अथर्वा । देवता- नाना देवताः]

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्बृहस्पतिः ॥ १ ॥
आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥
आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥
इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥
ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥
शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिपीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ — हे (देवाः) देवो ! अग्नि सूर्य और बृहस्पति (अस्मै) इस मनुष्य के लिये (पार्थिवस्य तन्वः भगस्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संबंधी (रसे बले) रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ धात्) देवे ॥ १ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव ! (अस्मै आयुः धेहि) इसके लिये दीर्घ आयु दे । हे (त्वष्टः) रचना करनेवाले देव ! (अस्मै प्रजां अधि निधेहि) इसके लिये प्रजा दे । हे (सवितः) प्रेरक देव ! (अस्मै रायः पोषं आ सुव) इसके लिये धन और पुष्टि दे । (तव अयं शतं शरदः जीवाति) तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥ २ ॥

(नः आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद मिले तथा हे (सुमनसः) उत्तम मनवालो! (ऊर्जं उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दक्षं द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्त) दो। हे इन्द्र! (अयं सहसा) यह अपने बलसे (क्षेत्राणि जयं) विभिन्न क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृण्वानः) करता हुआ (अन्यान् सपत्नान् अधरान्) अन्य शत्रुओंको नीचे करता है ॥ ३ ॥ यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुने दिया है, (वरुणेन शिष्टः) शासकके द्वारा शासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उन्हींके वीरों द्वारा प्रेरित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है। हे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवि! (वां उपस्थे) आपके पास रहने वाला (एषः) यह (मा क्षुधत्, मा तृषत्) भूखा और तृषासे पीडित न हो ॥ ४ ॥ हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाली! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे दूधवाली! इसके लिये दूध दो। द्युलोक और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अधत्तां) इसके लिये बल देते हैं। तथा (विश्वे देवाः मरुतः आपः) सब देव, मरुत्, आप ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥ (शिवाभिः ते हृदयं तर्पयामि) कल्याण मयी विद्याओंद्वारा तेरे हृदयको मैं तृप्त करता हूं। तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दित हो। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्विदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त होकर (एतं मन्थं पिबतां) इस रसका पान करो ॥६॥ (विद्धः इन्द्रः) भक्ति किया हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जां स्वधां अग्रे ससृजे) इस अक्षीण अन्न युक्त सुधा को उत्पन्न करता है, देता है। (सा एषा ते) वह यह सब तेरे लियेही है। (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह। (ते मा आसुस्रोत्) तेरे लिये ऐश्वर्य न घटे (ते भिषजः अक्रन्) तेरे लिये वैद्योंने उत्तम रसयोग बनाये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे देवो! इस मनुष्यको अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथमें पार्थिव ऐश्वर्य युक्त अन्न रस बल तेज और नीरोग जीवन होते हैं ॥ १ ॥ हे देवो! लोगोंको उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य युक्त उत्तम पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य दो ॥२॥

हे देव! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्राप्त हो। मनुष्य अपने निजबलसे विविध कार्यक्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करे, और शत्रुओंको नीचे मुख किये हुए भगा देवे ॥ ३ ॥ यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, गुरुके द्वारा शिक्षित बना, वीरों द्वारा उत्साहित हुआ है, इस लिये यह शूरवीर बनकर हमारे अन्दर आया है और कार्य करता है। मातृभूमि की उपासना करनेवाला यह वीर भूख और प्याससे कभी कष्ट को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥ सूर्य पिता और भूमि माता इसको अन्न, रस, बल और ओज देवें। जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥ शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को तृप्त करता हूं। तू नीरोग और तेजस्वी बन कर सदा आनंदित हो जाओ। मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मकी शक्ति बढाकर इस रसको पीओ ॥ ६ ॥ प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतरस प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाप्तितक जीवित रह। तेरी आयुमें ऐश्वर्य की न्यूनता कभी न हो। और तेरे लिये वैद्य लोग उत्तम योग तैयार करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नतिको प्राप्त हो ॥ ७ ॥

रस और बल।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है। पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है। अर्थात् शरीर का बल बढाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है। शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्य और तेज इस रससेवनपर निर्भर है।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें यह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिलकुल नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध होसकता; क्योंकि अग्निकी उष्णता; सूर्य किरणोंका रसायनगुण और जलका रस इन सबका संमिश्रण हो कर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है। इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश इस रसमें होनेसे ही यह रस मानो देवतांशोंका ही रस है। इसलिये उसके सेवनसे देवताओंके सत्त्वांश का ही सेवन होता है। जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके धान्य, फल, शाक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लगजायगा कि

यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है। यदि कोई वनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल होजाती है। यह बात देखनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी बडा भारी संबंध है। पाठक यहां अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मात्रके लिये अन्नादि भोग तैयार करनेमें कैसे दत्तचित्त होकर कार्य कर रहे हैं!! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणिमात्रका पालन कर रही है।

"अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्य और तेज देते हैं।" यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है। इस लिये दीर्घायु आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अन्नादि रस लेकर अपना बल बढावें। यह प्रथम मंत्रका बोध है। (मं० १)

शतायु।

द्वितीय मन्त्र कहता है कि "जातवेदसे आयु, त्वष्टासे सुप्रजा, सवितासे पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहता है।" (मं० २) इस मन्त्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है। जातवेद, त्वष्टा और सविता ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होनी है। इस लिये इनका विशेष विचार करना आवश्यक है—

१ **जातवेदः**— (जात+वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह चला है। जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैलता है। (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी। (जातस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान। इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है। किसीभी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है। मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि "ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढाई जा सकती है।" यदि आयु बढाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिये और उस विद्यासे अन्नरसादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढानी चाहिये।

२ **त्वष्टा**— बारीक करना, बारिकाईसे कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवालेका त्वष्टा नाम है। परमेश्वर सब जगत् का बडा भारी कारीगर है, इस लिये उसको त्वष्टा कहते हैं। अन्य कारीगर भी छोटे

त्वष्टा हैं। "त्वष्टा इस मनुष्यके लिये प्रजा देवे" यह इस मन्त्रभागका कथन है। योग्य सन्तति बनाना इसीके आधीन है, परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो। जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्योंसे अधिक होता है, इस लिये ऐसे मनुष्यको अन्योंकी अपेक्षा अधिक सुडौल सन्तान होना सम्भव है। मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुडौलपन सन्ततिमें आना सम्भव है। त्वष्टासे प्रजा का सम्बन्ध यह है।

३ **सविता**— प्रेरणा करनेवाला और रसका प्रदान करनेवाला। सूर्य सबको जगाता है और वनस्पतियोंमें रसका सञ्चार करता है, इस लिये उसका नाम सविता होता है। यह भूमिके ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंकी (पोषं) पुष्टि करता है और उनकी (रायः) शोभा या ऐश्वर्य भी बढाता है।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इसको दीर्घजीवन देते हैं। मनुष्योंको चाहिये कि वह इससे यह लाभ प्राप्त करें।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय।

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है। "हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जांय।" यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है। अन्नसे शरीर की पुष्टि प्राप्त होती है, उससे बल बढता है, धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् वंशविस्तार के लिये सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है। इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है। यह प्रायः हरएक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है। उनसे यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके साथ साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसको बतानेवाला मन्त्रभाग यह है—

अयं सहसा जयं कृण्वानः क्षेत्राणि। (मंत्र ३)

"यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे।" इस मंत्र भागमें (सहः) अपने अंदर के बलका उल्लेख है। "सहः" नाम है "विजयके" बल का। जिस बलसे शत्रु का हमला सहा जाता है, जिस बलसे शत्रु का हमला आने पर भी अपना नुकसान कुछ भी नहीं होता है, उसका नाम सह है। मनुष्योंको यह "सह" नामक बल अपने अंदर बढाना चाहिये। यह बल जितना बढेगा उतना ही विजय प्राप्त होगा और विविध कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी। [illegible]

शत्रु परास्त होंगे। इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन कितने भी पास हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा। इस लिये इस मंत्र भागने जो "सह" संज्ञक बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है, उसको ध्यानमें धारण करके, वह बल अपने अंदर बढावें और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावें।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य द्यावापृथिवी के अंदर जो आया है वह "इन्द्रने आज्ञा दिया हुआ, वरुण द्वारा शासित बना हुआ, और मरुतों द्वारा चलाया हुआ आया है, इसलिये यह यहां आकर भूख और प्याससे दुखी न बने।"(मंत्र ४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे। अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करने वाले हैं, यह बात मनमें लानेसे मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली बन जाती है। मेरे सहायकारी इतने देव हैं यह विश्वास बडा बल बढाने वाला है। जिस मनुष्य की उन्नति करने के लिये इतने देव कार्य करते हैं, भूमि आप अग्नि सूर्य आदि देव इसके लिये अन्न तैयार करते हैं, बृहस्पति इसे ज्ञान देता है, जातवेदा इसको विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्यान्यदेव इसकी अन्यप्रकार की सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिसे चारों ओर विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता ? कर सकता है, परंतु इसको कटिबद्ध हो कर अपने पांवपर खडा होना चाहिये।

"अन्नवाली भूमि इसे अन्न अर्पण करती है, दूधवाली गौवें इसकेलिये दूध देती हैं, द्यावा पृथिवी इसके लिये बल बढाती हैं और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करती है। (मं०५)

पाठक इसका अनुभव करें। इतनी देवताएं मनुष्यकी सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं। इतनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है! इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढावे और विजय न संपादन करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना पुरुषार्थ करनेके लिये कटिबद्ध हों। मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसकी अखंड उन्नति हो सकती है।

हृदयकी तृप्ति।

अन्न प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती। जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती। इस लिये पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर षष्ठ मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है। हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है-

ते हृदयं शिवाभिः तर्पयामि । (मं० ७)

"तेरा हृदय मंगल वृत्तियोंसे तृप्त करता हूं।" शिवा शब्द शुभता का वाचक है। जो मंगल मय है वह शिव है, फिर यह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विधा भी हो सकती है। कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टी होती है, किसी अन्य बातसे नहीं। पाठक यहां अनुभव करलें कि जब कभी बुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा अशांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो जाता है। शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार ही मनुष्यके हृदयका संतोष कर सकता है। इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शांत और मंगलमय हो जाता है। इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वर्चस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शांतिपूर्ण मनुष्यको ही सुसंतान होती है। पाठक यहां देखें कि हृदय की शांतिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिसे हानि कितनी है। यही बात आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्टाः (मं० ६)

" नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो" अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयकी शान्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी हो कर आनन्दित हो सकता है, इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मङ्गलमय बनावे और अशान्तिसे दूर रहे। इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खडी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे। यह तो अंतःकरण के निश्चलत्व के विषयमें उपदेश हुआ। बाहरका व्यवहार कैसा करना चाहिये इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्ध देखिये—

सवासिनौ मायां परिधाय मन्धं पिबतम्। (मं० ६)

" सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए कौशल्यको धारण करके रस का पान करो" इसमें निम्नलिखित उपदेशबोधक शब्द महत्त्व पूर्ण हैं—

१ सवासिनौ— एकत्र निवास करने वाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले। उचनीच भेदको न बढाते हुए समान विचारसे इकट्ठे रहने वाले। एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले।

यह शब्द एकताका बल अपने समाज में बढानेका उपदेश दे रहा है। परस्पर द्वेष न करें, परन्तु एकताका बल बढे; यह भाव यहां स्मरण रखने योग्य है।

२ मायां परिधाय— माया का अर्थ कुशलता, हुनर, [illegible]

पति और पत्नीका मेल।

[३०]

(ऋषिः- प्रजापतिः। देवता-अश्विनौ)

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥
सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥
यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥
यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥
एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (यथा वातः) जैसा वायु (भूम्याः अधि) भूमिपर (इदं तृणं मथायति) यह घास हिलाता है, (एव ते मनः मथ्नामि) वैसाही तेरा मन मैं हिलाता हूं; जिससे तू (मां कामिनी असः) मेरी इच्छा करनेवाली होवे और (यथा मत् अप-गाः न असः) मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥ (हे कामिनौ अश्विनौ) परस्पर कामना करनेवाले दो बलवानो! (च इत सं नयाथः) मिलकर चलो, (च सं वक्षथः) और मिलकर आगे बढो। (वां भगासः सं अग्मत) तुम दोनों को ऐश्वर्य इकट्ठे प्राप्त हों, (चित्तानि सं) तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिलें और (व्रतानि सं) तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हों ॥ २ ॥ (यत्) जहां (विवक्षवः सुपर्णाः) बोलनेवाले सुंदर पंखवाले पक्षी जाते हैं और (विवक्षवः अनमीवाः) बोलनेवाले नीरोग मनुष्य जाते हैं, (तत्र) वहां (मे हवं गच्छतात्) मेरी प्रेरणानुसार जाओ, (यथा शल्यः कुल्मलं इव) जैसा बाण

आवश्यकता है, प्रत्युत (भगं) धनकी भी आवश्यकता है। कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिये आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और तत्पश्चात् विवाह करे; यह बोध यहां मिलता है। पहले ब्रह्मचर्य पालन करे, तरुण बने, वीर्यवान और बलवान हो, धन कमाने लगे और पश्चात् सुयोग्य स्त्रीसे विवाह करे। यह पंचम मंत्रका आशय सतत ध्यानमें धारण करने योग्य है।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " शब्द हैं, इनका आशय इससे पूर्व बताया ही है। "कामिनौ" शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके पूर्वार्धने किया है और "अश्विनौ" का स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है। यह बात पाठक मनन पूर्वक देखेंगे, तो "अश्विनौ" शब्द यहां उत्तम तारुण्यसे युक्त पतिपत्नीका वाचक है और "अश्व" शब्द वाजीकरण सिद्ध वीर्यवान् पुरुष का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

पंचम मंत्रमें धन कमानेके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है। ' धीः, श्रीः, स्त्रीः ' यह वैदिक क्रम प्रसिद्ध है।

निष्कपट बर्ताव।

स्त्रीपुरुषोंका परस्पर वर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिये। तभी गृहस्थाश्रमी पुरुषों को सुख प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उपदेश विशेष महत्त्वपूर्ण है—

यदन्तरं तद्बाह्यं, यद्बाह्यं तदन्तरम्। (मं० ४)

"जो अंदर है वही बाहर, और जो बाहर है वही अंदर है।" यह निष्कपट व्यवहारका परम उच्च आदर्श है। पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखें। गृहस्थियोंके लिये व्यवहारका आदर्श यहां वेदने सुबोध शब्दोंद्वारा बताया है। वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करें और अपना गृहस्थपनका सुख बढावें।

विश्वरूपाणां कन्यानां मनः गृभाय। (मं० ४)

"विविध रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे।" कोई तरुण किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका बर्ताव सीधा और कपट रहित रखे। कपट भावसे कन्याको धोखा देकर उसको फंसानेका यत्न कोई न करे। सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बनने के लिये किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय। कभी कोई छल या कपट न किया

पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहां नीरोग मनुष्य जा
यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है ! पाठक ही इसका
उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान स्त्री पुरुषोंको
हैं। यहां वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिये बताया
परिवार के लिये न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य
करें और निष्कपट भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए ग

स्त्रीके साथ वर्ताव।

पुरुष स्त्रीके साथ कैसा वर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके
विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें ली है और इस
"जिस प्रकार वायुसे घांस हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्री
यह कथन बडा बोधप्रद है। वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति
तो बडे बडे वृक्ष भी टूट जाते हैं; परंतु वही वायु कोमल घा
हिलाता है। इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको
परंतु वही वीर पुरुष स्त्रियोंसे वैसा क्रूरताका वर्ताव न करे।
वाला वायु घांसको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको
भी स्त्रियोंसे कोमल रीतिसे ही वर्ताव करे। कठोर व्यवहार

स्त्रियां भी अपने अंदर घांसके समान कोमलता धारण
पर भी जैसा घांस टूटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंब
न हों।

यहां इस उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताये हैं। इ
अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है।
योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती। पाठक इसका वि
वह बोध अपने परिवारमें ढाल दें।

यह सूक्त पतिपत्नीके गृहस्थधर्मका आदर्श बता रहा है;
विचार करेंगे, तो उनको बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है
सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें।

रोगोत्पादक क्रिमि।

[२१]

(ऋषि— काण्वः । देवता – मही)

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत्क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी ।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न्दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥
दृ॒ष्टम॒दृष्ट॑मतृ॒ह॒मथो॑ कु॒रूरु॑मतृहम् ।
अ॒ल्गण्डू॒न्त्सर्वा॑ञ्छ॒लुना॒न्क्रिमी॒न्वच॑सा जम्भयामसि ॥ २ ॥
अ॒ल्गण्डू॒न्हन्मि महता॒ व॒धेन॑ दू॒ना अदू॑ना अ॒रसा॑ अभूवन् ।
शि॒ष्टान॑शिष्टा॒न्नि ति॑रामि वा॒चा य॒था क्रिमी॑णां॒ नकि॑रु॒च्छिषा॑तै ॥ ३॥
अन्वा॑न्त्र्यं शी॒र्ष॒ण्य॑१मथो॒ पार्ष्टे॑यं॒ क्रिमी॑न् ।
अ॒व॒स्क॒वं व्य॑ध्व॒रं क्रिमी॒न्वच॑सा जम्भयामसि ॥ ४ ॥
ये क्रिम॑यः॒ पर्व॑तेषु॒ वने॒ष्वोष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑१न्तः ।
ये अ॒स्माकं॑ त॒न्व॑मावि॒वि॒शुः सर्वं॒ तद्ध॑न्मि॒ जनि॑म॒ क्रिमी॑णाम् ॥ ५ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

अर्थ— (इन्द्रस्य या मही दृषत्) इन्द्रकी जो बडी शिला है जो (विश्वस्य क्रिमेः तर्हणी) सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है (तया क्रिमीन् सं पिनष्मि) उससे मैं क्रिमियोंको पीस डालूं (दृषदा खल्वान् इव) जैसे पत्थरसे चणोंको पीसते हैं ॥ १ ॥ (दृष्टं अदृष्टं अतृहम्) दीखने वाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं। (अथो कुरूरुं अतृहम्) और भूमिपर रेंगने वाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूं। (सर्वान् अल्गण्डून् सब विस्तरे आदिमें रहनेवाले तथा (शलुनान्) वेगसे इधर उधर चलनेवाले सब (क्रिमीन्) क्रिमियोंको (वचसा जम्भयामसि) वचाके द्वारा हटाता हूं॥ २॥ (अल्गण्डून् महता वधेन हन्मि) विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बडे

आघातसे मैं मारता हूं। (दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन्) चलनेवाले और न चलनेवाले सब क्रिमी रसहीन होगये। (शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि) बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको वचासे मैं नाश करता हूं। (यथा क्रिमीणां नकिः उच्छिषातै) जिससे क्रिमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥ (अन्वान्त्र्यं) आंतोंमें होनेवाले, (शीर्षण्यं) सिरमें होनेवाले (अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्) और पसलियोंमें होने वाले क्रिमियोंको तथा (अवस्कवं) रेंगनेवाले और (व्यध्वरं) बुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं (वचसा जम्भयामसि) वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ ४ ॥ (ये पर्वतेषु क्रिमयः) जो पहाडियोंपर क्रिमि होते हैं, (वनेषु, ओषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः) वन, औषधि, पशु, जल आदिमें होते हैं, और (ये अस्माकं तन्वं आविविशुः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं (तत् क्रिमीणां सर्वं जनिम हन्मि) वह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात आत्माकी दृढ शक्ति है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥ आंखसे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रेंगनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ २ ॥ वचा औषधिसे मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूं जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥ आतोंमें, सिरमें, पसलीमें जो कृमि कुमार्गके आचरणसे होते हैं उन सबको मैं वचा से हटाता हूं ॥ ४ ॥ जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जलोंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं ॥ ५ ॥

क्रिमियोंकी उत्पत्ति।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति " पर्वत, वन, औषधि, पशु, और जल इनके बीच में होती है " (मं० ५) तथा ये क्रिमि—

अस्माकं तन्वं आविविशुः। (मं० ५)

" हमारे शरीरमें घुसते हैं " और पीडा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य साधन करना चाहिये। यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है। जलमें सडावट होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते

हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहां दलदलके स्थान रहते हैं वहां भी विविध जाती के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरमें ये कहां जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है--

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्। (मं० ४)

"आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहां बढते हैं।" इस कारण वहां नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। इस लिये आरोग्य चाहनेवालोंको इनको दूर करना चाहिये। इनकी उत्पत्तिके विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बडे महत्त्वके हैं —

" अवस्कवं, व्यध्वरं "(मं० ४)

१ अवस्कव– (अव+स्कव) नीचे गमन। नीच स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है। यहां आचरणकी नीचता समझना योग्य है। २ व्यध्वर–(वि–अध्व–र) विरुद्ध मार्ग पर रमना। धर्म विरुद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मचर्यादि नियमोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्म विरुद्ध व्यवहार हैं जो रोग उत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं। इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बडे महत्त्वके हैं।

दूर करनेका उपाय।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है —

१ वचा—वचा नामक वनस्पतिका उपयोग करना। भाषामें इसको वच कहते हैं। क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है। इसका चूर्ण शरीरपर लगानेसे क्रिमि बाधा नहीं होती, वचाका मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमिपीडा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमिदोष दूर हो जाते हैं। औषधि जन्य उपायोंमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है।

२ इन्द्रस्य मही दृषत्–इन्द्रका बडा पत्थर। इस नामका कोई पदार्थ है या यह आध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषय में अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सका। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, उसका बडा पत्थर अर्थात् जिसपर टक्कर खाकरये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उसकी प्रबल जीवन शक्ति है। आत्म शक्तिके मुकाबलेमें इन रोगक्रिमियोंकी क्षुल्लक शक्ति ठहर नहीं सकती। यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक खोज होने की आवश्यकता है। ये क्रिमी इतने सूक्ष्म होते हैं, कि आंखसे दिखाई नहीं देते। (अदृष्ट), दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आंखसे दिखाई देते हैं। कई शरीरपर होते हैं कपडोंपर चिपकते हैं, बिस्तरेमें होते हैं, इसप्रकार विविध स्थानोंमें इनकी उत्पत्ति होती है। इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है।

क्रिमि-नाशन ।

[३२]

(ऋषिः— काण्वः । देवता—आदित्यः)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥
विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥
अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥
हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥
प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

अर्थ—(उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु) उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका नाश करे। (निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु) अस्तको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे। (ये क्रिमयः गवि अन्तः) जो क्रिमि भूमीपर हैं ॥ १ ॥ (विश्वरूपं) अनेक रूपवाले (चतुरक्षं) चार आंखवाले, (सारंगं अर्जुनं क्रिमिं) रींगनेवाले श्वेत रंगके क्रिमि होते हैं। (अस्य पृष्टीः शृणामि) इनकी हड्डियोंको मैं तोडता हूं। (अपि यत् शिरः वृश्चामि) इनका जो सिर है वह भी तोडता हूं ॥ २ ॥ हे (क्रिमयः) क्रिमियो ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके

समान (वः हन्मि) तुमको मार डालता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिकी विद्यासे (क्रिमीन् सं पिनष्मि) क्रिमीयोंको पीस डालता हूं ॥ ३ ॥ (क्रिमीणां राजा हतः) क्रिमियोंका राजा मारा गया। (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति भी मारा गया। (हत-माता, हत-भ्राता, हत-स्वसा क्रिमिः हतः) क्रिमीकी माता, भाई, वहीन तथा वह क्रिमिभी मारा गया है ॥ ४ ॥ (अस्य वेशसः हतासः) इसके परिचारक मारे गये। (परिवेशसः हतासः) इसके सेवक पीसे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) अव जो क्षुल्लक क्रिमी हैं (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमी मारे गये ॥ ५ ॥ (ते श्रृंगे प्र श्रृणामि) तेरे दोनों सींग तोड डालता हूं (याभ्यां वितुदायसि) जिनसे तू काटता है। (ते कुषुम्भं भिनाद्मि) तेरे विषके आ-शयको मैं तोडता हूं (यः ते विषधानः) जो तेरा विषका स्थान है ॥ ६ ॥

भावार्थ- सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है। ये क्रिमि भूमिपर रहते हैं ॥ १ ॥ ये क्रिमी वहुत प्रकारके विविध रंगरूपवाले होते हैं,कई श्वेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं। इनमेंसे कईयोंको चार अथवा अनेक आंख होते हैं ॥ २ ॥ अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग वीजोंका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥ इन उपायोंसे इन क्रिमियोंके मूल वीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥ इनके सब परिवार पूर्णतासे दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इनमें जो विषका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोंसे ही नाश होजाता है ॥ ६ ॥

सूर्यकिरण का प्रभाव।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगवीज दूर होते हैं। इसलिये जिस स्थानपर रोग जन्तुओंके बढनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं। जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करानेसे वहांके रोग दूर हो जाते हैं। क्यों कि रोगवीजोंको हटानेवाला सूर्यके समान प्रभाव शाली दूसरा कोई भी नहीं है।

क्रिमियोंके लक्षण।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण कहे हैं, देखिये (मं० २)—

१ अर्जुनः- श्वेत रंगवाला,

२ सारंगः-विविध रंगवाला, चित्रविचित्र वर्ण वाला, धब्बे जिसके शरीरपर हैं।

३ चतुरक्षः- चार नेत्र वाला, चारों तर्फ जिसके शरीरमें नेत्र हैं।

४ विश्वरूपः- विविध रंगरूप वाला।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते हैं।

रोगबीजोंके नाशकी विद्या।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मंत्रमें कही है। इस मंत्रमें इस विद्याके चार नाम आगये हैं, देखिये-

(१) अत्रि, (२) कण्व, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्य के (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोगबीजभूत क्रिमियोंका नाश करता हूं। रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं। प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें। इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नहीं निकला है।

विष स्थान।

इन क्रिमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं०६) यह विष ही मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है। इस लिये इनसे बचने के उपाय की शक्ति ऐसी चाहिये कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्यके शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके।

यक्ष्म-नाशन ।

[३२]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यम् ।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ ५ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥
अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ७ ॥

अर्थ— (ते अक्षीभ्यां नासिकाभ्यां) तेरे आंखोंसे और दोनों नथुनोंसे (कर्णाभ्यां छुबुकात् अधि) कानोंसे और ठोडीमेंसे, (ते मस्तिष्कात् जिह्वाया) तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे (शीर्षण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) सिर संबंधी रोग को हटाता हूं ॥ १ ॥ (ते ग्रीवाभ्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गले से और गुद्दी की नाडीसे (कीकसाभ्यः अनूक्यात्) हंसली की हड्डियोंसे और रीढसे और (ते अंसाभ्यां, ते बाहुभ्यां) तेरे कंधोंसे और

भुजाओंसे (दोषण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) भुजदंडके रोगको हटाता हूं ॥२॥ (ते हृदयात्, क्लोम्नः, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे फेफडेसे और पित्ताशयसे, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखोंसे (ते मतस्नाभ्यां) तेरे गुर्दोंसे (प्लीह्नः यक्नः) तिल्ली और जीगरसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को हटाता हूं ॥३॥ (ते आन्त्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी आंतोंसे और गुदासे (वनिष्ठोः उदराद् अधि) मलस्थानसे और उदरसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कोखोंसे अंदरकी थैलीसे और नाभिसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग हटाता हूं ॥४॥ (ते ऊरुभ्यां अष्ठीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे (पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्यां) एडियोंसे और पैरोंसे, (ते श्रोणिभ्यां) तेरे कुल्होंसे (भंससः भसद्यं भासदं) गुह्यस्थानसे कटिके संबंधके गुह्य (यक्ष्मं विवृहामि) रोगको मैं हटाता हूं ॥ ५ ॥ (ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावभ्यः धमनिभ्यः) पुट्ठोंसे और नाडियोंसे (ते पाणिभ्यां अंगुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ अंगुलि और नाखूनोंसे (यक्ष्मं विवृहामि) रोग को हटाता हूं ॥ ६ ॥ (यः ते) जो तेरे (अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग, प्रत्येक रोम और प्रत्येक गांठमें (ते त्वचस्यं विष्वञ्चं यक्ष्म)तेरी त्वचा संबंधी फैलनेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य विवर्हेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटादेते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— आंख नाक कान बाहु आदि स्थूल शरीरके मोटे अवयवोंसे, हृदय प्लीहा यकृत आदि आंतरिक अवयवोंसे, अस्थि मज्जा आदि धातुओंसे अथवा जहां कहां रोग हो वहांसे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं ॥ १—७ ॥

कश्यप–विबर्हण।

पूर्व सूक्तमें अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य नामकी रोगदूरीकरण की विद्या आगई है। उसी प्रकारकी कश्यप विबर्हण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आगया है। खोज करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करना चाहिये। इस समय तो यह विद्या अज्ञात ही है।

[यह सूक्त कुछ पाठभेदसे ऋ० १० । १६३) में आया है]

मुक्ति का सीधा मार्ग।

[३४]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता—पशुपतिः)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्तात् ॥ १ ॥
प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥
ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥
प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

अर्थ—(यः पशुपतिः) जो पशुपति (यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे) द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है (सः निष्क्रीतः) वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ (यज्ञियं भागं एतु) यजनीय विभाग को प्राप्त होवे। (रायः पोषाः यजमानं सचन्ताम्) धन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों॥ १॥ हे (देवाः) देवो ! (भुवनस्य रेतः प्र मुञ्चन्तः) भुवन के वीर्यका दान करते हुए (यजमानाय गातुं धत्त) यज्ञ करनेवाले के लिये सन्मार्ग प्रदान करो। (यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्थात्) जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें (एतु) प्राप्त हो॥ २॥

(ये दीध्यानाः) जो प्रकाशमान (बध्यमानं अनु) बंधे हुए को अनुकूलता के साथ (मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त) मनसे और आंखसे देखते हैं, (विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः) विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको सबसे पहले मुक्त करे ॥ ३ ॥ (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण विविधरंग रूपवाले पशु (बहुधा विरूपाः सन्तः एकरूपाः) बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपरभी एक रूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः) प्रजाके साथ रमनेवाला प्रजा पालक प्राण देव (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥ (पूर्वे प्रजानन्तः) पहले विशेष जाननेवाले ज्ञानी (परि आचरन्तं प्राणं) चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको (अंगेभ्यः प्रति गृह्णन्तु) सब अंगोंसे ग्रहण करें। (शरीरैः प्रतितिष्ठ) सब शरीरांगोंमें प्रतिष्ठित रह, पश्चात (देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ) देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो द्विपाद् और चतुष्पात् आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह निःशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूजाके स्थानमें पूजित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियां उपासकको प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥ सब देव इस उपासकको संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्गी बनाते हैं और वनस्पति संबंधी सुसंस्कृत देवोंके लिये प्रिय ऐसा जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥ जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणीको अनुकम्पाकी दृष्टिसे देखते हैं, उनकोही विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओंमें रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥ ग्राम्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले मुक्त करता है ॥ ४ ॥ जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको सब अंगों और अवयवोंसे इकट्ठा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे मुक्त होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्गको जाते हैं और प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

प्राणका आयाम ।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है । वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिये जाते हैं । ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहांसे स्वेच्छासे निवृत्त होता है । यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी । यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है । इसी लिये पञ्चम मंत्रमें कहा है—

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु । (मं० ५)

" जाननेवाले बडे लोग संचार करनेवाले प्राणको सब अंगोंसे इकट्ठा करके अपने स्वाधीन कर लेवें ।" इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन हैं यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपदेश दिया है; इसका अनुसंधान देखिये—

१ प्र- जानन्तः पूर्वे= (प्र-जानन्तः) विशेष जानने वाले अर्थात् शारीर शास्त्र और योग शास्त्रके विशेष ज्ञाता । प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकार जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं । वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें ।

२ पर्याचरन्तं प्राणं- (परि+ आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें । प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें । प्राणका संचार जहां योग्य रीतिसे नहीं होता है वहां रोग होते हैं; इस लिये प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करनाभी संभवनीय है।

३ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्तु- शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहां सूचित किया है ।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है । इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर

मुक्तिका मार्ग।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका सीधा मार्ग बताया है, जो हरएक को मनमें धारण करना चाहिये-

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च बध्यमानं अनु अन्वैक्षन्त । (मं० ३)

"जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनसे और आंखसे अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं," वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वेही बंधनसे छूट सकते हैं और कैवल्य धाम में पहुंच कर विराजमान हो सकते हैं।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपोनुष्ठानसे अपना तेज जिन महात्माओंने बढाया है, उनको चाहिये, कि वे अपने (मनसा) मनसे, अपने अन्तःकरण के गहरे भावसे तथा अपने (चक्षुषा) आंखसे बंधनमें फंसे, गुलामीमें सडनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टीसे देखें अर्थात् यहां केवल आंखसेहि देखना नहीं है अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्थाको सोचना है, उस अवस्थाका दिलसे मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिये अपनी ओरसे जहां तक हो सकता है वहां तक यत्न भी करना है। उनकी सहायताके लिये आत्म समर्पण करना है। जो महात्मा दीनोंके उद्धारके लिये आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं। परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करके उसकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं। इनकी सद्गति कैसी होती है यह भी देखिये—

प्रजया संरराणः विश्वकर्मा अग्निः देवः
अग्रे तान् प्रमुमोक्तु । (मं ३)

" प्रजाके साथ रहनेवाला विश्वका कर्ता तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे। " इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अन्तःकरण में रहता है। दीन प्रजाओंमें उसको जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट दीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाकी सेवा करना ही परमात्माकी भक्ति करना है। इसी लिये इस मंत्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे मनसे और आंखसे देखने वाले सबसे पहले मुक्त होते हैं। " पाठक यहां परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें।

विश्वरूपमें एकरूपता।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है। विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहना है अथवा इसका अभेद होनेकी कोई युक्ति है। चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा—

विश्वरूपा विरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः। (मं० ४)

"विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होने पर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही हैं।" उदाहरण ग्राम्य पशुही लीजिये—गौवें रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं, यह भेद दृष्टि है। इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है। अब यह दृष्टि छोड दें और "गौ-पन"(गोत्व) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौवें एक गोजातीमें मिल जाती हैं, जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है। अब ग्रामीण पशुओं में गौ, बैल, घोडी, घोडा, बकरी, मेंडी, गधा, गधी आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किसी को भी शंका नहीं हो सकती। परंतु यह सब जाति भेदकी भिन्नता 'पशुत्व" सामान्य में, अर्थात् ये सब "पशु" हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे लुप्त हो जाती है और पशुभावमें सब एक दिखाई देते हैं। पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु "प्राणी" होनेके कारण दोनोंकी एकता "प्राणी" भावमें होती है। इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किस दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किस दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये। चतुर्थ मंत्र कहता है कि "विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकारसे एक रूपता है" और इस एकरूपताका ही विचार करना चाहिये। अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब मिलकर एकही है। विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शास्त्रकी दृष्टि है। इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी (आत्माकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना शास्त्रकी दृष्टिसे देखना होता है। इंद्रियोंकी भिन्नता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्यास से ही साध्य हो

करता है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न तैंतीस देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह ओत प्रोत हुई है, इस दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महात्मा मुक्तिके अधिकारी हैं, इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः
तान् अग्रे प्रमुमोक्तु ॥ (मं० ४)

" प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महात्माओंको पहले मुक्त करे " जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है। इस रीतिसे इस सूक्तने मनुष्य की आत्मिक उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है। यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको बडा बोध प्राप्त हो सकता है। सुबोधताके लिये यहां संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं—

१ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इकट्ठा करके अपने आधीन करे। इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रकाशके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्तिभी होगी। (मं० ५)

२ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टि और शोभा बढाता है। (मं० १)

३ प्राणको वशमें करनेसे विश्वचालक सूर्यादि देवोंसे बडी वीर्यकी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार किया हुआ भोजन करना योग्य है। (मं० २)

४ जो अपने मनसे और आंखसे दीनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं० ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं० ४)

यह सारांशसे इस सूक्तका तात्पर्य है। पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं।

पशु ।

पशु वाचक शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बडाही महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। यहां पशु शब्दसे गाय घोडे आदि पशु ऐसा अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है। जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है, तब तक यह पशुही रहता है। जितने प्रमाणसे इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा। मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रि-

मन सारथी है और इंद्रियरूपी दस घोडे जोते हैं।
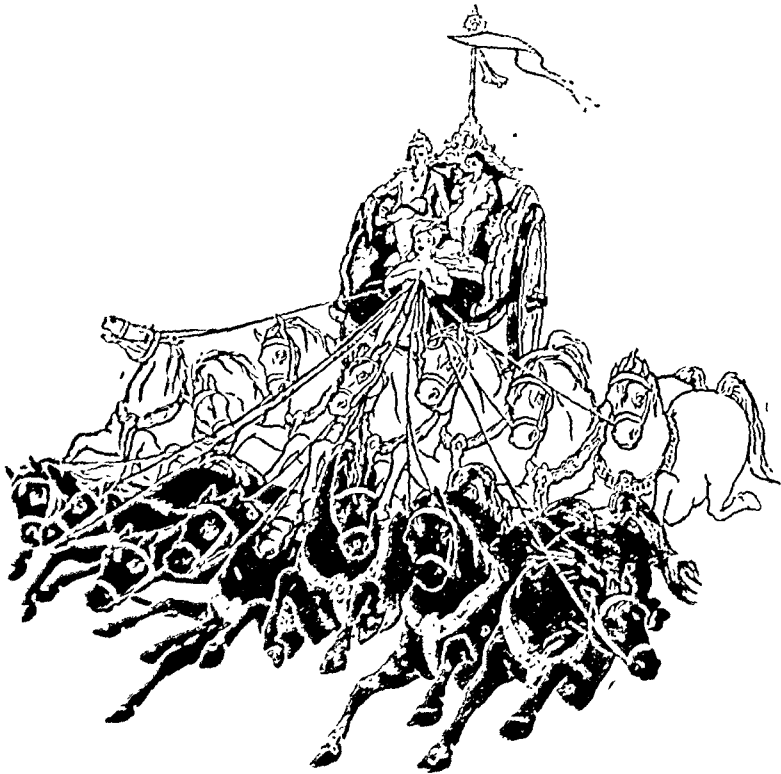
शरीर रूपी रथमें आत्मा और बुद्धि बैठी हैं।

यां पशुरूप ही हैं। इस शरीर रूपी रथको ये इतने पशु जोते हैं। इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है। इस लिये इन पशुओंको स्वाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव हैं। इन सब पशुओंको सुशिक्षासे वश करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशीलत्व) का विकास करना चाहिये। मनुष्य बनने का प्रारंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है। इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करें।

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

[३५]

(ऋषिः— अङ्गिराः। देवता— विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥ १ ॥
यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥
अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥
घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्यस्मान् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ— (ये भक्षयन्तः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) अच्छी बातोंकी वृद्धि नहीं करते, तथा (यान् धिष्ण्याः अग्नयः) जिनके संबंधमें बुद्धिके अग्नि (अन्वतप्यन्त) पश्चात्ताप करते हैं, (तेषां या अवया दुरिष्टिः) उनकी जो अवनति कारक सदोष इष्टिकी पद्धति है (विश्वकर्मा तां नः स्विष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव उसको हमारे लिये उत्तम इष्टि बनावे ॥ १ ॥ (प्रजाः अनुतप्यमानं) प्रजाओंके संबंधमें पश्चात्ताप करनेवाले (यज्ञपतिं ऋषयः एनसा निर्भक्तं आहुः) यज्ञके पतिको ऋषि पापसे पृथक् कहते हैं। (यान् मथव्यान् स्तोकान् अप रराध) जिन मथने योग्य रसकणोंको समर्पित करता रहा, (विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु)

विश्व की रचना करनेवाला उन के साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥ (सोमपान् अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान-यज्ञ-करनेवालों को दान देने अयोग्य समझने वाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है। (एषः बद्धः यत् एनः चकृवान्) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रचयिता ! (तं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कल्याणके लिये खुला कर दो ॥ ३ ॥ (ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बडे तेजस्वी होते हैं, (एभ्यः नमः अस्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यत् एषां चक्षुः मनः च सत्यं) क्यों कि इनका आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है। हे (महिष विश्वकर्मन्) विश्वके बलवान् रचयिता ! (बृहस्पतये द्युमत् नमः) ज्ञान पतिके लिये व्यक्त नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥ (यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आंख, भरणकर्ता और मुखके समान है उसको (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूं। (सुमनस्यमानाः देवाः) उत्तम मनवाले देव (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयन्तु) विश्वके कर्ताद्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आजांय ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अन्न खाते हुए भी श्रेष्ठ कर्तव्योंको नहीं करते, जिसके कारण उनकी बुद्धियोंके अंदर रहने वाले अग्नि भी बडा पश्चात्ताप करते हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जांय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥ १ ॥ दुखी प्रजाजनों के संबंध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको निष्पाप समझते हैं, जो सोम का मन्थन करके याग करता है उनके साथ विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुड जाय ॥ २ ॥ जो यज्ञ करने वाले ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये अयोग्य समझता है, न उसको यज्ञका तत्त्व समझा होता है और न वह समयपर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है। यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्ता ही उसे छुडावे और उसका कल्याण करे ॥ ३ ॥ ऋषि बडे तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्यों कि उनके मनमें और आंखमें सत्य चमकता रहता है। उस ज्ञानी के लिये हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्ति-

मान विश्वके कर्ता! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिये हम नमन करते हैं॥ ४॥ मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आत्मार्पण करता हूं क्योंकि विश्वकर्ताने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं॥ ५॥

अयाजकोंकी निन्दा।

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निंदा की है। कहा है कि—"जो अन्न खाते हुए भी यज्ञ जैसे सत्कर्मोंको करनेकी रुची नहीं रखते, अन्य सत्कर्म भी नहीं करते, सद्भावना भी नहीं फैलाते" (मं० १) उनकी सद्गति कैसी होगी? मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारके अग्नि हैं, वे सत्कर्म, सद्भावना और सद्विचारके अभाव के कारण, इसकी बुद्धिमें बसनेके कारण पश्चात्ताप करते हैं। क्योंकि दुष्ट मार्गमें यह मनुष्य सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि शक्तियोंका विकास नहीं होता। " धिषणा " शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेवाला " धिष्ण्यः अग्निः " है। हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है। ऐसा मनुष्य जो दुष्कर्म करता है, उससे उसको परमात्मा ही बचावे और यह सुधरकर प्रशस्ततम यज्ञकर्ममें रत हो जावे (मं० १)। यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। परंतु " जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिये पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व और न उसको समय का महत्त्व समझा होता है। यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पाप से बचावे और सन्मार्ग पर चलावे। (मंत्र० ३)"

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है।

याजकोंकी प्रशंसा।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है। "जो दीन और दुखी प्रजाकी ओर अनुताप की भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे।" (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है।

ऋषियोंकी प्रशंसा।

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है — " ऋषि बडे तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आंखमें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिये नमस्कार है। " (मं० ४)

इस वर्णनमें (घोरा ऋषयः) ऋषियोंके लिये "घोर" यह विशेषण आया है। इसका अर्थ " उग्र " (Sublime) श्रेष्ठ उन्नत ऐसा होता है। ऋषि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि " उनके मनमें और आंखमें सदा सत्य रहता है। " वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई। परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि " जिसके मनमें और आंखमें ओत प्रोत सत्य बसेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उग्र बनेगा; " उग्र होनेका यह उपाय है। सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विश्वकर्ता की पूजा।

इस सूक्तकी देवता "विश्वकर्मा" है। विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। "इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रशस्ततम सत्कर्मका प्रारंभ किया है।" (मं० ५) इस प्रभुने आत्मसमर्पण करके संपूर्ण जीवोंकी भलाईके लिये विश्वरूपी महान् यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्यान्य महात्माओंने भी विविध यत्न करना प्रारंभ किया। इस लिये ऐसे " विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, वह हम सबकी रक्षा करे।" (मं० ४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्य मात्रके लिये योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त यज्ञमें आत्म समर्पण करनेका उपदेश दे रहा है। यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यको कहता है कि—

वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि। (मं० ५)

"वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूं।" यज्ञमें आत्म समर्पण करनेकी तैयारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करनेके समय पीछे न हटे। क्योंकि इस प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है।

[३६]

(ऋषिः— पतिवेदनः । देवता-अग्नीषोमौ)

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न ।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥
सोम॑जुष्टं॒ ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि॑ पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥
इ॒यम॑ग्ने॒ नारी॒ पतिं॑ विदेष्ट॒ सोमो॒ हि राजा॑ सु॒भगां॑ कृ॒णोति॑ ।
सुवा॑ना पु॒त्रान्महि॑षी भवाति ग॒त्वा पतिं॑ सु॒भगा॒ वि रा॑जतु ॥ ३ ॥
यथा॑ख॒रो म॑घव॒ंश्चारु॑रे॒ष प्रि॒यो मृ॒गाणां॑ सु॒षदा॑ ब॒भूव॑ ।
ए॒वा भग॑स्य जु॒ष्टेयम॑स्तु॒ नारी॒ संप्रि॑या॒ पत्यावि॑राधयन्ती ॥ ४ ॥
भग॑स्य॒ नाव॒मा रो॑ह पू॒र्णामनु॑पदस्वतीम् ।
तयो॑प॒प्रता॑रय॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्यः॑ ॥ ५ ॥
आ क्र॑न्दय धनपते व॒रमाम॑नसं कृणु ।
सर्वं॑ प्रदक्षि॒णं कृ॑णु॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्यः॑ ॥ ६ ॥
इ॒दं हिर॑ण्यं॒ गुल्गु॑ल्व॒यमौ॒क्षो अथो॒ भगः॑ ।
ए॒ते पति॑भ्य॒स्त्वाम॑दुः प्रतिका॒माय॒ वेत्त॑वे ॥ ७ ॥
आ ते॑ नयतु सवि॒ता न॑यतु॒ पति॒र्यः प्र॑तिका॒म्यः॑ ।
त्वम॑स्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ-हे अग्ने ! (भगेन सह) धनके साथ (सं-भलः) उत्तम वक्ता पति (इमां नः नः सुमतिं कुमारीं) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको

(आ गमेत्) प्राप्त होवे । (अस्यै पत्या सौभगं अस्तु) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या (वरेषु जुष्टा, समनेषु वल्गु) श्रेष्ठोंमें प्रिय और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ॥ १ ॥ (सोमजुष्टं) सोम द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, (अर्यम्णा संभृतं भगं) श्रेष्ठ मनवालेसे इकट्ठा किया हुआ धन (धातुः देवस्य सत्येन) धारक देवके सत्य नियमसे (पति-वेदनं कृणोमि) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हूं॥ २ ॥ हे अग्ने ! (इयं नारी पतिं विदेष्ट) यह स्त्री पतिको प्राप्त करे । (हि सोमः राजा सुभगां कृणोति) क्यों कि सोमराजा इसको सौभाग्यवती करता है। यह (पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे । यह (सुभगा पतिं गत्वा विराजतु) सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥ ३ ॥ हे(मघवन्) इन्द्र ! (यथा एव आखरः) जैसा यह गुहाका स्थान (मृगाणां प्रियः सुपदाः बभूव) पशुओंके लिये प्रिय और बैठने योग्य स्थान होता है (एवा) ऐसेही (पत्या अ-विराधयन्ती) पतिसे विरोध न करती हुई और (भगस्य जुष्टा इयं नारी) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये (सं प्रिया) उत्तम प्रिय (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥ हे स्त्री ! (पूर्णां अनुप+दस्वतीं) पूर्ण और अटूट (भगस्य नावं आरोह) ऐश्वर्य की इस नौकापर चढ और (तया उपप्रतारय) उससे उसके पास तैर कर जा कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥ ५ ॥ हे धनपते ! (वरं आक्रन्दय) अपने वर को बुला और (आ-मनसं कृणु) अपने मनके अनुकूल वार्तालाप कर । (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब उसके दहिनी ओर कर कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥ ६ ॥ (इदं गुल्गुलु हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, (अयं औक्षः) यह बैल है और (अथो भगः) यह धन है । (एते त्वां पतिकामाय वेत्तवे) ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे लाभ के लिये (पतिभ्यः अदुः) पतिको देते हैं ॥ ७ ॥ (सविता ते आ नयतु) सविता तुझे चलावे। (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो कामना करने योग्य पति है वह (नयतु) तुझे ले जावे । हे औषधे ! (त्वं अस्यै धेहि) तू इसके लिये धारण कर ॥८॥

भावार्थ—जिसने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे । यह हमारी कन्या श्रेष्ठोंको

प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इसलिये इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥ १ ॥ सौम्यता, ज्ञान और श्रेष्ठ मन द्वारा संगृहित और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥ २ ॥ यह स्त्री पतिको प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे; यह स्त्री घरमें रानीके समान बन कर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥ यह स्त्री पतिसे कभी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे शोभित होती हुई सबको प्रिय होवे ॥ ४ ॥ स्त्री इस गृहस्थाश्रम रूपी पूर्ण और सुदृढ नौका पर चढे और अपने प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥ जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुलाकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल वार्तालाप करके उसके साथ सन्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥ यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है। यह सब पतिको देते हैं इस लिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥ ७ ॥ सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले। औषधियोंसे तुझको पुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

वरकी योग्यता।

विवाहका कार्य अत्यंत मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य हैं, वे भी मंगल भावना से करना उचित हैं। विवाहके मंगल कार्यमें वर और वधु का सबसे प्रधान स्थान होता है। इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे। वरके विषयमें इस सूक्तमें निम्न लिखित बातें कहीं हैं—

१ संभलः=(सं+भलः) उत्तम प्रकार व्याख्यान करनेवाला।(मं० १) जो किसी विषयका उत्तम प्रतिपादन करता है। विशेष विद्वान्।

यह शब्द वरकी विद्वत्ता बता रहा है। वर विद्वान हो, शास्त्रका ज्ञाता हो, चतुर और सन्मान्य विद्वान हो। केवल विद्वत्ता होनेसे पर्याप्त नहीं है, कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये, इस विषयमें कहा है—

२ भगेन सह कुमारीं आगमेत्—धनके साथ आकर कन्याको प्राप्त करे (मं० १)। अर्थात् पहले धन कमावे और पश्चात् कन्याको प्राप्त करे, विवाह करे। धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्यों कि विवाह होनेके पश्चात् कुटुंबका परिवार पडेगा, इसलिये उसके पोषण करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये।

अथर्ववेद द्वितीय काण्ड का

थोडासा मनन।

गणविभाग।

अथर्ववेदके इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त, ६ अनुवाक और २०७ मंत्र हैं। प्रथम काण्डमें ३५ सूक्त, ६ अनुवाक और १५३ मंत्र थे। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इस द्वितीय काण्डमें ५४ मंत्र अधिक हैं। इसमें गणोंके विचारसे सूक्तोंके ऐसे विभाग होते हैं-

१ शांतिगण- इस द्वितीय काण्डमें शान्तिगणके निम्न लिखित सूक्त हैं-२, ५-७, ११, १४ ये छः सूक्त शांति गणके हैं। इनमें ७ वाँ सूक्त भार्गवी शांति, ११ वाँ सूक्त बार्हस्पत्या महाशांति और १४ वाँ सूक्त बृहच्छान्ति के प्रकरण बता रहे हैं। अन्य सूक्त सामान्यतया "महाशान्ति" का विषय बताते हैं।

२ तक्मनाशन गण— सूक्त ८—१० ये तीन सूक्त इस गणके हैं।

३ आयुष्यगण— सूक्त १५, १७, २८, ३३ ये सूक्त आयुष्य गणके हैं। इनमें ३३ वाँ सूक्त आयुष्यगणका होते हुए भी "पुरुषमेध" प्रकरणमें समाविष्ट है। पाठक यहां इस सूक्तका विषय देखकर पुरुषमेधके वास्तविक स्वरूपका भी विचार कर सकते हैं। ३३ वाँ सूक्त "यक्ष्म नाशन" अर्थात रोगको दूर करनेका विषय बताता है। मनुष्यके संपूर्ण शरीरके अवयवों से सब प्रकारके रोग दूर करनेका विषय इस सूक्तमें है और इस कारण यह सूक्त "पुरुषमेध" प्रकरणके अन्दर आगया है। जो लोग समझते हैं कि पुरुषमेध, नरमेध, आदि मेधोंमें मनुष्यादि प्राणियोंका वध होता है, वे इस सूक्तके विचारसे जान सकते हैं कि मेधमें मनुष्यादि प्राणियोंके वधकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत पुरुषमेध प्रकरणमें मनुष्य के संपूर्ण रोग दूर करके उसको उत्तम आरोग्य देनेका विचार प्रमुख स्थान रखता है। यदि पाठक यह बात इस सूक्तके विचार से जानेंगे तो उनको न केवल पुरुषमेध प्रकरण प्रत्युत गोमेध आदि प्रकरण भी इसी प्रकार गौ आदिकोंके स्वास्थ्य साधनके प्रकरण होनेके विषयमें सन्देह नहीं रहेगा। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें।

४ अपराजित गण— २७ वाँ सूक्त अपराजित गणका है।

पाठक इन गणोंके इन सूक्तोंका विचार प्रथम काण्डके इन गणोंके सूक्तोंके साथ करें

और एक विषयके सूक्तोंका साथ साथ विचार करके अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करें।

विषय-विभाग।

द्वितीय काण्डमें प्रथम काण्डके समान ही बडे महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इनके विभाग निम्न लिखित प्रकार हैं—

१ अध्यात्मविद्या— इस द्वितीय काण्डमें आत्मविद्याके साथ संबंध रखनेवाले आठ सूक्त हैं। प्रथम सूक्त में "गुह्य अध्यात्मविद्या" का अत्यंत उत्तम वर्णन है। द्वितीय काण्डके प्रारंभमें ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त आया है। पढते पढते मन अध्यात्मरसमें मग्न होता है और इसके मननसे जो आनंद होता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। यदि पाठक इसको कंठ करके प्रतिदिन ईश्वर उपासनाके समय इस का मननपूर्वक पाठ करेंगे, तो पाठक भी इससे वैसाही आनंद प्राप्त कर सकते हैं। द्वितीय सूक्तमें "एक पूजनीय ईश्वर" का गुणगान है। यह विषयभी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाला है। १६ वें सूक्तमें "विश्वम्भरकी भक्ति" करनेकी सूचना है। इस भक्तिसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है। इस के अतिरिक्त क्रमशः निम्न लिखित सूक्त इस अध्यात्म प्रकरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

सूक्त		विषय
११ वाँ सूक्त	...	आत्माके गुण,
१२ ,,	...	मन का बल बढाना,
१७,१८ ,,	...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४ ,,	...	मुक्तिका सीधा मार्ग,
१५ ,,	...	निर्भय जीवन,
३५ ,,	...	यज्ञमें आत्मसमर्पण।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अध्यात्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आगये हैं। प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें मुख्यतया विशेष प्रतिपादन किया है। पाठक इस लिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है; इस लिये पाठक इस विषयकी ओर उदासीनतासे न देखें।

सू० १२ "मानसिक बल बढाना," और सू० १५ "निर्भय जीवन" ये दो सूक्त अध्यात्म विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ

भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अध्यात्मविषयके साथ होनेसे ये यहां दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य— द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त " आरोग्य " विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त ४	...	जङ्गिड मणि से आरोग्य,
,, ८	....	क्षेत्रियरोग दूर करना,
,, ९	...	सन्धिवात " "
,, २५	...	पृश्निपर्णीसे आरोग्य,
,, ३३	...	यक्ष्म नाशन,
,, ३१, ३२	...	रोगोत्पादक क्रिमियोंको दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इकट्ठा विचार करेंगे, तो उनको आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भैषज्य विद्या का भी पता लग सकता है। चतुर्थ सूक्तमें " जङ्गिड मणि " धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अथर्व वेदकी विशेष विद्या है। जो वैद्य इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग " मणि " शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्य अर्थ करना चाहते हैं! यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विपर्यास करना किसीको भी उचित नहीं है। " मणि धारण विधि " यह शास्त्रीय उपाय है इस लिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेषकर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य प्राप्ति— पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्सा अथवा वैद्यशास्त्रका नाम " आयुर्वेद " है। इससे भी वैद्य शास्त्र का संबंध " दीर्घ आयुष्य " के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस काण्डमें निम्न लिखित हैं—

सूक्त २८	...	दीर्घायुष्य,
,, २९	...	दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इकट्ठे पढने योग्य हैं।

४ पुष्टि— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है। इस पुष्टिके साथ २६ वाँ "गोरस" का वर्णन करनेवाला सूक्त बडा संबंध रखता है। गोरससेही मनुष्योंकी पुष्टि होती है।

५ विवाह– पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है। इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	३०	....	पति और पत्नीका मेल,
,,	३६	...	विवाहका मंगल कार्य,
,,	१३	...	प्रथम वस्त्र परिधान।

इनमें सू० १३ "प्रथम वस्त्र परिधान" का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है। इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इकट्ठा करना योग्य है।

६ वर्णधर्म—वर्णधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं

सूक्त	६	....	ब्राह्मण धर्मका वर्णन
,,	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसीके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इकट्ठा ही होना योग्य है—

सूक्त	२७	....	विजय की प्राप्ति,
,,	२४	....	डाकुओंकी असफलता,
,,	१४	...	विपत्तियोंको हटाना,
,,	१०	...	दुर्गतिसे बचना।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः हैं—

सूक्त	७	...	शापको लौटा देना
१७,१८	,,१९–२३	....	शुद्धिकी विधि

३४ " का विषयानुसार विभाग है। जो पाठक वेदका अभ्यास मननपूर्वक

१५ " प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके

९ " ते जायगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे।

; और पूर्वोक्त

विशेष द्रष्टव्य।

आगये हैं। प्र

निर्भय जीवन।

किया है। पाठ

करें। अथर्वसं द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर

से न देखें खींचना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकारका विषय

ल वढानामसे आया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन

तिरिक्त स्वतंत्र

भयही मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरपोक मनुष्यको आनंद कहांसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् भय और आनंद कदापि इकट्ठे नहीं रह सकते। मनुष्य तो आनंदप्राप्तिके लिये यत्न करने वाला प्राणी है, इसलिये उसको अपने अंदरकी भयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नहीं हो सकता। इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि "निर्भय होनेके कारण सूर्य क्षीण नहीं होता" इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य-पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नहीं होगा, इतना ही नहीं, प्रत्युत बढता जायगा। शरीरकी पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है। निर्भयता के विना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती। चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्य को करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिये सबसे प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है। पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढावें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर संदेश जान सकते हैं।

शुद्धिकरण।

इसी प्रकार "शुद्धिकरण विधि" का अत्यंत महत्त्व है। सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं। इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्योक्ति अलंकार की अपूर्व झलक यहां पाठक देख सकते हैं। वैदिक उपदेश में "अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप" ये पांच देवताएं कितना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है। वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अमृत देते हैं।

बाह्य देवताओंके अंशावतार अपने शरीरमें कहां और कैसे हैं और उनका बाह्य जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं। अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें

२ विवाह— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है। इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	३०	....	पति और पत्नीका मेल,
"	३६	...	विवाहका मंगल कार्य,
"	१३	...	प्रथम वस्त्र परिधान।

इनमें सू० १३ " प्रथम वस्त्र परिधान " का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है। इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इकट्ठा करना योग्य है।

३ वर्णधर्म—वर्णधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं

सूक्त	३	....	ब्राह्मण धर्मका वर्णन
"	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसीके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इकट्ठा ही होना योग्य है—

सूक्त	२७	....	विजय की प्राप्ति,
"	२४	....	डाकुओंकी असफलता,
"	१४	...	विपत्तियोंको हटाना,
"	१०	...	दुर्गतिसे बचना।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः हैं—

सूक्त	७	...	शापको लौटा देना
"	१९-२३	....	शुद्धिकी विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंके विषयानुसार विभाग है। जो पाठक वेदका अभ्यास मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे।

विशेष द्रष्टव्य ।

निर्भय जीवन ।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में " निर्भय जीवन " नामसे आया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन पूर्वक देखें।

भयही मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरपोक मनुष्यको आनंद कहांसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् भय और आनंद कदापि इकट्ठे नहीं रह सकते । मनुष्य तो आनंदप्राप्तिके लिये यत्न करने वाला प्राणी है, इसलिये उसको अपने अंदरकी भयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नहीं हो सकता । इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि "निर्भय होनेके कारण सूर्य क्षीण नहीं होता " इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य-पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नहीं होगा, इतना ही नहीं, प्रत्युत बढता जायगा । शरीरकी पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है । निर्भयता के विना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती । चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्य को करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिये सबसे प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है । पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढावें और अपनी उन्नतिका साधन करें ।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर संदेश जान सकते हैं ।

शुद्धिकरण ।

इसी प्रकार " शुद्धिकरण विधि" का अत्यंत महत्त्व है । सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं । इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्योक्ति अलंकार की अपूर्व झलक यहां पाठक देख सकते हैं । वैदिक उपदेश में " अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप" ये पांच देवताएं कितना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है । वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अमृत देते हैं ।

बाह्य देवताओंके अंशावतार अपने शरीरमें कहां और कैसे हैं और उनका बाह्य जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं । अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें

आना अत्यंत आवश्यक है। इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिका थोडासा आविष्कार किया है। जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिको समझ सकते हैं।

मुक्तिका सीधा मार्ग।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें इस मुक्तिके सीधे और सरल मार्गका उपदेश हुआ है। मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्ष शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्य ग्रंथों में कहीं भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें कही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है।

" दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना " यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्य को मुक्तिधाम तक ले जाता है। परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है। परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होने के कारण वे दूसरोंसे सेवा अपने अधिकार से ही ले सकते है। परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है? वे तो दुःखमें सडते ही रहते हैं। दीन जनोंको जो अपने परिवारमें देखता है, नहीं नहीं, जो दीन जनोंको अपना ही समझता है, और अपना सुख देखनेके समान भावसे जो दीनोंको सुखी करनेका विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है। जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वहीं रहता है। किसी दीन मनुष्य को दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा तडफडता रहता है वही मुक्तिका अधिकारी है। निराश्रित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिये ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है। ... यहां वेदकी अपूर्वता देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम ... प्राप्त करें।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथर्ववेदका

द्वितीय काण्ड समाप्त।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

तृतीयं काण्डम्

लेखक और प्रकाशक.
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८५, शक १८५०, सन १९२८

अपने राष्ट्रका विजय !

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

" मैं इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूं, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूं ॥ २ ॥ हमारे शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं वे नीचे गिर जांय ॥ ३ ॥ मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूं, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढाता हूं, इनका क्षात्रतेज अजर और विजयी हो, इन के चित्त को सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥ "

मुद्रक तथा प्रकाशक — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडळ, औंध (जि. सातारा)

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।]

तृतीय काण्ड।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ " अग्नि " शब्दसे हुआ है । यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है । अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवता का कार्य है । प्रकाश मनुष्य का सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है । प्रकाशमें मनुष्य बढता है और अंधेरेमें घटता है । इस लिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगलकारक समझा जाता है । ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है ।

जिस प्रकार प्रथम कांड में चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्ड में पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले	१३	सूक्त	हैं,	इनकी	मंत्रसंख्या	७८	है,
७ ,,	६	,,	,,	,,	,,	४२	,,
८ ,,	६	,,	,,	,,	,,	४८	,,
९ ,,	२	,,	,,	,,	,,	१८	,,
१० ,,	२	,,	,,	,,	,,	२०	,,
११ मंत्रवाला	१	सूक्त	है	इसकी	,,	११	,,
१३ ,,	१	,,	,,	,,	,,	१३	,,
कुल सूक्तसंख्या	३१				कुल मंत्रसंख्या	२३०	

प्रथम, द्वितीय, और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्या की दृ

काण्ड,	प्रपाठक	अनुवाक	सूक्त	काण्डप्रकृति
१	२	६	३५	सूक्तमें ४ मंत्र
२	२	६	३६	" ५ "
३	२	६	३१	" ६ "

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रक्राति होती है, जैसा प्रथ
सूक्तोंकी प्रक्राति "मंत्र चार" है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्
हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये ज
हैं, इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः
है, इस विषयमें अथर्व सर्वानुक्रमणी का कथन यह है—

वेनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः
पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर
काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वृगिति विजानीयात।
अथर्व बृ. सर्वानु. १।१३।१

अग्निर्नः इति ... षडृचं प्रकृतिरन्या विकृतिरिति विजा—
नीयात्।
अथर्व बृ० सर्वानु. २।१।१

"पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रक्राति, द्वितीय काण्ड की पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रक्राति है, अन्य विकृति है।"

यद्यपि प्रथम द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रक्राति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रक्रातिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व-बृहत्सर्वानुक्रमणिकारने विकृति नाम दिया है। विकृति का अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेपता (विशेष कृति) है। यह विशेपता कई प्रकारकी होती है और विशेप रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्त को देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र हैं, अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि "एवाहं त्वा ०-० स्ताम्।" यह मंत्र भाग इस सूक्तमें वारंवार आगया है। यदि यह वारंवार आया हुआ मंत्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्र के साथ

ही रखा जाय और शेष मंत्र भागोंके दो दो चरणोंके मंत्र माने जांय तो केवल पांच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है। इसी प्रकार कई अन्य रीतियां हैं कि जो अन्य सूक्तों को लग सकतीं हैं और विकृतिकी प्रकृति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृति में कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त.	मंत्रसंख्या	ऋषि.	देवता	छंद.
प्रथमोऽनुवाकः। प्रथमः प्रपाठकः।				
१	६	अथर्वा.	सेनामोहनं, बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २ विराड्गर्भा भूरिक्; ३, ६ अनुष्टुभ् ५ विराट्पुरउष्णिग्।
२	६	,,	,, ,,	त्रिष्टुप्; २—४ अनुष्टुभ्।
३	६	,,	अग्निः,नानादेवताः,	त्रिष्टुप्; ३च. भूरिक् पंक्तिः,५,६अनुष्टुभ्।
४	७	,,	इंद्रः	त्रिष्टुप्; १ जगती; ४, ५ भूरिक्
५	८	,,	सोमः	अनुष्टुप्; १पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्,८विराडुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	जगद्वीजं पुरुषः	वानस्पत्याश्वत्थ-देवत्यं	अनुष्टुभ्।
७	७	भृगुः अंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता.	,, ; ६ भुरिक्।
८	६	अथर्वा	मित्रः,विश्वेदेवाः.	त्रिष्टुभ्; २,६ जगती; ४ च. विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ्।
९	६	वामदेवः	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; ४ च. निचृद्बृहती: ६ भुरिक्।
१०	१२	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप्; ४,६, १२ त्रिष्टुप्; ७ज्य.प.विराड्गर्भातिजगती।
तृतीयोऽनुवाकः।				
११	८	ब्रह्मा भृगु-अंगिराः	इन्द्रः, अग्निः, आयुष्यं,यक्ष्मनाशनं,	त्रिष्टुप्; ४ शाक्वरीगर्भा जगती; ८ ज्य. प. बृहती-

८ उद्दालकः— २९ वाँ एक सूक्त।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं। अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये—

१ बहुदैवत्यं, नाना देवताः–१–३,७,१४,१६,२६,२७,ये आठ सूक्त।
२ विश्वेदेवाः— ८, ९, १५, १९, २२ ये पांच सूक्त।
३ अग्निः– ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त।
४ इन्द्रः– ४, ११, १९ ये तीन सूक्त।
५ चन्द्रमाः—१९, २३, ३० ये तीन सूक्त।
६ बृहस्पतिः—१६, २२ ये दो सूक्त।
७ रुद्रः—२६, २७ " "
८ वनस्पतिः—१८, २४ " "
९ यक्ष्म नाशनं—७, ११ " "
१० सेना मोहनं—१, २ " "
११ इन्द्राग्नी—१५ यह एक सूक्त।
१२ सोमः—५ " "
१३ वनस्पत्यश्वत्थः—६ " "
१४ मित्रः—८ " "
१५ द्यावापृथिवी—९ " "
१६ वरुणः—१३ " "
१७ प्रजापतिः—२४ " "
१८ मित्रावरुणौ—२५ " "
१९ भूमिः—२९ " "
२० अष्टका—१० " "
२१ सिंधुः—१३ " "
२२ आयुष्यं—११ " "
२३ वास्तोष्पतिः—१२ " "
२४ शाला—१२ " "
२५ गोष्ठः—१४ " "
२६ सीता—१७ " "
२७ योनिः—२३ " "

२८ कामेषुः—२५　यह एक सूक्त
२९ यामिनी—२८　,,　,,
३० कामः　२९　,,　,,
३१ सांमनस्यं—३०　,,　,,
३२ पाप्म-हा—३१　,,　,,
३३ शितिपादविः—२९　,,　,,
३४ मंत्रोक्ताः—२०　,,　,,

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएं हैं। इन से और भी देवताएं हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ जांयगे। अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये-

सूक्तोंके गण।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—
१ अपराजितगण – १९ वाँ सूक्त।
२ तक्मनाशनगण – ७, ११ ये दो सूक्त।
३ वर्चस्यगण – १६, २२　,,　,,
४ आयुष्यगण – ८, ११　,,　,,
५ रौद्रगण – २६, २७　,,　,,
६ अंहोलिंगगण – ११ वाँ एक सूक्त।
७ पाप्म-हा-गण – ३१　,,　,,
८ बृहच्छान्तिगण – ३१　,,　,,

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं। इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता। इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शांतियां सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं –

१ आंगिरसी महाशान्ति – ५, ६ ये दो सूक्त।
२ कौमारी　,,　७ वाँ एक सूक्त।
३ ब्राह्मी　,,　२२ ,,　,,

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है। इस लिये अध्ययन करनेके समय पाठक इस बातका विचार करें। खोज करने वालोंको उचित है कि वे इस शांति प्रकरण की खोज करें अर्थात् इन शांतियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है। संभव है कि इस खोजसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा। इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहन का विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सांमनस्य अर्थात् एकता का विषय तीसवें सूक्तमें आया है। -

शत्रुसेनासंमोहनं— १, २ ये दो सूक्त।
सांमनस्यं—३० वाँ एक सूक्त।

ये सूक्त विशेष विचार पूर्वक इस दृष्टिसे पढने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वां "इन्द्र महोत्सव" के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशीतकी सूत्रमें कहा है। इसलिये इस इन्द्र महोत्सव के विषयमें भी विचार होना चाहिये।

ये सब विषय बडे गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरता के साथ करेंगे। इतनी भूमिका के साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है—

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।
तृतीय काण्ड ।
शत्रुसेना का संमोहन ।

(१)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, बहुदेवत्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥
अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥
प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥
इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अग्निसमान तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अरातिं) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रून् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढाई करे । (सः जातवेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे (च निर्हस्तान् कृणवत्) और उनको हस्तरहित करे ॥ १ ॥ हे (मर्+उतः) मरनेके लिये तैयार वीरो ! (ईदृशे यूयं उग्राः स्थ) ऐसे समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये (अभि-प्र-इत, मृणत, सहध्वम्) आगे बढो, काटो, और जीत लो।

(इमे नाथिताः वसवः) ये बलवान् वसनेवाले वीर (अमीमृणन्) काटते रहे हैं। (एषां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका दाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढाई करे ॥ २ ॥ हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा (च अग्निः) हे ज्ञानी! (युवं) तुम दोनों मिलकर (अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रु-सेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३॥ हे (इन्द्र) नरेन्द्र! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसूतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) सन्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको (जहि) हनन कर दे और (एषां चित्तं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥ हे (इन्द्र) नरेश! (अमित्राणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको घबराओ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्निके और वायुके प्रचंड वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकों को (विषूचः विनाशय) चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥ (इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, (मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर (ओजसा घ्नन्तु) वेगसे हनन करें। (अग्निः चक्षूंषि आदत्तां) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आंखोंको लेलेवे। इस प्रकार शत्रुकी (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढाई करें। सेनासंमोहन की विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्त-हीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥ हे मरनेके लिये सिद्ध हुए शूरवीरो! ऐसे युद्ध समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये आगे बढो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो। ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं; इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढाई करे ॥ २ ॥ हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर! तुम दोनों मि-लकर हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥ हे नरेश! वेगसे चलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय

शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। संमुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जांय॥४॥ हे नरेश! अग्न्यस्त्र के दाहसे और वायव्यास्त्रके वेगसे शत्रु सेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जांय और इस रीतिसे उनका नाश कर ॥५॥ नरेश शत्रुके सैन्यको घबरावे, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रु-सेनाकी ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछभी न दीख पडे और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे॥६॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे। द्वितीय सूक्त यह है—

[२]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — सेनामोहनं, बहुदैवत्यम्।)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥
इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥
व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥
अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ—(नः दूतः विद्वान् अग्निः) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अभिशस्तिं अरातिं प्रतिदहन्) घात पात करनेवाले शत्रुको जलाता

हुआ (प्रत्येतु) चढाई करे। (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्तान् च कृणवत्) हस्त हीन जैसे करे ॥ १ ॥ (यानि वः हृदि) जो तुम्हारे हृदय में संबंधित हैं वे (चित्तानि) चित्त (अयं अग्निः अमूमुहत) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है। वह (वः ओकसः विधमतु) तुमको-शत्रुको-घरसे निकाल देवे और (वः सर्वतः प्रधमतु) तुमको-शत्रुको-सर्व प्रदेशसे हटा देवे ॥ २ ॥ हे (इन्द्र) नरेश ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकूत्या अर्वाङ् चर) शुभसंकल्पसे हमारे पास आ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विषूचः विनाशय) उनको चारों ओरसे नष्ट भ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥ हे (एषां) इन शत्रुओंके (आकूतयः) संकल्पो ! (वि) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और इनके चित्तो ! (मुह्यत) मोहित होओ। (अथो अद्य) और आज (यत् एषां हृदि) जो इनके हृदयमें संकल्प है (एषां यत् परि निर्जहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर ॥ ४ ॥ हे (अप्वे) व्याधि ! (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तको मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (.अंगानि गृहाण) अवयवों को पकडे रखो और (परा इहि) परे तक चली जा। (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ। (हृत्सु शोकैः निर्दह) हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जलादे। तथा (ग्राह्या तमसा) जकडनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अमित्रान् शत्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको त्रस्त कर दे ॥ ५ ॥ हे मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! (परेषां असौ या सेना) शत्रुओंकी यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-आ-एति) स्पर्धा करती हुई हमपर वेगसे चढाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (एषां अन्यः अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥ ६ ॥

भावार्थ-- हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घातपात करने वाले शत्रुसेना पर चढाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवे ॥१॥ शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको घरोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे ॥ २ ॥ हे राजन् ! तू शत्रुसेना के चित्तोंको मोहित

कर, अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विजयपूर्ण शुभ संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥ शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हों,उनके दिलोंमें घबराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमें जो संकल्प आज हों वे संकल्प कलतकभी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥ व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दें, शत्रुसैनिकों के अंगप्रत्यंग व्याधियोंसे जकड जांय, शत्रुसैन्य रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे त्रस्त हो जाय। संधिवात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घबरा देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥ हे वीर पुरुषो! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढाई करके आरही है उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थ-हीन होकर मूर्च्छितसे हो जांय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरे को जानभी न सके ॥ ६ ॥

सेनाका संमोहन।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बतारहे हैं। जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करके आरही है, वह मोहित करके, घबराकर पराभूत करनी चाहिये और उनको भगा देना चाहिये। इसका नाम है " सेना-संमोहन "।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है। यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्य मूढ बन कर भागजाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतनेही विषयका यहां अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्द प्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है। इन सूक्तोंमें " अग्नि, इन्द्र, मरुत् " आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ दैवत प्रसंगमें अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अध्यात्म प्रसंगमें वाणी, मन, और प्राण लिये जाते हैं; इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आचुका है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना संमोहनका संबंध

है, अपनी सेना और शत्रुसेना का झगडा होनेका अवसर है, इस लिये यह न अध्यात्म का विषय है और ना ही आधिदैवत का विषय है। प्राणियोंके परस्परके संबंधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणि समष्टि विषय का प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणि-विषयक होते हैं अर्थात् यहां मनुष्यप्राणि विषयक भाव समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र।

(इन्+द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा—मृगेन्द्र= मृगोंका मुखिया, सिंह; खगेन्द्र=पक्षियोंका मुखिया गरुड; नरेन्द्र=मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इ०। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं, परंतु प्रायः लोग केवल " इन्द्र " शब्दका अर्थ " राजा " करनेके समय डरते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मननसे उनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दों का अर्थ लेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तों के कई वाक्य उदाहरण के लिये लेते हैं—

१ इन्द्र ! ते प्रसूतः वज्रः शत्रून् प्रमृणन् एतु।
प्रतीचः अनूचः जहि। एषां चित्तं विष्वक् कृणुहि ॥ (सू० १ मं० ४)
२ इन्द्र ! अमित्राणां सेनां मोहय।
अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषूचः तान् विनाशय ॥ (सू० १ मं० ५)
३ इन्द्रः सेनां मोहयतु ॥ (सू० १ मं० ६)
४ इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकूत्या अर्वाङ् चर ॥ (सू० २ मं० ३)

" (१) हे राजन् ! तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरके शत्रुओंका हनन कर। इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर॥ (२) हे राजन् ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर। अग्नि और वायु के प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगादे ॥ (३) राजा शत्रुसेनाको घबरा देवे ॥ (४) हे राजन् ! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ ॥ "

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहां "राजा, नरेन्द्र, सम्राट्" आदि प्रकारका ही इस शब्द का अर्थ है। यहां इन्द्र शब्द क्षात्रशिरोमणी वीर

राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमि में उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है । इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आगये हैं वे अब देखेंगे—

२ मघवन् ।

" (मघ) धन (वन्) वाला। जिसके पास धन है । जो राजा अपने पास बहुत धन-संग्रह रखता है वही युद्धमें विजय पासकता है । युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बडा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्ध का प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है । इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोश में होता है यह बात जानलें ।

३ वृत्रहन् ।

" (वृत्र) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इस प्रकार इन्द्र वाचक शब्द और उसके वर्णन परक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गंभीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आसकता है । इन्द्रके साथ " मरुत् " रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये–

४ मरुतः ।

(मर्+उत्) मरनेके लिये जो उठकर खडे हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है । इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बतारहा है । यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है । इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे उनका विजय निःसंदेह हो सकता है । इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदारण यहां देखिये–

१ हे मरुतः ! ईदृशो यूयं उग्राः स्थ । अभिप्रेत, मृणत,
सहध्वम् । (सू० १ मं. २)

२ मरुतः ओजसा घ्नन्तु । (सू० १ मं. ६)

३ हे मरुतः ! या असौ परेषां सेना स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति,

तां अपव्रतेन तमसा विध्यत, यथा एषां
अन्यः अन्यं न जानात् ॥ (सू० २ मं० ३)

(१) हे मरनेके लिये तैयार वीरो ! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बडे उग्र हो। इस लिये आगे चढो, काटो और वैरीको पराभूत करो ॥ (२) वीर लोग बलके साथ वैरीको काटें॥ (३) हे वीरो! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धावा कर रही है, उसको कर्महीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके ॥ "

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बतारहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर कैसा उग्र कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके क्षात्र तेजसे युक्त वीर पुरुषोंको बडा उत्साह आ सकता है। इसके नन्तर " वसवः " शब्द देखिये-

१ वसवः।

वसनेवालोंका नाम " वसु " है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे बसना चाहते है, शत्रुके हमले होने पर भी स्वयं अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे " वसु " होते हैं। इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है-

संवसव इति वो नामधेयं उग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ॥

अथर्व. ७। १०९। ६

" आपका नाम संवसु (संवसवः) है, आप देखनेके लिये अति उग्र हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अक्षाः) आंख ही हैं। " इस मंत्रमें वसु उग्र राष्ट्रभृत्य हैं ऐसा कहा है। इस लिये हम यहां इस सूक्तके प्रसंगमें " वसु " पदका अर्थ " उग्र राष्ट्रभृत्य " अर्थात् " शूरवीर राष्ट्रीय स्वयं सेवक " करते हैं। यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये-

इमे नाथिता वसवः अमीमृणन्।
एषां दूतः अग्निः विद्वान् प्रत्येतु। (सू० १ मं० २)

" ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत्य वैरीसेनाको काटते हैं। इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर चढाई करे। " इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहां का अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार " वसु " राष्ट्रभृत्य हैं, तो " अग्नि " भी वसुओंमें से एक राष्ट्रभृत्य अथवा राष्ट्रका दूत " है जो समय-ज्ञ है और बडा चतुर भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें। इन्द्र स्वयं सम्राट् अथवा राजा

है, वह स्वयंसेवक या राष्ट्रभृत्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रभृत्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है। ये विशेषणों द्वारा बताये भेद पाठक मनन पूर्वक देखें और सोचें। ये भेद ही वैदिक राज्य पद्धतिका स्वरूप स्पष्ट करदेते हैं। इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमें से एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं —

६ अग्निः।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं। यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेज प्रदान करता है। यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समयज्ञ है, कर्तव्य अकर्तव्य को ठीक प्रकार समझता है। यह (जात-वेदाः=जातं वेत्ति) बने हुए वस्तुस्थितिको यथावत् जाननेवाला है। पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रभृत्य (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूत की सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है।

अग्नि ब्राह्म तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय ये दोनों मिल जुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है। इस विषयका मंत्र देखिये—

हे वृत्रहन् इन्द्र! अग्निः च यूयं तान् प्रतिदहतम्। (सू० १ मं.३)

"हे वीर राजन्! तू और ज्ञानी राष्ट्रभृत्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो।" यहां मिल कर कार्य करनेका उपदेश है ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज इकट्ठा होकर वैरीका नाश करें। ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वारमें उपस्थित होवे और राष्ट्रके ये दोनों भाग आपसमें झगडते रहें। यह तो राष्ट्र घातकी अवस्था होगी, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको अपना अभेद्य ऐक्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये।

शत्रुको घबरानेकी रीति।

वैरीको घबराना, उसको मोहित करना, उसको भ्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे हैं। जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियां इससे पूर्व स्पष्टीकरणमें आचुकी हैं। अब कुछ विशेष बातोंका उल्लेख करना है जो यहां होंगे—

१ अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः वातस्य ध्राज्या तान् विनाशय ॥ सू० १ मं०५; सू० २ मं०२

" अग्नि के वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर । यहां ध्राजी शब्द है, अग्निका (ध्राजी) महावेग और वायुका महावेग, इनके धक्केसे शत्रुका नाश करना लिखा है। ध्राजी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतनाही नहीं है, जिस वेगके धक्केसे मनुष्य नष्टभ्रष्ट होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धक्केका आशय इस " ध्राजी " शब्द में है । इस लिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के " अग्नेः ध्राजी, वातस्य ध्राजी " ये दो शब्द क्रमशः अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र अथवा इसी प्रकारके शस्त्रास्त्र विशेषके वाचक होंगे । इसी स्पष्टीकरण में इससे पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परंतु वह अर्थ यहां नहीं है । एकही सूक्तमें एकही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहां स्मरण रखना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

२ तमसास्त्र— तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है—

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् । सू० २ मं० ६

" उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोग से विद्ध करो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिक को न पहचान सके । " इस मंत्रमें " अपव्रतं तमः " शब्दका प्रयोग है । तम शब्दका अर्थ " अंधकार " है । अपव्रतका अर्थ " कर्महीन " है । दोनोंका तात्पर्य " कर्महीन करनेवाला अंधेरा " है । इससे शत्रुसेनाको वेध करना है । वेध करनेके लिये शस्त्रास्त्रही चाहिये, अन्यथा वेध नहीं हो सकता । इस लिये इस मंत्रमें तमसास्त्र का उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दीख रहा है । अंधकारास्त्रके प्रयोगसे ही सैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे । इसी अर्थका एक मंत्रभाग प्रथम सूक्तमें है—

अग्निः चक्षूंषि आदत्ताम् । (सू० १ मं० ६)

"अग्नि शत्रुकी आंखें ले लेवे" इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोग का ही है क्योंकि यहां हरएक की आंखें निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न दीख पडे यही आशय है । तथा और देखिये—

अमित्रान् शत्रून् तमसा विध्य । (सू० २ मं० ५)

" शत्रुओंको अंधकारास्त्रसे विद्ध कर । " यहांका " विध्य " शब्द भी अस्त्र रूप तमको सूचित करता है । यह मंत्र अन्यत्र आगया है वह भी यहां देखिये—

अन्धेन तमसा अमित्रान् सचन्ताम् ।

ऋ० १०।१०३।१२ ; यजु० १७ । ४४; साम उ०९।३।५; निरु० ९।३३

तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानात् । यजु. १७।४७

"शत्रुओंको अन्धतमसे ढांप दो" इत्यादि मंत्र भागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा वेध करना असंभव है।

३ अप्वा, ग्राही— सूक्त २ मं० ५ में "अप्वा और ग्राही" इन दो रोगोंके द्वारा शत्रुके चित्तोंको मोहित करने अथवा उनको त्रस्त करनेका उल्लेख है। "ग्राही" शब्दका अर्थ संधिवात इसी अथर्ववेदमें इससे पूर्व अनेक वार आया है। यह अर्थ यदि यहां लिया तो संधिवात जैसे जकडनेवाले रोगद्वारा शत्रुको त्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है। अप्वा शब्दका अर्थ रोग व्याधि अथवा भय है। परंतु यह युद्ध प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है। यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि "ग्राही" शब्दका अर्थ "पाश" होना संभव है जिससे शत्रुको पकडा जाय और जकडकर बांधा जाय। "अप-वे" धातुसे यदि "अप्वा" शब्द बनाया जाय तो "वे" धातुका अर्थ "तन्तु-संतान" होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ "जाल अथवा जाला" होना संभव है। मंत्रमें—

अप्वे! परेहि; अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती
अङ्गानि गृहाण ॥ (सू० २ मं० ५)

"हे अप्वे! आगे बढ, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड रख।" यह अप्वा अस्त्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाला शत्रु पर फेंका जाता है, जिसमें पकडे जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते हैं और पश्चात् उन के शरीर पकड या जकडकर बांधे जाते हैं। इस मंत्रमें "परेहि, अंगानि गृहाण" आदि वर्णन यह 'अप्वा' कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा निश्चय करता है। अर्थात् "ग्राही और अप्वा" ये दोनों जालेके समान शत्रुको पकडनेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है। खोज करनेवाले पाठक इस विषयकी विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दें।

मंत्रोंकी समानता।

इन दोनों सूक्तों में मंत्रोंकी समानता है। दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोडे पाठ भेदसे करीब एक जैसाही है। प्रथम सूक्तका ५ वाँ मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ रा मंत्र करीब एक जैसा ही है। प्रथमार्धमें थोडा पाठभेद है। यह समानता पाठक अवश्य देखें।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे युद्ध विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठावेंगे।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना।

[३]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अग्निः, नानादेवताः)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥
अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥
ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

अर्थ-- (इह स्व-पाः भुवत्) यहां अपना रक्षण करने वाला मनुष्य होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकारकर कहा गया है। हे (अग्ने) अग्ने! (उरूची रोदसी व्यचस्व) विस्तृत द्यावा पृथिवीमें अपना तेज फैलाओ। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जानने वाले मरुत् तुझे योग्य बनावें। (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कार पूर्वक यहां ला ॥ १ ॥ (दूरे चित सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी (अरुषासः सख्याय आच्यावयन्तु) तेजस्वी लोक मित्रताकेलिये यहां ले आवें। (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्कं अस्मै दधृषत) गायत्री बृहती रूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥ (वरु-

णः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्वयतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु) सोम तुझे पर्वतों के लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे। (श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत) तू श्येन पक्षी के समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आजा ॥ ३ ॥ (अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलानेयोग्य राजाको (श्येनः परस्मात् आनयतु) श्येनवत् शीघ्रगामी दूसरे देशसे ले आवे । (अश्विनौ सुगं ते पन्थां कृणुतां) दोनों अश्विनी सुखसे जाने योग्य तेरा मार्ग बनावें । (सजाताः इमं अभि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥ (प्रातिजनाः त्वा ह्वयन्तु)प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावें । (मित्राः प्रति अवृषत) मित्र तेरा बल बढावें । (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विशि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोंमें तेरेलिये क्षेम धारण करें ॥ ५ ॥ हे (इन्द्र) नरेन्द्र! (यः सजातः) जो सजातयि है (च यः निष्ट्यः) और जो विजातीय है (ते हवं विवदत्) तेरे आदरणीयताके विषयमें विवाद करे, (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बहिष्कृत करके (अथ इमं इह अव गमय) पश्चात् इसको यहां लाओ ॥ ६)

भावार्थ-- इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकार कर सब आप्तपुरुषों ने कही है । मनुष्य अग्निवत् तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे । ऐसे अपने राजाको सब जाननेवाले वीर शक्तिमान करें और उसको नमन पूर्वक अपने राज्य गद्दीपर स्थापित करें ॥ १ ॥ राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें उत्तम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उत्तम सत्कार करें ॥ २ ॥ जल स्थानकी रक्षाके लिये जलाधिपति, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिपति किंवा मुखिया सम्राट्को बुलावें, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराजे॥ ३ ॥ राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठलाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥ मित्रजन उस राजाका

की सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ २ ॥ यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके पुनः आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ३ ॥

यहां तृतीय मंत्रका अर्थ और भावार्थ हुआ। इसी के साथ चतुर्थ सूक्तका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है इस लिये उसका अर्थ और भावार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

राजाका चुनाव ।

[४]

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—इन्द्रः)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशांपतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥
त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥
अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥
अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥ ४ ॥
आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि ॥ ५ ॥
इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः ॥ ६ ॥
पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उद्+इहि) तेजके साथ उदयको प्राप्त हो। (विशांपतिः

प्राङ् एकराट् त्वं विराज) प्रजाओंका स्वामी प्रमुख एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो। (सर्वाः प्रदिशः ह्वयन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह उपसद्यः नमस्यः भव) यहां पास पहुंचने योग्य और नमस्कार के लिये योग्य हो ॥ १ ॥ (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशायें (त्वां वृणतां) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके ऐश्वर्य मय उच्च स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र वीर बनकर (नः वसूनि वि भज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २॥ (हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सन्मान पूर्वक मिलें (अग्निः अजिरः दूतः संचरातै) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे। (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों। (उग्रः बहुं वलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥ ३ ॥ (अग्रे) आगे (अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनी मित्रावरुण सब देव और मरुत (त्वा त्वा ह्वयन्तु) तुझको बुलावें। (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर (ततः उग्रः नः वसूनि विभज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥ (परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहां आ। (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों द्यावा पृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होवें। (तथा अयं राजा वरुणः) वैसा ही यह वरुण राजा (तत् आह) यह कहता है (सः अयं त्वा अहृत्) वह यह तुझको बुलावे (सः इदं उप-आ-इहि) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५॥ हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे जा और (हि वरुणैः संविदानः) वरिष्ठोंसे मिल कर तू (सं अज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान सकता है। (सः अयं स्वे सधस्थे त्वा अहृत्) वह यह अपने घर तुझे बुलावे (सः देवान् यक्षत) वह देवोंका यज्ञ करे, और (स उ विशः कल्पयतात्) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥ (पथ्याः रेवतीः) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं। (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु) ये

सब एकमत होकर तुझे बुलावें पश्चात् तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश) यहां उग्र और उत्तम मन वाला होकर दसवीं दशक तक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ--हे राजन्! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपूजित हो ॥ १ ॥ सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही पसंद करें। तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपद पर आरुढ होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागसे बांट दे ॥ २ ॥ तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सन्मान पूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों देशोंमें संचार करें। तेरे राष्ट्रमें धर्मपत्नियां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों। तू शूरवीर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥ सब देवताएं तेरी सहायता करें। तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शूरवीर होकर हम सबमें योग्य विभाग से धन बांट दे ॥ ४ ॥ यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्रही वापस आ। सब देव तेरी सहायता करें। तू सदा अपने राष्ट्रमें हीं रह ॥ ५ ॥ तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंसे मिल कर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो। ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और वे यज्ञयाग भी करेंगे। इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥ प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो। बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहने पर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे। इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्ष तक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

पूर्व संबंध।

इस तृतीय काण्डके प्रारंभ के दो सूक्तोंमें युद्ध विषय है। शत्रुसेना के साथ युद्ध करके उसका पूर्ण पराभव करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। इस प्रकार

विजय प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समय के उत्सव के ये मंत्र हैं, अथवा इस विजयको प्राप्त करके राजा वापस आगया तो उस समय उसे करने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। तृतीय और चतुर्थ सूक्त विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि— " किसी समय शत्रु-सैन्य द्वारा परास्त हुआ राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होता है। ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकार संपन्न वीर राज्यक्रान्ति करनेका यत्न करें, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अपने पुराने राजाको लाकर बडे सन्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें। " यह भी उपदेश यहां दिखाई देता है। पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकार की रची हुई है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहा, देवोंने अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे असुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूंढा और पुनः इन्द्रपद पर स्थापित किया। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं। पाठक इन सब राजकीय घटनाओंको मनमें रखते हुए इन दो सूक्तोंका अभ्यास करें और मनन करें। ऐसा करनेसे ही इन सूक्तों द्वारा राजनीतिका बहुतसा उपदेश मिल सकता है।

आत्मरक्षा ।

तृतीय सूक्तने सबसे प्रथम आत्म रक्षाका बडा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है। यह संदेश हरएक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-पा भुवत् (इति) अचिक्रदत् ॥ (सू० ३ मं० १)

" यहां आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार कर कहा गया है।" इस जगत्में यदि मनुष्यको संमान से जीवित रहना है तो (स्वपाः) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है। यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसीही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है। जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढानेमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है। आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बडाभारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए हैं वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं। आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसी लिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात बारंबार पुकार पुकार कर कही है। जो

बात अत्यंत महत्त्वकी होती है वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है। इस कारण जो बात वेदने अनेक वार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्व पूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है । पाठक इस दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें ।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है । आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये—

अग्ने ! उरूची रोदसी व्यचस्व ॥ (सू० ३ मं० १)

"अग्निके समान तेजस्वी ! तू इस विशाल द्यावापृथिवीके अंदर फैल जाओ।" आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा उर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है। "अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं" अग्निकी ज्वलनकी गति उच्चगति है । उच्चगतिवाले सदा उन्नतही होते रहेंगे और अपना तेज फैलायेंगे और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे। आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है ॥ आत्मरक्षा करने वाले की गति तो अग्निके प्रचंड प्रकाश से बताई है । जिसको नित्य देखकर वैदिक धर्मी आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें । अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं ॥ (सू० १ मं० ४)

" दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है । " जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पडता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदिखानेमें सडता रहता है । यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है । यह परवशता का भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले ।

सौत्रामणी याग ।

" सौत्रामणी " नामक एक बडाभारी यज्ञ है । इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत् ।
तद्देवाः सौत्रामण्या समभरन् ॥ तै० सं० ५ । ६ । ३ । ४

"इन्द्रका वीर्य दस दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया।" अर्थात् इस सौत्रामणी याग का साध्य बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा करना है। "सु+त्रामन्" शब्द का अर्थ है (सु) उत्तम (त्रा-मन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति। यह जिससे प्राप्त होती है उसको "सौ-त्रा-मणी याग" कहते हैं। पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करने के लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है। अर्थात् सौत्रामणीयाग से संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है। इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञ के द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राज गद्दीपर लाते हैं, ऐसा कहा है-

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सख्याय अरुषासः आच्यावयन्तु।
(सू० ३ मं० २)

"राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहां लावें।" राज्यभ्रष्ट राजा जंगलों में या (अन्य-क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं। मं० ४) दूसरे देशमें छिप छिप कर रहता है उसको पुनः राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका सख्य पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो; और ज्ञानी इन्द्रही राजगद्दीपर बैठ जावे; इस लिये यह सब प्रयत्न है। यह सब प्रयत्न करने के लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अस्मै गायत्रीं बृहतीं अर्कं सौत्रामण्या दधृषन्त।
(सू० ३ मं. २)

"देव इस राजाके लिये गायत्री बृहती आदि रूप अर्चन सत्कार सौत्रामणी यागके द्वारा करते हैं।" राजगद्दीपर राजाको बिठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बडा सत्कार करते हैं। इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

वरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्वयतु।
सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु।
इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु॥ (सू० ३ मं. ३)
अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम्॥ (सू० ३ मं. ४)
प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु, मित्राः प्रति अवृषत॥ (सू० ३ मं. ५)

सजाताः इमं (राजानं) अभि-सं-विशध्वम् ॥ (सू० ३ मं ४)

"सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेश करावें।" राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयों के साथ ही आवे। वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय। स्वजातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय लोग किस समय धोखा देंगे इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सन्मान करता रहे। नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं। इस आत्मघातके वर्ताव का परिणाम उसको अंतमें बुरी तरह भोगना पडता है। इस लिये इस मंत्रभागने स्वजातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्त्व की है। जहां स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं वहां राजा विश्वाससे वेगपूर्वक जावे और अपना कार्य प्रारंभ करे; इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत ॥ (सू० ३ मं० ३)

" श्येन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पड " अर्थात् जहां प्रजाजनों के भद्र पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं वहां राजाको त्वराके साथ पहुंच कर अपना प्रजापालन का कार्य करना चाहिये।

विरोधी मनुष्य।

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्यों कि राजाका गौरव बढनेसे उनका भी यश बढता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिल कर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह शंका यहां हो सकती है; इस शंका का उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये —

यः सजातः, यः च निष्ट्यः, ते हवं विवदत्,
तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥
(सू० ३ मं० ६)

" कोई सजातीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके

शुभ प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहां ले आओ। "

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्रवाई करने वाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशस्त कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहां बताया है, इसके अनुसंधानसे पाठक अन्य उपद्रव दूर कर सकते हैं।

चतुर्थ सूक्त ।

यहां तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं। तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्व साधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके चुने हुए राजाको राज गद्दीपर बिठलानेके कार्य के साथ है, इस लिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचार से देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है। राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाका चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव ।

राजाका पुत्र हो अथवा नयाही योग्य वीर हो, उसको प्रजाकी संमतिसे ही राज्य प्राप्त होता था। श्री रामचंद्र जैसे सर्व मान्य पुरुषोंको भी राज्य प्राप्त होने के लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पडी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमती प्रबल शक्ति रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

प्रदिशः देवीः इमाः पञ्च विशः त्वां राज्याय वृणताम्।

(सू० ४ मं० २)

" दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये चुनें। " प्रजा राज्यशासन चलाने के लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है। अथर्व वेदमें इस बातको जताने वाले कई सूक्त हैं,

उनका विचार उनके स्थानपर यथावकाश होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनेवाले उल्लेखोंको इकट्ठा करके सबका मिलकर इकट्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजनीति शास्त्रका ज्ञान होगा। अस्तु। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उनको राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके पोषक मंत्र भाग यहां देखिये—

हे राजन् ! सर्वाः प्रदिशः (प्रजा :) त्वा ह्वयन्तु । (मं० १)
हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु । (मं० ३)
बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते वरीयः अक्रन् । (मंत्र०७)
ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु । (मं० ७)

" हे राजन् ! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजा तुझे पुकारें ॥ भेंट लानेवाले सजातीय लोग तेरे संमुख आजावें। बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र सभा करके तुझे श्रेष्ठ बनावे ॥ वह जाननेवाली सब प्रजा तुझे ही बुलावें ॥ " इत्यादि मंत्रभाग प्रजाकी अनुमति राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं। इस लिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आजावे। किसी पुरुषको जन्मतः राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, परंतु जिसको प्रजा स्वीकृत करे वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है। इस सूक्तके उपदेशमें यह महत्त्वपूर्ण बात पाठक अवश्य देखें और वैदिक धर्म के अनुकूल प्रजानियुक्त तथा प्रजासंमत ही राजा है यह स्मरण रखें।

प्रजाका पालन ।

राज्याभिषेक के समयही प्रजाके चुने और पसंद किये राजाको राजगद्दीपर अभिषिक्त होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है देखिये—

१ राष्ट्रं त्वा आगन्,
२ वर्चसा सह उदिहि,
३ विशां पतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज,
४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव ॥ (मं० १)

" हे राजन् ! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान

हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन।" इस प्रथम मंत्र में "प्रजा-पति" बन, यह आदेश है, पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द "पा" धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचकही मुख्यतया यह शब्द है। जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इस लिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं। राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है। इस प्रकार यहां प्रजा-पालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है। ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्य) नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है। राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पडनेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके। जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो। जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शनभी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसा प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आगया है इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपनी संमतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पांच प्रकारके प्रजाजनों ने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है इस लिये उनकी निज संमतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि सदा सर्वदा भविष्य कालमें राष्ट्रकी संमति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने। इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल संमतिकी कितनी आवश्यकता है। प्रजाकी अनुमतिके विना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहां प्रतीत होता है।

धनोंका विभाग।

प्रजाओंमें धनका विषम विभाग हुआ तो अतिधनी बने हुए लोग निर्धनोंपर बडा दबाव डालते हैं और उस कारण निर्धन लोग पीसे जाते हैं। इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वसु-विभाग करे। धन की विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थान पर आदेश है—

१ राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज ॥ (मं० २)
२ अध मनः वसुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज ॥ (मं० ४)

" (१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर चढकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर ॥ (२) पश्चात् अपना मन धन के दान के लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट दे। " इन दो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि " हे राजन्! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ हो, पश्चात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर। "

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये। यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाना अशक्य है। धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्माचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके विना नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है। उग्र बनकर और पक्षपात छोडकर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये।

धन विभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो धनिकोंका पक्षपात करना योग्य है और ना ही निर्धनोंका पक्ष लेना चाहिये। राष्ट्रमें धन विषम प्रमाण में न बंट जाय यह देखते हुए अपना वसुविभाग का कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये। यह बडा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थिति के लिये अत्यंत आवश्यक है। धनकी विषमता, अधिकार की विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातीकी उच्चनीचताकी विषमता आदि अनेक विषमताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकार की विषमता बडी घातक होती है, इस विषमता के कारण दबे हुए मनुष्य उठना कठिन हो जाता है और जो दबी जातीकी भयानक स्थिति होती है वह सब जानते ही हैं। इसलिये वसुविभाग नामक राजाके कर्तव्य में धनविषयक विषमता दूर करनेका उपदेश किया है। इसका महत्त्व पाठक समझें।

शुभसंकल्प।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये—

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु। (मं० ३)

हे राजन्! तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे " स्त्रियां और बालबच्चे उत्तम विचार वाले बनें। " जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचार वाली कन्याएं और शुभ संकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्षही दिखाई देरहा है। राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम ब्रह्मचारी होसकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। पाठक इस बातका खूब विचार करें। यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहां बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परंतु अब वह फिर शीघ्र व्यवहारमें आवेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है। इस लिये वैदिक धर्मी आर्योंको उचित है कि वे कुमारी और कुमारोंके अंदर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें।

राजाका रहना सहना।

राजाका व्यवहार सीधासादा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख दुःख अवलोकन करे इस विषयमें आदेश देखिये—

> इन्द्रेन्द्र! मनुष्याः (वत्) परेहि,
> वरुणैः संविदानः सं अज्ञास्थाः॥
> स अयं त्वा स्वे सधस्थे अह्वत्,
> स उ देवान् यक्षत्; विशः कल्पयात्॥ (मं० ६)

" हे राजन्! साधारण लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहांके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुल कर उनकी सच्ची अवस्थाको जान॥ वे तुझे अपने घर बुलावें और यज्ञ करें; इस प्रकार प्रजाओंकी उन्नति कर॥ "

यह मंत्र बहुत दृष्टियोंसे मनन पूर्वक देखने योग्य है। सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने दरबारी थाट को अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके भेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने

आंखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी अवस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है। अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। वहांके जो (वरुणैः= वरैः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये। ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्य प्रबंधमें दोष कहां है और गुण कहां है।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहां जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर यज्ञ याग आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाको वैसे ही राजपुरुषोंको भी सदा मनन करने योग्य हैं।

दूतका संचार।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपने आंखसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आंखोंसे ही देख सकते हैं, इसलिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजिरः दूतः संचरातै। (मं० ३)

"युवा दूत संचार करे।" राष्ट्रमें दूतोंका संचार कराके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे। और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनाधिक करना हो वह करता रहे। अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख दुःखोंका पता लगता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है। इस विषयमें देखिये—

(१) हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु। (मं० ३)
(२) उग्रः वसूनि प्रति पश्यातै। (मं० ३)

(१) " हवि लेकर स्वजातीके लोग तेरे सन्मुख उपस्थित हों। (२) उग्र बन कर बहुत भेंट तू देखेगा।" इत्यादि प्रकार प्रजासे बडा सत्कार राजा प्राप्त कर सकता है। तथा—

(१) ते द्यावापृथिवी शिवे स्ताम्। (मं० ५)
(२) उग्रः सुमना इह दशमीं वश। (मं० ७)

(१) " हे राजन्! तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों, और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां सौ वर्ष तक राज्यको अपने वशमें कर।" इसीप्रकार " सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले" (मं० ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजाभी प्रजाका सुख बढानेमें दत्तचित्त होता हो। जो राजा प्रजाके सुख की पर्वाह न करता हो उसके हिताहित की फिक्र प्रजा भी नहीं करती। इस लिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि " मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगने के लिये।" यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे।

वरुण।

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आगई है वह अवश्य देखने योग्य है। इन्द्र वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते हैं अन्य किसी के वाचक नहीं हो सकते। ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं। परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुण बोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थ के वाचक भी होते हैं। यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्यों कि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचन में ही होता है। यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनों का वाचक है। "वरुण, वरण, वर्ण" इस प्रकार यह " चार वर्णोंके लोगों" का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है। यहां हमारे मतसे " वर्ण " अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें।

राजा और राजाके बनानेवाले।

[५]

(ऋषिः - अथर्वा । देवता — सोमः)

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥
पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

[इति प्रथमोऽनुवाकः ।]

अर्थ— (अयं बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि (बलेन सपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ (आ अगन्) आया है। यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां पयः) औषधियोंका रस है। यह (अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वतु) विरोध न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥ हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्र बल और (मयि रयिं धारयतात्) मुझमें धन धारण कर। (अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे)

मैं राष्ट्रके आप्तपुरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज बनकर रहूं ॥ २ ॥ (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुह्य और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें धारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥ (इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर प्राप्त हुआ है। (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवन के लिये (प्रियासं) प्रिय करूं ॥ ४ ॥ (पर्णमणिः मह्यं अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बडे कल्याणके फैलाने के लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरूढ हुआ है। (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत संविदः) और ज्ञानीसे भी (उत्तरः असानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥ ५ ॥ (ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिवान् और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिवान लुहार हैं, हे (पर्ण) पर्णमणे ! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तूं सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥ (ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनाने वाले हैं, (ये सूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे ! तू सब जनों को मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥ हे (मणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ वीर के साथ समान उत्पत्ति वाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ-यह पर्णमणि बल बढानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका शक्तिरूप और औषधियों के रस से बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥ इससे मुझमें क्षात्रतेज और ऐश्वर्य बढे और मैं राष्ट्रका हित साधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निज संबंधी बन कर रहूंगा ॥ २ ॥ जिस मणि को देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिकी वृद्धिके लिये देवें ॥ ३ ॥ यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणने सुसंस्कारयुक्त किया हुआ और इन्द्रने हमें

पहले दिया हुआ, वीर्य और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है। उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूं ॥ ४ ॥ यह मणि मेरे शरीर पर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इससे मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ होऊंगा ॥ ५ ॥ जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥ जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥ यह मणी उत्तम शरीर रक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्ष पर्यंत स्थिर रहनेवाले तेज के साथ धारण करता हूं ॥ ८ ॥

पर्ण मणि।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेक है। अथर्ववेद काण्ड २ सू० ४ में जङ्गिड मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहांभी देखें। यह पर्णमणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके स्वरससे बनाया होता है, देखिये—

१ पर्णमणिः ओषधीनां पयः। (मं० १)
२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः। (मं० ४)
३ देवाः (पर्ण-) मणिं वनस्पतौ निदधुः। (मं० ३)

(१) "पर्ण मणि औषधियोंका दूध ही है। (२) यह पर्णमणि सोमवल्लीका उग्र बल है। (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है।" ये इस के वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूध से बनाया जाता है। "पर्ण-मणि" यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है। इसके धारणसे वनस्पति-रसके वीर्यके कारण शरीरपर बडा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये—

१ अयं पर्णमणिः बली। (मं १)
२ पर्णः तनूपानः। (मं० ८)
३ बलेन सपत्नान् प्रनृणन्। (मं १)
४ देवानां ओजः ··· मा वर्चसा जिन्वतु। (मं० १)
५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयतात्। (मं० २)
६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु। (मं ३)
७ पर्णः उग्रं सहः ··· दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। (मं ४)

८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरुक्षत्। (मं० ५)

"(१) यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोगरूपी शत्रुओंको नाश करता है, (४) यह (देवानां) इंद्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बडा बल बढानेवाला है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढावे।"

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इस "पर्णमणि" के अंदर बडा प्रभाव है और इसके शरीर पर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बडा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है। यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है। वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें।

राष्ट्रका निज बनना।

" राष्ट्रका निज " बन कर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है। जो लोग राष्ट्रमें रहें वे निज बन कर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है —

अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ (मं० २)

" मैं इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बन कर रहूंगा। " यहां राजा, राजपुरुष, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बन कर रहें यह उपदेश स्पष्ट है। राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे। यहां निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये। अपने यहां का ही उदाहरण लीजिये। इस भारत वर्षमें जापानी, चीनी, अमरिकन और योरोपीयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी " भारतवर्षका निज " बनकर नहीं रहता। जो ये आते हैं वे " उपरी " बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहां रहते हैं, उपरी बनकर यहांका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं। इस कारण इनके उपरी भावसे भारत वर्षका अहित ही होता है। इस लिये उपरी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है। जो " निजभाव " से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा। यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परंतु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उपरी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका

हिसाब लगाना कठीन हैं। इस दृष्टिसे पाठक देखें कि "राष्ट्रका निज" बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्र हितकी दृष्टि से कितना आवश्यक है। "निजभाव" से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और "निज भाव" न रखनेवाले स्वदेशी लोगभी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहित का घात करनेवाले बनेंगे। यहां पाठक "राष्ट्रका निज" बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखें और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें।

राजाको निर्माण करनेवाले।

इस सूक्त के सप्तम मंत्रमें "राज-कृतः" शब्द है इसका अर्थ "राजाको निर्माण करनेवाले (King makers)" है। राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और वह राजगद्दीपर आता है, इसीको प्रजाद्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजा का नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं। जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो "निर्माण" ही प्रजा करती है। इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसी लिये राजसभाके सदस्य राजाके "पितर" हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है (देखो अथर्व. कां. ७ सू. १२ मं० १, २)। प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसको निर्माण करते हैं, इसी लिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। मातृरक्षा के समानही प्रजारक्षाका यह राजधर्म है।

मंत्र ६ और ७में कहा है कि रथकार, सुतार, लुहार, ज्ञानी पुरुष, मंत्री, सूत, ग्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें। इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किये राज पुरुषोंद्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे। इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होने के लिये वैदिक राजनीति शास्त्र की दृष्टिसे यह सूक्त बडे महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है। इसलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें।

[यहां प्रथम अनुवाक समाप्त होता है। यह संपूर्ण अनुवाक राजप्रकरण का ही उपदेश देता है।]

वीर पुरुष।

[६]

(ऋषिः—जगद्बीजं पुरुषः। देवता—वानस्पत्योऽश्वत्थः)

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।
स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥
तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥
सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः।
अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥
यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा।
प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ– जैसा (खदिरात् अधि अश्वत्थः) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुरुषसे वीर पुरुष उत्पन्न होता है। (सः मामकान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो

मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥ हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैबाधदोधतः शत्रून्) उन विविध बाधा करनेवाले द्रोही शत्रुओंको (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥ २ ॥ हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरभनः) जैसे बडे समुद्रमें तू भेदन करता है, (एव) उसी प्रकार (तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि) उन सबको छिन्न भिन्न कर (यान् अहं द्वेष्मि ये च मां) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥ हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः सासहानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान् (ऋषभः इव) बैलके समान बलवान् होकर (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया वयं सपत्नान् सहिषीमहि) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥ ४ ॥ हे अश्वत्थ ! (निर्ऋतिः मृत्योः अमोक्यैः पाशैः एनान् मामकान् शत्रून् सिनातु) आपत्ति मृत्युके न टूटनेवाले पाशोंसे इन मेरे शत्रुओंको बांध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥ हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुषे) जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्धि) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड दे और (सहस्व च) उसको जीत लो ॥ ६ ॥ (बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे छूटी हुई नोकाके समान (ते अधराञ्चः प्रप्लवतां) वे अधोगतिके मार्गसे बहते चले जावे (वैबाध-प्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालों का पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥ (एनान् मनसा प्रनुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूं। (चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूं। (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एनान् प्र नुदामहे) इनको हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषसे वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है। ऐसे वीर हमारे वैरियोंको हटा देवें ॥ १ ॥ हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥ हे शूर ! जिस प्रकार नौकासे बडे समुद्रके पार होते हैं उसी

प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥ हे बलवान्! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥ हे शक्तिमान्! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पडें ॥ ५ ॥ जिस प्रकार पीपल का वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड देवे ॥ ६ ॥ विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जांयगे। ऐसे एकवार गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥ ७ ॥ मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूं ॥ ८ ॥

अश्वत्थ की अन्योक्ति।

यह सूक्त अश्वत्थ की अन्योक्ति है। अन्योक्ति अलंकार पाठक जानते ही हैं। एक का प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरे के ही विषयमें कहनेका नाम अन्योक्ति है। इसी प्रकार यहां अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर पुरुषका वर्णन किया है। इसलिये यह अश्वत्थान्योक्ति है।

"अश्वत्थ" शब्दके बहुत अर्थ हैं- (१) पीपल वृक्ष; (२) [अश्व-स्थ] अश्वके समान बलवान बनकर रहनेवाला वीर; (३) [अ-श्व-स्थ] जो कल रहेगा ऐसा निश्चय नहीं कहा जाता, नश्वर; (४) सूर्य; (५) अश्विनी नक्षत्र; इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं। यहां पहले दो अपेक्षित हैं।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है, "यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् अधरान् कृणुषे। (मं० ६)" इस दृश्यपर काव्य दृष्टिसे यह अलंकार हो सकता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बडाभारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पांव ... चे दबाता है और अन्यवृक्षोंके सिरपर अपना पांव रख कर खडा हो जाता है। जिस के नां ध· पुरुष शत्रुके सिरको अपने पांव के नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो प्रकार वीर ... कृत्य है। इसलिये अश्वत्थवृक्ष की अन्योक्ति से इस सूक्तमें शूर पुरुषका पीपल का यह ... है ... क इस दृष्टिसे यह सूक्त पढें।
वर्णन किया है। पाठ ... द्रों

आनुवंशिक संस्कार।

इस सूक्तके प्रथमही मंत्रमें कहा है कि "पुंसः पुमान् परिजातः" वीर से वीर संतान उत्पन्न होती है, वीर के कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्यकुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते; परंतु यहां वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहां रहता है यही दिखाया है। बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करने के कारण वीरके संतान वीरता से युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शत्रुका लक्षण।

इस सूक्तमें "वै-बाध" (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होने का लक्षण कहा है (मं० २ ; ७)। वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकार के शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं। यह अनुभव पाठकोंको है ही। ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। शत्रुको दूर करनेका उपाय इसप्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा एनान् प्र नुदे। (मं० ८)

"मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये" और उन उपायोंका मनन करना चाहिये। मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करना चाहिये कि जिससे शत्रु शीघ्रही नष्ट हो जावे। तात्पर्य हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये।

गिरावटका मार्ग।

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो लोगोंको उपद्रव देते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं। उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है—

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराञ्चः प्र प्लवताम्।
वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति॥ (मं० ७)

"बंधनसे नौका जैसी छूटती है और जल प्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्टलोग अधोगतिसे नीचे की ओर गिरते जाते हैं। उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है।"

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चारित्रका अवलोकन करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो वह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है। जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं। साम्राज्यमदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहां दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबानेवालेकोभी वहां ही रहना पडता है। इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है। यह जान कर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे। दूसरे पर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिका मार्ग खुला रह सकता है।

विजय की तैयारी।

इस सूक्तमें "सहमान, सासहान" (मं० ४) ये दो शब्द हैं, अन्यस्थानोंमें "सहमान, असह्य" ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर जो अपना स्थान नहीं छोडता।

२ असह्य, सासहान— इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संमुख ठहर नहीं सकता।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये। तभी विजय होगा। पाठक इस सूक्तका इस दृष्टिसे विचार करें। और शत्रुको दूर भगाने के विषयमें योग्य बोध प्राप्त करें॥

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना।

[७]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः । देवता–यक्ष्मनाशनम्)

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥
अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥
अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (रघुष्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) वेगवान् हरिणके सिरके अंदर (भेषजं) औषध है। (सः विषाणया) वह सींगसे (क्षेत्रियं विषूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगको सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांवोंसे (त्वा अनु अक्रमीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है। हे (विषाणे) सींग ! तू (यत् अस्य हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि ष्य) नाश करदे ॥ २ ॥

(अदः यत्) वह जो (चतुष्पक्षं छदिः इव) चार पक्षवाले छत के समान (अवरोचते) चमकता है (तेन ते अंगेभ्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वेगसे दौडनेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अवस्थामें रहा हुआ क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥ २ ॥

यह चार पंखवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोग का नाश होता है ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥
यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥
अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ- (अमू ये दिवि) वे जो आकाशमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रकाशमान दो सतारे हैं-वनस्पतियां-हैं। (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं पाशं विमुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नीचे और ऊंचे पाशको छुडा देवें ॥ ४ ॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः)जल निःसन्देह औषध है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगों की दवा है। (ताः त्वा क्षेत्रियात् मुञ्चन्तु) वह जल तुझे क्षेत्रिय रोगसे छुडा देवे ॥ ५ ॥

(यत् क्रियमाणायाः आसुतेः) यदि बिगडने वाले रससे (क्षेत्रियं त्वा व्यानशे) क्षेत्रिय रोग तेरे अंदर व्यापा है। तो (तस्य भेषजं अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हूं और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि) तुझसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हूं ॥ ६ ॥

(नक्षत्राणां अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत उषसां अपवासे) उषाके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं अस्मत् अप) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ- ये जो प्रकाशमान् सतारोंके समान तारका नामक दो औषधियां हैं उनसे वंशके रोग दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जल उत्तम औषधि है, उससे सब रोग दूर होते हैं, सब रोगोंके लिये यह एकही औषध है उस से क्षेत्रियरोग दूर होता है ॥ ५ ॥

यदि बिगडे जलके निमित्त से तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूं और उससे रोगभी दूर करता हूं ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उषा चली जाते ही सब रोगबीज हम सब से दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं। ये क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है।

हरिणके सींगसे चिकित्सा।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बडेभारी होते हैं, उन सींगों में क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है। " हरिण के सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं। (मं० १) " हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका—

मृगशृङ्गं भस्महृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्तम्।

—वैद्यक शब्द सिंधु।

" मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है। " यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है।

हृदय रोग।

इस सूक्त के द्वितीय मंत्रमें "हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं" (मंत्र० २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रायः हृदय रोगही होगा। तृतीय मंत्रमें " अंगेभ्यः क्षेत्रियं (मंत्र. ३) " सब अंगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है। प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है। ये सब रोग हरिण के सींगसे दूर होते हैं। हरिणका सींग चंदनके समान पत्थरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोडा थोडा अल्पप्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं। इस प्रांतमें छोटे बालकों को उक्त प्रकार किंचित् जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताएं कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है। सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है। मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है।

औषधि चिकित्सा।

चतुर्थ मंत्रमें " सुमगा और तारका " ये दो शब्द हैं। इसी प्रकारका मंत्र कां० ६ सू० ८ में आया है, देखिये—

भगवती और तारका।

भग-वती विचृतौ नाम तारके ॥ कां० २ सू० ८ मं० १

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके ॥ कां० ३ सू० ७ मं० ४

इसमें विधानकी समता है। इस लिये द्वितीय कांडके अष्टम सूक्तके प्रसंगमें "भगवती और तारका" वनस्पतियोंके विषय में जो लिखा है, वही यहां पाठक समझें। सुभगा और भगवती ये दो शब्द एकही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिका वाचक होगा। ये दो वनस्पतियां क्षेत्रियरोग को दूर करतीहैं। इनसे किसका बोध लेना है इस विषयमें कां० २ सू० ८ मं० १ का विवरण देखिये।

द्युलोक और भूलोकमें समान औषधियां।

वनस्पतियोंके साथ द्युलोक का संबंध बताया है। सोम द्युलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार " सुभगा (भगवती) और तारका " ये दो औषधियां भी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजरूपसे द्युलोक में हैं। यह वर्णन वनस्पतिकी प्रशंसापरक प्रतीत होता है।

जलचिकित्सा।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि "जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो सकते हैं।" जलके आरोग्य वर्धक गुणके विषयमें कां० १ सू. ४ – ६ ये तीन सूक्त देखिये।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगडे खान या पान से हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति थोडे समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागण छिप जानेके समय तथा उषःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि यह वर्णन काव्य परक माना जाय तो उसका अर्थ इतनाही होगा कि "अतिशीघ्र रोग दूर होंगे।"

राष्ट्रीय एकता ।

[८]
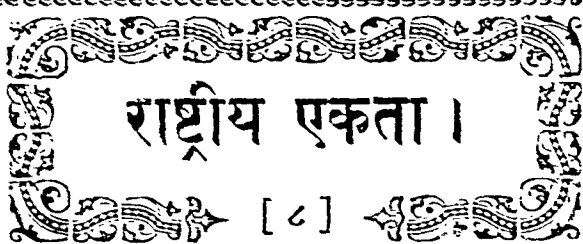
(ऋषिः— अथर्वा । देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः)

आ यांतु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

अर्थ— (उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेश्यं बृहत् राष्ट्रं) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बडे राष्ट्रको (दधातु) धारण करें ॥ १ ॥

(धाता रातिः सविता) धारण कर्ता, दाता सविता (मे इदं वचः) मेरा यह वचन (जुषन्तां) प्रीतिसे सुनें और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे इदं वचः प्रति हर्यन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें । (शूरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे) शूरपुत्रोंवाली अदीन देवी माता को मैं बुलाता हूं (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं सजातियोंमें मध्य-प्रमुख-स्थानपर रहनेवाला होऊं ॥२॥

भावार्थ—अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करने वाला और ऋतुओं-के साथ सामर्थ्य बढानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव हमें ऐसा बडा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें, तथा मैं शूर पुत्रोंकी माता देवी अदितिको भी कहता हूं कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं सजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होने की योग्यता प्राप्त कर सकूं ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ- (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिये (नमोभिः हुवे) अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूं । (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः सजातैः इद्धः) विरुद्ध भाषण न करनेवाले स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) यह अग्नि (दीर्घं एव दीदयत्) बहुत काल तक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

(इह इत् असाथ) यहां ही रहो, (परः न गमाथ) दूर मत जाओ । (इर्यः गोपाः) अन्न युक्त गौका पालन करनेवाला (पुष्टपतिः वः आजत्) पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे । (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः) इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकता के विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूं कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यता पा के योग्य होऊं । परस्पर विरोध न करनेवाले स्वजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देर तक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहां एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरे से दूर न हो जाओ । अन्न अपने पास रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करने वाला तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुम को इकट्ठा करके यहां लावे । एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ-(वः मनांसि सं)तुम्हारे मनोंको एक भावसे युक्त करो,(व्रता सं) तुम्हारे कर्मों को एक भावसे युक्त करो, (आकूतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ- तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सङ्कल्प एक हों जिससे तुम सङ्घशक्तिसे युक्त हो जाओगे। जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुकादेते हैं ॥५॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूं मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहां आओ। मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं। मैं जिस मार्गसे जाता हूं उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

अधिक उच्चता।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है। कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो। हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है इसविषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

हुवे सोमं सवितारं नमोभिः
विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ॥ (मं० ३)

"सोम सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये बुलाता हूं।" अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूं कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नतिको प्राप्त कर सकूं।

"उत्, उत्तर" ये शब्द एकसे एक बढ कर अवस्थाके द्योतक हैं। साधारण अवस्थासे "उत्" अवस्था बढकर और उस से "उत्तर" अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है। मनुष्य सदा "उत्तरत्व" की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है अर्थात् मनुष्य अपने से उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परंतु उससे भी एक सीढी ऊपर होनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। "उत्-तर-त्व" शब्दमें यह सब अर्थ है जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। "श्रेय और प्रेय" अथवा "दैव और आसुर" ऐसे मार्ग मनुष्यके सन्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् देव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है। आसुर मार्गको दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर जाने की प्रेरणा करनेके लिये ही इस मंत्रमें "देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना" करनेकी सूचना दी है। देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सहसा निकृष्ट मार्गपर अपना पांव नहीं रख सकता। देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना करना इस प्रकार मनुष्यत्वके विकासका हेतु है। एक बार इस दैवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आसुरी लालसाओंमें फंस जाते हैं। इस प्रकार की गिरावट से बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कहता है कि—

इह इत् असाथ, न परो गमाथ। (मं ४)

"इसी दैवी मार्गपर रहो, इसको छोडकर अन्य मार्गसे न जाओ।" यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है। कई बार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथसे उन्नत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है। ऐसा न होवे इस लिये इस चतुर्थ मंत्रने यह सूचना दी है। यदि पाठक इस सूचना को ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इससे उनका बचाव हो सकता है।

उन्नतिका मार्ग।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है। यह अलग अलग रह कर उन्नत हो नहीं सकता। वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्याग की आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है। इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों के लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं, वः आकूतीः सम्। (मं० ५)

" तुम्हारे मन, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीतिसे एकताको बढाने वाले हों। " इस मंत्रमें जो " सं " उपसर्ग है वह " उत्तमता और एकता " का द्योतक है। मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों। कई लोग बाहरसे कोई बुरा कार्य करेंगे नहीं, परंतु मनसे ऐसे बुरे विचार और बुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें फिसाद मचानेका हेतु बने। ऐसा नहीं होना चाहिये। संकल्प विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहियें और कभी वैरका भाव उसमें नहीं आना चाहिये। यदि अपने समाजमें कोई इसके विरुद्ध वर्ताव करने वाला हो तो उसको भी समझाकर सन्मार्गपर लाना चाहिये, इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका उत्तरार्ध देखने योग्य है—

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ (मं० ५)

" ये जो विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं उनको भी एकता के मार्ग पर हम झुकादेते हैं। " इस प्रकार विरोधी लोगोंको भी समझाकर एकताके मार्ग पर लाना चाहिये। समाजके शासन का ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरुद्ध मार्ग पर चल ही न सकें। सज्जन तो सदा शुभ मार्ग पर से चलेंगे ही, परंतु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर जाना छोड दें और शुभ मार्गपर चलनेमें ही अपना लाभ है इस बातको अच्छी प्रकार समझ जांय। इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्वर्तन करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे अथवा उनको सुधारने से जनताकी उन्नतिका मार्ग सीधा हो सकता है।

सुधारका प्रारंभ।

हमेशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधार का प्रारंभ अपने अंतःकरण के सुधारसे होता है। जो लोग अपने अन्तःकरण के सुधार करने के विनाही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं। इस लिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत् का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि।
मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि। (मं० ६)

" मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूं। इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंके हृदयोंको करता हूं। "

इस मंत्रमें " अपने शुभाचरणसे अन्योंके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश " हर एक को ध्यानमें रखने योग्य है। पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरों के मनोंको आकर्षित कर सकता है? क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्प वाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है? ऐसी बात कभी नहीं होती। सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्माही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं। जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनता के मनोंका आकर्षण करते रहते हैं। यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है। ऐसे पुरुष जो बोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है। हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है। जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी। इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत।
मम यातं अनु वर्त्मान एत ॥ (मं० ६)

" मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो। "

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायासही प्राप्त होती है। अर्थात्

उनके कहने के विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं। यह स्वयं होता रहता है। परंतु जनताको ' अपने मार्गसे चलो' ऐसा कहनेका यदि किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहां कही है। इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्ग दर्शक होते हैं। जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्म सुधारमें ही है। इस लिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्म सुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला हो सकता है। जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है। आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है। जब इस मार्गसे शक्ति की वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसको जनताको ' अपने पीछे चलो ' ऐसा कहनेका अधिकार आता है। वह कहता है कि--

" मेरे मार्ग से मेरे साथ साथ चलो। मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बना कर चलो (मं० ६)। " अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूं उसी मार्गसे तुम आओ। इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा। इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनता का मार्ग दर्शक होता है। उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्ग दर्शक अर्थात् आदर्श होता है।

संवेश्य राष्ट्र।

उक्त प्रकारके मार्ग दर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहांके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको " संवेश्य राष्ट्र " कहते हैं, क्यों कि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है। मनुष्य वहां जांय और रहें और आनंद प्राप्त करें। इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं० बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु। (मं० १)

" हम सब के लिये देव प्रवेश करने योग्य बडा राष्ट्र देवें। " अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्शराष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने। इस प्रकारके राष्ट्रमें " मैं प्रमुख बनूंगा " यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अंतःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा असानि। (मं० २)

“ सजातियोंकी सभामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊंगा। ” यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अंतःकरणमें रहेगी, इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आत्मसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें आकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे। परंतु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा। सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जांयगे। इस विषयमें एक प्रकारकी सात्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रने “ उत्तरत्व की स्पर्धा ” कहा है। इस स्पर्धामें परस्पर का घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है। सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रोन्नतिका अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मोंकी आहुतियां डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

राष्ट्रीय अग्नि।

अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः। (मं० ३)

“ (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) सजातियों के द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एकराष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे। ” अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे। क्यों कि इसी अग्नि की गर्मीसे सब राष्ट्रीय मनोरथ सफल और सुफल होते रहते हैं। इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये। यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रज्वलित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-ब्रुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करने की ही भाषा बोलते हैं। ऐसे सज्जन ही राष्ट्रोन्नतिके महान् अग्निका चयन करते हैं।

इस सूक्तमें “ सजात ” शब्द आया है और यह शब्द वेदमंत्रोंमें अनेक वार आया है। “ सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय ” इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है। जातीभेदके कारण एकदूसरेसे लडनेवाले लोग “ सजात ” नहीं कहलायेंगे। एक राष्ट्रके लोग परस्पर “ सजात ” ही होते हैं, परंतु उनमें राष्ट्रीयताकी

भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जात पातकी भावना गौण होनी चाहिये। ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्दद्वारा तृतीय मंत्रमें कही है। यही राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है।

राष्ट्रका पोषक।

इस प्रकारके राष्ट्रके सच्चे पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है—

इर्यौ गोपा पुष्टपतिर्वै आजत्। (मं० ४)

"(इर्यः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं।" यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है। अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टि के लिये आवश्यक हैं। राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है। यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती। पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्व पूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें।

शूरपुत्रोंवाली माता।

राष्ट्रकी बुनियाद "संतान" है। पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका भावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं। इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है। माता अपने बालबच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्र में दी है। इस विषय के सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रां अदितिं देवीं हुवे। (मं० २)

"शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूं।" अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूं। यहांका "अ-दिति" शब्द "अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली" इत्यादि भाव रखता है। "शूरपुत्रा" शब्दका भाव स्पष्ट है।

राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे। "वीरसूर्भव" अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है। वही बात अन्य रीतिसे यहां बताई है।

राष्ट्रीय शिक्षा।

इस प्रकार की वीरमाताएं जहां होंगी वहां ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पंहुंच सकते हैं। देवियोंको, बहिनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहां निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये।

दैवी सहायता।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्र शक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मंत्र देखिये—

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥ (मं० ४)

"सब देव इस कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।" अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे। यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है। जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके लिये प्रयत्न शील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

इस सूक्तके अन्य मंत्रभागमें "मित्र वरुणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो" यह आशय है। यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है। (विशेषकर काण्ड १ सू० ३०, ३१ के विवरण देखिये) इस लिये उसका यहां पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें।

क्लेश-प्रतिबन्धक उपाय ।

[९]

(ऋषिः- वामदेवः । देवता- द्यावापृथिवी, विश्वेदवाः)

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥
अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अर्थ— (कर्श+फस्य=कृशस्य) कृश अथवा निर्बल की अथवा उसी प्रकार (विश+फस्य) प्रबल की भी (माता पृथिवी) माता पृथ्वी है और उनका (पिता द्यौः) पिता द्युलोक है । हे (देवाः) देवो ! (यथा अभिचक्र) जैसा पराक्रम किया था (तथा पुनः अपकृणुत) उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिकार करो ॥ १ ॥

जैसे (अ-श्रेष्माणः अधारयन्) न थकने वाले ही किसी का धारण करते रहते हैं (तथा तत् मनुना कृतम्) उसी प्रकार वह कार्य मनन शील ने भी किया होता है । (मुष्कावर्हः गवां इव) जैसा अण्डकोश तोडने वाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं (वि-स्कन्धं वध्रि कृणोमि) रोगादि विघ्नको निर्बल करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता पिता भूमि और द्युलोक हैं । अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं । देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं शत्रुको हटादेते हैं और निर्बलों का संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न थकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । मननशील मनुष्य भी वैसाही पुरुषार्थ करते हैं । मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूं; जिस प्रकार अण्डकोश तोडनेवाले बैलका अण्डकोश तोडकर उसको निर्वीर्य कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥
येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥
दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

अर्थ--(वेधसः) ज्ञानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रमें (तत् खृगलं आबध्नन्ति) उस मणिको बांधते हैं। (बंधुरः) बंधन करनेवाले (श्रवस्युं शुष्मं काबवं) प्रसिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्रिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥ ३ ॥

हे (अवस्यवः) यशस्वी पुरुषो ! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताकी कुशलतासे युक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा कुत्तोंको तुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा काबवस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करते हैं ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि) दुष्टताके हटानेके लिये मैं तुझे बांधूंगा। और (काबवं दूषयिष्यामि) विघ्नको निर्बल बना दूंगा। (आशवः रथाः इव) शीघ्र चलने वाले रथों के समान तुम (शपथेभिः उत सरिष्यथ) शापोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

भावार्थ- भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बांधते हैं जिससे प्रसिद्ध शोषक रोगको निर्बल बना देते हैं ॥ ३ ॥

यशस्वी पुरुष जीवनके देवी मार्गसे जाते हैं और मृत्युको दूर करते हैं। बंदर दूरतक रहता हुआ कुत्तोंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधसे विघ्न डालनेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, इसी प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये। जैसे वेगवाले रथ मनुष्य पहुंचनेके स्थानतक शीघ्र पहुंच जाते हैं, इसी प्रकार उत्तम मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ- (एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्ठिता) पृथ्वीपर रहे हैं। (तेषां अग्रे) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कष्ट नाशक तुझ मणि को (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है। सबसे बढकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ- पृथ्वीपर सैंकडों विघ्न और दुःख हैं। उनके प्रतिबंधक उपायों में दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभाव शाली है जिसको धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

यह सूक्त समझनेके लिये बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है। इस सूक्तके "कर्शफ, विशफ, खृगल, काबव," ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधान कारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा। जो पाठक वेदके अर्थकी खोज कर रहे हैं वे इस विषयकी खोज अवश्य करें।

सबके माता पिता ।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्व पूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभाव की बात है।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता। (मं० १)

जगत् में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्श+फ=कृश) अशक्त बलहीन अथवा जगत्की स्पर्धामें (कर्+शफ) बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते; और दूसरे (विश+फ) अपने आपका प्रवेश दूर दूर तक कर सकते हैं और दूसरोंका पराजय करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं। इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (वि+शफ) विशेष खुर वाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लाथें मारनेमें समर्थ होते हैं। "विशफ" के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि "पाशवी शक्तिसे युक्त।"

विश्वबन्धुत्व ।

जगत्में ये दो प्रकारके लोग हैं एक (वि+शफ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्शफ) पाशवी शक्तिसे हीन। सदा ही ऐसा देखाजाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंको दबाते रहते हैं। इसकारण सामाजिक, राजकीय और

धार्मिक विषमता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं। इन क्लेशोंके निवारण का एक मात्र उपाय यह है कि " सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं," इस उच्च भावको जाग्रत करना। यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि 'हम सबका परम पिता और परम माता एकही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपस में भाई भाई हैं' तो पश्चात् एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा। क्यों कि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हटगया तो झगडाही नहीं रहेगा। सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है।

मातृभूमिको अपनी माता मानना और सूर्य, द्युलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है। मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत होगई तो उन सबकी एकता होनेमें विलंब नहीं लगेगा। मातृभूमिकी भक्तिही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकता को विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है। मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेमही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर विश्वबंधुत्वकी कल्पना भी आती है।

पराक्रम।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने सन्मुख रखकर, उस संबंधमे उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक त्याग करनेके लिये मनुष्योंको सिद्ध रहना चाहिये। जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटादेते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुरुषार्थ करना चाहिये। शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुरुषार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥ (मं० १)

" जैसा (अभिचक्र) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुत) उनको दूर करना चाहिये " हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनको अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये। इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बंधुत्व व परमात्मा को सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है। पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेश का अच्छी प्रकार मनन करें।

परिश्रमसे सिद्धि।

परिश्रम करनेके विना कुछभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है। जो भी विजयी लोग हुए हैं वे थकावटसे ग्रस्त नहीं होते थे। वे परिश्रम करनेके लिये डरते नहीं थे, इसी लिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके। इसीलिये मंत्रमें कहा है—

अश्रेष्माणो अधारयन्
तथा तन्मनुना कृतम्। (मं० २)

"जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वेही धारण करते हैं। मननशील ने भी वैसाही कर लिया था।" परिश्रम करनेके विना धारक शक्ति नहीं आसकती। और जो मनन शील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणाम तक पहुंचे हैं। प्रयत्न शीलताही मनुष्य मात्रका उद्धार करनेवाली है। इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महत्त्व जान कर पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अभ्युदय साधन करना चाहिये।

परिश्रमी पुरुष अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सबही अवस्थाएं प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है वह निश्चय पूर्वक कहता है कि—

कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव। (मं० २)

"मैं निश्चयसे विघ्नको निर्बल करता हूं जिस प्रकार अण्डकोशको तोडनेवाले लोग बैलोंको निश्चयसे निर्वीर्य करते हैं।" पुरुषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब आधिव्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं। पुरुषार्थ प्रयत्न के सन्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते।

यहां बैलोंके अण्डकोश तोडकर उनको प्रजननके कार्य के लिये असमर्थ बनानेकी विधाकी सूचना है। खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

असुर-माया।

"असुरमाया" का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है। "माया" शब्दका अर्थ "कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म" है। "असुर" शब्दका अर्थ "(अ-सुर) दैत्य अथवा (असु-र) जीवन की विद्या जानने वाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले"

है। इसलिये " असुर-माया " का अर्थ " असुरोंके पासका कलाकौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या " है। यह असुर माया अपनी अपनी ढंगकी देवोंके पासभी रहती है और दैत्योंके पासभी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायया देवा इव अवस्यवः चरथ। (मं० ४)

"इस जीवन की विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुमभी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो।" देव जैसे इस जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थ मंत्रका कथन मनुष्योंको पुरुषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पूजनीय होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैंकडों विघ्न।

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैंकडों हैं, व्यक्ति, समाज, जाती और राष्ट्र की उन्नतिमें सैंकडों किसके विघ्न होते हैं। जो भी पुरुषार्थ करनेका कार्य चला हो, उसमें विघ्न तो अवश्यही होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। इन विघ्नोंके विषयमें कहा है।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु। (मं० ६)

" सैंकडों विघ्न पृथ्वीपर हैं। " जब ये विघ्न हैं और हरएक कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनको प्रतिबंध करते हुए आगे बढना चाहिये। आगे बढनेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये—

आशवो रथा इव शपथेभिः उत् सरिष्यथ। (मं० ५)

"शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र आगे बढते हैं उसीप्रकार पुरुषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे डालकर आगे बढजाओगे।" अपना वेग बढानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे त्रस्त होते हैं। इस लिये अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढानेसे मनुष्य विघ्नोंको परास्त करके विजयका मार्ग सुधर सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये—

शुनां दूषणः कपिः इव। (मं० ४)

"कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसा होता है।" बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पर्वाह नहीं करते। वे कुत्तोंको तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं, अतः कुत्ते उन बंदरोंको कोई विघ्न कर नहीं सकते। इसी

प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोडकर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विघ्न कष्ट नहीं दे सकते। जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विघ्नसे मनुष्य अपने आपको बचावे। विघ्नका जो स्थान होगा उससे अपना स्थान ऊंचा करनेसे मनुष्य उनसे सदा दूर रह सकता है। इसी विषयके सूचक निम्न लिखित मंत्र हैं—

अवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥ (मं० ३)
काबवस्य च बन्धुराः॥ (मं० ४)
काबवं दूषयिष्यामि॥ (मं ५)

" विघ्नोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शोषक विघ्नको निर्बल करें॥ विघ्नका प्रतिबन्ध करें॥ मैं विघ्नको परास्त करूंगा। "

ये सब विधान विघ्नोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं। विघ्नोंको परास्त करना अथवा विघ्नोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय है और इसके उपाय इससे पूर्व दिये ही हैं। शारीरिक व्याधियोंसे अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारण का उपाय इससे पूर्व कई सूक्तोंमें कहा गया है। (देखो काण्ड २ सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध होजाता है इसलिये मणिधारण की सूचना देनेके लिये इस सूक्तमें निम्न लिखित मंत्र भाग हैं—

पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः। (मं० ३)
दुष्टयै हित्वा भत्स्यामि। (मं० ५)
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्ध-दूषणम्॥ (मं० ६)

" भूरे रंगवाले सूत्रमें ज्ञानी लोग इस मणिको बांधते हैं॥ दुरवस्था हटानेके लिये तुझे बांधूंगा॥ मणिको विघ्नोंका निर्बल करने वाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठाते और धारण करते हैं॥ "

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट होजाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिव्याधियोंको हटानेके लिये यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है। सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विश्वबंधुत्व की कल्पना का फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है। तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटाने के लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है। इस सूक्तका अच्छा मनन पाठक करेंगे तो उनको अपनी उन्नतिका मार्ग विघ्न रहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है।

कालका यज्ञ ।

(१०)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—एकाष्टका)

प्रथमा ह व्यु॑वास सा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पर्यस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥
यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

अर्थ- (प्रथमा ह वि+उवास) पहली उषाकी वेला उदयको प्राप्त हुई। (सा यमे धेनुः अभवत्) वह नियम में धेनु जैसी हुई । (सा पयस्वती) वह दूध देनेवाली धेनु (नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्थात् आनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं धेनुं) जिस आनेवाली रात्रीरूपी धेनुको देखकर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित होते हैं। (या संवत्सरस्य पत्नी) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—पहली उषा उदयको प्राप्त हुई है। जो सुनियमोंका पालन करता है उस के लिये यह वेला कामधेनु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है। इस लिये यह वेला हमारी भविष्यकी आयु में हमें भी अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्री रूपी कामधेनुको देख कर देव आनंदित होते हैं। यह संवत्सर की पत्नी रूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बनो ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (रात्रि) रात्री ! (यां त्वा) जिस तुझको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपास्महे) हम सब भजते हैं, (सा नः आयुष्मतीं प्रजां) वह हमारी दीर्घ आयुवाली प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

(इयं एव सा) यही वह है कि (या प्रथमा व्यौच्छत्) जो पहली प्रगट हुई और जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इन इतरोंमें प्रविष्ट हो कर चलती है। (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसके अन्दर बडी महिमाएं हैं। (नव-गत् वधूः जनित्री जिगाय) यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(परिवत्सरीणं हविः कृण्वन्तः) सांवत्सरिक हवनका अन्न बनानेवाले (वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत) वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर शब्द कर रहे हैं। हे (एकाष्टके) एक अष्टका ! (वयं सुप्रजसः सुवीराः) हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा (रयीणां पतयः स्याम) धनके स्वामी होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ— संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इस लिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु, धन और पुष्टि देवे ॥३॥

यही वेला वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है। इस वेला में अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। यह वेला विजय करती है जिस प्रकार नवीन कुलवधु प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलका यश बढाती है ॥ ४ ॥

आज सांवत्सरिक हवनकी सामग्री बनाने वाले-सोमरस निकालनेवाले-पत्थर और काष्ठयंत्र आवाज कर रहे हैं। हे एकाष्टके ! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वीरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥५॥

इडायास्पदं घृतवंत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम । पूर्णा दर्वे परा पत
सुपूर्णा पुनरा पत । सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥
आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि! (इडायाःघृतवत् सरीसृपं पदं प्रति) गौके घीसे युक्त स्रवनेवाले स्थानके प्रति (हव्या गृभाय) हव्यको ग्रहण कर। (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं (तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु) उन सातोंकी प्रीति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

हे (रात्रि) रात्री! (पुष्टे च पोषे च मा आभर) पुष्टि और पोषण के संबंधमें मुझको भर दे। हम (देवानां सुमतौ स्याम) देवोंकी सुमतिमें रहें। हे (दर्वे) चमस! तू (पूर्णा परा पत) पूर्ण भरी हुई दूर जा और (सुपूर्णा पुनः आपत) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ। (सर्वान् संभुञ्जन्ती) सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार सेवन करती हुई (नः इषं ऊर्जं आभर) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

हे (एकाष्टके) एकाष्टके! (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आ अगन्) आया है। (सा) वह तू (नः आयुष्मतीं प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे जातवेद! तू गौके घीसे युक्त तथा जिसमें से गौका घी चूरहा है ऐसा घीसे पूर्ण भिगा हुआ हव्य ग्रहण कर। जो अनेक रंगरूपवाले ग्राम्य सात पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

हे रात्री! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे। देवोंकी मंगलमयी मति हमें सहारा देती रहे। हे चमस! तू घीसे पूर्ण हो कर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढ, और वहांकी दैवीशक्ति से पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

हे एकाष्टके! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बाल बचों के लिये दीर्घ आयुष्य धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

ऋतून्यंज ऋतुपतींनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥
ऋतुभ्यंष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥
इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

अर्थ– (मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन्) मास, ऋतु, ऋतु संबंधी ऋतुपतियोंको तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अयनवर्ष, समवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके स्वामिके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(माद्भ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः) महिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (धात्रे, विधात्रे, समृधे) धाता विधाता तथा समृद्धिके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतोंके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

(इडया घृतवता जुह्वतः) गौ द्वारा प्राप्त घीसे युक्त अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका यजन करते हैं । (अलुभ्यतः गोमतः गृहान्) जिसमें न्यूनता नहीं है, जो गौओंसे युक्त हैं, ऐसे घरोंमें (वयं उप सं विशेम) हम प्रवेश करेंगे ॥ ११ ॥

भावार्थ– मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालावयवोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् अपनी आयुको यज्ञ के लिये अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

मास, ऋतु, [शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके काल विभागोंको धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्माके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूं ॥ १० ॥

गौके घीसे मैं देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने घरोंमें प्रवेश करता हूं । हमारे घरोंमें बहुतसी दूध देनेवाली गौवें सदा रहें और हमारे घरोंमें कभी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥ १२ ॥
इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥
इति द्वितीयोऽनुवाकः समाप्तः ।

अर्थ-(एकाष्टका तपसा तप्यमाना) यह एक अष्टका तपसे तपती हुई (महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान) बडे महिमावाले इन्द्र रूपी गर्भको प्रकट करती रही। (तेन देवाः शत्रून् वि-असहन्त) उससे देवोंने शत्रुओंको जीत लिया। (दस्यूनां हन्ता शचीपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रगट हुआ है ॥ १२ ॥

हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (प्रजापतेः दुहिता असि) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः प्रति गृह्णीष्व) हमारा हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूरय) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भावार्थ-यह एकाष्टका तप करती हुई बडे प्रभाव शाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है। इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं। यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥ १२ ॥

हे इन्द्रको जन्म देनेवाली ! और हे सोमको जन्म देने वाली अष्टके ! तू प्रजापतिकी दुहिता है। इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, यह एक बडी शक्तिशाली कामधेनु है। यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्र का कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुरभवद्यमे ॥ (मं० १)

" पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करने वालेके लिये दूध देने

वाली गौ जैसी होती है।" उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मापन का प्रारंभ होता है । यह वेला "यम" के लिये ही दूध देने वाली गोमाता बनती है । यह यम कौन है ? यम यह है—

यम ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

योगदर्शन

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं ।" ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इनही के साथ "शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं।" इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमों के अनुसार अपना आचरण करनेवाला "यम" कहलाता है । नियम से चलनेवाला मनुष्य बडा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्य के लिये यह "समय" कामधेनु बनता है । परंतु अनियम से व्यवहार करनेवाले के लिये यह काल भयानक कालरूप बनता है । इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने। हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ (मं० १)

" वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तर की आयुमें अमृत रस देनेवाला होवे ।" यह हरएक की इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये । परंतु बहुत थोडे लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी थोडे होते हैं । इस लिये हरएक की इच्छा होते हुए भी बहुत से मनुष्यों के लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यम नियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है । पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है ।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषामें है । सब यह जानते हैं कि उषा से दिन का प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है । रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये "नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना" इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं । रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड कर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है,

उसीका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है। एक पूर्ण दिनमें ' दिन और रात्री ' ये दो विभाग हैं । इतने समय के आठ प्रहर होते हैं । आठ प्रहरोंका नाम " अष्टक अथवा अष्टका " है, एक पूरे दिनकी यह " एकाष्टका " है अर्थात् आठ प्रहरोंका समय है । दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम ' एकाष्टका ' है, यही इस सूक्तकी देवता है। दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है । प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा। सब आयुका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है ।

अंधकारमयी रात्री ।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं। रात्रीमें अंधकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अंधकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्थतक तीन मंत्रोंद्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है--

" देव भयदायिनी अंधकारमयी रात्रीका आनंदसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सर की पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं० २)। इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मान कर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रजा, धन और पुष्टि देवे (मं० ३) । यही वह है कि जिससे पहली उषा उदित होगई थी, यही इतर वेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चलती है । इस रात्रीमें बडी महिमाएं हैं, यह वीर पुत्रको जन्म देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है (४)।।"

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है । इन मंत्रोंमें रात्रीकी भयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बतायी है । जिस रात्रीको साधारण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वेद ऐसी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भावी यशकी सूचक बताता है । सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोन है । पाठक इसी दृष्टिकोनसे जगत्की ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें। जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शांत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है । इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये। यही वेदको अभीष्ट है ।

संवत्सरकी प्रतिमा ।

तृतीयमंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है। संवत्सर वर्ष का नाम है । वर्ष बडे आकार वाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है। प्रतिमा का अर्थ "प्रति+मान" है अर्थात् मापनेका साधन । दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है , दिन से ही वर्ष मापा जाता है । यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है । संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है । वार्षिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है । यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली । (मं० २)
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज । (मं०३)
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः । (मं० ४)

"यह रात्री हमें मंगलमयी होवे । यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे । इस रात्रीमें बडे महिमा हैं ।" यह रात्रीका वर्णन निःसंदेह सत्य है । रात्री सचमुच सुमंगली है । इसी रात्रिमें निद्रासे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएक को है । "जो रात्रीमें रतिक्रिडा करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । (प्रश्न उप० १।१३) "यह उपनिषद्वचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियम पालन पूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं । इस से उत्तम सुसन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती है। इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएं हैं और इस कारण रात्री बडी उपकारक है । पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें । कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्यों में उत्पन्न होती है और उससे धैर्य शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण बढते हैं । इस दृष्टिसे भी रात्रीके बडे उपकार ही हैं ।

हवन ।

आगे पंचम मंत्रमें पत्थरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन है । षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका हवि यज्ञमें पूर्णतया

भिगो कर, घी चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीकी आहुतियां डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लिये लक्ष्य पूर्वक देखने योग्य है। घीके अंदर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्टही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फेंकता है, इस लिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजासे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करना चाहिये। षष्ठ मंत्रके 'उत्तरार्धमें ग्रामीण सब पशु मनुष्योंपर प्रेम करते हुए घरमें रहें' ऐसा कहा है। यह गृहस्थाश्रम का स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोडे घोडीयां, भेड बकरी आदि पशु और उनके बछडे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्व पूर्ण बातका उपदेश किया है। "आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निके पास चला जावे और वहांसे अग्निकी तेजस्विता लेकर वापस आवे और यह दान करनेवालेकी तेजस्विता बढावे।"

पूर्णा दर्वे परापत, सुपूर्णा पुनरापत। (मं० ७)

"चमस पूर्ण भर कर दान देनेके लिये आगे बढे और वापस आनेके समय भी वहांसे तेज भर कर वापस आवे।" इस में चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जाय और अपनी आहुती दे दे। दान देनेके समय कंजूसी न की जावे, यह बोध यहां मिलता है। जिस देवताको दान दिया है उस देवता के यथोचित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंको ग्रहण करके वह चमस वापिस आवे और दानदाताको गुणी बनावे। यह आशय यहां है। इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। "यज्ञ" का "दान और आदान" इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञान हो सकता है। "जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो श्रेष्ठ गुण हों उनको अपनाना" यह यज्ञका भाव इस मंत्रमें स्पष्ट हो रहा है। पाठक इसका मनन करें।

आगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके आशयके समानही है इस लिये इस मंत्रका अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कालका यज्ञ ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामनिर्देश करके उन कालावयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्व पूर्ण उपदेश है। (१) मास= महिना। (२) ऋतु= दो मासका समय। (३) आर्तव काल= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्ण काल, वर्षा काल। (४) अयन=तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मानसे गिने हुए वर्षका नाम ' हायन ' होता है। (५) समाः-तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष " समाः " नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्या वाले होते हैं। (६) संवत्सर- सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासोंके दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है। [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उल्लेख यहां नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है]

इस प्रकारका " जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूं, " अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूं। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नामही आयुष्यका यज्ञ है। परमात्माका कार्य " सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना" है। यही जनताके हितका कार्य है; इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन मन धन अर्पण करना " आत्म यज्ञ " करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं।

यज्ञका कार्य ।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह " (धात्रे, विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये। मं० ९-१०) " धारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है। (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सुख साधन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी वृद्धि करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका समर्पण करना आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका नाम यज्ञ है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरुष सर्वत्र पूजनीय होते हैं।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञकाही वर्णन करते हुए कहा है, कि—

अलुभ्यतः वयं गृहान् उप संविशेम । (मं० ११)

" लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करेंगे । " अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोंमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहां किसीका लोभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगी । जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसाही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

शत्रुनाशक इन्द्र ।

बारहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है । एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्री के प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है । जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसेभी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे उनके सब शत्रु परास्त होते हैं । यह वेला बडी महिमाएं अपने अंदर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उग्र देव है और इसी का पुत्र (सोम) शांतिका देव भी है । (मं० १३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है । रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोमभी कहते हैं । ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं। वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और वह बडा बोध प्रद है ।

इस से यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञान का प्रकाश देवे । कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओं का अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उन्नति करे । माताएं अपने संतानों को इस प्रकार की शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करें ।

यह इसकी महिमा जान कर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेश के अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने ।

(यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ।)

हवन से दीर्घ आयुष्य !

[११]

(ऋषिः—ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराः । देवता—इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनम्)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

अर्थ—(कं जीवनाय) सुख पूर्वक दीर्घ जीवन के लिये मैं (त्वा) तुझको (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षय रोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुडाता हूं। (यदि ग्राहिः एतत् एनं जग्राह) यदि जकडनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ॥ १ ॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप भी पंहुचा हुआ क्यों न हो, (तं निर्ऋतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूं और (एनं शतशारदाय अस्पार्शम्) इसको सौवर्षके दीर्घायुष्यके लिये सुरक्षित करता हूं॥ २ ॥

भावार्थ— तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुडाता हूं। जकडनेवाले रोगोंने यद्यपि तुझे पकड रखा हो, तथापि इन्द्र और अग्निकी सहायतासे तू उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥

आयु समाप्त हुई हो, करीब मरनेकी अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब करीब मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्था से मैं वापस लाता हूं और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कराता हूं॥ २ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥
प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्ष) सौ शक्तियोंसे युक्त, सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है। (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुकेभी परे पहुंचावे ॥ ३॥

(वर्धमानः शतं शरदः जीव) बढता हुआ सौ शरद् ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं उ वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह। (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें। (एनं शतायुषा हविषा आहार्ष) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविसे यहां लाया है ॥ ४ ॥

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान! (प्र विशतं) प्रवेश करो (अनड्वाहौ व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दूसरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— हवन में हजारों शक्तियां हैं और सेंकडों वीर्य हैं, ऐसे हवनसे इसको मैंने वापस लाया है। यह मनुष्य अब सम्पूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अब इसको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥ ३ ॥

मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें। अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। अन्य सेंकडों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा । यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त
जायमानं सुपाशया । तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहां ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहांसे मत् दूर जाओ । (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

(त्वा जरायै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूं । (त्वा जरायै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्था के लिये पहुंचाता हूं । (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा त्वा अभि आहित) बुढापेने तुझको बांधा है । (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त) जिस मृत्युने उत्पन्न होने हुएही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्युको सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ । इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्था तक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं । तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांधदेते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधी गई है । जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति ।

हवन की बडी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञ यागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतुपरिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है-

औषधियोंके यज्ञ ।

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।
ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते ॥ गो. ब्रा. उ. प्र. १ । १९

" ये औषधियोंके महामख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियां होती हैं । "

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता। इस लिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूरकरना ।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है—

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि । (मं० १)
तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तम् । (मं० १)

" अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयक्ष्मा रोग इन रोगोंसे रोगमुक्त कर देते हैं। पकडनेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगी को मुक्त कर देते हैं। "

इस मंत्र में हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर होजानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको

हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो। ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है।

हवनका परिणाम ।

हवनका परिणाम यहां तक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोग मुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, "यदि यह रोगी करीब मरनेकी अवस्थातक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तोभी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।" (मं० २)

शतायु करनेवाला हवन ।

इस वर्णन से हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही "शतायु हवि" कहा है अर्थात् इस हवन से सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है। इस " शतायु हवि " के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र-अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं। इससे—

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् । (मं० ३)

" सब दुरितको दूर किया जाता है।" दुरित नाम पापका है। यह " दुरित " (दुः-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें घुस कर नाना प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न करता है। हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोत्पादक द्रव्य शरीरसे दूर किया जाता है।

चतुर्थ मंत्रमें विश्वास पूर्वक कहा है कि अब तो " हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंसे शक्तियां प्राप्त की गई हैं, अब तू विश्वास पूर्वक अपनी सब शक्तियां बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह। अब तुम्हें मृत्युका भय नहीं है। (मं० ४)" हवन का ऐसा सुपरिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह हवनका परिणाम मनन पूर्वक देखने योग्य है।

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेश पूर्वक कहा है कि— "हे प्राण

और अपान ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें घुसो, यहां ही अपने कार्य करो और इ
शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके यो
रखो । तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ । तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु
हो जावें (मं० ५–६) । " जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें
जीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही । यह हवन
परिणाम है ।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि– "हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्प
करता हूं, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर होजावें
(मं०७) । वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्
होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ।

मरणका पाश ।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत कहा है कि हर एक मनुष्य जन्मते ही मृत्यु
पाश से बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याधत्त जायमानं सुपाशया । (मं० ८)

"मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मतेही उत्तम पाशसे बांधकर रखत
है ।" कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा नहीं होता । जो जन्मको
प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही । सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्र
को मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते
और सब मृत्युके वशमें होते हैं ।

"सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक वार अवश्य मरना है" यह इस मंत्रका कथन
हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है । हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने
सिरपर मृत्युने पांव रखा हुआ है । इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना
चाहिये । सत्यही इस मृत्युसे बचाने वाला है ।

सत्यसे सुरक्षितता ।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एक मात्र उपाय " सत्य " है यह अष्टम मंत्रने बताया
है ।–

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः । (मं०८)

"बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है ।" अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षण की तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है । सत्याग्रह से अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्र बल है । क्षात्रबलसे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है ।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति ।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवाले को सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवन का महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञ शास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्य प्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं । इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्य प्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्री का हवन होना चाहिये इस विषयमें यहां कुछ भी नहीं कहा है परन्तु हवन का सर्व सामान्य परिणाम ही यहां बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्त्व पूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें । इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है ।

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥
मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ- हे शाले! (बृहत्-छन्दाः पूतिधान्या) बडे छतवाली और पवित्रधान्य वाली तथा (धरुणी असि) धान्यादि का भण्डार धारण करनेवाली तू है। (त्वा वत्सः कुमारः आ गमेत्) तेरे अंदर बछडा और बालक आजावे। (आस्पन्द-माना धेनवः सायं आ) कूदती हुई गौवें सायंकालके समय आजावें ॥ ३ ॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र, और बृहस्पति (प्रजानन् नि मिनोति) जानता हुआ निर्माण करे। (मरुतः उद्ना घृतेन उक्षन्तु) मरुत् गण जलसे और घीसे सींचें, तथा (भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये कृषिको बढावे ॥ ४ ॥

हे (मानस्य पत्नि) संमानकी रक्षक, (शरणा स्योना देवी) अंदर आश्रय करने योग्य, सुख दायक, दिव्य प्रकाशमान ऐसी (देवेभिः अग्रे निमिता असि) देवोंद्वारा पहले बनायी हुई है। (तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः) घासको पहने हुए तू उत्तम मनवाली हो (अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— इस घरमें धान्यादिका बडा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे। ऐसे घरमें बालक और बछडे घूमते रहें और सायंकालमें आनंदसे नाचती हुई गौवें आजांय ॥ ३ ॥

इस शालाके निर्माणमें सविता वायु इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहा-यता दें। मरुत् गण इस घरमें विपुल घी देनेमें सहायक हों तथा राजा भग कृषि बढानेमें सहायता देवे ॥ ४ ॥

घर अंदर निवास करने योग्य, सुख दायक है, यह एक संमानका साधन भी है। पहले यह देवोंद्वारा बनाया गया था। घासके ऊपर से भी यह बनता है। ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्प वाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६॥
एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह । एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥७॥
पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (वंश) वांस! तू (ऋतेन स्थूणां अधिरोह) अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ और (उग्रः विराजन् शत्रून् अपवृङ्क्ष्व) उग्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटादे । (ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिषन्) तेरे घरोंके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होवें । हे शाले! हम (सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम) सब वीरोंसे युक्त होकर सौवर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, (तरुणः आ) तरुण पुरुष आवे, (जगता सह वत्सः आ) चलने वालोंके साथ बछडा भी आवे। (इमां परिस्रुतः कुम्भः) इसके पास मधुररससे भराहुआ घडा (दध्नः कलशैः आ अगुः) दहीके कलशोंके साथ आजावे ॥ ७ ॥

हे (नारि) स्त्री ! (एतं पूर्णं कुम्भं) इस पूर्ण भरे घडेको तथा (अमृतेन संभृतां घृतस्य धारां) अमृतसे भरी हुई घीकी धाराको (प्रभर) अच्छी प्रकार भर कर ला । (पातॄन् अमृतेन सं अङ्ग्धि) पीनेवालोंको अमृतसे अच्छीप्रकार भर दे । (इष्टापूर्तं एनां अभिरक्षति) यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- सीधे स्तंभ पर सीधे वांस रखे जावें और इस रीतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे। घरोंके आश्रयसे रहने वाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों। इसमें रहने वाले सब वीर होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आजावें । बछडे और अन्य घरके पशु पक्षी भी घूमते रहें । इस घरमें शहदके मीठे रससे भरे हुए घडे तथा दहीसे भरे हुए घडे बहुत हों ॥ ७ ॥

स्त्रियां इन घडोंको भर कर लावें और घीके घडेभी बहुत लावें और पीने वालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रस, भरपूर पिलावें । क्योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ- (इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः) ये रोगनाशक और स्वयं रोग रहित जल (प्र आभरामि) मैं भर लाता हूं । (अमृतेन अग्निना सह) अमृत अग्निके साथ (गृहान् उप प्र सीदामि) घरोंमें जाकर बैठता हूं॥९॥

भावार्थ- घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोग नाशक और आरोग्य वर्धक हो। घरमें अगटी भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनी हुई (तृणं वसाना । मं० ५) झोपडीके समान हो अथवा बडा सौध हो। घर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका "गृह-स्थ-पन" ही नहीं सिद्ध होगा।

घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्य कारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं —

१ क्षेमे (मं० १)=सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुख कारक, आरोग्य दायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो ।

२ ध्रुवा (मं० १,२)=स्थिर, सुदृढ, जहां बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है। इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि वारंवार उसकी मरम्मत करनेका व्यय उठाना न पडे ।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके कमरे जहांतक होसकें वहांतक विस्तीर्ण बनाये जावें । "बृहत्-छंदाः (मं० ३)" अर्थात् बडे बडे छतवाले कमरोंसे युक्त घर हो । घरमें संकुचित स्थान न हो क्योंकि

छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संकुचित बनते जाते हैं। इसलिये अपनी आर्थिक शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तीर्ण बनाना संभव हो वहांतक प्रशस्त घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथी आदि (शरणा। मं० ५) आजांय और (स्योना। मं० ५) विश्राम ले सकें।

संमान का स्थान।

घर गृहस्थीके लिये बडा संमानका (शाला मानस्य पत्नी। मं० ५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान होजाता है। इष्टमित्रोंको सुख पहुंचानेका वह एक बडा स्थान होता है। इस लिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अन्यान्य साधन इकठे करने चाहियें, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं —

१ अश्वावती (मं० २) – घरमें घोडे हों, अर्थात् गृहस्थी के पास घोडे, घोडियां हों। यह शौर्यका साधन है।

२ गोमती (मं० २) – घरमें गौएँ हों। यह पुष्टिका साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं। बैलोंसे खेती होती है। **धेनवः आस्पन्दमानाः सायं आ (मं०३)** – सायंकालके समय गौवें आनंदसे नाचती हुई आजावें।

३ पयस्वती (मं० २) – घरमें बहुत दूध हो।

४ घृतवती (मं० २) –घरमें विपुल घी हो।

५ घृतं उक्षमाणा (मं० १) – घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदि के लिये विपुल घी देनेवाला घर हो। घरके लोग अन्नदान में कंजूसी न करें।

६ ऊर्जस्वती (मं० २) – घरमें बहुत अन्न हो, खानपान के पदार्थ विपुल हों।

७ धरुणी (मं० ३) = जिसमें धान्यादिका बडा भंडार हो, जिसमें संग्रहस्थान हो, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें।

८ पूतिधान्या (मं० ६) = घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो। घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इस लिये लाया न जाय, परंतु लानेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं।

९ परिस्रुतः कुम्भः (मं० ७) = मधुर शहदसे भरा हुआ घडा अथवा अनेक घडे घरमें सदा रहें।

१० दध्नः कलशैः (मं० ७) = दहीसे परिपूर्ण भरेहुए कलश घरमें हों।

११ घृतस्य कुम्भम् (मं० ८) = उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों।

१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः (मं० ९) = नीरोग और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घडोंमें भर कर घरमें रखा जावे।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घर का वर्णन किया है। इन शब्दोंके मनन से पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धन धान्यसंपन्न बनाना चाहिये। तथा—

१ वत्सः आगमेत् (मं० ३,७) = घरमें बछडे खेलते रहें, घरके पास बछडे नाचते रहें।

२ कुमारः आ गमेत् (मं० ३,७)=घरमें और बाहर बाल बच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेल कुद करते रहें।

३ तरुणः आ गमेत् (मं० ७) = युवा, तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें।

प्रसन्नताका स्थान।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बाल बच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्यान्य आयुवाले स्त्री पुरुष अपने अपने कार्यमें आनंदसे दत्त चित्त हों। सबके मुखपर आनंद दीखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे। हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्रसीदामि। (मं० ९)

"मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरको प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा।" यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको "प्रसन्नताका स्थान" बनानेका प्रयत्न करेगा तो सचमुच वह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठक पर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है। अपने प्रयत्नसे अपने घरको "प्रसन्नताका स्थान" बनाना है, यह कार्य दूसरेपर सौंपा नहीं जा सकता, वह तो हरएकको ही करना चाहिये। यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि "क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया?" पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें। घरको प्रसन्नताका

स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहियें परंतु केवल इतनोंसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इस लिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ सूनृतावती (मं० २) – घरमें सभ्यताका सच्चा भाषण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सच्ची उन्नतिका सत्य भाषण हो। छल कपट धोखा आदिके भाषण न हों।

२ सुमनाः (मं०५)– उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरण भी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये। तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है। घरमें धन दौलत तो बहुत रही, और घरवालोंके मन छली और कपटी हुए तो उस घर को घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा। इस लिये पाठक—जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे—इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें। शीत कालमें तथा वृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगटी रखना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है, दूसरी बात यह है कि "अमृत अग्नि" (मं० ९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासना तक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे। जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वही घर सचमुच " प्रसन्नताका केन्द्र " हो सकता है! इसी प्रकारका घर–

महते सौभगाय उच्छ्रयस्व। (मं० २)

"बडे शुभमंगल की प्राप्ति के लिये यह घर उठकर खडा होवे।" अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बडा सौभाग्य प्राप्त करे। जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अंतर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बडा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है।

वीरतासे युक्त धन।

सौभाग्य प्राप्तिके अंदर "भग" अर्थात् धन कमाना भी संमिलित है। परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनेके लिये शौर्य धैर्य वीर्य आदि गुण भी चाहिये। अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे। इस लिये इस सूक्तने सावधानी की सूचना दी है—

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। (मं० ५)

"हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे।" धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरताभी प्राप्त हो। हमारा घर वीरताके वायु मंडलसे युक्त हो—

१ सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप संचरेम ॥ (मं० १)

२ शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ (मं० ६)

"हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त होने वाले वीर, सौ वर्ष जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर हो कर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे।" ये मंत्र स्पष्ट शब्दोंद्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल "वीरताका वायुमंडल" चाहिये। भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये। घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियां वीरांगनाएं हों, ऐसे स्त्री पुरुषोंसे जो संतात होंगे वे "कुमार-वीर" ही होंगे इसमें क्या संदेह है ? इसी लिये वेदमें पुत्रका नाम "वीर" आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायु मंडल ऐसा बनावें।

अतिथि सत्कार।

ऐसे मंगलमय वीरतासे युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही। इस विषयमें कहा है —

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामसृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्‌ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥
(मं० ८)

"गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घीका घडा लावे, मधुररस से भरा घडा लावे और पीनेवालोंको जितना चाहिये उतना पिलावे, कंजूसी न करे। इस प्रकारका अन्न दान करना ही घरकी रक्षा करता है।"

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्यपदार्थोंका दान खुले हाथ से देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है। क्योंकि दानही घरका संरक्षण करता है। जिस घरमें अतिथियोंका सत्कार होता है उस घरका यश बढता जाता है।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है। यहां पर्दा नहीं है। पर्देवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है। यह अतिथि सत्कार की अवैदिक प्रथा है। अतिथिके लिये भोजन खान पान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेद का आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पर्देकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है।

देवोंद्वारा निर्मित घर ।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

शरणा स्योना देवी (शाला) देवेभिर्निमितास्यग्रे ॥
तृणं वसाना सुमनाः ··· ···॥ (मं० ५)

" अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छपर वाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया । " दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था । यद्यपि इसपर घांस का छपर था तथापि उसके अंदर उत्तम विचार होते थे, अंदर जानेसे आराम मिलता था और सुखभी होताथा । इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये वह क्रूर विचारोंका " राक्षसभवन " नहीं होना चाहिये । " देवोंका घर " धनसे नहीं होता है प्रत्युत अंदर की शांति और प्रसन्नतासे होता है । पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा "देव भवन" ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें ।

देवोंकी सहायता ।

घर ऐसे स्थान में बनाया जावे कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंसे सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे-

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ (मं० ४)

" सूर्य वायु इन्द्र बृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें । मरुत् नामक बर्साती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फैलानेमें सहायक हो । "

घरके लिये सूर्य प्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो । घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्य दायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये ।
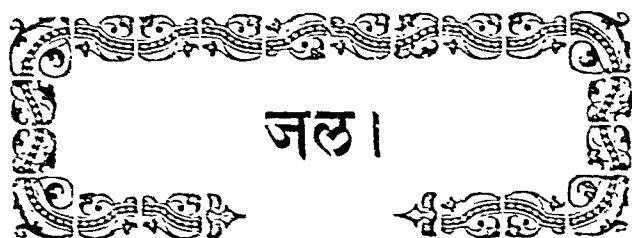
जल।

[१३]

(ऋषिः-भृगुः। देवता- वरुणः, सिन्धुः)

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते।
तस्मा॒दा न॒द्यो॒३ नाम॑ स्थ॒ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः॥ १॥
यत्प्रेषि॑ता॒ वरु॑णे॒नाच्छीभं॑ स॒मव॑ल्गत।
तदा॑प्नो॒दिन्द्रो॑ वो य॒तीस्तस्मा॒दापो॒ अनु॑ ष्ठन॥ २॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम (अहौ हते) मेघके हनन होनेके पश्चात् (अदः यत् अनदत) यह जो वडा नाद कर रही हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम "नदी" हुआ है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं॥ १॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब दूसरे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (शीभं समवल्गत) शीघ्रही मिलकर चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्) तब इन्द्रने गमन शील ऐसे तुमको 'प्राप्त' किया, (तस्मात् अनु आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम " आपः" हुआ॥ २॥

भावार्थ— मेघकी वृष्टिसे अथवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आजाता है तब जलका वडा नाद होता है, यह 'नाद' होना है इसी लिये जल प्रवाहोंको "नदी" (नाद करनेवाली) कहा जाता है॥१॥

जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, "प्राप्त" होनेके कारण ही जलका नाम "आपः" (प्राप्त होने योग्य) होता है॥ २॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥
एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥
आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

अर्थ- (स्यन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिका (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि'वारण' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम "वारि" रखा है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावशं स्यन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देखा और कहा कि (महीः उदानिषुः) बडी शक्तियां ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको "उदक" [उत्-अक] नाम से बोला जाता है ॥ ४ ॥

(आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निः संदेह तेज बढानेवाला है। (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं। (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेज के साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ- जब वेगसे बहनेवाले जल प्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारण के लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम "वार्" (वारि=निवारित किया गया) हुआ ॥ ३ ॥

स्वेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम "उदक" (उत् अक=ऊपरकी ओर प्राण गति करना) होगया ॥ ४ ॥

यह जल निःसंदेह कल्याण कारक है, यह निश्चय पूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है। अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं। यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

आदित् प॑श्याम्युत वा॑ शृणोम्या मा घोषो॑ गच्छति वाङ् मा॑साम् ।
मन्ये॑ भेजानो अमृत॑स्य तर्हि हिर॑ण्यवर्णा अतृ॑पं यदा वः ॥ ६ ॥
इदं व॑ आपो हृद॑यमयं वत्स ऋ॑तावरीः ।
इहेत्थमेत॑ शक्वरीर्यत्रेदं वे॑शया॑मि वः ॥ ७ ॥

अर्थ-(आत् इत पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे (हिरण्यवर्णाः) चमकने वाले वर्णवालो ! (यदा वः अतृपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है। हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूं। हे (शक्वरीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ । (यत्र वः इदं वेशयामि) जहां तुम्हारे अंदर यह मैं प्रवेश करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ- मनुष्य जलको आंखसे देखता है,और जलका शब्द दूरसे सुन- भी सकता है। शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है । जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनंद होता है ॥६॥

जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है जल मनुष्य पर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जलके प्रवाह ।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे कौनसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बतायी गई है ।

मेघोंसे वृष्टि होती है और नदियोंको महापूर आता है । नदियां भरनेका यह एक कारण है । नदियोंके महापूरका दूसरा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना। पत्थर वाचक ग्रावा आदि जो शब्द मेघवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेघवाचक नहीं हैं, परंतु पहाडोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके तथा ओलोंके वाचक होते हैं। उसी प्रकारका अहिशब्द है । अतः इसका अर्थ पहाडी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जल प्रवाहोंका बडा नाद होता है, इस लिये नाद करनेके हेतु जल प्रवाहका नाम "नदी"

होता है, अर्थात् जिस जल प्रवाहका बडा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये।

नदीका प्रवाह अत्यंत वेगसे चलता हो और उस वेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींच कर प्राप्त किया हो तो उस जलको "आप्" कह सकते हैं।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको "वारि" (वार्, वारं) कहा जाता है।

जो जल-सूर्य किरणों द्वारा बनी भांपसे हो या अग्निद्वारा बनी हुई भांपसे हो-पहले भांप बन कर फिर उस भांपको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको "उदक" कहते हैं। (उत्) भांप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है। मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होने वाले उदकका यह नाम मुख्यतया है। कृत्रिम रीतिसे शुंडायंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इस लिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है। यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझ कर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृतभाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः उस वस्तुके अंतर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है।

यह जल (भद्राः। मं० ५) कल्याण करनेवाला है, बल पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है। (मं० ५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत भोजन से मिल सकती है।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र होगये। जल इन सबकी माता है इसी लिये जलको "माता" वेदमें अन्यत्र कहा है। इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्यप्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान अवश्य करें। यह जलस्नान बडा आरोग्य प्रद होता है। इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं।

गोशाला।

[२४]

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-नाना देवता, गोष्ठदेवता)

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥
सं वः॑ सृजत्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पतिः॑।
समिन्द्रो॒ यो ध॑नंज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद् वसु॑ ॥ २ ॥

अर्थ— हे गौओ ! (वः सुषदा गोष्ठेन सं) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (रय्या सं) उत्तम जलसे युक्त करते हैं और (सु-भूत्या सं) उत्तम रहने सहने से अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं। (यत् अहर्जातस्य नाम) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (तेन वः संसृजामसि) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

(अर्यमा वः संसृजतु) अर्यमा तुमको मिलावे, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे। (यः धनंजयः इन्द्रः सं सृजतु) जो धन प्राप्त करने वाला इन्द्र है वह तुमको धनसे संयुक्त करे। (यत् वसु) जो धन आपके पास है वह (मयि पुष्यत) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थ— गौओंके लिये उत्तम प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंसे उत्तम गुणयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दक्षता सदा रखी जाय। गौओंमें इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि सब देवतागण गौओंकी पुष्टि करें। तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥ २ ॥

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥
इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(अस्मिन गोष्ठे संजग्मानाः अ-बिभ्युषीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (करीषिणीः) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शांत मधुररस —दूध—का धारण करती हुई (अन् — अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (गावः) गौओ ! (इह एव एतन) यहां ही आओ। और (इहो शका इव पुष्यत) यहां साकके समान पुष्ट होओ। (उत इह एव प्रजायध्वं) और यहां ही बच्चे उत्पन्न करके बढो। (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका लगन —प्रेम— मुझमें होवे ॥ ४ ॥

(वः गोष्ठः शिवः भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे। (शारि-शाका इव पुष्यत) शालिकी साकके समान पुष्ट होओ। (इह एव प्रजायध्वं) यहां ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो। (मया वः संसृजामसि) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये लेजाता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— उत्तम खाद रूपी गोबर उत्पन्न करनेवाली, दूध जैसा मधुर रस देनेवाली, नीरोग और निर्भय स्थानपर विचरनेवाली गौवें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें ॥ ३ ॥

गौवें इस गोशालामें आवें, यहां बहुत पुष्ट हों, और यहां बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामिके ऊपर प्रेम करती हुई आनंदसे रहें ॥ ४ ॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याण कारिणी होवे। यहां गौवें पुष्ट होवें और संतान उत्पन्न करके बढें। गौओंका स्वामी स्वयं गौओंकी व्यवस्था देखे ॥ ५ ॥

मयां गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (गावः) गौओ ! (मया गोपतिना सचध्वं) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो । (वः पोषयिष्णुः अयं गोष्ठः इह) तुमको पुष्ट करने वाली यह गोशाला यहां है । (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) शोभाकी वृद्धि के साथ बहुत बढती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उपसदेम) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—गौवें स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुल कर रहें । यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौवें पुष्ट हों । अपनी शोभा और पुष्टि बढाती हुई यहां गौवें बहुत बढें । हम सब ऐसे उत्तम गौवोंको प्राप्त करेंगे और पालेंगे ॥ ६ ॥

गो संवर्धन ।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इस लिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इसमें जो बातें कहीं हैं उनका सारांश यह है कि "गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहने, घास, दाना पानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे । स्वामी गौवोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करें । गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है । संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूधवाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें दक्षता रखी जाय । गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनमें नीरोग संतान उत्पन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय । गोपालन का उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो । उनके गोबर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे ।"

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पढनेसे मिल सकता है । यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें ।

वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति ।

[१५]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक् इन्द्र को प्रेरित करता हूं (सः नः ऐतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुर-एता अस्तु) हमारा अगुवा होवे । (परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर लूट करनेवाले पाशवीभावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु) वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः वहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा सञ्चरन्ति) द्यावापृथिवीके वीचमें चलते रहते हैं, (ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि) जिससे क्रय विक्रय करके मैं धन प्राप्त करलूं ॥२॥

भावार्थ—मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने । वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, लुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने आनेके जो दिव्यमार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त करसकें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥

अर्थ-हे अग्ने! (इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे बलाय हव्यं जुहोमि) मैं लाभकी इच्छा करनेवाला इन्धन और घीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये हवन करता हूं। (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारी अशुद्धिकी क्षमा कर। (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गतक हम आगये हैं। (नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहांका हमारा क्रय और विक्रय लाभ कारक हो। (प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु) प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे। (इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां) इस हविको जानकर सेवन करो। (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे॥ ४ ॥

भावार्थ-मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इस लिये मैं घी और समिधा से हवन करता हूं। इससे मैं ज्ञान प्राप्ति पूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूंगा॥ ३ ॥

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आगये हैं। हे प्रभो! यहां कोई त्रुटि हमसे होगई तो क्षमा कर। यहां जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाभ प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाभ हो और विक्रयसे भी हमें धन बहुत मिले, प्रत्येक व्यवहारसे हमें लाभ होता जाय। हमारा आना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चढाई करना भी हमें लाभकारी होवे। इसके लिये हम यह हवन करते हैं उसका सेवन कर॥ ४ ॥

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः ।
तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान् ह॒विषा॒ नि षे॑ध ॥ ५ ॥
येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः ।
तस्मि॑न् म॒ इन्द्रो॑ रुचि॒मा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः ॥ ६ ॥
उप॑ त्वा॒ नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः ।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥

अर्थ- हे देवाः ! (धनेन धनं इच्छमानः) मूल धनसे लाभकी प्राप्ति की इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कनीयः) थोडा न होवे। हे अग्ने ! (हविषा सातघ्नान् देवान् निषेध) हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले खिलाडियोंका तू निषेध कर ॥ ५ ॥

हे देवो ! (धनेन धनं इच्छमानः) धनसे धन कमाने की इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तस्मिन् मे रुचिं) उसमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र प्रजापति सविता सोम अग्नि देव (आदधातु) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

हे (होतः वैश्वानर) याजक वैश्वानर ! (वयं नमसा त्वा उपस्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं। (सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षण के लिये जागता रह ॥ ७ ॥

भावार्थ-मैं मूलधनसे व्यापार करके बहुत लाभ प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूं वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे। मैं जो यह हवन कर रहा हूं इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो ! तू मेरे व्यवहारमें लाभ का नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ॥ ५ ॥

अपने मूल धनसे व्योपार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इस के लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं उसमें प्रभु की कृपासे मेरी रुची लाभ प्राप्त होने तक स्थिर होवे ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा प्राण प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥
(इति तृतीयोऽनुवाकः)

अर्थ- हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सदं भरेम) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे (तिष्ठते अश्वाय इव) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं। (रायः पोषेण इषा सं मदन्तः) धन पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एकस्थानपर रखे हुए घोडे को खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं। तेरी कृपासे हम बहुत धन पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे त्रस्त न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है। व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रय विक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है। कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को " वणिजं इन्द्रं " (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (तायु। ऋ. १। ६५। १) चोर भी कहा है। जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है।

जिस प्रकार बनिया एक रु० लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह " पुराना सबसे बडा बनिया " मनुष्योंको

सुखदुःख उसी प्रमाण से देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं उतनाही उनको पुण्य मिलता है । इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत् के प्रारंभ से यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्ष पात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है । इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा । इस लिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, यह उपदेश यहां मिलता है ।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्यस्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये ।

हवन का निर्देश मं० ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है । हवन का अर्थ है 'अपना समर्पण'। अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है । ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है । इसलिये व्यापार व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये । धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें । जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है । इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है ।

व्यापारका स्वरूप ।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आगये हैं वे अब देखिये—

१ धनं= मूल धन, सरमाया, जिस मूलधनसे व्यापार किया जाता है । (मं० ५,६)

२ धनं=लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम । (मं० ५,६)

३ वणिक्=व्योपारी क्रयविक्रय करनेवाला । (मं० १)

४ धनदा= व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं । साहुकार । (मं० १)

५ प्रपणः=सौदा, खरीद फरोक्त । (मं० ५)

६ विक्रयः=खरीदा हुआ माल बेचना । (मं० ४)

७ प्रतिपणः=प्रत्येक सौदा । (मं० ४)

८ फली (फलिन्)= लाभ युक्त होना। (मं० ४)
९ शुनं=कल्याण कारी, लाभकरी, हितकर। (मं० ४)
१० चरितं=व्यवहार करनेके लिये हलचल करना। (मं० ४)
११ उत्थितं=उठाव, चढाई। प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना। (मं० ४)
१२ भूयः (धनं)=व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना। (मं० ५)

ये ग्यारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं। इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियाके कार्यमें कौन कौनसे विभाग होते हैं और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये।

प्रथम मूल धन व्यापार व्यवहारमें लगाना चाहिये। यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये। जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका "क्रय" कहां करना योग्य है और उसका "विक्रय" कहां करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये। किन दिनोंमें किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर विक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है। इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें "चरितं" कहा है।

इन सब शब्दोंमें "उत्थित" शब्द बडा महत्त्व रखता है। उठाव, उठना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं। मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं। इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक "वैयक्तिक उत्थान" और दूसरा "सामुदायिक संभूय समुत्थान" है। एक व्यक्ति चढाई की नीतिसे व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको "संभूय समुत्थान" कहते हैं। व्यापारमें केवल ऊपर लिखा "चरित" ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है। पाठक इसका उत्तम विचार करें।

व्यापारके विरोधी।

१ सातघ्नः- (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले। जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है। (मं० ५)
२ सातघ्नः देवः-लाभका नाश करनेवाला जूवेबाज, खिलाडी, (दिव्-'जुवा खेलना') इस धातुसे यह देव शब्द बना है। व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतों वाला मनुष्य। (मं० ५)

३ परिपन्थिन् – बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर ठहरकर आने जाने वालोंको जो लूटते हैं। (मं० १)

४ मृगः = पशु, पशुभाव वाला मनुष्य। (मं० १)

५ अ-रातिः = कंजूस, दान न देनेवाला। (मं० १)

६ कनीयः (धनं) =व्योपारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी। (मं० ५)

इनके कारण व्यापार व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये।

व्यापार व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। पहले विघ्नकारी " सातघ्न देव " हैं। पाठक देवोंको यहां विघ्नकारी देखकर आश्चर्य चकित हो जांयगे। परंतु वैसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। "देव" शब्दके अर्थ "जुआडी, खेलमें समय बितानेवाला" ऐसा भी होता है। यह अर्थ "दिव्" धातुका "जूवा खेलना" अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियों को भी डुबा देंगे। यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले " सातघ्न देव " समझना यहां उचित है। (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है। 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है।

'परिपंथि' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि " जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं। " सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहां अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूलधन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहना चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुएभी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (मा कनीयः। मं० ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं। जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्यों कि यह कमी हरएक प्रसंगमें रुकावट उत्पन्न करनेवाली होती हैं। व्यापार करनेवाले पाठक इससे योग्य बोध प्राप्त करें।

दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है । अन्यथा बडा व्यापार होना अशक्य है । देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहियें । देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भय दायक होते हैं । जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको " देवयानाः पन्थानः " (मं० २) कहा है । देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं,इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लूटमार नहीं होती, व्योपारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते हैं । जहां आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभ दायक होता है ।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचोंके होते हैं जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है । ये ही "परिपन्थी" अर्थात् बटमार, चोर लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लूट देते हैं । इन मार्गों परसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता । इसलिये जहांके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करने के लिये प्रयत्न होना आवश्यक है । वाणिज्य की वृद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है ।

व्यापार अच्छीप्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहां जहां मुकाम करना आवश्यक हो वहां खान पान के पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहियें । रहने सहने और खान पान आदिका सब प्रबंध बनाबनाया रहना चाहिये । उचित धन देकर रहने सहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिये, इस विषय में द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन ।
तथा क्रीत्वा धनमाहरामि । (मं० २)

"वे देश देशांतरमें जाने आनेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूं ।" बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयंही करना पडे तो उसका समय उसीमें चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा । इसलिये मंत्रके कथनानुसार "मार्गही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे" तो अच्छा है । यह उपदेश बडा महत्त्व पूर्ण है और व्यापार वृद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

ज्ञानयुक्त कर्म।

हरएक कार्य ज्ञान पूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे। (मं० ३)

" दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सेंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।"

यहांका "धी" शब्द "प्रज्ञा बुद्धि और कर्म शक्ति" का वाचक है। ज्ञान पूर्वक हरएक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरलमार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुची स्थिर होनी चाहिये,—

तस्मिन् रुचिं आदधातु। (मं० ३)

"उस कार्यमें रुची स्थिर होवे" यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसूं पांचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति।

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। इसविषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बडा मननीय है। " ईश्वरकी नम्रता पूर्वक स्तुति प्रार्थना उपासना करना चाहिये।" क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये जिससे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन पुष्टि सुख आदि प्राप्त होगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

अर्थ– हे (भग) भगवन् ! हे (प्र-नेतः) बडे नेता ! हे (सत्यराधः भग) सत्य सिद्धिदेनेवाले प्रभो ! (इमां धियं ददत नः उत् अव) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर । हे (भग) भगवन् ! (गोभिः अश्वैः नः प्रजनय) गोओं और घोडोंके साथ संतानवृद्धि कर । हे (भग) भगवन् ! हम (नृभिः नृवन्तः स्याम) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होवें ॥ ३ ॥

(उत इदानीं भगवन्तः स्याम) हम इस समय भाग्यवान होवें (उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी। हे (मघवन्) भगवन् ! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें। (हे भग) भगवन् ! (तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (भग) भगवन् ! (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा अगुवा यहां हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे हम सबके बडे नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवन् ! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर। गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें। तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर ॥ ३ ॥

हम प्रातः काल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम भाग्य शाली बनते जांय। हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें। हे भगवन् ! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन॥ ५ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ —(उषसः अध्वराय संनमन्त) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें । (शुचये पदाय दधिक्रावा इव) जिसप्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है । (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आवहन्तु) घोडे इस ओर धनवाले भगवानको मेरे पास ले आवें (अश्वाः रथं इव) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः) घोडे गौएं और वीरोंसे युक्त कल्याणमयी उषायें (नः सदं उच्छन्तु) हमारे घरोंको प्रकाशित करें । (घृतं दुहानाः) घीको प्राप्त करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थ-उषःकालका समय अहिंसामय अकुटिल सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान् भगवान् हमारे अधिक समीप होते जांय ॥ ६ ॥

जिन उषाओंके समय घोडे गौएं और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें । और ऐसी ही उषाएं घृतको प्राप्त करती हुई और सबको दुग्ध पान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवानकी प्रार्थना ।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये । अपना मन शुद्ध और शांत बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये । इस समय मनमें कोई विषयका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे । ऐसे शुद्ध भावोंसे उषःके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं । इसीलिये —

सबका उपास्य देव।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ (मं० २)

इस समय " निर्बल और बलवान्, प्रजानन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।" क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसेही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इस लिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—

१ **आध्रः**— आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारे की आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन।

२ **तुरः**— त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

३ **राजा**— शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करने वाले लोग ये सब यद्यपि जगत्में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसाही समझते हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सब का एक जैसा पालक है। यह—

यः विधर्ता। (मं० २)

" सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है " अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परंतु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसी लिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं। (मं० २)

" (प्रातः जितं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारंभ में ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगाही, परंतु इसका प्रारंभसेही विजय हुआ है, यह बात यहां बतायी है।

अदीनताका रक्षक।

" दिति " नाम पराधीनता या दीनताका है और " अ-दिति" का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता। इस स्वाधीनताका यह (पु-त्र = पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसी लिये यह भाग्यवान् होनेसे "भग" कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा। " अ-दितिका पुत्र " होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इस लिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है। पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति।

" अग्नि इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भग की हम उपासना करते हैं। (मं० १) " यह इस मंत्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुण बोधक विशेषण हैं। इस सूक्तमें " भग " अर्थात् ऐश्वर्य की प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें " भग " शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं। परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मान कर अन्य शब्दों को उसके विशेषण माना जा सकता है। जैसा- (१) भाग्यप्राप्ति की इच्छा करनेवाला " भग " नामको मुख्य मान कर उपासना करे। (२) ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा करने-वाला " ब्रह्मणस्पति " नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला " इन्द्र " नामको मुख्य मान कर उसीकी उपासना करे। (४) पुष्टि चाहने वाला " पूषा " नामको मुख्य मान कर उसकी उपासना करे। (५) शांति चाहनेवाला " सोम " नामको मुख्य मान कर अन्य नामोंको उसके विशेषण माने और उपासना करे। (६) उग्रताकी इच्छा करनेवाला " रुद्र " नामको मुख्य मानकर उपासना करे, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामना के अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे। उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्यों कि "एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एकही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं" इस वैदिक नीतिके अनुसार इस प्रथम

मंत्रमें आये सब शब्द एकही परमात्माके वाचक हैं। इस कारण किसी गुणको प्रधान मा[न]कर प्रभुकी उपासना की जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्त[न] किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है। मन जिसका ध्यास लेता है वह गुण मनमें बढत[ा] है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है। इन गुणोंका चिंतन करनेकी सुविधा होने के लिये यहां इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

१ अग्निः— तेज, प्रकाश, उष्णता, और गति करनेवाला।

२ इन्द्रः-- शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा।

३ मित्रः— मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला सबका हित करनेवाला।

४ वरुणः- श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ।

५ अश्विनौ-धन और ऋण शक्तिसे युक्त, वेगवान्। सर्व व्यापक, सर्वत्र उपस्थित।

६ भगः— भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान्।

७ पूषा— पोषक, पुष्टि करनेवाला।

८ ब्रह्मणस्पतिः—ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी।

९ सोमः— शांत, आल्हाद दायक, कलानिधि, कलावान्, मधुर, प्रसन्नता करनेवाला।

१० रुद्रः--- उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रु-विध्वंसक वीर, शत्रुको रुलानेवाला।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं। पाठक इन शब्दों के मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं। जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुण वाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकार का बनता है और आवश्यक गुण मनमें विकसित होने लगता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि, अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसी लिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा।

इमां धियं दधत्नः उदव। (मं०२)

"इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रक्षा कर" यहां प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परंतु "बुद्धि" मांगी है, यह "धारणावती बुद्धि" जो

कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है। भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरुषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके विना उन्नति असंभव है। धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ता का भाव है उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्म शक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये। यह धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। जिस बुद्धिमें ज्ञान शक्ति पुरुषार्थ शक्तिके साथ संमिलित रहती है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा "इमां धियं" शब्दोंमें है। प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्म शक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहां तृतीय मंत्रमें (इमां धियं ददत्) 'इस बुद्धिको दो' इन शब्दोंमें मांगी है। यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मनन से मिल सकता है। मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परंतु विशेष स्पष्टता के लिये यहां थोडासा स्पष्टी करण करते हैं—

उपासना -(और उससे सिद्ध होनेवाली)- धारणा।

मंत्रका शब्दार्थ -(और उससे उद्दीपित होनेवाला)- बुद्धिका भाव।

प्रथम मंत्र।

(अग्निं) तेजस्वी, परंतु (सोमं) शांत मीठे स्वभाववाले (मित्रा-वरुणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्षपाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (पूषणं) पोषण कर्ता (ब्रह्मणस्पतिं) ब्रह्म ज्ञानी देव की प्रार्थना मैं प्रातःकाल में करता हूं।

(अश्विनौ) वेगवान् धनकर्षण शक्ति वाले और (रुद्रं) शत्रुको रुलानेवाले (भगं) भाग्य युक्त (इन्द्रं) शत्रुओं को दूर करनेवाले शासन कर्ता प्रभुको मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं।

(१)

(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परंतु (२) शांत और मीठा स्वभाव धारण करके(३) मित्र दृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूंगा, (५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा और (६) अपने अंदर ज्ञान बढाऊंगा।

(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रुलाने योग्य पराक्रम युद्ध भूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूंगा।

द्वितीय मंत्र ।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयी (उग्रं) उग्र शूरवीर प्रभुकी में प्रातःकाल प्रार्थना करता हूं । इसी प्रभुकी भक्ति अशक्त और सशक्त, रंक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्य का भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अवस्थाका (पु-त्रः) पावन कर्ता और तारण कर्ता है ।

(२)

मैं प्रातः कालमें अपने विजय साधन का विचार करता हूं, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वर भक्ति पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनता की रक्षा के लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अंदर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अंदर रक्षक शक्ति भी बढाऊंगा ।

उपासनाके मंत्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है । पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है । क्यों कि इस जीवात्मरूप "अमृत पुत्र" ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसी लिये वह उपासना करता है ।

(१) " परमेश्वर ज्ञानी है " इतना वाक्य कहतेही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ज्ञानी बनूंगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा । " (२) " परमेश्वर शत्रुनिवारक है " इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि "मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊं । ' (३) इसी प्रकार "परमेश्वर ऐश्वर्यमय है" इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरुषार्थ करूं । " (४) इसी रीतिसे "परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है " इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि " मैं भी कुछ हुनर बनाऊं । " इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणासे संबंध है । यह जो बुद्धिमें स्थिररूपसे विशिष्ट विचार की भावना जम जाती है उसका नाम "धी" है । पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञान शक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करने के लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है । (इमां धियं ददन् नः उत अव ॥मं० ३ ॥) "इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर' इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्त्व पूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और

इस ढंगसे मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जान कर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें ।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें " प्रणेतः " और " सत्यराधः " ये दो शब्द विशेष महत्त्व के हैं । " प्र-नेता " का अर्थ " उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला नेता " तथा " सत्य-राधः " का अर्थ " सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला " है । ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबको उन्नतिके मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्य मार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है । मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें । मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके सीधे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें। ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही " नृ अथवा नर " कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इस लिये कहा है—

नृभिः नृवन्तः स्याम । (मं० ३)

" श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे । यहांका " नृवान् " शब्द " मातृमान्, पितृमान् " शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा-(मातृमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त । नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं । चोरोंके साथ भी उनके साथी रहते ही हैं,तथापि उस चोर को " नृमान् " नहीं कहा जा सकता । अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अभ्युदय होना संभव है, इसलिये " अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें " ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है । इस प्रकार अच्छे मनुष्यों की साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

देवोंकी सुमति ।

"हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें,कि जिससे हम (भगवन्तः) भाग्यवान बनते जांय । तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें । (मं० ४)" यह चतुर्थ मंत्रका कथन है । यहां दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है । प्रातःकाल

क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। सत्य मार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो।

जहां भाग्य प्राप्त होना है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुंदसे रह नहीं सकता, इस लिये भाग्य प्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (मं० ४)

" हम देवोंकी सुमतिमें रहें। " अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे। हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें। इस मंत्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है। परंतु वेदको सुमार्ग परसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इस लिये जहां गिरनेकी संभावना होती है वहां ही इस प्रकार की सावधानीकी सूचना दी होती है। ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें।

पंचम मंत्रमें (स नो भगः पुरएता भवेह। मं० ५) 'वह भगवान् ही हमारा अगुवा बने' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्य से है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अग्रगामी समझें और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें। गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है। सर्वत्र परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है।

अहिंसा का मार्ग।

षष्ठ मंत्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अध्वर— (अ-ध्वरा) अकुटिलता, जहां टेढापन नहीं है, जहां सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है, जहां दूसरोंका घात पात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है।

ये " अ-ध्वर " शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं। इस अहिंसाके मार्गसे जाना और पंचम मंत्रका " परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना "; चतुर्थ मंत्रोक्त " देवोंकी सुमतिमें रहना; " और तृतीय मंत्रोक्त " सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना " एक ही बात है। इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं पाठक यहां देखें कि इस सूक्तने यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है।

गौवें और घोडे।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें " गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर " ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवें और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहानाः) 'घीका दोहन करनेवाली' और (विश्वतः प्रपीताः) 'सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली' यह उषा का वर्णन सवेरेके समय दूधका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौवोंको इसी लिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आजही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घी को " हैयंगवीन घृत" कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण।

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमण के लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको सवेरे घरकी गौका ताजा दूध पीनेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सवेरेके प्राणप्रद वायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजका समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये।

[१७]

(ऋषिः- विश्वामित्रः । देवता-सीता)

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सु॒म्न॒यौ ॥ १ ॥
यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नोत कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म् ।
वि॒राज॑ः श्नु॒ष्टिः सभ॑रा असन्नो॒ नेदी॑य॒ इत् सृ॒ण्य॑ः प॒क्वमा य॑वन् ॥ २ ॥

अर्थ— (देवेषु धीराः कवयः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग (सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और (युगा पृथक् वितन्वते) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, (युगा वितनोत) जूओंको फैलाओ, (कृते योनौ इह बीजं वपत) बने हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । (विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्) अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे। (सृण्यः इत् पक्वं नेदीयः आयवन्) हंसुवे भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावें ॥ २ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बांध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जूओंको फैलाओ, अच्छीप्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥
शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

अर्थ-(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलाने के लिये सुख कारक, लकडीके मूठ वाला हल (गां अविं) गौ और बकरी, (प्रस्थावत् रथवाहनं) शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल, (पीवरीं च प्रफर्व्यम्) पुष्ट स्त्री (इत् उद्वपतु) निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकडे, (पूषा तां अभिरक्षतु) पूषा उसकी रक्षा करे। (सा पयस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) वह हलकी रेषा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

(सु-फालाः भूमिं शुनं वितुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुख पूर्वक खोदें। (कीनाशाः शुनं वाहान् अनुयन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलों-के पीछे चलें । (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोशमानौ) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (अस्मै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तम्) इस किसान के लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

भावार्थ-हलको लोहेका कठिन फार लगाया जावे और लकडीकी मूठ पकडनेके लिये कीजावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे। यह हलही गौ बैल, मेड बकरी, घोडा घोडी, स्त्रीपुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी वृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उस की उत्तम रक्षा करे। यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

हलके सुन्दर फार भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रस युक्त औषधियां देवें ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥६॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् । यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥७॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव । यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥८॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९॥

अर्थ—(वाहाः शुनं) बैल सुखी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुखी हों (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे कृषि करे । (वरत्रा शुनं बध्यन्तां) रस्सियां सुखसे बांधी जांय, (अष्ट्रां शुनं उदिंगय) चाबूक सुखसे ऊपर चला ॥६॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स्म मे जुषेथां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें । (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥७॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (त्वा वन्दामहे) तेरा वन्दन करते हैं। हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सन्मुख हो ।(यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देने वाली होवे ॥८॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह घीसे सिंचित हुई तू(नः पयसा अभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर॥९॥

भावार्थ-बैल सुखी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय । रस्सियां जहां जैसी बांधना चाहिये वैसी बांधी जांय और आवश्यकता होनेपर चाबूक ऊपर उठाया जाय॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवन का स्वीकार करें और जो जल आकाशमंडलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥ ७ ॥

भूमि भाग्य देनेवाली है, इस लिये हम इसका आदर करते हैं । यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त धान्य और फल देती रहे ॥ ९ ॥

भी नहीं मिलते तो खाद के लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहां मिलेंगे? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है।

इतिहासिक उदाहरण।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृत का खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समय तक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता !!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उस के फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इस में संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलनाही नहीं हो सकती।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनी पाठक इस के प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें। साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्यों कि जिन लोगों को पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध दही घी शहद और मिश्री कहांसे ले आयंगे।

पाठक ये वर्णन पढें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसेहि कल्पना करें और मनही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें !!

गौरक्षा का समय।

वैदिक काल गौकी रक्षा का काल था, इस लिये गौवें विपुल थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था। परंतु आज अनार्योंके भक्षण के लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती हैं, इस लिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता। यह कालका परिवर्तन है। यहां अब देखना है कि वैदिक धर्मीयोंके प्रयत्नसे भविष्य काल कैसा आता है।

वनस्पति ।

[१८]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-वनस्पतिः)

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—(इमां बलवत्तमां वीरुधां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं। (यया सपत्नीं बाधते) जिससे सपत्नी को हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पानवाली भाग्यवती देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि ! (मे सपत्नीं पराणुद) मेरी सपत्नी को दूर कर और (मे केवलं पतिं कृधि) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे सापत्न स्त्री ! (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी। अब मैं (परां सपत्नीं परावतं गमयामसि) अन्य सपत्नी को दूर करती हूं॥३॥

हे (उत्तरे) श्रेष्ठ गुणवाली औषधि ! (अहं उत्तरा) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं। (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराभ्यः अधरा) वह नीचसे नीच है॥४॥

अ॒हम॑स्मि॒ सह॑माना॒थो॒ त्वम॑सि सास॒हिः ।
उ॒भे सह॑स्वती भू॒त्वा स॒पत्नीं॑ मे सहावहै ॥ ५ ॥
अ॒भि ते॑ऽधां॒ सह॑माना॒मुप॑ ते॑ऽधां॒ सही॑यसीम् ।
मामनु॒ प्र ते॒ मनो॑ व॒त्सं गौरि॑व धावतु प॒था वारि॑व धावतु ॥ ६ ॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूं और हे औषधि (अथो त्वं सासहिः असि) तू भी विजयी है। (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जय शाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जीत लेवें ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अधां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अधां) तेरे नीचे इस जय शालिनी वनस्पतिको रखा है। अब (ते मनः मां अनु प्रधावतु) तेरा मन मेरे पीछे दौडे। (गौः वत्सं इव धावतु) जैसी गौ बछडेकी ओर दौडती है और (वाः इव पथा) जैसा जल अपने मार्गसे दौडता है ॥ ६ ॥

सापत्नभाव का भयंकर परिणाम।

इस सूक्तका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक स्त्रियां करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर [illegible] बढता है, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं [illegible] है। यह बात इस सूक्तमें कही है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई [illegible] अनेक विवाह करके अपने घरमें सापत्न भाव का बीज न बोवे।

[illegible] एक पुरुषके अनेक विवाह होना है वहां इत्यादि भडकते रहता है [illegible] कभी सुख नहीं मिलता। वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और [illegible] है और अंतमें उस कुटुंबका नाश होता है।

[illegible] किया जाता है और इसमें ब्रह्मचर्य [illegible] आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता।

[१९]

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता—विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं १ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं १ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरा यह ज्ञान तेजस्वि हुआ है, और मेरा यह (वीर्यं बलं संशितं) वीर्य और बल तेजस्वी बना है। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं ॥ १ ॥

(अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूं। और (अनेन हविषा) इस हवनसे (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य वीर्यभी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी वृद्धिंगत करता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया　　　　॥ ६ ॥
प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः　　॥ ७ ॥

अर्थ-हे (मघवन्) धनवान् ! उनके (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उत्तेजित हों, (जयतां वीराणां घोषः उत् एतु) विजय करने वाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे । (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघशब्दका घोष (पृथक् उत् ईरताम्) अलग अलग ऊपर उठे। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत् देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चलें ॥ ६ ॥

हे (नरः) लोगो ! (प्र इत) चलो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हों । हे (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः उग्रबाहवः) उग्र आयुध वालो और बलयुक्त भुजावालो ! (अ-बल- धन्वनः अबलान् हत) निर्बल धनुष्य वाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों. इनके विजयी वीरोंका जयजयकार का शब्द आकाशमें भरजावे । झंडे उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतों की सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेनाभी विजय कमावे ॥ ६ ॥

हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रास्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

अर्थ- हे (ब्रह्म- संशिते शरव्ये) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू (अवसृष्टा परापत) छोडा हुआ दूर जा और (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीतलो, (प्र पद्यस्व) आगे बढ, (एषां वरं वरं जहि) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे कोईभी न बच जाय ॥ ८ ॥

भावार्थ-ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जय वीरोंकी प्रेरणासे छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है। हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं। उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहित का कार्य करना होता है। पूर्णहित करनेका नाम पुरोहित का कार्य करना है। यजमान का पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये। जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्रही यजमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहित के स्थानपर होती है। इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है। ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; यह कर्तव्य इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है, राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जान कर उसको निभावें।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है। इसलिये भी इस सूक्त का मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये। अब सूक्तका आशय देखिये-

ब्राह्मतेजकी ज्योति।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति होनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्यक है। इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है-

मे इदं ब्रह्म संशितम् । (मं० १)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । (मं० ३)
उन्नयामि स्वान् अहम् । (मं० ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । (मं० ८)
जय अमित्रान्० ॥ (मं० ८)

" मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है । ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूं । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं । ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो ॥ "

ये मंत्र भाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है । जगत्‌में अनेक राष्ट्र हैं उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है । यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है। अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधन का नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञान संपन्न करें । क्षत्रियों वैश्यों और शूद्रों को भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इस का निश्चय होता है । अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये । यह उपाय योजना का कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है । शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, उनसे अपने शस्त्रास्त्र अधिक प्रभाव शाली किस रीतिसे करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है । अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्न लिखित मंत्रमें कहा है-

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । (मं० ८)

"ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें ।" इसमें ज्ञानसे उत्तेजित प्रेरित और तीक्ष्ण बने शस्त्र अधिक प्रभाव शाली होनेका वर्णन है । अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जान कर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान्

और अधिक प्रभाव शाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जांयगे, तब परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है

पुरोहितकी प्रतिज्ञा।

"जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, परा शौर्य, वीर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो।" (मं० १)

"जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल घटाता हूं॥ (मं० २)

"जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हम देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उस नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञान बलसे उठाता हूं।" (मं० ३)

"जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं।" (मं० ४)

"इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं।" (मं० ५)

ये मंत्र भाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्य का ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वेही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति।

षष्ठ सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इसप्रकार किया है

"वीरोंके पृथक् अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगान गाते हुए और

आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें।" (मं० ६)

"वीरो! आगे बढो, तुम्हारे बाहू प्रभाव शाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मारडालो।" (मं० ७)

"ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर।" (मं० ८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे शब्द देखने योग्य हैं—

(१) जह्येषां वरं वरं,
(२) माऽमीषां मोचि कश्चन ॥ (मं० ८)

"इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे।" ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं। शत्रुसेनाके पक्षके जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये। प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे। ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बडी आसानीसे परास्त होगी। यह युद्ध नीति अत्यंत मनन करनेयोग्य है।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुन कर मारनेमें तत्पर हों। जब इन वीरोंके वेगसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय।

[२०]

(ऋषिः— वसिष्ठः । देवता-अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो चारोचथा ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव । प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥२
प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः । प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे॥३॥

अर्थ— हे अग्ने ! (अयं ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋतु से संबंधित उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है। (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ (अध नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढा ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (इह नः अच्छ वद) यहां हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यङ् नः सुमनाः भव) हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन् ! (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्यों कि (त्वं नः धनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अर्यमा नः प्रयच्छतु) अर्यमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें देवे। (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवें। (उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है। अपने उत्पत्तिस्थान को जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मन वाला हो। हे प्रजाओंके पालक ! तू हमें धन देनेवाला है, इस लिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥४॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥६॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

अर्थ-राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति को (अवसे गीर्भिः हवामहे) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने! (त्वं अग्निभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा। हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायू) दोनों इन्द्र और वायु(सु-हवौ) उत्तम बुलाने योग्य हैं इस लिये (इह हवामहे) यहां बुलाते हैं। (यथा नः सर्वः इत् जनः) जिस से हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमनाः असत्) संगतिमें उत्तम मनवाले होवें (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

भावार्थ-राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति की हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढाओ। हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देने के लिये पर्याप्त धन दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र वायु इन दोनों की प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठन से संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छा वाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥
दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ-(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं। (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं। (प्रजानन्) जाननेवाला (अदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवालेको निश्चय पूर्वक दान देनेकेलिये प्रेरणा करे। (च नः सर्ववीरं रयिं नियच्छ) और हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

(उर्वीः पञ्च प्रदिशः) ये बडी पांचों दिशाएं (यथाबलं मे दुह्रां) यथा शक्ति मुझे रस देवें। (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकूतीः प्रापेयम्) सब संकल्पों को पूर्ण कर सकूं ॥ ९ ॥

(गोसनिं वाचं उदेयं) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोलूं। (वर्चसा मां अभ्युदिहि) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर। (वायुः सर्वतः आ रुन्धाम्) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे। (त्वष्टा मे पोषं दधातु) त्वष्टा मेरी पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ-बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, जैसे ये सब भुवन अन्दरसे संघटित हुए हैं। यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीर भावोंसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

ये बडी विस्तीर्ण पांचहीं दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

प्रसन्नता को बढानेवाली वाणी मैं बोलूंगा। तेजके साथ मुझे अभ्युदय प्राप्त कर। चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगदुत्पादक देव मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है । इस सूक्त का ध्येय वाक्य यह है—

वर्चसा मा अभ्युदिहि । (मं० १०)

" तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर " यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं । उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

" यज्ञमें जो अग्नि लेते हैं, वह लकडियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकडियां स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उत्पन्न होने वाला अग्नि (जातः अरोचथाः । मं० १) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहां वह (रोह । मं० १) स्वयं बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (गीर्भिः हवामहे । मं०४) मंत्र पाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ (अग्निः अग्निभिः । मं०५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । मं०५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है । यज्ञमें सब लोग (जनः संगत्यां सुमनाः । मं०६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं । तथा (प्रसवे संवभूविम । मं० ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इसप्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं । "

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं. इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है ।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थान का स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है । " यह तेरा उत्पत्तिस्थान है. जहां उत्पन्न होते ही तू प्रकाशता है; यह जानकर स्वयं

बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा।" (मं० १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्ति स्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नति के लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे "मैं कहांसे आया हूं और मुझे कहां पहुंचना है" इसका विचार करना सुगम होजाता है। जहां कहां भी उत्पत्ति हुई हो वहांसे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(इह अच्छा वद) यहां सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यङ् सुमना भव) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (प्रयच्छ) दानकर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धि के लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है। सबसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके विना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात् (सूनृता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्य के पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है। इसके नंतर (अर्य+मन्=आर्य+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् (बृहस्पतिः) ज्ञानी और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिल तक पहुंचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अवसे) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा अशक्य है। इसके साथ साथ (सोमः आदित्यः सूर्यः) वनस्पतियां, और सबका आदान करनेवाला सूर्य प्रकाश ये बल और आरोग्य वर्धक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (विष्णुः) सर्व व्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है। जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएं मिलती हैं और इनकी सहायतायें लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहां ही पहुंचता है। इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

सम्भूय समुत्थान।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है। (वाजस्य नु प्रसवे संबभूविम। मं० ८) "बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं।" संभूय-समुत्थान के विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है। (सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत्। मं० ३) "सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें।" ऐसा न करेंगे तो संघ शक्ति बढ नहीं सकती। यह उत्तम सौमनस्य का व्यवहार सिद्ध होने के लिये (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। मं ५) ज्ञान और आत्मसमर्पण का भाव बढाओ। संघशक्ति के लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होनी है, इस लिये पहले वैयक्तिक उन्नति के उपदेश देकर पश्चात् सांघिक उन्नतिके निर्देश किये हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है।

" वाजस्य प्रसवे संबभूविम " (मं० ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है। यहां " वाजः " शब्दके अर्थ देखिये-" युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गति, वाणीका बल " ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार होता है- " हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगठन करते हैं; अन्न जल खाद्य पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं; अपनी वाणी का बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे; तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढाने के लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं। " पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसङ्ग में इस अर्थ का अवश्य मनन करें।

उन्नतिके लिये कंजूसीका भाव घातक है इसलिये कहा है कि (अ-दित्सन्तं दापयतु। मं० ८)" कंजूस को भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर झुकाओ, " क्यों कि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे बिगडती है। अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह (सर्ववीरं रयिं नियच्छ। मं०८) "संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये।" अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इस लिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमानेका उपदेश यहां किया है।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्यही कह सकता है कि " मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति

बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण होजांय। (मं० ९)" इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण होजाते हैं।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है। इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बडा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें। सूक्तके प्रारंभसे यही विषय है-

"अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं० १); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढाना। (मं. ५); प्राप्त धन परोपकारमें लगाना (मं. ५); सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करने की ओर प्रवृत्त करना। (मं. ६); सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं. ८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है।" संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायकशक्ति उत्पन्न होनी चाहिये। तब संकल्प सिद्ध होंगे। इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जांय। इसके नंतर—"सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इस लिये वह तेजस्विताके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है। (मं० १०)"

इस दशम मंत्रमें "गोसनिं वाचं उदेयं" यह वाक्य है। 'गो' का अर्थ है-"इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी।" इस अर्थको लेकर-"इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं" यह अर्थ इससे व्यक्त होता है। आगे "तेजस्विताके साथ अभ्युदय" प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह "प्रसन्नता बढाने वाली वाणीसे बोलना" कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें। इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है। पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं। अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहां अधिक लेख बढानेकी आवश्यकता नहीं है। अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें। वेदकी यह एक अपूर्व शैली है।

कामाग्नि का शमन।

[२१]

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता-अग्निः)

ये अग्नयो अप्स्वं१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥
यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥

अर्थ—(ये अग्नयः अप्सु अन्तः) जो अग्नियां जलके अन्दर हैं, (ये वृत्रे) जो मेघमें, और (ये पुरुषे) जो पुरुषमें हैं, तथा (ये अश्मसु) शिलाओंमें हैं, (यः ओषधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश) जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(यः सोमे अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अंदर, (यः वयःसु, यः मृगेषु आविष्टः) जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमे प्रविष्ट है, (यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश) जो द्विपाद् और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— जो अग्नि जल, मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें हैं उनकी प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों, मृगादि पशुओं तथा द्विपाद् चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उसके लिये यह हवन है ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥
यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

अर्थः—(विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः) सबको जलानेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी (यः देवः इन्द्रेण सरथं याति) जो देव इन्द्रके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (यं पृतनासु सासहिं जोहवीमि) जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये जिसकी मैं प्रार्थना करता हूं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(यः विश्वाद् देवः) जो विश्वका भक्षक देव है, (यं उ कामं आहुः) जिसको "काम" नामसे पुकारते हैं, (यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (यः धीरः शक्रः परिभूः अदाभ्यः) जो बुद्धिमान्, शक्तिमान्, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

(त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्य-जातियां (यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः) जिस तुझको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, (वर्चोधसे) तेजस्वी (सूनृतावते) सत्य भाषी और (यशसे) यशस्वी तुझे और (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ- सबको जलाकर भस्म करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रके साथ रथपर बैठकर भ्रमण करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करानेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका भक्षक है और जिसको "काम" कहते हैं, जो देने-वाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान, समर्थ, सर्वत्र जानेवा-ला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण क्षत्रियादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यश-स्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥
हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(उक्षान्नाय वशान्नाय) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (सोमपृष्ठाय) औषधियोंको पीठपर लेता है उस (वेधसे) ज्ञानीके लिये और (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः) सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं अनु संचरन्ति) जो द्युलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदरभी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्णभूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और आंगिरसोंकी (हवामहे) प्रार्थना करते हैं कि वे (इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु) इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

भावार्थ–जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठपर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसभक्षक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥
ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

अर्थ- (क्रव्यादू अग्निः शान्तः) मांसभक्षक अग्नि शान्त हुआ,(पुरुषरेषणः शान्तः) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (अथ यः विश्वदाव्यः) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है (तं क्रव्यादं अशीशमम्) उस मांसभक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

(ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्पतियोंको पीठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उत्तानशीवरीः आपः) ऊपरको जानेवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रव्यादं अशीशमन्) मांसभोजी अग्निको शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ-यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत् को जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

जहां सोमादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे चलनेवाले जल प्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांस भक्षक अग्निको शांत करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप।

इस सूक्तमें कामाग्निको शान्त करनेका विधान है। कामको अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मिषसे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बडा ही मनोरंजक है। यह सूक्त "बृहच्छान्तिगण" में गिना है, सच मुच कामका शमन करना ही "बृहच्छान्ति" स्थापित करना है। यह सबसे बडा कठिन और कष्ट साध्य कार्य है। इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रव्याद' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें मुर्दे जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नहीं है। काम रूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बडा मनुष्यभक्षक है। जितना अग्नि जलाता है उससे सहस्रगुणा यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे

देखेंगे तो जान सकते हैं। इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं। इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं-

१ यो देवो विश्वाद् यं उ कामं आहुः। (मं० ४)=जो अग्निदेव सब जगत्को जलानेवाला है और जिसको 'काम' कहते हैं।

इस मंत्र भागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह "काम" ही है। नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको शंका करना भी अब उचित नहीं है। तथापि निश्चय की दृढता के लिये इस सूक्तके अन्य मंत्र भाग अब देखिये—

२ क्रव्याद् अग्निः। (मं० ९)=मांस भक्षक अग्नि।

३ पुरुषरेषणः अग्निः। (मं० ९)=पुरुषका नाशक (काम) अग्नि।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सूख जाता है और इस कामके प्रकोपसे कितने मनुष्य सह परिवार नष्ट भ्रष्ट होगये हैं यह पाठक यहां विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्र भागों का गंभीर अर्थ ध्यानमें आसकता है। इस दृष्टीसे—

४ विश्वाद् अग्निः। (मं ४, ९)=विश्वका भक्षक (काम) अग्नि।

यह बिलकुल सत्य है। भगवद्गीतामें कामको "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥" (भ० गी० ३। ३७) यह काम बडा (महाशनः) खानेवाला है। "महाशन (महा-अशनः) और विश्वाद (विश्व-अद्)" ये दोनों एक ही भाव बतानेवाले शब्द हैं। सच मुच काम बडा खानेवाला है, इसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह सदा अतृप्त ही रहता है, इसका पेट सब जगत्को खाजानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है-

५ विश्व-दाव्यः (मं० ३, ९) = सबको जलानेवाला (काम अग्नि)

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे जलाने लगता है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बढने लगता है और कामाग्निको अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है !! जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानो सब जगत् ही जलने लगता है। जिसके मनमें कामाग्निकी ज्वालाएं भडक उठती हैं, उसको न जल शांति दे सकता है, न चंद्रमाकी अमृत पूर्ण किरणें शांति दे सकती हैं, वह तो सदा अशांत और संतप्त होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है !! इसके सामने यह अग्नि क्या जला सकता है ? कामाग्निकी दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो

शान्त ही है और इसीलिये मंत्र आठमें " इस अग्निको कामाग्निकी शान्ति करनेको कहा है ! " यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले जो विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बडे सहायक हैं । इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है । भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतंत्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित होजाता है ।

काम और इच्छा ।

" काम " शब्द जैसा काम विकार का वाचक है उसीप्रकार इच्छा, कामनाका भी वाचक है । वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं । भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एकही इच्छा शक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसाही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामना के रूपमेंभी प्रगट होता है । परन्तु इनके अन्दर घुसकर देखा जाय तो " मुझे चाहिये" इस एक इच्छाके सिवाय दूसरा इसमें कुछभी नहीं है, अपने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्ती के लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण हो जाऊंगा । इत्यादि प्रकार की इच्छाही " काम अथवा कामना" है । यही इच्छा सबको चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है देखिये—

वैश्वानरः (विश्व—नेता) । (मं० ६)

" यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है। विश्वको चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है । यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना असम्भव है। पदार्थ मात्रमें-कमसे कम चेतन और अर्ध चेतन जगत्में- यह स्पष्ट दिखाई देती है। इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्र का कथन स्पष्ट है ।

" इस कामरूप अग्निके अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पत्थर, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पक्षी, पशु, द्विपाद चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं । " (मं. १, २) तथा " पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्,द्युलोक, दिशा, वायु, आदिमें भी हैं ।" (मं. ७)

इस मंत्रसे स्पष्ट होजाता है कि यह कामाग्नि पत्थर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्यों

तक सब सृष्टिमें विद्यमान है। औषधियां बढनेकी इच्छा करती हैं, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उडना चाहते हैं, मनुष्य जगत् को जीतना चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है। यही इच्छा है और यही काम है। यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोडता है तब उसको कामविकार कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी। यही स्वार्थकी कामना " गाय और बैलोंको पालती है और उनको खिलाती पिलाती है, औषधियोंकी पालना करती है।" (मं. ६)

कामकी दाहकता।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछभी नहीं है!!

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपरके कई राष्ट्रोंको पारतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं हैं। इसीलिये इसको तृतीय मंत्रमें (पृतनासु सासहिं) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है। किसी भी पक्षकी जीत हुई तो इसीकी वह जीत होती है!!!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी जातियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एकही स्वार्थ की कामना का ही प्रताप है। धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सर्व कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंको अंदरही अंदरसे जला रहे हैं।

आंख सुंदर रूपकी कामना करता है, कान मधुरस्वर की अभिलाषा करता है, जिव्हा मधुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां अन्यान्य विषयोंको चाहती हैं। इनके कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक अग्निमें कहां है?

काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर ये मनुष्यके छः शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे

मुख्य शत्रु " काम " है, सबसे बढकर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुंचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कट जानेवाले को अपने कट जानेका पता तक नहीं लगता!!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्म पुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय काम विकार की ज्वाला मनमें भडक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका भान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म होजाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल होजाते हैं, मस्तककी विचार शक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनको पीसता है, शक्तीको नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकता की अग्निके साथ क्या तुलना हो सकती है। इस लिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (विश्व-दाव्यः) जगत् को जलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ होजाता है !!

इस सबका विचार करके पाठक " कामकी दाहकता " जानें और इसकी दाहकतासे अपने आपको बचानेका उपाय करें।

न दबनेवाला।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण " विश्वाद्, दाता, प्रतिगृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः " आये हैं और इसीमें इसका नाम (यं कामं आहुः) " काम " करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्निके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

" यह काम (विश्वाद्) जगत्को खानेवाला, (दाता) दान देनेवाला, (प्रतिगृह्णन्) आयुष्यादि लेनेवाला, (धीरः) धैर्य देनेवाला, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सबसे बढकर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दबनेवाला है। (मं० ४) "

विचार करनेपर ये विशेषण काम के विषयमें बडे सार्थ हैं ऐसाही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय भीरु दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकार की लहरमें बडे साहसके कर्म करने लगता है,

जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओं को दबाकर अपना अधिकार सबपर जमादेता है, दबानेका यत्न करनेपर भी यह उछल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहां विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व ३।२९।७ में भी " कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता " कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा वीर्य हरण करता है, ये अर्थ पूर्वापर संगतिसे यहां अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामना के अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें "त्रयोदश भुवनोंमें रहनेवाले पंचजन इसको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं" ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता काम की ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कही है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आधीन करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामको ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस काम ने ही सब जगत् पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि (वर्चः) तेज (यशः) यश और (सूनृतं) सत्य आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुफल होता है। सब लोग जो संसार में मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे चले हैं मानो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरुष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिका अधिकारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है। परंतु कितने थोडे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं? यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि "यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (इन्द्रेण सरथं याति) जाता है।" (मं.३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है? "इन्द्र" नाम जीवात्माका है और उसका रथ यह शरीरही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥ कठ उ० ३।४

" आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ यह शरीर है और इंद्रियां उस रथके घोडे हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं। " इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है। इस उपनिषद्वचनके " इन्द्रिय " पदका अर्थ " इन्द्रकी शक्ति " है। हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी

शक्तियां ही हैं, यह देखनेसे आत्माही इन्द्र है इस विषयमें निश्चय हो सकता है।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीर रूपी रथमें यह " काम " बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है-

यः इन्द्रेण सरथं याति। (मं० ३)

" जो काम रूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है" इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा। पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें जैसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छाही इसको चला रही है। इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है।

काम रूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रज्वलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको जहांतक प्रयत्न हो सकता है, उतना प्रयत्न करके शांत करनेकाही उपाय करना चाहिये। इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये-

काम शान्तिका उपाय।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है। देखिये वह मंत्र-

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम्॥ (मं० ९)

" यह मांस भक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसको मैंने शान्त किया है। " इस मन्त्रमें इस कामाग्निको मैंने शांत किया ऐसा कहा है, इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है। यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्यभी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निको शान्त कर सकते हैं। हरएकके शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इस लिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरुषार्थ करें और आत्मिक शान्ति प्राप्त करें। इसको शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवम मन्त्रमें कहा है-

" हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आङ्गिरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शांत करें " ॥ (मं० ८)

" सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शान्त करें॥ (मं०१०)"

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करने वाला है। ये मन्त्र उपाय-कथन करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये। इन दो मन्त्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रम पूर्वक चिन्तन अब कहते हैं-

१ सोमपृष्ठाः पर्वताः— जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियां उगती हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं। इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु कामको भडकने नहीं देता है। शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निकी ज्वाला शीघ्र और अधिक भडक उठती है। उष्ण देशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दीपित होते हैं। इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है। सोमवल्ली उगने वाले पर्वतशिखर हिमालयमें हैं, वहां ही दिव्य औषधियां होती हैं। योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं। तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाडियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्यधिक नहीं होते, इस लिये भी कामकी उत्तेजना शहरों जैसी यहां नहीं होती है। इत्यादि अनेक उपाय इन पहाडोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। (मं० १०)

२ उत्तानशीवरीः आपः— जल भी कामाग्निका शमन करनेवाला है। शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे शरीरमें समशीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कटिस्नान कहते हैं, ब्रह्मचर्य साधनके लिये बडा लाभ दायक है। गुप्त इन्द्रियके आसपासका प्रदेश रात्रीके समय, या जिस समय कामका उद्रेक होजावे उस समय धो देनेसे ब्रह्मचर्य साधनमें बडी सहायता होती है। इस प्रकार विविध रीतिसे जलकी सहायता कामाग्निकी शान्ति करनेके कार्यमें होती है। (मं० १०)

३ पर्जन्यः— मेघ अर्थात् वृष्टिका जल इस विषयमें लाभकारी है। वृष्टि होते समय उसमें खडा होकर उस आकाश गंगाके जलसे स्नान करनाभी बडा उत्तम है। इससे शरीरकी उष्णता सम होजाती है। इसके अतिरिक्त वृष्टिजल पीनेसे भी शरीरके अंदरके दोष हट जाते हैं। और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है। (मं० १०)

४ अग्निः- आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक उष्ण बनानेवाला है। जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढनेसे उनका शरीर अधिक गर्म होजाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है। इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कोमलता

शरीरसे हटानी चाहिये। अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है। होम हवन करते समय शरीरको अग्निका उत्ताप लगता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निकी उष्णता से परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पडे, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा। अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये। (मं० १०)

५ वातः— वायु भी इस विषयमें लाभ दायक है। शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बडे लाभ हैं। प्राणायाम करना भी वायुसेवनकी एक लाभप्रद रीति है। प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं। प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है। इसकारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है। जो जगत् में वायु है वही शरीरमें प्राण है। (मं० १०)

६ सविता— सूर्यभी इस विषयमें बडा सहायक है। जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है। कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्य प्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं,यह इस कारण होता है कि सूर्य प्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बडा लाभकारी है। सूर्य प्रकाशमें बडा जीवन है। थोडा थोडा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहन शक्ति बढती है और शरीरमें अद्भुत जीवन रस संचारने लगता है,आरोग्य बढ जाता है और थोडीसी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है। इस प्रकारकी सहनशक्ति बढानेका प्रयत्न करना हो तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये। यह सूर्यातपस्नान बडाही लाभदायक है। मंत्रमें "हिरण्यपाणिः सविता" ये शब्द नऊ बजेतकके सूर्यकेही वाचक हैं, सोनेके रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायंही होता है। (मं० ८)

७ वरुणः— वरुणका स्थान समुद्र है। इसलिये समुद्रस्नान इस विषयमें लाभ कारी है ऐसा हम यहां समझ सकते हैं। इस में जल प्रयोग भी आसकता है। (मं० ८)

८ मित्रः— सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है। यदि "हिरण्यपाणि सविता" पूर्वाह्नका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है। पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभ दायक है। मित्रकी प्रेम दृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत् की ओर प्रेम पूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। (मं० ८)

९ विश्वे देवाः— अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये। इस विषयमें बडा विचार करना योग्य है।

१० बृहस्पतिः- यह ज्ञानकी देवता है। ज्ञानसे भी कामाग्निकी शांति साधन करनेमें सहायता हो सकती है। बृहस्पति नाम " गुरु " का है। गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संयम करना चाहिये। यहां जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीर शास्त्र, मानस शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र इत्यादिका ज्ञान है। साथ ही साथ भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये। (मं० ८)

११ अङ्गिरसः- अंगरसकी विद्या जाननेवाले ऋषि। शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवन रस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये। योग साधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहां अनुसंधान करना चाहिये। (मं० ८)

१२ इन्द्रः—इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है। इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बड़ा संबंध है। जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसंकल्पोंके द्वारा अपने अंदरके काम विकार का संयम करना चाहिये। राजा को चाहिये कि वह अपने राज्यमें ब्रह्मचर्य और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे। राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग [illegible] ब्रह्मचारी रखकर राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके [illegible] [[illegible] (७) [illegible]] में कहा है। वह यहां अवश्य देखने योग्य है। [illegible] यदि राज्यमें अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और [illegible] भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल [illegible] ऐसे राज्यमें रहने वाले लोगोंका [illegible] होना निःसन्देह सुसाध्य होगा। [illegible] वर्ग और अध्यापकवर्ग ब्रह्मचारी होते हैं [illegible] कि ऐसे राज्य इस सुमंडलपर स्थापित हों [illegible] इसके अंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है [illegible] परम आदर्श है, उसकी भक्ति और उपासना [illegible] सर्वशक्ति और [illegible] परमात्म [illegible] शमन करें [illegible]

[illegible]

वर्चःप्राप्ति सूक्त।

[२२]

(ऋषिः वसिष्ठः । देवता- -वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु । देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मनवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवें। (ते विश्वधायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा सं बभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने ! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मूल प्रकृतिके अंदर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥ १ ॥

मित्र वरुण इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अंदर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जल पर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त कियाथा, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।   ॥ ४ ॥
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा
यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।   ॥ ५ ॥
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्
हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।   ॥ ६ ॥
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम्

अर्थ- हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (यावत सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी[मेघ] का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विनौ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो ! (तावत् वर्चः मे आधत्तां) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत्(चतस्रः प्रदिशः)जितनी दूर चारों दिशायें हैं,(यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (सं ऐतु) इकट्ठा होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुषदां मृगाणां) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् बभूव) हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभिषिञ्चामि) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ- हे बने हुएको जाननेवाले देव ! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

शाकभोजनसे बल बढाना ।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है । प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तिवर्चसं । मं० १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है । हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं । इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने । वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें ।

बल प्राप्तिकी रीति ।

" अदिति " प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको " अदिति " अर्थात् " अ-दीन " कहते हैं । इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य चंद्रादि देव हैं, इसी लिये इस प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता, कहा जाता है । मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आगये हैं । इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि " इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो । (मं० १)" सच मुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी आप तेज वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है । यह बल प्राप्त करनेकी रीति है । इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है । जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकान में अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि " (मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव (इन्द्रः) विद्युत् (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें । " (मं० २) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंधही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे? इस लिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें । ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा ।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्टही है । मरियल और बलवान होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है । जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे ।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

[२३]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—चन्द्रमाः, योनिः)

येन॑ वे॒हद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥
आ ते॒ योनि॒ गर्भ॑ एतु पु॒मान् बाण॑ इवेषु॒धिम् ।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥
पुमां॑सं पु॒त्रं ज॑नय॒ तं पु॒मान॑नु॒ जायताम् ।
भवा॑सि पु॒त्राणां॑ मा॒ता जा॒तानां॑ ज॒नया॑श्च॒ यान् ॥ ३ ॥

अर्थ- (येन वेहत् बभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, (तत् त्वत् नाशयामासि) वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं। (तत् इदं) वह यह वंध्यापन (अन्यत्र त्वत् दूरे) दूसरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दध्मसि) हम लेजाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आजावे, (बाणः इषुधिं इव) जैसा बाण तूणीरमें होता है। (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आजायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

(पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्रही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (जातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमे हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भायशमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मास तक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे॥२॥

पुरुष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे। इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

शाकभोजनसे बल बढाना।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तिवर्चसं। मं० १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें।

बल प्राप्तिकी रीति।

" अदिति " प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको " अदिति " अर्थात् " अ-दीन " कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य चंद्रादि देव हैं, इसी लिये इस प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता, कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आगये हैं। इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि " इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो। (मं० १)" सच मुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी आप तेज वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकान में अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय मंत्र कहता है कि " (मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव (इन्द्रः) विद्युत् (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें। " (मं० २) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंधही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे? इस लिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्टही है। मरियल और बलवान होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

[२३]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—चन्द्रमाः, योनिः)

येन॑ वेहद् बभूवि॑थ नाशया॑मसि तत्त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥
आ ते॒ योनिं॒ गर्भ॑ एतु पुमा॒न् बाण॑ इवेषुधिम् ।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पुत्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥
पुमां॑सं पुत्रं ज॑नय॒ तं पु॒मान॑नु जायताम् ।
भवा॑सि पु॒त्राणां॑ मा॒ता जा॒तानां॑ ज॒नया॑श्च॒ यान् ॥ ३ ॥

अर्थ- (येन वेहत् वभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, (तत् त्वत् नाशयामसि) वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं । (तत् इदं) वह यह वंध्यापन (अन्यत्र त्वत् दूरे) दूसरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दध्मसि) हम लेजाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आजावे, (वाणः इषुधिं इव) जैसा वाण तूणीरमें होता है । (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आजायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

(पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्रही उत्पन्न होवे । इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (जातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमे हैं और जिनको तू इसके वाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भायशमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या वनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मास तक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे॥२॥

पुरुष संतान उत्पन्न कर । उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे । इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

शाकभोजनसे बल बढाना।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तिवर्चसं। मं० १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें।

बल प्राप्तिकी रीति।

" अदिति " प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको " अदिति " अर्थात् " अ-दीन " कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य चंद्रादि देव हैं, इसी लिये इस प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता, कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आगये हैं। इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि " इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो। (मं० १)" सच मुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी आप तेज वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकान में अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय मंत्र कहता है कि "(मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव (इन्द्रः) विद्युत् (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें।" (मं० २) यदि इनके जीवन स्वरूपी अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंधही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे? इस लिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्टही है। महाबल और बलवान होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

[२३]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—चन्द्रमाः, योनिः)

येन॑ वे॒हद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि तत्त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥
आ ते॒ योनिं॒ गर्भ॑ एतु पु॒मान् बाण॑ इवेषुधिम् ।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥
पु॒मांसं॑ पु॒त्रं ज॑नय॒ तं पु॒मान॑नु जायताम् ।
भवा॑सि पु॒त्राणां॑ मा॒ता जा॒तानां॑ ज॒नया॑श्च॒ यान् ॥ ३ ॥

अर्थ- (येन वेहत् बभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, (तत् त्वत् नाशयामसि) वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं। (तत् इदं) वह यह वंध्यापन (अन्यत्र त्वत् दूरे) दूसरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दध्मसि) हम लेजाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आजावे, (बाणः इषुधिं इव) जैसा बाण तूणीरमें होता है। (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आजायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

(पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्रही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (जातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमे हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मास तक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र [illegible] होवे ॥ २ ॥

पुरुष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे [illegible]
प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्। एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते। ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥७॥

अर्थ—(शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्) सेकडों और हजारों धाराओं वाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सौ हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहर) इकट्ठा करके ले आओ। हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों वाले मनुष्य ! (सं किर) उसको फैलादे, दान कर। और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्य की (इह स्फातिं समावह) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालों की तीन मात्राएं और (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपत्नियों की चार होती हैं। (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वा अभि मृशामसि) उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समूहः च) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं। (तौ इह स्फातिं) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (बहु अक्षितं भूमानं आवहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—वृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं इसीप्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय होजावें ॥४॥

हे मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर। इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी उन्नति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसेही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं; अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समृद्धिकी प्राप्ति।

[२४]

(ऋषिः—भृगुः । देवता-वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः ।
अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥
वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो-यो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥
इमा याःपञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥३॥

अर्थ— (ओषधयः पयस्वतीः) औषधियां रसवाली हैं, और (मामकं वचः पयस्वत्) मेरा वचन भी सारवाला है। (अथो) इसलिये (पयस्वतीनां सहस्रशः) रसवाली औषधीयोंका हजारहां प्रकारसे (अहं आभरे) मैं भरण पोषण करता हूं ॥ १ ॥

(पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार) रसवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं वेद) मैं जानता हूं। (यः यः अयज्वनः गृहे) जो कुछ अयाजक के घरमें है उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (तं वयं हवामहे) उसका हम यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशः) ये जो पांचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पांच जातियां हैं वे (इह स्फातिं समावहन्) यहां वृद्धिको प्राप्त करें (इव) जिस प्रकार वृष्टे नदीः शापं) वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लातीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ- मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती हैं, इस लिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥ १ ॥

रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूं। इस लिये उस दयावान ईश्वर का मैं यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पांचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियां वृष्टि होने पर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥७॥

अर्थ—(शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत) सेकडों और हजारों धाराओं वाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सौं हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहर) इकट्ठा करके ले आओ । हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथोंवाले मनुष्य ! (सं किर) उसको फैलादे, दान कर । और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्य की (इह स्फातिं समावह) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालों की तीन मात्राएं [illegible]र (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपत्नियोंकी चार होती हैं, (तासां या स्फा- [illegible]मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वा अभि मृशा- [illegible]) उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

(प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और [illegible]हः च) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले [illegible]ौ इह स्फातिं) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (बहु अक्षितं भू- [illegible]वहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

[illegible]र्थ— वृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं [illegible] हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय होजावें ॥४॥
[illegible]य ! तू सौं हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला [illegible]का दान कर। इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी उन्नति कर ॥५॥
[illegible]सेही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥६॥
[illegible]और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं। [illegible]इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥७॥

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय ।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे जानते हैं। समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें। समृद्धि की प्राप्तिके लिये पहिला नियम "मीठी वाणी" है—

पयस्वान् मामकं वचः। (मं० १)

"दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो," भाषणमें मधुरता, रसमयता, मीठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे। समृद्धि प्राप्त करनेके लिये मीठे भाषण करनेके गुणकी अत्यंत आवश्यकता है। आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है। इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, "दक्षतासे कृषिकी वृद्धि करना"—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः। (मं १)
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ॥ (मं० २)

"रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं, बहुत धान्य कैसा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं जानता हूं।" अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्य संग्रह बढाना समृद्धि होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् "सामुदायिक उपासना करना" समृद्धिके लिये आवश्यक होता है-

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो-यो अयज्वनो गृहे ॥ (मं० २)

"जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं।" परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपा दृष्टि सबोंपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वर भक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है। इस मंत्रमें "हवामहे" यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतों द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इससे स्पष्ट होता है।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।" (मं० ३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी। पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें।

समृद्धि होने के लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्थ मंत्रमें " हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह " अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेषही महत्त्वका उपदेश है। इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है। इस लिये पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर। (मं० ५)

" सौ हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो। " यह उपदेश हरएक मनुष्य को अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह। (मं० ५)

" इस प्रकार अपने कर्तव्य कर्मकी यहां उन्नति करो। " जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश अत्यंत मनन करने योग्य है। " (कार्यस्य स्फातिं समावह) " ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्य क्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्य क्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजारक्षण रूप कार्य क्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि गौरक्ष्य वाणिज्य आदि में अपने कार्य क्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरी के कार्य बढावे और निषाद अपने जो वन रक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएक को अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्यही कटिबद्ध होना चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। "उपोहः" और "समूहः" इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ उपोहः– (उप–ऊहः) इकठ्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ समूहः– समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना।

पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संगृहित द्रव्योंको वर्गीकरणद्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सु व्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयोंसे बिलकुल लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थासे रखना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

सप्तम मंत्रमें "उपोहः (संग्रह) और समूहः (समूहोंमें वर्गीकरण करना)" ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके कही हैं। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इस लिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवन भर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक हैं इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन स्पष्ट ही है—

> तौ इह स्फातिं आ वहताम्
> अक्षितं बहुं भूमानम् ॥ (मं० ७ ॥

"वे [अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये) दोनों इस संसारमें (स्फातिं) समृद्धिको देते हैं और (भूमानं) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं।"

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है। जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं।

काम का बाण।

[२५]

(ऋषिः- भृगुः । देवता-मित्रावरुणौ, कामेषुदेवते)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

अर्थ— (उत्तुदः त्वा उत्तुदतु) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे। (स्वे शयने मा धृथाः) अपने शयनमें मत ठहर। (कामस्य या भीमा इषुः) कामका जो भयानक बाण है (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ १ ॥

(आधी-पर्णां) जिसपर मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, (काम-शल्यां) कामेच्छा रूपी बाणका अग्र भाग जहां लगाया है, (संकल्प-कुल्मलां) संकल्प रूपी दण्डा जहां लगा है, (तां) उस (इषुं बाणको (सुसन्नतां कृत्वा) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (कामः हृदि त्वा विध्यतु) काम हृदयमें तुझको वेध करे ॥ २ ॥

भावार्थ— हे स्त्री ! सबको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरण को भी हिला देवे। काम का बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे विद्ध हुई तू सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो ॥ १ ॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडारूपी पंख लगे हैं, इसके आगे कामविकार रूपी लोहेका तीक्ष्ण शल्य लगाया है, उसके पीछे मनका संकल्प रूपी दण्डा जोड दिया है, इस प्रकारके बाणको अति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोपयति कामस्येषुः सुसंनता।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥
शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥
आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(कामस्य सुसन्नता) कामका ठीक लक्ष्यपर चलाया हुआ (प्राचीन-पक्षा वि-ओषा) सीधे पङ्खवाला और विशेष जलाने वाला (या इषुः प्लीहानं शोषयति) जो बाण तिल्लीको सुखा देता है, (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ ३ ॥

(व्योषया) विशेष दाह करनेवाले (शुचा) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (विद्धा) विंधी हुई तू (शुष्कास्या) मुखको सुखानेवाली (मा अभिसर्प) मेरी ओर चली आ। और (मृदुः) कोमल, (निमन्युः) क्रोध रहित, (प्रियवादिनी) मीठा भाषण करनेवाली, (अनुव्रता) अनुकूल कर्म करने वाली, (केवली) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(त्वा आ-अजन्या) तुझको वेगसे (परि मातुः अथो पितुः) माता और पिताके पाससे (आ अजामि) लाता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (मम चित्तं उपायासि) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

भावार्थ-यह कामका बाण अचूक लगता है, क्यों कि इसपर मानसिक व्यथाके पर लगे हैं,और साथही यह विशेष रीतिसे जलानेवालाभी है और यह तिल्लीको बिलकुल सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूं ॥ ३ ॥

यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और मुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री! इससे विंधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुर भाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहां लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बन कर यहां रह ॥ ५ ॥

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥
[इति पञ्चमोऽनुवाकः]

अर्थ—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (अस्यै) इसके लिये हृदः चित्तानि व्यस्यतं) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो । (अथ एनां अक्रतुं कृत्वा) और इसको कर्महीन बनाकर (मम एव वशे कृणुतं) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे । ॥ ६ ॥

विरुद्धपरिणामी अलंकार ।

"विरुद्धपरिणामी अलंकार" का उत्तम उदाहरण यह सूक्त है । "विरुद्ध परिणाम" जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अंदर हो, उसको "विरुद्ध परिणामी अलंकार" कहते हैं । इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) "हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पिओ ।" इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिओ करके कहा है तथापि शराब का दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है ।

(२) "जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकरभी मत करो ।" इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुनने वालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है ।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जांय तो इनका सुपरिणाम ही होता है । अब इस सूक्तका कथन देखिये—

"हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूं, इस कामके बाणको

"मानसिक व्यथा" के सुंदर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहेका अग्रभाग है वह "मानसिक विकार" का शल्य ही है, मनके "कुसंकल्पों" की लकडीसे इस बाणको बनाया है, यह बडा "जलानेवाला" है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है, प्लीहा सूख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विध्वंसक बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं, इससे तू विद्ध होजाओ।"

इसमें यद्यपि "कामके बाणसे विद्ध हो जाओ" ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवाले के उपर "इस कामके बाणसे अपना बचाव करने" की ओर ही होगा। इस सूक्तमें जो "कामके बाण" का वर्णन किया है वे शब्द देखिये—

कामका बाण।

१ उत्तुदः = व्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीडा देनेवाला। (मं० १)

२ भीमा इषुः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा भयानक बाण। (मं० १)

३ आधी-पर्णा = इस बाणको मानसिक व्यथा के पंख लगे हैं। (मं० २)

४ काम-शल्या = स्वार्थकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें लगा है। बाणका जो अग्रभागमें लोहेका शस्त्र होता है वह यहां कामविकार है। (मं० २)

५ सङ्कल्प-कुल्मला= मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकडीसे यह बाण बनाया गया है। (मं० २)

६ प्राचीन-पक्षा= इसको जो मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेगसे जाता है। (मं० ३)

७ शुचा (शुक्) = शोक उत्पन्न करनेवाला। (मं० ४)

८ व्योषा (वि-ओषा) = विशेष रीतिसे जलानेवाला। (मं० ३,४)

९ शुष्कास्या (शुष्क-आस्या) = मुखको सुखानेवाला, मुखको म्लान करनेवाला। (मं ४)

१० प्लीहानं शोषयति = प्लीहाको सुखा देता है। शरीरमें प्लीहा रक्त की शुद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्त्व पूर्ण अवयव का नाश कामके बाणसे हो जाता है। इतनी मारकता इस मदनके बाणमें है। (मं० ३)

११ हृदि विध्यति = इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदीर्ण होता जाता है, हृद्रोग की उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है। (मं० १—३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। "हे स्त्रि! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।" ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विघातक है। इस बाणसे न केवल विद्ध होनेवाला ही कट जाता है अपि तु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर चलाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त ग्यारह दुष्परिणाम करता है। यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि "हे स्त्री! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।"

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस काम बाण की विध्वंसक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह काम व्यवहार कितना घातक है। इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि "हे प्राणनाथ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हूजिये।" जो कर्म करना है उसकी भयानक घातकता का अनुभव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतनाही होगा, कभी अधिक नहीं होगा।

पतिपत्नीका एक मत।

इस सूक्तमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। "यह धर्मपत्नी अपने माता पिताके घरको छोडकर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है।" (देखो मं. ५) धर्मपत्नी तरुणी है, इस आयुमें मनका संयम करना बडा कठिन कार्य होता है। तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते। केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि—

> समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति
> न समुद्रस्य ॥ तै ब्रा. २।२।५।६
> कामः पशुः ॥ प्राणाग्नि उ. ४

"समुद्रके समान काम है। क्यों कि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसाही कामका भी अन्त नहीं होता है।" तथा "काम ही पशु है।"

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढता जाता है। यह पशु होनेसे इसके उपासक पशुरूप होते हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अंदर बढाते हैं, वे मानो

पशुभावको अपने अन्दर बढाते हैं। जिनके अंदर यह पशुभाव बढा हो, उनको " मनुष्य" कहना कठिन हो जाता है। क्यों कि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मन की मनन शक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमेंही उत्पन्न हो जाता है और वहां बढता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण तारुण्यमें यदि मनके अंदर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकभ्रष्ट होजाता है।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये। धर्म पत्नी दूसरे घरसे लायी गई है। माताको और पिताको अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोड दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है। इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता पिताओंको छोडकर स्त्री पतिके घर आगई, और यदि तारुण्यावस्थाके शरीर धर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भडक जानेकी भी संभावना है। पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थ धर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यको न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें।

शमदम ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है; परंतु विवाहित हो जाने पर स्त्रीके मनोधर्मका भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य ही है। इस कर्तव्यसे वीर्य हानिद्वारा थोडा पतन होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोडने का बडा त्याग किया है। यह स्त्रीका यज्ञ है, पतिको भी अचल ब्रह्मचर्यको छोडकर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये। यही उसका यज्ञ है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा।

इस सूक्त में जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इस लिये इस कामके बाणकी भयानक विध्वंसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे चित्त को अपने कर्तव्य पालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूं। इस वर्णन को सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोपभोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोग के लिये मनको खुला छोड दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी काम को शमन करने की ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अंतमें जाकर दोनों का कल्याण हो जाता है।

परंतु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अंदर के कामविषयक संकल्प बहुत बढ जांयगे, और अंतमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अधःपात न हो इस लिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमों की प्रवृत्ति हुई है। साथही साथ कामकी भयानक विघातकताकाही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इस लिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्म पत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वाराभी दैवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसी लिये षष्ठ मंत्रमें मित्रावरुण देवतोंकी प्रार्थना की गई है कि "हे देवो ! इस धर्मपत्नी को मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी बुद्धि दीजिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दौडे।" (मं० ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है। पतिको उचित है कि वह अपनी धर्म पत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे। धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं॥—

धर्मपत्नीके गुण।

१ मृदुः=नरम स्वभाव वाली, शांत स्वभाववाली। (मं० ४)

२ निमन्युः=क्रोध न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली। (मं० ४)

३ प्रियवादिनी=मधुर भाषण करनेवाली। (मं० ४)

४ अनुव्रता=पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली (मं० ४)

५ (मम) वशे=पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली। (मं० ७)

६ केवली=केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली (मं० ४)

७ (मम) चित्तं उपायसि=पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली। (मं० ५)

उन्नति की दिशा।

[२६]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— अग्न्यादयः)

ये॒३॑ऽस्यां स्थ प्राच्यां॒ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॒ऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑ ॥ १ ॥
ये॒३॑ऽस्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ः काम॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॒ऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑ ॥ २ ॥
ये॒३॑ऽस्यां स्थ प्र॒तीच्यां॑ दि॒शि वैरा॒जा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ आप॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॒ऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ- (ये अस्यां प्राच्यां दिशि) जो तुम इस पूर्व दिशामें (हेतयः नाम देवाः) वज्र नामवाले देव हो, (तेषां वः) उन तुम्हारा (अग्निः इषवः) अग्नि बाण है । (ते नः मृडत) वे तुम हमें सुखी करो, (ते नः अधिब्रूत) वे तुम हमें उपदेश करो । (तेभ्यः वः नमः) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (तेभ्यः स्वाहा) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

जो तुम इस (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें (अविष्यवो नाम देवाः) रक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले इस नामके जो देव हो (तेषां वः काम इषवः) उन तुम्हारा काम बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना अर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इस (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें (वैराजा नाम देवाः) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (आपः इषवः) जल ही बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

ये॒३॑स्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
ये॒३॑स्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥
ये॒३॑स्यां स्थोर्ध्वायां॑ दि॒श्यव॑स्वन्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः।
ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें (प्रविध्यन्तः नाम देवाः) वेध करने वाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा (वातः इषवः) वायु बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इस (ध्रुवायां दिशि) ध्रुव दिशामें (निलिम्पा नाम देवाः) निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा (ओषधीः इषवः) औषधी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

जो तुम इस (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊर्ध्व दिशामें (अवस्वन्तः नाम देवाः) रक्षक नाम वाले जो देव हो, उन तुम्हारा (बृहस्पतिः इषवः) ज्ञानी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ–पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और ऊर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएं हैं, इन छः दिशाओंमें क्रमशः (हेति-शस्त्रास्त्र) वज्र; रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक; (वि–राज्) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजासत्ता; वेधकता; लेप करनेवाले वैद्य; और उपदेशक इनकी प्रधानता है। ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनताभी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १–६ ॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगे का सूक्त है और [इस] का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इस लिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनों इकट्ठा विचार करेंगे।

अभ्युदय की दिशा।

[२७]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता–अग्न्यादयः)

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

अर्थः- (प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ—सितः रक्षिता) बंधनरहित रक्षक और (आदित्याः इषवः) प्रकाशरूप शस्त्र हैं ॥ (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियोंकोही (नमः) मेरा नमन है। उन (रक्षितृभ्यः नमः) बंधनरहित संरक्षकोंके लियेही हमारा आदर है। उन (इषुभ्यः नमः)प्रकाशके शस्त्रोंके सामनेही हमारी नम्रता रहे।(यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आस्तिकोंका (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जंभे) न्यायके जबडेमें (दध्मः) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इस लिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए। इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा। उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वाराही ज्ञात हो सकता है,इसलिये

हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके पास जायेंगे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे। इस उदय की दिशाका (अ-सितः) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवालाही रक्षक है। ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है॥ स्वतन्त्रताके विना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (आदित्याः) प्रकाशके किरण हैं। प्रकाशके साथही स्वातंत्र्य रहता है। विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होता है। प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है ठीक उसीप्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसेही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसंमान आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसेही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंधनिवारक प्रकाशमय शक्तियोंकाही हम आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नहीं लेना चाहते; परंतु हे तेजस्वी स्वामियो! और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य होगा आपही उसको दीजिए। समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सचे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधीको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पण करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके आधिपति और संरक्षकोंका ही सदा आदर करे। अर्थात् हरएक मनुष्य सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ-(दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका (इंद्रः अधिपतिः)शत्रु निवारक शूर स्वामी, (तिरश्चि-राजी रक्षिता) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (पितरः इषवः) पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजानिर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको, हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ- दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है। दक्षता, चातुर्य कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है, और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है। अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है। शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लंघन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं। इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है। अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये (इन्-द्र) शत्रुओंका विदारण करनेकी आवश्यकता होती है। शत्रुका पराजय करनेपरही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है। शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है। इस लिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका शमन करनेके उपायका अवलंबन करना मेरेलिये आवश्यक है। समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है। कोई संरक्षक अपनी मर्यादा उल्लंघन करके अत्याचार न करे। मैंभी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करूंगा। समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम

हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उप
ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रा
हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके पास जायेंगे और उ
ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे। इस उदय की दिशाका (अ-सितः) बंध
दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवालाही रक्षक है। ज्ञा
साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्य
प्राप्ति होती है॥ स्वतन्त्रताके विना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्य
संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (आदित्याः) प्र
शाके किरण हैं। प्रकाशके [illegible] रहता है। विशेषतः ज्ञा
[illegible]को उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके [illegible] अप
देते हैं॥ ३॥

पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकत
सुप्रजानिर्माणसे समाज अमर रह सकता है। इस लिये हरएक पु
अपने अंदर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम
विकसित करना चाहिए। तात्पर्य उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधि
नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते
वहांही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर
नेका यत्न मैं अवश्य करूंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जि
सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त आधिकारी, संरक्षक और पित
न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं। वेही उसके दोषका यथायोग्य वि
करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और सम
की उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे॥ २॥

भावार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र, अ
सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और ज
को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना दे
हैं। पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चि
[illegible]ासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त कर
[illegible]त निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है। श्रेष्ठ उत्सा
[illegible]त्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं। विश्र

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ-(दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका (इंद्रः अधिपतिः) शत्रु निवारक शूर स्वामी, (तिरश्चि-राजी रक्षिता) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (पितरः इषवः) पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजानिर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका [illegible] हम सब आस्तिकोंका विरो[illegible]

और आरामका मुख्य साधन यहां अन्न है। श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है। तथा अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोंमें विघ्न करना है इस लिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसारही अपना सब वर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनाने का प्रयत्न हर समय करना चाहिये। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोड कर सदा सिद्ध और उद्यत रहने के धर्मसे इस पथपर चलने वालोंका संरक्षण होता है। व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं। इस लिये मैं इन गुणोंका धारण करूंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूंगा। शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षकही सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोगही स्वयं उसको [illegible]

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः आधिपतिः) प्रवेशकर्ता अधिपति, (कल्माष-कर्मास-ग्रीवः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां इषु हैं। इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लियेही हमारा आदर है। इ० ॥ ५ ॥

(ऊर्ध्वा-दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्ष इषवः) अमृत जल इषु हैं। आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंकाही सबको सन्मान करना योग्य है। शुद्ध अमृत जलकाही सबको आदर करना चाहिए। इ० ॥ ६ ॥

देवें। तथा अधिपति निष्पक्षपातकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवें। समाजकी उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

भावार्थ- ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है। चंचलता दूर करने और स्थिरता करनेके लियेही सब धर्मके नियम हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं। क्योंकि कर्मसेही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती। यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं। यहां औषधि वनस्पतियां दोष निवारणद्वारा सहाय्य करती हैं। जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए। इ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुषही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वहही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुएही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्यही करूंगा और दूसरोंका मार्गभी यथाशक्ति सुगम करूंगा। मैं सदाही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूंगा। इ०॥६॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान।

उन्नतिके छः केन्द्र।

इस "सूक्तके" छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रहीं हैं, ऐसा जो उक्त छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें। इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है। जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए। क्योंकि "यह पूर्णसृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वाराही उदयको प्राप्त होती है। और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्तिही इस सृष्टिद्वारा दिखाई दे रही रही है।" इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओंद्वारा अपनी उन्नतिके छः केंद्रोंके संबंधमें

उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञान के कोष्टक यहां देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [अथर्व० ३।२७। १—६]

दिशः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो० ॥ २ ॥ येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां
व आप इषवः। ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो
नाम देवास्तेषां वो वात इषवः। ते नो० ॥४॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि
निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो० ॥५॥ येऽस्यां स्थो-
र्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः। ते नो०॥६॥

अथर्व. ३ । २६ । १-६

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हम सबको (अधिब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निम्न लिखित कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व० ३।२६। १—६]

दिशः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिंपाः	ओषधीः
उर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें 'प्राची और ऊर्ध्वा' के 'अग्नि और बृहस्पति' अधिपति हैं, वेही यहां 'इषु' बने हैं। 'ध्रुवा' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें 'वीरुधः' हैं और यहां 'ओषधि' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। 'प्रतीची' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें 'अन्न और आपः' है। खान पानका परस्पर निकट संबंध है। 'दक्षिण' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें 'पितरः और कामः' हैं। काम के उपभोगसेही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। 'उदीची' दिशाके इषु 'वात और अशनि' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत् है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल 'प्राची और ऊर्ध्वा' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतनाही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्व वेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥ यजु. अ. १०

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु० १०।१०–१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवृत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरूपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्तिः	शाक्वररैवतं	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	हेमन्तःशिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विश्) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम लाभ आदि है। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्य तेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं। उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंने यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि
दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्० ॥ ८ ॥ अथर्व. ४ । १४ ।

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. (४ । १४ । ७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनी बगल
प्रतीची	भसदं	गुप्त भाग
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायीं बगल
ध्रुवा	पाजस्यं	पेट
ऊर्ध्वा	आनूक्यं	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, और फलका संबंध सिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ॥
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ॥
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात्॥८॥
प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम् ।
पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥

अथर्व. १२ । ३.

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्दधानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं। जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं)

पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पा-त्रं) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तेथां) सब प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पकाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा ॥ (३) (प्रतीची) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है । इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए । और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र- जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इस लिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे । (पांक्तं) पांच वर्णों-राष्ट्रके विभागों-का (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है । इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है । इसके लिये नमन है । यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे । हे (अ-दिते देवि) हे स्वतंत्रता देवि ! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तू (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो ॥

इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं । इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व १२ । ३ । ७-११)

दिशः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्धानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं । और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा है । इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्रची दिशा—(प्र+अंच्=आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना,)

यह मूल अर्थ 'प्रांच्' धातुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है। 'प्राची दिशा' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (गुप्ति) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा–'दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। 'दक्षिण दिशा' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ 'सीधे तरफ् की दिशा' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (वक्षमाण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक बार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसी की सूचना '(पर्यावर्तेथां, परि-आ- वर्तेथां) वारंवार प्रयत्न कीजिए' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। 'यम' शब्द नियमोंका सूचक, 'पितृ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा 'संविदान' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसेही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा–प्रत्यंच् अंदर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् शांतिकी दिशा, अंदर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अंतर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। 'पूर्व दिशा' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है–

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अंच्)	(प्र-अंच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता

है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है। शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी? सोम ही शांतताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं।

(४) **उत्तर दिशा**-(उत्-तर) अधिक उच्च तर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंकी उच्च तर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकी—

> भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ॥
> ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
> अथर्व. १९। ४१। १.

सब का कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इस लिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें।' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अंदर (नः अग्रं कृण्वन्) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक्त) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिल कर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छंद) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो 'लोककल्याण' करता है, वही सच्चा पुरुष है। सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिल कर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे टपकता है।

(५) **ध्रुवा दिक्**-स्थिरता का धर्म यहां बताना है। मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता ठीक नहीं है। स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है। सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है, जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हो

सकती। (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थ पूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं। अस्तु। दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है। इस लिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए। उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते। एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतामस्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५५॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते॥ एतं०॥ ५६॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते। एतं०॥ ५७॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै॥ एतं०॥ ५८॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः॥ एतं०॥ ५९॥ उर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते॥ एतं०॥ ६०॥ अथर्व. १२। ३.

"प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दद्मः) देते हैं। अस्माकं (आ-एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें। (अत्र) यहां (नः) हम सब को (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (नि नेषत्) ले जावे। (जरा) वृद्ध अवस्था मृत्युको (नः मृत्यवे परि ददातु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे। (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें। यह प्रथम मंत्रका अर्थ है। शेष मन्त्रोंका भाव ऐसाही सुगम है।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्टभावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है।

प्रारंभसे यहां तक दिशा विषयक जो श्लोक और मंत्र दिये हैं इन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः॥

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ अथर्व० ३।२७।१

इस मंत्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इस लिये इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्यों कि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नहीं हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परंतु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना जा सकता है परंतु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थान पर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एक वचन और बहुवचन आया नहीं है। इस लिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वर पर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न हैं। यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें 'जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जबडेमें हम सब धर देते हैं।' इस आशयके शब्द आगये हैं। यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूप पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परंतु (वः) अनेक हैं। (वः जम्भे) 'आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबकोही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है। इसमें न्याय व्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखीं हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयंही दुष्टको मनमाना दंड देवे। वह अधिकार न्यायसभाका ही है।

लेना यहां उचित है । यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा होसकता है ।

तं वो जंभे दध्मः ।

(तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबडेमें–अर्थात् न्यायसभामें– (दध्मः) धारण करते हैं । अर्थात् आपके आधीन करते हैं । न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है ।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' इन शब्दोंको सूचित करता है । समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'वः' शब्दसे जाने जाते हैं । सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है । इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आगया है और इसी कारण यह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है ।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है । इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है ।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है । मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है । यह वैदिक धर्मका ही महत्त्व है ।

' तेभ्यो नमो० ' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं । ये दो पाद छे मंत्रोंमें बार बार कहे हैं । बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको ' अभ्यास ' कहते हैं । विशेष महत्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार बारंबार अनुवाद वेदमें किया गया है । इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए । अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है ।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा,(२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी,(३ असितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक और (४ आ–दित्याः इषवः) स्वतंत्रता पूर्ण वक्तृत्व ये चार बातें हैं ।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं । प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं । इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है । तेजस्विता स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण

उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनता का धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) ' अग्नि ' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्टक सं० ३ देखिए, उसमें प्राची दिशाका ' ब्रह्म ' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है।

(२) ' अ-सित ' शब्दका अर्थ बंधन रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। ' सि बंधने ' इस धातुसे ' सित ' शब्द बनता है, जिसका अर्थ ' पर-स्वाधीन ' है। ' अ-सित ' अबद्ध, स्वतंत्र।

(३) ' आदित्य ' शब्द ' अ-खंडनीय ' अर्थमें प्रयुक्त होता है। ' दो-अवखंडने ' धातुसे ' दिति ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' खंडित ' है। ' अ-दिति ' का अर्थ ' अ-खंडित ' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, बंधन रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) ' इषु '-' इष्-गतौ ' धातुसे यह शब्द बनता है। इस लिये ' गति, हलचल ' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। पश्चात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना; ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव ' इषवः ' शब्दमें है। अस्तु इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है। अब द्वितीय मंत्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी (४ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो। जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) ' इन्द्र ' — (इन् शत्रून् द्रावयिता ॥ १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी।

(६) 'तिरश्चिराजी'– (तिरः) बीचमेंसे, (अंच्–)जाना,(राजी–) लकीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

(७) ' पिता ' (पातीति पिता)– संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है।

(३)

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तीसरा मंत्र देखिये – (१ प्रतीची दिग्) अंत मुख होनेकी दिशा (२ वरुणः आधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्च तर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी (३ स्व–जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नति की हैं।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं।

(६)

१ (ऊर्ध्वा दिक्) उच्च दिशा (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक (४ वर्ष इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं—

(१) 'वरुणः'—वर–वृ–वरणे। पसंद करना। जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्व संमत सर्व श्रेष्ठ।

(२) 'पृदाकुः'— (पृत्–आ–कुः) – पृत् का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलने वाला 'पृदाकु' होता है। कु=शब्द।

(३) 'सोमः'— शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ 'स+उमा' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। 'सु–प्रसवऐश्वर्ययोः' इस धातुमें 'सोम'

शब्द बनता है जिसका अर्थ 'उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्' ऐसा होता है।

(४) 'स्वजः' (स्व+जः) अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबन-शील। स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है।

(५) 'अशनिः'—यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। 'अश्' धातुका अर्थ 'व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) 'विष्णुः' सर्व 'व्यापक' कर्ता उद्यमी।

(७) 'कल्माष-ग्रीवः'— 'कल्मन्' का अर्थ 'कर्मन्' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। 'कल्माष'=(कल्म-स)=कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। (कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्मोषः। कर्मोष एव कल्माषः।) पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको प्राप्त करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करलेनेवाला 'कल्मा ष-ग्रीव' किंवा 'कर्मो-स-ग्रीव' कहलाता है।

(८) 'बृहस्पतिः'-महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) 'श्वित्रः'-शुद्ध, पवित्र, श्वेत।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावें।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं। इन छः गुणोंका साधक 'गुण-चतुष्टय' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेत के हैं, और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा। बारं बार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका किसी अन्य-भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं। अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जन-तामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गए हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दंड

देनेका अधिकार इनहीको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयंही लेकर किसीको दंड देवे । इससे अशांति और अराजकता होती है । इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं।' सब लोगोंमें इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है ।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है । इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारोंकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है । केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिलकर होगा । व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है । प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है । इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें ।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान ।

वैदिक दृष्टि ।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परंतु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्के पदार्थमात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है । विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है । यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है । वेद मंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है । आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी ।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न

ही चाहिए। कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके विना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता। उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है। वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परंतु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती। यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमेंभी है। जो हृदय कवीके हृदयके समान उच्च होते हैं वेही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परंतु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते। वेद 'देवका काव्य' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिए।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं। परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे भोजन निर्माण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि सृष्टिका मैंने उपभोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया। जैसा— "अग्निं ईळे" का अर्थ "मैं आगकी प्रशंसा करता हूं" इतना ही समझता है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया; तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद मंत्रको [illegible] दृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं। जैसा "अग्निं ईळे" का अर्थ ये लोग समझते हैं कि "मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं।"

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं, परंतु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी [illegible] दृष्टि है। वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी [illegible] काव्य दृष्टिसे ही उसका [illegible] देखना उचित है। यद्यपि सबको यह दृष्टि प्राप्त नहीं है, तब भी जिनको [illegible] है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी दृष्टि [illegible] आचार्यके [illegible] मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मंत्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परंतु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखने की अत्यंत आवश्यकता है। सर्व साधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यही अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा। "जिस अवस्थामें सब भूत मात्र आत्मरूप होगये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता।" (य. ४०।७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए। परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें होगया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिको 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं।

जड दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जडत्वके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं; उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है, आशा है कि पाठक इस लेखको उक्त भावनाके साथ पढेंगे—

"प्राची दिशा" पूर्व दिशाकी विभूति।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर "प्राची दिक्" शब्द आता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची=(प्र+अंच्)='प्र' का अर्थ 'आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख' है। 'अंच्' का अर्थ 'गति पूजन' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना' है। तात्पर्य 'प्राची' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, आगे चढना, इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्=दिशा=का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत, आज्ञा, निशाना, ओर [illegible] मार्ग, इत्यादि होता है।

इन दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे "प्राची दिक्" का अर्थ (१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रस्ता, (४) सन्मुख

और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्वदिशाकी ओर सवेरे देखें। विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्वदिशाका नाम " प्राची दिक्" वेदने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्वदिशाकी ओर पाठक देखते जांय। पूर्व दिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है। दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इस लिये सवेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये।

तार्किक लोग दिशाओंको जड कहते हैं, उनको वैसाही कहने दें, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है। वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिए। जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिये। और प्रत्येक दिशा जीवित और जाग्रत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए। यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है !! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही

इसका तेज बढने लगा है। तात्पर्य यह पूर्व दिशा हमको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका महत्व बता रही है, मानो तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह " उदयकी दिशा " है। इसका उदय मार्ग ही सच्चा है मनुष्य! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग खोजो।

सूर्य चंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं। यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुनरपि फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रगति करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण तेजको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकवार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं हो सकेंगे? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्य चंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटी देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्यों कर रह सकता है? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिशः और संघशः, अर्थात् अपना और जातीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है। पूर्वदिशाके अवलोकन से मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

पश्चिम दिशाकी विभूति।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्वदिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए। अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य सनातन ही है। उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर सापेक्षताका संबंध रखतीं है, इस लिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है। यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्तं गृहं)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अंच्	प्रति+अंच्
हलचल	शांति
जाग्रति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी। इस लिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां प्रथमतः करना है। देखिए—

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'वर' शब्द गौणवृत्तिसे उदकवाचक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके विना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्नका भोजन करनेसे क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अंदर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए-व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्य की अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानिए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्री पुरुष का मिथुन होता है, इस लिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है। चौबीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण भाद्रपद, कालोंमें वर्तमान काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमे

गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेषभाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परंतु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझ में ही नहीं आवेगा।

' प्रति+अंच् ' धातुसे ' प्रतीची ' शब्द बनता है। इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिन भर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रांतिके लिये अपने घर आता है, और रात्रीके साथ संलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको ' रमयित्री ' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परंतु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परंतु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी नद तालाब और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलसे सुंदर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें ' पूर्व और पश्चिम ' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूति-योंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त ' उत्तर ' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उदीची
उत्-तर	उत-अंच्
उच्च-तर	उच्च-गति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर किंवा उच्च-तर शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि ' प्राची और प्रतीची ' दिशा क्रमशः ' प्रगति और विश्राम ' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार सम-झिये कि यह ' उदीची दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा ' बायी बगल ' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिप-ति है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका ' स्वजः ' रक्षिता है। ' स्व-ज ' शब्द स्वत्वसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मत्वकी स्वकीय शक्तिसे यहांका रक्षण होता है। बाहेरकी शक्तिसे यहां का कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभमंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

> उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तराविद्दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम् ॥
> पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
>
> अथर्व. १२। ३.

" (उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्) उत्तर दिशा सदाही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इस लिये (नः) हम सबको (अग्रं) अग्र भागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उत्तर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तं) पांच वर्णोमें विभक्त (पुरुषः) नाग-रिक जनही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (सहसंभवेम) मिलकर

रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें। "

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावनाही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्त वर्ण, बैठकर कार्य करनेवाले धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंच जनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पांचजन्य' है। 'पांच-जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उप, पुरुप) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इस लिये 'पांच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकार का 'पांचजन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्च तर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है।

जगत्में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरद्‌ऋतु है, महिनोंमें आश्विन कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सच्छूद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है। इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें।

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा।

२८

(ऋषिः—ब्रह्मा। देवता—यमिनी)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥
एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहां भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली गौवें बनाईं, वहां (एषा) यह गौ (एक-एकया सृष्ट्या संबभूव) एक एकके क्रमसे बचा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है। (यत्र अप-ऋतुः यमिनी विजायते) जहां ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुडे बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहां (सा रुशती रिफती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (पशून् क्षिणाति) पशुओंको नष्ट करती है ॥ १ ॥

(एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा) यह गौ मांस खानेवाले कृमीके समान होकर (पशून् सं क्षिणोति) पशुओंका नाश करती है। (उत एनां ब्रह्मणे दद्यात्) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे वह सुखदायी और कल्याण कारिणी हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवें बनायी हैं। ये सब गौवें एकवार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं। जब यह गौ ऋतुको छोड कर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय वह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशुभी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है। इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे वह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥
इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥
यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

अर्थ- (पुरुषेभ्यः शिवा भव) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (नः शिवा ऐधि) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहां पुष्टि और यहां रस है। (इह सहस्र-सातमा भव) यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे (यमिनी) जुडे सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! (इह पशून् पोषय) यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(यत्र) जिस देशमें (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरका रोग त्यागकर (सुहार्दः सुकृतः मदन्ति) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म-वाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (यमिनी) गौ ! (तं लोकं अभि-संबभूव) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भावार्थ- यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे बैल गौएं आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशु-ओंको यहां पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे; यहां रोगी अवस्थामें रह कर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रा॑ सुहार्दां॑ सुकृता॑मग्निहोत्र॒हुतां॒ यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सीत् पुरु॑षान् प॒शूंश्च॑ ॥ ६ ॥

अर्थ- (यत्र यत्र सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः) जहां जहां शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अग्नि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, हे (यमिनी) गौ (तं लोकं अभिसंबभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नीरोग बने। रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पंहुचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है। एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं। तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं। इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+ऋतुः = ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं। पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है।

२ यमिनी विजायते=जुडे बच्चेको उत्पन्न करना। इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड होकर विविध रोग होते हैं।

३ क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा=मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है। गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं। कदाचित वह गौ उक्त भागोंको खाजाती है और रोगी होती है। अथवा योनी आदि स्थानमें जुडे

बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ व्रणादि होते हैं और वहां प्रसूतिस्थान का विष लगनेसे गौ रोगी होती है। इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है। इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दें।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है। इस लिये जिसके पास बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखें और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करें।

रोगी पशु।

पशुके स्वास्थ्य के विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं। वैसे रोगी होने पर उनको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात्॥ (मं० २)

"उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने" अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग स्वस्थ और शुभ बन जावे। यहां "ब्रह्म" शब्द है; यह आयुर्वेद शास्त्र, और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है। ये ब्राह्मण ही चिकित्सा करते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥
ऋ. १०।९७।६; वा. य. १२।८०

"जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगोंका नाश करता है और वही रोगोंको दूर करता है।"

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द ऐसी रोगी गौको तत्काल करना चाहिये। [illegible] हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके। [illegible] ऐसा [illegible] इसका वर्णन भी देखिये—

[illegible] । (मं० ४)
[illegible] । (मं० ५)
[illegible] । (मं० ५-६)

" जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्द प्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा । "

रुग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रुग्णालय में विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके संस्पर्शसे विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है,इस प्रातः सायं किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है । यह रुग्णालय की वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके अतिरिक्त रुग्णालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियम पूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

साथही साथ रुग्णालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये ॥ इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है। जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा,उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभविचार भी बडे सहायक होंगे ॥

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्रमके पवित्र वायुमंडलसे –

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय। (मं. ५)

"अपने शरीरसे रोग दूर करके" पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । इसी लिये कहा है कि ऐसे सुविज्ञ आचारसंपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये।वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर " घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावे । (मं. ३) " नीरोग गौका मूत्र, गोबर, तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं । इसलिये उक्त आश्रममें पंहुंचकर, वहां रहकर, पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब यह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगल कारिणी बनेगी; ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है; वह सर्वथा योग्य है। " गौ के अन्दर पोषक पदार्थ और अमृतरस होते हैं । यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं. ४) " इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षता से योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर।

[२९]

(ऋषिः—उद्दालकः। देवता-शितिपाद् अविः)

यद् राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑।

अवि॒स्तस्मा॑त् प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑ति॒पात् स्व॒धा ॥ १ ॥

सर्वा॑न् कामा॑न् पूरयत्या॒भव॑न् प्र॒भव॑न् भव॑न्। आ॒कू॒ति॒प्रोऽवि॑र्द॒त्तः शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥२॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियम से चलनेवाले राजाके ये राज्य करनेवाले सभासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अन्नादि का सोलहवां भाग विभक्त करते हैं। यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (अविः) रक्षक बनकर (शिति-पात) हिंसकोंको गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ॥ १ ॥

यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकूति-प्रः) संकल्पोंको पूर्ण करनेवाला, (शिति-पात्) हिंसकोंको दबानेवाला, (अविः) संरक्षण करनेवाला (आ-भवन्) फैलानेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्) अस्तित्वका हेतु होता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

भावार्थ—नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजसभाके सभासद वस्तुतः सच्चे राजाही हैं। ये प्रजाके अन्न आदि प्राप्तिका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं। राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले जो होते हैं उनको दण्ड देकर दबाता है, प्रजाकी धारक शक्ति बढाता है और उनकी भयसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है और ज्ञानीका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और कीसीभी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥४॥
पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् । प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥५॥

अर्थ-(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा संमानित (शिति-पादं अविं ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (सः नाकं अभ्येति) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते) जहां निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पडता है ॥ ३ ॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले अत एव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले (लोकेन संमितं) जनताद्वारा संमानित (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-सामयोः अक्षितं उपजीवति) सूर्य और चन्द्र के सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ- इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलसे जबरदस्तीसे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्ति हीनताके कारण बलवान केलिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकों की रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनंदसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

इरे॑व नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत्। दे॒वौ स॑वा॒सिना॑विव शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति॥६॥
क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् काम॒ः कामा॑यादात्।
कामो॑ दा॒ता काम॑ः प्रतिग्रही॒ता काम॑ः समु॒द्रमा वि॑वेश॥
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णा॒मि कामै॒तत्ते॥ ७॥
भूमि॑ष्ट्वा॒ प्रति॑ गृह्णात्व॒न्तरि॑क्षमि॒दं म॒हत्।
माहं प्रा॒णेन॒ मात्मना॒ मा प्र॒जया॑ प्रति॒गृह्य॒ वि रा॑धिषि॥ ८॥

अर्थ-(इरा इव) भूमिके समान तथा (महत् पयः समुद्र इव) बडे जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवौ इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (शितिपात् न उपदस्यति) हिंसकको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है॥ ६॥

(कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको दिया है? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है। (कामः दाता) कामही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) कामही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है। (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं। हे काम! (एतत् ते) यह सब तेराही है॥ ७॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बडा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णातु) तेरा स्वीकार करे। (अहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन, आत्मना, प्रजया) प्राणसे आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिषि) न अलग होजाऊं॥ ८॥

भावार्थ — दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता॥६॥

भला, यह कर कौन किसको देता है? काम ही कामको देता है। इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है। यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है। इस कामसे ही मनुष्य बडी आपत्तियां स्वयं सिर पर लेता है। यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमाही है॥ ७॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है। इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं॥ ८॥

राज्य शासन चलानेके लिये कर।

राजा राज्यका शासन करता है। इस महत्त्व पूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको " कर " समर्पण करती है। इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कितवाँ भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्त में किया है। अतः राज्यशासन का विचार करनेवालोंको यह सूक्त बडा बोधप्रद है।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग।

प्रजाकी जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजा को देनेके लिये राजसभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

अमी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥ (मं० १)

" राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं। " और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है। यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये। खेतसे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग राजाकी ग्रामसभाके सभासद लेकर उसका संग्रह करें। जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग लेना है। अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा। धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है। जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनसे उनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जायगा। कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी असह्य नहीं हो सकता।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठां भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है। इस मंत्रमें " विभजन्ते" क्रिया वर्तमान कालकी है। राजसभाके सभासद स्वयं उत्पन्न देख कर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक " अमी सभासदः विभजन्ते " इस वाक्यसे प्राप्त होता

है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आज कलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते। पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

प्राप्तिके दो साधन।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक "इष्ट" और दूसरा "पूर्त"। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको "इष्ट" कहते हैं, इसमें उद्योग धंदे शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहार की सत्ता निर्भर है। दूसरा है "पूर्त"। इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ०। चली हुई पूर्व व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह "पूर्त" है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोशकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहारका वैसा नहीं है। वह इच्छापूर्वक काम धंदा करके सफलता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल "इष्ट" का अर्थ "यज्ञयाग" और "पूर्त" का अर्थ सर्वजनोपयोगी कुआं तालाव धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एकही भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल येही नहीं हैं। इस समय विचार करनेके सूक्तमें "प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है" ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें "यज्ञ और कूवे" का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसीलिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है। यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंग में प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा उसका कुछ भाग राजाके यश संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता; अतः आमदनी के विषयका अर्थ ही यहां लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्ति का सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं; यह प्रथम मंत्रार्धका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये —

राजा कैसा हो।

इस सूक्तमें राजाका नाम "यम" आगया है। यम का अर्थ "स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला" है। "यम-धर्म" इस शब्दसे भी यम से धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्म नियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहां इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहां का राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है। वस्तुतः इसके राज्यमें—

अमी सभासदः राजानः। (मं० १)

"राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं।" राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्य शासन चलाता रहता है। वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है। इस राजाकी राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्य शासनके व्यय के लिये प्रजासे करके रूप में लेते हैं॥ इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये—

करका उपयोग।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। "यह कर निम्न लिखित बातें करता है," ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) अविः= (अवति इति अविः)= रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ करही प्रजाकी रक्षा करता है। (मं० १, ३—५)

(२) स्वधा= (स्वस्य धारणा)=अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा शक्ति करसे बढती है। कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिनसे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है। (मं० १)

(३) पञ्चापूपः= (पञ्च+अ+पूपः-पूयते विशीर्यते इति पूपः। न पूपः अपूपः। पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः)-जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे पडते हैं उसका नाम 'पूप' है। तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-पूप' कहते हैं। पञ्चजनोंको संघटित-संघटनायुक्त-करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पांचों प्रकारके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंका अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है। (मं० ४, ५)

(४) भवन्- होना, अस्तित्व रखना। प्रजासे कर ले कर राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है। (मं. २)

(५) आभवन्=धन ऐश्वर्य संपन्न होना। राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय। (मं. २)

(६) प्रभवन्=प्रभाव शाली। प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्ववान, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं० २)

(७) आकूतिप्रः= (आकूतिः) संकल्पोंको (प्र) पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखंडित उन्नति होती रहती है। (मं. २)

(८) सर्वान् कामान् पूरयाति=प्रजाकी संपूर्ण उन्नतिकी कामनाएं सफल और सुफल होती हैं। किसीप्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होती। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों। (मं० २)

(९) यो... ददाति स नाकं अभ्येति=जो (कर) देता है वह (न+अ+क) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोक अपने देशमें सुखी रहते हैं। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी होती है। (मं० २)

(१०) ददाना पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवन्ति=कर देनेवाले लोग पांचवीं

करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहां देते हैं—

(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणाशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघशक्ति बढानेमें, इन सबको संघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसंपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें, (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंकी सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संग्रहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रीमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव,जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबंध संपूर्ण राज्यभरमें करनेके कार्यमें करें।"

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है। पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है। पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें। जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपनेही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा। यह इस सूक्तद्वारा वेदकी घोषणा समझना चाहिये।

स्वर्ग सदृश राज्य।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके बंधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये—

१ स नाकं अभ्येति

२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे। (मं० ३)

"(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पंहुचते हैं;(२)जहां निर्बल मनुष्यको बलवान मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता।" यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है। जहां जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता, वह स्वर्गधाम है। और जिस राज्यमें बलवान मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूंछता तक नहीं और जहां निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारणही पीसे जाते हैं, वह नरक है। "नर-क" का अर्थ "हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य" है। जिस राज्यमें हीन भावना वाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है। ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मदोन्मत्त होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं। ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्य व्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है। जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्यभी बलवान मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। वही "वैदिक राज्य" है।

कामना का प्रभाव।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्यों-का सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा-संकल्प-आकांक्षा आदिके खेल हैं। मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य बनता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है। यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है। इसका पहलाही प्रश्नोत्तर देखिये—

प्रश्न— इदं कः कस्मै अदात्? = यह कौन किसको देता है?

उत्तर—कामः कामाय अदात् = काम ही कामके लिये देता है

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = कामही देने और लेनेवाला है

ये मंत्रभाग यह बात स्पष्टतासे दिखाते हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा

है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो, यह कामही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहां तक की—

कामः समुद्रं आविवेश। (मं० ७)

" कामही समुद्रमें घुसा है। " अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामकाही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकीही प्रेरणासे ही जाते हैं। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड रहे हैं। इस प्रकार इस जगत् का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे हो रहा है। " भूमि और अंतरिक्ष में भी सर्वत्र कामही काम अर्थात् कामना का राज्य है। (मं० ८) " सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं। देखिये-

काम! एतत् ते। (मं० ७)

" हे काम! यह तेरा ही महाराज्य है " तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामका स्वीकार करने वाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है।

काम की मर्यादा।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्र भागमें कहां तकके कामका स्वीकार करना और कहांसे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है। वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (मं० ८)

"काम! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं, मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं, और मैं अपने प्रजननको भी न हीन बनाऊं। " यहां तक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है।

काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्य क्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है। इस इंद्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषको जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं। इस प्रकारका घात-पात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयम की मर्यादा यह है कि " उस मर्यादा तक काम का उपभोग लिया जावे कि जहां तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है। "

इस मंत्रमें सभी इंद्रियोंके संबंधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, यद्यपि ऊपर के उदाहरणमें हमने एक इंद्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि पाठक उसी मर्यादाको संपूर्ण इंद्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें।

काम का यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें इसे विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देने वाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादा का उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम शांतिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए कर का इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसी लिये (लोकेन संमितं। मं० ४, ५) 'प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहां की प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करने वाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शमें चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्य के वैदिक आदर्शसे दूर न रहे।

एकता ।

[३०]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (स-हृदयं) सहृदयता अर्थात प्रेमपूर्ण हृदय, (सां-मनस्यं) सांमनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (अ-विद्वेषं) परस्पर निर्वैरता (वः कृणोमि) तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारे में से (अन्यः अन्यं अभि हर्यत) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (अघ्न्या जातं वत्सं इव) जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥ १ ॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (मात्रा संमनाः भवतु) माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। (जाया पत्ये) पत्नी पतिसे (मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु) मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये। तुम्हारे में से हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण वर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

अर्थ— (भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई भाईसे द्वेष न करे, (उत स्वसा स्वसारं मा) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे। (सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा) एक मनवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (भद्रया वाचं वदत) उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

(येन देवाः न वियन्ति) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (च नो मिथः विद्विषते) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

(ज्यायस्वन्तः) वृद्धोंका सन्मान करनेवाले, (चित्तिनः) उत्तम चित्तवाले, (संराधयन्तः) उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करनेवाले, (सधुराः चरन्तः) एक धुराके नीचे कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (मा वि यौष्ट) तुम मत् अलग होओ, मत विरोध करो। (अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत) एक दूसरेसे प्रेम पूर्वक भाषण करते हुए आगे बढो। (वः सध्रीचीनान्) तुमको साथ पुरुषार्थ करनेवाले और (संमनसः कृणोमि) उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाले करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लडे। एक मनसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे भाषण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्य व्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें लडाई झगडा नहीं हो सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥ ४ ॥

वृद्धोंका संमान करो, चित्तमें शुभ सङ्कल्प धारण करो, उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करो, आगे बढ कर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेष न बढाओ। परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो, मिलजुल कर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। इसी लिये तुम्हें उत्तम मन से युक्त बनाता हूं ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

अर्थ— (प्रपा समानी) तुम्हारा जल पीनेका स्थान एक हो, और (वः अन्नभागः सह) तुम्हारा अन्नका भाग भी साथ साथ हो। (समाने योक्त्रे वः सह युनज्मि) एकही जोतमें तुमको साथ साथ मैं जोडता हूं। (सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत) मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, (अभितः नाभिं अराः इव) चारों ओरसे नाभीमें जैसे चक्रके आरे जुडे होते हैं॥ ६ ॥

(संवननेन वः सर्वान्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् कृणोमि) साथ मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनाता हूं। (अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (सायं प्रातः वः सौमनसः अस्तु) सायं काल और प्रातः काल तुम्हारे प्रसन्न चित्त रहें॥ ७ ॥

भावार्थ— तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका भोग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रह कर कार्य करने वाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्रके आरे नाभिमें जुडे होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिले रहो॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मन के भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्त चित्त हो, सबके लिये समान अन्नादि भोग मिलें। जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसङ्कल्पोंकी रक्षा करो॥ ७ ॥

संज्ञानसे एकता।

इस सूक्तमें "संज्ञान" प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है। मनुष्य प्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसको आपसकी एकता रखना अत्यंत आवश्यक है। जातीय एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा। जो जाती अपने अंदर संघशक्ति बढाती है वही इस जगत् में विजयी हो रही है, तथा जिस जातीमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है। अतः आपसमें संघशक्ति बढाकर अपनी उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है। संघशक्ति बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अब देखिये—

अंदरका सुधार।

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये। वैदिक धर्ममें यदि कोई विशेष महत्व पूर्ण बात कही होगी तो यही कही है कि संपूर्ण सुधार का प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये। हृदय सुधर जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यको लाभ पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। इस लिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदयं- (स-हृदयं)-हृदयके भाव की समानता। अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना। (मं० १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं। जो दूसरेको दुखी देखकर दुखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता। हृदयका सुधार सबसे मुख्य है। इसके बाद वेद कहता है—

२ सां मनस्यं—(सं-मनः)-मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना। मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना। (मं. १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं। इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

सेवाभावसे उन्नति।

सप्तम मंत्रमें " सं-वनन " शब्द है। इसका अर्थ " उत्तम प्रकार की प्रेम पूर्वक सहायता करना " है। ' वन् ' धातुका अर्थ 'प्रेम पूर्वक दूसरेकी सहायता करना' है। ' सं-वन् ' का भी यही अर्थ है। इससे संवनन का अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेम पूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा—समिती का कार्य होता है। वही भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यही परमेश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बडा प्रभाव पडता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है-

संवननेन सवान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि। (मं० ७)

" प्रेम पूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं। " जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा, करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है। जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थसेवासे ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बडा इसी लिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिक से अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसी लिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने सत्पुरुष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास।

वेदका सिद्धान्त है कि "क्रतुमयोऽयं पुरुषः।" अर्थात् "यह मनुष्य कर्ममय है।" इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके वशमें है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके "सव्रताः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीचीनान्, एकश्नुष्टीन्" आदि शब्दोंद्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्व पूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अत्यंत महत्त्वका उपदेश किया है पाठक इन उपदेशोंका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति।

[३१]

[ऋषिः– ब्रह्मा। देवता–पाप्महा]

वि दे॒वा ज॒रसा॑वृ॒तन् वि त्वम॑ग्ने॒ अरा॑त्या।
व्य॑१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ १ ॥
व्या॒र्त्या॑ पव॑मा॒नो वि श॒क्रः पा॑पकृ॒त्यया॑।
व्य॑१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा वि अवृतन्) देव वृद्धावस्था से दूर रहते हैं। (अग्ने ! त्वं अरात्या वि) हे अग्ने ! तू कंजूसीसे तथा शत्रुसे दूर रह। (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंसे दूर रहूं। तथा (यक्ष्मेण वि) रोगसे भी दूर रहूं। और (आयुषा सं) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥ १ ॥

(पवमानः आर्त्या वि) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, (शक्रः पापकृत्यया वि) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थ से दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥
वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

अर्थ-जैसे (ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि) ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और (आपः तृष्णया वि असरन्) जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ३ ॥

जिसप्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये द्युलोक और पृथ्वी अलग हैं और (पन्थानः दिशं दिशं वि) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ४ ॥

जैसा (त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति) पिता अपनी कन्याको दहेज-स्त्री धन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा (इदं विश्वं भुवनं वि याति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ- जैसे गौ आदि गांवके पशु सिंह व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसेही मैं पापों और रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूंगा ॥ ५ ॥

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः । व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ६
प्रा॒णेन॑ वि॒श्वतो॑वीर्यं दे॒वाः सूर्यं॒ समै॑रयन् । व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ७
आयु॑ष्मतामायु॒ष्कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव॒ मा मृ॑थाः । व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ८
प्रा॒णेन॑ प्राण॒तां प्राणे॒हैव भ॑व॒ मा मृ॑थाः । व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ९

अर्थ-जिस रीतिसे (अग्निः प्राणान् सन्दधाति) जाठर अग्नि प्राणोंको धारण करता है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बच कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ६॥

जिस ढंगसे (देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्य को (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंग से मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहके दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥ ७ ॥

(आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्यवढाने वाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह। (मा मृथाः) मत मरजा। उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जीवित रहने वालोंके प्राणसे जीवित रह, (इह एव भव) यहां ही प्रभावशाली हो और (मा मृथाः) मत मरजा। उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

भावार्थ-जैसा शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करता हुआ प्राणों को बलवान करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूं ।६॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ७ ॥

स्वभावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बल युक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे। मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान करके तू यहां रह, थोडी आयुमें ही मत मर जा। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्य१ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्।
व्य१ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

अर्थ-(आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर। इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूं ॥१०॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्ट्या) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत् अस्थाम) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय। इसी लिये मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ११ ॥

भावार्थ— अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससेभी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग पुष्ट और बलवान् बन। इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये हैं।

पाप और पुण्य।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहां विचार करना आवश्यक है। पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं हैं। और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है। अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है। अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्म शास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिनिषेध सर्वसामान्य होते हैं और अन्यान्य शास्त्रोंके विधिनिषेध उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं।

अवश्यही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा। इसमें कोई संदेह नहीं हैं। हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतन का हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको पास करना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा। अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये-

देवोंका उदाहरण।

देवोंका नाम " निर्जराः " है, इसका अर्थ " जरा, वृद्धावस्था और बुढापा आदि को दूर रखनेवाले " है। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया था, और वे बडी आयु होनेपर भी तरुण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये। और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। यह बताने के लिये प्रथम मंत्रमें-

देवाः जरसा वि अवृतन्। (मं० १)

" देवोंने बुढापेको दूर रखा था " यह बात कही है। अब आगे देखिये-

अग्निका आदर्श।

अग्निभी (अग्ने ! त्वं अराव्या वि। मं० १) कंजूसोंको दूर करता है। उदार मनुष्यही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कंजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजूस मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है। जिस प्रकार यह अग्नि कंजूसोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इस लिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैलें। इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका

प्रबंध करनेसे शेष समाज निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा ।

पवित्रता का महत्त्व ।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व वर्णन किया है । पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आर्त्या वि । (२) शक्रः पापकृत्या वि । (मं० २)

" (१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनो बलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है। "

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं । स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं । शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छान कर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगबीज हट जाते हैं । और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता है ।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है । ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है । यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योंको भी दूर रखता है ।

ग्राम नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है । यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है ।

स्थानत्यागसे बचाव ।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं । इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि । (मं० ३)
२ इमे द्यावापृथिवी वि इतः । (मं० ४)

"(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रह कर बचाव करते हैं, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।" ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदारण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक भूलोकसे बहुत दूरीपर रहा है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोग स्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभासे ही रोग प्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सूक्तके कथन देखिये—

१ अपः तृष्णया वि असरन् । (मं० ३)
२ पन्थानः दिशं दिशं वि । (मं० ४)

"(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।" जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पाप रहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोग प्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हरएकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बने।

दान।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति । (मं० ५)

"पिता पुत्रीके लिये दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।" यह धन दामादके

घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकठे हुए धनसे ऐसी संस्थाएं योजना पूर्वक चलायी जावें कि जो जनता की पाप-प्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घ जीवी, संपन्न, स्वस्थ और सुखी बने।

अपनी गतिमें रहना।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दुःख बढाते हैं। यदि वे अपनी गति-से चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति। (मं० ५)

“ ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।” सूर्यकी उष्णतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर अविरोध-से रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्यभी विविध गुण धर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अव-यव बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अविरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकारके उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे मरने के पूर्वही एक दूसरेके सिर तोडकर स्वयं मर जांयगे। ऐसा नाश न हो, इस लिये वेद कहता है कि अपनी गतिसे चलो और परस्पर सहायक बनकर अपनी उन्नतिका साधन करो।

पेटकी पाचक शक्ति।

मनुष्यके शरीरमें रोग बीजोंका प्रवेश तब होता है जब उसकी पाचन शक्ति बिगडी होती है। इसकी सूचना देने के लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति। (मं० ६)

“ जाठर अग्नि–अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्नि ही-प्राणोंका सम्य-क्तया धारण करता है।” अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इस लिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा अन्यान्य

योग साधनादिद्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आवेगी वही रोगोंको दूर रखेगी और पास आने न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके बिगाडसे यकृत हृदय और मस्तिष्क का बिगाड होता है। मस्तिष्कके बिगाडसे विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही,तो रोग आदि वैसे प्रबल नहीं होते। इस लिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मंत्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः। (मं० ६)

" चन्द्र प्राणसे मिला है। " यहां " चन्द्र " शब्दके तीन अर्थ हैं, (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस, (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घनिष्ट संबंध है। यहां वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकभोजन प्राण स्थिरी करणके लिये आवश्यक बतानेसे मांसादि सेवन दीर्घजीवन के लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें।

सूर्य का वीर्य।

सूर्यमें बडी भारी जीवन विद्युत् है, उसको अपने अंदर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है—

देवाः विश्वतोवीर्यं प्राणेन समैरयन्। (मं० ७)

" देव सब प्रकारके वीर्योंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं। " इसी अनुष्ठानसे देव (निर्जराः) जरारहित और (अ-मराः) मरणरहित हुए हैं। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अंदर सूर्यकी जीवन विद्युत् का धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य प्रकाशमें खडे होकर या बैठकर दीर्घश्वसन द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अंदर लेनेसे अपने अंदर सूर्यका वीर्य आजाता है;इसी प्रकार नंगे शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे भी चमडीके अंदर सौरविद्युत्का प्रवेश होजाता है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौरविद्युत् से लाभ उठाया जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाभ उठावें।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले।

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयु वाले मनुष्य हैं, अर्थात् विना प्रयत्न जो दीर्घआयुवाले हुए हैं,तथा जो (आयुष्कृत्) प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् योगादि

अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, (प्राणतां प्राणेन) प्राणकी प्रबल शक्तिसे युक्त पुरुषोंका प्राण कैसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते हैं, किस ढंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके,उनके उदाहरण अपने सन्मुख रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह एव भव) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घ काल तक रहना चाहिये और (मा मृथाः) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश मं० ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहां जहां दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, निष्पाप और सच्छील लोग होंगे, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित बोध प्राप्त करना चाहिये। और उससे लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस।

दशम मंत्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्य की प्राप्ति करनेका उपदेश है-

ओषधीनां रसेन आयुषा सं उत्। (मं० १०)

"औषधियोंके रससे हम दीर्घायुष्यसे संयुक्त होंगे।" इसमें दीर्घायुष्य प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अंतिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार "वृष्टि होनेसे वृक्षवनस्पति आदिक उगते हैं और उन्नतिको प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (वयं अमृताः उदस्थाम) हम अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करेंगे।" (मं० ११)

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें क्रमपूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

षष्ठ अनुवाक समाप्त।

तृतीय काण्ड समाप्त।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

चतुर्थ काण्ड।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८५, शक १८५०, सन १९२८

जागते रहो !!

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति
महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था
पूर्वे अर्धे विषिते ससन् ।

अथर्ववेद ४।१।६

" निश्चयसे ज्ञानी ही इस प्राचीन महादेव का धाम प्राप्त करता है । यह ज्ञानी बहुतों के साथ जन्मा था, परंतु जिस समय (उस धामका) पूर्व द्वार खुल गया था, (उस समय अन्य लोग) सोये पडे थे, (और केवल यह ज्ञानी ही जागता था, इस लिये इस ज्ञानी का अंदर प्रवेश हुआ और दूसरे बाहरही रह गये । "

मुद्रक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मंडळ,
भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

अथर्व वेदका स्वाध्याय।

[अथर्व वेदका सुबोध भाष्य।]

चतुर्थ काण्ड।

इस चतुर्थ काण्डका प्रारंभ "ब्रह्म" शब्दसे हुआ है। यह ब्रह्म शब्द अत्यंत मंगल है और इस शब्दद्वारा परममंगलमय परब्रह्मकी विद्या इसमें कही है।

अथर्ववेद	प्रथम काण्डका प्रारंभ		"शं"	शब्दसे हुआ है।	
,,	द्वितीय	,, ,,	"वेनः"	,,	,,
,,	तृतीय	,, ,,	"अग्निः"	,,	,,
,,	चतुर्थ	,, ,,	"ब्रह्म"	,,	,,

ये प्रारंभके शब्द कुछ विशेष भावके सूचक निःसंदेह हैं। यद्यपि अथर्व प्रथम काण्ड का प्रारंभ "ये त्रिषप्ताः" से होता है और "शं नो देवी" सूक्त छठवां है, तथापि ब्रह्मय-ज्ञपरिगणनमें, महाभाष्यमें तथा अन्यत्र भी "शं नो देवी" सूक्तसे अथर्ववेदका प्रारंभ माना है, इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रथम के पांच सूक्त भूमिकारूप हैं।

इस चतुर्थ काण्डमें चालीस सूक्त हैं और इसके पांच सूक्तोंका एक अनुवाक, ऐसे आठ अनुवाक हैं। यह चतुर्थ काण्ड प्रधानतया सात मंत्रोंवाले सूक्तोंका है, तथापि इसमें अधिक मंत्रवाले सूक्त भी हैं, इसकी गिनती इस प्रकार है—

७ मंत्रवाले	२१	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	१४७ है,
८ ,,	१०	,,	,,	,,	८० ,,
९ ,,	३	,,	,,	,,	२७ ,,
१० ,,	३	,,	,,	,,	३० ,,
१२ ,,	२	,,	,,	,,	२४ ,,
१६ ,,	१	,,	,,	,,	१६ ,,
कुलसूक्तसंख्या	४०			कुलमंत्रसंख्या	३२४

इस प्रकार काण्डमें २१ सूक्त ही सात मंत्रवाले हैं, और शेष १९ सूक्त आठ या आठसे अधिक मंत्रवाले हैं। प्रथम काण्डके १५३ मंत्र, द्वितीय काण्डके २०७ मंत्र, तृतीय काण्डके २३० मंत्र और चतुर्थ काण्डके ३२४ मंत्र हैं, इस प्रकार क्रमशः मंत्र संख्या बढ रही है।

पहले तीन काण्डोंमें प्रत्येकमें दो प्रपाठक और छः अनुवाक थे, परंतु इस चतुर्थ काण्डमें तीन प्रपाठक और आठ अनुवाक हैं। इस प्रकार सब मिलकर चतुर्थ काण्डकी समाप्तितक नौ प्रपाठक और छब्बीस अनुवाक हुए हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द.
१ प्रथमोऽनुवाकः। सप्तमः प्रपाठकः।				
१	७	वेनः	बृहस्पतिः। आदित्यः	त्रिष्टुप्।
२	८	,,	आत्मा	,, ; ६पुरोऽनुष्टुप्; ८ उपरिष्टाज्ज्योतिः
३	७	अथर्वा	रुद्रः। व्याघ्रः।	अनुष्टुप्; १पंक्तिः; ३ गायत्री। ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद्बृहती।
४	८	,,	वनस्पतिः।	,, ४ पुरउष्णिक्; ६,७ भुरिजौ।
५	७	ब्रह्मा	(स्वापनं) ऋषभः	,, २ भुरिक्; ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्।
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	गरुत्मान्	तक्षकः	,,
७	७	,,	वनस्पतिः	,, ४ स्वराट्।
८	७	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः। आपः। (राज्याभिषेकः)	,, १, ७ भुरिक् त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
९	१०	भृगुः	त्रैककुदाञ्जनं	,, २ ककुम्मती; ३ पथ्यापंक्तिः
१०	७	अथर्वा	शंखमणिः	,, ६ पथ्यापंक्तिः; ७ पञ्चपदा परानुष्टुप्शक्वरी।
३ तृतीयोऽनुवाकः।				
११	१२	भृग्वंगिराः	अनड्वान्। इन्द्रः	त्रिष्टुप्। १, ४ जगती, २ भुरिक्

					७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुग्गर्भोपरिष्टाज्जागतानिचृच्छक्वरी;८-१२अनुष्टुभः।
१२	७	ऋभुः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्।	१ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री; ७ बृहती।
१३	७	शंतातिः	चन्द्रमाः। विश्वेदेवाः	,,	
१४	९	भृगुः	आज्यं। अग्निः	त्रिष्टुप्।	२, ४अनुष्टुभौ; ३ प्रस्तार पंक्तिः; ७, ९ जगती; ८ पञ्चपदातिशक्वरी।
१५	१६	अथर्वा	मरुत्। पर्जन्यः।	,,	१, २, ५ विराड् जगती, ४ विराड् पुरस्ताद् बृहती ७ (८), १३ (१४) अनुष्टुप्; ९ पथ्यापंक्तिः; १० भुरिग्; १२ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा भुरिग्; १५ शंकुमत्यनुष्टुब्।

४ चतुर्थोऽनुवाकः।

१६	९	ब्रह्मा	वरुणः(सत्यानृतोऽन्वीक्षणं)	,,	१ अनुष्टुप्; ५ भुरिक्; ७ जगती; ८ त्रिपान्महाबृहती; ९ विराण्नामत्रिपाद्गायत्री।
१७	८	शुक्रः	अपामार्गः। वनस्पतिः	अनुष्टुप्	
१८	८	,,	,, ,,	,,	६ बृहतीगर्भा।
१९	८	,,	,, ,,	,,	२ पथ्यापंक्तिः।
२०	९	मातृनामा	मातृनामादेवता।	,,	१ स्वराज्; ९ भुरिक्।

५ पंचमोऽनुवाकः। अष्टमः प्रपाठकः।

२१	७	ब्रह्मा	गावः।	त्रिष्टुप्।	२-४ जगती।
२२	७	वसिष्ठः;अथर्वा।	इन्द्रः	,,	
२३	७	मृगारः	प्रचेता अग्निः।	,,	३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती ४ अनुष्टुप् ६ प्रस्तारपंक्तिः।
२४	७	,,	इन्द्रः	,,	१ शक्वरीगर्भा पुरःशक्वरी
२५	७	,,	वायुः। सविता।	,,	३ अतिशक्वरीगर्भाजगती; ७ पथ्या बृहती।

६ षष्ठोऽनुवाकः।

२६	७	मृगारः	द्यावापृथिवी	त्रिष्टुप्	१ परोऽष्टिर्जगती; ७ शाक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः।
२७	७	,,	मरुतः	,,	
२८	७	,,(अथर्वा)	भवशर्वौ। रुद्रः।	,,	१ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक्।
२९	७	,,	मित्रावरुणौ	,,	७ शाक्वरीगर्भाजगती।
३०	८	अथर्वा	वाक्	,,	६ जगती।

७ सप्तमोऽनुवाकः। नवमः प्रपाठकः।

३१	७	ब्रह्मा स्कन्दः	मन्युः	,,	२,४ भुरिक्; ५-७जगती
३२	७	,,	,,	,,	१ जगती।
३३	८	ब्रह्मा	पाप्मा। अग्निः।	गायत्री।	
३४	८	अथर्वा	ब्रह्मौदनं।	त्रिष्टुप्।	४ भुरिक्; ५ त्र्यवसाना सप्तपदा कृतिः; ६ पंचपदातिशक्वरी; ७ भुरिक्शक्वरी; ८ जगती।
३५	७	प्रजापतिः	अतिमृत्युः	,,	३ भुरिग्जगती।

८ अष्टमोऽनुवाकः।

३६	७	चातनः	सत्यौजाः। अग्निः।	अनुष्टुप्।	९ भुरिक्
३७	१२	बादरायणिः	अजशृंगी। अप्सराः	,,	३ त्र्यवसाना षट्पदात्रिष्टुप्; ५ प्रस्तारपंक्तिः; ७ परोष्णिक्; ११ षट्पदा जगती; १२ निचृत्।
३८	७	,,	अप्सराः। ऋषभः	,,	३ षट्पदात्र्यवसाना जगती, ५ भुरिगत्यष्टिः; ६ त्रिष्टुप्; ७ त्र्यवसाना पञ्चपदानुष्टुब्गर्भापुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती।
३९	१०	अङ्गिराः	सान्नत्यं। नानादेवताः	पंक्तिः।	१,३,५,७ महाबृहती; २,४,६,८संस्तारपंक्तिः; ९,१० त्रिष्टुप्
४०	८	शुक्रः	बहुदेवत्यं।	त्रिष्टुप्	२ जगती; ८ जगती पुरोतिशक्वरी पादयुग्।

ये सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये-

१ अथर्वा- ३, ४, १०, १५, (२२, २८), ३०, ३४ ये आठ सूक्त।
२ मृगारः— २३—२९ ये सात सूक्त।
३ ब्रह्मा— ५, १६, २१, ३३ ये चार सूक्त।
४ शुक्रः- १७-१९, ४० ये चार सूक्त।
५ भृगुः— ९, १२, १४ ये तीन सूक्त।
६ गरुत्मान्— ६, ७ ये दो सूक्त।
७ बादरायणिः— ३७, ३८ ,, ,,
८ ब्राह्मा स्कन्दः- ३१, ३२ ,, ,,
९ वेनः — १, २ ये दो सूक्त।
१० अङ्गिराः— ३९ यह एक सूक्त।
११ अथर्वाङ्गिरसः— ८ ,, ,,
१२ चातनः— ३६ ,, ,,
१३ प्रजापतिः— ३५ ,, ,,
१४ भृग्वङ्गिराः — ११ ,, ,,
१५ मातृनामा— २० ,, ,,
१६ वसिष्ठः— २२ ,, ,,
१७ शंतातिः १३ ,, ,,

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं, अब देवताक्रमानुसार सूक्तक्रम देखिये—

१ वनस्पतिः — ४, ७, १२, १७—१९ ये छः सूक्त।
२ अग्निः— १४, २३, ३३, ३६ ये चार सूक्त।
३ अपामार्गः— १७-१९ ये ये तीन सूक्त।
४ इन्द्रः— ११, २२, २४, ,, ,, ,,
५ अप्सराः— ३७, ३८ ये दो सूक्त।
६ ऋषभः— ५, ३८ ,, ,,
७ चन्द्रमाः— ८, १३ ,, ,,
८ नानादेवताः— ३९, ४० ,, ,,
(बहुदेवताः) ,, ,, ,, ,,
९ मन्युः— ३१—३२ ,, ,,

१० मरुत् — १५, २७ ये दो सूक्त।
११ रुद्रः — ३, २८ ,, ,,
१२ अजशृंगी — ३७वां एक सूक्त।
१३ अञ्जनं — ९ ,, ,, ,,
१४ अतिमृत्युः — ३५ ,, ,, ,,
१५ अनड्वत् ११ ,, ,, ,,
१६ आज्यं १४ ,, ,, ,,
१७ आत्मा २ ,, ,, ,,
१८ आदित्यः १ ,, ,, ,,
१९ आपः ८ ,, ,, ,,
२० गावः २१ ,, ,, ,,
२१ तक्षकः ३ ,, ,, ,,
२२ द्यावापृथिवी २६ ,, ,,
२३ पर्जन्यः १५ ,, ,,
२४ पाप्मा ३३ ,, ,,
२५ प्रचेता अग्निः २३ ,, ,,
२६ बृहस्पतिः १ ,, ,,
२७ ब्रह्मौदनं ३४ ,, ,,
२८ भवाशर्वौ २८ ,, ,,
२९ मातृनामा २० ,, ,,
३० मित्रावरुणौ २९ ,, ,,
३१ वरुणः १६ ,, ,,
३२ वाक् ३० ,, ,,
३३ वायुः २५ ,, ,,
३४ विश्वेदेवाः १३ ,, ,,
३५ व्याघ्रः ३ ,, ,,
३६ शंखमणिः १० ,, ,,
३७ सत्यौजा अग्निः ३६ ,, ,,
३८ सविता २५ ,, ,,
३९ स्वापनं ५ ,, ,,

इनके सिवाय "बहुदेवताः, नाना देवताः, विश्वेदेवाः" इन देवताओंके अन्दर कई अन्य देवतायें हैं उनको पाठक मंत्रोंके अंदर देख सकते हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके सूक्तोंके गण देखिये—

१ अंहोलिंगगण	२३-२९	ये सात सूक्त ।
२ अपराजितगण	१९, २१, ३१,	ये तीन सूक्त ।
३ रौद्रगण-	३	यह एक सूक्त ।
४ आयुष्यगण	१३	,, ,, ,,
५ दुष्वप्ननाशनगण	१७	,, ,, ,,
६ पाप्मगण	३३	,, ,, ,,
७ कृत्याप्रतिहरणगण	४०	,, ,, ,,

इस काण्डके सूक्तोंका शांतियोंके साथ संबंध देखना हो तो निम्न लिखित कोष्टक देखिये—

१ बृहच्छान्तिः	१, १३, २३-२९	ये नौ सूक्त ।
२ ऐरावती महाशान्ति	९	यह एक सूक्त ।
३ वारुणी ,, ,,	१०	,, ,,
४ प्राजापत्या ,, ,,	१५	,, ,,
५ वायव्या ,, ,,	२५	,, ,,
६ गांधर्वी ,, ,,	३७	,, ,,

इस काण्डके सूक्तोंका अध्ययन करनेके समय इन गणोंका पाठक अवश्य विचार करें। क्योंकि इन गणोंका जो परिगणन पूर्व आचार्योंने किया है वह स्वाध्यायशील पाठकों के हितार्थही किया है।

इतनी भूमिकाके साथ अब इस काण्डके सूक्तोंका विचार प्रारंभ करते हैं।—

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

चतुर्थ काण्ड ।

ब्रह्म विद्या ।

सूक्त १

(ऋषिः- वेनः । देवता-बृहस्पतिः, आदित्यः)

ब्रह्म ज॒ज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑ ॥ १ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सु रुचः सीम-तः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है । (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत् के उत्पत्तिस्थानको भी (वि वः) विशद करता है ॥ १ ॥

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रगट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसञ्चारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रों को देख कर सत् और असत् के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

इयं पित्र्या राष्ट्रयेत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥

अर्थ— (इयं भुवने-स्थाः पित्र्या राष्ट्री) यह मनुष्योंके अंदर रहनेवाली पितासे प्राप्त चमकनेवाली बुद्धि (प्रथमाय जनुषे अग्रे एतु) मुख्य जीवन के लिये आगे होवे । (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) उस पहले धारण करनेवालेको अर्पण करनेके लिये (एतं सुरुचं ह्वारं अ-ह्यं घर्मं श्रीणन्तु) इस तेजस्वी, दुष्टोंको दबाने वाले, हीनतासे रहित, यज्ञको सिद्ध करें ॥ २ ॥

(यः विद्वान्) जो विद्वान् (अस्य बन्धुः प्रजज्ञे) इसका बंधु होता है, वह (देवानां जनिमा विवक्ति) सब देवोंके जन्मों को कहता है। (ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार) ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट हुआ है । उसके (मध्यात् नीचैः उच्चैः) मध्यसे निम्न भागसे और उच्च भागसे (स्व-धाः अभि प्रतस्थौ) उस की निज धारक शक्तियां फैली हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई तेजस्वी बुद्धि श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेकी इच्छासे आगे बढे । तथा वह बुद्धि सबके मुख्य धारण कर्ता परमात्माके लिये समर्पण करनेके हेतुसे तेजस्वी, दुष्टोंको दूर करनेवाले, उच्च और श्रेष्ठ यज्ञको सिद्ध करे ॥ २ ॥

जो ज्ञानी इस परमात्मा का बन्धु बनता है वही देवोंके देवत्वके विषयमें सत्यज्ञान कहता है । परब्रह्मसे ज्ञानका प्रकाश हुआ है और उसके निम्न, मध्य और उच्च अर्थात् सब अंगोंसे धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं ॥ ३ ॥

स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत् ।
म॒हान्म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥ ४ ॥

स बु॒ध्न्यादा॑ष्ट्र ज॒नुषो॒ऽभ्यग्रं॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वता॒ तस्य॑ स॒म्राट् ।
अह॒र्यच्छु॒क्रं ज्योति॑षो॒ जनि॒ष्टाथ॑ द्यु॒मन्तो॒ वि व॑सन्तु॒ विप्राः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ– (सः हि दिवः) वह ही द्युलोक का और (सः पृथिव्याः ऋत-स्थाः) वही पृथिवीका सत्य नियमसे ठहरानेवाला है। उसीने (मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्) बडे द्युलोक और पृथिवी लोकको घरके समान स्थिर किया है। (महान् जातः) वह बडा देव प्रकट होता हुआ (द्यां पार्थिवं सद्म रजः च) द्युलोक, पृथिवी के निवास स्थानको और अंतरिक्षलोक को (मही अस्कभायत्) विस्तृतरूप देकर स्थिर करता है ॥ ४ ॥

(तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः) उस जगत्का सम्राट् बृहस्पति देव है और (सः बुध्न्यात् जनुषः अग्रं अभि आष्ट्र) वह पहिले जन्मसे भी पूर्वकालसे चारों ओर व्याप्त है। (अथ यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः जनिष्ट) अब जो ज्योतिसे शुद्ध दिन उत्पन्न हुआ, उससे (द्युमन्तः विप्राः विवसन्तु) प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे निवास करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— वही एक देव द्युलोक और पृथ्वीलोक आदियोंको सत्य नियमोंसे अपने अपने स्थानमें स्थिर करने वाला है। उसीने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको घर जैसा बनाया है। उसी प्रकट हुए महान् देवने द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, और इस हमारे घरके समान भूलोक को विस्तृत और महान् बनाकर अपने अपने स्थानमें सुदृढ किया है ॥ ४ ॥

इस जगत् का एक सम्राट् बृहस्पति देव है, वह आदिकालसे चारों ओर पूर्ण रीतिसे फैला हुआ है। उसकी ज्योतिसे जो पवित्र दिनका प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे जीवन व्यतीत करें ॥ ५ ॥

नूनं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑ ।
ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभिः॑ सा॒कमि॒त्था पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन्नु ॥ ६ ॥
योऽथ॑र्वाणं पि॒तरं॑ दे॒वब॑न्धुं बृह॒स्पतिं॒ नम॒साव॑ च॒ गच्छा॑त् ।
त्वं विश्वे॑षां जनि॒ता यथासः॑ क॒विर्दे॒वो न दभा॑यत्स्व॒धावा॑न् ॥ ७ ॥

(काव्यः नूनं) ज्ञानी निश्चयसे (अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम) इस प्राचीन देव का वह महान् धाम (हिनोति) प्राप्त करता है। (इत्था बहुभिः साकं एषः जज्ञे) इस प्रकार बहुतोंके साथ यह ज्ञानी उत्पन्न हुआ था, परंतु जिस समय (पूर्वे अर्धे वि-सिते) पूर्व दिशाका आधा द्वार खुला, तब उनमेंसे प्रत्येक (ससन् नु) सोता ही रहा ॥ ६ ॥

(यः) जो (अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं) निश्चल पिता देवोंके भाई (बृहस्पतिं नमसा च अव गच्छात्) बृहस्पतिदेवको नमस्कारके साथ ऐसे जानें। "(त्वं विश्वेषां जनिता असः) तूं सबका उत्पादक हो, (यथा कविः स्वधावान् देवः न दभायत्) और ज्ञानी, स्वकीय सामर्थ्य युक्त देव कभी दबाया नहीं जाता" ॥ ७ ॥

भावार्थ— ज्ञानी निश्चयसे इस प्राचीन देवका वह प्रसिद्ध महान् धाम प्राप्त करता है। वस्तुतः ज्ञानीका जन्म अनेक मनुष्योंके जन्मोंके साथ हुआ होता है, परन्तु प्रयत्नसे ज्ञानी के लिये जिस समय वह पूर्व महाद्वार थोडासा खुल जाता है, उस समय जाग्रत रहनेके कारण उसमें ज्ञानी प्रविष्ट होता है, परन्तु अन्य लोग बाहरही सोये पडे रहते हैं ॥ ६ ॥

मनुष्य, देवोंके भाई, परमपिता निश्चल बृहस्पतिका नम्रताके साथ की हुई उपासनाद्वारा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है कि " हे देव! तू सबका उत्पादक है, तू ही ज्ञानी और स्वकीय सामर्थ्यसे युक्त है और तू ही कभी न दबनेवाला है " ॥ ७ ॥

ब्रह्मकी विद्या।

इस सूक्तमें " ब्रह्मकी विद्या " बडी मनोहर रीतिसे कही है। जो ब्रह्मविद्याका मनन करते हैं, उनके लिये यह सूक्त बडा बोधप्रद होगा। इसका पहिला कथन यह है-

प्राचीन देव।

पुरस्तात् प्रथमं ब्रह्म जज्ञानम्। (मं० १)

" सबसे अति प्राचीन कालकी जो भी कल्पना की जा सकती है उससे भी अत्यन्त प्राचीन कालसे वह परब्रह्म अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। " जिस समय अन्य कोई भी पदार्थ उत्पन्नही नहीं हुआ था, उस समयसे स्वयं प्रकाशी ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है, प्रकाशित होनेके लिये इसको किसी अन्यकी सहायता नहीं लेनी पडती है। इसके अतिप्राचीन होनेके विषयमें इसी सूक्तमें निम्नलिखित वचन देखने योग्य हैं—

१ प्रथमाय तस्मै धास्यवे। (मं० २)

२ अग्रं स बुध्न्यात् जनुषः आभि आष्ट्र। (मं० ५)

३ पूर्वस्य अस्य देवस्य तत् धाम। (मं० ६)

" (१) सब से पहिला वह धारक है। (२) सबसे प्रथम जिसकी उत्पत्ति हुई है उससेभी पहिले वह चारों ओर व्याप्त है। (३) सबसे पुराने इस देवका वह स्थान है। "

इन मन्त्रोंमें इस देवके अति प्राचीन होनेके विषयमें निश्चयात्मक वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि यह देव स्वयंसिद्ध अथवा स्वयंभु, सर्वाधार और सब जगत्की उत्पत्ति होनेके पूर्वकाल से भी विद्यमान है।

इसका ज्ञान।

इसका ज्ञान किस रीतिसे हो सकता है, इस विषयमें विचार करनेके लिये निम्न लिखित मंत्र बडी सहायता देता है-

सुरुचः सीमतः वेनः वि आवः। (मं० १)

" (सु-रुचः) उत्तम प्रकाशमान (सीमा-तः) सीमाओंसे ही (वेनः) ज्ञानी मनुष्य उसको देखता है। " जिस प्रकार बादलोंसे छिपा हुआ सूर्य बादलोंके चमकने वाले किनारोंसे ही जाना जाता है, उसी प्रकार सूर्यचन्द्रादियोंके पीछे रहकर सूर्यादि-योंको चमकानेवाला यह देव इन गोलोंकी चमकाहटसे ही जाना जाता है। " जिसको सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते परन्तु जिसके तेजसे सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं, वह ब्रह्म है। " अर्थात् सूर्यादियोंकी सुप्रकाशित सीमाओंको देखनेसे और विचार करनेसे परमात्माका ज्ञान होता है। सृष्टिमें उसका कार्य देखनेसे ही उस परमात्माका ज्ञान हो सकता है। उसके ज्ञान के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

इस के लिये उपमा।

यह परमात्मा प्रत्यक्ष दीखता नहीं है, सृष्टीमें उसका कार्य देखकर उसका अनुमान होता है, अथवा उपमाओंसे भी उसका वर्णन किया जाता है जैसा-

उस्य उपमाः बुध्न्याः वि—स्थाः। (मं० १)

" इसके लिये उपमाएं (बुध्न्याः) आकाशमें (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रहनेवाले जो सूर्यादि गोल हैं वेही हैं।" अर्थात् उस परमात्माका यदि वर्णन करना हो तो "वह सूर्यकाभी सूर्य है" " वह चन्द्रमाकाभी चन्द्रमा है " इस प्रकार किया जाता है। अर्थात् सूर्यादिकोंकी उपमा उसको देकर ही उसके विषयमें ज्ञान दिया जाता है। या तो मनुष्य सृष्टिमें उसका कार्य देखकर उसके विषयमें अनुमान करे अथवा सूर्यादि गोलोंका भी वह प्रकाशक है इसलिये वह सूर्यकाभी सूर्य है ऐसा जाने। यह रीति है जिससे उसके विषयमें कुछ अनुमान हो सकता है।

आदि कारण।

सबका आदिकारण वह परमात्माही है। सत् और असत्, बहुत समय ठहरनेवाले और क्षणभंगुर ऐसे जो पदार्थ हैं, उनका मूल आदि कारण वह है। देखिये—

सतः असतः च योनिं सः वि वः। (मं० १)

" सत् और असत् का आदि कारण वह है इस विषयमें यथायोग्य विवरण ज्ञानीही करता है। " अन्य मनुष्योंको उसके विषयमें पता नहीं होता। वे उसके विषयमें पूर्ण अज्ञानी रहते हैं।

श्रेष्ठ जीवन।

ज्ञानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता है यह एक बडे महत्त्वका विषय है, इसका विवेचन द्वितीय मंत्रमें किया है वह इस समय देखिये—

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥२॥
(मं० २)

" मनुष्योंके अंदर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई मनुष्यकी बुद्धि प्रथम श्रेणीका श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्सुक होकर आगे बढे और सर्वाधार परमात्माकी संतुष्टिके लियेही इस सुंदर श्रेष्ठ यज्ञ कर्मको करे।" इस मंत्रके कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं-

१ भुवनेष्ठाः (भुवने-स्थाः) भुवन में रहनेवाली । " भुवन" शब्दका अर्थ है।- " मनुष्य, मानवजाति, प्राणी, जगत्, उत्पन्न हुए हुए पदार्थ, पृथिवी, घर, स्थान, और अभ्युदयको प्राप्त स्थिति।" इनमेंसे यहां " मनुष्य अथवा मानवजाती यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इनमें रहनेवाली शक्ति (प्रथमाय जनुषे) प्रथम श्रेणीका जीवन व्यतीत करनेके लिये (अग्रे एतु) आगे बढे अर्थात् उत्साहसे अपने जीवनका सुधार करे, ऐसा कहा है। मानवेतर प्राणी या पदार्थोंमें इस की संभावना नहीं है इसलिये मनुष्य विषयक अर्थही यहां अपेक्षित है।

२ पित्र्या राष्ट्री=(पित्र्या) पितासे आनुवंशिक शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत (राष्ट्री) तेजस्वी सुप्रकाशित बुद्धि ।

इस प्रकार की बुद्धि मनुष्यके अंदर शुभ संकल्प सुदृढ करे और इस संकल्पके बलसे मनुष्य बलवान बनकर (प्रथमाय जनुषे) प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ दर्जेका जीवन व्यतीत करनेका उत्साह अपने मनमें बढावे। उत्साहसे वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करे। बीचमें कोई प्रलोभन आवे तो उसमें न फंसे और कोई विघ्न उत्पन्न हो जावे तो हताश न होवे। अर्थात् शुभाशुभ अवस्थाएं प्राप्त होनेपरभी अपना श्रेष्ठ मार्ग न छोडे। इसके पश्चात्-

प्रथमाय धास्यवे घर्मं श्रीणन्तु। (मं० २)

" सबके मुख्य आधार भूत परमात्माके लिये यज्ञ सिद्ध करे।" अर्थात् यज्ञ करे और वह उसको समर्पण करनेकी बुद्धि से ही करे, क्योंकि यज्ञका पुरुष वही है और सभी यज्ञ उसी के लिये किये जाते हैं।

यज्ञका लक्षण।

इसी मंत्रमें यज्ञका लक्षण तीन शब्दोंद्वारा बताया है, इसलिये यज्ञका स्वरूप देखनेके लिये इन तीन शब्दोंका मनन करना चाहिये—

१ अ—ह्रां—(अह्रीनं)=जिसमें हीनता नहीं है; जिसमें हीन या त्याज्य भाव बिलकुल नहीं है, अर्थात् जो उच्चभाव से युक्त है।

२ सुरुचं= अत्यंत तेजस्वी। तेजस्विता बढानेवाला।

३ ह्वारं=दबानेवाला, बुराइयोंको, और दुष्टताको दबाकर टेढा करनेवाला, दुष्टताको ऊपर सिर उठानेके लिये अवसर न देनेवाला।

" घर्म " यह यज्ञ वाचक शब्द यहां है, इसका अर्थ " उष्णता, सूर्यप्रकाश, यज्ञ " ऐसा है। यहां उष्णताका तात्पर्य मनुष्यके मनकी उष्णता अर्थात् उत्साह शक्ति है।

जिस श्रेष्ठ कर्मसे मनुष्यका पुरुषार्थ प्राप्ति विषयक उत्साह बढता है उस यज्ञकर्मका नाम " धर्म " है। पूर्वोक्त प्रकार का मनुष्य इस प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञ करे और अपने जीवन को सार्थक करे।

परमात्माका सामर्थ्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि वही सबका आधार है, जिसने इस संपूर्ण जगत् को ठहरा रखा है—

१ स हि दिवः पृथिव्याः च ऋतस्थाः। (मं० ४)
२ सः मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्। (मं० ४)
३ द्यां पार्थिवं सद्म रजः च स जातः मही अस्कभायत्। (मं०४)

" (१) उसने द्युलोक और पृथ्वीलोक को सत्य नियमोंसे धारण किया है। (२) बडी द्यावा पृथिवीको उसीने सुखपूर्ण किया है, और (३) द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षको उसी सुप्रसिद्ध परमात्माने विस्तृत और सुदृढ बनाया है। "

इस संपूर्ण जगत् का रचयिता वही परमात्मा है और वह इसको अपने सत्यनियमोंसे रचता है, चलाता है और सुदृढ करता है! इसी विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यहां देखिये

त्वं विश्वेषां जनिता असः। (मं० ७)

" तूं सबका उत्पन्न कर्ता है " इसमें असंदिग्ध रीतिसे कहा है कि वही सबका उत्पादक है। यही बात भिन्न शब्दोंद्वारा तृतीय मंत्रमें भी कही है—

ब्रह्म ब्रह्मणः उज्जभार। (मं० ३)
मध्यात् नीचैः उच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ। (मं० ३)

" ब्रह्म ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, उसीके मध्यसे, निम्नभागसे और उच्च भागसे उसकी अपनी धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं। " ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट होता है, और उसीसे अनंत धारक शक्तियां उत्पन्न होती हैं और उनसे इस विश्वका धारण होता है।

" ब्रह्म " शब्दका अर्थ—' परब्रह्म, परमात्मा; आत्मा, ज्ञान, मंत्र, वेद, ब्राह्मण, भक्त, तप, पवित्राचरण, धन, अन्न, सूर्य, बुद्धि, प्रजापति " ये हैं। यहां एक 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ परमात्मा है और दूसरे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'आत्मा, ज्ञान, बुद्धि, तप' आदि हैं। ब्रह्मके अंदर " स्व—धा " निज धारक शक्ति है वही सबका धारण करती है। इस में निज शक्ति होनेसे किसी अन्यकी शक्ति की अपेक्षा यह नहीं करता। यही दूसरोंको शक्ति देता है, यही इसका परम सामर्थ्य है। इसी से ये सूर्य चन्द्रादि तेजके गोले बने हैं और उसीकी शक्तिसे अपने अपने स्थान में स्थित हैं।

ज्ञानी ।

इस परमात्माका जो बंधु होता है अर्थात् जो भाई जैसा इस के साथ व्यवहार करता है वही इसके सामर्थ्यका वर्णन कर सकता है—

> यः विद्वान् अस्य बन्धुः जज्ञे,
> सः देवानां जनिमः विवक्ति ॥ (मंत्र ३)

" जो ज्ञानी इसका भाई करके प्रसिद्ध होता है वही इस परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सूर्यादि देवोंकी उत्पत्त्यादिके विषयमें यथायोग्य विवरण कर सकता है । " क्योंकि वही मनुष्य ठीक रीतिसे उस परमात्माकी शक्तिको जानता है । उसका भाई बननेका तात्पर्य उच्चाधिकारसे संपन्न होना है। जीवात्मा उस परमात्मा का जैसा "अमृतपुत्र" है वैसा ही उसका " बंधु " भी है । ये शब्द जीवात्माकी उन्नतिके दर्जे बताते हैं । वस्तुतः भाई आदि संबंध यहां लाक्षणिक ही हैं; ये संबंधवाचक मनुष्यकी उन्नति की अवस्था बतानेवाले हैं ।

यह मनुष्यकी योग्यता किस रीतिसे बढती है इस विषयमें पञ्चम मंत्रका एक वचन बडा मनोरंजक है; वह अब देखिये—

> अथ यत् ज्योतिषा शुक्रं अहः जनिष्ट
> (तेन) द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु । (मं० ५)

" जो परमात्माकी ज्योतिका प्रकाशपूर्ण दिन होता है, उसके प्रकाशसे प्रकाशित हुए हुए ज्ञानी विशेष प्रकारसे रहें, " अर्थात् उनका रहना सहना विशेष नियमोंसे बंधा होना चाहिये । विशेष परिशुद्ध रीतिसे जीवन व्यतीत करनेसे ही उनकी योग्यता बढती है । इन को परमात्माके प्रकाशसे प्रज्वलित हुए हुए दिनका सर्वत्र अनुभव होना चाहिये। जहां वे विचरें वहां परमात्माकी अखंड ज्योति उनको दिखाई देनी चाहिये । उसी के उजालेसे उनके व्यवहारका मार्ग प्रकाशित होना चाहिये, तभी उन्नतिकी संभावना है ।

सूर्यके प्रकाशसे जो 'दिन' होता है उसकी उस परमात्माके प्रकाशसे होनेवाले 'दिन' के साथ तुलना करनेसे वह दिन कहलानेके भी योग्य नहीं है । क्योंकि सूर्य परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, इस लिये परमात्मा के प्रकाशका महत्त्व सब अन्य प्रकाशोंसे विशेषही है ।

ज्ञानी की जाग्रती ।

जो विद्वान इस प्रकारके मार्गसे अपनी उन्नति करने का इच्छुक है उसको उ[illegible] है कि वह जाग्रत रहे, प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेता जाय। ऐसा करनेसेही उ[illegible] निःसन्देह उन्नति होती है। यदि अवसर आनेपर वह सोजावे तो वह पीछे र[illegible] इस विषयमें छठा मंत्र बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है—

१ एष बहुभिः साकं इत्था जज्ञे। (मं० ६)

२ (परंतु) अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम काव्यः न[illegible] हिनोति। (मं० ६)

३ (अन्ये) पूर्वे अर्धे विसिते ससन् नु। (मं० ६)

" (१)यह ज्ञानी बहुतसे अन्य मनुष्योंके साथ साथ उत्पन्न हुआ था (२) परंतु प्रा[illegible] चीन देवका वह श्रेष्ठ धाम यही अकेला ज्ञानी ही प्राप्त करता है, (३) इसके साथ जन्मे हुए अन्य साधारण लोग पूर्वका महाद्वार जिस समय खुल गया था उस समय सोये पडे थे।" द्वार खुल जानेके समय ज्ञानी जागता था इस कारण ज्ञानीका प्रवेश देवताके स्थानमें हुआ, अन्य लोग सोये पडे थे इस कारण वे अंदर प्रविष्ट न हो सके। यह मंत्र अवसरके महत्त्वका वर्णन कर रहा है।

जिस दिन ज्ञानी जन्मा था उसी दिन इस पृथ्वीपर सहस्रों मनुष्य जन्मे थे,परंतु योग्य अवसरको गवां देनेसे अन्य मनुष्य पीछे रह गए और जागता हुआ ज्ञानी प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेनेके कारण आगे बढ सका। मनुष्य केवल जन्मके कारण उच्च नहीं होता उसको जागते हुए अपनी उन्नतिका प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसकी उन्नतिकी संभावना है। जो पाठक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेके इच्छुक हैं वे इस मंत्रका योग्य मनन करके उचित बोध प्राप्त करें।

नमन और गुणचिंतन ।

इस सूक्तके अंतिम सप्तम मंत्रमें ज्ञानी बननेके मुख्य दो साधन कहे हैं, एक परमात्माको भक्तिसे नमन करना और दूसरा उसके गुणोंका चिन्तन करना। इन दोनों साधनोंका अब विचार कीजिये—

यः अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसा अवगच्छात्। (मं० ७)

" निश्चल परमपिता संपूर्ण देवोंका बन्धु, जो सर्वज्ञ देव है, उसको जो मनुष्य नमन करता है वही उसको जानता है।" भक्तिसे परमात्माकी शरण जाना, उसको प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रणाम करना, उसके सामने नम्र होना, ये मार्ग हैं जिनसे कि मनुष्य उच्च होता रहता है। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, तथा आत्मिक शक्तिका विकास करनेके लिये नम्र होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। नम्र होनेके सिवाय आत्माकी शक्ति विकसित नहीं होसकती। नम्रतापूर्ण अंतःकरणसे परमात्माका गुणचिंतन करना चाहिये, वह इस प्रकार किया जाता है—

१ त्वं विश्वेषां जनिता असः। (मं० ७)
२ कविः स्वधावान् देवः न दभायत्॥ (मं० ७)

" हे देवाधिदेव! तू ही सबका एक उत्पादक है। हे देव! तू ज्ञानी, निजसामर्थ्यसे युक्त है, इसलिये तुझे कोई भी दबा नहीं सकता।" इत्यादि प्रकारसे उस प्रभुका गुनगान करना चाहिये। इसी प्रकार—

तस्य सम्राड् देवता बृहस्पतिः। (मं० ५)

" इस जगत्का सच्चा एक सम्राट् बृहस्पति देव है।" यहां बृहस्पति देव परमात्माही है। 'बृहस्पति' का अर्थ 'ज्ञानका स्वामी, बडे विश्वका प्रभु' ऐसा होता है। इस सूक्तका यही देवता है। जो परब्रह्म परमात्माकी सर्वश्रेष्ठताका वर्णन कर रहा है।

इस सूक्तमें परब्रह्मका स्वरूप, उसका सामर्थ्य, उसकी भक्तिका उपाय इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जो पाठक ब्रह्मविद्याके अभ्यासी हैं, उनको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

किस देवताकी उपासना करें?

[२]

(ऋषिः— वेनः । देवता — आत्मा)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी समर्पण द्वारा हम सब पूजा करें? (यः आत्म-दाः बल-दाः) जो आत्मिक बल देनेवाला और अन्य सब बल देनेवाला है, तथा (यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देव मानते हैं, और (यः अस्य द्विपदः, यः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पाद का स्वामी है। इसी की पूजा सबको करनी योग्य है ॥ १ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी उपासना यजनद्वारा हम सब करें? (यः प्राणतः निमिषतः जगतः) जो श्वास उच्छ्वास करनेवाले और आंख मूंदनेवाले जगत्का (महित्वा एकः राजा बभूव) अपनी महिमासे एकही राजा हुआ है। (यस्य छाया अमृतं) जिसका आश्रय अमृतत्व देनेवाला है और (यस्य मृत्युः) जिसका आश्रय न करनाही मृत्यु है, उस देवताकी पूजा हम सबको करनी चाहिये ॥ २ ॥

भावार्थ— किस देवताकी हम पूजा करें? जो देव आत्मिक बल देनेवाला है, तथा जो अन्य बल भी देता है, जिसकी आज्ञाका पालन संपूर्ण अन्य देव करते हैं, जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक मात्र प्रभु है, ॥ १ ॥

जो अपनी सामर्थ्यके कारण श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंख मूंदने और न मूंदनेवालोंका एक मात्र राजा है, जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है और जिससे दूर होनाही मृत्यु है ॥ २ ॥

यं क्रन्दसी अवंतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् ।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

अर्थ-(कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम उपासना यज्ञ द्वारा करें? (चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः) लडने भिडनेवाली दो सेनायें जिसकी शरण जाती हैं और (भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्) डरनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक जिसको पुकारते हैं, (यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः) जिसके लोक को जानेका यह मार्ग विशेष सम्मान बढानेवाला है, उस देवताकी हम सबको पूजा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ (कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम यजनद्वारा उपासना करें? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (उर्वी द्यौः) विस्तीर्ण द्युलोक, (च मही पृथिवी) और बडी पृथ्वी तथा (यस्य अदः उरु अन्तरिक्षं) जिसकी महिमासे यह लंबाचौडा अन्तरिक्ष और (यस्य असौ सूरः विततः) जिसकी महिमासे यह सूर्य अपने प्रकाशसे फैल रहा है, उस देवताकी हम पूजा करें ॥ ४ ॥ (कस्मै देवाय हविषा विधेम?) किस देवताकी हम पूजा करें? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (विश्वे हिमवन्तः) सब हिमवाले पहाड खडे हैं और (यस्य समुद्रे रसां आहुः) जिसकी महिमासे समुद्रमें भी भूमि रही है। (इमाः च प्रदिशः यस्य बाहू) और ये दिशायें जिसकी बाहु हैं उस देवकी हम सब पूजा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ-लडने वाली दोनों सेनाएं विजय प्राप्त्यर्थ जिसकी शरण जाती हैं, ये द्यावापृथ्वी डरके समय जिसको सहायताके लिये पुकारते हैं, तथा जिस की प्राप्तिका मार्ग उसपरसे चलनेवालेकी योग्यता बढानेवाला होता है, ॥ ३ ॥

जिसकी महिमासे द्युलोक विस्तीर्ण हुआ है, यह पृथ्वी बडी बनी है और यह अंतरिक्ष लंबा चौडा बना है तथा जिसकी सामर्थ्यसे सूर्य प्रकाशता है, ॥ ४ ॥

जिसके बलसे ये हिमयुक्त ऊंचे पर्वत खडे हुए हैं, अग्निदीके रहनेके लिये समुद्रमें भूमि बनी है और सब दिशा उपदिशाएं जिसकी बाहुओंके समान फैली हैं, ॥ ५ ॥

हम किस देवताकी उपासना करें ?

हर एक उपासक के सन्मुख " हम किस देवताकी उपासना करें यह प्रश्न आता है, और हरएक धर्मने इस का उत्तर अनेक प्रकारसे दिया है । वेदके सन्मुख भी यही प्रश्न आया है; चारों वेदोंमें यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर बडी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे दिया है । इस सूक्तमें यह प्रश्न आठवार उठाया है और इतनेही मंत्रोंद्वारा विभिन्न पहलुओंसे इसका उत्तर दिया है । यह विषय बडे महत्त्व का है इस लिये इसका विचार यहां करना अत्यंत आवश्यक है ।

वस्तुतः यह सूक्त अति सरल है; तथापि इस में कई महत्त्वपूर्ण वातोंका उल्लेख है, इस लिये " कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" इस प्रश्नके प्रत्येक उत्तरका आवश्यक विचार हम यहां करते हैं ।–

प्रश्नका महत्त्व ।

इसमें जो प्रश्न किया है वह यह है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (मं० १—८)

" किस देव के लिये हविसे करें" यह प्रश्नके शब्दोंका अर्थ है। हविसे क्या करेंगे वह यहां कहा नहीं है । हविसे हवन करते हैं, हवन का अर्थ " आहुति समर्पण " है। हवन में हवन सामग्रिकी आहुतियां डाल देते हैं और प्रत्येक आहुति देने के समय कहते हैं कि–

अग्नये स्वाहा, अग्नय इदं, न मम ।
इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय इदं, न मम ।

" अग्निके लिये यह अर्पण है, यह अग्निका है, मेरा नहीं । इन्द्रके लिये यह समर्पण है, यह इन्द्रका है, मेरा नहीं है । " ये हविके हवनके मंत्र बताते हैं कि हविमें जो हवन किया जाता है, वह पूर्णतया समर्पण किया जाता है अर्थात् उस परका अपना अधिकार छोडा जाता है । यह यज्ञका आशय मनमें लाकर इस प्रश्नका विचार कीजिये तो आपको प्रतीत होगा कि " किस देवताके लिये हम अपना समर्पण करें; किस देवताके हेतु हम अपना त्याग करें, किस (देवाय इदं) देवता के लिये यह है और (न मम) मेरा नहीं ऐसा हम कहे " यह सार इस प्रश्नका है । जिस देवताने यह सब हमें दिया है उसके लिये अपना समर्पण करना हमारा कर्तव्य ही है, इस लिये उस देवताका पता

हमें कैसे लगेगा इसकी खोज करनी चाहिये, इस खोज के लिये उस देवताके नि लिखित लक्षण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ यः आत्मा-दाः—जो आत्माका देनेवाला है, जिसने आत्मा दिया है, अर्था अपने समान बननेकी योग्यता से युक्त आत्मा जिसने हम मनुष्यों या प्राणियोंके अंद रखा है ।

२ यः बल-दाः— जो बल देनेवाला है । आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शा रीरिक बल जिससे प्राप्त होता है ।

३ विश्वेदेवाः यस्य प्रशिषं उपासते-सब अन्य देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवता जगत् में, ब्राह्मण क्षत्रियादि विद्वान राष्ट्रमें और नेत्रादि इंद्रियशक्तियां शरीरमें जिसके नियमानुसार चलते हैं । तीन स्थानोंमें ये तीन देव हैं और ये उसके नियममें रहकर अपना कार्य करते हैं ।

४ यः द्विपदः चतुष्पदः ईशे- जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है। सब पशुपक्षियोंका जो एक जैसा पालन करता है ।

५ यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव— जो प्राणि यों तथा अन्योंका अपने निज सामर्थ्यसे एकमात्र राजा है, जिसके ऊपर किसीका भी शासन नहीं है । इसीका शासन सर्वोपरि है ।

६ यस्य छाया अमृतं— जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है, जिसकी प्राप्तिसे अमरत्व प्राप्त होता है ।

७ यस्य (अच्छाया) मृत्युः— जिससे विमुख होना मृत्यु है । यहां विमुख होनेका तात्पर्य उसकी भक्ति छोडना आदि समझना चाहिये ।

८ चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः— परस्पर विरोध करनेवाले और आक्रोशके साथ युद्ध करनेवाले दोनों ओरके सैनिक अपनी रक्षाके लिये जिसकी शरण जाते हैं अर्थात् दोनों पक्षोंके लोग जिसपर विश्वास रखते हैं और जिससे बलकी याचना करते हैं।

९ भियसाने रोदसी यं अह्वयेथां— भय प्राप्त होनेपर द्यावापृथिवीमें रहनेवाले सब जिसको अपनी सहायताके लिये पुकारते हैं। भयके समय किसी दूसरेकी शरण न जाते हुए सब एकमतसे इसका नाम लेते हैं ।

१० यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः— जिसके लोकको प्राप्त करनेका यह प्रसिद्ध मार्ग जिसपरसे कि आक्रमण करनेवाले की योग्यता वढती है, अर्थात् जिसके स्थानको पंहुंचानेवाले मार्गका आक्रमण करनेवालोंकी योग्यता प्रतिदिन उच्च होती जाती है। जितना मार्गका आक्रमण होगा उतनी योग्यता वढ जाएगी।

११ यस्य द्यौः उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य अदः अन्तरिक्षं उरु— जिसके प्रभावसे द्यौ, पृथ्वी और अंतरिक्ष विस्तीर्ण हुए हैं, अर्थात् जैसे चाहिये वैसे खुले हुए हैं।

१२ यस्य महित्वा असौ सूरः विततः— जिसके प्रभावसे यह सूर्य अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें फैल रहा है।

१३ यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः—जिसकी महिमासे ये सब हिमाच्छादित पर्वत खडे हुए हैं।

१४ यस्य महित्वा समुद्रे रसां आहुः— जिसके सामर्थ्यसे समुद्रके जलमें भी भूमी होती है, ऐसा कहते हैं।

१५ यस्य बाहू इमाः प्रदिशः— जिसके बाहु ये सब दिशा उपदिशाएं हैं।

१६ ऋतज्ञाः अमृताः आपः अग्रे गर्भं दधानाः विश्वं आवन्, यासु देवीषु अधिदेवः आसीत्— सत्य नियमसे चलनेवाली जीवन देनेवाली मूलप्रकृतिकी प्रवाहकी धाराएं जगत्के गर्भको धारण करती हुई विश्वको उत्पन्न करनेके लिये जब आगे बढीं, तब उन दिव्य धाराओंमें जो अधिष्ठाता एक देव था।

१७ हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत — जिसके अन्दर प्रकाशमान अनेक गोले हैं ऐसा जो देव पहलेसे विद्यमान है।

१८ भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्— सब जगत्का जो एकमात्र स्वामी प्रसिद्ध है।

१९ स दाधार पृथिवीं उत द्याम्— जिसने पृथ्वी और द्युलोकका अर्थात् सब विश्वका धारण किया है।

२० आपः गर्भं वत्सं जनयन्ती अग्रे समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य यः हिरण्ययः उल्यः आसीत् — मूल प्रकृतिकी जलधाराएं अपने अंदरमे-गर्भमे-जगत् रूपी बछडा उत्पन्न करती हुई जब आगे बढीं तब उस जन्मे हुए विश्वरूपी बछडेका सुवर्णके समान चमकनेवाला झिल्लीके समान संरक्षक था।

उसकी उपासना करो ।

पूर्वोक्त वीस लक्षणोंसे जिस परमेश्वरका बोध होता है उसकी उपासना सबको कर
चाहिये। इससे भिन्न किसीकीभी उपासना करनी योग्य नहीं है।

ये सब वीस लक्षण सरल और सुबोध हैं इस लिये इनका अधिक विवरण करने
आवश्यकता नहीं है। पाठक इससे अपने उपास्य देवको जानें और उसकी उपासन
करके उत्तम गति प्राप्त करें।

इन वीस लक्षणों में पहिले दो लक्षण मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियों का वर्णन कर
रहे हैं। मनुष्य के अन्दरकी शक्तियोंके साथ परमात्माका संबंध इसमें पाठक देख सकते
हैं। इसके पश्चात् के पांच लक्षणों में वह परमात्मा प्राणिमात्रका राजा है और मनुष्य
को अंतिम सुख अर्थात् मोक्ष देनेवाला है यह बात कही है। शेष लक्षणों में प्रायः पर-
मात्माका विश्वधारक गुण विविध प्रकारसे कहा है। दसवें लक्षण में परमात्मप्राप्ति के
मार्गका महत्व बताया है। जो इस मार्गमे जाते हैं उनका सम्मान बढजाता है। यह
विशेष बात इसमें कही है। यह एकाग्र चित्तसे मनन करने योग्य है।

कई लोक " कस्मै देवाय हविषा विधेम । " इस वाक्यसे [illegible] अनुमान करते
हैं कि इस सूक्तकी रचना करनेवाले को ईश्वरके विषयका निश्चित [illegible] नहीं था, वह
ईश्वरकी खोज कर रहा था। परंतु यह कथन निर्मूल है क्यों कि पू[illegible] लक्षण
परमेश्वरका निश्चित स्वरूप बता रहे हैं, और इस के पूर्व " ब्रह्म ज[illegible] सू० १)
सूक्तमें तो ब्रह्म विषयक उल्लेख स्पष्टतासे किया हुआ है। इस लिये ' [illegible] " की
प्रार्थना इस सूक्तमें है ऐसा मानना बडी भारी भूल है।

अतः इस सूक्तसे पूर्वोक्त वीस लक्षणोंसे बोधित होनेवाले " एक [illegible]तीय ईश्वरकी
पूजा करनी चाहिये, " यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट है। जो उपास[illegible] लिये बडा
बोधप्रद और असंदिग्ध रीतिसे मार्गदर्शक है। आशा है कि विचारी पाठक इससे उ-
चित बोध प्राप्त करेंगे।

शत्रुओंका दूर करना ।

[३]

(ऋषिः-- अथर्वा । देवता—रुद्रः , व्याघ्रः)

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग्देवो वनस्पतिर्हिरुङ्नमन्तु शत्रवः ॥ १ ॥
परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥
अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत्सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

अर्थ —(व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः त्रयः) बाघ, भेडिया और चोर मनुष्य ये तीनों (इतः उदक्रमन्) यहांसे भागकर चले गये । (सिन्धवः हिरुक् यन्ति) नदियां नीचे की गतिसे जाती हैं, (देवः वनस्पतिः हिरुक्) दिव्य वनस्पति भी रोगोंको नीचेकी गतिसे भगा देती है, इसी प्रकार (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) शत्रु नीचे होकर झुके रहें । ॥ १ ॥

(परेण पथा वृकः एतु) दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे । (उत परमेण तस्करः) और उससे भी दूरसे चोर चलाजावे। (परेण दत्त्वती रज्जुः) दूरसे दांतवाली रस्सी अर्थात् सांपिन चली जावे । और (अघायुः परेण अर्षतु) पापी दूरसे भाग जावे ॥ २ ॥

हे व्याघ्र ! (ते अक्ष्यौ) तेरी दोनों आंखोंको, (च ते मुखं) तेरे मुख को, (आत् च सर्वान् विंशतिं नखान्) और तेरे सब बीसों नखोंको (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ-बाघ, भेडिया, और चोर यहांसे भाग जावें । जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचे की ओर जाते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

भेडिया, चोर, सांप और पापी दुष्ट हम सबसे दूर भाग जाएं ॥ २ ॥

बाघ की आंखें, मुख के दांत, और उस के बीस नाखून हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय।

इस सूक्त में दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है। यह सूक्त बडे व्यापक अर्थ-वाला है इस लिये इस को पढनेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा। अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये—

अथर्वविद्याका नियम।

१ यत सं-यमः, न वि यमः,
२ यत् न वि यमः, सं-यम ॥ (मं० ७)

" जिसका संयम किया हो, उसको और विशेष न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिलकुल न किया हो तो उसका संयम अवश्य किया जावे। " यह अथर्व विद्याका नियम है-

आथर्वणं व्याघ्रजम्भनम्। (मं० ७)

" यह अथर्व विद्या संबंधी व्याघ्रादिकोंके दमन विद्याका नियम है," यह दो प्रकार से किया जाता है-

इन्द्रजाः सोमजाः। (मं० ७)

" इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंका अधिष्ठाता जो मन अथवा अंतःकरण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाली (इन्द्र-जाः) अंतः शक्तिसे एक दमन होता है और (सोमजाः) सोम आदि औषधियोंकी शक्तिसे एक दमन किया जाता है। " दुष्टोंके दमनके ये दो मार्ग हैं।

इस संपूर्ण सूक्तमें "(१) व्याघ्रः (वाघ), (२) वृकः (भेडिया),(३)अहिः (सांप), (४) दत्वती रज्जुः (दांत वाली काटनेवाली रस्सी अर्थात् सांपिन), (५) तथा अन्य दांत वाले, नाखूनोंवाले हिंस्र मृगः (हिंस्रपशु) और गोधा (गोह)" इन दुष्ट प्राणियोंके नाम भी गिनाये गए हैं। तथा "तस्करः, स्तेनः पुरुषः (चोर मनुष्य), अघायुः (पापी), यातुधानः (लुटेरा), शत्रुः (वैरी)" ये दुष्ट मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे दुष्ट मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है उसी प्रकार हिंस्र पशु आदियों को भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये। यहां जिनकी गिनती नहीं हुई ऐसे जो अन्य दुष्ट होंगे उनको इसी विधिसे काबू करना चाहिये और समाजसे दूर करना चाहिये और समाज को सुखी करना चाहिये। यह इस सूक्तका आशय है।

बाघ, सांप और सांपिन के दांत उखाडकर उनको सौम्य बनाने का उपाय तीं मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु जो दांतों और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उ शमन के लिये बर्ता जाने योग्य है।

सांप, बाघ, भेडिया आदि हिंसक प्राणी आजायं तो उनको पीटना चाहिये, उन पसलियां तोडनी चाहिये, उनको मरने तक मारना चाहिये, यह बात मंत्र ३ से ६ त के चार मंत्रोंमें बतायी है। तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर लुटेरे डाकू दुष्ट आदि समाज घात लोग समाज में आकर उपद्रव मचाने लगें तो उनको भी उसी उपायसे शांत करन चाहिये, ऐसा कहा है।

इस दण्डेकी मारसे इन सब दुष्टों हिंसकों और शत्रुओंको शान्त या दूर करना चा- हिये, यह इस सूक्तद्वारा उपदेश दिया है। परंतु बाघ, शेर, चोर, लुटेरे ये बाहरके स- माजमें ही रहते हैं ऐसा मानना बडी भारी भूल है। ये जैसे बाहर हैं वैसेही मनुष्यके अंदर भी हैं और इस सूक्त में बाघ भेडिया चोर आदि बाहर के शत्रुओंके शमन के उपदेश के मिषसे वस्तुतः आंतरिक हिंस्र पशुओंका और आंतरिक शत्रुओंका ही शमन करनेका उपदेश किया है। सप्तम सूक्तके " संयम " शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है।

मनुष्य के अंतःकरणके क्षेत्रमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः शत्रु हैं और इनको वेद में पशुही गिना है--

उलूकयातुं शुशुलूक यातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥

ऋग्वेद ७।१०४।२२

" (सुपर्ण-यातुं) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, (गृध्रयातुं) गीध के समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (कोक-यातुं) चिडियोंके समान आचार अर्थात् काम, (श्वयातुं) कुत्तेके समान बर्ताव अर्थात् स्वकीयोंसे मत्सर या द्वेष, (उलूक-यातुं) उल्लू के समान आचार अर्थात् मूढता, (शुशुलूक-यातुं) भेडियेके समान क्रूरता ये छः पशु मनुष्य के अंतःकरण में रहते हैं, इनका नाश वैसा करना चाहिये जैसा पत्थरोंसे पक्षि- योंका करते हैं। "काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर" ये छः शत्रु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये। इनके संयम करनेका यह उपाय सप्तम मंत्रमें कहा है-

१ जिनका संयम हो जाय उस पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये,

२ और जिनका संयम न हुआ हो उनको संयम के अंदर लाना चाहिये।

यह बात समझ में आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं। गाडी के घोडे पहिले केवल

पशु होते हैं, पश्चात् उनको सिखाया जाता है, सिखानेपर वे गाडीमें जोते जाते हैं। जो घोडे अच्छे नियम से चलनेवाले सुशील होते हैं यदि उनको विना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीडित किया जाय तो वे बिगड बैठते हैं। अति दंडन इस प्रकार घातक होता है। इंद्रियों के विषय में भी यही बात है। जो इंद्रिय संयमित होती हैं, यदि उनको और कडे नियमों में रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शुरू होजाती है और इस कारण उनके बिगडजानेकी संभावना होजाती है। इस लिये संयम में रहकर योग्य कार्य करनेवाली इंद्रियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथही साथ उनपर दक्षताके साथ अपनी दृष्टि रखनी चाहिये और उनका आचरण देखना चाहिये ताकि वे कुमार्गपर न जांय और संयम में ही स्थिर रहें। इस प्रकार संयमित इंद्रियों और वृत्तियोंसे वर्ताव करना चाहिये। परंतु जो संयम में स्थित नहीं हैं उनको नियमों से बांध कर प्रयत्नसे उनको वशमें करना चाहिये और जब वशमें आ जावें तब उनको पूर्वोक्त रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संयम के मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये।

खेलोंमें जो सिंह व्याघ्रादियोंको वशमें रखते हैं वे भी इसी प्रकार वशमें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न करवाते हैं, पश्चात् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। शिक्षित हो जानेपर उनपर बाहरसे बहुत दबाव न डालते हुए, परंतु किसी भी प्रकार वे मर्यादा का उल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्था से उनकी पालना करते हैं। संयम के पूर्व और पश्चात् व्यवहार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है वह बडी उपयोगी है।

मनुष्यके अंतः करणमें जैसे ये पशु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, वैरी, लुटेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अथवा दूर करना चाहिये। इस विषयमें योग्य बोध पाठक प्राप्त करें। यह संयम अपनी अंतःशक्तियोंसे करना चाहिये, साथ ही साथ औषधि प्रयोगसे भी कुछ अंशतक सहायता ली जा सकती है। जैसा सत्त्वगुणी अन्नका सेवन करनेसे कामक्रोध कुछ अंशतक कम होते हैं और रजोगुणी वा तमोगुणी अन्न सेवन करनेसे वे बढ जाते हैं। मद्यमांसाशनसे कामक्रोध बढते हैं और उक्त पदार्थों के सेवनसे निवृत्त होजानेपर उनसे बच जानेकी बहुत संभावना रहती है। इसी प्रकार सोमादि औषधि रस सेवनसे भी बडे लाभ होने संभव हैं।

इतना होनेपरभी अपनी अंतःशक्तियोंसे कामादियोंका सेवन करनेका अनुष्ठान अतिश्रेष्ठ है।

पाठक इस बातका अधिक विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें॥

बल संवर्धन ।

(४)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—वनस्पतिः)

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

अर्थ- (यां त्वा) जिस तुझको (गन्धर्वः मृत-भ्रजे वरुणाय अखनत्) गंधर्वने शक्तिहीन वरुणके लिये खोदा है (तां त्वा शेपहर्षणीं ओषधिं) उस तुझ इंद्रियका सामर्थ्य बढानेवाली औषधिको (वयं खनामसि) हम खोदते हैं ॥ १ ॥

(वाजिना शुष्मेण) शक्ति और बलके प्रभावसे (उषाः उदेजतु) उषाकी वेला ऊंची होवे, (उ सूर्यः उत्) सूर्य ऊपर चढे, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन ऊंचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापतिः उत् एजतु) बलवान प्रजापति उंचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—तरुण मनुष्य शक्तिहीन हुआ तो उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वैद्य इंद्रियशक्ति बढानेवाली औषधि देवे ॥ १ ॥

जिस प्रकार उषा प्रकाशती है, सूर्य उदयके पश्चात् चमकने लगता है, और वक्ताका शब्द बडा होता जाता है, उसी प्रकार इस औषधिके सेवनसे संतानका पिता पुनः बलवान होगा ॥ २ ॥

यथा स्म ते विरोहतोभितप्तमिवानति। ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥
उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अर्थ-(यथा स्म ते विरोहतः) जिस प्रकार तेरी वृद्धि होनेके समय (अभितप्तं इव अनति) तप्त होनेके समान श्वास चढता है (ततः ते शुष्मवत्तरं) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान (इयं औषधिः कृणोतु) यह औषधि करे ॥ ३ ॥

(ऋषभाणां ओषधीनां शुष्मा सारा उत्) ऋषभक नामक औषधियोंका बलवर्धक सार बल बढावे। हे (तनूवशिन् इन्द्र) शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र! (पुंसां वृषण्यं अस्मिन् धेहि) पुरुषोंका बल इसमें सम्यक् रीतिसे धारण करो ॥ ४ ॥

(वनस्पतीनां अपां प्रथमजः रसः) वनस्पतिके जलांशका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अथ उत सोमस्य भ्राता आसि) और सोमका रस, भाई जैसा पोषणकर्ता है, (उत आर्शं वृषण्यं आसि) और उठाने तथा बल बढानेवाला है ॥ ५ ॥

हे अग्ने! (अद्य) आज, हे सविता! (अद्य) आज, हे सरस्वती देवी! (अद्य) आज, हे ब्रह्मणस्पते! (अद्य) आज (अस्य पसः धनुः इव आतानय) इसकी इंद्रियको धनुषके समान फैला ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस औषधिसे शरीर अधिक बलवान होगा और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका यह शक्तिवर्धक सार है। शरीरको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंकी शक्तिवर्धक इस सार रूप औषधको धारण करके बलवान बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्वरस, सोमवल्लीके समान इस वल्लीका रस ये सब शक्ति बढानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवो! आज इसकी इंद्रियकी शक्ति बढा दो ॥ ६ ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति। तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥
स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥
स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यः आस्ते, यः चरति) जो बैठता है जो चलता है, (यः तिष्ठन् वि पश्यति) जो खडे होकर देखता है (तेषां अक्षीणि संदध्मः) उनकी आंखोंको हम बन्द करते हैं जैसे (यथा इदं हर्म्यं तथा) इस मंदिरके द्वार बंद किये जाते हैं ॥ ५ ॥

(माता स्वप्तु, पिता स्वप्तु) माता सोवे, पिता सोवे (श्वा स्वप्तु, विश्पतिः स्वप्तु) कुत्ता सोवे, और प्रजारक्षक सोवे, (अस्यै ज्ञातयः स्वपन्तु) इसकी ज्ञातिके लोग सोवें (अयं जनः अभितः स्वप्तु) यह सब लोग चारों ओर सोवें ॥ ६ ॥

हे (स्वप्न) निद्रा ! (स्वप्न-अभिकरणेन) नींद के उपाय से (सर्वं जनं निष्वापय) सब जनोंको सुला दे। (अन्यान् जनान् आ-उत्-सूर्यं स्वापय) अन्य जनोंको सूर्य उदय होने तक सुला दे। परंतु (अहं इन्द्र इव) मैं शूर पुरुषके समान (अ-रिष्टः अ-क्षितः) नाश रहित और क्षय रहित होता हुआ (जागृतात) जागता रहूं ॥ ७ ॥

गाढ निद्रा लानेका उपाय।

[यह सूक्त अति सरल होनेसे इसका भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं है।] इस सूक्तमें मनकी दृढ भावनासे गाढ निद्रा प्राप्त करनेका उपाय बताया है। चंद्रमा ऊपर आया हो तो उसकी शांतिका ध्यान करनेसे मन शान्त बन कर गाढ निद्रा आ सकती है (मं० १)। मंद वायु चल रहा है इस प्रकार की भावनासे भी गाढ निद्रा आ सकती है (मं० २)। आंखों को, अंगों और अवयवोंको तथा प्राणको शांत करनेसे भी निद्रा आती है (मं० ४)। तरुण स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी प्रयत्नसे अपनी वृत्तियां शान्त करके सुखसे निद्रा आने योग्य मनकी शान्ति बढाना चाहिये, जिससे सुख पूर्वक वे सो सकेंगे। पास रक्षाके लिये कुत्तोंको भी सुलाना चाहिये। (मं०६)

जो संरक्षक पुरुष हों वे दूसरोंको शान्तिसे सोने दें परंतु स्वयं उत्तम प्रकार जागते रहें और सबकी रक्षा करें। (मं० ७)

विषको दूर करना ।

(६)

(ऋषिः—गरुत्मान् । देवता—तक्षकः)

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥
यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे ।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥
सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

अर्थ-(प्रथमः दशशीर्षः दशास्यः ब्राह्मणः जज्ञे) सबसे प्रथम दस सिर और दस मुखवाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, (सः प्रथमः सोमं पपौ) उसने पहले सोमरसका पान किया और (सः विषं अ-रसं चकार) उसने विषको साररहित बना दिया ॥ १ ॥

(यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा) जितने द्युलोक और भूलोक विस्तार से फैले हैं, (सप्त सिन्धवः यावत् वितष्ठिरे) सात नदियां जितनी फैली हैं, वहांतक (विषस्य दूषणीं तां वाचं) विषको दूर करनेवाली उस वाणी को (इतः निरवादिषं) यहांसे मैंने कह दिया है ॥ २ ॥

हे विष ! (गरुत्मान् सुपर्णः) वेगवान गरुडपक्षी ने (प्रथमं त्वा आवयत) प्रथम तुझको खाया । उसे (न अमीमदः) न तूने उन्मत्त किया और (न अरूरुपः) न बेहोष किया, (उत अस्मै पितुः अभवः) परंतु तू उसके लिये अन्न बन गया ॥ ३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणने सोमपान करके विषको दूर किया ॥ १ ॥

यह विष दूर करनेका उपाय मैं उद्घोषित करता हूं यह सब जगत् में फैल जावे ॥ २ ॥

गरुड पक्षीको विषकी बाधा नहीं होती है वह विष खाता है, परंतु उसको न तो उन्माद चढता है और न बेहोषी आती है । विष तो उस के लिये अन्न जैसा है ॥ ३ ॥

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः। अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विष॥
शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः। अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विष॥
अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्। उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्॥
ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

अर्थ- (यः पञ्चाङ्गुरिः) जिस पांच अंगुलियोंसे युक्त वीर ने (वक्रा चित् धन्वनः अधि) टेढे धनुष्यपर से (अपस्कंभस्य शल्यात) बंधन निकाले शरसे (ते विषं आस्यत) तेरे अंदर विष चलाया है (अहं वि निरवोचं) मैंने उस विषको हटा दिया है ॥ ४ ॥

(शल्यात् प्राञ्जनात् उत पर्णधेः) शल्यसे, निम्नभागसे, पङ्खवाले स्था नसे (विषं निरवोचं) विष मैंने हटाया है। (अपाष्ठात शृंगात् कुल्मला फालसे, सींगसे और बाणके अन्य भागसे (अहं विषं निरवोचं) मै विष दूर किया है ॥ ५ ॥

हे (इषो) हे बाण ! (ते शल्यः अरसः) तेरी बाणकी अणि निःस है, (अथो ते विषं अरसं) और तेरा विष साररहित है। हे (अरस) र रहित शुष्क ! (उत अरसस्य वृक्षस्य ते धनुः) सार रहित वृक्षका ते धनुष (अरसं) निःसत्व हो जावे ॥ ६ ॥

(ये अपीषन्) जिन्होंने पीसा है, (ये अदिहन्) जिन्होंने लेप दि है, (ये आस्यन्) जिन्होंने फेंका है, (ये अवासृजन्) जिन्होंने लक्ष्यप छोडा है (सर्वे ते वध्रयः कृताः) वे सब निर्बल किये गये हैं, (विषगिरि वध्रिः कृतः) विषपर्वत भी निर्बल किया गया है ॥ ७ ॥

भावार्थ- वीर लोग जो विषसे पूर्ण बाण चलाते हैं उससे हम वह वि दूर करते हैं ॥ ४ ॥

बाणके आदि, मध्य और अग्रभागसे हम विष दूर करते हैं ॥ ५ ॥

इस प्रकार सब बाण हम निर्विष करते हैं ॥ ६ ॥

जो विषको पीसते हैं, उसका लेप बाणपर करते हैं, जो बाण फेंकते अथवा वेधते हैं, उनके सब प्रयत्न इस रीतिसे निर्विष हुए हैं और स विष भी निकम्मा सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (ओषधे !) विषकी औषधि ! (ते खनितारः वध्रयः) तेरे खोदने वाले निःसत्त्व हुए. (त्वं वध्रिः असि) तूभी निःसत्त्व है। (सः पर्वतः गिरिः वध्रिः) वह पर्वत और पहाड भी निर्वीर्य हुआ (यतः इदं विषं जातं) जहांसे यह विष उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ— इस प्रकार विषवल्लीको खोदनेवाले व जिस पर्वतपर विषवृक्ष उगते हैं वह पर्वतभी निःसत्त्व हुआ है ॥ ८ ॥

विष दूर करनेका उपाय ।

इस सूक्तमें विष दूर करनेके उपाय कहे हैं। पहिला उपाय "सोम पान" करना है। सोम पान करनेसे विष दूर होता है। (मं० १) प्रथम मंत्रमें यह उपाय कहा है। इसमें कहा है कि "दस शीर्ष और दस मुखवाला ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न हुआ, उसने सोमपान किया जिससे विषबाधा नहीं हुई।" इसमें "दशशीर्ष और दशास्य शब्द ब्राह्मणके विशेषण हैं। शीर्ष शब्द बुद्धिका और आस्य शब्द वक्तृत्वका वाचक है। दस गुना बुद्धिमान् और दस गुना विद्वान्, यह इस शब्दका भाव है। जो ऐसा विद्वान् सोमपान करके उसका यज्ञरूप सोम पीता है उसका विष दूर होता है, ऐसा यहां आशय दीखता है। "इस सोम पान से विषबाधा दूर होती है" यह घोषणा सब जगत्में की जावे, (मं. २) ताकि सर्वत्र सोमपान होते रहें और सब देश निर्विष होवें। जल वायुको निर्दोष और निर्विष करनेका उपाय यह सोम पान है।

दूसरा उपाय गरुडरूपीका है। गरुड सांप आदि विषजन्तुओंको खाता है, उनका विष उसके पेटमें जाता है, परंतु उसको विष बाधा नहीं होती, मानो वह विष उसका अन्न ही बन जाता है। संभव है कि इस विषयकी योग्य खोज करनेसे विष शमन करनेके उपाय का ज्ञान हो जावे। खोज करनेवाले पाठक गरुडकी पाचक शक्तिके विषयमें खोज करें और लाभ उठावें।

अन्य मंत्रोंका विषय पृथ्वीमें विषवृक्ष उगनेसे जो विषबाधा होती है, उस संबंध का विष दूर करनेका है। यह विषय हमारे समझमें नहीं आया है। इसलिये इस विषय में हम अधिक कुछभी नहीं लिख सकते।

विष दूर करना।

[७]

(ऋषिः—गरुत्मान् । देवता-वनस्पतिः)

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि । तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदारथिम् । क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥

अर्थ—(वारणावत्यां अधि) वारणानामक औषधि में रहने व(इदं वार् वारयातै) यह रस, जल, विषको दूर करता है। (तत्र अमृत आसिक्तं) वहां अमृतका स्रोत है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

(प्राच्यं विषं अ-रसं) पूर्व दिशाका विष रसहीन होवे, (यत् उदी अरसं) जो उत्तर दिशामें विष हो वहभी रसहीन होवे। (अथ इदं अ राच्यं) अब जो नीचेकी दिशाका यह विष है वह (करम्भेण विकल्प दहीसे विफल होता है ॥ २ ॥

हे (दुः+तनो) दोषयुक्त शरीरवाले ! (तिर्यं=तिल्यं) तिलों (पीवः+पाकं) घीके साथ पका हुआ (उदारथिं=उदर-थिं) पेटको ठीक कर वाला (करम्भं) दधि मिश्रित अन्न (क्षुधा किल जक्षिवान्) क्षुध अनुकूल खाया जायगा, तो (सः त्वा न रूरुपः) वह तुझे बेहोश न होने देगा ॥ ३ ॥

भावार्थ— वारणा नामक औषधिका रस विषको दूर करता है, उस जो अमृतका स्रोत होता है, उससे विष दूर होता है ॥ १ ॥

इससे प्राच्य और उदीच्य विष शान्त होता है। निम्नभाग का वि दहिके प्रयोगसे विफलसा होता है ॥ २ ॥

विष शरीरको बिगाडता है। उस के लिये तिलोंके पाक में बहुत डाल कर उसका उत्तम पाक बनाकर और उसको दहीके साथ मिश्रि करके अपने पेटकी स्थिति और भूख के अनुकूल खाया जाय तो विष आनेवाली मूर्च्छा दूर होती है ॥ ३ ॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

अर्थ– हे (मदावति! मूर्च्छा लानेवाली! (ते मदं शरं इव वि पातयामसि) तेरी वेहोशीको बाणके समान दूर फेंक देते हैं। और (येषन्तं चरुं इव) चूनेवाले वर्तनके समान (त्वा वचसा प्रस्थापयामसि) तुझको वचा औषधी- से हम हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(आचितं ग्रामं इव) इकट्ठे हुए ग्रामीण जनोंके समान तुमको हम (वचसा परि स्थापयामसि) वचाऔषधिसे सब प्रकार ठहरा देते हैं। (स्थाम्नि वृक्ष इव तिष्ठ) स्थानपर वृक्षके समान ठहर। हे (अभ्रि–खाते) कुदालसे खोदी हुई! तू (न रूरुपः) वेहोश नहीं करेगी ॥ ५ ॥

(पवस्तैः दूर्शेभिः उत अजिनैः ओढनेकी चादरें, दुशाले और कृष्णा- जिनोंसे, हे औषधे! तू (प्रक्रीः असि) विकाऊ वस्तु है। हे (अभ्रि–खाते) कुदाल से खोदी हुई! तू (न रूरुपः) मूर्च्छित नहीं करती है ॥ ६ ॥

भावार्थ– औषधिके विषसे मूर्च्छा या वेहोशी आती हो तो उसके लिये वचा औषधिका प्रयोग किया जावे, इस से मूर्च्छा दूर होगी ॥ ४ ॥

वचा औषधिके प्रयोगसे विष अपना असर नहीं कर सकता और वेहोशी दूर होती है ॥ ५ ॥

यह औषधि एक विकाऊ चीज है, इससे मूर्च्छा हट जाती है, इसलिये यह विविध वस्तुएं देकर खरीदी जाती है ॥ ६ ॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे ॥ ७ ॥

अर्थ-(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां न कष्ट दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) यह सब तुम्हारे सन्मुख मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ- इस प्रकारके औषधिके प्रयोगसे प्राचीन ज्ञानी वैद्योंने जो चिकित्साएं की थीं, उनका स्मरण कर, और उस प्रकार अपने बाल तथा पुरुषोंको विनाश से बचाओ। यही हमारा कहना है ॥ ७ ॥

दो औषधियां।

इस सूक्तमें वारणा और वचा इन दो औषधियोंका उपयोग विष दूर करनेके कहा है।

विषके पेटमें जानेपर मूर्च्छा आने लगी तो तिलौदन दही के साथ खानेका उ तृतीय मंत्रमें कहा है।

[सूचना—ये सूक्त तथा इस प्रकारके जो अन्य सूक्त चिकित्साके साथ सं रखते हैं, उनका विचार ज्ञानी वैद्योंको ही करना चाहिये, क्यों कि औषधिवाचक श के अर्थ कई प्रकारसे होते हैं और केवल भाषा विज्ञानसे यह विषय सुलझा न सकता। इसलिये वैद्यकीय प्राचीन परंपराको जाननेवाले सुयोग्य वैद्य यदि इस वि की खोज करेंगे तो इससे जनताका बहुत लाभ हो सकेगा। केवल भाषा विज्ञानी सूक्तोंका जो अर्थ करते हैं, उसको सुविज्ञ वैद्य ही ठीक रीतिसे सुधार सकते हैं अर्थके सत्यासत्य का निर्णय भी वे ही कर सकते हैं।]

राजाका राज्याभिषेक।

(८)

(ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः। देवता-चन्द्रमाः, आपः। राज्याभिषेकः)

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ १॥
अभि प्रेहि मार्प वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन्॥ २॥

अर्थ-- जो (भूनः) स्वयं प्रभाव शाली बनकर (भूतेषु पयः आदधाति) सब प्रजाजनोंको दुग्धादि उपभोगके पदार्थ देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही सब प्रजाओंका अधिपति हो जाता है। (तस्य राज-सूयं मृत्युः चरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न होजानेपर स्वयं मृत्युही दण्ड लेकर उसकी सहायतार्थ राज्यमें भ्रमण करता है। (सः राजा इदं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यकी अनुमतिसे चले॥ १॥
हे (मित्रवर्धन) मित्रोंको बढानेवाले राजन्। तू (उग्रः चेत्ता सपत्न-हा अभिप्रेहि) प्रतापी, चेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ। (मा अपवेनः) पीछे न हट, (आ तिष्ठ) अपने स्थानपर ठहर जा। (तुभ्यं देवाः अधि ब्रुवन्तु) तेरे लिये विद्वान् लोग योग्य मंत्रणा देते रहें॥ २॥

भावार्थ—जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताके लिए विशेष सुखोपभोग प्राप्त कर देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति होता है। जो मृत्यु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाला है वह उस राजाका शासक दण्डधारी होकर उसकी सहायता करता है। इस प्रकार का जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलावे॥ १॥
राजा अपने मित्र बढावे। वह राजा प्रतापी प्रजामें चेतना बढानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे बढे। अपने स्थान में स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे। ऐसे राजाको विद्वान लोग समय समयपर योग्य मंत्रणा देते रहें॥ २॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥
व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥
या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥

अर्थ— (आतिष्ठन्तं विश्वे परिभूषन्) राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें। यह राजा (श्रियं वसानः स्व-रोचिः चरति) लक्ष्मीको धारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें विचरता है। इस (वृष्णः असु-रस्य तत् महत् नाम) बलवान्, प्रजाओंके प्राण रक्षक राजाका वही बडा यश है। वह (विश्वरूपः अमृतानि आ तस्थौ) सब रूपोंसे युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(वैयाघ्रे अधि व्याघ्रः) व्याघ्र स्वभाववाले मनुष्योंपर बाघ बनकर (मही दिशः विक्रमस्व) विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर। (पयस्वतीः आपः) दुग्धादि प्राप्त करनेवाली (सर्वाः विशः) सब प्रजाएं (त्वा वाञ्छन्तु) तुझे चाहें ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षे उत वा पृथिव्यां) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (याः दिव्याः आपः) जो दिव्य जल अपने (पयसा मदन्ति) सत्त्व रससे तृप्त करते हैं (तासां सर्वासां अपां) उन सब जलोंके (वर्चसा त्वा अभिषिञ्चामि) तेजसे तेरा अभिषेक करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— राजगद्दीपर विराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अलंकृत करते हैं। यह राजा ऐश्वर्य को पास रखता हुआ तेजस्वी बन कर राज्यमें विचरता है। प्रजाजनों के प्राणोंकी रक्षा करनेवाले बलवान राजाका यही बडा यश है। वह राजा विविध अधिकारियों के रूप धारण करके विविध सुखोंको बढाता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमन के लिये योग्य प्रखर उपायों की योजना करके सब दिशाओंमें पराक्रम करके विजयी होवे। दूध जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको अपने शासनके लिये चाहें ॥ ४ ॥

पृथ्वी और अंतरिक्ष में जो दिव्य जल हैं उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥

अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥
एना व्याघ्रं परिषस्वजाना सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व १ न्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—(दिव्याः पयस्वतीः आपः) दिव्य रसयुक्त जलोंने (वर्चसा त्वा अभि असिचन्) अपने तेजसे तुझे अभिषिक्त किया है (यथा मित्रवर्धनः असः) जिससे तू मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला होवे और (सविता त्वा तथा करत्) सबका प्रेरक देव तुझे वैसा योग्य करे ॥ ६ ॥

(व्याघ्रं सिंह परिषस्वजानाः एनाः) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिषिक्त करनेवाली ये जलधाराएं इसको (महते सौभगाय हिन्वन्ति) बडे सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं। (सु-भुवः समुद्रं न) जैसे उत्तम भूमिभाग समुद्रको शोभित करते हैं। उसी प्रकार (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं द्वीपिनं) जलोंके अंदर ठहरनेवाले, द्वीपाधिपति राजाको सब प्रजाएं (मर्मृज्यन्ते) सुभूषित करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— इस दिव्य जलसे अभिषिक्त हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बढावे। और परमेश्वर उस राजाको वैसीही प्रेरणा करे ॥ ६ ॥

यह राजा नरव्याघ्र अथवा नरसिंह अर्थात् नरश्रेष्ठ है। इस राज्याभिषेकसे इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्यादामें रहने वाला समुद्र चारों ओरके भूभागोंसे सुभूषित होता है, उस प्रकार चारों ओरसे जलसे वेष्टित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंसे सुपूजित होता है ॥ ७ ॥

राज्याभिषेक।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिको कहनेका यह सूक्त है। इस सूक्तके मनन से राज्याभिषेक विधिका ज्ञान होना संभव है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक होनेके लिये विविध जलाशयोंका जल लाया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदियां, अन्य पवित्र स्रोत और आकाशसे प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब जल लाये जाते हैं। इस मंत्रमें

जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य बडा गंभीर है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होना चाहिये। यह पहिला बोध यहां मिलता है। जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते उनका व्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारे तक राज्यका विस्तार होना देशोन्नति के लिये अत्यंत आवश्यक है। इसी विचारकी स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मंत्रके "समुद्र, अप्सु अन्तः, द्वीपी" ये शब्द हैं। पंचम मंत्रमें कहा है कि "तासां सर्वासां अपां वर्चसा अभिषिञ्चामि।" अर्थात् उन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूं, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

समुद्रतक राज्यविस्तार।

समुद्रका और महानदियोंका जल दूसरे राजाके पाससे भिक्षा मांगकर लाया हुआ राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र चाहिये और महानदियां भी अपने राज्यमें चाहिये। और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करनेसे संस्कारकी चीजें किस प्रकार राज्यविस्तार के लिये कारणीभूत हो सकतीं हैं इसका पता लग सकता है।

कौन राजा होता है ?

जो वीर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (पयः आ दधाति) दुग्ध आदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है, वही (अधिपतिः बभूव) राजा होता है। इस राजाका सहायक यह मृत्यु ही होता है, मृत्यु देव सब जगत्को दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मृत्युका अंशही राजाके पास आकर निवास करता है। इसीकी सहायतासे राजा अपराधियोंको दण्ड देता है। इस प्रकारका प्रभावशाली राजा प्रजाका शासन करे। (मं० १) यह राजा शत्रुनाशक और मित्र-वर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और बढावे। (मं० २) राज्यशासन करनेवाले अनेक ओहदेदार ये राजाकेही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो, राजा (विश्वरूपः) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (स्व-रोचिः) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजाकी महिमा है। (मं० ३) यह राजा बाघ और सिंह जैसा पराक्रमी बन कर शत्रुओंका दमन करे और सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करके यशका भागी बने॥

अञ्जन।

(९)

(ऋषिः- भृगुः । देवता-त्रैककुदञ्जनम्)

एहिं जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (जीवं त्रायमाणं) जीव की रक्षा करनेवाला, (पर्वतस्य अक्ष्यं) पर्वतसे प्राप्त होनेवाला और आंखोंके लिये हितकारक, (विश्वेभिः देवैः दत्तं) सब देवोंने दिया हुआ, (कं) सुख स्वरूप (जीवनाय परिधिः असि) जीवन के लिये परकोटरूप है, तू (एहि) यहां आ ॥ १ ॥

तू (पुरुषाणां परिपाणं) पुरुषोंका रक्षक, (गवां परिपाणं असि) गौओंका रक्षक है (अर्वतां अश्वानां) वेगवान घोडोंके भी (परिपाणाय तस्थिषे) रक्षाके लिये तू रहता है ॥ २ ॥

हे (आञ्जन) अञ्जन ! तू (उत परिपाणं असि) निःसंदेह संरक्षक है और (यातु जंभनं) बुराइयोंका नाश करनेवाला है । (उत त्वं अमृतस्य वेत्थ) और तू अमृतको जानता है; (अथो जीव-भोजनं असि) और जीवोंकी पुष्टि करनेवाला है, (अथो हरित-भेषजं) तथा पाण्डुरोगकी औषधि है ॥ ३ ॥

भावार्थ-प्राणिमात्रको अपमृत्युसे बचानेवाला, जीवनके लिये सहायक, आंखके लिये हितकारी, सब देवों से प्राप्त और पर्वतपर उगनेवाली वनस्पतियोंसे बननेवाला यह अञ्जन है, यह हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

मनुष्य, गौएं और घोडोंके लिये भी यह अत्यन्त हितकारी है ॥ २ ॥

यह अञ्जन उत्तम संरक्षक, बुराइयोंको दूर करनेवाला, मृत्युको दूर करने वाला, पुष्टि देनेवाला और पाण्डुरोगका नाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

त्रयो॑ दा॒सा आञ्ज॑नस्य त॒क्मा ब॒लास॒ आदहिः॑ ।
वर्षि॑ष्ठः॒ पर्व॑तानां त्रिक॒कुन्नाम॑ ते पि॒ता ॥ ८ ॥
यदाञ्ज॑नं त्रैककु॒दं जा॒तं हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।
या॒तूंश्च॒ सर्वा॑ञ्जम्भय॒त्सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यः॑ ॥ ९ ॥
यदि॒ वासि॑ त्रैकक॒ुदं यदि॑ याम॒ुनमु॒च्यसे॑ ।
उ॒भे ते॑ भ॒द्रे नाम्नी॒ ताभ्यां॑ नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ-(तक्मा,बलासः,आत् अहिः)ज्वर, कफरोग और उदावर्तरोग अथवा सर्प ये (त्रयः आञ्जनस्य दासाः) तीन अञ्जनके दास हैं। (पर्वतानां वर्षिष्ठः) पर्वतोंमें श्रेष्ठ (त्रिककुद् नाम ते पिता) त्रिककुद नामक तेरा पालक है॥८॥

(यत् त्रैककुदं आञ्जनं) जो त्रिककुदसे बना हुआ अञ्जन (हिमवतःपरि जातं) हिमयुक्त पर्वतपर उत्पन्न हुआ वह (सर्वान् यातून् जम्भयत) सब पीडकोंको दूर करता हुआ (सर्वाः यातुधान्यः च) सब दुष्टोंको दूर करता है ॥ ९ ॥

(यदि वा त्रैककुदं असि) यदि तू तीन ककुदोंसे उत्पन्न हुआ हो (यदि यामुनं उच्यसे) तुम्हें यामुन कहा जाता हो, (ते उभे नाम्नी भद्रे) वे दोनों तेरे नाम कल्याण सूचक हैं। हे अञ्जन ! (ताभ्यां नः पाहि) उनसे हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ- ज्वर, क्षय, कफविकार, उदावर्तनामक पेटका रोग अथवा सर्पका विष आदि इस अञ्जनके प्रयोगसे दूर हो जाते हैं। ऊंचे पर्वतोंपर के पदार्थोंसे यह बनता है ॥ ८ ॥

इस अञ्जनसे सब प्रकारकी पीडाएं दूर होती हैं ॥ ९ ॥

त्रैककुद और यामुन ये इसके नाम हैं, इससे कल्याण प्राप्त होता है। इस से हमारी रक्षा होवे ॥ १० ॥

अञ्जन।

वैद्य शास्त्रमें अञ्जनके मुख्य दो नाम हैं, "यामुनं अथवा यामुनेयं और सौवीराञ्जनं।" इसके पर्याय शब्द ये हैं- "पार्वतेयं, अञ्जनं, यामुनं, कृष्णं, नादेयं, मेचकं, स्रोतोजं, दुग्धसदं, नीलं, सुवीरजं, नीलाञ्जनं, चक्षुष्यं, वारिसंभवं, कपोतकं।" (रा- नि- व. १३)

इन नामोंमें "पार्वतेयं, यामुनं" ये दो शब्द हैं। ये ही दो शब्द इस सूक्तके अष्टम और दशम मंत्रमें क्रमशः हैं। अन्य मंत्रोंमें भी हैं, देखिये—

पर्वतस्य असि। (मं० १)
पर्वतानां त्रिककुत्० ते पिता। (मं० ८)
त्रैककुदं आञ्जनं हिमवतस्परि जातं। (मं० ९)
त्रैकाकुदं (आञ्जनं) यामुनं उच्यते। (मं० १०)

"पर्वतसे यह अंजन बना है। अंजनका पिता पर्वत है। हिमपर्वतपर यह अञ्जन हुआ। इसको यामुन कहते हैं।" अर्थात् वेदके शब्दोंका अर्थ वैद्यक ग्रंथोंके वर्णनसे इस प्रकार खुल जाता है। अञ्जनके गुण वैद्यक ग्रंथमें इस प्रकार कहे हैं—

शीतलं तीक्ष्णं स्वादु लेखनं कटु चक्षुष्यं तिक्तं
ग्राहकं मधुरं स्निग्धं हिक्काक्षयपित्तविषकफघ्नं
नेत्रदोषहरं वातघ्नं श्वासहरं रक्तपित्तघ्नं च। (वै. निघं.)
शीतलं कटु तिक्तं कषायं चक्षुष्यं रसायनं
कफवातविषघ्नं च॥ (रा० नि० व० १३)

ये वैद्यक ग्रंथमें कहे अञ्जन के गुण हैं इनमेंसे कई गुण इस सूक्तमें कहे हैं देखिये-

१ 'अक्ष्यं' (मं० १) आंखोंके लिये हितकारी, 'घोरात् चक्षुषः पाहि'। (मं० ६) आंखके भयंकर रोगसे बचाता है। यही भाव वैद्यक ग्रंथमें 'चक्षुष्यं, नेत्रदोषहरं' शब्दसे वर्णन किया है।

२ (मं० ८ में) तक्मा (क्षय ज्वर), बलास (कफ, श्वास), और अहिः (सर्प विष) का शमन अञ्जनसे होनेका वर्णन है। यही बात उक्त वैद्यक ग्रंथके वर्णनसे "हिक्का (श्वास) क्षय (क्षयरोग), विष (विषबाधा) का नाश करनेवाला" इन शब्दोंसे कही है।

इस सूक्तमें हृदयादि अंदरके अवयवोंपर भी इस अंजनका प्रभाव पडता है ऐसा कहा है। विचार आदिकी शुद्धता होती है और मनुष्यों तथा पशुओंके शरीरोंके अनेक रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है, यह भी वैद्यक ग्रंथमें 'कफपित्तवातघ्नं' अर्थात् वात पित्त कफके दोषोंका शमन करनेवाला इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हुआ है। कफपित्तवातके प्रकोपसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, उन प्रकोपोंका शमन इस अंजनसे होता है इस लिये सर्व रोग दूर करनेवाला यह अंजन है। इस दृष्टिसे इस सूक्तके २ से ८ तकके मंत्रोंके कथनोंका विचार करके बोध प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्त सुबोध है और विशेष उपयोगी है। इसलिये वैद्योंको इस अंजनके निर्माण करनेकी विधिका निश्चय करके उसको प्रकट करना चाहिये।

शंखमणि।

(१०)

(ऋषिः- अथर्वा। देवता-शंखमणिः)

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥
यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥
शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वातात् अन्तरिक्षात) वायुसे, अंतरिक्षसे, (विद्युतः ज्योतिषः परि जातः) विजलीसे और सूर्यादि ज्योतियोंसेभी सब प्रकारसे उत्पन्न हुआ (सः हिरण्यजाः कृशनः शंखः) वह सुवर्णसे बना मोती रूपी तेजस्वी शंख (नः अंहसः पातु) हमको पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः रोचनानामग्रतः) जो प्रकाशमानोंमें अग्र भागमें रहनेवाला (समुद्राद्, अधिजज्ञिषे) समुद्रसे उत्पन्न होता है उस (शंखेन रक्षांसि हत्वा) शंखसे राक्षसोंको नाश करके (अत्रिणः वि सहामहे) भक्षकोंको पराभूत करते हैं ॥२॥

(शंखेन अमीवां, अमतिं) शंखसे रोगको और मतिहीनताको (उत शंखेन सदान्वाः) और शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोगोंको हम दूर करते हैं। यह (शंखः विश्वभेषजः) शंख सब रोगोंकी औषधि है, इसलिये यह (कृशनः अंहसः पातु) मोतीके समान तेजस्वी शंख पापसे बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वायु अन्तरिक्ष विद्युत् और सूर्यादिकोंका तेज तथा सुवर्णके गुण लेकर शंख उत्पन्न हुआ है वह रोगोंसे बचाता है ॥ १ ॥

यह स्वयं तेजस्वी है और समुद्रसे प्राप्त होता है, इससे रोगबीज दूर होते हैं, खूनका शोषण करनेवाले रोगोंके क्रिमी इससे नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

शंखसे आमके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग दूर होते हैं, बुद्धिकी सुस्ती हटजाती है, शंखसे शरीरकी अन्य पीडा हट जाती है, शंख सब रोगोंकी औषधि है। यह तेजस्वी शंख हमें रोगोंसे बचाता है ॥ ३ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ-(दिवि जातः) द्युलोकसे हुआ, (समुद्रजः) समुद्रसे जन्मा औ (सिन्धुतः परि आभृतः) नदियोंसे इकट्ठा किया हुआ यह (हिरण्यजाः शंखः) सुवर्णके समान चमकनेवाला शंख है, (सः मणिः) वह म (नः आयुष्प्रतरणः) हमारे लिये आयुष्यमें दुःखोंसे पार करनेवा होवे ॥ ४ ॥

(समुद्रात मणिः जातः) समुद्रसे यह शंखरूपी रत्न हुआ है, जैसे (वृत्रात दिवाकरः जातः) मेघसे सूर्य प्रकट होता है। (सः हेत्या) व अपने शस्त्रसे (देवासुरेभ्यः) देवों वा असुरोंसे (अस्मान् सर्वतः पातु हम सबको सब प्रकारसे बचावे ॥ ५ ॥

(हिरण्यानां एकः असि) तू सुवर्णजेसे चमकनेवालोंमें एक है, (त्वं सोमात् अधि जज्ञिषे) तू सोमसे उत्पन्न हुआ है। (त्वं रथे दर्शतः) तू रथमें दिखाई देता है, (त्वं इषुधौ रोचनः) तू तूणीरमें चमकता है (आयूंषि प्र तारिषत्) हमारी आयु बढाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ-यह शंख समुद्रमें उत्पन्न होता है और महा नदियोंके मुख प भी प्राप्त होता है। यह सब आयुमें हमें दुःखोंसे पार करता है ॥ ४ ॥

समुद्रसे प्राप्त होनेवाला शंख अपने विनाशक गुण से सब प्रकारके दोषोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

शंख सुवर्णके समान तेजस्वी, और चंद्रमाके समान श्वेत है। यह शूरोंके रथोंपर और बाणोंकी तूणीरपर रखा जाता है। इससे आयुष्यकी वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय
कार्शनस्त्वाभिरक्षतु ॥ ७ ॥
(इति द्वितीयोऽनुवाकः)

अर्थ- (देवानां अस्थि कृशनं बभूव) देवोंका अस्थिरूप श्वेत तेज ही सुवर्ण या मोतीके सदृश बना है। (तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति) वह आत्माकी सत्तासे युक्त होता हुआ जलोंमें विचरता है। (तत् ते) वह तेरे ऊपर (वर्चसे बलाय आयुषे दीर्घायुष्याय शतशारदाय) तेज, बल, आयुष्य, दीर्घआयुष्य, सौ वर्षोंवाला दीर्घायुष्य प्राप्त होनेके लिये (बध्नामि) बांधता हूं। यह (कार्शनः त्वा अभिरक्षतु) शंख मणि तेरा पूर्ण रक्षण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ-यह मानों देवोंका तेज है और वही शंख रूपसे समुद्रके जलके अंदर प्राप्त होता है। इससे तेज, बल, दीर्घ आयुष्य आदिकी प्राप्ति होती है। यह सब दोषोंसे मनुष्यको बचाता है ॥ ७ ॥

शंखसे रोग दूर करना ।

शंखकी औषधि बनाकर उसका विविध रोगोंको दूर करनेके कार्यमें उपयोग करनेका विषय वैद्य शास्त्रमें अनेक स्थानों में है, यही इस सूक्तका विषय है। इस विषयमें सबसे प्रथम वैद्य शास्त्रके प्रमाण देखिये—

वैद्य शास्त्र ग्रंथोंमें जो इसके नाम दिये हैं उनमें 'पूतः' शब्द है। इसका अर्थ 'पवित्र' है। स्वयं पवित्र होता हुआ जहां जाय वहां निर्दोषता करनेवाला। शंखका यह गुण है इसीलिये इस का उपयोग औषधि क्रियामें होता है।

शंखके गुण ।

वैद्य शास्त्रमें इसके गुण निम्नलिखित प्रकार कहे हैं—

शंखकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः ।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥

सुश्रुत. सू. ४६

"शंख स्वादुरस, वायुको हटानेवाला, शीत, स्निग्ध, पित्त विकारमें हितकारी" तेज बढानेवाला, और श्लेष्मा बढानेवाला है।" तथा—

कटुः शीतः पुष्टिवीर्यबलदः गुल्मशूलकफ-
श्वासाविषघ्नश्च। रा. नि. व१९

"कटु, शीत, पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, बल बढानेवाला, गुल्म रोग दूर करनेवाला, शूल हटानेवाला, कफ रोग और श्वास दूर करनेवाला और विष दूर करनेवाला है।" ये वैद्य शास्त्रमें कहे हुए शंखके गुण देखनेसे इस सूक्तका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है और शंखका रोग निवारक गुण ध्यानमें आजाता है। इस शंखसे शंखद्रव, शंखभस्म, शंखचूर्ण, शंखवटी आदि अनेक औषध विविध रोग दूर करनेके लिये बनाये जाते हैं। इस लिये जिन लोगोंको इन औषधियोंका अनुभव है, उनको शंखके औषधिगुणोंके विषयमें विशेष रीतिसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। बच्चोंको होनेवाले कई रोगोंके शमन के लिये शंख पानीमें घोलकर पिलाया जाता है साथ अन्यान्य औषधियां भी होती ही हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि यह शंख बडी औषधि है।

शंख प्राणी है।

शंख केवल निर्जीव स्थितीमें बाजारोंमें बिकता है, परंतु यह प्राणीका शरीर अथवा शरीरका आवरण है, यह प्राणीके साथ बढता है। यह हड्डीके समान होता है, कुछ अन्यान्य रासायनिक भेद अवश्य होते हैं, इसलिये यह केवल हड्डी जैसाही नहीं होता। यह जीव है ऐसा इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें कहा है—

देवानां अस्थि कृशनं बभूव,
तत आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति। (मं० ७)

"देवोंकी हड्डी ही यह शंख रूपमें परिणत हुई है वह (आत्मन्वत) आत्मासे-जीव सत्तासे-युक्त होकर जलोंके अंदर विचरता है।" इसमे निःसंदेह स्पष्ट हुआ की शंख यह आत्मावाला अर्थात् जीवधारी प्राणी है। दिव्य गुणोंसे युक्त हड्डी जैसा, परंतु उस हड्डीके घरके अंदर रहनेवाला यह प्राणी ही है! इसके इस घर जैसे शंखके जो औषधि गुण हैं वे इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तमें जो इसके गुण कहे हैं वे ये हैं—

(१) विश्वभेषजः– बहुत रोगोंकी औषधि। शंखकी औषधिसे बहुत रोग दूर हो जाते हैं। (मं. ३)

(२) अंहसः पातु (पाति)— शरीरमें रोग रहनेसे मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति होती है, शंखकी औषधि सेवन करनेसे यह पाप प्रवृत्ति दूर होती है। और नीरोग होनेसे मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति पुण्य कर्ममें हो जाती है। रोग और पाप ये परस्परावलंबी होते हैं। एकके होनेसे दूसरा होता है। (मं० १, २)

(३) आयुष्प्रतरणः— आयुष्यके पार ले जानेवाला, अर्थात् पूर्ण आयु देकर बीचमें आनेवाले रोगरूपी विघ्नोंको हटानेवाला शंख है। (मं० ४)

(४) देवासुरेभ्यः हेत्या पातु (पाति) -- देवों और असुरोंसे जो जो रोग या पीडा होना संभव है उससे शंख बचाता है। जल, अन्न आदि देवता हैं जिनका सेवन मनुष्य करता है और जो दोष इनमें होते हैं उनके कारण रोगी होता है। आसुर और राक्षस भाव इंद्रियों और मनोंके अंदर प्रबल होते हैं और इस कारण मनुष्य बीमार होता है। इन सब रोगोंके दूर करनेके लिये शंखकी औषधी उत्तम है। (मं० ५) देवों और असुरोंसे रोग कैसे होते हैं इसका यह विचार पाठक स्मरणमें रखें।

(५) अमीवां शंखेन (विषहामहे)— 'आम' अर्थात् अन्नके अपचनसे होनेवाले रोग 'अमीव' कहे जाते हैं। इन रोगोंको शंखसे दूर किया जाता है। अर्थात् शंखसे पचनकी शक्ति बढ जाती है और आमके दोष हट जाते हैं। (मं० ३)

(६) अमतिं शंखेन (विषहामहे)-- मति बुद्धि अथवा मनके कुविचार भी पूर्वोक्त आमके कारणही होते हैं। शंखसे आमके दोष दूर होते हैं और उक्त कारणसे मनके बुरे विचार दूर होते हैं और पापप्रवृत्ति भी हट जाती है। (मं० ३)

(७) शंखेन सदान्वाः (विषहामहे)-- शरीरमें, हरएक अवयवमें जिन रोगोंमें बडा दर्द होजाता है वे रोग 'सदान्वाः' कहे जाते हैं। (सदा नोनूयमानाः) सदा रोगी चिल्लाते रहते हैं इस प्रकारके रोगोंको शंख दूर करता है। (मं० ३)

(८) तेज बल और दीर्घ आयुकी प्राप्ति शंखसे होती है। (मं० ७)

इस प्रकार शंखसे रोग दूर होनेके विषयमें इस सूक्तमें कहा है।

रोग जन्तु।

इस सूक्तमें रोगकृमियोंको और उनसे होनेवाले विविध रोगोंको दूर करनेके लिये भी इसी शंखकी औषधि लिखी है, इस विषयका वर्णन इस सूक्तमें इस प्रकार है—

(१) रक्षांसि— (रक्षः=क्षरः) जिन रोगजन्तुओंसे शरीर क्षीण होता जाता है। (मं० २)

(२) अत्रिन्—(अत्ति इति) जिस रोगमें बहुत अन्न खाने पर भी शरीरकी पुष्टि नहीं होती है, खून कम होता है, मांस आदि सप्त धातु क्षीण होते हैं। भस्मरोग तथा उसी प्रकार के अन्य रोगोंके बीजोंका यह नाम है। (मं० ३)

ये क्रिमियोंके अर्थात् रोगके क्रियोंके नाम हैं। इनसे उत्पन्न होने वाले सब रोग शंखके सेवनसे दूर होते हैं।

शंखके गुण।

इस सूक्तमें इस शंखके जो गुण कहे हैं वे अब देखिये—

(१) समुद्रात् जज्ञिषे – यह समुद्रसे उत्पन्न होता है, जलसे उत्पत्ति है इस लिये यह शीतवीर्य है, गुणोंमें शांत है। (मं. १, २, ४, ५)

(२) सोमात् जज्ञिषे—सोम अर्थात् औषधियों अथवा चंद्र से उत्पन्न होनेके कारण गुणकारी, रोग दूर करनेवाला और शीत गुण प्रधान है। (मं० ६)

(३) हिरण्यजः—सुवर्णसे उत्पन्न होनेके कारण बलवर्धक आदि गुण इसमें हैं। (मं० १, ४, ६)

(४) विद्युत —आदि तेजोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह शंख शरीरका तेज बढानेवाला है। (मं० १)

इस प्रकार इस सूक्तमें शंखके गुण बताये हैं। इन गुणोंकी तुलना पाठक वैद्यग्रंथोक्त गुणोंके साथ करें और इस रीतिसे वैदिक गुणवर्णनकी शैली जाननेका यत्न करें।

यह वैद्यका विषय है। वैद्यशास्त्रमें शंखका अनेक प्रकारसे उपयोग होता है। इस लिये वैद्योंको इस विषय की खोज करके इस विषयको अधिक सुबोध करना योग्य है।

महाराष्ट्रमें पानीमें शंख घोलकर छोटे बच्चोंको पिलाते हैं, जिससे छोटे बच्चोंकी कई बीमारियां दूर होती हैं। बच्चेके गलेमें भी शंखका मणि बांधते हैं, अथवा छोटे शंखको सुवर्ण में जडकर गलेमें आभूषण बनाते हैं। इससे लाभ होता है ऐसा अनुभव है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

विश्वशकटका चालक ।

(११)

(ऋषिः—भृग्वङ्गिराः । देवता—अनड्वान् । इन्द्रः)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥
अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयांछक्रो वि मिमीते अध्वनः ।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

अर्थ-(अनड्वान् पृथिवीं दाधार) विश्वरूपी शकट को चलानेवाले ईश्वरने पृथ्वीका धारण किया है, (अनड्वान् द्यां उत उरु अन्तरिक्षं दाधार) इसी ईश्वरने द्युलोक और यह बडा अंतरिक्ष धारण किया है। (अनड्वान् षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) इसी ईश्वरने छः बडी दिशाओंको धारण किया है) अनड्वान् विश्वं भुवनं आविवेश) यही ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ठ हुआ है ॥ १ ॥

(सः अनड्वान् इन्द्रः) यह अनड्वान् इन्द्र है वह (पशुभ्यः विचष्टे) पशुओंका निरीक्षण करता है, (शक्रः त्रयान् अध्वनः विमिमीते) यह समर्थ प्रभु तीनों मार्गोंको नापता है। (भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः) भूत भविष्य और वर्तमानकाल के पदार्थोंको निर्माण करता हुआ (देवानां सर्वा व्रतानि चरति) देवोंके सब व्रतोंको चलाता है । २ ॥

भावार्थ— इन्द्रने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और छः दिशाओंका धारण किया है और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

इसी इन्द्रको अनड्वान् कहते हैं, वह सबका निरीक्षक है, इसी समर्थ इन्द्रने तीनों मार्गोंको निर्माण किया है । भूत भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह सब अन्यान्य देवताओंके व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥
अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात्।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अर्थ-(इन्द्रः मनुष्येषु अन्तः जातः) इन्द्र मनुष्योंके अंदर प्रकट हुआ है वह (तप्तः घर्मः शोशुचानः चरति) तपने वाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ चलता है। इस (अनडुहः विजानन्) संचालक को जानता हुआ (यः न अश्नीयात्) जो अपने लिये भोग न करेगा (सः) वह (सु-प्रजाः सन्) सुप्रजावान होकर (उत्-आरे न सर्षत्) देहपात के पश्चात् नहीं भटकता है॥ ३ ॥

(सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे) पुण्यके लोकमें यह ईश्वर तृप्ति देता है और (पुरस्तात् पवमानः एनं आप्याययति) पहिलेसे पवित्र करता हुआ इसको बढाता है। (पर्जन्यः अस्य धाराः) पर्जन्य इसकी धाराएं हैं, (मरुतः ऊधः) मरुत् अर्थात् वायु स्तन हैं, (अस्य यज्ञः पयः) इसका यज्ञ ही दूध है, और (अस्य दक्षिणा दोहः) इसकी दक्षिणा दूधके दोहन पात्रके समान है॥ ४ ॥

भावार्थ- यह प्रभु मनुष्योंके अंदर प्रकट होता है, वह प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी है। इस ईश्वरको जो जानता है वह स्वार्थी भोगतृष्णाको छोडता हुआ, सुप्रजावान् होकर, देहपातके पश्चात् इधर उधर न भटकता हुआ, अपने मूल स्थानको प्राप्त करता है॥ ३ ॥

यह ईश्वर पुण्यलोकमें तृप्ति देता है और प्रारंभसे पवित्र करता हुआ इस जीवात्माको बढाता है। पर्जन्य इसकी पुष्टिकी धाराएं हैं, वायु या प्राण इसके स्तन हैं जिससे उक्त धाराएं निकलती हैं, यज्ञ ही पुष्टिकारक दूध है, और दक्षिणा दोहन पात्रके समान है॥ ४ ॥

यस्य॒ नेशे॑ य॒ज्ञप॑ति॒र्न य॒ज्ञो नास्य॑ दा॒तेशे॒ न प्र॑तिग्र॒हीता ।
यो वि॑श्व॒जिद्वि॑श्व॒भृद्वि॒श्वक॑र्मा घ॒र्मं नो॑ ब्रूत यत॒मश्च॒तुष्पात् ॥ ५ ॥
येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म् ।
तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥
इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः परमे॒ष्ठी वि॒राट् ।
वि॒श्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत ।
सो॑ऽदृंहयत॒ सो॑ऽधारयत ॥ ७ ॥

अर्थ-(यज्ञपतिः यस्य न ईशे) यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है, (न यज्ञः) न यज्ञ स्वामी है, (न दाता, न प्रतिग्रहीता अस्य ईशे) न दाता और न लेनेवाला इसका स्वामी है (यः विश्वजित्) जो सबका जीतनेवाला (विश्व-भृत् विश्वकर्मा) सबका पोषण कर्ता और सबका कर्ता है (धर्म नः ब्रूत) उस उष्णता देनेवालेका हमको वर्णन कहो, वह (यतमः चतुष्पात्) कैसा चार पांव वाला है ? ॥ ५ ॥

(येन देवाः शरीरं हित्वा) जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके (अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः) अमृतके केन्द्ररूप आत्मीय प्रकाश स्थानपर चढे थे (घर्मस्य तेन व्रतेन तपसा यशस्यवः) प्रकाशपूर्णके उस व्रतसे और तपस्यासे यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले हम (सुकृतस्य लोके गेष्म) सुकृतके लोकमें अपने स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(इन्द्रः रूपेण अग्निः) प्रभुही अपने रूपमें अग्नि बना है, वही (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमात्मा प्रजापालन कर्ता ईश्वर (वहेन विराट्) सब वि-

भावार्थ- यज्ञ, यज्ञपति, दाता अथवा लेनेवाला इनमेंसे कोई भी इसपर शासन नहीं करता है। यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पोषण करनेवाला और विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है। इसके चतुष्पात् स्वरूपके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे शरीर त्यागके पश्चात् अमृतके केन्द्र रूपी आत्म-शक्ति पर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उस प्रकाशको बढानेवाले व्रत और तपसे यश प्राप्त करनेकी इछा करनेवाले हम पुण्यलोकमें अपना स्थान प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥
यो वेदानडुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥

विश्वको उठानेके कारण विराट् हुआ है। वही (विश्वा-नरं अक्रमत) सब नरोंमें व्यापता है, वही (वैश्वानरे अक्रमत) अग्नि आदिमें फैला है, वही (अनडुहि अक्रमत) रथ खींचनेवाले प्राणि आदियों में फैला है। (सः अदृंहयत) वही दृढ करता है और वही (सः अधारयत) वही धारण करता है ॥ ७ ॥

(अनडुहः एतत् मध्यं) इस संचालक का यह मध्य है, (यत्र एष वहः आहितः) जहां यह विश्वका भार रखा है। (एतावत् अस्य प्राचीनं) इतना इसका पूर्व भाग है और (यावान् प्रत्यङ् समाहितः) जितना पिछला भाग रखा है ॥ ८ ॥

(यः अन्-उपदस्वतः अनडुहः सप्त दोहान् वेद) जो विनाशको न प्राप्त होनेवाले इस संचालक के सात प्रवाहों को जानता है (प्रजां च लोकं च आप्नोति) वह प्रजा और लोक को प्राप्त होता है (तथा सप्त ऋषयः विदुः) ऐसा सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—इन्द्रही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट् है, वही सब मनुष्यों और प्राणियोंमें व्याप्त है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है ॥ ७ ॥

संचालक देवका यह मध्यभाग है जिसपर इस संसार रूपी शकटका भार रखा है। इस मध्य भागके पूर्वभागमें और पश्चिम भागमें यह संसार रहा है ॥ ८ ॥

जो इस संसार रूपी शकटके संचालक देवके सात दोहन प्रवाहोंको जानता है, वह सुप्रजाको और पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार सप्त ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

पुद्भिः सेदिमंवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

अर्थ- (पद्भिः सेदिं अवक्रामन्) पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, (जङ्घाभिः इरां उत्खिदन्) जंघाओंसे अन्न को उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण कीलालं) और परिश्रमसे रसको उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान् कीनाशः च) बैल और किसान (अभिगच्छतः) चलते हैं ॥ १० ॥

(द्वादश वै एताः रात्रीः) निश्चयसे बारह ये रात्रियां (प्रजापतेः व्रत्याः आहुः) जिनको प्रजापतिके व्रतके लिये योग्य हैं ऐसा कहा जाता है। (तत्र यः ब्रह्म उपवेद) वहां जो ब्रह्मको जानता है (तत् वै अनडुहः व्रतं) वह ही उस विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

(सायं दुहे प्रातः दुहे) मैं सायंकाल और प्रातः काल दोहन करता हूं। (मध्यं दिनं परि) मध्यदिनके समय भी दोहन करता हूं। (ये अस्य दोहाः संयन्ति) जो इसके रस प्राप्त होते हैं (तान् अन्-उपदस्वतः विद्म) उन को अविनाशी हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, श्रमसे अन्नरस उत्पन्न करता है; इस प्रकारके बैल और किसान ये दोनों साथ साथ चलते हैं ॥ १० ॥

ये बारह रात्रियां हैं जो प्रजापतिका व्रत करनेके लिये योग्य हैं। उस समयमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही विश्वचालक का व्रत है ॥ ११ ॥

प्रातःकाल, मध्यदिनके समय और सायंकाल दोहन होता है इस दोहनसे जो रस प्राप्त होते हैं वेही अविनाशी रस होते हैं ॥ १२ ॥

विश्व शकट का स्वरूप।

यह सब संसार अथवा यह सब विश्वरूपी एक बडा शकट है, इस शकटमें सब मनुष्य आदि प्राणी बैठे हैं और अपने मुकामपर जा रहे हैं, इस शकटका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है—

मनो अस्या अन आसीद्द्यौरासीदुत्तरछदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥ १० ॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥
ऋ० १० । ८५ । १०—१२

"इसका मनरूपी रथ था, जिस रथका ऊपरला भाग द्युलोक था। दो शुभ्र बैल इसको लगे थे जब सूर्यादेवी पतिके घर जाने लगी ॥ १० ॥ ये बैल ऋचा और सामके मंत्रोंसे प्रेरित हुए थे, श्रोत्र रूपी दो चक्र इस रथको लगे हैं और इसका मार्ग आकाशमें चराचर रूपी है ॥ ११ ॥ ये चक्र शुद्ध हैं इसके मध्यमें रथका अक्ष व्यान वायु है। यह मनोमय रथ है जिस पर से सूर्या देवी पति के घर जाती है ॥ १२ ॥"

यहां इस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है ऐसा कहा है अर्थात् इसका नीचेका भाग पृथ्वी है और मध्य भाग अन्तरिक्ष है। शरीरमें मस्तिष्क छाती और पाव ये रथके तीन भाग हैं, विश्वमें तीन लोक तीन भाग हैं। शरीरमें दस इन्द्रियां घोडोंके स्थानपर हैं उसी प्रकार जगत्के विशाल रथको दस देव लगे हैं; जिनसे ये दस इन्द्रियां बनी हैं। जिनको शरीरके रथकी ठीक कल्पना हो सकती है उसको विश्वरूपी विशाल रथकी कल्पना हो सकती है। पिण्ड ब्रह्माण्ड, शरीररथ विश्वरथ, इनकी समानतया तुलना स्थान स्थानपर होती है, जो यहां विचारसे जानकर ब्रह्माण्डके विशाल रथकी कल्पना करना उचित है। इस विश्वरथका संचालक ईश्वर इस सूक्तके वर्णनका विषय है। यही "अनड्वान् अथवा इन्द्र" है।

इन्द्र शब्द ईश्वरवाचक प्रसिद्ध है, परंतु 'अनड्वान्' शब्द ईश्वरवाचक होनेमें पाठकोंको शंका होना स्वाभाविक है। क्योंकि 'अनः शकटं वहति इति अनड्वान्' अर्थात् शकट किंवा गाडी खींचनेवाला बैल ऐसा इसका अर्थ है। जिस प्रकार शकटको बैल

चलाता है उसी प्रकार विश्वरूपी रथको जो चलाता है वह विश्वरथका (अनड्वाह्) बैलही है। विश्वचलानेवाला जो प्रभु है वही इसको खींचता है, किस दूसरेकी शक्ति है इसको चलानेकी? इसलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि "भूमि, अंतरिक्ष, और द्युलोक सब दिशाओंके साथ उसीके आधारसे रहे हैं और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है।" (मं० १) इस मंत्रमें जो 'अनड्वान्' शब्द आया है वह सब विश्वको आधार देनेवाले सब विश्वमें व्यापक देवताका वाचक है। यद्यपि 'अनड्वान्' शब्द संस्कृतमें "बैल" का वाचक है तथापि यहां उसका अर्थ 'विश्व-चालक' ऐसा है। कई लोक यहां केवल बैलकीही कल्पना करते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वे मंत्रके वर्णनकाभी साथ साथ विचार करें और प्रसंगानुकूल अर्थ करके लाभ उठावें।

"जिस रथ का ऊपरका भाग द्युलोक है, मध्यभाग अंतरिक्ष है और निम्न भाग भूमि है, उस रथमें मनुष्यमात्र बैठे हैं, मैं भी उसमें बैठा हूं, और इस रथको चलानेवाले स्वयं प्रभु हैं, ऐसा यह रथ हम सबको [illegible]" यह अत्यंत श्रेष्ठ काव्यमय कल्पना इस मंत्रमें कही है। [illegible] चला रहे थे, वस्तुतः "कुरुक्षेत्र" अर्थात् [illegible] शक्तिसे ही चलाया जा रहा है। इसी प्रकार [illegible] चल रहा है। यह कल्पना मनमें लाकर '[illegible]' [illegible] हरएक मनुष्यको उचित है। इस कल्पनासे [illegible] परमात्मशक्तिका अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है [illegible] को जान सकता है।

जिस प्रकार रथके अनेक विभाग [illegible] आनेके कारण [illegible] एक दूसरेके साथ [illegible] [illegible]

है। क्योंकि जैसा व्यक्तिका शरीर रथ है, समाजका शरीर भी रथ है, उसी प्र
विश्वका शरीर भी एक बडा भारी विशाल रथ है। तीनों स्थानके नियम समानही
इस रथकी कल्पना करके और इसका मनन करके पाठक बहुत बोध प्राप्त कर स
हैं। सब विश्व मिलकर एक रथ है, इसमें कोई विभक्त भाव नहीं है, हरएक स
या निर्जीव पदार्थ इसी एक रथका अंग है और इसको इसी कल्पनाके साथ यहां
चाहिये। इस रथको जो चलाता है वह ही इन्द्र है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है-

अनड्वान् इन्द्रः ।(मं० २)

इस रथको जो चलानेवाला है वह इन्द्र है, इस जगत् में जो गति आगयी है
उसकी ही गति है। इस जड जगत् को चेतना देनेवाला है वह एकही ईश्वर है वह
करता है, देखिये—

(१) शक्तः त्रयान् अध्वनः मिमीते।
(२) भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः ॥
(३) देवानां सर्वा व्रतानि चरति। (मं० २)

"(१) वह समर्थ तीन मार्गोंको नापता है, (२) भूत, वर्तमान और भविष्य
कालके भोग देता है, (३) और देवोंके सब व्रतोंको चलाता है।" ये इसके कार्य हैं।

(१) तीन मार्ग ये हैं— सत्व, रज और तम प्रकृति वालोंके तीन मार्ग होते
हैं। किसको किस मार्गसे जाना चाहिये और कैसा जाना चाहिये, वह उसको पता
होता है, वही इन तीन मार्गोंका नाप जानता है।

(३) तीन कालोंमें दोहन—भूत वर्तमान और भविष्य कालोंमें वह दोहन
करता है और पूर्वोक्त मार्गोंके ऊपरसे चलनेवालोंको भोगके लिये जो चाहिये सो देता
है। जिसको जैसा देना योग्य होता है, उसके अनुकूल वैसे उपभोग उसको देता है और
उसकी उन्नति वह करता है।

(४) देवोंके व्रतोंको चलाता है-देवोंके व्रत ये हैं, सूर्यका व्रत प्रकाश करनेका
है, जलका बहनेका व्रत है, वायुका सुखानेका व्रत है। यह तो बाहरके देवोंके व्रत हैं,
शरीरके अंदरके देवोंके ये व्रत हैं, आंखका देखनेका व्रत है, कानका सुननेका व्रत है,
प्राणका जीवन देनेका व्रत है, ये सब व्रत आत्माकी शक्तिसे हो रहे हैं।

इसका विचार करनेसे इस परमात्माकी महिमाका पता लग सकता है।

मनुष्योंमें देव।

यह देव जो विश्वरूपी शकटको चलाता है और संपूर्ण भुवनोंमें व्याप्त है वह मनुष्योंमें प्रकट होता है, देखिये—

इन्द्रो मनुष्येषु अन्तः जातः। (मं० ३)

"यह इन्द्र देव मनुष्योंके बीचमें प्रकट होता है।" मनुष्य के हृदयमें वह प्रकट होता है, मनुष्य उसको अपने अंदर देखता और अनुभव करता है, विश्वका ईश्वर मनुष्यके हृदयमें प्रकाशता है। कितना यह सामर्थ्य मनुष्य में है कि जिसके हृदयमें विश्वका संचालक रहता और प्रकट होता है। मनुष्य को यह अपनी शक्ति जाननी चाहिये। इस ज्ञानका फल देखिये—

(१) अनडुहः विजानन, (२) यः न अश्नीयात्
(३) सः सुप्रजाः सन उत्-आरे न सर्पत्। (मं० ३)

"(१) इस विश्वरूपी शकटको चलानेवालेको जो जानता है, (२) वह अपने लिये स्वार्थसे भोग नहीं करता, इस कारण (३) वह सुप्रजा प्राप्त करता हुआ देह पातके नंतर इधर उधर नहीं भटकता," अर्थात् सीधा अपने अमृत धामको पहुंचता है। इसमें प्रथम परमात्माको जानना, और पश्चात् स्वार्थ छोडकर परोपकारके कार्यमें अपना जीवन समर्पित करना, इन दोनों "ज्ञान और कर्म" का यथायत् अनुष्ठान करनेसे तीसरे मंत्रभागमें कही सिद्धि मिल सकती है। यह ईश्वर किस प्रकार जीवात्माको पवित्र करता हुआ उठाता है, यह चतुर्थ मंत्रमें क्रमपूर्वक कहा है—

(१) पुरस्तात् पवमानः, (२) एनं आप्याययति।
(३) सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे। (मं० ४)

(१) पहलेसे पवित्रता करता हुआ, (२) ईश्वर इसको बढाता है, पुष्ट करता है और इसकी वृद्धि करता है, (३) पुण्य लोकमें यह इसको तृप्तिके साधन देता है।" परमेश्वरका उपासक होनेसे पवित्र होनेका पहिला लाभ होता है, आत्मिक बलकी वृद्धि होना यह दूसरा लाभ होता है और पुण्य लोक प्राप्त होकर वहां विविध प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होना यह तीसरा लाभ है। परमात्मोपासनाका यह फल है, इस प्रकार पवित्र होता हुआ जीवात्मा उन्नत होता है और अपने निज धामको पहुंचता है। परमात्मा इस प्रकार सहायक होता है इसी लिये कहा है कि—

विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा। (मं० ५)

" यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पालक और पोषक तथा विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है। " इसीलिये उपासक निर्भय होता हुआ उसकी महानतासे आगे बढता है और अपने प्राप्तव्य स्थानको पहुंचता है। वह स्थान, जहां इसको जाना है, अमृत का केन्द्र है, किस अनुष्ठानसे यह जीवात्मा वहां पहुंचता है, इस विषयका उपदेश षष्ठ मंत्रमें देखने योग्य है—

व्रतेन तपसा यशस्यवः सुकृतस्य लोकं गेष्म। (मं० ६)

"व्रत और तपसे यश प्राप्त करते हुए पुण्य लोक प्राप्त करेंगे। " इस मंत्रभागमें व्रत पालन और तपका आचरण यश और आत्मोन्नतिका साधन है ऐसा स्पष्ट कहा है। विचार करनेसे पता लग जायगा कि यह तो इह परलोककी सद्गति प्राप्त करनेका उत्तम साधन है। इस साधनके करनेसे—

शरीरं हित्वा अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः। (मं. ६)

" शरीर त्यागने के पश्चात् अमृतके केन्द्रमें आत्मप्रकाशसे युक्त होकर ऊपर चढते हैं। " यह है तपका प्रभाव और व्रत पालनका महत्त्व। पाठक इसका महत्त्व जानकर इस मार्गसे अपनी उन्नति सिद्ध कर सकते हैं।

मं०७ में "इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्" आदि नाम उसी एकदेवके हैं, ऐसा कहा है, यह बात ऋग्वेदमें मं. १।१६४।४६ में भी अन्य रीतिसे कही है। यही देव सर्वत्र व्यापता है. सबको बलिष्ठ बनाता है और सबका धारण करता है, अर्थात् हरएकको इसका आधार है और हरएकको यह प्राप्य है। किसीको अप्राप्य है ऐसा नहीं है। अष्टम मंत्रका आशय यह है कि यह ईश्वर सबके बीचमें होनेके कारण वह ही सबका मध्य है, इस कारण अन्य विश्व इसके दोनों ओर समान प्रमाणसे है। यह सबके मध्यमें होनेसे यह विश्व इसके दोनों ओर समानतया विभक्त है, यह बात स्वयं सिद्ध हुई है। जिस प्रकार शकटका मध्य दंड दोनों चक्रोंके बीचमेंसे जाता है और उसके पूर्व और पश्चिमकी ओर शकटके दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर विश्वशकटका मध्य दंड है और सब विश्व इसके चारों ओर है।

सप्त ऋषि।

" इस अविनाशी ईश्वरके अथवा आत्माके सात दोहन पात्र हैं और उनमें सात प्रवाह दोहे जाते हैं, इनको सप्त ऋषि करके जानते हैं " (मं. ९) यह नवम मंत्रका

कथन है। ये सात दोहन पात्र अर्थात् दूध दुहनेके बर्तन हमारे सात ज्ञान इंद्रिय हैं। दो आंख रूपका दोहन करते हैं, दो कान शब्द रस का दूध निकालते हैं, दो नाक सुवासका रस लेते हैं और एक मुख मधुरादि रस लेता है। ये सात प्रकृतिमाताका दूध दोहन करनेके बर्तन हैं, यही रस मनुष्य मात्र पीता है और पुष्ट होकर उन्नति प्राप्त करता है। येही सात ऋषि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ॥ (यजु० ३४।५५)

" प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि रहे हैं, ये सात इस शरीर रूपी घरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं। " यह बात ऊपरवाले मंत्रमें कही है। यहां सात दोहनपात्र जो कहे हैं वेही ये सात ऋषि हैं अथवा ये सात ऋषि इन सात दोहनपात्रोंमें परम माताका दूध निकालते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। सर्व साधारणतया सप्त ऋषि जो समझे जाते हैं उनका नाम ऊपर दियाही है, परंतु हमारे मनमें एक बात खटकती है वह यह है कि यहां दो आंख, दो कान, दो नाक ये छः ऋषि माने हैं, परंतु वस्तुतः ये अर्थात् दो आंख एकही प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं इसलिये इनको भिन्न मानना अयुक्त है। यद्यपि गिनतीके लिये ये सात होते हैं तथापि वस्तुतः ये सात भिन्न हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। मंत्रमें सात ऋषि भिन्न माने हैं और उनके दोहन पात्र भी भिन्न माने हैं अर्थात् उनमें दुहा जानेवाला दूध भी भिन्न ही है। यह बात ऊपर माने सप्त पात्र और सप्त ऋषियोंसे सिद्ध नहीं होती इसलिये इनको अन्य स्थानमें ढूंढना चाहिये। हमारे मत से सप्तऋषि और सप्त दोहन पात्र ये हैं—

१ आत्मा—यह ऋषि परमात्मासे 'आनन्द' रूपी दूध अपनेमें दुहता है।
२ बुद्धि (संज्ञान)—यह ऋषि परमात्मासे 'चित्' अथवा विज्ञान रूपी दूध अपने अन्दर निचोडता है।
३ अहंकार — यह ऋषि परमात्मासे 'मैं' पनका भाव रूपी दूध निकालता है।
४ मन — यह ऋषि उसीसे 'मनन शक्ति' रूप दूध दुहता है।
५ प्राण— यह ऋषि वहांसे ही 'जीवन' रूपी दूध निकालता है।
६ ज्ञानेन्द्रिय (संघ)—यह ऋषि वहांसेही 'विविधज्ञान' रूपी दूध निचोडता है।
७ कर्मेन्द्रिय (संघ)-यह ऋषि उसीसे 'कर्मशक्ति' रूप दूध निकालता है।

ये सात ऋषि एक दूसरे से भिन्न हैं, इनके सात विभिन्न दोहन पात्र हैं और प्रत्येक

का निकाला हुआ दूधभी भिन्न है, और उसके सेवनसे पुष्टिभी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। इस लिये ये सात ऋषि और ये सात दोहन पात्र हैं ऐसा मानना यहां उचित है। पाठक इस विषयका अधिक विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

बैल और किसान।

दशम मंत्रमें बैल और किसान के रूपक से बडा बोधप्रद उपदेश दिया है, इसका व्यक्त अर्थ यह है— "पांवोंसे भूमिपर से चलता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, परिश्रमसे रस बनाता है इस प्रकार बैल और किसान बडा कार्य करते हैं।" यह तो खेतीमें प्रत्यक्ष दिखता है। परंतु इस मंत्रमें केवल इतनाही कहना मुख्य उद्देश नहीं है क्योंकि यहां जिस किसान का वर्णन किया है वह "क्षेत्र-ज्ञ" अर्थात् जीवात्मा है। भगवद्गीतामें इस का नाम 'क्षेत्रज्ञ' आया है। खेतको जाननेवाला किसान जिस प्रकार खेतसे लाभ उठाता है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी कार्यक्षेत्र को यथावत् जानने वाला यह जीवात्मारूपी किसान इस शरीररूपी कर्मक्षेत्र में शुभ विचारोंकी खेती करके बहुत लाभ प्राप्त करता है। इसकी खेतीमें हलचलाने आदिकी सहायता करनेवाला परमेश्वर है जिसका वर्णन इसी सूक्तमें 'अनड्वान्' शब्दसे हुआ है। इस प्रकार यह इसका क्षेत्र है और यह खेती है। किसान इस खेती का उपभोग करनेवाला है। पाठक इस उत्तम रूपकका विचार करके योग्य बोध प्राप्त करें।

बारह रात्री।

ग्यारहवें मंत्रमें "प्रजापतिका व्रत करनेकी बारह रात्रीयां हैं" ऐसा कहा है। रात्री अन्धकारकी द्योतक है. अन्धकार अज्ञान का वाचक है, इस लिये यहां बारह गूढ अंधकारकी रात्रियोंका तात्पर्य बारह प्रकारके गाढ अज्ञान का है। हरएकके अंदर यह अज्ञान रहता है और जिस प्रमाणसे यह दूर होता है उस प्रमाणसे मनुष्यकी योग्यता बढती है। जब बारह प्रकारके अज्ञान दूर होते हैं तब यह पुरुष विशुद्धात्मा होता है और मोक्षका भागी होता है। (१) परमात्मा, (२) जीवात्मा, (३) बुद्धि, (४) अहंकार, (५) मन, (६) प्राण, (७) ज्ञानेंद्रिय, (८) ज्ञानेंद्रियोंके विषय, (९) कर्मेन्द्रिय, (१०) कर्मेन्द्रियोंके विषय, (११) शरीर, (१२) विशाल जगत्. इन बारह क्षेत्रोंके संबंधमें बारह अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा जो कुछ कहा जाय मनुष्यमें रहता है, यह सब हटना चाहिये और इनके विषयमें ज्ञान, विज्ञान, सज्ञान, और प्रज्ञान

रोहिणी वनस्पति ।

(१२)

(ऋषिः — ऋभुः । देवता—वनस्पतिः)

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥
यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥
सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः ।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे औषधि ! तू (रोहणी असि) बढानेवाली है, तू (छिन्नस्य अस्थ्नः रोहणी) टूटी हुई हड्डीको पूर्ण करने वाली है । हे (अ-रुन्धति) प्रतिबन्ध न करनेवाली औषधि ! (इदं रोहय) इसको भर दे ॥ १ ॥

(यत् ते रिष्टं) जो तेरा अंग चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युत्तं) जो अंग जला हुआ है, और जो (ते आत्मनि पेष्ट्रं अस्ति) तेरे अपने अन्दर पीसा हुआ है, (धाता भद्रया) पोषणकर्ता उस कल्याण करनेवाली औषधिसे (तत् परुः परुषा पुनः सन्दधत्) उस जोडको दूसरे जोडसे फिर जोड दे ॥ २ ॥

(ते मज्जा मज्ज्ञा संरोहतु) तेरी मज्जा मज्जासे बढे । (उ ते परुषा परुः सं) और तेरी पोरुसे पोरु बढ जावे । (ते मांसस्य विस्रस्तं सं) तेरे मांसका छिन्न भिन्न हुआ भाग बढ जावे । (अस्थि अपि सं रोहतु) हड्डी भी जुडकर ठीक हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ-यह रोहणी नामक औषधी है, जो टूटे हुए शरीरके अवयव को बढाती है । इसको रोहिणी और अरुंधती भी कहते हैं ॥ १ ॥

शरीरको चोट लगी हो, अंग जला हो, अवयव पीसा गया हो, तोभी इस औषधिसे हरएक जोड पुनः पूर्ववत् होता है ॥ २ ॥

इस औषधिसे शरीरकी मज्जा, पोरु, मांस, और अस्थि बढे और अवयव पूर्व होंगे ॥ ३ ॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक्ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥
स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥
यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

अर्थ—(मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां) मज्जा मज्जासे मिल जावे (चर्मणा चर्म रोहतु) चर्मसे चर्म बढे। (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हड्डी बढ जावे, और (मांसं मांसेन रोहतु) मांस मांससे बढ जावे ॥ ४ ॥

हे औषधे! (लोम लोम्ना सं कल्पय) रोमको रोमके साथ जमा दे। (त्वचा त्वचं संकल्पय) त्वचाको त्वचाके साथ मिलादे। (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हाड बढे, (छिन्नं संधेहि) टूटा हुआ अंग जोड दे ॥ ५ ॥

(सः त्वं उत्तिष्ठ, प्रेहि) वह तूं उठ, आगे चल, अब तू (सुचक्रः सुपविः सुनाभिः रथः) उत्तम चक्रवाले उत्तम लोहेकी पट्टीवाले, उत्तम नाभी वाले रथके समान (प्रद्रव) दौड और (ऊर्ध्वः प्रतितिष्ठ) ऊंचा खडा रह ॥ ६ ॥

(यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे) यदि आरा गिरकर घाव हुआ है, (यदि वा प्रहृतः अश्मा जघान) अथवा यदि फेंके हुए पत्थर ने घाव हुआ है तो (ऋभुः रथस्य अंगानि इव) सुनार रथ के अवयवोंको जोडता है उस प्रकार (परुषा परुः संदधत्) पोरूसे पोरु जुड जावे ॥ ७

भावार्थ—मज्जा, चर्म, रुधिर, हड्डी और मांस भी इससे बढता है ॥ ४ ॥
रोम, त्वचा, रुधिर तथा टूटा अवयव इससे बढता है ॥ ५ ॥

हे रोगी! तू इस औषधिसे आरोग्य को प्राप्त कर चुका है, अब तू उठ, आगे चल, रथके समान दौड, खडा हो कर चल ॥ ६ ॥

आरा गिरकर, या पत्थर लगकर शरीरपर घाव हुआ हो, तो भी इस औषधिसे सब अवयव पूर्ववत् आरोग्यपूर्ण होते हैं ॥ ७ ॥

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण।

(१३)

(ऋषि — शंतातिः। देवता — चन्द्रमाः, विश्वेदेवाः)

उत दे॒वा अव॑हितं॒ देवा॒ उन्न॑यथा॒ पुनः॑। उ॒ताग॑श्च॒क्रुषं॑ देवा॒ देवा॑ जी॒वय॑था॒ पुनः॑ ॥१॥

द्वावि॒मौ वातौ॑ वात॒ आ सिन्धो॒रा प॑रा॒वतः॑। दक्षं॑ ते अ॒न्य आ॒वातु॒ व्य१॒॑न्यो वा॑तु॒ यद्रपः॑ ॥२॥

आ वा॑त वाहि भेष॒जं वि वा॑त वाहि॒ यद्रपः॑।
त्वं हि वि॒श्वभे॑षज दे॒वानां॑ दू॒त ईय॑से ॥ ३ ॥

अर्थ– हे (देवाः) देवो ! हे देवो ! जो (अवहितं) अवनत होता है उसको (पुनः उन्नयथ) तुम फिर उठाते हो। हे देवो ! हे देवो ! (उत आगः चक्रुषं) जो पाप करता है उसको भी (पुनः जीवयथाः) तुम फिर जिलाते हो ॥ १ ॥

(द्वौ इमौ वातौ) यह दोनों वायु हैं, एक (आ सिन्धोः) सिन्धु देश तक जाता है और दूसरा (आ परावतः) बाहर दूर स्थान तक जाता है। इनमेंसे (अन्यः ते दक्षं आवातु) एक तेरे लिये बल बढावे, (यत् रपः अन्यः विवातु) जो दोष है उसको दूसरा बाहर निकाल देवे ॥ २ ॥

हे (वात, भेषजं आवाहि) वायो ! तू रोगनाशक रस ला, हे (वात, यत् रपः, विवाहि) वायो ! जो दोष है, निकाल दे। (हि) क्योंकि, हे (विश्व-भेषज) सर्व रोगके निवारक ! (त्वं देवानां दूतः ईयसे) तू देवोंका दूत होकर चलता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवता लोग गिरे हुए मनुष्यको भी फिर उठाते हैं और जो पाप करते हैं उसको भी फिर सुधारते हैं ॥ १ ॥

दो प्राण वायु हैं, एक फेंफडोंके अन्दर रुधिरतक जाने वाला प्राण है और दूसरा बाहर जानेवाला अपान है। पहला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको हटाता है। २ ॥

वायु रोगनाशक औषध लाता है और शरीरमें जो दोष होते हैं उन दोषोंको हटाता है। यह सब रोगोंका निवारण करनेवाला है, मानो यह देवोंका दूतही है ॥ ३ ॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

अर्थ- (देवाः इमं त्रायन्तां) देव इसकी रक्षा करें, (मरुतां गणाः त्रायन्तां) मरुतोंके गण इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि त्रायन्तां) सब भूत इसकी रक्षा करें (यथा अयं अरपाः असत्) जिससे यह नीरोग हो जाय ॥ ४ ॥

(शं-तातिभिः) शांतिदायकोंके साथ और (अथो अ-रिष्ट-तातिभिः) [illegible] अहिंसाकारक गुणोंके साथ (त्वा आ आगमं) तुझको मैं प्राप्त करता हूं। (ते उग्रं दक्षं आ अभारिषं) तेरे लिये उग्र बल मैं लाया हूं। और (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे रोगको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ भाग्यवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा हाथ अधिक भाग्यवाला है। (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ सब रोगोंका निवारक है। (अयं शिव-अभिमर्शनः) यह मेरा हाथ शुभ स्पर्श करनेवाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ — सब देव, मरुद्गण, तथा सब भूत इस रोगीकी रक्षा करें और [illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] ॥ ६ ॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

अर्थ– (दश शाखाभ्यां हस्ताभ्यां) दशशाखोंवाले दोनों हाथोंके साथ (जिह्वा वाचः पुरोगवि) जिह्वा वाणीको आगे चलानेवाली करता हूं। (ताभ्यां अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां) उन आरोग्यदायक दोनों हाथोंसे (त्वा अभिमृशामसि) तुझको स्पर्श करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ– दस अंगुलियोंके साथ इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं और मेरी जिह्वा वाणीसे प्रेरणाके शब्द बोलती है। इस प्रकार नीरोगता करनेवाले इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

देवोंकी सहायता ।

पहिला मंत्र देवोंकी सहायताका वर्णन करता है–"गिरे हुए मनुष्यको भी देव फिर उठाते हैं, एक वार पाप करनेसे जो मरनेकी अवस्थातक पंहुचा है उसको भी देव फिर जीवन देते हैं।" (मं० १) यह प्रथम मंत्रका कथन मनुष्यको बहुत सहारा देनेवाला है। मनुष्य किसी प्रलोभन में फंस कर पाप करता है, पापसे अस्वस्थ होता है, रोगी होता है और क्षीण होने तक अवस्था आती है, मृत्यु आनेकी भी संभावना हो जाती है। ऐसी अवस्थामें पंहुचा हुआ मनुष्य देवताओंकी सहायतासे नीरोग होता है और पुनः दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्थामें सहायता देनेवाले देव कौनसे हैं? मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यकिरण, वायु, विद्युत्, ओषधि, मन्त्र, वैद्य आदि देवताएं हैं कि जिनकी सहायतासे मनुष्य रोगोंसे दूर होता है और दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। ये सब देव मनुष्यके सहायक हैं। मनुष्य निराश न रहे, बीमार होनेपर अत्यधिक चिंता न करे। क्यों कि चिन्ता एक भयंकर व्याधि है। उस चिन्ताको दूर करनेके लिये इस मंत्रके उपदेशपर विश्वास रखे कि इन्हीं देवताओंकी सहायतासे नीरोगता प्राप्त हो सकती है। देव हमारे चारों ओर हैं और वे मनुष्य मात्र की तथा प्राणिमात्रकी सहायता करते हैं, उनकी सहायतासे हीन अवस्थामें पंहुचा हुआ मनुष्य उन्नत हो सकता है और रोगी भी नीरोग हो सकता है।

प्राणके दो देव ।

शरीरमें प्राणके दो देव हैं जो यहां सदा स्थिर हुए कार्य कर रहे हैं। प्राण और

अपान ये दो देव हैं, एक प्राण हृदयके अंदर तक जाता है और वहां अपनी प्राण शक्ति स्थापन करके मृत्युको हटाता है और दूसरा अपान है जो शरीरके मलोंको दूर करता हुआ विविध रोग बीजोंका नाश करता है। पहिला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको दूर करता है, इस रीतिसे ये दोनों देव इस शरीरकी रक्षा करते हैं और आरोग्य बढाते हैं। यह द्वितीय मंत्रका कथन स्मरण रखने योग्य है। यहां प्राण अपान, अथवा श्वास और उच्छ्वास ये भी दो देव हैं ऐसा माना जा सकता है।

देवोंका दूत।

तृतीय मंत्रका कथन है कि "प्राण रोग निवारक शक्ति शरीरमें लाता है और अपान सब दोषोंको दूर करता है, इस प्रकार यह वायु सब रोगोंको दूर करनेवाला देवोंका दूत ही है।" (मं० ३) अपने शरीरमें सब इंद्रियां देवताओंके अंश हैं, उनकी सेवा यह प्राण पूर्वोक्त प्रकार करता है, जीवन शक्तिकी प्रत्येक अवयवमें स्थापना करना और प्रत्येक स्थान के दोष दूर करना यह दो प्रकारकी सेवा इस शरीर रूपी देवमंदिरमें प्राण करता है। इस विचारसे प्राण का महत्त्व जानना चाहिये।

चतुर्थ मंत्रमें " सब देव, सब मरुत् और सब भूतगण इस रोगकी सहायता करें " इस विषयकी प्रार्थना है। इसका आशय पूर्वोक्त विचार से स्वयं स्पष्ट होनेवाला है।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी विद्या आजकल ' मेस्मेरिज्म ' के नामसे प्रसिद्ध है। यह ' मेस्मेरिज्म ' शब्द ' मेस्मर ' नामक युरोपीयन के नामसे बना है, यह विद्या उसने प्रथम युरोपमें प्रकाशित की, इसलिये इस विद्याको उसीका नाम उसका गौरव करनेके लिये दिया गया। म० मेस्मर साहबने पचास वर्ष पूर्व युरोपमें इस विद्याका प्रचार किया, परंतु पाठक इस सूक्तमें ' हस्तस्पर्श से आरोग्य ' प्राप्त करनेकी विद्या देख सकते हैं, अर्थात् यह विद्या वेदने कई शताब्दियां पहलेही प्रकाशित की थी और ऋषिमुनी इसका अभ्यास करके रोगियोंको आरोग्य देते थे। हस्तस्पर्शसे, दृष्टिक्षेपसे, [illegible] कथन मात्रसे, तथा इच्छामात्रसे आरोग्य देनेकी शक्ति योगाभ्याससे मनुष्य [illegible] सकता है, इसके अनुष्ठानकी विधियां वेदादि आर्यशास्त्रोंमें लिखी हैं। इस [illegible]ठक इस सूक्तके मं० ५ से ७ तक देख सकते हैं। मनको एकाग्र करना और [illegible]क्ति मनमें संग्रहीत करना तथा जिस कार्य में चाहे उसका उपयोग करना [illegible]ी है। [illegible]य है वह मनुष्य इस से लाभ उठा सकता है, अर्थात् इतनी अनुष्ठान-

ले स्वास्थ्य तेरा रोग दूर मेरा है [illegible] स दूसरे

से सिद्धि पहिले प्राप्त करनी चाहिये, पश्चात् हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है ।

रोगीपर प्रयोग करनेके समय प्रयोग करने वाला कैसा भाषण करे यही बात इन तीन मंत्रोंमें कही है, वह अब देखिये-

" हे रोगी मनुष्य ! मेरे अंदर शांति और समता स्थापन करनेका गुण है और दोषों तथा विनाशको दूर करनेका भी गुण है। इन गुणोंके साथ मैं तुम्हारे समीप आगया हूं, अब तू विश्वास धारण कर कि, मैं अपने पहिले सामर्थ्यसे तेरे अंदर बल भर देता हूं और अपने दूसरे गुणसे तेरा रोग समूल दूर करता हूं। इस रीतिसे तू निःसंदेह नीरोग और स्वस्थ हो जायगा ॥ (मं०५)

" हे रोगी मनुष्य ! देख ! यह मेरा हाथ बडा प्रभाव शाली है, और यह दूसरा हाथ तो उससे भी अधिक सामर्थ्यवान है। यह मेरा हाथ मानो संपूर्ण औषधियों की शक्तियोंसे भरपूर है और यह दूसरा हाथ तो निःसंदेह मंगल करने वाला है। अर्थात् इसके स्पर्शसे तू निःसंदेह नीरोग और बलवान बनेगा। (मं ६)

"हे रोगी मनुष्य ! ये दस अंगुलियोंके साथ मेरे दोनों हाथ संपूर्ण रोग दूर करनेवाले हैं। इनसे तुमको अब मैं स्पर्श करता हूं, इस स्पर्शसे तेरा सब रोग दूर होगा और तू पूर्ण नीरोग हो जा एगा। तू अब स्वास्थ्य पूर्ण हुआ है, यह मैं अपने सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली शब्दोंसे भी तुम्हें कहता हूं। (मं० ७)"

मंत्रोंसे निकलनेवाला आशय अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ विशेष शब्दोंका भी उपयोग ऊपर लिखे भावार्थमें किया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि इसका प्रयोग रोगीके ऊपर किस विधिसे किया जाता है। प्रयोग करनेवालेको अपना मन एकाग्र करना चाहिये और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा रोगीके मनको चालना देनी चाहिये। रोगीके मनको प्रभावित करनेसे और अपने पवित्र शब्दों द्वारा रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है। जो किसीपर भी विश्वास नहीं रखते वे अविश्वासी लोग इससे लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

आत्मज्योतिका मार्ग ।

(१४)

(ऋषिः— भृगुः । देवता-आज्यं, अग्निः)

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥
क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

अर्थ-(हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) क्यों कि परमात्मारूप विश्व प्रकाश अग्निके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। (सः अग्रे जनितारं अपश्यत्) उसने पहिले अपने उत्पादक प्रभुको देखा, (अग्रे तेन देवाः देवतां आयन्) प्रारंभमें उसीकी सहायतासे देव देवत्वको प्राप्त हुए, (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

(उख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः) अन्नोंको हाथोंमें लिये हुए तुम (अग्निना नाकं क्रमध्वम्) अग्निकी सहायतासे स्वर्गको प्राप्त करो। (दिवः पृष्ठं स्वः गत्वा) द्युलोकके ऊपर जाकर आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करके (देवेभिः मिश्राः आध्वं) देवोंके साथ मिलकर बैठो ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्माके जगत्प्रकाशक तेजसे यह अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ। उसी समय उसने अपने पिताका दर्शन किया। देव उसीकी शक्ति प्राप्त करके देवत्वसे युक्त होते हैं। जो उसकी उपासना करते हैं वे पवित्र होते हुए अनेक उच्च अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अन्नका दान करते हुए तुम इस अग्निकी सहायता से स्वर्गका मार्ग आक्रमण करो। और वहांसे भी अधिक उच्च भूमिकामें जाकर आत्मिक ज्योतिके स्थानको प्राप्त होकर वहां देवोंके साथ बैठो ॥ २ ॥

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम् ॥ ३ ॥
स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥
अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

अर्थ- (अहं पृथिव्याः पृष्ठात् अन्तरिक्षं आरुहं) मैं पृथ्वीके पृष्ठभागसे अन्तरिक्ष लोकको चढ गया, (आन्तरिक्षात् दिवं आरुहं) अन्तरिक्षसे द्युलोकपर चढ गया। (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) सुखमय द्युलोक के पृष्ठ भागसे (अहं स्वः ज्योतिः अगाम्) मैंने आत्मिक ज्योतिको प्राप्त किया॥३॥

(ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान् (विश्वतो धारं यज्ञं वितेनिरे) जो सब प्रकारकी धारणाशक्ति देनेवाले यज्ञको फैलाते हैं वे (स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते) आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करनेवाले स्वर्ग सुखकी अपेक्षा नहीं करते, वे (रोदसी आरोहन्ति) पृथ्वी और स्वर्गके ऊपर चढ जाते हैं ॥४॥

हे (अग्ने)! हे प्रकाशक ! (देवतानां प्रथमः प्रेहि) तूं देवोंमें पहिला हमें प्राप्त हो। तू (देवानां उत मानुषाणां चक्षुः) देवों और मनुष्यों का चक्षुही है। (इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः) यज्ञ करनेवाले और समान प्रीतिभाव रखनेवाले यजमान (भृगुभिः स्वः स्वस्ति यन्तु) तपस्वियोंके साथ आत्मतेजको सुखसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ-पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान है। मैंने इसी क्रमसे इन लोकोंको प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

जो ज्ञानी विद्वान् विश्वधारक यज्ञको फैलाते हैं वे पृथ्वीसे द्युलोक तक ऊपर चढते हैं और वहांसे भी ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हुए किसी अन्य सुखकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

हे सर्व प्रकाशक ! तू सब देवोंमें मुख्य है, तू हमें प्राप्त हो। तू जैसा देवोंका आंख है उसी प्रकार मनुष्योंका भी है। यज्ञ करनेवाले और सबके ऊपर समानतया प्रेम करनेवाले जो यजमान होते हैं वे तपस्वी मुनियोंके साथही सुख पूर्वक आत्मिक प्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥
पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् । प्राच्यां दिशि
शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां दिश्य
जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

अर्थ-(दिव्यं सुपर्णं पयसं) दिव्य, अत्यंतपूर्ण, तेजस्वी, गतिमान और (बृहन्त अजं घृतेन, पयसा अनज्मि) अजन्मा परम आत्माकी घृत और दुग्धके यज्ञसे पूजा करता हूं । (उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः) उत्तम स्वर्गके ऊपर चढते हुए (तेन सुकृतस्य लोकं स्वः गेष्म) उससे पुण्य के आत्म प्रकाशके लोकको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥ (एतं पञ्चौदनं ओदनं) इस पांच प्रकारके अन्नको (पञ्चभिः अंगुलिभिः दर्व्या पञ्चधा उद्धर) पांच अंगुलियोंसे पकडी हुई कडछीसे पांच प्रकारसे उपर ला । (अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि) अजन्माका सिर पूर्व दिशामें रख, (दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं) दक्षिणदिशा में दाहिने कक्षा भागको रख ॥ ७ ॥

(अस्य भसदं प्रतीच्यां दिशि धेहि) इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें धर, और (उत्तरं पार्श्वं उत्तरस्यां दिशि धेहि) उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें रख । (अजस्य अनूकं उर्ध्वायां दिशि धेहि) अजन्माकी रीढको ऊर्ध्व दिशामें रख, (अस्य पाजस्यं ध्रुवायां दिशि धेहि) और इसके पेट को ध्रुव दिशामें रख, तथा (अस्य मध्यं मध्यतः अन्तरिक्षे) इसका मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

भावार्थ—दिव्य पूर्ण तेजस्वी गतिमान और अजन्मा परम आत्माकी ही हम घृतादिकी आहुतियोंके यज्ञद्वारा पूजा करते हैं । इससे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करते हुए उसके भी ऊपर के आत्मिक प्रकाशके स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

यह पांच प्रकारका यज्ञीय अन्न है । पांच अंगुलियोंद्वारा कडछी पकड कर इस अन्नको पांच प्रकारसे ऊपर ले । इस अजन्माका सिर पूर्व दिशामें और दक्षिण कक्षा दक्षिणदिशामें रख ॥ ७ ॥ इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें, उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें, पीठकी रीढ ऊर्ध्व दिशामें, पेट ध्रुव दिशामें और मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

अर्थ-इस प्रकार (सर्वैः अंगैः संभृतं) सब अंगोंसे सम्यक्तया भरा हुआ अतएव (विश्वरूपं शृतं अजं) विश्वरूप बना हुआ परिपक्व अजन्मा आत्मा को (शृतया त्वचा प्र ऊर्णुहि) परिपक्व आच्छादनसे आच्छादित कर। (सः) वह तू (इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ) यहांसे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करनेके लिये उठ और (चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रतितिष्ठ) चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

भावार्थ-इस प्रकार अपने सब अंगोंसे परिपूर्ण विश्वरूप बने हुए परिपक्व अजन्मा जीवात्माको परिपक्व परमात्माके आच्छादन से आच्छादित कर और उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त करनेके लिये कटिबद्ध हो और अपने चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

स्वर्गधाम का मार्ग।

इस सूक्तमें " स्वर्गधाम " का मार्ग बताया है, इस कारण इस सूक्तका महत्त्व अधिक है। पहिले मंत्रमें " परम पिताके अमृतपुत्र " की उत्पत्तिका वर्णन है—

परम पिताका अमृतपुत्र।

अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट। (मं० १)

" अग्निके प्रकाशसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है।" यहां अग्निपदसे सर्व प्रकाशक परमात्माका ग्रहण होता है। अथर्ववेदमें काण्ड ९ सू० १० (१५) मंत्र २८ में कहा है कि " एकही सत्य स्वरूप परमात्माका कविजन विविध नामोंसे वर्णन करते हैं, उसी एक परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा, और सत् कहते हैं।" ये सब एकही परमात्माके नाम हैं। इनमेंसे इस सूक्तमें 'अग्नि, (मं० १) दिव्य, सुपर्ण, (मं ६)' ये शब्द आगये हैं। इस परमात्माके तेजसे इस अमृत पुत्रकी उत्पत्ति है। यह उत्पत्ति कथन करनेका उद्देश्य यह है कि यह अमृतपुत्र अपनी उन्नति करके पिताके समान बन सकता है। प्रत्येक प्राणीका पुत्र पिताके समान बनता है, बीजसे वृक्ष होता है, चिनगारीसे दावाग्नि बन सकता है। पुत्रका यह अधिकार ही है कि वह अपने पिताके समान बने। जीवात्माकी उन्नतिकी यह अन्तिम मर्यादा

है। यह मर्यादा बहुत कालके निरन्तरके अनुष्ठानसे समाप्त हो सकती है, तब यह अमृत पुत्र पिताके वैभवसे युक्त हो सकता है। पुत्र पिताके समान आज हो जावे अथवा कुछ कालके पश्चात् हो जावे, 'वह पिताके वैभवको निःसंदेह प्राप्त करेगा' यह सत्य है। वेदने यह विश्वास इस सूक्त द्वारा लोगोंको बताया है। जगत्के दुःख देखकर जन निराश न हों, धर्मानुष्ठान करते हुए बढते जांय, जब उनका अनुष्ठान हो जायगा और जब उनके सब मल धोये जांयगे तब वे परम पिताके वैभवसे संपन्न हो जांयगे। अनुष्ठानकी तीव्रता और निर्दोषताके प्रमाणके अनुसार काल थोडा लगेगा अथवा अधिक लगेगा, यह बात प्रत्येकके ऊपरही निर्भर है। पिताके गुण न्यून प्रमाणसे पुत्रमें रहते हैं, इन गुणोंका विकास करनाही पुत्रका कर्तव्य है, पिताकी सहायता सदा तैयार है हि। पुत्रके गुणोंके विकासकी परम सीमा उसका 'पिताके समान बनना' ही है।

पिताका दर्शन।

इस पुत्रने सबसे प्रथम 'जनितारं अपश्यत्' (मं० १) अपने पिताका दर्शन किया था, तत्पश्चात् यह पुत्र संसारमें फंस जानेके कारण उससे विमुख हुआ है। यह विमुखता इस समय इतनी बढ गयी है कि यह पिताको भूल ही गया है। इसलिये यह उस अपने परम पिताका पहले स्मरण करे और पश्चात् दर्शन करे। यही उसकी उन्नति का मार्ग है। उसीके दर्शनसे—

मेध्यासः रोहान् रुरुहुः। (मं० १)

"पवित्र होते हुए उन्नतिके स्थानों पर चढते हैं।" इसी प्रकार पुत्र एक एक सीढी ऊपर चढता है और विशेष अधिकार प्राप्त करता है। पवित्र बनना ही एक मात्र उपाय है जिससे पुत्रका अधिकार बढ सकता है। पवित्र बननेका उपाय भी 'मेध्य' शब्द द्वारा ही बताया गया है। 'मेध्य' अर्थात् 'मेधके लिये योग्य'। 'मेध' का अर्थ 'सत्कार-संगति-दान रूप कर्म।' जिस कर्मसे सत्कार करने योग्य सत्पुरुषोंका आदर होता है, जनता का संगतिकरण होता है और परोपकारार्थ दान दिया जाता है, आत्म-समर्पण किया जाता है, उसका नाम मेध है। इस प्रकारके कर्मसे मनुष्य पवित्र होता है और उच्च भूमिका को प्राप्त करता है। और अन्तमें जहांसे आया वहां पंहुंचता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि "इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गके मार्गका आक्रमण करो।" वस्तुतः यज्ञमें जो यजन होता है वह परमात्माकाही होता है, तथापि यज्ञ अग्निमें हवन करनेसे प्रारंभ होता है। इस यज्ञके द्वारा आत्मसमर्पणकी दीक्षा दी जाती है। अपने पास का घृत आदिका अर्पण समष्टिके लिये किया जाता है। इस यज्ञसे अर्थात् आत्म-

समर्पण से ही उन्नति होती है। इस स्थूल यज्ञमें, प्रथम कक्षाके यज्ञमें घृत तथा हवन सामग्री की आहुतियोंका अर्थात् अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंका समर्पण होता है, आगे जैसी जैसी योग्यता बढ जाती है, उस प्रमाणसे अपने निजके पदार्थोंका समर्पण करना होता है, अन्तमें सर्वमेध यज्ञमें आत्मसर्वस्व का समर्पण होता है जिससे परम उच्च अवस्थाकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्निमें घृतादि पदार्थोंकी आहुतियोंका समर्पण किया जाता है उसी प्रकार— हस्तेषु खाद्यान् बिभ्रतः। (मं० २)

"अन्न दान करनेके लिये अपने हातोंमें पकाया हुआ अन्न लेकर तैयार रहो।" क्षुधासे पीडित मनुष्यको अन्न दान करनेसे बडा पुण्य प्राप्त होता है। यहां यह अन्न दान प्रत्यक्ष फल दायक है। भूखसे पीडित को अन्न देते ही उसका आत्मा संतुष्ट होता है, उसका संतोष देखकर दाताका आत्मा भी कृतार्थ होता है। दानसे दाताकी उन्नति होती है इसका अनुभव अन्न दानसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आजाता है। यहां अन्न उपलक्षण मात्र है। भूखसे पीडित को अन्न दान, तृषासे पीडितको जल दान, अज्ञानसे पीडितको ज्ञानदान, निर्बलतासे पीडित को बल द्वारा सहायता, निर्धनतासे पीडितको धनदान, पारतंत्र्यसे पीडितको स्वातंत्र्य प्राप्ति करनेके कार्यमें सहायता आदि अनेक विध दान होते हैं, ये सब अन्न दानके उपलक्षणसे जानना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं और यज्ञके संगतिकरण कर्मके ये प्रमुख अंग हैं। जनताकी सेवाद्वारा परमात्माका अर्चन इसी रीतिसे होता है। इस यज्ञ द्वारा मनुष्य स्वर्गमें पंहुचता है इतनाही नहीं, परंतु उसके भी ऊपर जो आत्मप्रकाशका लोक है वहां जाता है और वहां देवोंके साथ बैठ जाता है। इस प्रकार मनुष्यका देवता बनता है। (मं० २)

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे आत्मिक प्रकाशका लोक ऊपर है। यह उच्चता स्थानसे नहीं, प्रत्युत अवस्थासे है। अर्थात् ये चार लोक घरके चार मजलोंके समान एक दूसरेके ऊपर नहीं हैं प्रत्युत एकके अंदर दूसरी और दूसरीके अंदर तीसरी है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा ये चार अवस्थाएं मनुष्यके अंदर ही हैं। इनहीके नाम क्रम पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः (आत्मप्रकाश) हैं और इन्हीका नाम भूः, भुवः, स्व, महः इ० है। जिस प्रकार स्थूलके अंदर सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार पृथ्वी लोक के अंदर अन्तरिक्ष लोक होता है। इनमेंसे साधारण मनुष्य स्थूल भूलोकमें विचरता है, अन्तरिक्ष आदि उच्च भूमिकाओंपर वह तब कार्य कर सकेगा, जब वह उतना शुद्ध और परिपक्व होगा। बडे महान तपस्वीयोंके लिये ही यह बात साध्य होती है। (मं० ३)

विश्वाधार यज्ञ।

"यज्ञ (विश्वतो धारं यज्ञं) विश्वको सब प्रकारसे आधार देने वाला है।"(मं.४) यह चतुर्थ मंत्रका कथन पूर्ण रीतिसे सत्य है। यज्ञ का अर्थ है त्याग। इस 'त्याग' मे ही जगत् की स्थिति है। हर एक स्थानमें यह सत्य है। पिता अपने वीर्यके त्यागमे संतानको उत्पन्न होनेके लिये आधार देता है और माता अपने गर्भधारणके लिये जो कष्ट होते हैं उनको सहती है और उस प्रमाणसे स्वसुखका त्याग करती है और आगे दुग्धादि पिलाकर भी बहुत त्याग करती है। इस प्रकार मातापिताके अपूर्व त्यागसे संतान निर्माण होता है। इसी प्रकार यह त्याग पशुपक्षी वृक्ष वनस्पति आदि सृष्टिमें भी है, जिससे उनकी सृष्टि रहती है। सूर्य अपने प्रकाशका जगतके लिये अर्पण करता है इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवताएं अपनी शक्तियोंका जगत्की भलाईके लिये त्याग करती हैं। इस त्यागसे जगत्की स्थिति हुई है। परमात्माने अपने त्यागसे ही यह संसार बनाया है। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि इस त्यागसे अर्थात् आत्म समर्पण रूप महायज्ञसे ही विश्व चल रहा है। इसी लिये यज्ञको संपूर्ण विश्वका आधार कहते हैं वह नितान्त सत्य है।

ये सुविद्वांसः विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे।
(ते) रोदसी द्यां रोहन्ति, स्वर्यन्तः, न अपेक्षन्ते। (मं० ४)

"जो उत्तम विद्वान इस विश्वाधार यज्ञको फैलाते हैं अर्थात् अपने आयुभर करते हैं वे इस भूमिसे सीधे द्युलोकपर चढते हैं, वे वहांके स्वर्ग सुखकी भी इच्छा नहीं करते और वे उसके भी ऊपर जाकर आत्मज्योतिके प्रकाशमय स्थानको प्राप्त करते हैं।" यह लोक तो आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

सच्चा चक्षु।

पञ्चम मंत्रमें इस परमात्माको " देवों और मनुष्योंका चक्षु " कहा है—

देवतानां उत मानुषाणां चक्षुः। (मं० ५)

"देवों और मनुष्योंका आंख यह आत्मा है।" मनुष्योंके आंख मनुष्योंके शरीरोंमें रहते ही हैं, परंतु वे स्वयं कार्य नहीं कर सकते। सूर्यके प्रकाशके विना आंख देखनेमें असमर्थ है। इस लिये सूर्यको 'आंखका आंख' कहते हैं। परंतु सूर्य भी परमात्माकी प्रकाश शक्तिके विना प्रकाश देनेका कार्य नहीं कर सकता, इस लिये परमात्माको 'सूर्यका सूर्य' कहते हैं। इससे यह हुआ की "आंखका आंख सूर्य और सूर्यका सूर्य परमात्मा" है, इस लिये वस्तुतः "आंखका सच्चा आंख" परमात्माही हुआ। यही भाव

ऊपरके मंत्र भागका है। यह केवल आंखके विषयमें ही सत्य है ऐसा नहीं परंतु हरएक इंद्रियके विषयमें भी वैसाही सत्य है, अर्थात् यह जैसा आंखका आंख है उसी प्रकार कान का कान, नाक का नाक, मनका मन और बुद्धिका बुद्धि है। इसी प्रकार सब इंद्रियोंका यही मूल स्रोत है। इसको ऐसा जानना और अनुभव करना विद्या और अनुष्ठानका साध्य है। यही—

देवतानां प्रथमः। (मं. ५)

"सब देवताओंमें यह पहिला है" अर्थात् इसके पूर्व कोई नहीं है, सबके पूर्व यह था और सबके पश्चात् रहेगा। सूर्यादि बडे प्रकाशमान देव निःसंदेह बडे शक्तिशाली हैं, परंतु इसीकी शक्तिसे वे बने हैं और इसीकी शक्ति लेकर अपना कार्य कर रहे हैं। जिस देवताकी ऐसी महिमा होती है उसीका यजन यज्ञोंमें होता है, इसी लिये 'यज्ञ' नाम आत्माका है। सच्चा यज्ञ पुरुष यही है। जो यज्ञमें इस यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं वे-

इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः स्वः भृगुभिः स्वस्ति यन्तु। (मं०५)

"यज्ञ करनेवाले, समान प्रेमभाव रखनेवाले यजमान आत्मिक प्रकाशके स्थानको भृगुओंके संग सुगमताके साथ जाते हैं।" उसकी पूजा करनेका यह फल है। 'भृगु' उनका नाम होता है कि जो तपश्चर्यासे अपने पापोंका भर्जन करते हैं। तपके सामर्थ्यसे पापका नाश करनेवाले तपस्वियोंको 'भृगु' कहते हैं। ये तपस्वी सीधे आत्मिक प्रकाशके लोकको जाते हैं, वहांही ये याजक जाते हैं कि जो पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं और सब पर समान प्रेम भाव रखते हैं, अर्थात् जिनकी सर्वत्र समदृष्टि हो गई है। अन्य लोग उस आत्मिक लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं हैं। षष्ठ मन्त्रका कथन भी इसी आशयको बता रहा है-

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तं अजं पयसा घृतेन अनज्मि। (मं० ६)

"दिव्य पूर्ण वेगवान् बडे अजन्मा आत्माकी दूध और घीसे मैं यज्ञमें पूजा करता हूं।" यह मन्त्रभाग अत्यन्त स्पष्ट है। यज्ञमें उसीकी पूजा हवनकी आहुतियोंसे होती है। हवनकी आहुतियां देना यह आत्मसमर्पण का आरंभ है, इसी यज्ञ का रूप अन्तमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होना है। इस पूर्ण समर्पण की पहिली सीढी थोडीसी आहुतियां समर्पित करना है। समर्पण शक्ति बढानेसे ही उसकी सच्ची पूजा होती है और साथ साथ अपनी आत्मिक शक्तियां बढ जाती हैं।

तेन उत्तमं नाकं अग्नि आरोहन्तः
सुकृतस्य स्वः लोकं गेष्म। (मं० ६)

" उससे उत्तम स्वर्गधामको प्राप्त होते हुए हम सुकृत के आत्मज्योतिरूप लोकको प्राप्त करेंगे । " यह पूर्वोक्त प्रकार के आत्मयज्ञका फल है । सच्चे वैदिक यज्ञका यह अन्तिम साध्य है ।

पञ्चामृत भोजन ।

यहां पञ्चामृत भोजन का विधान है । लोकमें प्रसिद्ध पञ्चामृत सब जानते ही हैं, दूध, दही, घी, मिश्री और मधु इन पांच पदार्थोंको पंचामृत कहा जाता है । परंतु यहां आत्मसमर्पणरूप महायज्ञमें हमारी इंद्रियां गौवें हैं और इस यज्ञमंडपमें उनका दोहन होता है, उस दूधसे जो पंच अमृत बनता है वह यहां अभीष्ट है । यह 'पञ्च+ओदन' है । पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला यह पञ्च अमृत है । ज्ञान का नाम अमृत है। यहां पंच ज्ञान पञ्चओदन कहा है क्योंकि जैसा ओदन या अन्न स्थूल शरीरका पोषक होता है, उसी प्रकारसे यह पांच प्रकारका ज्ञान रस या " सुधारस " आत्मबुद्धिमन का पोषण करता है । इसका उद्धार करना चाहिये-

एतं ओदनं दर्व्या पञ्चधा उद्धर । (मं०७)

" यह अन्न कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ले " अर्थात् पांच प्रकारसे इसका उद्धार कर । यह अन्न पंचविध है एक दूसरेसे भिन्न है, पांच प्रकारोंसे इसका उद्धार होना संभव है । इससेही ज्ञात हो सकता है कि यह पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला पञ्च विध ज्ञानही है। हरएक इंद्रियसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उचनीच होता है, इसीलिये यहां सूचना दी है कि 'उद्धर' उद्धार कर अर्थात् पांच प्रकार का ज्ञान ऐसा प्राप्त कर कि जिससे उद्धार हो सके । दो प्रकारका ज्ञान सन्मुख आया तो जिससे उद्धार होगा वही ज्ञान स्वीकार कर और अन्यको दूर कर । हरएक विषय में ये दोनों प्रकार मनुष्य के सन्मुख आते हैं । उद्धार चाहने वाले मनुष्यको उचित है कि यह पांच प्रकारका ज्ञान रस प्रकारसे प्राप्त करे कि जिससे अपना निश्चयसे उद्धार हो सके । अन्नका बर्तनसे उद्धार करनेका कार्य कडछीसे अथवा चमससे होता है, इस लिये इस मंत्र में भी कडछी में उद्धार करनेका उपदेश किया है। पञ्च ज्ञान रूपी पञ्च पकान्नका उद्धार करनेकी कडछी यहां कौनसी है यह अब विचारणीय प्रश्न है । इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

अथर्व. १० । ८ । ९

"तिरछे मुखवाला एक चमस है, जिसका निम्न भाग ऊपरकी ओर है, उसमें विश्वरूप यश रखा है। वहां ही सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, जो इसके रक्षक हैं।" यहां जो चमस कहा है वह मनुष्यका सिर है, इसका मुंह नीचे और निम्न भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश नाम विश्वका ज्ञान और आत्माका विज्ञान इकट्ठा हुआ है, सात ऋषि यहां इस सिरमें रहते हैं जो इसके संरक्षक हैं। इस मंत्रसे चमस या कडछीका ठीक पता लग सकता है। यह सब मस्तक का रूपक है, इसीसे ज्ञान रूप पांच प्रकारका अन्न लिया जाता है, और अच्छे बुरेका विचार भी यहां ही होता है।

इस सूक्तके 'दर्वी' शब्दका संबंध इस मंत्रके 'चमस' शब्दसे जोडकर देखें, पाठक जानें कि ये दर्वी (कडछी) और चमस एकही है। पाठकोंको सूचनार्थ निवेदन यहां है कि यज्ञमें जो जो सामग्री अथवा चमसादि साधन आवश्यक होते हैं वे सब जगतमें अपने शरीरपर ही घटाये जाते हैं। वेदकी यह परिभाषा है। यहां चमस शब्द शरीरमें घटाया है, [illegible] शब्द अन्य स्थानपर घटाते हैं। इस प्रकार सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंके संबंधमें घटाते हैं। इस प्रकार वेद बताता है कि [illegible] आत्मसंबंधके समर्पण से ही होता है। अस्तु इस प्रकार यहां [illegible] ज्ञान [illegible] उद्धार [illegible] लिये प्राप्त करनेका उद्देश्य सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें [illegible] गया। इसके पश्चात् दो मंत्रोंमें अर्थात् सप्तमका उत्तरार्ध और अष्टम पूर्ण मंत्रमें [illegible] स्थानका उपदेश कहा है।

विश्वरूप यश।

५ ऊर्ध्व दिशाके लिये मेरी पीठकी रीढ़ अर्पण की है,

६ ध्रुव दिशाके लिये मेरा पेट समर्पण किया है और

७ मध्य दिशा रूप अंतरिक्षके लिये मेरा मध्य भाग है। (मं० ७; ८)

इस प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर सब दिशाओंके लिये समर्पित होनेसे "मैं सब विश्वके लिये जीवित हूं।" मेरा यह यह भाग विश्वके इस इस भागके लिये समर्पित हुआ है, इस प्रकार संपूर्ण विश्वके लिये मेरा आत्मसमर्पण होगया है, अब मेरा जीवन जगत्के लिये हुआ है, मैंने सबकी भलाईके लिये यह आत्मयज्ञ किया है, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। इसके पश्चात्—

सर्वैः अंगैः विश्वरूपं संभृतं शृतं अजं

शृतया त्वचा प्रोर्णुहि। (मं० ९)

"अपने सब अंगोंसे विश्वरूप हुए अत एव परिपक्व बने हुए अजन्मा जीवात्माको परमात्माके परिपक्व त्वचा सदृश आच्छादन से आच्छादित करो।" अपने आपको चारों ओरसे परमात्माद्वारा आच्छादित अनुभव करो, अपने चारों ओर परमात्माका अनुभव करो। यह बात स्वभावतया स्वयं ही हो जायगी। इसके नंतर—

चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रति तिष्ठ।

इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ। (मं० ९)

"अपने चारों पावोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो और यहांसे सीधा उत्तम स्वर्गके लिये चल।" अब तुम्हें कोई बीचमें रुकावट नहीं होगी। यहां वर्णन किये हुए चार पांव जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या हैं। चतुष्पाद अज आत्माका वर्णन मांडूक्य उपनिषद्में है—

सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ॥ २॥ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः......प्रथमः पादः ॥३॥ स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः...द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥ सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥.......अदृष्टमव्यवहार्यं.......एकात्मप्रत्ययसारं.... चतुर्थं मन्यन्ते......॥ ७ ॥

मांडूक्य उपनिषद्

"यह अज आत्मा चतुष्पाद है। इसका प्रथम पाद जागृति है जिसमें बाहरके जगत् का ज्ञान होता है। इसका द्वितीय पाद स्वप्न है जिस अवस्थामें इसकी प्रज्ञा अंदर ही

अंदर होती है। इसका तीसरा पाद सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा है, जिस समय एकीभूत होकर आनन्द अवस्थामें लीन होता है। और इसका चतुर्थ पाद अदृष्ट तथा अव्यवहार्य है।"

यह वर्णन इस आत्मा का चतुष्पाद स्वरूप बता रहा है। कई लोग चार पांवोंका वर्णन होनेसे 'चतुष्पाद अज' का तात्पर्य 'चार पांव वाला बकरा' समझते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं, उनको उचित है कि वे इस उपनिषद्के वचन का भी यहां मनन करें। सीधा उत्तम स्वर्ग धाममें जाना इनही चार पावोंसे संभवनीय है यह बात स्पष्ट होनेसे इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें जो अनुभव मिलते हैं और जागृतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही मनुष्य की उन्नति होती है, इसके विना कोई अन्य मार्ग नहीं है।

एक शंका।

इस सूक्तमें 'भूलोकसे ऊपर अन्तरिक्ष, अंतरिक्षसे ऊपर स्वर्ग, स्वर्गसे ऊपर आत्म प्रकाश का लोक है, ऐसा कहा है।(मं० ३)' मंत्रमें "आरुह्" पद भी दर्शाता है कि यहां 'उपर चढने का भाव' है। इस लिये साधारण लोक इन लोकोंको एकके ऊपर दूसरा मानते हैं। ये लोक शरीरमें भी हैं गुदासे नाभीतक भूलोक, नाभीसे गलेतक अन्तरिक्ष लोक, सिर स्वर्ग लोग है और आत्म प्रकाशका लोक हृदय स्थानमें जहां दधुक् होती है वहां है। यहां पता लगता है कि यद्यपि शरीरमें पहिले तीन लोक एक दूसरेके ऊपर हैं तथापि चतुर्थलोक निम्न प्रदेशमें अथवा मध्यमें हैं। अर्थात् यहांका ऊपरका भाव स्थानसे ऊपर ऐसा नहीं है, प्रत्युत अवस्था, योग्यता, श्रेष्ठ अनुभव आदि की उच्चता से यहां मतलब है। वास्तविक स्थिति यह है कि भूः, भुवः, स्वः, महः आदि लोक किंवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, आत्मज्योति आदि लोक हरएक स्थानमें हैं। जिस प्रकार एक ही स्थानमें पत्थर, रेत, जल, वायु, उष्णता, विद्युत आदि रहते हैं, उसी प्रकार उक्त सब लोक एकही स्थानमें हैं, जो मनुष्य अपने सूक्ष्म इंद्रियोंको सूक्ष्म लोकोंमें कार्य करने योग्य सूक्ष्म बनाते हैं, वेही उच्च लोकोंके भागी होते हैं, अर्थात् यहां रहता हुआ मनुष्य भी आत्मप्रकाशके लोक का अनुभव ले सकता है।

पाठक इस सूक्तका इस रीतिसे मनन करें और उचित बोध प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग आक्रमण करें।

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥
उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥
अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥

अर्थ-हे पर्जन्य! (घोषिणः मारुताः गणाः त्वा पृथक् उपगायन्तु) गर्जना करनेवाले वायुओंके गण तेरा पृथक् पृथक् गान करें। (वर्षतः वर्षस्य सर्गाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु) वर्षते हुए मेघकी धाराएं पृथ्वीपर अनुकूल वर्षे ॥४॥

हे (मरुतः) वायुओ! (अर्कः त्वेषः नभः) सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको (समुद्रतः उत्पातयत) समुद्रसे ऊपर लेजाओ (अथ उदीरयत) और ऊपर उडाओ। (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) बडे बलवान् और शब्द करनेवाले बादलयुक्त आकाशसे (वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) वेगवान् जल धाराएं पृथ्वीको तृप्त करें ॥ ५ ॥

हे (पर्जन्य) मेघ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) विद्युत् कडका, (उदधिं अर्दय) समुद्रको हिला दे। (पयसा भूमिं समङ्धि) जलसे भूमि भिगादे। (त्वया सृष्टं बहुलं वर्षं एतु) तेरे द्वारा उत्पन्न हुई बडी वृष्टि हमारे पास आवे। (कृश-गुः) भूमीका कृषक (आशार-एषी) आश्रयकी इच्छा करनेवाला होकर (अस्तं एतु) अपने घरको चला जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—गर्जना करने वाले मेघोंसे जोर की वृष्टि हो जावे और उस वृष्टिसे औषधियां उत्तम रसवाली होवें ॥ ३ ॥ वायु जोरसे मेघोंको लावें और प्रचंड धाराओंसे अच्छी वृष्टि हो जावे ॥ ४ ॥

सूर्यकी उष्णतासे समुद्रके पानी की भाप होकर वायुसे ऊपर जावे, वहां वह इकट्ठी होकर मेघ बनें, वहां बिजली की गर्जना होकर पृथ्वीकी तृप्ति करने वाली वृष्टि होवे ॥ ५ ॥

मेघ गर्जना करें, बिजुली कडके, समुद्र उछल पडें, भूमि पर ऐसी वृष्टि हो जावे कि किसान अपने घर आकर आश्रय लेवें ॥ ६ ॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥
अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुण ।
अव नीचीरपः सृज वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥
संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

अर्थ-(प्रजापतिः सलिलात् समुद्रात आपः आ ईरयन्) प्रजापति जलमय समुद्रसे जलको प्रेरित करता हुआ (उदधिं अर्दयाति) समुद्रको गति देता है। इससे (अश्वस्य वृष्णः रेतः प्र प्यायतां) वेगवान् वृष्टि करनेवाले मेघ से जल बढे। वृष्टि (एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् आ इहि) इस गर्जना करने वाले के साथ यहां आवे ॥ ११ ॥

(अपः निषिञ्चन् असुरः) जलकी वृष्टि करनेवाला मेघ (नः पिता) हमारा पालक है। हे (वरुण) श्रेष्ठ उदकका धारण करनेवाले मेघ! (अपां गर्गराः श्वसन्तु) जलोंके गडगड शब्द करनेवाले मेघ चलें। (अपः नीचीः अवसृज) जलको नीचेकी ओर प्रवाहित कर (पृश्निबाहवः मण्डूकाः) विचित्र रंगयुक्त बाहूवाले मेंडके (इरिणा अनुवदन्तु) भूमि पर आकर शब्द करें ॥ १२ ॥

(मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं) मेंडक पर्जन्यसे प्रेरित वाणीको (अवादिषुः) बोलते हैं, जैसा कि (संवत्सरं शशयानाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) सालभर एक स्थानमें रहकर व्रत करनेवाले ब्राह्मण बोलते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— मेघोंमें विद्युद्रूप अग्नि है वही वृष्टि करता है इस लिये वह औषधियोंका अधिपति है। वह ऊपरसे वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवे, उससे प्राणियोंको जीवन मिले, इस प्रकार हम सबकी रक्षा हो ॥ १० ॥

यह प्रजापालक समुद्रके जलको प्रेरित करता है जिससे मेघ होते हैं। इस से भूमिके ऊपर पर्याप्त जल प्राप्त होवे । यह मेघ बिजुलीके साथ हमारी भूमिके पास आजावे ॥ ११ ॥

मेघकी वृष्टिसे पृथ्वीपर पडे स्रोत बहें। जलमें मेंडक उत्तम शब्द करें ॥ १२ ॥

व्रत करनेवाले ब्राह्मणोंके समान ये मेंडक मानो सालभर व्रत कर रहे थे, अब अपना व्रत समाप्त करके बाहर आये हैं और प्रवचन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥
खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥
महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-हे (मंडूकि) मेंडकी ! हे (तादुरि) छोटी मेंडकी ! (उप प्रवद) बोल, (वर्षं आवद) वर्षाको बुला। और (ह्रदस्य मध्ये) तालावके मध्यमें (चतुरः पदः विगृह्य) चार पैर लेकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

(खण्-वखे) हे बिलमें रहनेवाली, हे (खैम-खे) शांत रहने वाली (तदुरि) हे छोटी मेंडकी ! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वृष्टिके बीचमें आनंदित हो। हे (पितरः) पालको ! (मरुतां मनः इच्छत) वायुओंका मननीय ज्ञान चाहो ॥ १५ ॥

(महान्तं कोशं उदच) बडे जलके खजानेको अर्थात् मेघको प्रेरित कर और (अभि षिञ्च) जलसिंचन कर। (सविद्युतं भवतु) आकाश बिजुलियोंसे युक्त हो (वातः वातु) वायु बहता रहे। (यज्ञं तन्वतां) यज्ञको करो। (ओषधयः) औषधियां (बहुधा विसृष्टाः) बहुत प्रकारसे उत्पन्न हुई (आनंदिनीः भवन्तु) आनन्द देनेवाली होवें।

भावार्थ-मेंडक मेघोंको बुलावें और वे जलसे तालाब भरनेके बाद उसमें खूब तैरें ॥ १४ ॥

वृष्टि ऐसी हो कि जिससे मेंडक आनंदित हो जांय ॥ १५ ॥

मेघ आजांय, खूब वृष्टि हो, बिजली कडके, वायु बहे, औषधियां पुष्ट हों, खूब अन्न उत्पन्न हो, और यज्ञ चलते जांय ॥ १६ ॥

यह सूक्त पर्जन्यका उत्तम काव्य है, अत्यंत स्पष्ट होनेसे इसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

सर्वसाक्षी प्रभु ।

[१६]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—वरुणः । सत्यानृतान्वीक्षणम् ।)

बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

अर्थ- (एषां बृहन् अधिष्ठाता अन्तिकात् इव पश्यति) इनका बडा अधिष्ठाता समीपके समान देखता है। (यः तायन्) जो फैलाता और पालन करता, (चरन्) विचरता और चलाता हुआ, (मन्यते) जानता है। (देवाः इदं सर्वं विदुः) दिव्य जन यह सब जानते हैं ॥ १ ॥

(यः तिष्ठति, चरति) जो खडा होता है अथवा चलता है, (च यः वञ्चति) और जो ठगाता है, (यः निलायं चरति, यः प्रतंकं) जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा खुला व्यवहार करता है तथा (द्वौ संनिषद्य यत् मंत्रयेते) दो जन एक साथ बैठकर जो कुछ विचार करते हैं (तत) उस सबको (तृतीयः राजा वरुणः वेद) तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ—इन संपूर्ण लोक लोकान्तरोंका एक बडा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येकके समीप रहनेके समान करता है, वह सबका विस्तार करता है और रक्षा करता है; सबको चलाता है और सबमें विचरता है तथा सबको जानता है। उस प्रभुके ये गुण सब ज्ञानीजन जानते हैं ॥ १ ॥

कोई मनुष्य ठहरा हो, कोई चलता हो, कोई किसीको ठगाता हो, कोई घरके अंदर छिपकर कुछ करता हो और कोई, खुली जगहमें कार्य करता हो, अथवा दो मनुष्य एक स्थानमें बैठकर कुछ आपसमें गुप्त विचार करते हों, इन सब बातोंको यह प्रभु उसी समय जानता है ॥ २ ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥
सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥५॥

अर्थ- (इयं भूमिः) यह पृथिवी, (उत उत असौ बृहती दूरं अन्ता द्यौः) और यह बडा दूर अन्तरपर दिखनेवाला द्युलोक है, यह सब (वरुणस्य राज्ञः) वरुणराजाका है। (उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी) और दोनों समुद्र वरुणकी दोनों कोखें हैं, (उत अस्मिन् अल्प उदके निलीनः) तथा वह इस अल्प उदकमें भी लीन हुआ है ॥ ३ ॥ (उत यः परस्तात् द्यां अतिसर्पात्) और जो दूर द्युलोकके भी परे भी चलाजावे (सः वरुणस्य राज्ञः न मुच्यातै) वह इस वरुणराजा के शासनसे छूट नहीं सकता। (अस्य दिवः स्पशः इदं प्रचरन्ति) इस दिव्यदेवके दूत इस जगत्में संचार करते हैं। वे (सहस्र-अक्षाः भूमिं अतिपश्यन्ति) हजार आंखवाले भूमिको विशेष देखते हैं॥ ४ ॥

(राजा वरुणः तत् सर्वं विचष्टे) वरुणराजा उस सबको देखता है (यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्) जो भूमि और द्युलोकके बीचमें है और जो परे है। (जनानां निमिषः अस्य संख्याताः) मनुष्योंकी पलकों के झपकोंको भी उसने गिना है। (तानि निमिनोति) उनको वह नापता है (इव श्वघ्नी अक्षान्) जैसे जुआडी पासोंको नामता है ॥ ५ ॥

भावर्थ— यह भूमि और यह बडा द्युलोक तथा इनके बीचके सब पदार्थ उसी प्रभूके हैं। ये बडे समुद्र उसकी कोखोंमें हैं, यह जैसा बडे समुद्रोंमें है वैसाही पानीकी छोटीसी बूंदमेंभी है ॥ ३ ॥ यदि कोई कुकर्म करके द्युलोकसेभी परे दूर कहीं भाग जावे तो भी वह इस प्रभुके शासनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि इसके दिव्य गुप्त चर इस जगत् में संचार करते हैं और वे हजारों आंखोंसे इस भूमिका निरीक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

जो कुछ इस भूमि और द्युलोकके मध्यमें है उस सबका निरीक्षण वह प्रभु स्वयं करता है। यहां तक कि मनुष्योंके पलकोंकी झपकोंको भी वह गिनता है, अर्थात उसको अज्ञात ऐसा कुछभी नहीं है ॥ ५ ॥

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥
शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं स्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥
यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः ।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

अर्थ– हे (वरुण) वरुणदेव ! (सप्त सप्त त्रेधा विषिताः) सात सात तीन प्रकारसे बंधे हुए (ये ते रुशन्तः पाशाः तिष्ठन्ति) जो तेरे विनाशक पाश हैं वे (सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु) सब असत्य बोलनेवालेको बांध दें अथवा छिन्नभिन्न करें। (यः सत्यवादी तं अतिसृजन्तु) जो सत्यवादी है उसको छोड दें॥ ६ ॥ हे (वरुण) ईश्वर! (शतेन पाशैः एनं अभिधेहि) सौ फांसोंसे इसको बांध ले। हे (नृचक्षसः) मनुष्योंको देखनेवाले ! (अनृतवाक् ते मा मोचि) असत्य बोलने वाला तेरेसे न छूट जावे। (जाल्मः उदरं स्रंसयित्वा) दुष्ट नीच अपने उदरको गिराकर, (अबन्धः कोश इव) न बंधे कोशके समान (परिकृत्यमानः आस्तां) कटा हुआ पडा रहे ॥ ७ ॥ (वरुणः यः समाम्यः) वरुण जो समानभाव रखनेवाला और (यः व्याम्यः) जो विषम भाव रखनेवाला है। (वरुणः यः सं-देश्यः, यः वि-देश्यः) वरुण जो समान देशमें रहनेवाला और जो विशेष देशमें रहनेवाला है, (वरुणः यः दैवः यः च मानुषः) वरुण जो देवोंके संबंधी और जो मनुष्य संबंधी है.॥ ८ ॥

भावार्थ– जो असत्य बोलते हैं उनको वह प्रभु अपने हिंसक पाशोंसे बांध देता है और जो सत्यवादी होते हैं उनको मुक्त करता है ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! तू दुष्टको सैकडों पाशोंसे बांध देता है, असत्यवादी तेरे पाशोंसे नहीं छूट सकता। जो दुष्ट मनुष्य अपने पेटके लिये दूसरोंको सताता है, तू उसके पेटका नाश करता हुआ अन्तमें उसका भी नाश करता है ॥ ७॥ सबके साथ समान भाव रखनेवाला, सब देशमें समान रीतिसे रहने वाला एक दिव्य वरुण देव अर्थात् परमेश्वर है, इसी प्रकार विषम भाव रखनेवाला और छोटे छोटे स्थानोंमें रहनेवाला एक मानुष वरुण अर्थात् मनुष्योंमें रहनेवाला जीवात्मा भी है ॥ ८ ॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि ॥ ९ ॥

अर्थ- हे (अमुष्यायण) हे अमुक पिताके पुत्र! हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माताके पुत्र! (असौ) वह तू (त्वा) तुझको (तैः सर्वैः पाशैः अभिष्यामि) उन सब पाशोंसे बांधताहूं। और (तान् सर्वान् उ ते अनुसंदिशामि) उन सबको तेरेलिये प्रेरित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— हे अमुक मातापिताके सुपुत्र! तू उत्तम रीतिसे सत्य व्यवहार कर अन्यथा उस प्रभुके पाशोंसे तू बांधा जायगा जिन पाशोंका वर्णन यहां किया जाचुका है ॥ ९ ॥

सर्वाधिष्ठाता प्रभु।

इस सूक्तमें सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वाधिष्ठाता प्रभुका वर्णन है। यह सूक्त इतना सुबोध, स्पष्ट और भावपूर्ण है कि जिसकी प्रशंसा हमारे शब्दोंसे होना असंभव है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि—"इस जगत्का एक बडा अधिष्ठाता है वह सब जनोंके व्यवहारोंको हरएकके पास रहनेके समान देखता है।" हरएक मनुष्य इस कथनका स्मरण रखे। वह प्रभु जो कार्य करता है उसका वर्णन इसी सूक्तके प्रथम मंत्रमें निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुआ है—

(१) तायत्-(ताय्-संतानपालनयोः) वह सबको फैलाता अर्थात् विस्तार करता अथवा पूर्ण बढनेका अवसर देता है; तथा सबका यथा योग्य पालन करता है। किसी प्रकार न्यूनता होने नहीं देता। यह उसकी सबके ऊपर बडी दया है। (मं. १)

(२) चरन्-वह सर्वत्र जाता है, सर्वस्थानोंमें उसकी प्राप्ति है, सबको वह चलाता है। वह सर्वव्यापक है। (मं० १)

(३) मन्यते-(मन्-ज्ञाने)-जानता है, वह सर्वज्ञ है। (मं० १)

(४) अन्तिकात् इव पश्यति-पास रहनेके समान सबके व्यवहार यथावत् देखता है। वह सर्वत्र व्यापक होनेसे वह सबका उत्तम प्रकारसे निरीक्षण करता है (मं०१)

(५) अधिष्ठाता—वह सबका मुख्य अधिष्ठाता, शासक और प्रभु है। उसके ऊपर कोई नहीं है। (मं० १)

उसकी सर्वज्ञता।

'वह सबके व्यवहार पास रहनेके समान पूर्ण रीतिसे देखता है' ऐसा जो प्रथम मंत्रमें कहा है, उसका ही स्पष्टीकरण द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है। "कोई मनुष्य किसी स्थानपर ठहरा हो, चलता हो, दौडता हो, छिपकर कुछ करता हो अथवा खुले स्थानमें व्यवहार चलाता हो, दो मनुष्य अथवा अधिक मनुष्य बिलकुल एकान्तमें कुछ विचार करते हों तो यह सब उस प्रभुको यथावत् विदित हो जाता है, (मं० २) अर्थात् उससे छिपकर कोई मनुष्य कुछ भी कर नहीं सकता। यह उसकी सर्वज्ञताका उत्तम वर्णन है।

भूमि यहां अपने पास है और द्यौ बडी दूर है, तथापि इन सब पर उसी प्रभुका समान अधिकार है। इतने बडे विस्तार वाले विश्वपर उस अकेले का ही स्वामित्व है। वह इतना बडा है कि ये सब समुद्र उसकी कोखमें है। यह इतना बडा होता हुआ भी इस छोटेसे जलके एक बूंदमें भी वह विराजमान है, प्रत्येक सूक्ष्मसे सूक्ष्म अणुरेणुमें वह पूर्ण तया व्यापक हुआ है। (मं० ३) यह तृतीय मंत्रका कथन है।

प्रबल शासक।

उसका शासन ऐसा प्रबल है कि कोई मनुष्य उसके शासनाधिकारसे छूटनेके लिये कहीं भी भाग गया और द्युलोकसे भी परे चलागया, तो भी वह उससे दूर जा नहीं सकता, कहां भी गया तो भी वह उसके शासनमें ही रहेगा। वह स्वयं सबका निरीक्षण करता है और उसके दूत भी ऐसे प्रबल हैं कि उनकी दृष्टि सबके ऊपर एकसी ही रहती है। (मं० ४)

जो कुछ इस द्युलोकके बीचमें है उस सबको वह प्रभु जानता ही है, यहां तक वह देखता, गिनता और नापता है कि आंखोंके पलकोंके झपक किसके कितने हुए हैं यह भी उसको ज्ञात है। जो इतनी बारीकीसे सब कुछ देखता है, उसको न समझते हुए क्या कोई मनुष्य कुछ भी कर सकता है ? कभी नहीं (मं० ५) इसलिये सब मनुष्योंको यह मानना चाहिये कि वह हमारा निरीक्षक है, अतः उसको अपने सम्मुख मानते हुए उत्तम कर्म करके अपना अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धी हरएकको प्राप्त करनी चाहि

उसके पाश।

जगत्, शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि इन सात क्षेत्रोंमें उनके विविध पाश फैले हैं। प्रत्येक क्षेत्रके अनुकूल उसके पाश हैं और प्रत्येक क्षेत्रमें भी सत्व रज तम इन तीन भेदोंसे पाश भी भिन्न हैं। ये सब पाश "असत्य भाषण करनेवालेको बांधते हैं और सत्यवादीको मुक्त करते हैं।" (मं० ६) सत्यनिष्ठाका यह महत्त्व पाठक जान लें और जहांतक हो सके वहां तक सत्य पालनमें दत्त चित्त होकर अपने जन्मकी सार्थकता करें। सप्तम मंत्रका आशय भी ऐसाही है।

अष्टम मंत्रमें "दैवी वरुण और मानुष वरुण" का वर्णन है। इस वर्णनसे वैदिक वर्णन शैलीका पता लगता है इसलिये इसके विषयमें थोडासा विवरण करना चाहिये-

दो वरुण।

दिव्य वरुण.	मानुष वरुण.
१ समाम्यः—सबके साथ समान भाव रखनेवाला,	१ व्याम्यः—विषम भावसे देखनेवाला,
१ संदेश्यः—समान देशमें रहने वाला अर्थात् सब स्थानोंमें समानतया रहनेवाला,	२ विदेश्यः—जो स्थान विशेषमें रहने वाला है,
३ दैवः—जो देवसंबंधी है,	३ मानुषः—जो मनुष्योंके संबंधमें है,
४ वरुणः—जो श्रेष्ठ ईश्वर है।	४ वरुणः—जो श्रेष्ठ जीवात्मा है।

परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला, सब स्थानोंमें समान रीतिसे व्यापनेवाला देव है, और जीवात्मा हरएकके साथ विषमवृत्तिसे व्यवहार करनेवाला तथा छोटे छोटे स्थानमें रहनेवाला है। दोनों अपनी अपनी कक्षामें वरुण ही हैं, परंतु एककी व्यापकता बडी है और दूसरेकी छोटी है। एकही शब्दसे जीवात्मा परमात्मा का वर्णन किस ढंगसे होता है यह बात यहां पाठक देखें। यह वेदकी वर्णन शैली है।

अन्तिम मंत्रमें मनुष्य मात्रके लिये संदेश दिया है कि इस प्रभुके उपासक बनो, उसके आदेशमें रहो और सत्य पालन द्वारा उसके अनुकूल चलो। जो लोग ऐसा न करेंगे वे उसके पाशसे बांधे जांयगे। जो सत्य पालन करेंगे वे मुक्त हो जांयगे।

अपामार्ग औषधि ।

[१७]

(ऋषिः— शुक्रः । देवता-अपामार्गः वनस्पतिः ।)

ईशा॑नां त्वा भेषजानामुज्जेष आ र॑भामहे ।
चक्रे सहस्र॑वीर्यं सर्व॑स्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

सत्यजितं॑ शपथयावनीं सह॑मानां पुनः सुरान् ।
सर्वाः सम॒ह्व्योष॑धीरितो नः पारयादिति॑ ॥ २ ॥

अर्थ-हे ओषधे ! (भेषजां ईशानां त्वा उत् जेषे आरभामहे) औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली तुझ औषधिको अधिक जयशाली बनानेकेलिये यह प्रयोगका प्रारंभ करता हूं । (सर्वस्मै त्वा सहस्रवीर्यं चक्रे) सब रोगोंके निवारण के लिये तुझे हजारों वीर्योंसे युक्त करता हूं ॥ १ ॥

(सत्याजितं) निश्चयसे जीननेवाली (शपथयावनीं) आक्रोशको दूर करनेवाली, (सहमानां) रोगका पराजय करनेवाली, (पुनः सरां) विशेष करके सारक अथवा विरेचक गुणसे युक्त, इसीप्रकारकी (सर्वाः ओषधीः समह्वि) सब औषधियोंको प्राप्त करता हूं । ये औषधियां (इतः नः पारयात्) इन रोगोंसे हमें पार करें ॥ २ ॥

भावार्थ-औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली औषधियां हैं और अन्य औषधियां प्रयोगविशेषसे सामर्थ्यशाली बनाई जाती हैं ॥ १ ॥

निश्चयसे रोगदूर करनेवाली, रोगीका आक्रोश दूर करनेवाली, रोगीकी सहन शक्ति बढानेवाली, रेचकगुणसे युक्त, औषधियां होती हैं जिनकी सहायतासे हम रोगोंसे मुक्त होते हैं ॥ २ ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥
यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

अर्थ- (या शपनेन शशाप) जो आक्रोशसे दुष्ट शब्द बोलती है, (या मूरं अघं आदधे) जो मूढता लानेवाला पाप धारण करती है, (या रसस्य हरणाय) जो सारस्रप रसका हरण करनेके लिये (जातं आरेभे) नये जन्मे बालककोभी पकडती है, (सा तोकं अत्तु-ति) वह बीमारी संतानको खाजाती है ॥ ३ ॥

(यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिस हिंसक प्रयोगको तेरे लिये कचे मिट्टीके बर्तनमें बनाते हैं, (यां नील-लोहिते) जिसको नील और लाल होनेतक पकाये बर्तनमें करते हैं, तथा (आमे मांसे) कच्चे मांसमें (यां कृत्यां चक्रुः) जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तया कृत्याकृतः जहि) उससे उन हिंसा करनेवालों का ही नाश कर ॥ ४ ॥

(दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं) बुरे स्वप्नोंके आने, दुःखदायी जीवन बनना, (रक्षः अ-भ्वं अ-राय्यः) रोगक्रिमियोंका निर्बलताकारक, निस्तेजताको बढानेवाला जो रोग है तथा (दुः- नाम्नीः सर्वाः दुर्वाचः) दुष्ट नामवाली बवासीर और उसके संबंधके सब बुरे रोग ये सब (अस्मत् नाशयामसि) हमसे नाश करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— कई रोगोंसे रोगी चिल्लाता है, कईयोंमें मूर्छा आजाती है, कई [illegible]योंमें रक्त क्षीण होता है, कई रोग तो नवजात लडके को होते हैं और [illegible] भी नाश करते हैं ॥ ३ ॥

उसका [illegible] प्रयोग कच्चे बर्तनमें, पक्के बर्तनमें और कच्चे गूदेमें बनाया जो हिंसा [illegible] हिंसक प्रयोगोंसे वेही हिंसक लोग नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

जाता है। उन [illegible]ना, जीवनकी उदासीनता, निस्तेजता और क्षीणता, बुरे स्वप्नका [illegible] स्वभाव ये सब इस औषधिसे हट जाते हैं ॥ ५ ॥

बवासीर, चिडचिडे [illegible]

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ६ ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी ।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अर्थ- (क्षुधामारं तृष्णामारं) क्षुधासे मरना, तृष्णासे मरना, (अ-गो-तां अन्-अपत्यतां) इंद्रिय अथवा वाणीका दोष, संतान न होना, अर्थात् नपुंसकता, हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया तत् सर्वं वयं अप मृज्महे) तेरी सहायताके साथ उक्त सब दोषोंको हम दूर करते हैं ॥ ६ ॥

(तृष्णामारं क्षुधामारं) तृष्णासे मरना, भूखसे मरना तथा (अक्ष पराजयं) इंद्रियका नाश होना, (अपामार्ग) हे अपामार्ग औषधि ! (सर्वं तत् त्वया वयं अप मृज्महे) सब वह दोष तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ ७ ॥

हे अपामार्ग औषधि ! तू (सर्वासां ओषधीनां एकः वशी इत्) सब औषधियोंको वशमें रखनेवाली एक ही औषधि निश्चयसे है । (तेन ते आस्थितं) उससे तेरे शरीरमें स्थित रोगको हम (मृज्मः) दूर करते हैं हे रोगी ! (अथ त्वं अगदः चर) अब तू नीरोग होकर चल ॥ ८ ॥

भावार्थ- बहुत भूख और बहुत प्यास लगना, इंद्रियोंके दोष, वंध्यापन आदि सब अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ ६ ॥

भस्मरोग और प्यास लगानेवाला रोग, तथा इंद्रियोंकी कमजोरी अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होजाती हैं ॥ ७ ॥

अपामार्ग औषधि सब औषधियोंको, मानो, वशमें रखनेवाला औषध है । शरीरके सब रोग उससे दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवनसे नीरोग होकर विचरता है ॥ ८ ॥

(१८)

सुमं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥
यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥
अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ ३ ॥

अर्थ— (सूर्येण समं ज्योतिः) सूर्यके समान ज्योती है, और (अह्ना समावती रात्री) दिनके समान रात्री है। सब (कृत्वरीः अरसाः सन्तु) विनाशक बातें रसहीन हो जांय। (सत्यं ऊतये कृणोमि) सत्यको मैं रक्षाके लिये करता हूं ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यः कृत्यां कृत्वा अ-विदुषः गृहं हरात) हिंसक प्रयोग करके अज्ञानीके घरका हरण करे, (धारुः वत्सः मातरं इव) दूध पीनेवाला बालक अपनी माताके पास जानेके समान, वह हिंसक विधि (तं प्रत्यक् उपपद्यतां) उसके प्रति लौटकर जावे ॥ २ ॥

(यः पाप्मानं कृत्वा) जो पाप करके (तेन अमा अन्यं जिघांसति) उससे साथ दूसरेको मारना चाहे, (तस्यां दग्धायां) उसके जल जानेपर (बहुलाः अश्मानः फट् करिक्रति) बहुत पत्थर फट शब्द करेंगे अर्थात नाश करेंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब विनाशक प्रयत्न असफल हो जांय। सत्यहीसे सबकी उत्तम रक्षा हो सकती है, देखो सूर्यकी सत्य ज्योती आकाशमें चमकरही है, जिससे दिनका प्रकाश फैलता है। इसी प्रकार सत्यसे उन्नति होगी॥ १॥

जो घात पातके प्रयोग करके दूसरोंके घरबारका नाश करते हैं, वे प्रयत्न वापस जाकर उन घातक लोगोंका ही नाश करें ॥ २ ॥

जो स्वयं पाप कर्म करके उससे दूसरेका भी साथ साथ नाश करना चाहता है, उस प्रयत्नसे उसी पापीका स्वयं नाश होगा, जैसा तपे हुए पत्थर स्वयं फट जाते हैं ॥ ३ ॥

सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवाञ्छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (सहस्र-धामन्) सहस्र धामवाले ! (त्वं विशिखान् विग्रीव... शायय) तूं शिखारहित और ग्रीवारहित करनेवालों को सुलादे । (प्रि... कृत्यां चक्रुषे प्रियावते) प्रिय कृत्य करनेवालेको प्रियके पास (प्रति ह... स्म) पहुंचा ॥ ४ ॥

(अनया ओषध्या सर्वाः कृत्याः अदूदुषम्) इस औषधिसे सब दुष्ट... कृत्योंका नाशकरता हूं । (यां क्षेत्रे चक्रुः) जो खेतमें किया हो, (यां... गोषु) जो गौओं में और (या वा ते पुरुषेषु) जो तेरे पुरुषों में किया... है ॥ ५ ॥

(यः चकार) जो करता था परंतु (कर्तुं न शशाक) पूर्ण काटनेके लिये समर्थ न हुआ, परंतु (पादं अंगुरिं शश्रे) पांव अंगुलि आदि तोड दी है, (अस्मभ्यं भद्रं चकार) हमारे लिये उसने कल्याण किया परंतु (सः आत्मने तपनं) उसने अपने लिये पीडा प्राप्त की है ॥ ६ ॥

भावार्थ- जो दूसरोंका गला काटने और शिखादि काटनेवाले घातक होते हैं उनका नाश कर और प्रिय कार्य करनेवालेको उसके प्रेमीके पास सुरक्षित पहुंचाओ ॥ ४ ॥

इस औषधीसे सब नाशक दुष्ट रोगादि दूर हो जाते हैं । खेतोंमें, गौ आदि पशुओंमें और मनुष्योंमें होनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं ॥ ५ ॥

जो दूसरोंका सर्वस्व नाश करना चाहता है, परंतु कर नहीं सकता, इसलिये कुछ अवयवका ही नाश करता है, या अल्पसी हानी करता है, उसने तो अपनी ही हानी की है । हमारा तो कल्याण ही उसने हुआ है ॥ ६ ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥
अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् ।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥ ३ ॥
यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत ।
ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

अर्थ— (नार-सदेन कण्वेन ब्राह्मणेन) नरोंकी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान ब्राह्मणने (परि उक्ता असि) तेरा वर्णन किया है। हे (ओषधे) औषधि ! तू (त्विषीमती सेना इव एषि) तेजस्वी सेनाके समान रोगरूप शत्रुपर हमला करती है, (यत्र प्राप्नोषि) जहां तू प्राप्त होती है (तत्र भयं न अस्ति) वहां भय नहीं रहता है ॥ २ ॥

(ज्योतिषा इव अभिदीपयन्) तेजसे प्रकाशित करती हुई (ओषधीनां अग्रं एषि) औषधियोंके आगे आगे तू जाती है। (उत पाकस्य त्राता असि) और परिपक्वका रक्षक और (रक्षसः हन्ता असि) रोग बीजोंका नाशक तू है ॥ ३ ॥

(अदः यत् अग्रे त्वया देवाः) वह जो पहिले तेरे साथ रहकर देवोंने (असुरान् निर् अकुर्वन्) असुरोंको हटाया था, हे (ओषधे) औषधि ! (ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः) उससे तू अपामार्ग नामक औषधि रूपमें प्रकट हुयी है ॥ ४ ॥

भावार्थ— बडी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान [illegible] औषधी रोगोंका पूर्ण नाश करती है, और [illegible] भय शेष नहीं रहता ॥ २ ॥

यह तेजस्वी औषधी [illegible] और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

[illegible] देवोंने असुरोंको हटाया था, [illegible] औषधि [illegible] ॥ ४ ॥

वि॒भि॒न्द॒ती श॒तशा॑खा वि॒भि॒न्दन्नाम॑ ते पि॒ता ।
प्र॒त्यग्वि भि॑न्धि॒ त्वं तं यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥ ५ ॥

अस॒द्भूम्याः॑ सम॑भव॒त्तद्यामे॑ति म॒हद्व्यचः॑ ।
तद्वै ततो॑ वि॒धूपाय॑त्प्र॒त्यक्क॒र्तार॑मृच्छतु ॥ ६ ॥

प्रत्यङ् हि सं॑ब॒भूवि॑थ प्र॒तीची॑नफल॒स्त्वम् ।
सर्वा॒न्मच्छ॒पथाँ॒ अधि॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ७ ॥

अर्थ- तू (शतशाखा विभिन्दती) सेकडों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है। (विभिन्दन् नाम ते पिता) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (त्वं तं प्रत्यक् विभिन्धि) तू उसे हरप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(असत भूम्याः समभवत) असत्यरूप दुष्टता भूमीसे उत्पन्न हुई तो भी वह (तत् महत् व्यचः द्यां एति) वह बडा विस्तृत होकर आकाशतक फैलता है। (ततः तत् वै कर्तारं विधूपायत) वहांसे वह निश्चयपूर्वक कर्ताको ही संतप्त करता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) उसीको वापस पंहुंचता है ॥ ६ ॥

(त्वं हि प्रत्यङ् प्रतीचिनफलः संबभूविथ) तू ही प्रत्यक्ष उलटे फल करनेवाला उत्पन्न हुआ है, इसलिये (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब बुरे वचनोंको और (वरियः वधं अधियावय) ऊपर उठनेवाले शस्त्रको दूर कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है। इसलिये जो रोग हमारा नाश करते है उनको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर थोडा भी असत्य उत्पन्न हुआ तथापि वह शीघ्रही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताका भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें दोषोंको उलटा करनेका गुण है इसलिये दुर्भाषण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

अर्थ- (शतेन मा परिपाहि) सौ उपायोंसे मेरी रक्षा कर और (सहस्रेण मा अभिरक्ष) हजारों यत्नोंसे मेरा संरक्षण कर। हे (वीरुधां पते) औषधियोंके स्वामी! (उग्रः इन्द्रः ते ओज्मानं आदधात्) उग्र वीर इन्द्र तेरे अंदर पराक्रमकी शक्ति धारण करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्यों इस में इन्द्रका तेज भरा है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि।

हिंदीभाषामें 'लटजीरा, चिरचिरा' ये नाम जिसके हैं उसको संस्कृतमें 'अपा-र्ग' औषधि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं, श्वेत, कृष्ण और लाल ये अपामार्गके तीन हैं। ये तीनोंके गुण समानही हैं जिनका उल्लेख वैद्यक ग्रंथोंमें इस प्रकार किया है—

तिक्तोष्णः कटुः कफघ्नः अर्शःकण्डूदुरामघ्नो रक्तघ्नः ग्राही
वान्तिकृत। राजनि. व. ४

(सन्निपातज्वरचिकित्सायां) पृश्निपर्णी त्वपामार्गः।
चक्रपाणिदत्तद्रव्यगुणः।

दीपनः तिक्तः कटुः पाचको रोचनः छर्दिकफमेदोवातघ्नः हृद्रोगाध्मानार्शः कण्ड्वादिकं हन्ति। भावप्र०पू०भा० १

तत्पत्रं रक्तपित्तघ्नं। मद०व० १।

श्वेतश्चापामार्गकस्तु तिक्तोष्णो ग्राहकः सरः। किञ्चित्कटुः कान्तिकरः पाचकोऽग्निदीपकः। नस्ये वान्तौ प्रशस्तः स्यात्कफकण्डूदरापहः। दुर्नामानं रक्तरुजं मेदोदरुदरे तथा। वातसिध्मापचीदद्रुचाध्मानानां विनाशकः। रक्तापामार्गकः किञ्चित्कटुकः शीतलः स्मृतः मन्यावष्टम्भवमिकृद्वातविष्टम्भकारकः। रूक्षो व्रणं विषं वातं कफं कण्डूं च नाशयेत्। बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलं। मलावष्टंभकं रूक्षं वान्तिकृत्कफपित्तजित्। गोपापामार्गकश्चोष्णः कटुः शोधकफावहः। कासं वातञ्च शोपं च नाशयेद्दिनि च नूनः।
वै० निघं०।

अपामार्ग वनस्पतिका यह वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है। इसका तात्पर्य यह है—"अपामार्ग वनस्पति तिक्त, उष्ण, कटु, कफ नाशक; बवासीर, खुजली, आम और रक्तके रोगोंका नाश करनेवाली है, वान्ति करनेवाली है। सन्निपात ज्वरकी चिकित्सामें पृश्निपर्णी और अपामार्ग इनका उत्तम उपयोग होता है। यह पाचक, दीपक अर्थात् भूख लगानेवाली, वमन, कफ, मेद, वात, हृद्रोग, आध्मान, बवासीर आदिका नाश करती है। अपामार्ग तिक्त, उष्ण, ग्राहक और सारक है। शरीरकी कान्ति बढानेवाला, पाचक और अग्नि प्रदीप्त करने वाला है। नस्य और वान्तिमें यह प्रशस्त है। बवासीर रक्तदोष, मेद, उदर आदिका नाशक है। व्रण, विष, वात, कफ, खुजली, आदिको दूर करता है।"

यह अपामार्गका वैद्यक ग्रंथोंका वर्णन देखकर हम इन सूक्तोंमें कहे वर्णनका विचार करेंगे। सूक्त १७—१९ इन तीनों सूक्तोंमें इसी 'अपामार्ग' वनस्पतिका वर्णन है, इन तीनों सूक्तोंका भी एकही 'शुक्र' ऋषि है।

क्षुधा और तृष्णा मारक।

सू. १७ मं. ६—७ में 'क्षुधासे मरनेका रोग' अर्थात् जिसमें भूख अधिक लगती है, जितना खाया जाय उतना भस्म होजाता है इस कारण जिसको भसरोग कहते हैं तथा 'तृषाका रोग' जिसमें प्यास बहुत लगती है, इन रोगोंको अपामार्ग औषधि दूर करती है ऐसा कहा है। यही बात ऊपर लिखे वचनमें कही है—

बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलम्।

"अपामार्गका बीज पचनके लिये कठिन है, स्वादु और शीतल है।" पचन कठिनतासे होता है इसलिये यह भसरोगके लिये अच्छा है और शीतल होनेसे तृष्णारोगका शमन करता है। इस प्रकार वैद्यशास्त्रका वर्णन मंत्रोक्त वर्णनके साथ पढनेसे मंत्रका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

बवासीर।

सू० १७ मं० ५ में 'दुर्णाम्नीः शब्द आगया है। वैद्यक ग्रंथमें 'दुर्नामा' शब्द आगया है। यह बवासीरका वाचक शब्द है। वेदमें जहां औषधि प्रकरणमें 'दुर्नाम' शब्द आता है वहां प्रायः बवासीर का संबंध रहता है। कई लोग 'दुष्ट नामी, अ...' भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु वह ठीक नहीं है। वेदमें यह 'दुर्नामन्' नाम बवासीरके लिये आया है। 'दुर्नाम, दुर्णाम, दुर्नाच्' ये शब्द बवासीरके विविध भेदोंके ही वाचक

दुष्ट स्वप्न ।

दुष्ट स्वप्न आना यह पित्तके कारण, पेटके दोषके कारण अथवा आमदोषके कारण होता है । वैद्यक ग्रंथोंमें इस अपामार्गको पित्तशामक, पाचक, अग्निप्रदीपक, दीपक, रुचिवर्धक कहा है । सूक्त १७ के पंचम मंत्रके पूर्वार्धमें जो रोग कहे हैं उनका इनहीसे संबंध है, जैसा देखिये—

१ दौष्वप्न्यं—दुष्ट स्वप्न आना, निद्रा गाढ न आना,
२ दौर्जीवित्यं—जीवितके विषयमें उदासीनता मनमें उत्पन्न होना,
३ रक्षः—विविध प्रकारके कृमिदोष होना,
४ अ-भ्वं—शरीरकी वृद्धि न होना, परंतु शरीरकी कृशता बढना, क्षीणता उत्पन्न करनेवाले रोग,
५ अ-राय्यः—रायू अर्थात् तेज, शोभा, कान्ति जो स्वस्थ शरीर पर होती है, वह न होना, फीका रंग होना ।

ये पञ्चम मंत्रके रोगवाचक शब्द वैद्यक ग्रन्थों के पूर्वोक्त वर्णनके साथ पढनेसे इनका आशय खुल जाता है । ये सब अपचनके रोग हैं और श्वेत अपामार्ग अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण इन रोगोंका नाशक निश्चयसे हो सकता है ।

सारक ।

सूक्त १७ के द्वितीय मंत्रमें 'सरां' पद है, और उक्त वैद्यक ग्रंथमें 'सरः' पद है । दोनोंका आशय 'सारक, रेचक' अर्थात् शौच शुद्धी करनेवाला है । शौच शुद्धि होनेसे भुख बढना, अग्निदीपन होना स्वाभाविक है । आगे तृतीय मंत्रमें 'रसस्य हरणं' पद है । रसका हरण होनेसे ही शोष होता है और प्यास बढती है । "तृष्णामार" रोग इसी कारण होता है । इस रोगकी यह दवा है । शरीरके रस का हरण जिस रोगमें होता है उस रोगका शमन इस अपामार्ग औषधिसे होता है । इस सूक्तके द्वितीय और तृतीय मंत्रमें "शपथ" शब्द बारबार आगया है । शपथ का अर्थ है दुर्भाषण, जिस समय मनुष्यका स्वभाव चिडचिडा होता है उस समय मनुष्य की प्रवृत्ति दुर्भाषण करनेकी ओर हो जाती है । चिडचिडा स्वभाव पेटके कारण होता है । यह दोष इस अपामार्ग औषधिके सेवन से दूर हो जाता है । क्योंकि इसने अपचन दोष दूर होता है, पेट ठीक

होता है और पेटके ठीक होनेसे चिडचिडा स्वभाव दूर होता है और दुर्भाषण करनेकी प्रवृत्ति भी हट जाती है ।

१७ वें सूक्तका शेष वर्णन अपामार्गकी प्रशंसा परक है; इसलिये उसके विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है ।

सूक्त १८ वेमें मं० २ से ६ तक कुछ ऐसे घातक कृत्यका वर्णन है जो दूसरोंके घातके लिये दुष्ट मनुष्य किया करते हैं । क्षेत्रमें, गौओंके नाश के लिये और मनुष्योंके नाशके लिये करते हैं ।इस प्रांतमें हमने देखा है कि अन्त्यजोंमें से एक जाती जो मृत गौका मांस खाती है, वह प्रायः ऐसे प्रयोग करती है । खेतोंमें जहां गौवें घास खानेके लिये जाती हैं, वहांके घासमें कुछ विष रखा जाता है । घास खानेसे वह विष गौआदि पशुओंके पेटमें जाता है और वह पशु घण्टा आध घंटामें मर जाता है। पशु मरनेके पश्चात् वे ही अन्त्यज लोग उसको ले जाते हैं और खाते हैं । खेतमें गौओंके संबंधमें ये लोग ये घातक प्रयोग किया करते हैं और बडे प्रयत्न करनेपर भी इनसे गौओंका बचाव करनेका उपाय अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है ।

इस उपायके विषयमें सू. १८ के सप्तम मंत्रमें वेदने कहा है कि अपामार्ग औषधिके उपयोगसे पूर्वोक्त विष दूर होता है और पशु बच सकता है । वैद्यक ग्रंथमें वचनमें अपामार्गका गुण विषनाशक लिखा है । इस गुणके कारणही पूर्वोक्त घातक प्रयोगमें इस औषधिसे लाभ होता है । इस सूक्तके अन्य शपथादिके विषयमें पूर्व सूक्तमे प्रसंगमें लिखा जा चुका है, वही यहां समझना चाहिये ।

यहां इस सूक्तमें एक दो बातें सामान्य उपदेशके विषयमें बडी महत्त्वकी कही हैं जो हरएक पाठक को अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये—

सत्यसे रक्षा ।

ऋतये सत्यं कृणोमि । (सू० १८ । १)

“ रक्षाके लिये सत्यको किया है ” अर्थात् यदि रक्षा करनेकी इच्छा है तो सत्य पालन करना चाहिये । सत्यसे ही सबकी रक्षा होना सम्भव है । दूसरेका घातपात करनेवाले इस बातका स्मरण रखें की, इन घातक कृत्योंसे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती । सत्य पालन यह एक मात्र उपाय है जिससे उनकी उन्नति और रक्षा हो सकती है । सत्य प्रत्यक्ष सूर्यके समान है, प्रकाशपूर्ण होनेसे दिन भी सत्यरूपही है, इनसे जिस प्रकार अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार सत्यसे असत्यको दूर किया जाता है ।

दूसरेके घातके यत्नसे अपना नाश ।

द्वितीय मन्त्रमें यह बात अधिक स्पष्ट कर दी है कि " जो इस प्रकारके दुष्ट कृत्य करके दूसरोंको कष्ट देना चाहते हैं उनका ही नाश अन्तमें हो जाता है, जिस प्रकार बालक माताके पास जाता है उसी प्रकार उनका यह घातक बच्चा उन के ही पास जाता है । " (सू० १८ । २) यह बोध स्मरण रखने योग्य है षष्ठ मन्त्रमें यही बात दुहराई है " दुष्ट मनुष्यने जिनका बुरा करनेका यत्न किया उनका तो कल्याण हुआ, परन्तु उसी घातकको कष्ट हुआ । " (सू० १८।६) ऐसा ही हुआ करता है । इस लिये घातपातके भाव अच्छे नहीं हैं, क्योंकि अन्तमें उनसे उन दुष्टोंका ही नाश होजाता है । इस प्रकार १८ वे सूक्त का विचार हुआ । अब १९ वें सूक्त का विचार करते हैं—

असत्यसे नाश ।

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ (मं ६)

इस सूक्तमें छठे मंत्रमें असत्यसे कर्ताका ही कैसा नाश होता है यह बात विस्तार पूर्वक कही है । " पृथ्वीपर थोडा भी असत्य किया तो वह चारों ओर फैलता है, और वह कर्ताको कष्ट देता हुआ उसीका नाश करता है । (मं० ६) इस लिये कभी असन्मार्गसे जाना नहीं चाहिये । जगत्में सुख और शान्ति फैलानेका यह एक ही मार्ग है कि प्रत्येक मनुष्यको सिखाया जावे कि वह कभी असत्यमें प्रवृत्त न हो और सत्यपालनमें ही दत्तचित्त हो जावे ।

द्वितीयमंत्रमें अपामार्गका वर्णन करते हुए कहा है कि " जहां यह औषधि पहुंचेगी वहां कोई भय नहीं रहेगा " इतना इस आपामार्ग औषधिका महत्त्व है । तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें भी इसी औषधिकी प्रशंसा कही है । और शेष मंत्रोंमें काव्यमय वर्णन द्वारा इसी अपामार्ग वनस्पतिका गुणवर्णन किया है ।

वैद्योंको इन तीनों सूक्तोंका अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि यह उनका ही विषय है ।

दिव्य दृष्टि ।

(२०)

(ऋषिः- मातृनामा । देवता-मातृनामा)

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति ।
दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥ १ ॥
तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥
दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥

अर्थ- हे (देवि) दिव्य दृष्टिदेवी ! तू (तत् आपश्यसि) वह सब प्रत्यक्ष देखती है, (प्रति पश्यति प्रत्येक पदार्थको देखती है, (परा पश्यति)दूरसे देखती है,(पश्यति) और देखती है (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूमिको अर्थात् (सर्वं पश्यति) यह सह देखती है ॥ १ ॥

हे देवि ओषधे ! (तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवीः) तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक (इमाः च पृथक् षट् प्रदिशः) और ये पृथक् छः प्रदिशाएं और (सर्वा भूतानि) सब भूत इन सबको (अहं त्वया पश्यामि) मैं तेरे सामर्थ्यसे देखता हूं ॥ २ ॥

(तस्य दिव्यस्य सुपर्णस्य) उस दिव्य सूर्यकी (कनीनिका ह असि) छोटी प्रतिमा तू है । (सा) वह तू (भूमिं आरोहिथ) भूमिपर आगई है (श्रान्ता वधूः वह्यं इव) थकी हुई वधू जिसप्रकार रथपर बैठती है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे दिव्य दृष्टि ! तेरी कृपासेही सब ओर देखा जाता है, और त्रिलोकीके अंतर्गतके सब पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

इस औषधिके प्रयोगसे दृष्टि उत्तम होती है और जिससे त्रिलोक, सब दिशाएं और सब भूत आदिका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

सूर्यकी ही छोटीसी प्रतिमा यहां हमारा आंख है । जिस प्रकार कुलवधू थक कर रथमें बैठजाती है, उस प्रकार यह नेत्ररूपी कुलवधू थक कर इस शरीररूपी रथमें आकर बैठ गई है ॥ ३ ॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥
आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥
दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

अर्थ—(सहस्राक्षः देवः तां मे दक्षिणे हस्ते आदधत्) सहस्र नेत्रव सूर्यदेवने उस दृष्टिको मेरे दक्षिण हाथमें रखा है। (तया अहं स पश्यामि) उससे मैं सब देखता हूं (यः च शूद्रः उत आर्यः) जो शूद्र और जो आर्य है ॥ ४ ॥

(रूपाणि आविष्कृणुष्व) रूपोंको प्रकटकर (आत्मानं मा अप गूहथा अपनेको मत छिपा रख। (अथो) और हे (सहस्र-चक्षो) हजार नेत्रव हे देव ! (त्वं किमीदिनः प्रतिपश्याः) तू अब क्या भोगूं ऐसा कहनेवाल को देख ॥ ५ ॥

(मा यातुधानान् दर्शय) मुझको यातनादेनेवालोंको दिखा । (यातुध न्यः दर्शय) पीडक वृत्तियोंको दिखा । हे ओषधे ! तू (सर्वान् पिशाच दर्शय) सब रक्तपीनेवालोंको दिखा, (इति त्वा आरभे) इसलिये ते सहायता लेता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ- सूर्य देवने यह दर्शनशक्ति मुझे दी है जिससे मैं सब देख हूं और यह भी जानता हूं कि कौन श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है ॥ ४ ॥

दिव्य दृष्टिसे सब रूपोंका प्रकाश हो जावे, कोई इससे छिपकर न र कौन दुष्ट अपने स्वार्थ भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता है यह भी इस ज्ञात होवे ॥ ५ ॥

कौन कष्ट देनेवाले हैं, उनकी सहायकाएं कौन हैं, दूसरोंका रक्त चूसनेवाले कौन हैं, यह सब इसे ज्ञात हो जावे ॥ ६ ॥

कुश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥
उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥
यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥ ९ ॥

॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(कश्यपस्य चक्षुः असि) तू द्रष्टाकी आंख है, (चतुरक्ष्याः शुन्याः च) चार आंखवाली शुनीकी भी तू आंख है (वीध्रे सर्पन्तं सूर्यं इव) आकाशमें चलनेवाले सूर्यके समान (पिशाचं मा तिरस्करः) रुधिर पीनेवालेको मत छिपने दे ॥ ७ ॥

(किमीदिनं यातुधानं) आज क्या भोग करूं ऐसा कहनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको (परि-पाणात् उदग्रभं) रक्षासे मैंने पकडा है। (तेन) उससे (अहं सर्वं पश्यामि) मैं सब देखता हूं (उत शूद्रं उत आर्यं) कौन शूद्र है और कौन आर्य है ॥ ८ ॥

(यः अन्तरिक्षेण पतति) जो अन्तरिक्षसे चलता है(यः च दिवं अतिसर्पति) और जो द्युलोकको भी लांघता है (तं पिशाचं प्रदर्शय) उस रुधिरमें भी जानेवालेको दिखादे ॥ ९ ॥

भावार्थ- सच्चा द्रष्टा आत्मा है, वह आंखसे देखता है, वही चार विभागोंमें कार्य करनेवाली बुद्धिका भी आंख है ॥ ७ ॥

मैंने अपना रक्षाका प्रबंध ऐसा किया है कि कौन स्वार्थी भोगतृष्णाके लिये दूसरोंको कष्ट देते हैं इसका पता लग जावे । इससे मैं श्रेष्ठ और दुष्टको यथावत् जानता हूं ॥ ८ ॥

अन्तमें जो अन्तरिक्षमें चलता है, द्युलोकका भी उल्लंघन करता है और भूमिका भी जो नाथ है उसका दर्शन इसी दृष्टिसे हो जावे ॥ ९ ॥

मातृनाम्नी औषधि ।

संस्कृतमें ' माता ' नामवाली औषधियां अनेक हैं उनमें ' आखुकर्णी, महाश्रावणिका और घृतकुमारी ' ये तीन दृष्टिदोषका निवारण करनेवाली प्रसिद्ध हैं —

संस्कृत नाम	भाषामें नाम	गुण
१ आखुकर्णी	भोपली	(वैं० निघं) चक्षुष्या (नेत्रका बल बढानेवाली)
२ महाश्रावणिका	—	(रा० नि० व० ५) लोचनी (नेत्र बलवर्धक)
३ घृतकुमारी	घिकुमारी	(भा०) नेत्र्या (,,)

" माता " इन तीनोंका नाम है और ये तीनों औषधियां नेत्रके लिये हितकारक हैं। यहां इस सूक्तमें इनमेंसे कौनसी अपेक्षित है, इसका निश्चय करना सुविज्ञ वैद्योंका ही कार्य है। इस औषधिके प्रयोगसे नेत्रका बल बढाकर अति वृद्ध अवस्थातक नेत्र उत्तम कार्य करने योग्य अवस्थामें रखना अनुष्ठानी मनुष्यके लिये संभव है। यहां " माता और मातृनाम्नी " दोनोंका एकही आशय है।

पहिले दो मंत्रोंमें इस ' माता ' औषधिका तथा " दर्शनशक्ति "का वर्णन है। दृष्टिसे सब कुछ देखा जाता है और इस औषधीसे दृष्टि बलवती हो जाती है, इस लिये इस औषधिकी कृपासे, मानो, हरएक मनुष्य सब कुछ देख सकता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि हमारी दृष्टि सूर्य की पुत्री है, वह हमारे आत्माके साथ व्याही है। वह यहां अपने पतिके घर— इस जीवात्माके शरीररूपी घर–में आगई है। यहां आकर सुसरालका बहुत कार्य करनेसे थक गई है और थक जानेके कारण उसने विश्राम किया है अर्थात् वृद्धावस्थामें दृष्टि मन्द होगई है, इस समय इस ' माता ' औषधिके प्रयोगसे वह थकी हुई दृष्टि पुनः पूर्ववत् तरुणी जैसी हो सकती है।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि सहस्राक्ष सूर्य देवने यह दृष्टि हमें दी है; जिससे सब कुछ देखा जाता है। यहां स्थूल पदार्थोंके दर्शनसे भी और अधिक देखनेका वर्णन है जैसा ' आर्य और शूद्र ' त्वका ज्ञान भी प्राप्त करना। कौन मनुष्य श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है, इसकाभी विचार उसका बाह्य आचार देखनेसे विदित होजाता है यह तात्पर्य यहां है। वेदने यहां स्थूल देखते हुए सूक्ष्मका ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। पंचम और षष्ठ मंत्रकाभी यही आशय है। षष्ठ मंत्रका कथन है कि "यह दृष्टि वस्तुतः आत्माकी ही चक्षु है।" अर्थात् इस शरीरमें " द्रष्टा " अपना जीवात्मा है। वही इस आंखकी खिडकीसे बाहरके पदार्थ देखता है। इसलिये सच्चा चक्षु तो उसके पास है और यह हमारा नेत्र केवल खिडकी जैसा है। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि आत्माका अंतर्यामीका आंखही सच्चा आंख है, जो खुलना चाहिये। जीवात्माका नाम " कश्यप " अथवा 'पश्यक' है।

क्यों कि वही देखनेवाला है। उसके पास एक 'चार आंखवाली शुनी' अर्थात् कुत्ती है, जो इस शरीररूपी अध्यात्मक्षेत्रमें रक्षाका कार्य करती है, यह चार आंखवाली

कुत्ती हमारी बुद्धि है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार भूमिकाओंमें अपने चार आंखोंसे देखती है। इन प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें देखनेका उनका आंख भिन्न भिन्न है। यह वहांका यथार्थ ज्ञान देती है और वहां घातक शत्रु घुसने लगा तो उसको हटा देती है, और इन क्षेत्रोंको सुरक्षित रखती है। जब तक यह चार आंखवाली कुत्ती जागती है तब तक यहां सूर्यके प्रकाशके समान तेजस्वी प्रकाश होता है, जिस प्रकाशमें जिवात्मा अपने घातक वैरियोंको अलग करता हुआ अपने मार्गसे आगे बढता है। यहां इस सप्तम मंत्रने दृष्टिके चार क्षेत्र बताये हैं और सूचित किया है कि केवल इस स्थूल आंखको खुला रखनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत इन चार विभिन्न आंखोंको खोलनेका यत्न होना चाहिये और वहांकी अवस्था देखनेकी शक्ति लानी चाहिये। स्थूल दर्शन शक्तिकी अपेक्षा यहांकी दृष्टी बडी सूक्ष्म है जो सूक्ष्म बातोंको देखती है।

अष्टम मंत्रमें उपदेश दिया है कि पूर्वोक्त चार कार्य क्षेत्रोंमें (परि-पाणं) सुरक्षाका ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि वहां घातक दुष्ट कोई आगये तो उनको पकडकर एकदम दूर करना चाहिये। कभी घातक दुष्ट भाव वाले को अपने स्थूल सूक्ष्म कारण आदिमें घुसने देना नहीं चाहिये। जो मनुष्य अपने संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें इस प्रकार का सुरक्षाका प्रबंध करता है वह उन्नत होता है, अन्य गिर जाते हैं।

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि "जो प्रत्येक पदार्थके अन्दर विचरता है, जो द्युलोकके भी परे है और जो इस भूमिका एक मात्र स्वामी है उसको देख।" इसको देखना यह अन्तिम देखना है। इस परमात्माका दर्शन करना यह आन्तिम वस्तुका दर्शन करना है। इसका नाम 'पिशाच' कहा है 'पिशित+अश्‌' अर्थात् रक्तके प्रत्येक कण कणमें जो पहुंचा है। प्रत्येक पदार्थमें हरएक कणमें जो फैला है उसको देखना चाहिये। जिस समय उसका दर्शन होता है उस समय मनुष्यकी अन्तिम आंख खुल जाती है और यह मनुष्य दिव्य पुरुष हो जाता है। उस परमात्माका प्रत्यक्ष करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। यह अनुष्ठान करना चाहिये, जिस समय अन्दरकी पवित्रता होगी उसी समय उसके दर्शन होंगे।

वेदने यहां स्थूल पदार्थको दिखाते दिखाते, सूक्ष्म पदार्थोंको तथा सूक्ष्मतम परमात्माको भी दर्शानेका किस युक्तिसे प्रयत्न किया है यह पाठक अवश्य देखें। स्थूल नेत्र इंद्रिय का बल बढानेवाली 'माता' नामक औषधि आन्तरिक आंखोंकी शक्ति बढानेवाली भी "औषधि" ही है, परंतु यहां 'ओष+धी' (दोष+धी) दोषोंको धोकर अन्दर शुद्धि करना ओषधिका सांकेतिक तात्पर्य है। इस प्रकार अर्थके श्लेष का मनन करके पाठक इस सूक्तका उपदेश जानें।

गौ ।

(२१)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-गावः)

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥
इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ २ ॥

अर्थ- (गावः आ अग्मन्) गौवें आगई हैं और (उत भद्रं अक्रन्) उन्होंने कल्याण किया है। (गोष्ठे सीदन्तु) वे गोशालामें बैठें और (अस्मे रणयन्) हमें सुख देवें। (इह प्रजावतीः पुरुरूपा स्युः) यहां उत्तम वच्चोंसे युक्त बहुत रूपवाली हो जांय। (इन्द्राय उषसः पूर्वीः दुहानाः) और परमेश्वरके यजनके लिये उषःकालके पूर्व दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

(इन्द्रः यज्वने गृणते च शिक्षते) ईश्वर यज्ञकर्ता और सदुपदेश कर्ताको सत्य ज्ञान देता है। वह (इत् उप ददाति) निश्चय पूर्वक धनादि देता है (स्वं न मुषायति) और अपनेको नहीं छिपाता। (अस्य रयिं भूयः भूयः इत् वर्धयत) इसके धनको अधिकाधिक बढाता है और (देवयुं अभिन्ने खिल्ये निदधाति) देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले-को अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

भावार्थ- गौवें हमारे घरमें आगई हैं और उन्होंने हमारा कल्याण किया है। वह गौवें इस गोशालामें बैठें और हमारा आनंद बढावें। वह गौवें यहां बहुत वच्चोंसे युक्त और अनेक रंगरूपवाली होकर ईश्वर के यज्ञके लिये प्रातःकाल दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

ईश्वर सत्कर्म कर्ता और सदुपदेश दाताको उत्तम ज्ञान देता है और धनादि भी देता है तथा उसके सन्मुख अपने आपको प्रकट करता है। वह ईश्वर इस उपासकके धनकी वृद्धि करता है और देवत्वकी इच्छा करनेवाले भक्तको अपने ही अंदरके स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

न ता नंशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥३॥
न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः॥४॥
गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५

अर्थ-(ताः न नशन्ति) वह यज्ञकी गौवें नष्ट नहीं होती, (तस्करः दभाति) चोर उनको दबाता नहीं,(आसां व्यथिः आ दधर्षति) इनको व्यथा करनेवाला शत्रु इनपर अपना अधिकार नहीं चलाता (याभिः देवान् यजते) जिनसे देवोंका यज्ञ किया जाता है और (ददाति च) दान दिया जाता है (गोपतिः ताभिः सह ज्योक् इत् सचते) गोपालक उनके साथ चिरकालतक रहता है ॥ ३ ॥

(रेणुक-काटः अर्वा ताः न अश्नुते) पांवोंसे धूलि उडानेवाला घोडा इन गौवोंकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। (ताः संस्कृतत्रं न अभि उप यन्ति) वे गौवें पाकादि संस्कार करनेवालेके पास भी नहीं जातीं। (ताः गावः) वे गौवें (तस्य यज्वनः मर्त्यस्य) उस यज्ञ कर्ता मनुष्यकी (उरुगायं अभयं अनु विचरन्ति) बडी प्रशंसनीय निर्भयतामें विचरती हैं॥४॥

(गावः भगः) गौवें धन है, (गावः इन्द्रः) गौवें प्रभु हैं, (गावः प्रथमस्य सोमस्य भक्षः) गौवें पाहिले सोमरसका अन्न हैं (मे इच्छात्) या मैं जानता हूं। (इमाः या गावः) ये जो गौवें हैं। हे (जनाः) लोगो! (सः इन्द्रः) वही इन्द्र है। (हृदा मनसा चित् इन्द्रं इच्छामि) हृदयसे और मनसे निश्चय पूर्वक मैं इन्द्रको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- इन गौओंका नाश नहीं होता, चोर उनको नहीं चुराता है न इनको कोई कष्ट देता है। इनके दूधसे ईश्वरका यज्ञ किया जाता है। इस प्रकार गौओंका पालनकर्ता गौओंके साथ चिरकाल आनंदमें रहता है॥३॥ फुर्तीले घोडेको भी गायकी योग्यता प्राप्त नहीं होती। ये गौवें पकानेवालेकी पाक शालामें नहीं जातीं। ये गौवें यजमानकी निर्भय रक्षामें विचरती हैं ॥४॥ गौवेंही मनुष्यका धन, बल, और उत्तम अन्न है इसलिये मैं सदा गौवोंकी उन्नति हृदय और मनसे चाहता हूं ॥ ५ ॥

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥
प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥७ ॥

अर्थ-हे (गावः) गौओं ! (यूयं कृशं चित् मेदयथ) तुम दुर्बलको भी पुष्ट करती हो, (अ-श्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ) निस्तेज को भी सुंदर बनाती हो। हे (भद्रवाचः) उत्तम शब्दवाली गौवों ! (गृहं भद्रं कृणुथ) घरको कल्याणरूप बनाती हो इसलिये (सभासु वः बृहत् वयः उच्यते) सभाओंमें तुम्हारा बडा यश गाया जाता है ॥ ६ ॥

(प्रजावतीः) उत्तम बछडोंवाली (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम घासके लिये भ्रमण करनेवाली, (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम जल स्थानमें शुद्धजल पीनेवाली गौवों । (स्तेनः अघशंसः वः मा ईशत) चोर और पापी तुमपर अधिकार न करे। (वः रुद्रस्य हेतिः परिवृणक्तु) तुम्हारी रक्षा रुद्रके शस्त्रसे चारों ओर से होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ— अत्यंत दुर्बल मनुष्यको गौवें अपने दूधसे पुष्ट बनाती हैं। निस्तेज पांडुरोगीको सुंदर तेजस्वी करती हैं। गौवोंका शब्द कैसा आल्हाद दायक होता है। ये गौवें हमारे घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं, इसी लिये सभाओंमें गौओंके यशका वर्णन किया जाता है ॥ ६ ॥

गौवें उत्तम बछडोंसे युक्त हों, वे उत्तम घास खा जांय, शुद्ध स्थानका पवित्र जल पीयें। कोई पापी या चोर उनका स्वामी न बने और वे सर्वदा सुरक्षित रहें ॥ ७ ॥

गौका सुंदर काव्य ।

यह सूक्त गौका अत्यंत सुंदर काव्य है । इतना उत्तम वर्णन बहुतही थोडे स्थानपर मिलेगा । गौका महत्त्व इस काव्यमें अति उत्तम शब्दों द्वारा बताया है । जो लोग गौका यह काव्य पढेंगे, वे गौका महत्त्व जान सकते हैं । गौ घर की शोभा, कुटुंबका आरोग्य बल और पराक्रम तथा परिवारका धन है, यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है ।

गौ घरकी शोभा है।

इस विषयमें निम्न लिखित मंत्रभाग देखिये—

(१) गावः भद्रं अक्रन्। (मं० १)

(२) गावः ! भद्रं गृहं कृणुथ। (मं० ६)

"गौवें घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं।" अर्थात् जिस घरमें गौवें रहती हैं वह घर कल्याणका धाम होता है। जो पाठक गौका महत्त्व जानेंगे वे इस बातकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं।

पुष्टि देनेवाली गौ।

मनुष्यकी पुष्टि बढानेवाली गौ है, इस लिये हरएक घरमें गौका निवास होना चाहिये। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये—

(१) गावः अस्मे रणयन्। (मं० १)

(२) गावः ! यूयं कृशं चित् मेदयथ। (मं० ६)

अश्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ। (मं० ६)

" गौवें हमें रमणीय बनाती हैं। कृश मनुष्यको गौवें पुष्ट बनाती हैं। निस्तेजको सतेज करती हैं।" इसी लिये घरमें गौ रखनी चाहिये और हरएकको उस गौ माताका दूध पीना चाहिये। तथा उसकी उत्तम सेवा करना चाहिये। हरएक गृहस्थीका यह अवश्यक कर्तव्य है।

गौ ही धन, बल और अन्न है।

मनुष्यको धन, बल और अन्न गौ ही देती है। सब यश गौसे प्राप्त होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र भाग देखिये—

(१) गावः भगः। गावः इन्द्रः। गावः सोमस्य भक्षः।

इमाः याः गावः स इन्द्रः। (मं- ५)

"गौवें धन हैं, गौवें ही इन्द्र (बलकी देवता) हैं, गौवें ही (दूध देनेके कारण) अन्न हैं। जो गौवे हैं वही इन्द्र है।" गौवोंको 'धन' कहा ही जाता है। महाराष्ट्रमें गौका नाम 'धण' है, यह धन शब्द का ही अपभ्रष्ट रूप है। धनकी देवता वेदमें भग है, वह गौके रूपमें हमारे पास आगई है। जो लोग गौको अपने घरमें स्थान नहीं देते वे मानो, धन को ही अपने घरसे बाहर निकाल देते हैं।

'इन्द्र' देवता बल, पराक्रम और विजयकी है। वही गौके रूपमें हमारे घर में आती है। जो कोई अपने घरमें गौका पालन नहीं करता वह, मानो, बल पराक्रम और विजय कोही दूर करता है।

अन्नकी देवता 'सोम' है वही गौके रूपमें हमारे पास आती है। गौ स्वयं दूध देती है जिससे दही, छाछ, मक्खन, घी आदि अमृतरूप पदार्थ बनते हैं। बैलके यत्नसे अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार गौ हमारा अन्नका प्रबंध करती है। ऐसी उपयोगी गौको जो लोग अपने घर नहीं पालते वे, मानो, अन्नको ही दूर करते हैं। इस प्रकार गौके पालनसे धन बल और अन्न प्राप्त होता है और गौको न पालनेसे दारिद्र्य, बल-हीनत्व और योग्य अन्नका अभाव इनकी प्राप्ति होती है। इससे पाठक ही विचार करें कि गोपालनसे कितने लाभ हैं और गौको न पालनेसे कितनी हानियां हैं। यदि बलवान्, धनवान, यशस्वी, प्रतापी होनेकी इच्छा है, तो गौको पालना चाहिये, और गौका दूध प्रतिदिन पीना चाहिये।

यज्ञके लिये गौ।

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ और यज्ञकी सांगता के लिये गौ होती है। वैदिक धर्ममें जो कुछ किया जाता है वह परमात्मा के नामसे और यज्ञके नामसे ही किया जाता है। सब कर्मका अन्तिम फल मनुष्यकी उन्नति ही है, परंतु उसका सब प्रयत्न 'यज्ञ' के नामसे होता है। गौका दूध तो मनुष्य ही पीते हैं, परंतु घरमें गौका पालन यज्ञकी सांगता के लिये किया जाता है, अपना पेट भरनेके लिये नहीं। यह त्याग की शिक्षा वैदिक धर्ममें इस प्रकार दी जाती है। प्रथम मंत्रमें 'उषाके समय गौ दूध देती है और उस दूधसे इन्द्रका यज्ञ होता है,' ऐसा जो कहा है इसका हेतु यही है। यज्ञका शेष घृत दूध आदि मनुष्य पीते हैं। परंतु वह भोगके हेतु से नहीं पीते, परंतु 'ईश्वरका प्रसाद' मानकर पीते हैं। गौ परमेश्वर के यज्ञके लिये है, उसका प्रसाद रूप दूध पीया जाता है। इतने विश्वाससे और भक्तिसे यदि दूध पीया जाय तो वह निःसन्देह अत्यंत लाभकारी होगा।

इस यज्ञसे "देव भी मनुष्यके लिये धन बल ज्ञान आदि देता है और अपने पासके स्थिर धाममें उसको रखता है।" (मं० २)

यह द्वितीय मंत्रका कथन है। यज्ञके करनेसे सब कर्म करनेसे यह लाभ होना स्वाभाविक है। तृतीय मंत्रका कथन है कि 'यज्ञके लिये गौ होती है, इस लिये उसका नाश नहीं होता, रोग उसको कष्ट नहीं देता, चोर उसको चुराता नहीं, शत्रु उसको

सताता नहीं, ऐसी सुरक्षित अवस्थामें गौवें यजमानके पास रहती हैं, यजमान देवोंकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ करता है और उसीसे उसके पास गौवोंकी संख्या बढ जाती है।' चतुर्थ मंत्रमें भी गौका महत्त्व ही वर्णन किया है। ' घोडा गौ जैसा मनुष्य के लिये उपयोगी नहीं है, गौवें पाकसंस्कार करने वालेके पास कभी नहीं जातीं, वे गौवें यजमान की विस्तृत रक्षामें रहती हैं और आनंदसे विचरती हैं। " यह सब वर्णन गौका यज्ञके लिये उपयोग होता है यही बात बता रहा है।

अवध्य गौ।

ऐसी उपयोगी गौ है, इस लिये वह अवध्य होनी ही चाहिये। इस विषयमें शंका नहीं हो सकती। इस चतुर्थ मंत्रमें यही बात विशेष स्पष्टतापूर्वक कही है। देखिये—

तस्य यज्वनः मर्तस्य उरुगायं अभयं ताः गावः
अनु विचरन्ति। (मं० ४)

"उस याजक मनुष्यके बहुत प्रशंसनीय निर्भयतामें वे गौवें विचरती हैं।" अर्थात् यज्ञकर्ता यजमानके पास गौवें निर्भयतासे रहतीं हैं, वहां उनको किसी भी प्रकार कोई पीडा दे नहीं सकता। गौवोंके लिये यदि कोई अत्यन्त निर्भय स्थान हो सकता है तो वह यजमानका घर ही है। यह वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि 'यजमान गौको काटकर उसके मांसका हवन करता है' यह मिथ्या कल्पना है। गोमेधमें भी गोमांस हवनका कोई संबंध नहीं है, इसविषयमें इसी मंत्रका तृतीय चरण देखने योग्य है—

ताः गावः संस्कृतत्रं न अभि उपयन्ति। (मं० ४)

"वे गौवें मांससंस्कार करनेवालेके पास नहीं जाती। " अर्थात् गौके मांसका पाक संस्कार कोई नहीं करता यहां 'संस्कृतत्र' शब्द है। 'संस्कृतः' का अर्थ है अच्छी प्रकार "काटने वाला" यहां 'कृत्' धातुका अर्थ काटना है। काटे हुए मांसको पकानेवाला जो होता है उसका नाम 'संस्कृत+त्र' है। जो पशुको काटते हैं और जो पशुको पकाते हैं उनके पास कभी गौ नहीं पंहुचती। अर्थात् गौके मांसका यज्ञमें या पाकमें कहीं भी संस्कार नहीं होता है। गोमांसके हवनका तथा गोमांसके भक्षणका यहां पूर्ण निषेध है। गौवें यजमान की विस्तृत रक्षामें रहती हैं, इसलिये यज्ञमें गोवध, गोमांस हवन अथवा गोमांससंस्कार भी संभवनीय नहीं है। इस मंत्रने इतनी तीव्रताके साथ गोमांस संस्कार का निषेध किया है कि इसको देखनेके पश्चात् कोई यह नहीं कह सकता है कि वेदके गोमेधमें गोमांस हवन का संबंध है।

उत्तम घास और पवित्र जलपान।

यजमान यज्ञके लिये गौकी रक्षा करता है इसलिये वह उनकी पालनाका बडा प्रबंध करता है। यह प्रबंध किस प्रकार किया जाय इस विषयमें अन्तिम मंत्र देखने योग्य है।

(गावः) सूयवसे रुशन्तीः।
सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्तीः॥ (मं० ७)

"गौवें उत्तम घास खावें और उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीवें।" शुद्ध घास खाने और शुद्ध जल पीनेसे गौकी उत्तम रक्षा होती है। इस प्रकार गौकी रक्षा करें और गौके दूध से सब पाठक हृष्ट पुष्ट बलिष्ट यशस्वी तेजस्वी प्रतापी और दीर्घायु हों।

गौकी पालना।

गौकी पालना कैसी करनी चाहिये इस विषयका उत्तम उपदेशभी इनही मंत्रोंसे हमें मिलता है। "उत्तम स्थानका शुद्ध जल गौको पिलाना चाहिये" यह वेदकी आज्ञा है। शुद्ध जल हो और वह उत्तम स्थानका हो। पाठक यह स्मरण रखें कि गौ जो खाती है और जो पीती है उसका परिणाम आठ दस घण्टोंमें उसके दूधपर होता है, यह नियम है। जलका भी यह नियम है कि वह स्थान के गुणदोष अपने साथ ले जाता है। हिमालय के पहाडोंसे आनेवाला जल दस्त लानेवाला होता है, कई स्थानोंका कब्जी करनेवाला और कई स्थानोंका ज्वर उत्पन्न करनेवाला होता है। इसकारण गौको अच्छे आरोग्य पूर्ण जलस्थान का शुद्ध जल ही पिलाना चाहिये, जिससे दूधमें अच्छे अच्छे गुण आ जावें और उस दूधको पीनेवालोंको अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त होवे।

घासभी अच्छी भूमिका होना चाहिये और (सु-यवस्) उत्तम जौ आदिका होना चाहिये। बुरे स्थानका बुरी प्रकार उत्पन्न हुआ नहीं होना चाहिये। कई लोग गौको ऐसी बुरी चीजें खिलाते हैं कि उससे अनेक दोषों से युक्त दूध उत्पन्न होता है। गौवें मनुष्य के शौच आदिको भी खाती हैं। यह सब दोष उत्पन्न करनेवाला है। उत्तम घास और शुद्ध जल खा पी कर गौसे जो दूध उत्पन्न होगा वही आरोग्य वर्धक होगा। गौ पालने वाले इन निर्देशोंसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

क्षात्रबल संवर्धन।

(२२)

(ऋषिः–वसिष्ठः, अथर्वा वा। देवता–इन्द्रः)

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥ २ ॥

अर्थ-हे इन्द्र ! तू (मे इमं क्षत्रियं वर्धय) मेरे इस क्षत्रियको बढा, और (मे इमं विशां एकवृषं त्वं कृणु) इस मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् तू कर। (अस्य सर्वान्) अमित्रान् निरक्ष्णुहि) इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और (अहं-उत्तरेषु) मैं-श्रेष्ठ मैं-श्रेष्ठ इस प्रकारकी स्पर्धामें (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु आभज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोडों और गौवोंमें योग्य भाग दे। (यः अस्य अमित्रः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दें। (अयं राजा क्षत्राणां वर्ष्म अस्तु) यह राजा क्षात्रगुणोंकी मूर्ती होवे। हे इन्द्र ! (अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेज को बढा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें आद्वितीय बलवान् कर। इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्बल हो जावें और सब स्पर्धाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रत्येक ग्राममें, घोडों और गौओंमें से इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो। इस के शत्रु निर्बल बन जांय। यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियोंकी मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें ॥ २ ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥
अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम ॥४ ॥
युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोंका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे । हे इन्द्र ! (अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि) इसमें बडे तेजोंको स्थापन कर । (अस्य शत्रुं अवर्चसं कृणुहि) इसके शत्रुको निस्तेज कर ॥ ३ ॥

हे द्यावापृथिवी ! (घर्मदुघे धेनू इव) धारोष्ण दूध देनेवाली दो गौवोंके समान (अस्मै भूरि वामं दुहाथां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो । (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः) गौ पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

(ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनज्मि) तेरे साथ श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुको मैं संयुक्त करता हूं । (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है । (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुझको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान और (उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

भावार्थ-इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके तेज बढें और इसके सब शत्रु फीके पडें ॥ ३ ॥

ये दोनों द्यावा पृथिवी लोक इसको सब प्रकारके धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने । ईश्वर, मनुष्य, पशुपक्षी और औषधीयोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक संबंध जोड दें, जिससे इनका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे । यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान और मनुष्यों के सब राजोंमें श्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

अर्थ-हे राजन्! (त्वं उत्तरः) तू अधिक ऊंचा हो, (ते सपत्नाः) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (अधरे) नीचे होवें। तू (एक वृषः) अद्वितीय बलवान, (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रु जैसा आचरण करनेवालोंके भोजनके साधन यहां ला ॥ ६ ॥

(सिंहप्रतीकः सर्वाः विशः अद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर। (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अव बाधस्व) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटादे। (एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान्) अद्वितीय बलवान, प्रभुका मित्र, और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि आ खिद) शत्रूकेसमान व्यवहार करनेवालोंके भोजनके साधन छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

भावार्थ-यह राजा उंचा बने और इनके सब शत्रु नीचे हों। यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बन कर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओंको दूर करे। अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ॥ ७ ॥

स्पर्धा।

'अहं-उत्तरेषु' यह शब्द प्रथम मंत्रमें है। यह स्पर्धाका वाचक है। 'मैं सबसे ऊंचा होऊं' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबसे आगे बढूं, मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूं, मैं सबसे अधिक यश, धन प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापी यशस्वी और समर्थ बनूं। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उपयोग करके मनुष्य उच्च हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होनेके लिये अपने शत्रुओंसे अपना बल बढाना चाहिये। शत्रुने जितनी विद्या, बल, कला और हुनर

ाप्त किया है उससे अपनी विद्या, बल, कला और हुनर बढ जानेसे ही मनुष्यकी उन्नति ा सकती है। उन्नति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंका यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजा का बल बढानेका उपदेश दे रहा है। सब जगत्‌में अपना राष्ट्र अग्र स्थानमें रहने योग्य उन्नत करना हरएक राजाका आवश्यक कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु होंगे, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके वीरोंको उन्नत करनेसे उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बडे विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि 'अहं-उत्तरेषु' यह मंत्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊंगा, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रों-के अग्रभागमें रहेगा, इस की सिद्धि के लिये हरएक के प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धिकी पराकाष्ठा करके अपने आपको और अपने राष्ट्र-को उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव 'अहं-उत्तरेषु' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसा क्षात्रतेज रहता है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता ही है। इस गुण-का उत्कर्ष करना चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्य-क्षेत्रमें किसी प्रकार की भी असमर्थता न हो। "विशां एक वृषं कृणु त्वं।"(मं. १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू हो, यह अंदरका तात्पर्य इस मंत्रमें है। यही विजयकी कूंजी है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बल की वृद्धि करे। यह बल चार प्रकार का होता है, ज्ञानबल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकार का बल अपने राष्ट्रमें बढा बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत् में अग्र स्थानमें लाकर ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहां दूसरोंको गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय उद्धार करनेका उच्च उपदेश यहां है। दूसरेभी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावट की स्पर्धा न हो। मंत्रका पद 'अहं-उत्तरेषु' है न कि 'अहं-नीचेषु'। पाठक इस दिव्य उपदेशका अवश्य मनन करें।

यह सूक्त अत्यंत सरल है और मंत्रका अर्थ और भावार्थ पढनेसे सब आशय मनके सामने खडा हो सकता है, इस लिये इसके स्पष्टीकरण के लिये अधिक लिखनेकी आव-श्यकता नहीं है।

पाप मोचन ।

(२३)

(ऋषिः- मृगारः । देवता- प्रचेता अग्निः)

अ॒ग्नेर्म॑न्वे प्रथ॒मस्य॒ प्रचे॑तसः पाञ्च॑जन्यस्य बहु॒धा यमि॒न्धते॑ ।
विशो॑विशः प्रविशि॒वांस॑मीमहे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥
यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवे॒दो यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पय॑सि प्रजा॒नन् ।
ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ २ ॥

अर्थ- (यं बहुधा इन्धते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं उस (पाञ्चजन्यस्य प्रचेतसः प्रथमस्य अग्नेः) पंच जनोंमें निवास करने वाले विशेष ज्ञानी और सबमें प्रथमसे वर्तमान प्रकाशक देवताका (मनमें मनन करता हूं । (विशः विशः प्रविशि-वांसम् ईमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएको हम प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेदः) उत्पन्न हुए पदार्थमात्रको जाननेवाले ! (यथा हव्यं वहसि) जिस प्रकार तू हवनको पंहुंचाता है और (प्रजानन् यथा यज्ञं कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एव देवेभ्यः सुमतिं नः आवह) उसी प्रकार देवोंसे उत्तम मतिको हमारे पास ले आ और (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ-पांचों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येक के हृदय में ठहरकर प्रकाश देनेवाले परमात्माको हम प्राप्त करते हैं वो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जिस प्रकार हवन किये हुए हवन द्रव्योंको अग्नि सब देवोंके पास पहुंचाता है उसी प्रकार वह महान् देव सब दिव्य भावनाओंके पास ... में सुमति हमारे अंतःकरणोंमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ।

यामंन्यामन्नुपंयुक्तं वहिंष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभंगमग्निमीडे ।
रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुंतं स नों मुञ्चत्वंहंसः ॥ ३ ॥
सुजातं जातवेंदसमुग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स नों मुञ्चत्वंहंसः ॥ ४ ॥
येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रों जिगाय स नों मुञ्चत्वंहंसः ॥ ५ ॥

अर्थ-(यामन् यामन् उपयुक्तं) प्रत्येक समयमें उपयोगी (कर्मन् कर्मन् आभगं) प्रत्येक कर्ममें भजनीय, और (वहिष्ठं) अत्यंत बलवान् (अग्निं ईडे) सर्व प्रकाशक देवकी मैं स्तुति करता हूं। वह (रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं) राक्षसोंका नाशक, यज्ञको बढानेवाला, यज्ञमें घृतकी आहुतियां जिसके लिये दी जाती हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३॥

(सु जातं जातवेदसं) उत्तम प्रसिद्ध, बने हुए विश्वको जाननेवाले, (विभुं वैश्वानरं) सर्वव्यापक विश्वके नेता और (हव्यवाहं हवामहे) अन्नके देनेवाले प्रभुकी हम प्रार्थना करते हैं कि (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(येन युजा ऋषयः बलं अद्योतयन) जिसकी सहायतासे ऋषिलोग बल प्रकाशित करते आये हैं, (येन असुराणां मायाः अयुवन्त) जिसकी सहायतासे राक्षसोंकी कपटयुक्तियोंको दूर किया, (येन अग्निना इन्द्रः पणीन् जिगाय) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने आसुरी व्यवहार करनेवालोंको जीता था (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५॥

भावार्थ-प्रत्येक समय सहायता देनेवाला, हरएक कर्म में सेवा करने योग्य, बलवान, प्रकाशक, दुष्टोंको दूर करनेवाला, यज्ञकी वृद्धि करनेवाला और जिसके लिये यज्ञमें आहुतियां दी जाती हैं वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ३

उत्तम प्रसिद्ध, सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, सबको चलानेवाला, अन्नका दाता जो एक ईश्वर है उसीकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमें पापसे बचावे ४

ऋषि लोग जिसके पाससे बल प्राप्त करते हैं, जिस की सहायतासे देव असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आधारसे कुटिल व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

येन॑ दे॒वा अ॒मृत॑म॒न्ववि॑न्द॒न्येनौष॑धी॒र्मधु॑मती॒रकृ॑ण्वन् ।
येन॑ दे॒वाः स्व॑१॒ राभ॑र॒न्त्स नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ६ ॥
यस्ये॒दं प्र॒दिशि॒ यद्वि॒रोच॑ते॒ यज्जा॒तं ज॑नित॒व्यं॑ च॒ केव॑लम् ।
स्तौम्य॒ग्निं ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(येन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्त किया, (येन ओषधीः मधुमतीः अकृण्वन्) जिसके योगसे औषधियोंको मधुर रसवाली बनाया है, (येन देवाः स्वः आभरन्त) जिसके आश्रयसे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यस्य प्रदिशि इदं केवलं) जिसके शासनमें यह विश्व किसी अन्यकी अपेक्षा न करता हुआ रहा है (यत् विरोचते) जो इस समय प्रकट हो रहा है (यत् जातं जनितव्यं च केवलं) जो पहिले बनाथा और जो भविष्यमें केवल बनेगा, (नाथितः अग्निं स्तौमि जोहवीमि) सनाथ होता मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूं (सः नः अंहसः पातु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ- जिसकी सहायतासे देवतालोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसने औषधियां मधुर रसवाली बनायी हैं, जिसने देवतालोगोंमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत भविष्य और वर्तमान समयों में प्रकाशित होनेवाला यह संपूर्ण विश्व जिस के शासन में रहता है उसकी मैं स्तुति प्रार्थना और उपासना करके याचना करता हूं कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे मुक्ति ।

मनुष्यमें पापका भाव रहता है जो हरएक की उन्नति के पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है । इस लिये पाप भावसे बचनेका उपाय हरएकको करना चाहिये। यहां २३—२९ ये सात सूक्त इसी उद्देश्यके आगये हैं, इन सातोंका ऋषि 'मृगार' है। इस ऋषिके नामका अर्थ "आत्मशुद्धि करनेवाला" ऐसा है । इस २३ वें सूक्तमें अग्नि नामसे बोधित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मुक्त होनेका उपदेश है । इस पृथ्वीपर पहिली प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली शक्ति 'अग्नि है' 'अग्निमें प्रकाशकताका गुण तथा अन्यान्य गुण जो

विद्यमान हैं वे जिस परमेश्वरने रखे हैं वही सच्चा अग्निका अग्नि है। इस दृष्टिसे यहां अग्नि पदका प्रयोग किया गया है। जो देव सबसे पहिला है अर्थात् जिसके पूर्वका कोई देव नहीं, जो ज्ञानी है, जो पञ्चजनोंके हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अंदर जो प्रविष्ट हुआ है, जो यज्ञका बढानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे हमारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी पूजाके लिये किया जाता है, जो दुष्टोंको दूर करता है और यज्ञद्वारा जो सज्जनोंका संगतिकरण करता है, इस प्रकार दुष्टोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ संपूर्ण जगत् का जो चालक है, जिसके लिये जैसा अन्न चाहिये वैसा उसके लिये जो उत्पन्न करता है, ज्ञानी लोग जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय वीर जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, दुष्ट रीतिसे व्यवहार करनेवालोंका जिसकी व्यवस्थासे पराभव होता है, जो सबको अमृतत्त्व देता है, जिसने औषधियोंमें विविध मधुर रस रखे हैं, जिससे आत्मिक बल प्राप्त होता है, और जिसका शासन सब भूत, भविष्य, वर्तमान संसारपर अबाधित रीतिसे चलता है अर्थात् जिसके शासनमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं है वह एकही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसकी उपासना हम करते हैं, वह हमें निश्चय पूर्वक पापसे बचावेगा। उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंकी धारणा अपने अंदर करनेसे ही जो शुभ भावनाएं मनमें स्थिर होती हैं उससे पाप प्रवृत्ति हट जाती है। इस लिये परमेश्वर उपासना मनुष्यकी अन्तः शुद्धि करती है ऐसा कहते हैं वह बिलकुल सत्य है।

इस अग्निकी विभूति मनुष्यके अंदर वाणीका रूप धारन करके रहती है 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्रविशत्' ऐसा ऐतरेय उपनिषद् में कहा है। इससे वाणीसे पाप न करनेका निश्चय करना चाहिये। विचार उच्चार और आचार यह क्रम है, मनसे विचार होता है, पश्चात् वाणीसे उच्चार होता है और नंतर शरीरसे कर्म होता है। इससे स्पष्ट है कि विचारके पश्चात् उच्चारका पातक होता है। पाठक अपने ही पासके संसारमें देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वाणीका प्रयोग ठीक रीतिसे न होनेके कारन ही जगत् में कितने झगडे और पाप हो रहे हैं। यह बात तो सबके परिचयकी है कि वाणी का योग्य उपयोग करनेसे प्रचंड अनर्थ टल जाते हैं। इस लिये जो पापसे बचना चाहते हैं वे अपने वाणीको सबसे पहले शुद्ध करें और पापसे बचें।

अब अगला सूत्र देखिये—

(२४)

(ऋषिः– मृगारः । देवता– इन्द्रः)

इंद्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः ।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥
यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ-(इन्द्रस्य मन्महे) इन्द्रका हम ध्यान करते हैं (अस्य वृत्रघ्नः इत् शश्वत् मन्महे) इस शत्रुनाशक प्रभुका निश्चयसे हम सदा ध्यान करते हैं, (इमे स्तोमाः मा उप मा अगुः) ये इसके स्तोम मेरे पास आगये हैं। (यः दाशुषः सुकृतः हवं एति) जो दानी सत्कार्यके कर्ता के पुकार को सुनकर आता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः उग्रबाहुः) जो बलवान वीर (उग्राणां ययुः) प्रचण्ड वीरोंकाभी चालक है और जो (दानवानां बलं आरुरोज) असुरोंके बलको तोड देता है (येन सिन्धवः गावः जिताः) जिसने नदियां और गौवें जीतकर वश में की हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

(यः चर्षणिप्रः वृषभः स्वर्विद्) जो मनुष्योंको पूर्ण करनेवाला, बलवान् और आत्मिक प्रकाशको पास रखनेवाला है (ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति) ये पत्थर जिसके पास बल है ऐसा कहते हैं, (यस्य सप्त होता

भावार्थ—सब जगत् के प्रभुका हम ध्यान करते हैं, उसके गुणोंका हम मनन करते हैं, वह शत्रुओंका नाश करनेवाला प्रभु है उसके प्रशंसाके स्तोत्र ही हमारे मनके सन्मुख आते हैं। निःसंदेह वह सत्कर्म करनेवाले दानी महोदयकी प्रार्थना सुनता है। वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जो बलवान् प्रभु वीरोंको भी वीर्य देनेवाला है, दुष्टोंके बलका जो नाश करता है, जिसका अमृत रस धारण करती हुई नदियां और गौवें इस पृथ्वीपर विचरती हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

जो मनुष्योंको पूर्ण बनानेवाला बलवान् और आत्मशक्तिका ज्ञाता

यस्यं वुशासं ऋपुभासं उक्षणो यस्मैं मीयन्ते स्वरंवः स्वुर्विदें ।
यस्मैं शुक्रः पवंते ब्रह्मशुम्भितः स नों मुञ्चुत्वंहंसः ॥ ४ ॥

यस्यु जुष्टिं सोमिनः कामयंन्ते यं हवंन्त इषुंमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नुर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नों मुञ्चुत्वंहंसः ॥ ५ ॥

अध्वरः मदिष्ठः) जिसके सात होतागण जिसमें कार्य करते हैं ऐसा अहिंसामय यज्ञ अत्यंत आनन्द देनेवाला है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(यस्य वशासः ऋषभासः उक्षणः) जिसके कार्यके लिये गौवें, बैल और सांड होते हैं, (यस्मै स्वर्विदः स्वरवः मीयन्ते) जिस आत्मिक बलवाले-के लिये सब यज्ञ होते हैं (यस्मै ब्रह्मशुम्भितः शुक्रः पवते) जिसके लिये वेदोच्चारसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(सोमिनः यस्य जुष्टिं कामयन्ते) सोमयाजक जिसकी प्रीतिकी इच्छा करते हैं, (यं इषुमन्तं गविष्टौ हवन्ते) जिस शस्त्रवालेको इच्छापूर्तिके लिये पुकारते हैं (यस्मिन् अर्कः शिश्रिये) जिसमें सूर्य आश्रय लेता है (यस्मिन् ओजः) जिसमें बल रहा है (सः नः अंहसः मुंचतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

है। साधारण पत्थर भी जिसके बलकी प्रशंसा करते हैं और जिसके लिये सब यज्ञ चलाये जाते हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

जिसके यज्ञकर्ममें गौ, बैल आदि पशु भी अपना बल लगाते हैं, जिस-के आत्मिक बलके लिये ही अनेक यज्ञ किये जाते हैं, जिसके यज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

जिसकी संतुष्टिके लिये सोमयाजक यज्ञ करते हैं, जिसकी प्रार्थना अपनी इच्छा पूर्तिके लिये की जाती है, जिसके आधारसे सूर्य तेजसे गोल रहे हैं इतना प्रचंड बल जिसमें है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

यः प्र॑थ॒मः क॑र्म॒कृत्या॑य ज॒ज्ञे यस्य॑ वी॒र्यं॑ प्रथ॒मस्यानु॑बुद्धम् ।
येनोद्य॑तो वज्रो॑ऽभ्याय॑ता॒हिं स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ६ ॥
यः सं॑ग्रा॒मान्नय॑ति॒ सं यु॒धे व॒शी यः पु॒ष्टानि॑ संसृ॒जति॑ द्व॒यानि॑ ।
स्तौमीन्द्रं॑ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे) जो पहिला कर्म करने के लिये ही प्रकट हुआ है। (यस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धम्) जिस अद्वितीय देव का पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है (येन उद्यतः वज्रः अहिं अभ्यायत) जिससे उठाया वज्र शत्रु का सब प्रकारसे हनन करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यः वशी संग्रामान् युधे सं नयति) जो वश में रखने वाला योद्धाओं के समूहोंको युद्ध करनेके लिये चलाता है (यः द्वयानि पुष्टानि संसृजति) जो दोनों पुष्टोंको संगतिके लिये छोडता है इस प्रकारके (इन्द्रं नाथितः स्तौमि) प्रभुकी उस नाथके वश में रहता हुआ मैं स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उसको बारबार पुकारता हूं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बजावे ॥ ७ ॥

भावार्थ-जो जगद्रूपी कार्य करनेके लियेही पहलेसे प्रकट हुआ है, इस कार्यसे जिसका बल जाना जाता है, जिसके वज्रके सन्मुख कोई शत्रु खडा नहीं रह सकता, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

जो सबको वशमें रखता है, जो धर्मयुद्धके लिये प्रेरित करता है, जो दोनों बलवानोंको मित्रता करनेके लिये प्रेरित करता है, उसकी आज्ञामें रहता हुआ मैं उसकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे बचाव।

अग्निके उद्देश्यसे परमात्माकी प्रार्थना गत सूक्तमें की गई, अब इस सूक्तमें परमेश्वरकी प्रार्थना इन्द्र नामसे की गई है। इन्द्र बलकी देवता है, सबमें जो बलका संचार होता है वह इन्द्रके प्रभावसे ही है। इन्द्रके बलसे ही सब बलवान हुए हैं। बलके बिना कृमिकीट पतंग भी नहीं ठहर सकते यह दर्शानेके लिये तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति। (मं० ३)

" ये पत्थर बल जिसके लिये कहते हैं। " अर्थात् बलके लिये जिसकी प्रशंसा करते हैं। बल इसीके पाससे प्राप्त होता है ऐसा निश्चयपूर्वक बताते हैं। पत्थर कहते हैं कि अपने अंदर जो बल है, जो दृढता है, और जो शक्ति है वह उसीकी है। जिस प्रभुके लिये ये सब यज्ञ होते हैं। यह साक्षी जैसी पत्थर देते हैं इसी प्रकार हरएक पदार्थ दे सकता है क्यों कि हरएक पदार्थका बल उसीसे प्राप्त हुआ होता है।

यह ईश्वर (प्रथमः) आदि देव है और इसका प्रकट होना (कर्मकृत्याय) इस जगद्रूपी कर्म करनेके लिये ही है अर्थात् यह प्रकट होकर जगद्रूपी कार्य करता है किंवा इस जगद्रूपी बडे कार्यको देखनेसेही उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है और (अस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) इस आदिदेवके बल और पराक्रमका ज्ञान हो सकता है। यदि यह बडा कार्य सन्मुख न आया तो किसको कैसा उसका पता लग सकता है। यह प्रचंड सामर्थ्य इसी प्रभुका है इस लिये कोई शत्रु इसके सन्मुख खडा रह नहीं सकता। यह तो—

उग्राणां उग्रबाहुः। (मं० २)

' वह उग्रवीरोंको भी वीर्य देनेवाला बाहुबलशाली वीर है " अर्थात् हमारे उग्रसे उग्र जो वीर हैं वे उसके वीर्यसे वीर्यवान् हुए हैं, उसके बलसे बलिष्ठ और उसके सामर्थ्यसे समर्थ बने हैं। यह अनुभव यदि वीर पुरुष करेंगे तो उनकी समर्थता विशेष प्रभावशाली होगी। इस लिये निवेदन है कि कोई अपने बलकी घमंडसे दूसरोंको कष्ट न पहुंचावे। जिस बलके कारण उसके मनमें घमंड उत्पन्न होती है वह बल तो उसी प्रभुका है, यदि वह अपना बल वापस लेगा तो फिर किस बलके कारण ये लोग घमंड करेंगे? इसका विचार करके अपने बलसे दूसरोंको लाभ पंहुंचानेका यत्न करें न की दूसरोंको दबानेका। यही उपाय पापसे बचनेका है।

वीर लोग इसीके बलसे प्रेरित होकर युद्ध करते हैं। धर्मयुद्ध करनेवाले भी इसीके बलसे युक्त होते हैं, यही सबका सच्चा नाथ है। जो लोग इसको नाथ मानकर अपने आपको सनाथ समझेंगे, वेही पापसे बच सकते हैं।

सब यज्ञकर्ता अपने यज्ञ इसीकी प्रीतिके लिये करते हैं। सब यज्ञोंमें इसीके लिये हवन किया जाता है, यज्ञमें दिया हुआ दान इसीको पहुंचता है और वह दाताकी कामना पूर्ण करता है इस परमेश्वर की भक्तिसे मनुष्य पवित्र बनें और पापसे बचें॥

(२५)

(ऋषिः- मृगारः। देवता- सविता, वायुः,)

व॒योः सवि॒तुर्वि॒दथा॑नि मन्महे॒ यावा॑त्म॒न्वद्वि॑श॒थो यौ च॒ रक्ष॑थः।
यौ विश्व॑स्य परि॒भू ब॑भू॒वथु॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ १ ॥

ययो॒ः संख्या॑ता॒ वरि॑मा॒ पार्थि॑वानि॒ याभ्यां॒ रजो॑ यु॒पित॑म॒न्तरि॑क्षे।
ययो॑ः प्रा॒यं नान्वा॑न॒शे कश्च॒न तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ २ ॥

अर्थ— (वायोः सवितुः) वायु और सविता इन दो देवोंके (विदथानि मन्महे) जानने योग्य गुणोंका हम मनन करते हैं। (यौ आत्मन्वत् जगत् विशथः) जो दोनों आत्मावाले जंगम जगत् में प्रविष्ट होते हैं (यौ च रक्षथः) और जो दोनों रक्षा करते हैं। (यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुः) जो दोनों संपूर्ण जगत्के तारक होते हैं (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ययोः पार्थिवानि वरिमा संख्याताः) जिन दोनोंके पृथिवीके ऊपरके विविध कर्म गिन लिये हैं। (याभ्यां अन्तरिक्षे रजः युपितं) जिन दोनोंने मिलकर अन्तरिक्षमें मेघमंडल को धारण किया है, (कश्चन ययोः प्रायं न अन्वानशे) कोई भी जिनकी गतिको नहीं प्राप्त होता है (तौ नः अंहसः मुञ्चन्तं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

भावार्थ— विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और नेत्र) ये दोनों अनेक प्रकारसे प्राणिमात्रकी धारणा करते हैं। ये सब प्राणियोंमें व्यापक होकर उनकी रक्षा करते हैं। ये दोनों सब जगत् के तारक होते हैं इसलिये वे हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

इन दोनोंके अनंत कर्म हैं। ये ही अन्तरिक्षमें मेघ मंडलका धारण करते हैं। इनके साथ किसी अन्य की तुलना नहीं हो सकती है। ये दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

तवं व्रते नि विशन्ते जनासुस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।
सं ह्यू१र्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ- हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभायुक्त! (तव व्रते जनासः नि विशन्ते) तेरे व्रतमें ही सब मनुष्य रहते हैं। (त्वयि उदिते प्रेरते) तेरा उदय होनेपर कार्यमें प्रेरित होते हैं। हे (वायो सविता च) वायो और हे सविता! (युवं भुवनानि रक्षथ) तुम दोनों सब प्राणियोंकी रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

हे (वायो सविता च) वायो और सविता ! (इतः दुष्कृतं अप सेधतं) यहांसे दुष्कर्म करनेवालोंको दूर हटा दो तथा (रक्षांसि शिमिदां च) घातकों और पीडकोंको भी दूर करो। (ऊर्जया बलेन हि सं सृजथः) शारीरिक और आत्मिक बलसे हमें संयुक्त करो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

हे सविता और हे वायो ! (मे तनू) मेरे शरीरमें (सुशेवं रयिं) सेवन करने योग्य कान्ति और (पोषं दक्षं) पुष्टियुक्त बल (आ सुवतां) उत्पन्न करें (इह महः अयक्ष्मतातिं धत्तं) यह बडी नीरोगता धारण करें और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ— सूर्य विचित्र तेजवाला है, (शरीरमें आंख भी वैसीही है) इसके उदय होने अर्थात् खुल जानेके पश्चात् ही प्राणीकी प्रवृत्ति कार्य में होती है। विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और आंख) प्राणियोंकी रक्षा करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये दोनों सबको दुराचारसे बचावें, घातकों और पीडकोंको सर्वथा दूर करें, शारीरिक शक्ति और आत्मिक बल प्रदान करें और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे मेरे शरीरमें तेजस्विता, पुष्टि, बल और नीरोगता प्राप्त हो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

करनेसे मनुष्य पापसे बचता है। यह अनुष्ठान करनेसे बाह्य देवताओंकी सहायता सदा उपस्थित रहती ही है, परंतु उस सहायतासे वेही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी अन्तः शुद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहते हैं। अन्योंको वैसा लाभ नहीं हो सकता।

सूयचक्र।

सूर्यका दूसरा अंश पेटके पास सूर्यचक्रमें रहता है इस का अधिकार पचन इंद्रियपर रहता है। पेटके बराबर पीछे यह चक्र है। इसमें सूर्य शक्ति रहती है जो अन्न पाचन का कार्य करती है। इसके कार्यके लिये ही सोम आदि अन्न रस दिये हैं। (मं० ६) ऐसे शुद्ध अन्नका भक्षण करना और अशुद्ध अन्नका सेवन न करना, यह पथ्य उनको संभाल ना चाहिये, जो पापसे बचना चाहते हैं। अशुद्ध अन्नसे मनकी वृत्ति ही दुष्ट बनती है और शुद्ध अन्न के सेवनसे पवित्र बनती है जो पवित्र बनना चाहते हैं वे इसका अवश्य मनन करें।

प्राण।

अब वायुका विचार करना चाहिये। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।' (ऐ० उ०) वायु प्राण बनकर नाकके द्वारा फेफडों में जाता है और वहां रक्तकी शुद्धि करता है। इसके शुद्धता करनेके कारण ही प्राणी जीवित रहते हैं। इसके अशुद्ध होनेके कारण प्राणी मर जाते हैं इस प्रकार यह जीवनका हेतु है। योगशास्त्रमें इसी प्राणका आयाम 'प्राणायाम' कहलाता है। जिस प्रकार धोंकनीसे वायु देकर प्रदीप्त किये अग्निमें सुवर्ण आदि धातु परिशुद्ध होते हैं, इसी प्रकार प्राणायामद्वारा उत्पन्न होने वाले अग्निप्रदीपनसे शरीरके और इंद्रियोंके सब दोष नष्ट होते हैं। मन शान्त होता है तर्क, वितर्क और कुतर्क नहीं करता। इस कारण आत्मिक शक्तिकी उन्नति होनेमें सहायता होती है। पापसे बचनेमें वायु देवताकी सहायता इस प्रकार होती है। अनुष्ठान करनेवाला पुरुष जब अपने अंदर रहनेवाले इन देवोंको ठीक मार्गपर चलाता है, तब बाहरके देवोंकी सहायता स्वयमेव उसको प्राप्त होती है। यह पापसे बचनेका अनुष्ठान है। पाठक इसको अपने अंदर घटावें और लाभ उठावें।

पाप-मोचन ।

(२६)

(ऋषिः- मृगारः । देवता—द्यावापृथिवी ।)

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि ।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे द्यावा पृथिवी ! (सुभोजसौ सचेतसौ) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले, और उत्तम ज्ञानवाले हो; (वां मन्वे) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूं। (ये अमिता योजनानि अप्रथेथां) जो तुम दोनों अपरिमित योजनों की दूरीतक फैले हो, (हि वसूनां प्रतिष्ठे अभवतं) क्यों कि तुम दोनों निवास करनेवाले प्राणी आदिकोंको आधार देनेवाले होते हो। (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों (प्रवृद्धे सुभगे उरूची देवी) बडे विशाल, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियां (वसूनां प्रतिष्ठे हि अभवतं) निवास करनेवालोंको आश्रय देनेवाली हो। वे (द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखदायी हों और (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(अहं) मैं (सुतपसौ असन्तापे) उत्तम तेजस्वी परंतु सन्ताप न देनेवाली (कविभिः नमस्ये उर्वी गम्भीरे) कवियोंद्वारा नमन करने योग्य बडी चौडी और बडी गंभीर द्यावा पृथिवी की [illegible] प्रार्थना करता हूं । वे (द्यावा०) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये अमृतं बिभृथो ये ह॒वींषि॒ ये स्रोत्या॑ बिभृथो ये म॑नु॒ष्या॒न् ।
द्यावा॑पृथिवी॒ भव॑तं मे स्यो॒ने ते नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ४ ॥
ये उ॒स्रिया॑ बिभृ॒थो ये व॒न॒स्पती॒न्ययो॑र्वां॒ विश्वा॒ भुव॑नान्य॒न्तः ।
द्यावा॑पृथिवी॒ भव॑तं मे स्यो॒ने ते नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥
ये की॒लाले॑न त॒र्पय॑थो॒ ये घृ॒तेन॒ याभ्या॑मृ॒ते न किं च॒न श॑क्नु॒वन्ति॑ ।
द्यावा॑पृथिवी॒ भव॑तं मे स्यो॒ने ते नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥
यन्मे॒दम॑भि॒शोच॑ति॒ येन॑येन वा कृ॒तं पौरु॑षेया॒न्न दैवा॑त् ।
स्तौमि॒ द्यावा॑पृथि॒वी ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ ते नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ- (ये अमृतं ये हवींषि बिभृथः) जो तुम दोनों अमृतरूपी जल और अन्नका धारण करती हो (ये स्रोत्याः ये मनुष्यान् बिभृथः) जो नदी आदि प्रवाहोंको और जो मनुष्योंको धारण करती हो । वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचाओ॥ ४॥ (ये उस्रियाः ये वनस्पतीन् बिभृथः) जो तुम दोनों गौओं और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो; (ययोः वां अन्तः विश्वा भुवनानि) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (द्यावा०) तुम द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायक हों और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥ (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और पेयसे सबको तृप्त करते हो, (याभ्यां ऋते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके विना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायी बनो और हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥ (येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे पुरुष प्रयत्नसे किया हुआ, (न दैवात्) दैवकी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिशोचति) जो यह मुझे शोकमें डालता है, उस कष्टको दूर करनेके लिये (द्यावा पृथिवी स्तौमि) द्यावा पृथिवीकी मैं स्तुति करता हूं और(नाथितः जोहवीमि) मैं उनसे सनाथ होकर पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥

द्यावा पृथिवी ।

यह सूक्त मृगार सूक्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है । और इसमें द्युलोक और पृथिवी लोक के योगसे पातक से मुक्त होनेकी आकांक्षा की है । पृथिवी लोक

वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और द्युलोक वह है जो तारोंसे युक्त आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड इन के बीचमें समाया है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। जितनी सब शक्तियां हैं इनके बीचमें आगई हैं। इन सब शक्तियोंकी सहायतासे हमें अपना सुधार करके पापसे मुक्त होना है।

ये द्यावापृथिवी देवता (अमिता योजना । मं०१) अगणित योजन विस्तृत हैं। ये कितने विस्तृत हैं इस का गणित नहीं हो सकता। आकाश का विस्तार जाना नहीं जा सकता है और न गिना जाता है। संक्षेपसे कहना हो तो इतनाही कहा जा सकता है कि ये दोनों (प्रवृद्धे उरूची । मं०२; उर्वी, गंभीरे । मं.३) बडे विस्तृत महान गंभीर हैं अर्थात् बडे गहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीको पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरएक पदार्थ मात्रके लिये (प्रतिष्ठे) आधार देती हैं। इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसौ) मनमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः नमस्ये) कवि लोक इनके विषयमें बडा आदर धारण करते हैं। इनमें सूर्यादि तेजस्वी गोल (सु-तपसौ) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं तथापि ये किसीको (अ-सन्तापे) सन्ताप नहीं देते, प्रत्युत संतप्त हृदय जब इनकी ओर दृष्टिक्षेप करता है तब उनके हृदयका दुःख दूर होता है और वहां शान्तिका राज्य होता है।

ये दोनों लोक (सु-भोजसौ) उत्तम भोजन देते हैं। (कीलालेन तर्पयतः) अन्नसे संतुष्ट करते हैं और जब तृषा लगती है तब भी (घृतेन) जलसे शान्ति देते हैं। क्यों कि इनके अंदर (अमृतं हवींषि बिभ्रतः) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर (उस्त्रियाः) गौवें हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा उत्तम वनस्पतियां हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। मनुष्योंको जिस समय शोक होता है उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम दृश्य देखें और उनमें दिव्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है। द्युलोक पिता है और पृथ्वी माता है। मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कैसे अपनी सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं। ये अपने तेजसे हमें मार्ग बताते हैं, अन्नसे हमारी तृप्ति करते हैं, जलसे हमारी शान्ति बढाते हैं और अन्यान्य रीतिसे हमारी सहायता करते हैं। इसी प्रकार हम अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थ व्यय करना चाहिये, हमें अपने अन्तःकरण इनके समान विस्तृत और उदार बनाना चाहिये। अपना जीवन जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये। और सब जगत्को एक परिवार मानकर सब के साथ इनके सदृश समान व्यवहार करना चाहिये। यह है पापमोचन का मार्ग।

(२७)

(ऋषिः— मृगारः । देवता-मरुतः ।)

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ- (मरुतां मन्वे) मरुतों का मैं मनन करता हूं कि वे (मे अधि ब्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (इमं वाजं वाजसाते अवन्तु) इस अन्न की अन्नदान के प्रसंग में रक्षा करें। (सुयमान् आशून् इव) उत्तम नियमसे चलनेवाले घोडोंके समान इनको (ऊतये अह्वे) रक्षाके लिये मैं बुलाता हूं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमको पाप से बचावें ॥१॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यचन्ति) जो सदा अक्षय जलप्रवाहको फैलाते हैं (ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंमें रस सींचते हैं इस प्रकारके (पृश्निमातॄः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप मातासे उत्पन्न मरुतों को मैं अपने सन्मुख रखता हूं, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनूनां पयः) गौओंके दूधको (ओषधीनां रसं) औषधियोंके रसको, (अर्वतां जवं) और घोडोंके वेगको (ये कवयः इन्वथ) जो तुम ज्ञानी होकर प्राप्त करते हो, वे (मरुतः नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुद्गण हमें शान्ति देने और सुख देनेवाले होवें और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये समुद्रात् आपः दिवं उद्वहन्ति) जो समुद्रसे जल को द्युलोक तक पहुंचाते हैं और जो (दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति) द्युलोकसे पृथ्वीपर पुनः छोडते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) जो समर्थ मरुत जलों के साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥
तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहस ॥ ७ ॥

अर्थ- (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) जो अन्न और पेयसे सबकी तृप्ति करते हैं (ये वा वयः मेदसा संसृजन्ति) और जो अन्नको पुष्टिकारक पदार्थ के साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः वर्षयन्ति) जो समर्थ मरुत् जलोंसे वृष्टि करते हैं, वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

हे (देवाः मरुतः) दिव्य मरुतो ! (यदि इदं मारुतेन) यदि यह जगत् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन ईदृक् आर) और यदि दिव्य शक्तिसे युक्त हुआ, तो हे (वसवः) निवासको ! (तस्य निष्कृतेः यूयं ईशिध्वे) उस के उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मारुतं अनीकं शर्धः) मरुतों का सैनिक बल (पृतनासु तिग्मं) सेनाओं में तीक्ष्ण और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बलयुक्त प्रचण्डशक्तिवाला सबको विदित है । इस लिये मैं (मरुतः स्तौमि) मरुतोंकी प्रशंसा करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको बुलाता हूं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मरुत् देवता ।

मरुत् नाम विश्वमें वायुका है, देहमें प्राण भी मरुत् कहलाता है। इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मर्+उत्) मरनेवालोंको ऊपर उठाता है। शरीर मरनेवाला है उसको उठाकर खडा करनेवाला प्राणवायु ही है मरनेवालेको उठाने का चमत्कार प्राणही करता है, किसी अन्यमें यह शक्ति नहीं है। जैसे पशुओंमें घोडे वेगवान् होते हैं उसी प्रकार देवोंमें वायु वेगवान् है। इनके कारण ही सब प्रकारका (वार्य) बल, अन्न, जीवन आदि यथायोग्य रीतिसे अपने अपने स्थानमें रहता है। वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है परंतु औषधि वनस्पतियोंमें भी वही जीवनका संचार करता है, और वनस्पतियोंसे जो

उत्तमोत्तम रस प्राप्त होता है वह सब इसी प्राण का कार्य है। वनस्पतियोंमें पौष्टिक रस गौओंमें अमृतके समान दूध, आकाशमें मेघोंमें निर्दोष जल रखनेवाला यह विश्वव्यापक प्राणही है।

यह विश्व प्राणही समुद्रसे जलको ऊपर लेजाता है, वहां उसके मेघ बनते हैं और वृष्टि द्वारा फिर शुद्ध जल हमें प्राप्त होता है यह इसीका चमत्कार है। पृथ्वीके ऊपरके सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हरएक अन्नपानमें जो पौष्टिक सत्वांश है वह इसीकारण है। यह जीवन देनेवाली प्राण शक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निवासक कहा है।

जो वीरोंमें तेज बल सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसी के कारण है; यह मरुतोंका और प्राणोंका कार्य सबको देखना चाहिये। देखनेसे पता लगेगा कि पापसे बचनेका उपदेश मरुत् किस ढंगसे दे रहे हैं।

जगत्में देखिये अन्य सब देव अस्तको जाते हैं, परंतु वायुरूपी प्राण सदा समरस रहकर सबको जीवन देता है। इसी प्रकार शरीरमें सब अन्य इंद्रिय तथा अवयव अन्नका भोग लेते हैं और कार्य करनेसे थक भी जाते हैं और विश्राम भी लेते हैं। परंतु प्राण ही ऐसा एक है कि जो स्वयं भोग नहीं लेता, न विश्राम चाहता है और न कभी थक जाता है। निःस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है। जो जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जांयगे।

वेदमें 'मरुत्' देवता द्वारा वीरोंका वर्णन होता है। मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मर्+उत्) शब्दमें ऋषि देखते हैं। शरीरमें देखिये प्राण शरीरमें जाता है, वहांका कार्य करता है, अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है, और फिर उठता है यह भाव यहां प्रत्यक्ष है। प्रतिक्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसी लिये शरीर जीवित रहता है। अर्थात् इस प्राणके यज्ञसे शरीरकी स्थिति होती है। अपने सब समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होना चाहिये। राष्ट्रकी भलाईके लिये जब अनेक वीर आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है। जब स्वार्थी लंपट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक संख्यामें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे निष्पाप बनता है यह बोध यहां मिलता है।

(२८)

(ऋषिः- मृगारः । देवता — भवाशर्वौ)

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (भव-शर्वौ) जगत् उत्पन्न करनेवाले और जगत् का लय करने वाले ! (वां मन्वे) तुम दोनोंका मनन करता हूं। (तस्य वित्तं) उसको तुम दोनों जानते हो। (यत् इदं प्रदिशि विरोचते) जो यह दिशाओंमें चमकता है वह सब (ययोः वां) जिन तुम दोनोंकाही है (अस्य द्विपदः यौ ईशाथे) इस द्विपाद् जगत्के जो तुम दोनों स्वामी हो, (यौ चतुष्पदः) जो चार पांव वालोंके भी स्वामी हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(ययोः अभ्यध्वे उत यत् दूरे) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (यौ चित् इषुभृतां असिष्ठौ विदितौ) जो निश्चयसे बाण धारण करनेवालोंके बाण फेंकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो, जो तुम दोनों द्विपाद् और चतुष्पादों के स्वामी हो, वे दोनों तुम हमें पाप से बचाओ ॥ २ ॥

(सहस्राक्षौ वृत्रहणौ) तुम दोनों हजारों आंखवाले और शत्रुविना-शक हो (दूरे-गव्यूती उग्रौ) तथा दूरतक गमन करने वाले उग्र हो, तुम दोनोंको (अहं हुवे स्तुवन् एमि) मैं बुलाता हूं और स्तुति करता हुआ प्राप्त होता हूं। जो तुम दोनों द्विपाद् और चतुष्पादों के स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

भव और शर्व ।

ये दो शक्तियां हैं, एक ' भव ' अर्थात् बढानेवाली वर्धक शक्ति है और दूसरी ' शर्व ' अर्थात् घातक शक्ति है । इस सब जगत् में ये दो शक्तियां कार्य कर रही हैं । एक से वृद्धि हो रही है और दूसरीसे नाश हो रहा है । बालक में विनाशक शक्तिका जोर कम रहता है और वर्धक शक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है । वृद्ध में यह बात उलटी होजाती है इसकारण वृद्ध क्षीण होता है । जगत् में इन दोनों परमात्मशक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूक्त में अच्छी प्रकार बतायी है । मनुष्य में भी ये दोनों शक्तियां हैं । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उस को उचित है कि वह इन शक्तियोंका ऐसा उपयोग करे कि जगत् में उससे घात-पात न बढे, परंतु शान्ति और सुख बढे । इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है ।

मनुष्यमें 'भव' शक्ति है जिससे वह नाना प्रकारके सुखोपभोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्यमें दूसरी 'शर्व' शक्ति भी है, जिससे वह तोडमरोड कर विघातक कार्य भी करता है । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके सत्कार्योंमें करे । अर्थात् जनताका जिससे हित होगा ऐसे शुभ कार्य करनेमें उक्त शक्तिका उपयोग करे । उसके पास दूसरी शर्वशक्ति है, इससे घात पात किया जा सकता है यह बात सत्य है; परंतु इसका भी उपयोग जनताकी भलाईके लिये किया जा सकता है । जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है । इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यज्ञमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और यह पुण्यात्मा बनता जायगा । यह उपाय आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूक्त द्वारा सूचित किया है । इसलिये पाठक इन शक्तियोंको अपने अंदर देखें और उनसे उक्त प्रकार व्यवहार करके अपने आपको पापसे बचावें ।

---

(२९)

(ऋषिः— मृगारः । देवता—मित्रावरुणौ)

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे ।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण ! (वां मन्वे) मैं आप दोनोंका मनन करता हूं, आप दोनों (ऋतावृधौ सचेतसौ) सत्यको बढानेवाले और स्फूर्ति देनेवाले हैं, (यौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो तुम दोनों द्रोहकारियोंको हटा देते हो। (भरेषु सत्यावानं प्र अवथः) स्पर्धाओं में सत्यपालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो। (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(यौ भरेषु सत्यावानं अवथः) जो तुम दोनों स्पर्धाओं में सत्यपालकको बचाते हो, (यौ सचेतसौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो दोनों सचेत होकर, द्रोहकारीको हटाते हो, और (यौ नृचक्षसौ) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) पोषक शक्तिके साथ यज्ञके प्रति पहुंचते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(यौ मित्रावरुणा) जो दोनों मित्र और वरुण (अंगिरसं अगस्तिं जमदग्निं अत्रिं अवथः) अंगिरा, अगस्ति, जमदग्नि और अत्रिकी रक्षा करते हो। (यौ कश्यपं अवथः यौ वसिष्ठं) जो कश्यप और वसिष्ठकी रक्षा करते हैं, से[illegible]दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

[illegible]र वज्रेण [illegible]) जो दोनों मित्र और वरुण (श्यावाश्वं, वध्र्यश्वं, पुरुमीढं, हो वे [illegible]की (स्तौमि) [illegible]श्व, वध्र्यश्व, पुरुमीठ, और अत्रिकी रक्षा करते हो (यौ मि[illegible] होकर उनको [illegible]वथः) जो विमद और सप्तवध्रीकी रक्षा करते हो॥४॥ [illegible]रुण पसे बचाओ।

यौ भ॒रद्वा॑ज॒मव॑थो॒ यौ गवि॑ष्ठिरं वि॒श्वामि॑त्रं वरुण मित्र॒ कुत्स॑म् ।
यौ क॒क्षीव॑न्त॒मव॑थः॒ प्रोत कण्वं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥
यौ मेधा॑तिथि॒मव॑थो॒ यौ त्रि॒शोकं॑ मित्रावरुणावु॒शनां॑ का॒व्यं यौ ।
यौ गोत॑म॒मव॑थः॒ प्रोत मुद्ग॑लं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥
ययो॒ रथः॑ स॒त्यव॑र्त्म॒र्जुर॑श्मिर्मिथु॒या चर॑न्तमभि॒याति॑ दू॒षय॑न् ।
स्तौमि॑ मि॒त्रावरु॑णौ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यौ मित्र वरुण) जो मित्र और वरुण (भरद्वाजं गविष्ठिरं विश्वामित्रं कुत्सं अवथः) भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, (यौ कक्षीवंतं कण्वं प्र अवथः) जो कक्षीवान और कण्वकी रक्षा करते हैं वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

(यौ मित्रावरुणौ) जो दोनों मित्र और वरुण (मेधातिथिं, त्रिशोकं, काव्यं उशनां अवथः) मेधातिथि, त्रिशोक काव्य उशनाकी रक्षा करते हो (यौ गौतमं उत मुद्गलं अवथः) जो गौतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

(ययोः सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मिः रथः) जिनका सत्यमार्गवाला सरल रश्मियोंवाला रथ (मिथुया चरन्तं दूषयन् अभियाति) मिथ्याचारीको सताता हुआ चलता है, उन (मित्रावरुणौ स्तौमि) मित्र और वरुणकी मैं स्तुति करता हूं और उनसे (नाथितः जोहवीमि) सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मित्र और वरुण ।

मृगार सूक्तोंमें यह सप्तम या अन्तिम सूक्त है । २३-२९ ये सात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका ऋषि मृगार है। ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बडे गंभीर हैं। इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये —

सूक्त	देवता	अपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठानविधि,
२३	अग्नि	वाक्शक्ति	वाक्संयम
२४	इन्द्र	बल	बलका सदुपयोग

२५	वायुः, सविता	प्राण, नेत्र	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	द्यावापृथिवी	स्थूलसूक्ष्मशक्तियां	सत्कर्ममें अपनी शक्तियोंका समर्पण
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	भवाशर्वौ, रुद्रः	वर्धक और घातक शक्तियां	अपनी इन शक्तियोंका उत्तम उपयोग करना
२९	मित्रावरुणौ	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका सदुपयोग

इस कोष्टक का निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि पापमोचन का अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है । इस अनुष्ठानका तात्पर्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि "सूर्यदेव हमें मार्ग दिखावे" इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग दिखानेसे संबंध है यह बात निश्चित होगई । परंतु यदि कोई मनुष्य अपने आंख बंद करेगा, और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि नहीं डालेगा, तो सूर्य भगवान् सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा । इस से अनुष्ठान का मार्ग निश्चित हुआ । वह यह है कि "मनुष्य अपने अंदरकी शक्तिको सन्मार्गका बोध होने योग्य सरल मार्गपर रखनेका यत्न करे और बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे ।" ऐसा करनेसे ही उसकी कामना पूर्ण हो सकती है ।

किसी मनुष्यको किसी नगरको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है । यदि वह अपने आंख खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तो ही वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये । यहां प्रचलित विषय 'पापमोचन' है । भक्त अपने आपको पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पूर्वोक्त उदाहरणके न्यायसे ही अपनी सब शक्तियोंका संयम करके उनके संयम द्वारा अपने आपको पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये । स्मरण रहे की बाह्य शक्तियां तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार ही हैं, जो न्यूनता है वह अपने प्रयत्नकी ही है । आंख बंद करने वाला मनुष्य सूर्य प्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत आंख खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये । यही बात विशेष स्मरण रखने योग्य है । ऊपरके संपूर्ण सातों सूक्तोंमें जो सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायताकी याचना की है वह अपने अनुष्ठानकी तैयारीके साथ ही की है, यह पाठकोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। अन्यथा अनुष्ठानके बिना

ये सूक्त कोई लाभ दे नहीं सकते।

'सूर्य हमें मार्ग दिखावे' ऐसा कहनेवालेको अपने आंख खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, 'जल हमारी तृषा शांत करे' ऐसा कहनेवाले को प्रथम जल अपने हाथ में लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, 'अन्न हमारे शरीरकी पुष्टि बढावे' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसका सेवन विधि-युक्त रीतिसे करे और पश्चात् कहे की यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे। हरएक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठान की सूचना करती है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है। प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये। अनुष्ठान पूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है, अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है। वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उन्नतिका मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनु-ष्ठान पूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं।

अनुष्ठान अपने अन्दरके देवताओंद्वारा अर्थात् अपने इंद्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इनका संबंध जिन बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायतार्थ प्रार्थना की जाती है। अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके विना नहीं की जाती। पहिले अपनेसे जितना हो सकता है उतना अनुष्ठान करके जब अपनी शक्ति अल्प प्रतीत होती है और अधिक शक्तिकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है। इस रीतिसे इन सातों सूक्तोंका मनन करने से पापमोचन के अनुष्ठानकी रीतिका स्वयं पता लग जाता है। सारांश रूपसे इन सूक्तोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है।

"वाणीको पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सत्कर्ममें करना और कभी परपीडा न करना, अपने प्राणों का कुंभकादि द्वारा आयाम करके मनको शांत और गंभीर बनाना, नेत्रादि इंद्रि-योंको शुभ कर्मों में लगाना और उनको अशुभ प्रवृत्तिसे हटाना, अपने अंदर जो कोई सामर्थ्य हो उसको सत्कर्ममें लगाना और असत्कर्मसे दूर रहना, संपूर्ण दश प्राणों-का व्यवहार उत्तम चलानेका यत्न करना, अपने अंदर वर्धक और घातक शक्तियां हैं, उनसे किसीका घात पात न करना, परंतु उन शक्तियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना, अपने अन्दर जो मित्रभाव है और वरिष्ठताका भाव है उसकी प्रवृत्ति मंगल कार्यमें करना और उनको अमंगल कार्योंसे दूर करना।" सारांशरूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है। इसमें जिस अपनी शक्तिद्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ संबंध रखनेवाली बाह्य

देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करना चाहिये। अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये। पानी पीनेके समय अन्नकी प्रार्थना न हो और भोजन करनेके समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो। प्रार्थनासे अपना संबंध विश्वकी विशाल शक्तियोंसे किया जाता है। इस एकतानतासे बडा लाभ होता है।

२९ वें सूक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उस को परमात्माकी शक्तियोंकी सहायता मिलती है (मं. १-२)। इन मंत्रोंमें यह कह कर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंको किस प्रकार सहायता मिली है इसकी नामावली दी है। ये नाम एक एक विशेष गुण की सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशकी सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है। इसलिये इनका श्लेषार्थ देखते हैं—

१ सत्यवान् — सत्यप्रतिज्ञ, सत्यका पालन करनेवाला,

२ अंगिरस् — अंगोंमें जो जीवन रस है उसकी विद्या जाननेवाला।

३ अगस्ति — (अग-स्ति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो दत्तचित्त होता है।

४ जमदग्निः — (जमत्+अग्निः) प्राण आदि अग्नियोंको प्रज्वलित करनेवाला,

५ अत्रिः — (अतति) भ्रमण करके उद्धारके लिये यत्न करनेवाला,

६ कश्यपः — (पश्यकः) सूक्ष्मदर्शी।

७ वसिष्ठः — सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला

८ श्यावाश्वः — (श्यै गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील,

९ वध्र्यश्वः — (वध्रि) स्तब्ध (अश्वः) घोडोंवाला अर्थात् जिसके इंद्रिय रूपी घोडे चंचल नहीं हैं।

१० पुरुमीढः—(पुरु) बहुत (मीढ) धनादि साधन संपन्न।

११ विमदः-(विगतः मदः) जिसकी घमंड नष्ट हुई है।

१२ सप्तवध्रिः-जिन्होंने अपने सातों इंद्रियोंको स्तब्ध किया है।

१३ भरद्वाजः-(भरत्+वाजः) जो अन्नका दान करता है।

१४ गविष्ठिरः- (गवि) वाणीमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने वचन का सच्चा है।

१५ विश्वामित्रः-(विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, किसीका द्वेष न करनेवाला।

१६ कुत्सः-दोषोंकी निंदा करनेवाला,

१७ कक्षीवान्-(कक्षी) गतीशील, प्रयत्नशील,
१८ कण्वः-शब्दविद्यामें प्रवीण,
१९ मेधातिथिः-(मेधा) बुद्धिको प्राप्त करनेवाला,
२० त्रिशोकः- स्थूल सूक्ष्म और कारण इस तीन विषयोंके अज्ञान का जिसको शोक होता है।
२१ उशना काव्यः—संयमी कवि,
२२ गोतमः--(गो) गतिशील, प्रयत्नशील,
२३ मुद्गलः—(मुद्) आनंदको धारण करनेवाला, आनन्द वृत्तिसे रहनेवाला।

इन ऋषिनामोंके श्लेषार्थ ये हैं, पाठक मनन करेंगे तो उनको इन शब्दोंसे अधिक बोध भी प्राप्त हो सकते हैं। इन अर्थोंसे पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न ये किस ढंगसे करनेवाले हैं। इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवताएं सब प्रकार की सहायता करती हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदत देती हैं। जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी। परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें दक्ष नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये

(१) द्रुह्वन्-द्रोह करनेवाला, घातपात करनेवाला, (मं० १-२)
(२) मिथुया चरन्-मिथ्या व्यवहार करनेवाला, (मं० ७)

पाठक यहां स्मरण रखें कि अग्नि वायु सूर्यादि देवताएं सदा सहाय करनेके लिये तैयारही हैं, परन्तु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्य से यत्न न हुआ तो लाभ होना असम्भव है। जो मनुष्य आत्मसुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त ऋषियोंके समान उन्नति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे रहते हैं। उन्नतिका यह नियम पाठक स्मरण रखें।

इस प्रकारके जो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती जाती है। इस लिये पाठकोंको उचित है कि वे अपनी उन्नतिका अनुष्ठान करें, सन्मार्गसे चलें, पूर्वोक्त ऋषिजीवनोंका आदर्श अपने सन्मुख रखें और उन्नतिके पथसे सीधे ऊपर चढें। कदापि अवनतिके मार्गसे न चलें।

राष्ट्री देवी ।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-वाक्)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रेभिः वसुभिः आदित्यैः विश्वे देवैः चरामि) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वेदेवोंके साथ चलती हूं। (अहं उभा मित्रावरुणा बिभर्मि) मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूं और (अहं इन्द्राग्नी, अहं उभा अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि, तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूं ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्री) मैं प्रकाशक शक्ति (वसूनां सङ्गमनी) वसुओंको प्राप्त करानेवाली, और (चिकितुषी) ज्ञान देने वाली हूं इस लिये (यज्ञियानां प्रथमा) सब पूजनीयों में पहिली पूजने योग्य हूं। (तां भूरिस्थात्रां मां) उस विविध प्रकारसे स्थित मुझको (भूरि आवेशयन्तः देवाः) बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होने वाले देव (व्यदधुः) विशेष प्रकारसे धारण करते हैं ॥ २ ॥

(देवानां उत मानुषाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंको स्वीकार करने योग्य (इदं) यह भाषण (अहं स्वयं एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हूं। (यं कामये) जिस जिसको मैं योग्य समझती हूं (तं तं उग्रं कृणोमि) उस उसको मैं उग्र वीर बनाती हूं तथा (तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसी को उत्तम बुद्धिमान करती हूं ॥ ३ ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७॥

अर्थ-(यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिसे देखता है (सः मया अन्नं अत्ति) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है। (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तिसे ही है। जो (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं (ते उपक्षियन्ति) वे विनाशको प्राप्त होते हैं। हे (श्रुत) सुननेवाले ! (श्रुधि) श्रवण कर। (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये श्रद्धा रखनेयोग्य यह उपदेश मैं करती हूं ॥ ४ ॥

(ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवै उ) ज्ञानके द्वेषी घातपात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुष्यको तानती हूं, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूं, (अहं द्यावा-पृथिवी आविवेश) मैंने द्यावापृथिवी में प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम राजाको धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं त्वष्टा और पूषाको धारण करती हूं। (अहं हविष्मते सुन्वते यजमानाय) मैं हवन करने और सोमसवन करनेवाले यजमान के लिये (सुप्राव्या द्रविणा दधामि) उत्तम रक्षा करने योग्य धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इसके सिरपर रक्षकको नियुक्त करती हूं। (मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जलोंके मध्यमें है। (ततः विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) वहांसे सब भुवनोंमें विशेष रीतिसे स्थिर होती हूं (उत वर्ष्मणा अमूं द्यां उपस्पृशामि) और

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ अष्टमः प्रपाठकः ॥

अपनी महिमासे उस द्युलोकको स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनोंका आरंभ करनेवाली (अहं एव वातः इव प्रवामि) मैं ही अकेली वायुके समान फैलती हूं। और (दिवः परः) द्युलोकके परे और (एना पृथिव्यै परः) इस पृथ्वीके भी परे (महिना एतावती संबभूव) अपने महत्त्वसे इतनी विशाल होती हूं ॥ ८ ॥

राष्ट्री देवी ।

'राष्ट्री देवी' यह परमात्माकी प्रचंड तेजस्वी शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमा वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मंत्रमें कहा ही है कि "(अहं एव स्वयं इदं वदामि) मैंही यह स्वयं कहती हूं।" इस लिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनकी अपेक्षा विशेष महत्त्व का है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। पाठक भी इस दृष्टिसे इसका अधिक मनन करें। यह सूक्त परमात्म शक्तिका वर्णन करनेके कारण इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ संभवनीय हैं। आधिदैविक अर्थ अग्नि इन्द्र आदि देवताओंके संबंधमें होता है, यह अर्थ हमने मंत्रके अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इन्द्र, अश्विनी देव आदि सृष्ट्यन्तर्गत महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। पाठक इस अर्थको पूर्वस्थलमें देखें। अब यहां आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते हैं। आध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखना होता है और आधि दैविक अर्थमें जहां परमात्मा की शक्तिका संबंध जानना होता है, वहां आध्यात्मिक अर्थमें जीवात्माकी शक्तिका संबंध देखना होता है। यहां अब यह आध्यात्मिक अर्थ देखिये-

आध्यात्मिक भावार्थ ।

" मैं जीवात्माकी शक्ति हूं और मैं (रुद्रेभिः) प्राणोंके साथ (वसुभिः) निवासक जलादि शारीरिक धातु रसोंके साथ (आदित्यैः) आदान शक्तियोंके साथ तथा (विश्वदेवैः) सब इंद्रियों के साथ रहकर वहां का व्यव-

हार चलाती हूं। मैं शरीरके (मित्रा-वरुणौ) सौर और सोम शक्तियोंको अर्थात् आग्नेय और रसात्मक शक्तियोंका धारण करती हूं। मैं (इन्द्र-अग्नी) जीवन विद्युत् और शरीरकी उष्णताको कायम रखती हूं और मैं ही (अश्विनौ) दोनों प्राण और अपानको चलाती हूं ॥ १ ॥ मैं शरीरकी (राष्ट्री) प्रकाशक शक्ति हूं अर्थात् मेरे प्रभावके कारण इस देहमें तेजस्विता स्थिर रहती है, मैं ही यहां (वसूनां संगमनी) रस रक्तादि विविध धातु रसों को उत्पन्न करके शरीरको सुरक्षित रखती हूं। मैं ही (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं इस लिये मैं यहां अध्यात्मयज्ञमें (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयों में सबसे प्रथम पूजा करने योग्य हूं। मैं (भूरि-स्था-त्रां) विविध अवयवों और इंद्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूं और (आवेशयन्तः देवाः) मेरे प्रवेशके कारण सब इंद्रियां मानो (मां व्यदधुः) मेरा ही विविध प्रकारसे धारण करती हैं और मेरी शक्तिसे ही अपना अपना कार्य करने में समर्थ हुई हैं ॥ २ ॥ देव क्या और मनुष्य क्या मुझ आत्मशक्तिकाही महत्त्व गाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूं, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह मनुष्य उग्र वीर, ब्राह्मण, ऋषि और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥ मनुष्य खाता है, देखता है, श्वास लेता है, शब्द सुनता है वह सब (मया) मुझ शक्तिकी सहायतासे ही करता है। जो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं। सब लोग मेरा यह भाषण श्रवण करें और मुझ आत्मशक्तिपर श्रद्धा रखें. श्रद्धासे ही मुझ शक्तिसे उनको लाभ होता है ॥ ४ ॥ ज्ञानविरोधी घातक विचारोंको दूर करनेके लिये मैं ही आत्मशक्ति इस शरीरमें (रुद्राय) प्राणको प्रेरणा करती हूं, मैं ही मनुष्यको आनंद और हर्ष देती हूं, तात्पर्य इस शरीर में (द्यौः) सिरसे लेकर (पृथिवी) पैरतक मैं शक्ति रूपसे स्थित हूं ॥ ५ ॥ मैं प्राप्त करने योग्य (सोमं) अन्नका धारण यहां करती हूं, मैं ही (त्वष्टा) भेदक और (पूषा) पोषक शक्तियोंको शरीर में धारण करती हूं। मैं (हवि) उत्तम अन्न और रस स्वीकारने वाले और इस शरीररूपी यज्ञ शालामें दान सांवत्सरीक सत्र करनेवाले को उत्तम यश देती हूं ॥ ६ ॥ मैं इस शरीरके ऊपर रक्षक शक्तिको नियुक्त करती हूं, मैं यहां हृदय के अंदरके हृदयाकाशके जीवनरस में रहती हूं वहां से

हरएक अवयवमें कार्य करती हूं और ऊपर सिरतक फैलती हूं॥ ७ ॥ सब इंद्रियों और अवयवों को उत्पन्न करती हुई मैं वायुके समान फैलती हूं और इस शरीरमें सिरसे लेकर पैरतक अपनी महिमासे फैली हूं॥ ८ ॥

अध्यात्मवर्णन का मनन।

पूर्वोक्त मंत्रोंका यह आध्यात्मिक आशय है। जो आशय अपने अंदरकी शक्तियों-का होता है वह अध्यात्मिक कहलाता है। मंत्रोंमें जो देवतोंके शब्द होते हैं वे ही मनुष्य के अन्दरकी विविध शक्तियोंके वाचक होते हैं, उनको अंन्तःशक्तियोंका वाचक जानेसे आध्यात्मिक अर्थ जाना जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन कर सकते हैं। ऊपरके आध्यात्मिक अर्थका विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं पता लग जायगा कि अध्यात्ममें किस शब्दका क्या अर्थ होता है। अब इसी सूक्तका आधिभौतिक आशय देखिये। मानव संघ या प्राणिसंघके विषयका जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक भावार्थ।

" मैं राष्ट्रशक्ति (रुद्रेभिः) वीरों (वसुभिः) धनिकों (आदित्यैः) विद्या-प्रकाशक विद्वानों और (विश्वेदेवैः) सब ज्ञानियोंके साथ रहती हूं। मैं दोनों (मित्रावरुणौ) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंको, (इन्द्र-अग्नि) शूर वीरों और ज्ञानियोंको तथा (अश्विनौ) दोनों प्रकारके अश्विनी कुमारोंको अर्थात् वैद्योंको राष्ट्रमें धारण करती हूं॥ १ ॥ मैं राष्ट्रशक्ति हूं, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकत्रित करती हूं, मैं राष्ट्रशक्ती (चिकितुषी) ज्ञान बढानेवाली हूं, मैं पूजनीयोंमें सबसे मुख्य हूं, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें (भूरि-स्था-त्रां) रहकर राष्ट्रकी रक्षा करती हूं इस मुझ राष्ट्रशक्तिद्वारा (आवेशयन्तः देवाः) आवेश अर्थात् स्फुरणको प्राप्त हुए सब विद्वान लोग, मानो, मेरा ही विशेष प्रकार धारण करते हैं॥ २ ॥ मैं जैसी देवज-नोंको वैसी ही साधारण मनुष्योंको भी सेवनीय हूं अर्थात् सब मुझ राष्ट्र-शक्तिका धारण करें। मैं स्वयं कहती हूं कि जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह उग्रवीर, ज्ञानी, ऋषि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य बनता है॥ ३ ॥ राष्ट्रमें जो पुरुष अन्न भोग लेते हैं, जो देखते हैं, सुनते हैं अथवा जो श्वासोच्छ्वास

करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिसे करते हैं। (मां अमन्तवः) मुझ
राष्ट्रशक्तिका अपमान करनेवाले अथवा मुझे मान न देनेवाले लोग नाश
को प्राप्त होते हैं। हे लोगो ! यह बात तुम श्रद्धासे सुनो इसमें तुम्हारा
हित है ॥ ४॥ (ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और घातपात
रनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही (रुद्राय धनुः आतनोमि) वीर
रुषोंके पास सब शस्त्रास्त्र तैयार रखती हूं। मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग
नंदमें रहते हैं, मानो मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक अर्थात्
त्र फैली हूं ॥ ५॥ मैं राष्ट्रशक्तिही प्राप्त करने योग्य (सोमं) सोम
दि वनस्पतियोंका अन्न धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं) मैं कारीगरों-
और (पूषणं भगं) पोषण कर्ता धनवानोंका राष्ट्रमें धारण करती हूं।
हविष्मते यजमानाय) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सज्जन होते हैं,
मैं उचित प्रमाणमें धन देती हूं ॥ ६॥ मैं ही राष्ट्रशक्ति (अस्य
पितरं सुवे) इस राष्ट्रके सिरपर रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न
, मेरी उत्पत्ती (सं+उत्+द्रै) एक होकर उत्कर्षके लिये जो राष्ट्रीय
ोते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है। यहां मैं उत्पन्न होती हूं और पश्चात्
र एक कोनेमें फैलती हूं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मैं पृथ्वीसे
ैली हूं ॥ ७॥ राष्ट्रमें मैं सब संस्थाओंको आरंभ करती हूं और
। मानो, मैं प्रचंड वायुके समान संचार करती हूं, यहां तक कि
े तक मेरा अपूर्व संचार होता है, यह मेरी महिमा है ॥ ८॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिये
ीनोंकी तुलना अच्छी प्रकार करें और उत्तम बोध प्राप्त करें। वैयक्तिक
अर्थोंके विषयमें विशेष उपदेश प्राप्त करना चाहिये, क्यों कि मनुष्यका
। इन मंत्रोंके शब्द तीनों भूमिकाओंमें किस प्रकार अर्थ बताते हैं यह
से ज्ञात हो सकता है। —

आधिदैविक भाव	आधिभौतिक भाव	आध्यात्मिक भाव
मेघस्थानीय विद्युत	वीर	प्राण

वसुः	पृथिव्यादि आठ वसु	धन और धनिक	शरीरस्थ धातु
आदित्यः	सूर्य	ज्ञानप्रकाशक	मस्तिष्क
विश्वेदेवाः	सब प्रकाशमान आग्न्यादि देव	सब कर्मचारी गण	सब इंद्रिय
मित्रः	सूर्य	प्रकाशक विद्वान	नेत्र
वरुणः	चन्द्र	शान्तज्ञानी	मन
इन्द्रः	विद्युत्	शूर	जाग्रत मन्
अग्निः	अग्निः	वक्ता	वाणी
अश्विनौ	अश्विनी	वैद्य	श्वासउच्छ्वास
त्वष्टा	देवशिल्पी	कारीगर	विभाजकशक्ति
पूषा	पोषक दैवी शक्ति	पोषणकर्ता	पोषकशक्ति
समुद्रः	प्रकृति	लोगोंकी हलचल	हृदय
द्यौः	द्युलोक	ज्ञानी	सिर
पृथिवी	भूलोक	सेवक	पांव

मंत्रके शब्द इस रीतिसे अन्यान्य भूमिकाओंमें अन्यान्य अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मंत्रका संपूर्ण अर्थ जानना संभव है। व्यक्तिमें गुणोंके रूपसे अर्थ देखना है, राष्ट्रमें गुणी जनोंका भाव लेना है और विश्वमें उक्त देवोंको देखना होता है। जैसा व्यक्तिमें शौर्य गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं; इसी गुणसे गुणी बने हुए शूर क्षत्रिय वीर राष्ट्रमें होते हैं, इनमें शौर्य गुणका प्राधान्य होता है, इनका ही रूप विश्वमें इन्द्र शक्ति है जो विद्युद्रूपमें दीखती है। व्यक्तिमें शौर्य; राष्ट्रमें शूर और विश्वमें विद्युत् ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। पाठक इस प्रकार सब देवताओंकी विभूतियां जानेंगे तो उनको एकही वेद मंत्रसे सब भूमिकाओंमें क्या बोध लेना है, इसका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें "राष्ट्री" शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्तम अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बढता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्री है। यह राष्ट्र शक्ति "आदित्य, रुद्र, वसु और विश्वेदेव" इनके साथ रहती है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द क्रमशः

वाली हैं। इसलिये ये अन्तःकरणमें विना विस्मरण हुए स्थान प्राप्त करें।" अर्थात् ह एक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको योग्य और सन्मानका स्थान प्राप्त हो। औ कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मंत्रके उपदे शानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें "(प्रथमा यज्ञियानां राष्ट्री) यह राष्ट्रशक्ति पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है," इन शब्दोंद्वारा कहा है। यदि इस जगत् में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करना चाहिये और उस देवीके लिये अपना बलि देनेके लिये सिद्ध होना चाहिये।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती है जब लोग उसकी प्रीतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। ज्ञानी जन सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा त्यागी पुरुष (सः अन्नं अत्ति) अन्न भोग प्राप्त करता है ऐसा चतुर्थ मंत्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमिकी योग्य उपासना न की अथवा इसका अपमान किया, किंवा इसका योग्य सत्कार नहीं किया तो, ऐसे (अ-मन्तवः उपक्षयन्ति) राष्ट्रीय शक्तिका अपमान करनेवाले लोग सत्वर नाशको प्राप्त होते हैं। यह बात (श्रदेयं वदामि) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। पाठक राष्ट्र भक्तिका महत्त्व कितना है यह बात इस मंत्रसे जानकर कभी राष्ट्रद्रोहका कार्य न करें और सदा राष्ट्र भक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करके अपने जीवनका सर्वमेधयज्ञ करते द्वारा विजयी और यशस्वी होवें।

राष्ट्रके अंदर भी जो दुष्ट लोग होते हैं, वे सज्जनोंको क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुष्ट दुर्जन होते हैं वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और खून खराबी करते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके (रुद्राय) वीरपुरुषोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुष्यादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिका ही है। जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत होता है वह अपने शत्रुके निःपातके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार रखता ही है और योग्य प्रसं[illegible] योग्य रीतिसे उनका उपयोग करके विजय भी प्राप्त करता है। अभ्युदय प्राप्त करने[illegible] राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये जाग्रत रहना अत्यंत योग्य और अत्यंत आवश्यक भी है।

यह राष्ट्र शक्ति (त्वष्टारं) कारी[illegible]रोंका पोषण करती है इसी प्रकार जो मनुष्य जनोंका पालन पोषण करते हैं उन (पू[illegible]णं) पोषक जनोंका अथवा उन (भगं) भाग्य

वानोंका उत्तम प्रकार धारण पोषण करती है। ऐसे पुरुषोंको कभी अवनतिमें
रखती, प्रत्युत उन्नत करती है। इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यजम
यज्ञ करते हैं, अर्थात् जनताकी भलाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते
उनको कभी धनकी न्यूनता नहीं रहती। अर्थात् जितना वे दान करते हैं उससे अधि
(द्रविणा दधामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फि
उनका धन बढता ही जाता है। इस प्रकार यज्ञसे वृद्धि होती है और जनता का सुख
बढता ही जाता है।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और पालक को उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना
करना (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) यह राष्ट्र-शक्ति ही करती है। अर्थात् जीवित
और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपनी राज्य शासन व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राज्याध्यक्षका
स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसको राज्यके ऊपर नियुक्त करते हैं। यह राष्ट्र शक्तिका
उत्पत्तिस्थान (समुद्रे अन्तः) राष्ट्रीय हलचलके महासागरके अंदर होता है। "(सं०)
एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्र) गति करना अथवा प्रयत्न करना
राष्ट्रीय हलचल का स्वरूप है।" इसका ही नाम 'समुद्र' (सं+उत्+द्र) है। इस
हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएक के अन्तःकरणमें फैलती है,
मानो इस प्रकार यह (विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है, अर्थात्
भूमिसे स्वर्गतक विस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हलचलके
तय में यह रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा है।

जिस समय जनतामें राष्ट्रशक्तिका संचार होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है
कि राष्ट्रशक्ति रूप (वात इव प्रवामि) झंझावात का जोरसे प्रवाह चल रहा है।
और इसका वेग रोकना अब असंभव है। इस शक्तिका वेग यहांतक प्रचंड होता है
के (दिवः परः) द्युलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पार
ह वेग कार्य कर रहा है। आकाश पाताल इस शक्तिसे भरे हैं और कोई स्थान खाली
ीं है।

राष्ट्र शक्तिका महिमा यह है। जो इसके उपासक होते हैं वे अपने राष्ट्रको अभ्युद-
उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं यह जानकर पाठक राष्ट्रभक्ति द्वारा मिलने वाली
प्राप्त करें और आगेके अभ्युदय के लिये अपने आपको योग्य बनावें।

उत्साह ।

(३१)

(ऋषिः—ब्रह्मा, स्कन्दः । देवता मन्युः)

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृषि॒तासो॑ मरुत्वन् ।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना॒ उप॒ प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥ १ ॥
अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि ।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न्वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥२॥

अर्थ— हे (मरुत्वन् मन्यो) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी प्रेरणा करने वाले उत्साह ! (त्वया स-रथं आरुजन्तः) तेरी सहायतासे रथ सहित शत्रुको विनष्ट करते हुए और स्वयं (हर्षमाणाः हृषितासः) आनन्दित और प्रसन्नचित्त होकर (आयुधाः सं-शिशानाः) अपने आयुधों तीक्ष्ण करते हुए (तिग्म-इषवः अग्निरूपाः नरः) तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रवा अग्निके समान तेजस्वी नेतागण (उप प्र यन्तु) चढाई करें ॥ १ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (अग्निः इव) तू अग्निके समान (त्विषित सहस्व) तेजस्वी होकर शत्रुको परास्त कर । हे (सहुरे) समर्थ ! (हूतः न सेनानी ऐधि) पुकारा हुआ हमारा सेनाको चलानेवाला हो । (शत्रून हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः विभजस्व) धनको बांट दे और (ओ-जः विमानः) अपने बलको मापता हुआ (मृधः वि नुदस्व) शत्रुओंको हटा दे ॥ २ ॥

भावार्थ- मनुष्यको उत्साह हताश होने नहीं देता । जिनके मनमें उत्साह रहता है वे शत्रुओंको नष्ट करते हैं, और प्रसन्न चित्तसे अपने शस्त्रास्त्रोंको सदा सज्ज करके अपने तेजको वढाते हुए, शत्रुपर चढाई करते हैं ॥ १ ॥

उत्साहसे तेज वढता है, उत्साहसे ही शत्रु परास्त होते हैं । उत्साही पुरुष सेनाचालक होगा, तो वह शत्रुका नाश करके धन प्राप्त करता है। फिर अपने बलको वढाता हुआ दुष्टोंको दूर कर देता है ॥ २ ॥

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥
एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (मन्यो) उत्साह! (अस्मै अभिमातिं सहस्व) इसके लिये अभिमान करनेवाले शत्रुको पराजित कर (शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि) शत्रुको तोडता हुआ, मारता हुआ, और कुचलता हुआ चढाई कर । (ते उग्रं पाजः ननु आ रुरुध्रे)तेरा प्रभावशाली बल निश्चय से शत्रु को रोक सकता है। हे (एकज) अद्वितीय! (त्वं वशी वशं नयासै) तूं स्वयं संमयी होनेके कारण शत्रुको अपने वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! तू (एकः बहूनां ईडिता आसि) अकेलाही बहुतोंमें सत्कार पानेवाला है। तू (विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि) प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तम प्रकार शिक्षित कर। हे (अ-कृत्त-रुक्) अटूट प्रकाशवाले! (त्वया युजा वजं) तेरी मित्रता के साथ हम (द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि) हर्ष युक्त शब्द विजय के लिये करते हैं ॥ ४ ॥

भवार्थ—उत्साहसे शत्रुका पराजय कर और शत्रुओंका नाश उत्साहसे कर। उत्साहसे तुम्हारा बल बढेगा और तुम शत्रुको रोक सकोगे। हे शूर! तू पहिले अपना संयम कर और जब तुम अपना संयम करोगे तब तुम शत्रुकोभी वशमें कर सकोगे ॥ ३ ॥

स्वभावतः उत्साही पुरुष बहुतोंमें एकाध होता है और इसलिये सब उसका सत्कार करते हैं। शिक्षाद्वारा ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि राष्ट्रका हरएक मनुष्य उत्साही हो जावे और जीवनयुद्धमें अपना कार्य करनेमें समर्थ होवे। उत्साहसेही प्रकाश बढता है और विजय की घोषणा करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उत्साह का महत्त्व ।

वेदमें 'मन्यु' शब्द उत्साह अर्थमें आता है । जिसको 'क्रोध' अर्थ वाला मान कर बहुत लोग अर्थका अनर्थ करते हैं । इस सूक्तमें भी 'मन्यु' शब्द 'उत्साह' अर्थमें है । यह उत्साह क्या करता है देखिये-जब यह उत्साह अपने (स—रथं) मन रूपी रथपर आरूढ होता है, उस समय मनुष्य(हर्षमाणाः) प्रसन्न चित्त होते हैं, उनका (हृषितासः) मन कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनंदसे सब कार्य करनेमें समर्थ होता है । उत्साहसे (मर्+उत्+वन) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी आशा बनी रहती है, कैसी भी कठोर आपत्ति क्यों न आजाय, मन सदा उल्हसित रहता है । उत्साहसे मनुष्य (अग्नि-रूपाः नरः) अग्निके समान तेजस्वी बनते हैं । (शत्रून् हत्वा) शत्रुओंको मारनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है । जिस मनुष्यमें यह उत्साह अन्तः शक्तियोंका (नः सेनानीः) संचालक सेनापति जैसा बनता है वहां (ओजः मिमानः) बल बढता है और (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है । उत्साहसे (उग्रं पाजः) विलक्षण उग्र बल बढता है जिसके सामने (ननु आररुध्रे) कोई शत्रु ठहर नहीं सकता अर्थात् यह उत्साही पुरुष सब शत्रुओंको रोक रखता है, और पास आने नहीं देता । राष्ट्रमें (विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि) हरएक मनुष्यको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करनेसे हरएक मनुष्य अपने जीवनयुद्धमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त करनेके लिये समर्थ हो जावे । (विजयाय घोषं कृण्मसि) विजयका आनंद ध्वनि ही मनुष्य करें और कभी निराशाके कीचडमें न फंसे । यह उत्साह (विजेष-कृत्) विजय प्राप्त करानेवाला है। इस समय इन्द्रादिकोंने जो विजय प्राप्त किया है वह इसी उत्साहके बलपर ही किया है । एक बार मनमें जो मनुष्य पूर्ण निरुत्साही बनता है वह आगे जीवित भी नहीं रहता । अर्थात् जीवन भी इस उत्साहपर निर्भर रहता है । इसलिये हमारे मनका (अस्माकं अधिपाः) स्वामी यह उत्साह बने और कभी हमारे मनमें उत्साहहीनता न आवे । यह हत्साह ऐसा है कि जिसके (सह-भूत) साथ बल उत्पन्न हुआ है । अर्थात् जहां उत्साह उत्पन्न होगा वहां निःसंदेह बल उत्पन्न होगा ही । इसीलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मनमें उत्साह सदा स्थिर रखनेका प्रयत्न करे और कभी निराशाके विचार मनमें आने न दें । इसी उत्साहसे सब प्रकार के धन मनुष्य प्राप्त कर सकता है । शत्रुको परास्त करता है और विजयी होता हुआ इहपर लोकमें आनंदसे विचरता है ।

पाठक इस विचारके साथ इस सूक्त का मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें ।

(३२)

(ऋषिः—ब्रह्मा, स्कंदः । देवता—मन्युः)

यस्ते॑ म॒न्योऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओज॑ः पुष्य॑ति॒ विश्व॑मानु॒षक् ।
सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥
म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः ।
म॒न्युर्विश॑ ईळते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषा॑ः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वज्र सायक मन्यो) शस्त्रास्त्रयुक्त उत्साह ! (यः ते अविधत्) जो तेरा सेवन करता है वह (विश्वं सहः ओजः) सब बल और सामर्थ्यको (आनुषक् पुष्यति) निरन्तर पुष्ट करता है । (सहस्कृतेन सहस्वता) वलको बढानेवाले और विजयी (त्वया युजा) तुझ साहायकके साथ (वयं दासं आर्यं साह्याम) हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे ॥ १ ॥

(मन्युः इन्द्रः) उत्साहही इन्द्र है, (मन्युः एव देवः आस) उत्साह ही देव है, (मन्युः होता वरुणः जातवेदाः) उत्साहही हवन कर्ता, वरुण और जातवेद अग्नि है । वह (मन्युः) उत्साह है कि जिसकी (याः मानुषीः विशः ईडते) जो मानव प्रजाएं हैं वे सब प्रशंसा करती हैं । हे (मन्यो) उत्साह ! (सजोषाः तपसा नः पाहि) प्रीतिसे युक्त होकर तू तपसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

भावार्थ— जिसके पास उत्साह होता है, उसको सब प्रकारका बल और शस्त्रास्त्रोंका सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह हरएक प्रकारके शत्रुको वशमें कर सकता है ॥ १ ॥

इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब देव इस उत्साहके कारण ही बडे शक्तिवाले हुए हैं । मनुष्य भी इसी उत्साहकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह उत्साह अपने सामर्थ्यसे सबको बचाता है ॥ २ ॥

अभी॑हि मन्यो त॒वस॒स्तवी॑या॒न्तप॑सा यु॒जा वि ज॑हि॒ शत्रू॑न् ।
अ॒मि॒त्र॒हा वृ॑त्र॒हा द॑स्यु॒हा च॒ विश्वा॒ वसू॒न्या भ॑रा॒ त्वं नः ॥ ३ ॥
त्वं हि म॑न्यो अ॒भिभू॑त्योजाः स्वय॒म्भूर्भामो॑ अभिमातिषा॒हः ।
वि॒श्वच॑र्षणिः सहु॑रिः॒ सही॑यान॒स्मास्वोजः॒ पृत॑नासु धेहि ॥ ४ ॥
अ॒भा॒गः सन्नप॒ परे॑तो अस्मि॒ तव॒ क्रत्वा॑ तवि॒षस्य॑ प्रचेतः ।
तं त्वा॑ मन्यो अक्र॒तुर्जि॑हीडा॒हं स्वा त॒नूर्ब॑ल॒दावा॑ न॒ एहि॑ ॥ ५ ॥

अर्थ- हे (मन्यो) उत्साह ! (तवसः तवीयान् अभीहि) महान् से महा शक्तिवाला तू यहां आ। (तपसा युजा शत्रून् विजहि) अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर। (अमित्रहा, वृत्रहा, दस्युहा त्वं) शत्रुओंका नाशक, आवरण करनेवालोंका नाशक और डाकुओंका नाशक तू (नः विश्वा वसूनि आभर) हमारे लिये सब धनोंको भर दे ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तूही विजयी बलसे युक्त, (स्वयं-भूः भामः) अपनीही शक्तिसे बढनेवाला, तेजस्वी, (अभिमाति-षाहः) शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (विश्वचर्षणिः सहुरिः) सबका निरीक्षक, समर्थ, (सहीयान्) और बलिष्ठ हो। तू (पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि) युद्धोंमें हमारे अन्दर शक्ति स्थापन कर ॥ ४ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) ज्ञानवान् उत्साह ! मैं (तव तविषस्य अभागः सन्) तेरे बलका भाग न प्राप्त करनेके कारण (क्रत्वा अप परेतः अस्मि) कर्मशक्तिसे दूर हुआ हूं। इस लिये (अक्रतुः अहं तं त्वा जिहीड) कर्म हीन सा होकर मैं तेरे पास प्राप्त हुआ हूं। अतः तू (नः स्वा तनूः बलदावा आ इहि) हमको अपने शरीरसे बल का दान करता हुआ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ-उत्साहसे बल बढता है और शत्रु परास्त होते हैं। डाकु चोर और दुष्ट दूर किये जा सकते हैं और सब प्रकार का धन प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३ ॥

उत्साहसे विजयी बल प्राप्त होता है, शत्रुओंका पराभव हो जाता है, अपनी सामर्थ्य बढ जाती है, तेजस्विता फैलती है, और हरएक प्रकारका बल बढता है। वह उत्साह का बल युद्धके समय हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

जिसके पास यह उत्साह नहीं होता है, वह कर्म की शक्तिसे हीन हो

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥
अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

अर्थ-हे (सहुरे) समर्थ ! हे (विश्वदावन्) सर्वस्वदाता ! (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा ही हूं। (प्रतीचीनः नः अर्वाङ् उप एहि) प्रत्यक्षतासे हमारे पास आ। हे (मन्यो) उत्साह ! हे (वज्रिन) शस्त्रधर ! (नः अभि आववृत्स्व) हमारे पास प्राप्त हो। (आपेः बोधि) मित्रको पहचान, (उत दस्यून् हनाव) और हम शत्रुओंको मारें ॥ ६ ॥

(अभि प्र इहि) आगे बढ। (नः दक्षिणतः भव) हमारे दहनी ओर हो। (अध नः भूरि वृत्राणि जंघनाव) और हमारे सब प्रतिबन्धोंको मिटा देवें। (ते मध्वः अग्रं धरुणं) तेरे मधुर रस का मुख्य धारण करने वालेको (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं। (उभौ उपांशु प्रथमा पिबाव) हम दोनों एकान्तमें सबसे पहिले उस रसका पान करें ॥ ७ ॥

जाता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें उत्साह धारण करे और बलवान बने ॥ ५ ॥

उत्साहसे सब प्रकारका बल प्राप्त होता है। यह उत्साह हमारे मनमें आकर स्थिर रहे और उसकी सहायतासे हम मित्रोंको बढावें और शत्रुओंको दूर करें ॥ ६ ॥

उत्साह धारण करके आगे बढ। शत्रुओंको परास्त कर और मधुर भोगोंको प्राप्त कर ॥ ७ ॥

उत्साह का धारण।

पूर्व सूक्तमें कहा हुआ उत्साहका वर्णन ही इस सूक्तमें अन्य रीतिसे कहा है। जिस पुरुषमें उत्साह नहीं होता, वह अभागा होता है; ऐसा इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कहा है। यह मंत्र यहां देखने योग्य है—

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य ॥ (मं० ५)

"उत्साहके बलका भाग प्राप्त न होनेके कारण मैं कर्म शक्तिसे दूर हुआ हूं और

अभागा बना हूं । " उत्साह हीन होनेसे जो बडी भारी हानी होती है वह यह है। उत्साह हट जाते ही बल कम होता है, बल कम होते ही पुरुषार्थ शक्ति कम होती है, पुरुषार्थ प्रयत्न कम होते ही भाग्य नष्ट हो जाता है, इस रीतिसे उत्साहहीन मनुष्य नष्ट होजाता है ।

परंतु जिस समय मनमें उत्साह बढ जाता है उस समय वह उत्साही मनुष्य (स्वयं-भूः) स्वयं ही अपना अभ्युदय साधन करने लगता है, स्वयं प्रयत्न करनेके कारण (भामः) तेजस्वी बनता है, (अभिमाति-साहः) शत्रुओंको दबाता है, और (अभि-भूति-ओजाः) विशेत सामर्थ्यसे युक्त होता है । इससे भी अधिक सामर्थ्य उसकी हो जाती है जिसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना चाहता है, वह उत्साह अवश्य धारण करे । उत्साह हीन मनुष्यके लिये इस जगत्में कोई स्थान नहीं है और उत्साही पुरुषके लिये कोई बात असंभव नहीं है । पाठक इसको स्मरण रखके अपने मनमें उत्साह बढावें और पुरुषार्थ प्रयत्न करके सब प्रकार का यश प्राप्त करें और इहपर लोकमें आदर्श पुरुष बनें ।

उत्साह मनमें रहता है, यह इन्द्रका स्वभाव-धर्म है । वेदके इन्द्र सूक्तोंमें उत्साह बढानेवाला वर्णन है । जो मनुष्य अपने मनमें उत्साह बढाना चाहते हैं वे वेदके इन्द्र सूक्त पढें और उनका मनन करें । इन्द्र न थकता हुआ शत्रुका पराभव करता है, यह उसके उत्साह के कारण है । इन सूक्तोंमें भी इसी अर्थका एक मंत्र है जिसमें कहा है कि " इस उत्साहके कारण ही इन्द्र प्रभावशाली बना है ।" इसलिये पाठक इन्द्रके सूक्त मनन पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि उत्साह क्या चीज है और वह क्या कर सकता है । उत्साह बढाने के लिये उत्साही पुरुषोंके साथ संगती करना चाहिये । उत्साही ग्रंथ पढना चाहिये और किसी समय निरुत्साह का विचार मनमें आगया, तो उसको हटाकर उसके स्थानमें उत्साह का विचार स्थिर करना चाहिये। थोडा भी निरुत्साह मनमें उत्पन्न हुआ तो अल्प समयमें बढ जाता है और मनको मलिन कर देता है । इसलिये उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इस रीतिसे अपने मनकी रक्षा करें ।

पाप नाशन ।

(३३)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता-पाप्मनाशनः अग्निः)

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघम्　　॥ १ ॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।
अप नः शोशुचदघम्　　॥ २ ॥
प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।
अप नः शोशुचदघम्　　॥ ३ ॥
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।
अप नः शोशुचदघम्　　॥ ४ ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।
अप नः शोशुचदघम्　　॥ ५ ॥

अर्थ—हे (अग्ने) प्रकाशक देव ! (नः अघं अपशोशुचत्) हमारा पाप निःशेष दूर होवे और हमारे पास (रयिं शुशुग्धि) धन शुद्ध होकर आवे। (नः अघं अप शोशुचत्) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

(सुक्षेत्रिया सुगातुया) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, (च वसुया यजामहे) और धनके लिये हम यजन करते हैं। हमारा पाप दूर होवे ॥ २ ॥

(एषां यत भन्दिष्ठः प्र) इनके बीचमें जिस प्रकार अत्यंत कल्याण युक्त होऊं (अस्माकासः सूरयः च) और हमारे ज्ञानी जन भी उत्तम अवस्था प्राप्त करें । इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे (अग्ने)) तेजस्वी देव ! (यत् ते सूरयः) जैसे तेरे विद्वान हैं वैसे (ते वयं प्र जायेमहि) तेरे बनकर हम श्रेष्ठ हो जांयगे, इस लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

(यत) जैसे (सहस्वतः अग्नेः) बलवान अग्निके (भानवः विश्वतः प्रयन्ति) किरण चारों ओर फैलते हैं, उस प्रकार मेरे फैलें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू ही सब के ऊपर होनेवाला है, वैसा बननेके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (नावा इव) नौका के समान (नः द्विषः अतिपारय) हमें शत्रुओंके समुद्रसे पार कर और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

(सः) वह तू (नः अतिपर्ष) हमें पार कर (नावा सिंधुं इव) जैसे नौका से समुद्र के पार होते हैं। और (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः अघं अप शोशुचत्) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना।

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है। पापको दूर करनेसे और शुद्ध होनेसे (रयि) धन मिलता है, (सुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगातु) उत्तम मार्ग उन्नतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्ठः) कल्याण प्राप्त होता है, (सूरयः) विद्वानोंकी संगति मिलती है, (सूरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (भानवः विश्वतः यन्ति) प्रकाश चारों ओर फैलता है, (परिभूः) सबसे अधिक प्रभाव हो जाता है, (अतिपारयति) दुःख दूर हो जाते हैं और (स्वस्ति) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं। जिस प्रमाणसे पाप दूर होगा और पवित्रता हो जायगी, उस प्रमाणसे उक्त लाभ हो जायंगे। पाठक इस बातका उत्तम स्मरण रखें और जहां तक हो सके वहां तक प्रयत्न करके स्वयं निष्पाप बननेका यत्न करें, तो उक्त लाभ स्वयं ही उनके पास चलकर आ जायंगे।
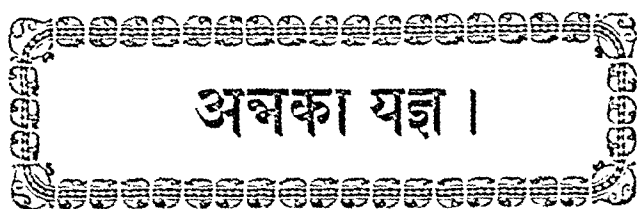
अन्नका यज्ञ ।

(३४)

(ऋषिः--अथर्वा । देवता—ब्रह्मौदनं)

ब्रह्मा॑स्य शी॒र्षं बृ॒हद॑स्य पृ॒ष्ठं वा॑मदे॒व्यमु॒दर॑मोद॒नस्य॑ ।
छन्दां॑सि प॒क्षौ मुख॑मस्य स॒त्यं वि॑ष्टा॒री जा॒तस्तप॒सोऽधि॑ य॒ज्ञः॥ १ ॥
अ॒न॒स्थाः पू॒ताः पव॑नेन शु॒द्धाः शुच॑यः शुचि॒मपि॑ यन्ति लो॒कम् ।
नैषां॑ शि॒श्नं प्र द॑हति जा॒तवे॑दाः स्व॒र्गे लो॒के ब॒हु स्त्रैण॑मेषाम् ॥ २ ॥

अर्थ- (अस्य ओदनस्य शीर्षं ब्रह्म) इस अन्नका सिर ब्रह्म है। (अस्य पृष्ठं बृहत्) इस अन्नकी पीठ बडा क्षत्र है । और (ओदनस्य उदरं वामदेव्यं) इस अन्नका उदर-मध्यभाग-उत्तम देव संबंधी है । (अस्य पक्षौ छन्दांसि) इसके दोनों पार्श्वभाग छन्द हैं और (अस्य मुखं सत्यं) इसका मुख सत्य है । इसकी (तपसः) उष्णतासे (विष्टारी यज्ञः अधिजातः) फैलनेवाला यज्ञ होता है ॥ १ ॥

(अन्-अस्थाः) अस्थिरहित, (पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः) प्राणायामसे शुद्ध, पवित्र, और निर्मल बने हुए (शुचिं लोकं अपि यन्ति) शुद्ध लोकको प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः एषां शिश्नं न प्रदहति) अग्नि इनके सुख साधन रूप इन्द्रियको नहीं जला देता और (स्वर्गे लोके एषां बहु स्त्रैणं) स्वर्गलोकमें इसको बहुत सुख होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— इस अन्नका सिर ब्राह्मण, पीठ क्षत्रिय, मध्य भाग वैश्य [और शेष भाग शूद्र] है । छंद इसके दांये बांये भाग हैं, इसका मुख सत्य है । इस अन्नसे विस्तृत यज्ञ सिद्ध होता है ॥ १ ॥

विदेही, शुद्ध, पवित्र, और निर्मल बनते हुए यज्ञकर्ता लोग उच्च लोकको प्राप्त करते हैं । सुख प्राप्त करनेके इसके इंद्रिय अग्निसे नहीं जलते हैं; उच्च लोकमें वह ये सुख प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥
विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥
एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

अर्थ- (ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (एनान् कदाचन अवर्तिः न सचते) इनको कभी भी दरिद्रता नहीं प्राप्त होती है। जो (यमे आस्ते) नियममें रहता है वह (देवान् उपयाति) देवोंको प्राप्त होता है। और वह (सोम्येभिः गन्धर्वैः संमदते) शान्त गन्धर्वोंसे मिलकर आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्न को पकाते हैं (यमः एनान् रेतः न परिमुष्णाति) यम इनके वीर्यको नहीं कम करता। वह (रथी ह भूत्वा रथयाने ईयते) रथी होकर रथ मार्गसे विचरता है। और (पक्षी ह भूत्वा अति दिवः सं एति) पक्षीके समान होकर द्युलोक को पार करके ऊपर जाता है ॥ ४ ॥

(एष यज्ञानां वहिष्ठः विततः) यह सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और विस्तृत है। इस (विष्टारिणं पक्त्वा दिवं आ विवेश) विस्तृत यज्ञका अन्न पकाकर यजमान द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। (शं-फकः मुलाली) शान्तचित्त होकर

भावार्थ- जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं उनको कभी कष्टकी अवस्था नहीं प्राप्त होती। वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम पालन करता हुआ देवत्व प्राप्त करता है और वहां का आनंद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो लोग इस अन्नदान रूप यज्ञको करते हैं वे कभी निर्वीर्य नहीं होते। वे इस लोकमें रथोंमें बैठते हैं और रथी कहलाते हैं और अन्तमें द्युलोक के भी ऊपर पंहुचते हैं ॥ ४ ॥

घृतह्र॑दा मधु॑कूला॒: सुरो॑दका॒: क्षीरे॑ण पू॒र्णा उ॑द॒केन॑ द॒ध्ना ।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु॒ सर्वा॑: स्व॒र्गे लो॒के मधु॑मत्पि॒न्वमा॑ना
उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणी॒: सम॑न्ताः ॥ ६ ॥
च॒तुर॑: कु॒म्भांश्च॑तु॒र्धा द॑दामि क्षी॒रेण॑ पू॒र्णाँ उ॑द॒केन॑ द॒ध्ना ।
ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु॒ सर्वा॑: स्व॒र्गे लो॒के मधु॑मत्पि॒न्वमा॑ना
उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणी॒: सम॑न्ताः ॥ ७ ॥

मूलशक्तिकी वृद्धि करनेवाला (आण्डीकं कुमुदं विसं शालूकं) अण्डेके समान बढनेवाले आनन्ददायक कमल कन्दके समान बढनेवाले को (सं तनोति) ठीक प्रकार फैलाता है। (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः समन्ताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(घृतन्हदाः मधुकूलाः) घीके प्रवाहवाली, मधुर रसके तटवाली, (सुरोदकाः) निर्मल जलसे युक्त (उदकेन दध्ना क्षीरेण पूर्णाः) जल, दही और दूधसे परिपूर्ण (एताः सर्वा धाराः त्वा उपयन्तु०) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों। स्वर्गलोकमें मधुररसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ६ ॥

(क्षीरेण दध्ना उदकेन पूर्णान्) दूध, दही और उदकसे भरे हुए (चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि) चार घडोंको चार प्रकारसे प्रदान करता हूं। ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों,स्वर्ग लोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ७ ॥

भावार्थ-यह अन्नयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है,जो इसको करते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं। वहां शान्तिसे युक्त होते हुए अन्तःशक्तिसे संपन्न होकर आनंद प्राप्त करते हैं। वहां सब मधुर रस अनायाससे उनको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, दही आदिके स्रोत मिलनेके समान पूर्ण तृप्ति उनको प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

दूध, दही, जल और शहद से पूर्ण भरे हुए चार घडे विद्वानोंको दान करनेसे उच्च लोक प्राप्त होकर पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥८॥

अर्थ— (इमं विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गं ओदनं) इस विस्तृत लोकोंको जीतनेवाले और स्वर्ग देनेवाले अन्नको (ब्राह्मणेषु निदधे) ज्ञानियोंके लिये प्रदान करता हूं। (स्वधया पिन्वमानः) अपनी धारक शक्तिसे तृप्त करने वाला(सः मे मा क्षेष्ट) वह अन्नदान मेरी हानि न करे। (विश्वरूपाः कामदुघा धेनुः मे अस्तु) विश्वरूपी कामना पूर्ण करनेवाली काम धेनु मेरे लिये होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ- यह अन्नका दानरूप यज्ञ करनेसे और यह अन्न ज्ञानियोंको देनेसे किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती है। अपनी शक्तिसे तृप्ति होनेकी अवस्था प्राप्त होनेके कारण, मानो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

अन्नका विष्टारी यज्ञ।

"विष्टारी यज्ञ" का वर्णन इस सूक्तमें किया है। "विष्टारी" शब्दका अर्थ है "विस्तार करनेवाला" अर्थात् जिसका परिणाम बडा विस्तृत होता है। यह यज्ञ (ओदनस्य) अन्नका किया जाता है। अन्न पका हो, या कच्चा हो, अर्थात् पका कर तैयार किया हुआ हो अथवा धान्यके रूपमें हो अथवा जिससे धान्य खरीदा जाता है ऐसे धनादिके रूपमें हो, इस सबका अर्थ एकही है।

इस सूक्तमें "पचन्ति" क्रिया है जो पकाये अन्नकी सूचना देती है, तथापि यह भाव गौण मानना भी अयोग्य नहीं होगा। सप्तम मंत्रमें (क्षीर, दधि, उदक, मधु) दूध, दही, उदक, और शहद ये चार पदार्थ विष्टारी यज्ञमें दान देनेके लिये कहे हैं। ये पदार्थ कोई पके अन्नके रूपमें नहीं हैं। दूध तपाया जा सकता है, परंतु शहद और दहि पकानेकी वस्तु नहीं है। इसलिये इस विष्टारी यज्ञकेलिये सब अन्न पकाया ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है। उत्तम पक्ष तो पकाये अन्नका दान करना अर्थात विद्वानोंको खिलाना ही है, मध्यम पक्ष विद्वानोंको धान्य समर्पण करना है और गौणपक्ष धान्य खरीदनेके धन आदि साधन अर्पण करना है। जल, शहद, दूध, घी, मक्खन, तथा खान

पानके अन्यान्य पदार्थ देना भी इस यज्ञ का अंग है। जलदान करनेका अर्थ कूआ खुदवाकर अर्पण करना, दूध देनेका तात्पर्य दूध देनेवाली गौवें देना। शहद घी आदि तैयार अवस्थामें देना इत्यादि बातें स्पष्ट हैं।

ब्राह्मणोंको दान।

यह विष्टारी यज्ञका दान ब्राह्मणों को देना चाहिये इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

इमं ओदनं निदधे ब्राह्मणेषु। (मं० ८)

"यह अन्न ब्राह्मणोंको देता हूं।" अर्थात् यह अन्न ब्राह्मणों में विभक्त करता हूं। किसी अन्य के लिये देना नहीं है। ऐसा क्यों करना इसका थोडासा विचार करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं, इनमें से क्षत्रिय राज-प्रबंध का कार्य करता है और ऐश्वर्यसंपन्न तथा अधिकारसंपन्न रहता है, इस लिये उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। वैश्य कृषि और क्रयविक्रयादि व्यापार करता है तथा सूद भी प्राप्त करता है, इस लिये धनसंपन्न होनेके कारण उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। शूद्र सब कारीगरी करनेवाले और उत्पादक धंदा करनेवाले होते हैं, इस लिये उनके पास धन होता है, अतः काम धंदा करके धन कमानेकी शक्यता होनेके कारण इनको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। निषाद प्रायः जंगल में रहते हैं, स्थायी गृहादि बनाकर नहीं रहते, वनमें जहां वन्य खाद्यपेय प्राप्त होगा, वहां जाकर निवास करते हैं। इस लिये ये किसी के पास दान नहीं मांग सकते। शेष रहे ब्राह्मण, इनके पास कोई उत्पादक धंदा नहीं कि जिससे ये धन कमावें, राज्य प्रबंधमें विशेष अधिकार इनको नहीं है जिस से क्षत्रियके समान इनकी संपन्नता बढ सके, इस लिये इसकी जन्मसिद्ध निर्धनता रहती है। दूसरेने धनधान्य दिया तो इसकी वृत्ति चलेगी, अन्यथा भूखा रहना ही आवश्यक होगा, इस लिये ब्राह्मण को दान देना चाहिये। ब्राह्मण ही दान लेनेका अधिकारी है इस का सामाजिक दृष्टिसे यह कारण है।

ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय?

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मणोंको दान क्यों दें इसका भी कारण ढूंढना चाहिये। इस सूक्तमें दान का जो फल लिखा है वह इस प्रसंगमें देखिये—

(१) शुद्ध, पवित्र, निर्मल और विदेही होकर पवित्र लोक को प्राप्त करता है। (मं० २)

(२) स्वर्गलोक प्राप्त करता है। (मं० ४)

(३) स्वर्ग लोकमें उसको मधुररस की धाराएं प्राप्त होती हैं। (मं५-७)

ये फल अलौकिक हैं अर्थात् भूलोकमें यहां प्राप्त होनेवाले नहीं हैं। स्वर्ग में क्या होता है और क्या नहीं इस विषयमें साधारण मनुष्य को यहां ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि इस विषयमें थोडासी कल्पना आनेके लिये स्वर्गका थोडासा स्वरूप कथन करते हैं —

मृत्युलोक।

(१) इहलोक— इस लोकमें मनुष्य जीवित अवस्थामें रहते हैं। स्थूल शरीरसे विचरते हैं, अपने स्थूल इंद्रियोंसे सुख दुःखका अनुभव प्राप्त करते हैं। मनुष्यका जीवन इस लोकमें होनेके कारण यहांके अनुभव प्रत्यक्षानुभव करके कहे जाते हैं।

स्वर्गलोक।

(२) परलोक—दूसरा लोक। इस में यह देह छोडनेके पश्चात् प्राप्त होनेवाले लोकोंका समावेश होता है। इस स्थूल देहसे इस जगत्में जिस प्रकार व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंसे अन्य लोकोंमें व्यवहार होते हैं परंतु इसमें थोडासा भेद है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चार प्रकार के देह मनुष्य को प्राप्त होते हैं और ये एक दूसरेके अंदर रहते हैं। जिस प्रकार स्थूल देहका कार्यक्षेत्र इस दृश्य जगत्में है, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंका कार्यक्षेत्र सूक्ष्म जगत् में होता है। स्थूल देहसे सूक्ष्म जगत् में कार्य नहीं हो सकता, परंतु सूक्ष्म देहोंसे स्थूल जगत् में अंशरूप प्रेरणाका कार्य हो सकता है यह सत्य है, तथा केवल सूक्ष्म देहोंसे अर्थात् मरण के पश्चात् अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म देह से इस स्थूल जगत् में कार्य नहीं कर सकते। इन लोकोंका विचार करनेके लिये इस व्यवस्था की ठीक कल्पना होनी चाहिये।

वासनादेह।

स्थूल देहका कार्य सब जानते ही हैं, इसके अंदर पहिला सूक्ष्म देह "वासना देह" है, भद्र और अभद्र वासना मनुष्य करता है, वह इस देहसे करता है। जो मनुष्य घात पात और हिंसा आदि की अभद्र वासनाओंसे अपने आपको अपवित्र करते हैं और इसी प्रकारके दुष्ट कार्योंमें अपनी आयु व्यतीत करते हैं, उनका यह वासना देह बडा मलिन होता है और जो लोग अपनी वासनाएं पवित्र करते हैं शुद्ध और निष्पाप कामनाओंका धारण करते हैं, उनका वासनादेह शुद्ध और पवित्र बनता है।

मृत्यु आनेसे मनुष्यका स्थूल देह नष्ट हुआ तो भी स्थूल देहके नाशसे यह "वासना देह" नष्ट नहीं होता, अर्थात् मृत्युके नंतर भी और स्थूल देह नष्ट हो जानेपर भी यह जीव अपने वासना देहसे अपनी वासनाएं करता रहता है। आमरणान्त हिंसक वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी वासनाएं हिंसामय क्रूर होती हैं और शांत तथा सम वृत्तिसे रहे हुए मनुष्याकी शांतिसे पूर्ण निर्भय वृत्तिकी वासनाएं होती हैं। हिंसापूर्ण वासनाओंसे अशांति और निर्भयताकी वासनाओंसे शांति होती है। वासना देहके कार्य क्षेत्रमें मनुष्यको इस प्रकार सुख दुःख केवल अपनी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है। बुरी वासनोंके प्राबल्यसे जो अशान्ति होती है उसीका नाम नरक है और शुभ वासनाओंकी प्रबलतासे मनुष्य स्वर्ग सोपानके मार्गसे ऊपर चढता है अर्थात् शान्तिसुखका अनुभव मरणोत्तरके कालमें भी करता है। मनुष्य अपना स्वर्ग और नरक स्वयं बनाता है ऐसा जो कहते हैं उसका हेतु यही है। जो मनुष्य अपने अंदर शुभ वासनाओंको स्थिर करता है और आत्मशुद्धिका साधन करता है वह अपने लिये स्वर्ग रचता है और जो मनुष्य अपने अंदर हीन वासनाएं बढाता है, वह अपने लिये नरकका अग्नि प्रज्वलित करता है।

नरकके दुःख।

कामी और क्रोधी पुरुष अपनी कुवासनाएं अतृप्त रहनेके समय कैसे तडफते रहते हैं, इसका अनुभव जिनको है वे जान सकते हैं कि मरणोत्तरके कालमें अशुभ वासनाओंके भडक उठनेसे मृतात्माको कैसा तडफना पडता होगा, यही उसका नरक वास है! इस वासना देहका बुरी वासनाओंका जाल जबतक चलता रहता है तबतक यह तडफना उसके लिये अत्यंत अपरिहार्य ही है और कोई दूसरा इस समय उसके इन कष्टोंको दूर नहीं कर सकता। क्यों कि उसके ये कष्ट स्वयं उसकी अंदरकी वासनाओंके कारण होते हैं। जब वासनाएं उठ उठ कर उनका परिणाम न होनेके कारण कुछ समयके पश्चात् स्वयं नष्ट होती हैं, तब उसका यह नरक वास समाप्त होता है।

इस रीतिसे शुभाशुभ वासनाकी तरंगें उठना जब बन्द हो जाता है तब इसका यह भोग समाप्त होता है, मानो इस समय इसका वासना देहभी छूट जाता है अर्थात् इस की वासना देहकी भी मृत्यु हो जाती है। इस वासना देहसे मनुष्य स्वप्न देखता है। शुभ और अशुभ स्वप्न का अनुभव होना शुभाशुभ वासनाओंसे ही होता है। यदि मनुष्य अपने स्वप्नोंका विचार करेगा, तो भी उसको अपने मरणोत्तर की स्थितिकी कल्पना हो

और धर्मवचनोंका ठीक ठीक अर्थ सबको विदित होगा। ऐसा होनेसे कई झगडे मिट जांयगे, परंतु ऐसा होने के लिये तुलनात्मक धर्म ग्रंथोंके वचनोंका विचार होना आवश्यक है। जब वह शुभ समय आ जायगा, तबही सत्य धर्म का प्रचार और विचार संभवनीय है।

मनो-रथ।

इस प्रकार स्वर्गकी पुष्करिणी और कामधेनु क्या है उसका तात्पर्य क्या और उस का अनुभव किस समय कैसा होता है इस बातका विचार हुआ। स्वर्गधाम का अनुभव 'कारण' शरीरमें पूर्वोक्त प्रकार होता है। इसको "मनोदेह" अथवा "मनोरथ" अर्थात् मनरूपी रथ भी कह सकते हैं। इसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें इस प्रकार है—

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते। (मं० ४)

"यह रथमें बैठता है और महारथी बनकर चलता है।" यह उसका 'मनो-रथ' ही है। मनके संकल्पके रथमें बैठता है और जिस सुखको चाहे केवल संकल्पसे ही प्राप्त करता है। अब पाठक यहां अवश्य देखें कि मनके शुभ संकल्प जीतेजी स्थिर होनेकी कितनी आवश्यकता है। अशुभ संकल्प हुए तो येही संकल्प राक्षस बनकर इस समय इसके पीछे पडते हैं और अनेक भयंकर दृश्योंका अनुभव यह उस समय करता है। बडे डरसे व्याकुल होता है। उसकी कल्पना पाठक पूर्वोक्त वर्णनसे ही कर सकते हैं।

शुभसंकल्पोंको मनमें स्थिर करनेवाले के लिये जो लाभ होते हैं उनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः। (मं० २)
नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः। (मं० ४)

"अग्नि शुभसंकल्पधारी मनुष्यका शिश्न जलाता नहीं, और यम उसका वीर्य कम नहीं करता।" अर्थात् जो अशुभ विचारोंका सतत चिन्तन करते रहते हैं उनका शिश्न अग्नि जलाता है और यम उनको निर्वीर्य बना देता है। इन अशुभ विचारोंके कारण वह मनुष्य इन्द्रिय शक्तियोंसे हीन होता है और क्षीणवीर्य भी बनता है। इस जगत्में भी यह अनुभव पाठकोंको मिल सकता है। जो दुराचारी होते हैं और दुष्टविचारोंसे अपने मनको कलंकित करते हैं, वे यहां ही क्षयी निर्वीर्य और निस्तेज होते हैं। मृत्युके पश्चात् वासना-देहमें जिस समय उसकी वासनाएं भडक उठतीं हैं उस समय उसके

दग्ध हो जानेके कष्ट कल्पनासे ही पाठक जान सकते हैं। विषयवासनाओंकी ज्वालाएं उठ उठ कर उसको प्रतिक्षण जला देती हैं और उस समय उसकी जलन असह्य हो जाती है। यह तो अनियमसे वर्ताव करनेवालोंकी अवस्था है। धर्मनियमोंसे चलनेवालोंकी अवस्था भी देखिये—

यमोंका पालन।

(यः) यमे आस्ते (स) उपयाति देवान्। (मं० ३)

" यो यममें रहता है वह देवोंको प्राप्त होता है " अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमोंको जो अपने आचरणमें लाता है, वह स्वर्ग निवासी देव ही बन जाता है। शुभ विचार उसके मनमें स्थिर रहनेके कारण मरनेके पश्चात् दुष्ट वासनाओंके कष्ट उसको होते ही नहीं, परंतु वह सीधा स्वर्ग धाममें कल्पवृक्षोंके वनमें कामधेनुओंका दूध पीता हुआ और अमृत रसधाराओंका मधुर आस्वाद लेता हुआ पूर्वोक्त प्रकार आनंदमें रमता और विचरता है। वह शुभ संकल्पोंसे शुद्ध पवित्र और मलहीन होकर परिशुद्ध अवस्थामें विचरता है (मं०२)। मनुष्यको प्रयत्न करके ऐसी अपनी मनोभूमिका बनाना आवश्यक है। यह सब उन्नति यज्ञसे हो जाती है। और इसी कार्य के लिये इस " विष्टारी यज्ञ " की रचना है।

ब्राह्मणका घर।

इस यज्ञमें ब्राह्मणोंको अन्नदान किया जाता है। यहां प्रश्न होता है कि यह अन्नदान ब्राह्मणोंकोही क्यों होता है और इसका बडा विस्तृत फल क्यों होता है। ब्राह्मणकी कल्पना केवल एक गृहस्थ मात्रकी कल्पना नहीं है। हरएक ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन करनेवाला होनेके कारण हरएक सच्चे ब्राह्मणका घर विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय होता है, इस लिये जो दान ऐसे ब्राह्मणको दिया जाता है वह विश्वविद्यालयकोही दिया जाता है। थोडेसे विद्यार्थियोंको पढानेवाला ब्राह्मण अध्यापक कहलाता है, सेकडों विद्यार्थियोंको विद्यादान करनेवाला ब्राह्मण आचार्य पदवीके लिये योग्य होता है और हजारों विद्यार्थियोंको विद्या देनेवाले ब्राह्मणको कुलपति कहते हैं। अर्थात् इस एकके नीचे विद्यार्थियोंकी संख्याके अनुसार सेंकडों अध्यापक होते हैं। अर्थात् ब्राह्मणका अर्थ गुरुकुल, विद्यालय और विश्वविद्यालयका आचार्य और भट्टाचार्य। इसको दान देनेसे वह दान सब विद्यार्थियोंका भला करता है अर्थात् परम्परासे वह दान राष्ट्रके हरएक घरतक पहुंचता है।

गुरु--कुल।

राष्ट्रके विद्यार्थी-प्रायः त्रैवर्णियोंके विद्यार्थी अथवा समय समय पर पंच वर्णियों के भी विद्यार्थी—ब्राह्मणों के घरोंमें रहकर विद्याभ्यास करते थे। कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं होता था कि जो अध्यापन न करता था। एक एक कुलपतिके आश्रम में दस हजार से साठ साठ हजार तक विद्यार्थी पढते थे। और प्रायः ब्राह्मणों के घर " गुरु-कुल "ही हुआ करते थे। पाठक यह अवस्था अपने आंखके सामने लावेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, ब्राह्मणको दिया हुआ दान सब राष्ट्रमें अथवा सब जनतामें किस रीतिसे विस्तृत होता है, फैलकर हरएक के पास किस रीतिसे जाकर पहुंचता है।

दानकी रीति।

ऐसे ब्राह्मणों के आश्रमों की भूमिमें कूवे खुदवाकर जलदान करना, बहुत दूध देने वाली गौवें उनको देकर दूध देना, शहद, मीठा, मिश्री, घी, मक्खन आदि का दान करना, गेहूं चावल आदि धान्य देना अथवा धान्य की जहां अच्छी उपज होती है ऐसी भूमि दान करना, अथवा आश्रम में अन्न लेजाकर वहां पकाकर वहांके आश्रम-वासियोंको खिलाना, अथवा लड्डू आदि पदार्थ बनवाकर वहां भेजना, किंवा अन्य रीतिसे अन्नदान करना। यह विष्टारी यज्ञकी रीति है। यह बडा उपकारी यज्ञ है और यह दानयज्ञ करनेसे पूर्वोक्त प्रकार स्वर्ग आदि का सुख प्राप्त हो सकता है।

शुभभावनाकी स्थिरता।

जब मनुष्य इस प्रकारका दान करता है तब उस के मनमें शुभ भावना होती है। बारंबार इस प्रकारका दान करनेसे वह शुभ भावना मनमें स्थिर हो जाती है। दान करनेसे मनकी प्रसन्नता भी बढ जाती है। स्वयं भोग भोगनेसे जो प्रसन्नता नहीं होती वह दान देनेसे प्राप्त होती है। और बारंबार दान देनेसे वह मनमें स्थिर हो जाती है। इस रीतिसे यह विष्टारी यज्ञ मनुष्यके मनपर शुभसंस्कार स्थिर करता है। येही शुभ संस्कार उसका मन जीवित अवस्थामें प्रसन्न रखने के लिये सहायक होते हैं और मरणोत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्नता देते हैं। इस रीतिसे यह यज्ञ मनुष्यकी उन्नति करता है।

मृत्युको तरना।

(३५)

(ऋषिः— प्रजापतिः । देवता-अतिमृत्युः)

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥
येनातरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥

अर्थ— (ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) ऋत नियम का पहिला प्रवर्तक प्रजापति (ब्रह्मणे यं ओदनं अपचत्) ब्रह्मके लिये जिस अन्नको पकाता रहा, (यः लोकानां वि-धृतिः) जो लोकोंका विशेष धारण करनेवाला है और (न अभि रेषात्) जो कभी किसी को हानि नहीं पहुंचाता है,(तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्न से मैं मृत्युको पार करूं ॥ १ ॥

(येन भूत-कृतः मृत्युं अतितरन्) जिससे भूतोंको बनानेवाले मृत्युके पार होगये, (यं तपसा श्रमेण अन्वविन्दन्) जिसको तप और परिश्रम-से प्राप्त किया, और (यं पूर्वं ब्रह्म ब्रह्मणे पपाच) जिसको पहिले ब्रह्मने ब्रह्मके निमित्त पकाया (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिसने संपूर्ण सत्य और अटल नियमोंका सबसे पहिले प्रवर्तन किया, उस प्रजापतिने विशेष महत्त्व प्राप्तिके लिये यह ज्ञान रूप अन्न तैयार किया, यह सब लोकोंका विशेष रीतिसे धारण पोषण करता है और इससे किसीका भी नाश नहीं होता है। इसी ज्ञानसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ १ ॥

इसीसे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले मृत्युके पार होगये, जिसकी प्राप्ति तप और परिश्रमसे होती है और जो पहिले ब्रह्मने महत्त्व प्राप्तिके लिये परिपक्व किया था, उसी ज्ञानसे मैं भी मृत्युको दूर करता हूं ॥ २ ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥
यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(यः विश्वभोजसं पृथिवीं दाधार) जो सबको भोजन देनेवाली पृथ्वीका धारण करता है, (यः रसेन अन्तरिक्षं आ पृणात्) जो रससे अन्तरिक्षको भर देता है, (यः महिम्ना ऊर्ध्वः दिवं अस्तभ्नात्) जो अपनी महिमासे ऊपर ही द्युलोक को धारण किये हुए है, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ३ ॥

(यस्मात् त्रिंशत्-अराः मासाः निः—मिताः) जिससे तीस दिन रूपी अरोंवाले महिने बनाये हैं, (यस्मात् द्वादश-अरः संवत्सरः निः मितः) जिससे बारह महिने रूप अरोंवाला वर्ष बनाया है,(परियन्तः अहोरात्राः यं न आपुः) गुजरते हुए दिन रात जिसको प्राप्त नहीं कर सकते (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ४ ॥

(यः प्राण-दः प्राण-द-वान् बभूव) जो जीवन देनेवाला प्राणके दाताओंका स्वामी ही हुआ है (यस्मै घृतवन्तः लोकाः क्षरन्ति)जिसके लिये घृतयुक्त लोक रस देते हैं, (यस्य सर्वाः प्रदिशः ज्योतिष्मतीः) जिसकी सब दिशा उपदिशाएं तेजवाली हैं (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— जिसने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जलको भर दिया और द्युलोक ऊपर स्थिर किया उस ज्ञान रूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥३॥ जिससे तीस दिनवाले माहिने और बारह माहिनों वाला वर्ष बना और प्रतिक्षण गमन करनेवाले दिन रात भी जिसका अन्त न लगा सके, उस ज्ञानरूप पकान्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥४॥ जो स्वयं जीवन शक्ति देनेवाला है और जीवन देनेवालोंका भी जो स्वामी है, जिसकी तृप्तिके लिये संपूर्ण जगत्के रस प्रवाहित हुए हैं और जिसके तेजसे सब दिशाएं तेजोमय हो चुकी हैं, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥
अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (यस्मात् पक्वात् अमृतं संबभूव) जिस परिपक्वसे अमृत उत्पन्न हुआ, (यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) जो गायत्रीका अधिपति हुआ, (यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिताः) जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ६ ॥

(देव-पीयुं द्विषन्तं अवबाधे) देवत्वके नाशक शत्रुओं को मैं हटाता हूं। (ये मे सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं वे दूर होवें। मैं (विश्व जितं ब्रह्मौदनं पचामि) विश्वको जीतनेवाला ज्ञान रूपी अन्न पकाता हूं। (देवाः श्रद्दधानस्य मे शृण्वन्तु) सब देव श्रद्धा धारण करने वाले मेरा यह भाषण सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ- जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ है, जो वाणीका पति है और जिसमें सब प्रकार का ज्ञान रखा है, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ६ ॥

देवत्वका नाश करनेवालोंको मैं प्रतिबंध करता हूं, मेरे प्रतिस्पर्धीयोंको भी मैं दूर करता हूं और जगत् को जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न परिपक्व करता हूं। मैं इसमें श्रद्धा रखनेवाला हूं अतः मेरा यह कथन सब ज्ञानी जन सुनें ॥ ७ ॥

ब्रह्मौदन।

" ब्रह्म " शब्द " ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान " इत्यादि का वाचक है। यहां विशेष कर ज्ञानवाचक है। ' ओदन ' शब्द अन्न का वाचक है। इसलिये ' ब्रह्मौदन ' शब्द ' ज्ञानरूप अन्न ' यह अर्थ बताता है। बुद्धिका अन्न ' ज्ञान ' है। शरीरका अन्न चावल आदि खाद्यपेय है। इंद्रियोंका अन्न उसके विषय हैं, मनका अन्न मन्तव्य है और बुद्धिका अन्न ज्ञान है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें ' चित् ' शब्द ज्ञान-

वाचक है, अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसका फलित यह हुआ कि आत्माका स्वभाव गुण ही ज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके, अर्थात् इसको खा कर बुद्धि पुष्ट होती है।

आत्माका गुण ज्ञान होनेसे वह सदा उसके साथ रहना स्वाभाविक है। जिस प्रकार दीप और प्रकाश एकत्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाशही ज्ञानरूप है, इस कारण वह उसके साथ रहता है। दीप कहा, अथवा प्रकाश कहा तो दोनों एक ही बात है। व्यवहार में यही बात है, मैं प्रकाशसे पढता हूं या दीपसे पढता हूं, इसका अर्थ एक ही होता है। इसी प्रकार " मैं ज्ञानसे मृत्युको पार करता हूं, अथवा मैं आत्मशक्तिसे मृत्युको पार करता हूं, या आत्मासे मृत्युको दूर करता हूं " इसका तात्पर्य एक ही है।

इस सूक्तमें "मैं ब्रह्मौदन से मृत्युको पार करता हूं" (तेन ओदनेन अतितराणि मृत्युं। मं० १-६) यह वाक्य छः वार आगया है। इसका आशय भी पूर्वोक्त प्रकार ही समझना उचित है। मैं आत्माके ज्ञानरूप अन्नसे मृत्युको दूर करता हूं। गुण और गुणीका अभेद अन्वय मान कर गुणके वर्णनसे गुणीका वर्णन यहां किया है। इसीलिये " पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक का धारक यह है " यह तृतीय मन्त्रका वर्णन सार्थ होता है। क्योंकि परमात्माने इस त्रिलोकीका धारण किया है इस विषय में किसीको सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु इसमें कहा है कि ब्रह्मौदन ने त्रिलोकीका धारण किया है। ज्ञानरूप अन्नसे त्रिलोकीका धारण हुआ है अर्थात् ज्ञान जिसका गुण है उस परमात्मासे त्रिलोकीका धारण हुआ है, यह अर्थ अब इस स्पष्टीकरणसे स्पष्ट हुआ।

इसी दृष्टिसे तृतीय चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका आशय जानना उचित है। "जिसका ज्ञान गुण है उसी आत्माने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जल भर दिया और आकाशको ऊपर स्थिर किया है० ॥ ३ ॥ उसी आत्मासे सूर्य चंद्रादिकी गति होकर दिन, महिने और वर्ष बनते हैं, परंतु ये काल के अवयव कालको मापते हुए भी उस परमात्माका मापन करनेमें असमर्थ हैं० ॥ ४ ॥ यह सबको जीवन देता है और सब अन्य जीवन देनेवालोंका यह ईश है, अर्थात् इसकी शक्ति प्राप्त करकेही वे सब जीवन देनेमें समर्थ होते हैं। सब पदार्थमात्र में जो रस होते हैं वे जिसको एक समय ही प्राप्त होते हैं और सब जगत् की दिशा उपदिशाएं जिसके तेजसे तेजस्वी

बनी हैं, उसके ज्ञानामृतसे पुष्ट होता हुआ मैं मृत्युको दूर करता हूं॥ ५ ॥

यह इन तीनों मंत्रोंका आशय है। इन मंत्रोंमें गुणोंके वर्णनसे गुणीका वर्णन किया है। अर्थात् उस आत्मामें जो रस भरा है उसीको प्राप्त करके अमर बनना है और मृत्युको दूर करना है।

अमृतकी प्राप्ति।

आगे छठे मंत्रमें, कहाही है कि 'यस्मात् पक्वात् अमृतं सं बभूव (मं० ६) जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ, उस अमृत को प्राप्त करके मैं मृत्युको दूर करता हूं। यह बात स्पष्टही है कि परमात्मा सबसे अधिक परिपक्व, पूर्ण, रसमय, और अमृतरस युक्त है तथा उसी का पान करके सब अन्य जन तृप्त होते हैं। यही गायकी रक्षा (गाय-त्री) करनेवाली वाग्देवी का अधिपति है, इसी लिये उसमें सब वेद रखे हैं। जिसमें वाणी रहती है उसीमें वेद रहते हैं। यह षष्ठ मंत्रका कथन अब स्पष्ट होगया है।

आत्मशुद्धि।

सप्तम मन्त्रमें आत्मशुद्धिपर बहुत जोर दिया है, इसका आशय यह है- (१) देव निन्दकोंको दूर करना, (२) प्रतिस्पर्धियोंको दूर करना, (३) सत्यपर श्रद्धा रखना, (४) और विश्वमें विजयके लिये इस ब्रह्मज्ञानरूपी अन्न को पकाना और पश्चात् अन्यों के साथ स्वयं उसको सेवन करना। इससे मनुष्यकी उन्नति होगी और वह मृत्युको दूर कर सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। देवकी निंदा करनेके श्रद्धाहीन विचार अपने मनमें उत्पन्न हुए तथा कामक्रोधादि विरोधी भाव मनमें आये, तो उनको दूर करनेसे आत्मशुद्धि होती है और अन्य श्रद्धादिके धारण करनेसे उन्नति होती है। इस रीतिसे मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ मृत्युको दूर कर सकता है।

तप।

यह सब तपके आचरणसे और परिश्रमसे साध्य हो सकता है। जो तप करेंगे और आत्मोद्धारके लिये तप करेंगे वेही अपना उद्धार कर सकते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन ध्यानमें धारण करके पाठक तपके आचरण द्वारा अपने आपको पवित्र करके मृत्युको दूर करेंगे तो उनका जीवन सफल होगा।

सत्यका बल।

(३६)

(ऋषिः— चातनः। देवता-सत्यौजा अग्निः)

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥
यो नो दिप्सादद्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सत्य-ओजाः वैश्वा-नरः) सत्य बलवाला विश्वका नेता (वृषा अग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्रदहतु) उनको भस्म कर डाले, (यः नः दुरस्यात्) जो हमें दुष्ट अवस्थामें फेंके, (च दिप्सात्) नाश करे, (अथो यः नः अरातीयात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान वर्ताव करे ॥ १ ॥

(यः अदिप्सतः नः दिप्सात्) जो निरपराधी हम सबका नाश करनेका यत्न करे, अथवा (यः च दिप्सतः दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी स्वयंही कष्ट देता है, (वैश्वा-नरस्य अग्नेः दंष्ट्रयोः) विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों दाढोंमें (तं अपि दधामि) उसको मैं धरता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जो लोगोंको बुरी अवस्था में फेंक देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और शत्रुता करते हैं, उन को सत्य बलवाला विश्वचालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमारा थोडासा अन्याय होनेपर भी जो अपने हाथ में अधिकार लेता हुआ हमारा नाश करता है, उसको विश्वचालक तेजस्वी देव की दाढों में मैं धर देता हूं ॥ २ ॥

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे मावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वास्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥
सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥
ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।
नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

अर्थ-(ये आगरे) जो घरमें (प्रति क्रोशे अमावास्ये) कलहके अवसर में अथवा अमावास्याकी रात्रीमें (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं, (अन्यान्) दिप्सतः क्रव्यादः तान् सर्वान्) दूसरोंके घातक मांसभोजी उन सबको (सहसा सहे) अपने बलसे पराभूत करता हूं ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्तपीने वालोंका बलसे पराभव करता हूं। (एषां द्रविणं ददे) इनका धन लेता हूं। (दुरस्यतो सर्वान् हन्मि) दुष्ट अवस्थातक पंहुंचानेवाले सब दुष्टोंका नाश करता हूं। (मे आकूतिः संऋध्यतां) मेरी यह संकल्प सफल हो जावे ॥ ४ ॥

(ये देवाः तेन हासन्ते) जो दिव्य जन उसके साथ हंसी खेल करते हैं, (सूर्येण जवं मिमते) और सूर्यसे वेग का परिमाण करते हैं, उनसे और (नदीषु पर्वतेषु ये तैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं (संविदे) मिलता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ-जो घरमें, कलहके समयमें अथवा अमावास्याकी अंधेरी रात्रीमें ढूंढ ढूंढ कर लोगोंको सताते हैं उन सबको अपने बलसे मैं दूर करता हूं॥३॥

रक्त पीने वाले दुष्टोंको मैं दूर करता हूं, और इनका धन छीनता हूं। क्लेश देनेवाले इन दुष्टों का मैं समूल नाश करता हूं। यह मेरी इच्छा सफल हो जावे ॥ ४ ॥

जो सज्जन सदा अपनेही निजानंदमें मस्त रहते हैं और सूर्यकी गतिसे अपने वेगको मिनते हैं उनके साथ, मित्रता करता हूं,इतनाही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मत्स्यादि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले चतुष्पाद प्राणियों के साथ भी मैं अपनी मित्रता पहुंचाता हूं ॥ ५ ॥

ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितां जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥
अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ-(हस्तिनं मशकाः इव) हाथीको जिस प्रकार मच्छर उस प्रकार (ये मां लपिताः क्रोधयन्ति) जो मुझे बकबक करनेवाले क्रुद्ध करते हैं, (तान् अल्पशयून् इव) उनको अल्प कीटकोंके समान (अहं जने दुर्हितान् मन्ये) मैं लोकोंमें दुःख बढानेवाले मानता हूं ॥ ९ ॥

(तं निर्ऋतिः अभिधत्तां) उसको दुर्गति प्राप्त होवे (अश्वाभिधान्या अश्वं इव) घोडा बांधने की रस्सी जैसे घोडेको प्राप्त होती है । (यः मल्वः मह्यं क्रुध्यति) जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है (सः उ पाशान् न मुच्यते) वह पाशोंसे नहीं छूटता है ॥ १० ॥

भावार्थ-जो दुर्जन अपने दुराचार के द्वारा मुझे क्रोधित करते हैं वे नष्ट होते हैं, क्यों कि मैं जानता हूं कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पंहुचते हैं ॥ ९ ॥ जो मलिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे दुर्गतिको निःसंदेह प्राप्त होते हैं और वे बंधनमें फंस जाते हैं । ॥ १० ॥

सत्यका बल ।

सत्य का बल कितना बडा होता है इसका मनोरंजक वर्णन इस सूक्तमें किया है । सप्तम और अष्टम मंत्रमें कहा है कि— " जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान हुआ मनुष्य पहुंचता है, उस ग्रामसे चोर डाकू लुटेरे दुष्ट और दूसरेका खून चूसनेवाले दूर हो जाते हैं । सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता । सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहांसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहां रहे भी तो वे अपने पापी विचार को त्याग देते हैं ॥ (मं. ७-८) "

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ हुआ तो ग्रामका सुधार हो जाता है । एक मनुष्य सत्यनिष्ठ होनेसे अर्थात् उसके कायावाचामनसा असत्यके कुविचार न उत्पन्न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उक्त प्रकार सुधार कर सकता है ।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्योंकि वे (पिशाचाः) अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका खून चूसनेवाले हिंसक होते हैं । वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हिंसकोंका हिंसा भाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिसे कहे हैं । इसी हेतुसे इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें नदीयों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले जीवजन्तुओंके साथ (सं विदे) संवेदना करनेकी सूचना दी है । संवेदनाका अर्थ ' अपने सुखदुःखके समान उनको भी सुखदुःख होता है ' इस भावकी मनम जाग्रति करना है ।

सुधारके दो उपाय ।

ये नदीषु पर्वतेषु (पशवः सन्ति) तैः पशुभिः संविदे । (मं० ५)

" जो नदियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनसे मैं सहृदयता अपने मनमें धारण करता हूं । " यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करनी चाहिये । " मेरेसे किसीभी जीवजन्तुके लिये कोई भय नहीं होगा, " यह संकल्प करना चाहिये । इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केन्द्र अपने अन्तःकरणमें जाग्रत होना चाहिये, पश्चात् सब उन्नतियां होनी संभव हैं । यह अपने हृदयकी तैयारी होनेके पश्चात्—

ये देवाः तेन हासन्ते, सूर्येण जवं मिमते । (मं० ५)

"जो देव उस आत्मानन्दसे सदा हंसते रहते हैं और अपनी उन्नतिका वेग सूर्यकी गतिसे मापते हैं ।" उन से संगति करनी है । जब पहिले अपने मनके अंदर अहिंसा स्थिर हो जायगी, तब ही ऐसे श्रेष्ठ सज्जनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा । अर्थात् सुधारके उपाय दो हैं, एक अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाना और दूसरा यह है कि दिव्य जनोंसे मित्रता करना । इस प्रकार मनुष्य अचूक उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढ सकता है ।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस ग्राममें पंहुंचता है, उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य रहते नहीं और रहे तो वे अपनी दुष्टता दूर करके ही रहते हैं । यह सप्तम और अष्टम मंत्रका कथन विचारशील पाठकोंके मनन करने योग्य है । इस कसौटीसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उन्नतिका मार्ग आक्रान्त करना चाहिये ।

रोगकृमिका नाश।

(३७)

(ऋषिः— बादरायणिः। देवता —अजशृंगी। अप्सराः)

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

अर्थ—हे (ओषधे) औषधे! (त्वया अथर्वाणः रक्षांसि जघ्नुः) तेरे द्वारा आथर्वणीविद्या जाननेवाले वैद्य रोगक्रिमियोंका नाश करते हैं। (कश्यपः त्वया जघान) कश्यपने भी तेरे द्वारा नाश किया। (कण्वः अगस्त्यः त्वया) कण्व और अगस्त्यने भी तेरे द्वारा रोगोंका नाश किया ॥ १ ॥

हे (अजशृंगि) अजशृंगी औषधि! (त्वया वयं अप्सरः गंधर्वान् चातयामहे) तेरे द्वारा हम जलमें फैलनेवाले गायक क्रिमियोंको दूर हटाते हैं। (गन्धेन सर्वान् रक्षः अज, नाशय) अपने गन्धसे सब रोग क्रिमियोंको दूर कर और नाश कर ॥ २ ॥

भावार्थ-अज शृंगी औषधिकी सहायतासे आथर्वण, कश्यप, कण्व, अगस्ति ने रोगक्रिमियोंका नाश किया ॥ १ ॥

अजशृंगी के द्वारा हम रोग कृमियोंको दूर करते हैं, इस वनस्पति के गन्धसे ही रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ २ ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम् ।
गुग्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥
यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥
यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

अर्थ- (अप्सरसः अपां तारं अवश्वसं नदीं यन्तु) जलके कृमि जलसे परिपूर्ण भरी हुई वेगवाली नदीके प्रति जांये। (गुग्गुलूः) गुग्गुल, (पीला) पीलु, (नलदी) मांसी, (औक्षगन्धि) औक्षगन्धी, (प्रमन्दिनी) प्रमोदिनी ये पांच औषधियां हैं। यह (प्रतिबुद्धा अभूतन) जान जाओ और (तत्) इस लिये हे (अप्सरसः) जलमें फैलने वाले कृमियो ! (परा इत) यहांसे दूर जाओ ॥ ३ ॥

(यत्र अश्वत्थाः न्यग्रोधाः) जहां पीपल वट (शिखंडिनः महावृक्षाः) शिखण्डी आदि महावृक्ष होते हैं, (अप्सरसः) हे जलोत्पन्न क्रिमियो ! (तत् परा इत) वहांसे दूर भागो, (प्रतिबुद्धाः अभूतन) यह स्मरण रखो ॥ ४ ॥

(यत्र वः प्रेङ्खा हरिताः) जहां तुम्हारे हिलनेवाले हरे भरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत यत्र आघाटाः कर्कर्यः) और जहां आघाट और कर्करी वृक्ष अथवा कर कर शब्द करनेवाले वृक्ष रहते हैं, वहां हे (अप्सरसः) जल संचारी कृमियो ! (प्रतिबुद्धाः अभूतन) सचेत होओ और (तत् परा इत) वहांसे दूर जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ— ये क्रिमि नदीके जलमें होते हैं और गुगुल, पीलु, मांसी, औक्षगन्धी, प्रमोदिनी इन वनस्पतियोंसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

जहां पीपल, वड आदि महावृक्ष होते हैं वहांसे ये रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जहां वेगवाले अर्जुन वृक्ष, कर्कर करनेवाले और आघाट वृक्ष होते हैं वहांसे भी ये क्रिमि दूर होते हैं ॥ ५ ॥

एयम॑गन्नोष॑धीनां वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती ।
अ॒जशृ॒ङ्ग्य॑रा॒टकी॑ ती॒क्ष्णशृ॑ङ्गी॒ व्यृ॑षतु ॥ ६ ॥
आ॒नृत्य॑तः शि॒खण्डि॑नो गन्ध॒र्वस्या॑प्सरापतेः ।
भि॒नद्मि॑ मु॒ष्काव॑पि॒ यामि॒ शेपः॑ ॥ ७ ॥
भी॒मा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर॑य॒स्मयीः॑ ।
ताभि॑र्हवि॒रदा॑न्ग॒न्धर्वा॑नवका॒दान्व्यृ॑षतु ॥ ८ ॥
भी॒मा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर्हि॑र॒ण्ययीः॑ ।
ताभि॑र्हवि॒रदा॑न्गन्ध॒र्वाँ अ॑वका॒दान्व्यृ॑षतु ॥ ९ ॥

अर्थ- (वीरुधां ओषधीनां वीर्यावती) विशेष प्रकार उगनेवाली औषधियोंमें अधिक वीर्यशाली (इयं अजशृंगी आ अगन्) यह अजशृंगी प्राप्त हुई है। यह (अराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषत) रोगनाशक तीक्ष्णशृंगी औषधी रोगनाश करे ॥ ६ ॥

(आनृत्यतः शिखण्डिनः गंधर्वस्य) नाचनेवाले चोटीवाले गायक (अप्सरापतेः) जलसंचारी कृमियोंके मुखियाका (मुष्कौ भिनद्मि) अण्डकोश तोड देता हूं और (शेपः अपियामि) उसके प्रजननांगका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

(इन्द्रस्य शतं अयस्मयीः हेतयः ऋष्टीः भीमाः) सूर्यकी, सेंकडों लोहमय हथियारोंके समान किरणें भयंकर हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक (गंधर्वान् व्यृषतु) कृमियोंका विनाश करे ॥८॥

(इन्द्रस्य हिरण्मयीः ऋष्टीः) सूर्यकी सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें (शतं हेतयः भीमाः) सेंकडों शस्त्रोंके समान भयंकर है (ताभिः हविरदान् अवकादान् गंधर्वान् व्यृषतु) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक रोगकृमियोंका विनाश करे ॥ ९ ॥

भावार्थ- सब वनस्पतियोंमें अजशृंगी बडी वीर्यवाली औषधी है इससे निःसंदेह रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ६ ॥

इससे इन क्रिमियोंके वीर्यस्थानभी नाश किये जा सकते हैं ॥ ७ ॥

सूर्यकी किरणें ऐसी प्रबल हैं कि जिनसे ये क्रिमि दूर हो जाते हैं ॥ ८ ॥

सूर्यकी सुवर्णके रंगवाली किरणें बडी प्रभावशाली हैं जिनके योगसे रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ९ ॥

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् ।
पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥
श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियः ॥
तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥
जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ- हे (औषधे) औषधी (अवकादान् अभिशोचान्) हिंसक और दाह करनेवाले (मामकान् अप्सु ज्योतय) मेरे शरीरके अंदरके जलाशोंमें रहनेवालोंको जला दे । (सर्वान् पिशाचान् प्रमृणीहि) सब रक्तशोषण करने वालोंका नाश कर और (सहस्व च) दबा दे ॥ १० ॥

(एकः श्वा इव) एक कुत्तेके समान है, (एकः कपिः इव) एक बन्दरके समान है, (सर्वकेशकः कुमारः) जिसके सब शरीरपर बाल होते हैं ऐसे कुमारके समान एक है । (प्रियः दृशः इव भूत्वा) प्रियदर्शीके समान होकर (गंधर्वः स्त्रियः सचते) गंधर्व संज्ञक रोग कृमि स्त्रियों को पकडता है । (वीर्यावता ब्रह्मणा तं इतः नाशयामसि) वीर्यवाली ब्राह्मी नामक औषधिसे उसका यहां से हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयं पतयः) तुम पति हो, (अप्सरसः वः जाया इत्) अप्सराएं तुम्हारी स्त्रियां हैं । (अमर्त्याः) हे अमरों ! (अप धावत) यहांसे दूर हट जाओ, (मर्त्यान् मा सचध्वं) मनुष्यों को मत पकडो ॥ १२ ॥

भावार्थ— इस औषधीसे मेरे शरीरके अंदर जलाशमें जो इनका स्थान है और जिनके कारण मेरा शरीरका रक्त सूखता है उनका नाश किया जावे । १० ॥

कुत्ते और बंदरके समान प्रभाव करनेवाले ये रोगोत्पादक क्रिमि स्त्रियोंको पीडा देते हैं, इनको ब्राह्मी वनस्पतिसे दूर किया जाता है ॥ ११ ॥

इस उपायसे इन रोगमूलोंको दूर किया जाता है ॥ १२ ॥

रोग-क्रिमि।

इस सूक्तमें " रक्षः, रक्षस्, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच, " ये शब्द रोगोत्पादक जन्तुविशेषोंके वाचक हैं। वैद्यक ग्रंथोंमे इन रोगोंके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

(१) गंधर्वग्रहः—माधव निदानमें इसका वर्णन ऐसा मिलता है—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गंधर्वग्रहपीडितो मनुष्यः॥ (मा० नि०)

गंधर्वग्रहसे पीडित मनुष्यका अन्तःकरण आनंदित होता है वह वनोपवनमें विहार करना चाहता है, गानावजाना प्रिय लगता है, नाचता है और हंसता है, इत्यादि लक्षण गंधर्व ग्रहके लक्षण हैं।

(२) पिशाचग्रहः—इसका लक्षण माधव निदानमें इस प्रकार कहा है—

" उध्द्वस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोमः।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥
(मा० नि०)

" दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र रहनेवाला, बहुत खानेवाला, बडबडनेवाला, रोने पीटने वाला आदि प्रकार करनेवाला रोगी पिशाच ग्रहसे पीडित होता है।"

" रक्षः, रक्षस् और राक्षस् " ये शब्द भी इसी प्रकारके रोगोंके वाचक हैं। इस विषयमें रक्षोघ्न औषधि प्रयोगभी वैद्यक ग्रंथमें दिये हैं। देखिये—

(१) भूतघ्नी—भूतरोगका नाश करनेवाली औषधि। प्रपौंडरीक, मुण्डरीक, तुलसी, शङ्खपुष्पी ये औषधियां भूतरोगनाशक हैं।

(२) भूतघ्नः—भूर्ज वृक्ष, सर्षप वृक्ष।

(३) भूतनाशन—भिलावाँ, हिंगु वृक्ष, रुद्राक्ष।

(४) भूतहन्त्री—दूर्वा, वन्ध्याकर्कोटकी वल्ली।

(५) पिशाचघ्नः—श्वेतसर्षप वृक्ष।

(६) रक्षोघ्नं—काञ्जिक, हिंगु, भिलावा, नागरंग, वचा।

(७) रक्षोहा—महिषाक्ष गुग्गुली, गुग्गुल।

इस सूक्तमें भी तृतीय मंत्रमें गुग्गुल वृक्षको राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच आदिका नाशक कहा है, इससे ये शब्द किसी प्रकारके रोगविशेषोंके वाचक हैं यह बात

सिद्ध होती है । ऊपर लिखे वृक्ष और वनस्पतियां राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाचोंको दूर करती हैं, इससे सिद्ध होता है कि ये रोगविशेष हैं ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि "अजशृंगीके गन्धसे सब राक्षस (नाशय) नष्ट होते हैं और (अज) भाग जाते हैं । (मं० २)" अर्थात् ये राक्षस सूक्ष्म कृमि अथवा सूक्ष्म रोग-जन्तु होंगे । इस अजशृंगी औषधिसे गंधर्व, अप्सरा और राक्षस रोग दूर होते हैं, यह द्वितीय मंत्रका कथन है । इस अजशृंगीका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें देखिये—

अजशृंगी— "कटुः, तिक्ता, कफार्शःशूलशोथघ्नी
चक्षुष्या श्वासहृद्रोगविषकासकुष्टघ्नी च । एतत्फलं
तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं जठरानलदीप्तिकृत हृद्यं
रुच्यं, लवणरसं अम्लरसं च ॥ रा० नि० व० ९

"अजशृंगी औषधी कफ, बवासीर, शूल, सूजन का नाश करनेवाली, आंखके दोष दूर करनेवाली, श्वास, हृदय रोग, विष, कास, कुष्ट दूर करनेवाली है । इसका फल कफ और वात दूर करनेवाला, पाचक, आदि गुणवाला है ।" इसमें मंत्रोक्त रोगोंका नाम नहीं है । तथापि आधुनिक वैद्य ग्रंथोंकी अपेक्षा वेदने यह विशेष ज्ञान कहा है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये ।

लक्षण ।

इन भूतरोगोंके लक्षण ग्यारहवे मंत्रमें कहे हैं ये अब देखिये—

(१) श्वाइव-कुत्तेके समान काटता है,

(२) कपिःइव-बंदरके समान कुचेष्टा करता है,

ये लक्षण पिशाच बाधित मनुष्योंमें दिखाई देते हैं । वे रोगी कुत्तेके समान और बंदर के समान व्यवहार करते हैं । जिन रोगोंमें मनुष्य ऐसे व्यवहार करता है उनको उन्माद रोग कहा जाता है । इस उन्मादके ही पिशाच, भूत, रक्षः, राक्षस, गंधर्व और अप्सरा ये नाम अथवा भेद हैं । और इनका नाश इस सूक्त में कहे औषधियों से होता है । औषधियोंसे इनका नाश होता है, इसकारण ये सजीव सूक्ष्म देही क्रिमी होना संभव है, इसके अतिरिक्त 'पिशाच' शब्द इनका रुधिर भक्षक होना सिद्ध करता है, अर्थात् ये क्रिमि शरीरमें जाकर शरीरकाही रुधिर खाते हैं और शरीर को कृश करते हैं । इन का नाश निम्नलिखित औषधियोंसे होता है । इन औषधियोंके गुणधर्म देखिये—

(१) गुग्गुलूः—इसके संस्कृत नाम ये हैं— " देवधूप, भूतहरः, यातुघ्नः,

रक्षोहा, " ये इस के नाम इस सूक्तके कथन के साथ संगत होते हैं, अर्थात् इस गुग्गुलके धूपसे भूत, राक्षस, यातुधान नाश होते हैं, यह बात इन शब्दोंसे ही सिद्ध होती है । अब इसके गुण देखिये -

> जराव्याधि हरत्वाद्रसायनः । कटुतिक्तोष्णः कफवातकासघ्नः ।
> कृमिवातोदरप्लीहाशोफार्शोघ्नः ॥ रा० नि० व० ॥ १२ ॥

" इससे बुढापा, और रोग दूर होते हैं, यह कफ, वात, श्वास, कृमि, उदर, प्लीहा, सूजन, बवासीर रोगोंको दूर करता है । " इस वर्णनसे इसका महत्त्व ध्यानमें आसकता है । (मं ३)

(२) पीला, पीलु—मंत्रमें ' पीला ' शब्द है, इसका अर्थ चूंटी है । ' पीलु ' शब्द वनस्पति वाचक है जिसको हिंदी भाषा में ' झलू ' कहा जाता है । यह कफ वात पित्त दोषोंको दूर करता है । (मं ३) (भा०प्र.)

(३) नलदा, नलदी= जटामांसीका यह नाम है । इस के गुण— " जटामांसी कफहृत्, भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी । (रा. नि. व. १२) इस औषधीसे कफरोग, भूतरोग, पित्तरोग ये दूर होते हैं । इस में भूतरोग शमन इस सूक्त के साथ संगत होता है । (मं ३)

(४) औक्षगंधि=ऋषभक औषधीका यह नाम है । इसके गुण—"बल बढानेवाला, शुक्र बढानेवाला, पित्तरक्त दोष दूर करनेवाला, दाह क्षय ज्वरका नाशक है । " (रा० नि० व० ५) वाजीकरण में इसका बहुत उपयोग होता है ।

(५) प्रमंदनी= धातकी वृक्ष । हिंदी भाषामें " धावई ' कहते हैं । इस के गुण " कटुः, उष्णा, मदकृद्विषघ्नी. प्रवाहिकातिसारघ्नी. विसर्पव्रणनाशी च । (रा०नि० ६) तृष्णातिसारपित्तास्रविषकृमिविसर्पजित् । (भा० प्र.) " यह औषधि विष नाशक, अतिसार, विसर्प व्रण और कृमि दोष दूर करनेवाली है । (मं० ३)

इन औषधियोंसे भूत रोग आदि ऊपर लिखे रोग दूर होते हैं । इसी प्रकार के लिये अश्वत्थ, पिप्पल आदि महावृक्ष उपयोगी हैं ऐसा चतुर्थ और पंचम मंत्रमें कहा है । इस विषयमें वैद्यशास्त्र का कथन देखिये—

(१) अश्वत्थः—हिंदीभाषामें इसको ' पिंपल ' कहते हैं । [illegible] ' कहते हैं, क्यों कि यह [illegible] करता है । इसके गुण— ' [illegible] योनिदोषघ्नः [illegible] (रा. नि. व. [illegible]) [illegible]

दोष दूर करता है और योनिदोषोंको दूर करता है। यहां पाठक स्मरण रखें स्त्रियोंको जो भूत प्रेतादि रोग होते हैं वे विशेष कर योनिस्थानके दोषसे ही होते इस कारण इस वृक्षका पाठ इस सूक्तमें किया है। इसके फलों के गुण देखिये—

> अश्वत्थवृक्षस्य फलानि पक्वान्यतीवहृद्यानि च शीतलानि।
> कुर्वन्ति पित्तास्रविषार्तिदाहं विच्छर्दिशोषारुचिदोषनाशनम्॥
>
> रा० नि० व० ११

(१) " पीपरका फल पकनेपर शीतल और हृदयके लिये हितकारी होता है। पित्त रक्तस्राव, विष, पीडा, दाह, वमन, शोष, अरुची आदि दोषोंको दूर करता है। "

(२) न्यग्रोधः— वट, वड, वर, वर्गट। इस वडके गुण ये हैं— " कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः योनिदोषहृत्। (भा०प्र०) ज्वरदाहतृष्णामोहव्रणशोफघ्नश्च। (रा० नि० व० ११) यह वड कफ पित्त व्रण योनिदोष ज्वर दाह तृष्णा मूर्च्छा सूजन आदि रोगोंका नाश करता है।

(३) शिखण्डी– गुञ्जा नामक लता, मोर अथवा मोरका पङ्ख, और स्वर्णयूथिका का वाचक यह शब्द है।

(४) अर्जुनः– हिंदीभाषामें इसको ' कहू, कौह ' कहते हैं। इसके गुण ये हैं— " कफघ्नः, व्रणशोधनः, पित्तश्रमतृष्णाहरः, वातकोपनश्च। (रा० नि० व० ९) शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषरक्तहरो मेदोमेहव्रणघ्नस्तुवरः कफपित्तघ्नश्च। (भा० पू० १ भ० वटादि०) " यह अर्जुन वृक्ष कफ, व्रण, पित्त, श्रम, तृष्णा को दूर करता है। हृदयके लिये हितकारी है। व्रण क्षय विष रक्त दोष दूर करता है। मेदादि रोग दूर करता है।

(५ ... ाच व...) – अपामार्ग औषधि। हिंदीमें लटाजिरा, चिरचिरा कहते हैं। इस समान व्यवहार पर...) आघाटः।) ...र्ववेद का०४ सू०१७—१९ विवरण सहित पढिये। इसमें अपा-
...द कई सूक्त हैं (अथ... मार्गके गुणधर्म लिखे हैं।

(६) कर्करी— क...र्कटी, कांकडी। [इसके विषयमें अर्थकी खोज करना चाहिये]

ये सब वृक्ष और लताएं ... पूर्वोक्त रोग दूर करती हैं। इनका वैद्यक ग्रंथोक्त वर्णन और वेद मन्त्रोक्त वर्णन पाठक ...उक तुलना करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदने इन रोगोंके विषयमें ... विशेष ही कहा है।

आठम और नवम मन्त्रमें ...सूर्य किरणोंका उपयोग पूर्वोक्त रोग दूर करनेके कार्यमें हो... कता है ऐसा प्रति... ।

सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥
या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥
सूर्यस्य रश्मीननु याः सञ्चरन्ति मरीचीर्वा या अनुसञ्चरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वा लोकान्पर्येति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणो३ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

कुशल बुद्धिसे प्रगतिको प्राप्त करे।(सा पयस्वती नः आ एतु) वह अन्नवाली उत्तम स्त्री हमारे पास आवे जिससे (नः इदं धनं मा जैषुः) हमारा यह धन कोई दूसरे न ले जांय ॥ ३ ॥

(शुचं क्रोधं च बिभ्रती) शोक और क्रोधको धारण करती हुई भी (याः अक्षेषु प्रमोदन्ते) जो अपने आंखों में आनन्दित वृत्ति रखती है (तां आनन्दिनीं प्रमोदिनीं अप्सरां) उस आनन्द और उल्हास देनेवाली सुन्दर स्त्रीको (इह हुए) यहां मैं बुलाता हूं ॥ ४ ॥

(याः सूर्यस्य रश्मीन् अनुसंचरन्ति) जो सूर्यके किरणोंमें अनुकूल संचार करती हैं, (वा याः मरीचीः अनुसंचरन्ति) अथवा जो सूर्य प्रकाशमें संचार करती है। (वाजिनीवान् ऋषभः) बलवान् श्रेष्ठ पुरुष (दूरतः सद्यः यासां सर्वान् लोकान् रक्षन् पर्येति) दूरसे ही तत्काल जिनके सब लोगोंकी रक्षा करता हुआ चारों ओर घेरकर आता है। (सः वाजिनीवान्) वह बलवाला पुरुष (इमं होमं जुषाणः) इस यज्ञका स्वीकार करता हुआ, (अन्तरिक्षेण सह नः आ एतु) आन्तरिक विचारके साथ हमारे पास आवे ॥ ५ ॥

जो हमारे सब शुभकृत्योंको उत्तम व्यवस्थासे करती है वह अपनी कुशलबुद्धिसे इस स्थानपर प्रगति करे। वह अन्नवाली स्त्री यहां रहे और उस की व्यवस्थासे यहां का धन सुरक्षित हो जावे ॥ ३ ॥

जो शोक और क्रोध मनमें रहने परभी जो सदा अपने आंखोंमें आनन्दकी प्रभा दिखाती है वह आनन्द और संतोष बढानेवाली स्त्री यहां आवे ॥ ४ ॥

जो सूर्यकी किरणोंमें व्यवहार करती है अथवा सूर्य प्रकाशको अनुकूल

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥
अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथानाम वं ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ-हे (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवाले ! (अन्तरिक्षेण सह कर्की वत्सां) अन्तःकरण के साथ अपने कर्तृत्वशक्तिवाले बचीकी (इह रक्ष) यहां रक्षा कर। (इमे ते बहुलाः स्तोकाः) ये तेरे बहुत आनन्द हैं, (अर्वाङ् एहि) यहां आ, (इह ते कर्की) यह तेरी कर्तृत्व शक्ति है। (इह ते मनः अस्तु) यहां तेरा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवान् ! (अन्तरिक्षेण सह कर्की वत्सां) अपने आंतरिक विचारके साथ कर्तृत्व शक्तिवाले बचीकी (इह रक्ष) यहां रक्षा कर। उसके लिये (अयं घासः) यह घास है, (अयं व्रजः) यह गौओंका स्थान है, (इह वत्सां निबध्नीमः) यहां बछडीको बांधते हैं। (यथानाम वः ईश्महे) नामोंके अनुसार तुम्हारा आधिपत्य हम करते हैं, (स्व—आहा) हमारा त्याग तुम्हारे लिये हो ॥ ७ ॥

बनाती है, इस प्रकारकी स्त्रियोंकी रक्षा दूरसे अर्थात् योग्य मर्यादासे ही सब पुरुष किया करें। ये बलवान् पुरुष अपने जीवनका यज्ञ करते हुए अपने हार्दिक विचार से स्त्रियोंका आदर करके यहां रहें ॥ ५ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ बच्चियोंकी रक्षा करो, सन्तानकी रक्षा करना आनन्ददायक कर्म है, आगे होकर यह कार्य करो, इस कार्यमें तुम्हारा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ गौकी बच्चियों की रक्षा करो, गौओं और बछडोंके लिये यह घास है, उनके लिये यह स्थान ..., बछडोंको यहां बांधते हैं, और उनके नामोंके क्रमसे उनकी उत्तम व्य- ... करते हैं, उनके लिये हम आत्मसर्वस्वका समर्पण करते हैं ॥ ७ ॥

दक्ष स्त्रीका समादर।

इस सूक्तमें दक्ष स्त्रीका बहुत आदर किया है। स्त्री गृहिणी होती है, इस लिये घर की व्यवस्था उत्तम रखना और उस कार्य में उत्तम दक्षता धारण करना स्त्रियोंका परम कर्तव्य है। इस विषयके आदेश इस सूक्तमें अनेक हैं जिन का मनन अब करते हैं-

स्त्री कैसी हो ?

(१) संजयन्ती = उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली, अर्थात् अपने कुटुंबका विजय करनेके उपायोंको आचरणमें लानेवाली हो। (मं० १)

(२) साधुदेविनी = 'दिव्' धातुसे 'देविनी' शब्द बनता है। 'दिव्, धातुके अर्थ- 'क्रीडा, विजयेच्छा, व्यवहार, प्रकाश, आनंद, गति' इतने हैं। अर्थात् 'साधु देविनी' शब्दका अर्थ- "क्रीडा या खेल खेलनेमें कुशल, अपने कुटुंबका विजय चाहने वाली, घर में प्रकाश के समान तेजस्विनी होकर रहनेवाली, स्वयं आनंद स्वभाव रहकर सब लोगोंका आनंद बढानेवाली, सबकी प्रगति करनेवाली" इस प्रकार हो सकता है। इस अर्थका संबंध 'संजयन्ती' शब्दके अर्थके साथ है, इसका पाठक अनुभव करें। (मं १, २, ४,)

(३) उद्भिदन्ती—अपने शत्रुओंको उखाड देनेवाली। (मं० १) इसका भी तात्पर्य 'संजयन्ती' पदके समानही है, विजयेच्छुक और व्यवहार दक्ष होनेसे शत्रुको उखाडना और विजय प्राप्त करना ये बातें सुसंगत हैं। (मं. १)

(४) ग्लहे कृतानि कृण्वाना = 'ग्लह' शब्दका अर्थ है 'स्पर्धा', अपना जीवन एक प्रकारकी स्पर्धा है, इस स्पर्धामें 'कृत' अर्थात् उत्तम कृत्य अथवा उत्तम प्रयत्न करनेवाली। 'कृत' शब्दका अर्थ यह है-

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सं पद्यते चरन्॥
चरैव चरैव। ऐ० ब्रा ०७।१५

"सुप्त अवस्थाका नाम कलि है, निद्रा या आलस्य को त्यागनेका नाम द्वापर है, प्रयत्न करनेकी बुद्धिसे उठनेका नाम त्रेता है और कृत उसको कहते हैं कि जिस अवस्थामें मनुष्य पुरुषार्थ करता है।" इस वचन में 'कृत' का अर्थ दिया है। उन्नतिके लिये प्रबल पुरुषार्थ करनेका नाम कृत है। मानो "मनुष्य का जीवन एक जोरका खेल" है। इस में सोते रहने वाले लाभ नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत घर में उत्तम

जुवे का दान लेनेवाले ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस जूवेके 'कलि, द्वापर, त्रेता और कृत' ये चार दान होते हैं। जो झगडालू और आलसी होते हैं उनको इस जीवनरूपी जुएमें 'कलि' संज्ञक दान मिलता है जिससे हानि ही हानी होती है, जो साधारण पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं उनको बीचके दो दान मिलते हैं, परंतु जो प्रबल पुरुषार्थी होता है वही 'कृत' संज्ञक दान प्राप्त करके अधिक से अधिक दान प्राप्त करता है।

सतरंज या चौपट खेलनेवाले अपने पांसोंसे जो चार प्रकारके दान प्राप्त करते हैं, उन चार दानोंके वाचक ये चार शब्द हैं। 'कृत, त्रेत, द्वापर और कलि' ये चार शब्द क्रमशः उत्तम, मध्यम, कनिष्ट और हानिकारक दानोंके सूचक शब्द हैं। वस्तुतः वेदमें "अक्षैर्मा दीव्यः।" (ऋ.१०।३४।१३) जूआ मत् खेल इस प्रकारके वाक्योंसे जूवेका निषेध किया है। इसलिये वैदिक धर्ममें जूवेकी संभावना ही नहीं है। तथापि यहां सभी मनुष्य अपने आयुष्यके सतरंजका खेल खेल रहे हैं,अपने आयुष्यका जूआ खेल रहे हैं अथवा चौपट खेल रहे हैं। इसमें कईयोंको यह खेल लाभकारी होता है और कईयोंको हानिकारक होता है। इसलिये इस जीवन रूपी बाजीमें उत्तम रीतिसे यह खेल खेलकर मनुष्य यशके भागी हों, यह उपदेश देनेके लिये रूपकालंकारसे इस सूक्तमें 'ग्लह, कृत, देविनी' ये शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द जूवेबाजीका अर्थ भी बताते हैं और श्लेषसे उत्तम विजयी व्यवहार का भी अर्थ बताते हैं। इस रूपक का अर्थ ऊपर बताया है वही है, पाठक इसका विचार करके बोध प्राप्त कर सकते हैं। यहां स्त्रीत्वका निर्देश होते हुए भी पुरुष भी इससे अपने विजयी जीवन बनानेका बोध प्राप्त कर सकते हैं। अस्तु। 'ग्लहे कृतानि कुर्वाणा' का यहां यह अर्थ है-"इस जीवन रूपी स्पर्धाके खेलमें जो स्त्री उत्तम पुरुषार्थ रूपी दान प्राप्त करती है।" अर्थात् उत्तम स्त्री वह है कि जो इस जीवनमें परम पुरुषार्थ प्रयत्न करती है। (मं० १, २) मंत्र ३ में 'कृतं ग्लहात् आददाना' पाठ है। इसका भी उक्त प्रकार ही अर्थ है।

विचिन्वन्ती, आकिरन्ती-संग्रह करनेवाली, दान देनेवाली। संग्रह करने ... रीतिसे और दक्षतासे संग्रह करनेवाली और दान करनेके समय उदारता ... ली। स्त्री ऐसी होनी चाहिये कि वह घरमें दक्षतासे और व्यवस्थासे ... हैं, ...ह करे। तथा दान करनेके समय अपने घर का यश बढने योग्य ... रे। 'विचिन्वन्ती' का मूल अर्थ चुन चुनकर पदार्थोंको प्राप्त ... ी' का अर्थ 'बिखुरनेवाली' है। यह संग्रह करनेका गुण और

दानका गुण स्त्रीमें इतना हो कि जिससे उसके कुलका यश बढ जाय और कभी यश न घटे ॥ (मं० २)

(६) या अयैः परिनृत्यति—जो शुभ विधियोंसे आनंदसे नाचती है अर्थात् जिसका प्रयत्न सदा सर्वदा धार्मिक शुभ विधि करनेके लिये ही होता है। 'अयः' का अर्थ "शुभ विधि" है (अयः शुभावहो विधिः । अमर कोश १ । ३ । २७) जिसका पूर्व कर्म भी उत्तम है और इस समय का भी कर्म उत्तम है। (मं० ३)

(७) कृतानि सीषती-जो उत्तम कर्मोंकी सुव्यवस्था नियमसे करती है, जो घरमें उत्तम व्यवस्थासे सब कार्य करती है। (मं. ३)

(८) पयस्वती-दूधवाली, जिसके पास बच्चोंको देनेके लिये बहुत दूध होता है। (मं. ३)।

(९) या शुचं क्रोधं च बिभ्रती अक्षेषु प्रमोदन्ते-जो शोक और क्रोध आनेपर भी आंखोंमें प्रसन्नता का तेज धारण करती है।'अक्ष' शब्दका अर्थ 'आंख और इंद्रिय' है। यहां इंद्रिय अर्थ अपेक्षित है। जो स्त्री अन्तःकरणमें शोक उत्पन्न होनेपर अथवा क्रोध उत्पन्न होनेपर भी रोती पीटती या चिल्लाती नहीं है, प्रत्युत अपने व्यवहारमें इंद्रियोंके व्यापारमें प्रसन्नताकी झलक दिखाती है और हृदयका शोक और क्रोध व्यक्त नहीं करती, वह उत्तम स्त्री है। (मं. ४)

(१०) आनन्दिनी, प्रमोदिनी- आनन्द और हर्षसे युक्त। अर्थात् जो सदा आनन्दित रहती है और दूसरोंको प्रसन्न करनेका यत्न करती है। (मं० ४)

(११) सूर्यस्य रश्मीन् अनुसंचरन्ती- जो सूर्य किरणोंमें भ्रमण करती है, 'मरीचीः अनुसंचरन्ती- जो सूर्य प्रकाशमें भ्रमण करती है। अथवा जो सूर्य प्रकाशको अपने अनुकूल बनाती है। इससे आरोग्य उत्पन्न होता है। स्त्रियोंको सूर्यप्रकाशमें व्यवहार करना चाहिये। [यहां स्पष्ट होता है कि गोषाकी पद्धति पूर्णतया वैदिक है।] (मं. ५)

ये ग्यारह लक्षण उत्तम और दक्ष गृहिणीके हैं। स्त्री, धर्मपत्नी [illegible] प्रकार व्यवहार करे, इस विषयपर ये ग्यारह लक्षण बहुत उत्त[illegible] स्त्री और पुरुष इन लक्षणोंका विचार करें और इस उपदेशको अ[illegible] लक्षणों में शत्रुको उखाड देना और विजय प्राप्त करना ये [illegible] होता है कि स्त्रियोंमें इतनी शक्ति तो अवश्यही होनी चाहि[illegible] उत्तम प्रकार कर सकें। आत्मरक्षाके लिये स्त्रियां दूसरेपर नि[illegible] और प्रायः

पुत्रीका उन्नतिका विचार लोग नहीं करते, ऐसे लोगोंको वेदका यह उपदेश अवश्य ध्यानमें धारण करना चाहिये। जगत् की स्थिति और सन्तानपरंपरा स्त्रियोंके कारण होती है, इसलिये स्त्रियोंकी उन्नतिसे सब जगत्का कल्याण होना संभव है। माता स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ है, फिर माताके बालपनमें उसकी रक्षाका प्रबंध उत्तमसे उत्तम होना चाहिये इसमें संदेहही क्या हो सकता है?

वत्स शब्द जिस प्रकार पशुके बच्चोंका वाचक है उसी प्रकार मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक है। प्रेमसे पुत्रको वत्स और पुत्रीको वत्सा कहते हैं। इसलिये इस षष्ठमंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंकी कन्याओंका वाचक और सप्तम मंत्रका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बच्चियोंका वाचक मानना उचित है। सप्तम मंत्रमें बछडेके लिये घास और उसको उत्तम गोशालामें बांधनेका वर्णन होनेसे वहांका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछडी है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु षष्ठ मंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक मानना योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्योंके बाल बच्चोंकी सुरक्षितताका प्रयत्न मनसे करना चाहिये उसी प्रकार गाय घोडे आदि पाले हुए जानवरोंके बछडोंका भी पालन का प्रबंध उत्तम करना चाहिये। जिस प्रेमसे घरके लोग अपने बच्चोंका पालन करते हैं उसी प्रेमसे पशुओंके संतानोंका भी पालन किया जाय, यह इस उपदेश का तात्पर्य है। उनके घास का प्रबंध उत्तम हो, उनके जलपानका प्रबंध उत्तम हो, उनके रहनेका स्थान प्रशस्त हो, तथा उनके स्वास्थ्यका भी उचित प्रबंध किया जावे। तात्पर्य पाले हुए पशुओंको भी अपनी संतान के समान मानकर उनपर वैसाही प्रेम करना चाहिये।

यह सूक्त अपना प्रेम पशुओंतक पहुंचानेका इस ढंगसे उपदेश दे रहा है। प्रेम जितना बढेगा और चारों ओर फैलेगा उतना अहिंसाका भाव विस्तृत हो जायगा। वैदिक धर्मका अन्तिम साध्य पूर्ण अहिंसाका भाव मन में स्थिर करना है, वह इस रीतिसे निःसंदेह सिद्ध होगा।

स्त्रीका आदर, स्त्रीके अंदर शुभ गुणोंका विकास करनेकी रीति, स्त्रीकी रक्षा, पुत्रीकी रक्षा और बछडोंकी रक्षा आदि अनेक उपयोगी विषय इस सूक्तमें आगये हैं। पाठक इन सब मंत्रोंका अधिक मनन करके योग्य बोध प्राप्त करें और उस बोधको अपने जीवनमें ढाल कर अपनी उन्नति करें।

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुष्प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ४ ॥
दिव्यादित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

अर्थ-(अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) अन्तरिक्ष में वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं। (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है। (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन् जिस प्रकार अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) उस प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए मनुष्य नम्र हों ॥ ३ ॥

(अन्तरिक्षं धेनुः अन्तरिक्ष धेनु है (तस्याः वायुः वत्सः) उसका बछडा वायु है। (सा वायुना वत्सेन) वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायुरूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें, (स्वाहा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ४ ॥

(दिवि आदित्याय समनमन्) द्युलोक में आदित्यके सन्मुख सब नम्र होते हैं। (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है। (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख नम्र होते हैं (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे संमान देने के लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ५ ॥

भावार्थ- अन्तरिक्षमें वायुका संमान होता है क्योंकि उसमें बल बढा हुआ है। बलके बढनेसे जैसा वायुका संमान होता है, उसी प्रकार बलके कारण मेरा भी संमान बढे ॥ ३ ॥

अन्तरिक्ष रूपी धेनुका वायु बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, आयु, संतान, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ४ ॥

द्युलोकमें सूर्यका संमान होता है क्योंकि वह बडा प्रकाशमान है। प्रकाशित होनेसे जैसा सूर्यका सम्मान होता है उसी प्रकार तेजस्विता के कारण मेरा सम्मान बढे ॥ ५ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उं ।
नमस्कारेण नर्मसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥ ९ ॥
हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥ १० ॥

अर्थ- (अग्नौ अग्निः प्रविष्टः चरति) विशाल परमात्माग्निमें जीवात्मा रूपी अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है। वह (ऋषीणां पुत्रः) इंद्रियोंको पवित्र करनेवाला है और (अभिशस्ति-पा उ) विनाशसे बचानेवाला भी है। (ते नमसा नमस्कारेण जुहोमि) तुझे मैं नम्र नमस्कारोंसे आत्मार्पण करता हूं। (देवानां भागं मिथुया मा कर्म) देवोंके सेवनीय भागको मिथ्याचारसे कोई न बनावे ॥ ९ ॥

हे (जातवेदः देव) जन्मे हुए पदार्थोंको जाननेवाले देव ! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब कर्मोंको जाननेवाला है। हे (जातवेदः) जाननेवाले ! (मनसा हृदा पूतं) हृदयसे और मनसे पवित्र किये हुए हव्यको (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख हैं (तेभ्यः जुहोमि) उनके लिये समर्पण करता हूं (सः हव्यं जुषस्व) उस हविका तू स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ- परमात्मारूपी विशाल अग्निमें जीवात्मारूप छोटी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है। यह जीवात्माकी अग्नि इंद्रियोंकी पवित्रता करने वाली और गिरावटसे बचाने वाली है। इंद्रियरूपी देवोंका जो कार्यभाग है, वह मिथ्या व्यवहारसे दूषित न हो इस लिये मैं उन अग्नियोंकी नमस्कार द्वारा उपासना करता हूं ॥ ९ ॥

हे सर्वज्ञ ईश्वर ! तू हमारे सब कर्मोंको जानता है। इस आत्माके सात मुखोंमें मन और हृदयसे पवित्र किये हुए पदार्थोंका हवन करता हूं, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर ॥ १० ॥

उन्नतिका मार्ग

मनुष्यकी उन्नति उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होनेसे ही हो सकती है। यह सद्गुणों की वृद्धि मनुष्योंमें करनेके हेतुसे वेदने अनेक प्रकारके उपाय कहे हैं, इस सूक्तमें इसी उद्देश्यसे चार देवताओंके द्वारा सद्गुण बढानेका उपदेश किया है। देवताओं में जिन गुणों की प्रधानता होती है वे गुण मनुष्यमें बढने चाहिये। इन देवताओंके गुण देखिये-

लोक	देवता	गुण	मनुष्यमें रूप
पृथिवी	अग्नि	तेज, उष्णता,	शब्द
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन,	प्राण
द्यु	सूर्य	प्रकाश,	दृष्टि
दिशा	चन्द्र	शान्ति,	मन

लोक देवता और गुण ये हैं। देवताओंके गुण अथवा बल मनुष्यके अंदर किस रूप में दिखाई देते हैं इसका भी पता इससे ज्ञात हो सकता है। मनुष्यका प्रभाव बढना हो तो इन गुणोंके सत्त्वकी वृद्धि होनेसे ही बढ सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। पृथ्वी लोकमें अग्नि प्रतिष्ठाको इसलिये प्राप्त हुआ है कि उसमें उष्णता और तेजस्विता बढी हुई है; वह अपनी दाहक शक्तिसे सबको जला सकता है, इस लिये उसका प्रभाव सब पर जमा हुआ है। यदि मनुष्यको अपना प्रभाव बढाना है तो उसको भी अपने अन्दर तेजस्विता बढाना चाहिये। तेजस्विता बढनेसे उसका सम्मान अवश्य बढेगा।

इसी प्रकार अन्तरिक्षमें वायुका महत्त्व विशेष है क्यों कि वह सबको जीवन बल और गति देता है। मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर बल बढावे और अपना जीवन उत्तम करे। दूसरोंमें चेतना उत्पन्न करे और सब हलचलोंका प्राण बनकर रहे। जो मनुष्य अपनी शक्ति इस प्रकार बढावेगा वह सम्मानित हो जायगा।

द्युलोकमें सूर्यका सम्मान बहुत बडा है क्यों कि उसका प्रकाश सबसे अधिक होता है। इसके सन्मुख सब अन्य तेजस्वी पदार्थ निस्तेज होते हैं। यह ऐसा प्रकाशमान होने से उसका सम्मान सब करते हैं। जो मनुष्य अपना महत्त्व बढाना चाहता है उसको उचित है कि वह अपने अन्दर दिव्य प्रकाश बढावे, और सूर्यके समान ग्रहोपग्रहोंमें मुख्य बने।

इसी प्रकार चन्द्रमाकी प्रतिष्ठा उसकी शान्तिके कारण है। जिस मनुष्यमें शांति स्थिर होती है उसकी भी सर्वत्र प्रतिष्ठा बढती है। इस प्रकार इन देवताओंसे मनुष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है। उन्नतिका मार्ग अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करना ही है। इस सद्गुणोंकी वृद्धिसे ही अन्न, बल, दीर्घायुष्य, सन्तति, पुष्टि और धन जितना चाहिये उतना प्राप्त हो सकता है, परन्तु सबसे पहिले उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर इन गुणोंकी वृद्धि करे; तत्पश्चात् धनादिकी प्राप्ति तो स्वयं होती रहेगी।

इस सूक्तके आठ मन्त्रोंमें यह उपदेश दिया है। आगेके नवम और दशम मन्त्रोंमें आत्मशुद्धी करनेका उपदेश है, उसका अब विचार किया जाता है—

परमात्माकी उपासना।

आत्मशुद्धिके लिये परमात्माकी उपासना अत्यन्त सहायक है, इस लिये नवम मंत्रमें यह उपासना बताई है—

अग्नौ अग्निश्चरति प्रविष्टः। (मं० ९)

"बडे विश्वव्यापक अग्निमें एक दूसरा छोटा अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है अर्थात् अपने व्यवहार करता है।" यह बात उपासक को अपने मनमें सबसे प्रथम धारण करनी चाहिये। परमात्माका विशाल अग्नि संपूर्ण जगत्में जल रहा है और उसके अंदर अपनी एक चिनगारी है, यह भी उसके साथही चमक रही है। अपने अन्दर और चारों ओर बाहर भी उस परमात्माग्निका तेज भरा पडा है। जिस प्रकार अग्निमें तपता हुआ सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मामें तपनेवाला जीवात्मा शुद्ध हो रहा है। परमात्माके पूर्ण आधारमें मैं विराजता हूं, इसलिये मैं निर्भय हूं, मुझे डरानेवाला कोई नहीं है, यह विश्वास इस मन्त्रने उपासकके मनमें स्थिर करनेका यत्न किया है। यह आत्मा कैसा है और उसके गुण धर्म क्या हैं इसका वर्णन भी यहां देखने योग्य है—

ऋषीणां पुत्रः, अभिशस्तिपाः। (मं० ९)

"यह आत्मा ऋषियोंका पुत्र है और विनाशसे बचानेवाला है।" अनेक ऋषियोंका मिलकर यह एकही पुत्र है अर्थात् अनेक ऋषियोंने मिलकर इसकी खोज की,और इसका आविष्कार किया, इस लिये ऋषियोंका यह पुत्र है, ऐसा माना जाता है। यह इसका एक अर्थ है। इसका दूसरा भी एक अर्थ है और वह विशेष विचारणीय है। ऋषि शब्दका दूसरा अर्थ 'इंद्रिय' है। सप्त ऋषि का अर्थ 'सात इंद्रियां' है। इन इंद्रियरूपी सप्त ऋषियोंको (पु-त्रः=) नरकसे बचानेवाला यही आत्मा है, क्यों कि आत्माही सबको उच्च भूमिकामें ले जाता है और हीन अवस्थामें गिरनेसे बचाता है। इस लिये इसकी उपासना हरएकको करनी चाहिये।

नमस्कारसे उपासना।

इस आत्माकी उपासना नमस्कारसे ही की जाती है। नम्र होकर, अपने मनको नम्र करके, नमस्कार द्वारा अपना सिर झुकाकर अर्थात् अपने आपको उसके लिये पूर्णतासे समर्पण करके ही अपने अन्तर्यामी आत्माकी उपासना करनी चाहिये—

नमसा नमस्कारेण जुहोमि। (मं० ९)

"नम्र नमस्कारसे आत्मसमर्पण करता हूं।" यहां 'जुहोमि' शब्द समर्पण अर्थमें है।

यज्ञमें हवनका भी यही अर्थ है । अपने पदार्थोंका दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम हवन है । यहां नमस्कारसे हवन करना है, नमन द्वारा अपना सिर झुकाकर आत्मसमर्पण करनेका भाव यहां है । इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्ममें मिथ्याव्यवहार होना नहीं चाहिये । क्योंकि मिथ्या व्यवहारसे ही सब प्रकारकी हानि होती है, इस लिये कहा है—

देवानां भागं मिथुया मा कर्म । (मं०९)

" देवोंके प्रीत्यर्थ करने के कार्य भाग को मिथ्याचारसे मत् दूषित करना । " यह आदेश हरएक देवयज्ञके विषयमें मनमें धारण करने योग्य है । कई लोग दंभसे संध्या करने बैठते हैं, तथा अन्य प्रकारके मिथ्या व्यवहार ढोंगसे रचते हैं । परंतु ये किस को ठगानेका विचार करते हैं ? परमात्माको ठगाना तो असंभव है, क्यों कि वह सब जानताही है, वह सर्वज्ञ है । इस लिये ऐसे धर्म कर्मोंमें जो दूसरों को ठगानेका यत्न करते हैं वे अन्तमें अपने आपको ही ठगाते हैं और अपनी ही हानि करते हैं । इस लिये किसीको भी मिथ्या व्यवहार करना उचित नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह हरएक के मनोगत को तत्कालही जानता है, उससे छिपकर कोई कुछ कर नहीं सकता, इस लिये कहा है—

विश्वानि वयुनानि विद्वान् । (मं० १०)

" सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला ईश्वर है । " मनुष्य जो भी कर्म करता है वह उसी समय परमेश्वर जानता है । मनुष्यका कर्म बुद्धि में, मनमें या जगत् में कहां भी होवे, ईश्वर उसी क्षणमें उसको जानता है । इस लिये ऐसी अवस्थामें मनुष्यको मिथ्याव्यवहार करना सर्वथा अनुचित है । मनुष्य को उन्नति प्राप्त करने की इच्छा हो तो हृदय और मन से जितने पवित्र कर्म हो सकते हैं उतने करने चाहिये—

हृदा मनसा पूतं जुहोमि । (मं १०)

" हृदयसे और मनसे जितनी पवित्रता की जा सकती है, उतनी पवित्रतासे पवित्र पदार्थोंका ही सत्कर्म में समर्पण करना चाहिये । " पवित्रतासे उन्नति और मलिनतासे अवनति होती है, यह उन्नति अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको स्मरण में अवश्य रखना चाहिये ।

सप्त मुखी अग्नि ।

पूर्वोक्त स्थानमें परमात्मा और जीवात्मा ये दो अग्नि हैं ऐसा कहा है । अग्नि ' सप्तास्य ' अर्थात् सात मुखवाला होता है । यहां भी उसके साथ मुखोंका वर्णन किया

ही है। यह आत्मा सप्तमुखी है, यह सात मुखोंसे खाता है, पञ्च ज्ञानेंद्रिय और मन तथा बुद्धि ये इस के सात मुख हैं। बुद्धिसे ज्ञान, मनसे मनन, और अन्य पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे पञ्च विषयों का ग्रहण यह करता है, मानो, इस आत्माग्निमें ये पांच ऋत्विज हवन कर रहे हैं, अथवा इन सात मुखोंसे यह आत्मा अपना भक्ष्य खा रहा है, अथवा अपना भोग्य भोग रहा है। इस त्रिविध प्रकारके कथनका एकही तात्पर्य है। इसके सातों मुखोंमें हृदयसे और मनसे पवित्र पदार्थोंको अर्पण करना चाहिये—

तव सप्त आस्यानि तत्र हृदा मनसा पूतं जुहोमि। (मं० १०)

"तेरे सात मुख हैं, उनमें हृदय और मनसे पवित्र पदार्थोंको ही समर्पण करता हूं।" यह बडा भारी महत्वपूर्ण उपदेश है, आत्मशुद्धिके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। सातों मुखोंमें पवित्र हव्य का ही हवन करना चाहिये। अर्थात् बुद्धिमें पवित्र ज्ञान, मनमें पवित्र विचार, नेत्रमें पवित्र रूप, कानमें पवित्र शब्द मुखमें पवित्र अन्न और वाणी, नाकमें पवित्र सुगन्ध, और चर्ममें पवित्र स्पर्शविषयका हवन होना चाहिये। इस प्रकार सब ही पदार्थ अत्यन्त पवित्र रूपमें अपने अन्दर जाने लगे तो अन्दरका संपूर्ण वायुमण्डल परिशुद्ध हो जायगा और आत्मशुद्धि होती रहेगी। इस प्रकार अपनी शुद्धि होती रही तो अपने परिशुद्ध आत्माके ऐश्वर्यका वर्णन ही क्या करना है! वह इससे शुद्ध बुद्ध और मुक्त होकर पूर्ण यशस्वी होगा और इसको इस सूक्तमें कहे ऐश्वर्य निःसन्देह प्राप्त होंगे। इस लिये उदय की इच्छा करनेवाले पाठक इस मार्ग का अवश्य अवलम्बन करें और अपना अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करें।

स्वाहा।

इस सूक्तमें 'स्वाहा' शब्द कई वार आगया है। 'स्वाहा' का अर्थ है (स्व+आ+हा) अपना समर्पण अर्थात् दूसरोंकी भलाई अथवा उन्नति के लिये अपनी शक्ति का समर्पण करना। इस त्याग भावसे उन्नति होती है। अपनी शक्तिका जनताकी भलाईके लिये समर्पण करने का भाव यहां है। सब प्रकारकी उन्नति के लिये इस त्याग भावकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त पवित्रीकरण के साथ रहनेवाला यह त्याग भाव बडाही उन्नति साधक होता है। वैयक्तिक क्या और राष्ट्रीय क्या जो भी उन्नति होनी है वह इस त्यागभावके बढनेसे ही होगी। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वेदमें " स्वा-हा " शब्द अनेक वार इसी लिये आया है कि वैदिक धर्मियों के मनमें इस त्याग भावका पक्का परिणाम हो जावे और इसके द्वारा वे इह परलोकमें अपना पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकें।

शत्रुका नाश ।

(४०)

(ऋषिः– शुक्रः । देवता– बहुदैवत्यं ।)

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥
ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥
ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ३ ॥
य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) सर्वज्ञ! (ये पुरस्तात् जुह्वति) जो सन्मुख रह कर आहुति देते हैं और (प्राच्याः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पूर्व दिशासे हमें दास बनानेका प्रयत्न करते हैं (ते अग्निं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां) वे अग्निको प्राप्त हो कर, पराजित होते हुए कष्ट भोगें। (एनान् प्रत्यक् प्रतिसरेण हन्मि) इनका पीछा करके और हमला करके नाश करता हूं ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! (ये दक्षिणतः जुह्वति) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और (दक्षिणायाः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, (ते यमं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां) वे यमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःखको प्राप्त हों (एनान्०) इनका पीछा करके और इनपर हमला करके नाश करता हूं ॥ २ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये पश्चात् जुह्वति) जो पीछेकी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्याः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं (ते वरुणं ऋत्वा०) वरुणको प्राप्त करके पराभूत होकर दुःख भोगें, मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ३ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उत्तरतः जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उदीच्याः दिशः०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं

ये॒३॑धस्ता॑ज्जुह्व॑ति जात॑वेदो ध्रुवाया॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
भूमि॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ५ ॥
ये॒३॑न्तरि॑क्षाज्जुह्व॑ति जात॑वेदो व्य॒ध्वाया॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
वा॒युमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ६ ॥
य उ॒परि॑ष्टाज्जुह्व॑ति जात॑वेद उ॒र्ध्वाया॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
सूर्य॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ७ ॥
ये दि॒शाम॑न्तर्दे॒शेभ्यो॒ जुह्व॑ति जात॑वेदः सर्वा॑भ्यो दि॒ग्भ्यो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
ब्रह्म॒र्त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ८ ॥

अष्टमोऽनुवाकः ॥ नवमः प्रपाठकः ॥

चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥

ऋत्वा०) सोमको प्राप्त हो कर पराभूत होते हुए दुःख भोगें। मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अधस्तात् जुह्वति) जो नीचेकी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवायां दिशः०) इस ध्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं ऋत्वा०) भूमिको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ५ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायां दिशः०) विशेष मार्गवाली दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (वायुं ऋत्वा०) वायुको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ६ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उपरिष्टात् जुह्वति) जो ऊपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वाया दिशः०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं ऋत्वा०) सूर्यको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उन पर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये दिशां अन्तर्देशेभ्यः जुह्वति) जो दिशा उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्म ऋत्वा०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश ।

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें दास बनाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे हमें सताते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये । जो शत्रु होते हैं वे पीछेसे, आगेसे, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते । ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बडा कठिन कार्य है । इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो बडे धर्मभाव का ढोंग दिखाकर विश्वास उत्पन्न करके गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हैं । ये शत्रु (जुह्वति) हवन करने का यत्न करते हैं, यज्ञयाग और सत्रका ढोंग रचकर जनता का भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनता में उत्पन्न करके अंदर अंदर से नाश करनेकी तैयारी करते हैं । हवनमें ऐसे अविधियुक्त पदार्थ-अर्थात् मांस आदिक—प्रयुक्त करते हैं कि जिनसे देश में रोगोंकी उत्पत्ति हो जावे और उससे मनुष्योंका क्षय हो जावे । यज्ञका और हवन का ढोंग रचकर ऐसे अ-नर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उससे जनताका बडा नाश होता है । विधिपूर्वक किये हुए वैदिक यज्ञयाग तो आरोग्य बढानेवाले होते हैं, परंतु ऐसे विधि हीन आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं । ढोंग बढाकर नाश करनेके प्रकार इससे भी और अनेक हैं, पाठक उसका विचार यहां करें । कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो उपकार करनेका भाव दिखाकर अहित ही करते हैं उन सबका यहां विचार करना चाहिये । ऐसे शत्रुओंका नाश करना बडा कठिन होता है, परंतु इनका नाश तो अवश्यही करना चाहिये । क्यों कि खुला हमला करने वाले शत्रुसे ये छिप कर नाश करनेवाले शत्रु बडे घातक होते हैं । इनका नाश करने के लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहा है । इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये-

दिशा	देवता	गुण	कर्म
प्राची	अग्नि	ज्ञान, तेज	अज्ञान नाश.
दक्षिणा	यम	नियमन	दुष्टोंको दण्ड देना
प्रतीची	वरुण	निवारण	शत्रुका निवारण
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय
ध्रुवा	पृथ्वी	आधार	सज्जनोंको आधार देना

अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	बल का उपयोग।
उर्ध्वा	सूर्य	प्रकाश	प्रेरणा करना

दिशाओंके अनेक देवताओंके ये गुण कर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है कि, अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। सबसे प्रथम अपने लोगोंके अज्ञान का नाश करना चाहिये और उनको ज्ञान उत्तम प्रकारसे देना चाहिये। जो इस ज्ञानसंवर्धन के कर्म में विरोध करेंगे उनको दण्ड देना चाहिये और फिर कभी विरोध न करें ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये। इतना करनेपर भी जो शत्रुता करेंगे उनका सुप्रबंधद्वारा निवारण करना चाहिये। सबसे प्रथम शान्ति के उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कार्य में असफलता हुई तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हटाना चाहिये। सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का नाश करके जनताको अपने अभ्युदय निश्रेयस का मार्ग खुला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवस्था करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उनके शत्रु दूर होंगे और फिर रुकावटें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनको सतानेमें असमर्थ हो जांयगे। शत्रु कैसा भी प्रयत्न करे, उस दिशासे अपनी रक्षा करनेका साधन अपने पास पहिलेसे ही तैयार रहना चाहिये। अर्थात् शत्रु यदि ज्ञानसे चढाई करे तो ज्ञान द्वारा उसका प्रतिबंध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बल से उसका निवारण करना चाहिये। इसी प्रकार जिन शस्त्रोंको लेकर शत्रु हमपर हमला करेगा, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपनेपास रहना चाहिये। ऐसा शत्रु दूर करनेका प्रबंध होता रहा, तो ही जनतामें शान्ति प्रगति और उन्नति हो सकती है। देश शत्रुरहित होनेसे ही मनुष्योंका अभ्युदय होना और उनको निःश्रेयस प्राप्त होना संभव है। शत्रुके हमले बारंबार होते रहे तो उन्नति साधना असंभव है।

इस लिये कायावाचा मनसे तथा अपने पास के अन्यान्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये। और अपना आत्मिक,बौद्धिक, मानासिक,शारीरिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढाना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु ठहर ही न सकें।

चतुर्थ काण्ड में विषय ।

अथर्ववेदके इस चतुर्थ काण्डमें कुल ४० सूक्त हैं । इन चालीस सूक्तोंमें विषय क्रमानुसार सूक्तोंकी व्यवस्था इस प्रकार है । सबसे प्रथम परमात्मविषयक सूक्तोंको देखिये-

परमात्मविषयक सूक्त ।

सूक्त १ " ब्रह्मविद्या " – इस सूक्तमें गूढ अध्यात्मविद्याका विचार हुआ है,

सूक्त २ " किस देवताकी उपासना करें "–इस सूक्तमें यह प्रश्न उठा कर एक अद्वितीय परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा है ।

सूक्त ११ " विश्वशकटका चालक "– इसमें जगत् रूपी रथका चालक एक ईश्वर है ऐसा कहा है ।

सूक्त १४ " आत्मज्योतिका मार्ग " = इस सूक्तमें परम आत्माकी ज्योति प्राप्त करनेका विषय है ।

सूक्त १६ "सर्वसाक्षी प्रभु"=इसमें सब जगत्के अधिष्ठाता परमात्माका वर्णन है ।

इस काण्डमें ये पांच सूक्त परमात्म विषयक हैं । जो पाठक इसको जानना चाहते हैं वे इन सूक्तोंका अच्छा मनन करें ।

पाप मोचन ।

सूक्त २३ से २९ तकके सात सूक्तोंमें पाप नाशन का विषय बडा मनोरंजक रीतिसे वर्णन किया है । इसके साथ सू० ३३ भी पाप नाशन विषयका प्रतिपादन कर रहा है । इन सूक्तोंका मनन करनेसे पापको दूर करने द्वारा आत्मशुद्धि करनेकी रीतिका ज्ञान हो सकता है । आत्मशुद्धि होनेसे ही परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग मिलना संभव है।

राज्य शासन ।

इस चतुर्थ काण्डमें राज्यशासन विषयक सूक्त निम्नलिखित हैं—

सूक्त ३ " शत्रुओंको दूर करना "= इसमें शत्रुको हटानेका उपाय कहा है ।

सूक्त ४ "बलसंवर्धन" = इसमें बल बढानेका विषय है ।

सूक्त ८ " राजाका राज्याभिषेक"=इसमें राजाका राज्याभिषेक का वर्णन और कौन राजा हो सकता है, इसका भी वर्णन है ।

सू० ३० "राष्ट्री देवी" = इस सूक्तमें राष्ट्रकी देवी का वर्णन करके राष्ट्रभक्तिका महात्म्य दर्शाया है ।

सूक्त २२ " क्षात्रबल संवर्धन " = इस सूक्त में क्षात्र बल का संवर्धन करके राष्ट्र बलवान करनेका उपदेश है। सूक्त ४० " शत्रुका नाश " इस में शत्रुका नाश करनेका विषय है। इन छः सूक्तोंमें राज्य शासन का विषय आगया है।

वैद्यक विषय।

इस काण्डके निम्नलिखित सूक्तोंमें वैद्यक विषय है।

सू० ६, ७ "विषको दूर करना"–इन दो सूक्तोंमें विषचिकित्सा है।

सू० ९ "अञ्जन"–इसमें अंजन का विषय है।

सू० १० "शंखमणि"=इसमें शंख से चिकित्सा करनेका उपदेश है।

सू० १२ में " रोहिणी", सू० १७–१९ तक "अपामार्ग", सू० २० में "मातृनाम्नी", सू० ३७ में " रोगक्रमिका नाश " सू० १३ में "हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण"का अद्भुत मनोरंजक विषय कहा है। इन ११ सूक्तोंका विचार करनेसे इस काण्डकी वैद्यक विद्या जानी जा सकती है। सू० ५ में " गाढनिद्रा " का विषय है इसका भी इसी विषयसे सम्बन्ध है।

गोपालन।

सू० २१ में " गौ पालन " का विषय कहा है, गौके सम्बन्धका प्रेम रखने वालोंको यह सूक्त बडाही बोधप्रद है। सू० १५ में " वृष्टि " विषय है।

गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको सू० ३८ का " उत्तम गृहिणी स्त्री " यह विषय अत्यन्त बोधप्रद है। विशेष कर स्त्रियोंको इसका बहुत मनन करना चाहिये। सू०३९ में " समृद्धिकी प्राप्ति " यह विषय भी गृहस्थियोंके हित का विषय है। सू० ३४ में " अन्नका यज्ञ " यह विषय गृहस्थियोंका ही है।

मृत्युको पार करना।

सू० ३५ में ' मृत्युको तरना, ' सू० ३६ में " सत्यका बल " ये विषय हरएक मनुष्यके लिये सहायक हैं। इसी प्रकार सू० ३१, ३२ इन दो सूक्तोंमें " उत्साह " विषय हरएक मनुष्यके लिये आवश्यक है।

इस प्रकार इन सूक्तोंके वर्ग हैं। इन सूक्तोंको इकट्ठा पढनेसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि वेद विचार करनेवाले पाठक इस रीतिसे विचार करके लाभ उठावेंगे।

चतुर्थ काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

चतुर्थ काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका ।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

पञ्चमं काण्डम्।

लेखक और प्रकाशक।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय मंडळ, औंध (जि. सातारा)
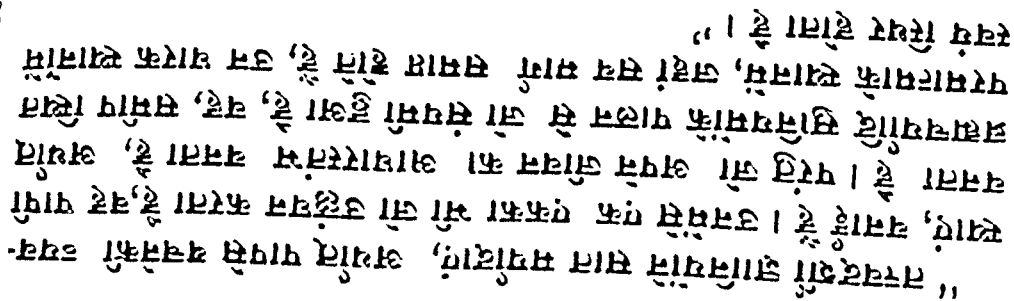
प्रथमवार

संवत् १९८६, शक १८५१, सन १९२९.

सात मर्यादायें !

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कंभ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

अथर्व कां० ५ । १ । ६

" तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंने सात मर्यादाएं, अर्थात् पापसे बचनेकी व्यवस्थाएं, बनाई हैं। उनमेंसे एक एकका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। परंतु जो अपने जीवन का आधारस्तंभ बनता है, अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंके पालन से जो संयमी हुआ है, वह, समीप स्थित परमात्माके स्थानमें, जहां सब मार्ग समाप्त होते हैं, उन धारक स्थानोंमें स्वयं स्थिर होता है। "

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्यायमंडल,
भारतमुद्रणालय; औंध (जि. सातारा).

अथर्ववेद का स्वाध्याय ।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।]

पञ्चम काण्ड ।

इस पञ्चम काण्डमें भी प्रारंभका सूक्त मंगलवाचक ही है, क्योंकि इसमें जगदाधार सर्वमंगलमय परमात्मप्राप्तिके मार्गका वर्णन हुआ है । इससे अधिक मंगलमय उपदेश और क्या हो सकता है ? इस मंगल सूक्तका मनन पाठक यहां करेंगे, तो उनके विचार मंगल बनेंगे और उनके लिये सभी विश्व मंगलमय बनेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

इस काण्डमें ६ अनुवाक, ३१ सूक्त और ३६७ मंत्र हैं । यहां क्रमपूर्वक पांचों कांडोंकी प्रपाठक-अनुवाक-सूक्त-मंत्र संख्या देखिये—

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक	कुल सूक्त	सूक्तमें मंत्रसंख्या	कुल मंत्रसंख्या
प्रथम	२	६	३५	४	१५३
द्वितीय	२	६	३६	५	२०७
तृतीय	२	६	३१	६	२३०
चतुर्थ	३	८	४०	७	३२४
पञ्चम	३	६	३१	८	३६७

इस कोष्टक को देखनेसे पता लगता है कि अनुवाक और सूक्तोंकी संख्या करीब समान रहनेपर भी काण्डोंमें मंत्रोंकी संख्या क्रमसे बढ रही है । इसका कारण प्रत्येक सूक्तकी मंत्र संख्या क्रम पूर्वक बढ रही है । अर्थात् जहां प्रथम काण्डमें चार मंत्रवाले सूक्त हैं वहां इस पञ्चम काण्डमें आठ या नौ मंत्रवाले सूक्त हैं । इस कारण काण्डकी मंत्र संख्या बढती है । यद्यपि इस पंचम कांड की प्रकृति ८ मंत्रवाले सूक्तोंकी कही जाती है, तथापि इसमें निम्न लिखित प्रकार सूक्तोंकी मंत्रसंख्या है—

२ द्वितीयोऽनुवाकः।

६	१४	अथर्वा	सोमारुद्रौ	त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप्; ३ जगती; ४ अनुष्टुबुष्णिक्त्रिष्टुब्गर्भा पंचपदा जगती; ५-७ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री; ८ एकावसाना द्विपदा आर्च्यनुष्टुप्; १० प्रस्तारपंक्तिः; ११-१४ पंक्तिः; १४ स्वराट्।
७	१०	,,	बहुदैवत्यं	अनुष्टुप्; १ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः; ४ पथ्याबृहती; ६ प्रस्तार पंक्तिः।

(एकादशः प्रपाठकः)

८	९	,,	नानादैवत्यं	,, ; २ त्र्यवसानाषट्पदाजगती; ३,५ भुरिक्पथ्यापंक्तिः; ६ प्रस्तारपंक्तिः; ७ द्व्युष्णिग्गर्भापथ्यापंक्तिः; ९ त्र्यव० षट्० द्व्युष्णिग्गर्भा जगती।
९	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१,५ दैवी बृहती; २, ६ दैवी त्रिष्टुप्; ३,४ दैवी जगती; ७ विराडुष्णिग्बृहतीगर्भा पंचपदा जगती; ८ पुरस्कृति त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा चतुष्पदा त्र्यवसाना जगती।
१०	८	,,	,,	१-६ ववसाना त्रिपदा गायत्री; ७ त्र्यवसाना ककुप्; ८ पुरस्कृति द्व्युनुष्टुब्गर्भा पराष्टिस्त्र्यवसाना चतुष्पदाति जगती।

३ तृतीयोऽनुवाकः।

११	११	अथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ३ पंक्तिः;

				३ पन्चपदातिज ११ व्यव० प त्यष्टिः।
१२	११	अंगिराः	जातवेदाः	त्रिष्टुप् ; ३ पंक्तिः।
१३	११	गरुत्मान्	तक्षकः। विषं	जगती; २ आस्तारपंक्तिः, ४, ७—८ अनु ष्टुप्; ५ त्रिष्टुप्; ६ प ध्यापंक्तिः; ९ भुरिक्; १०-११निचृद्गायत्री
१४	१३	शुक्रः	वनस्पतिः (कृत्याप्रतिहरणं)	अनुष्टुप्; ३,५,१२भुरिक्; ८त्रि- पदा विराट्; १० नि- चृद्बृहती; ११ त्रिप- दासाम्नी त्रिष्टुप्; १३ स्वराट्।
१५	११	विश्वामित्रः	वनस्पतिः	,, ; पुरस्ताद्बृहती; ५, ७—९ भुरिक्।

४ चतुर्थोऽनुवाकः। (द्वादशः प्रपाठकः)

१६	११	विश्वामित्रः	एकवृषः	[एकावसानं द्वैपदं]१, ४-५, ७-१० साम्नी उष्णिग्; २;३;६आसु- री अनुष्टुप्; ११ आ- सुरी गायत्री।
१७	१८	मयोभूः	ब्रह्मजाया	अनुष्टुप्; १—६ त्रिष्टुप्।
१८	१५	,,	ब्रह्मगवी	,, ; ४,५,८,९,१२ त्रिष्टुप्; ४ भुरिक्।
१९	१५	,,	,,	,, २ विराट् पुरस्ताद्बृह- ती;७उपरिष्टाद्बृहती।
२०	१२	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	त्रिष्टुप्; १ जगती।
२१	१२	,,	,,	अनुष्टुप् ; १, ४, ५ पथ्यापंक्तिः, ६ जगती; ११ बृहती- गर्भा त्रिष्टुप्; १२ त्रि- पदा यवमध्या गायत्री।

५ पञ्चमोऽनुवाकः।

२२	१४	भृग्वंगिराः	तक्मनाशनं	,, १,२ त्रिष्टुप्; (१ भु- रिक्), ५ विराट् पथ्याबृहती।

इस प्रकार बारह ऋषि नामोंके साथ इस काण्डका संबंध है पहिले काण्ड से लेकर इस काण्डतक कितने ऋषियोंके नामोंका संबंध प्रत्येक काण्डसे आगया है, यह देखिये-

प्रथम	काण्ड	के साथ	८	ऋषियोंके	नामोंका	संबंध है
द्वितीय	,,	,,	१७	,,	,,	,,
तृतीय	,,	,,	८	,,	,,	,,
चतुर्थ	,,	,,	१७	,,	,,	,,
पञ्चम	,,	,,	१२	,,	,,	,,

अब देवतावार मंत्रोंका विभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्त विभाग ।

१ वरुण देवता के	१, २, ११	ये तीन	सूक्त हैं।
२ वास्तोष्पति ,,	९, १०, २६	,,	,,
३ अग्नि ,,	३, २७,	ये दो	सूक्त हैं।
४ वनस्पतिः ,,	१४, १५	,,	,,
५ जातवेदाः ,,	१२, २९	,,	,,
६ ब्रह्मगवी ,,	१८, १९	,,	,,
७ दुंदुभिः ,,	२०, २१	,,	,,
८ नानादेवताः ,,	८, २४	,,	,,
९ मन्त्रोक्ताः ,,	२६, २९	,,	,,
१० बहुदेवताः देवता का	७	यह एक	सूक्त है।
११ कुष्ठः ,,	४	,,	,,
१२ लाक्षा ,,	५	,,	,,
१३ सोमारुद्रौ ,,	६	,,	,,
१४ तक्षकः ,,	१३	,,	,,
१५ विषं ,,	१३	,,	,,
१६ एक वृषः ,,	१६	,,	,,
१७ ब्रह्मजाया ,,	१७	,,	,,
१८ तक्मनाशनं ,,	२२	,,	,,
१९ इन्द्रः ,,	२३	,,	,,
२० आत्मा ,,	२४	,,	,,

२१ योनिगर्भः का २५ यह एक सूक्त है।
२२ त्रिवृत् " २८ " "
२३ आयुः " ३० " "
२४ कृत्यादूषणं " ३१ " "

यह देवताक्रमानुसार सूक्तव्यवस्था है। इसमें " मन्त्रोक्त देवताः, बहुदेव बहुदेवताः, नानादेवताः " ये सब एक ही बातके वाचक शब्द हैं। इस का तात इतना ही है कि इन सूक्तों के मंत्रोंमें अनेक देवतायें होती हैं। यदि इन सूक्तों पाठक स्वयं देखेंगे तो उनको इस बात का पता लग जायगा। अब इस पञ्चम काण्ड गणोंकी व्यवस्था देखिये—

सूक्तोंके गण।

१ तक्मनाशन गण के सूक्त ४, ९, २२ ये तीन हैं।
२ वास्तुगण के ९ और १० ये दो सूक्त हैं।
३ रौद्रगण का ६ वां एक सूक्त है।
४ चातनगण का २९ वां एक सूक्त है।
५ आयुष्यगण का ३० वां एक सूक्त है।
६ कृत्याप्रतिहरणगण का ३१ वां सूक्त है।

इस काण्डके सूक्तोंके ये गण हैं और इन गणोंमें इतने ही सूक्त हैं। अन्य सूक्त स्वतंत्र हैं। अन्यपरिगणन इस प्रकार है—

पुष्टिकमंत्राः-१, २, ३, २६, २७ ये सूक्त पुष्टिकर्मके हैं,

औषधियोंके विषयमें निम्न सूक्त इस प्रकार परिगणित हुए हैं—

(१) कुष्ठलिंगाः- सूक्त ४ था.
(२) लाक्षालिंगाः- सूक्त ५ वा
(३) मधुलावृषलिंगाः- सूक्त १५ वां

अर्थात् इन सूक्तोंमें इन औषधियोंके गुणवर्णन हुए हैं। इस पञ्चम काण्डके अध्ययन के प्रसंगमें पाठक इन विशेष बातोंका स्मरण करेंगे तो उनको विशेष लाभ हो सकता है। इतनी भूमिका के साथ इस काण्डमें सबसे प्रथम के सूक्तमें कही " गूढ आत्मोन्नति की विद्या " देखिये—

चितसे
...क्‍
...ान
...रक
...ः
...ा

...ा

पालन ... ...य आ-
त्मिक ... ...ता हुआ रक्षण-शक्ति
और ... ...होकर अपनी तीनों अवस्थाओंको स्वाधीन
करता है ...

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ २ ॥

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः ।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥ ३ ॥

अर्थ-(यः प्रथमः धर्माणि आससाद) जो पहिला होकर धर्मों को प्राप्त करता है,(ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे)उससे वह बहुत शारीरिक शक्तियों को धारण करता है। और (यः अनुदितां वाचं आचिकेत) जो अप्रकट वाणीको जानता है। (धास्युः प्रथमः योनिं आविवेश) धारण करनेवाला पहिला होकर मूल उत्पत्ति स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥२॥

(यः ते शोकाय तन्वं अनुरिरेच) जिसने तेरे प्रकाशके लिये शरीर साथ साथ जोड दिया है, इसलिये कि उससे (स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरत्) अपनी शुद्ध दीप्तियां सुवर्णके समान फैलें। (अत्र अमृतानि नाम दधेते) यहां अमर नामोंको वे धारण करते हैं। अतः (विशः अस्मे वस्त्राणि आ ईरयन्ताम्) प्रजाएं इसके लिये वस्त्र प्रेरित करें ॥ ३ ॥

भावार्थ-जो अन्य मनुष्योंसे श्रेष्ठ बनकर विशेष धर्म नियमोंका पालन करता है, इस अनुष्ठानसे वह आश्चर्य कारक शक्तियोंका प्रकाश करता है। पश्चात् वह गूढ वाणीको जानता है जिससे वह धारण शक्तिसे युक्त और प्रथम स्थान के लिये योग्य बन कर अपने मूल स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

जिस प्रभुने मनुष्यके अन्तःप्रकाशको चारों ओर फैलाने के लिये उस को अनुकूल शरीर दिये हैं, जिससे वह शुद्ध सुवर्णके समान अपना प्रकाश चारों ओर फैलाता है, उसीमें सब अमृत यश बतानेवाले नाम सार्थ होते हैं और इसी लिये सब प्रजाएं उस के लिये ही अपने आच्छादक वस्त्र अर्पण करें और स्वयं पर्दा हटाकर उसके सन्मुख खडे हो जांय ॥ ३ ॥

प्र यदे॒ते प्र॑त॒रं पू॒र्व्यं गुः सदः॑सद आ॒तिष्ठ॑न्तो अजु॒र्यम् ।
क॒विः शु॒पस्य॑ मा॒तरा॑ रिहा॒णे जा॒म्यै धु॒र्यं पति॑मेरयेथाम् ॥ ४ ॥

तदू षु ते॑ म॒हत् पृ॑थुज्मन् नमः॑ क॒विः काव्ये॑ना कृणोमि ।
यत् स॒म्यञ्चा॑वभि॒यन्ता॑व॒भि क्षाम॒त्रा म॒ही रोध॑चक्रे वावृधेते॑ ॥ ५ ॥

अर्थ- (यत् एते) जो ये (सदः सदः आतिष्ठन्तः) प्रत्येक धर्म सभामें बैठते हुए (अजुर्यं प्रतरं पूर्व्यं प्र गुः) जरा रहित प्राचीन और सबसे पूर्व आत्माको प्राप्त करते हैं ; (कविः शुपस्य मातरौ) कवि होकर बल की मान्यता करनेवाली तथा (जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे) बहिनके लिये धुरीण पालक का वर्णन करनेवाली के समान (आ ईरयेथां) प्रेरणा करती हैं ॥ ४ ॥

हे (पृथु—ज्मन्) हे विशेष गति देनेवाले ईश्वर ! (तत उ) इसीलिये (कविः) मैं कवि अपने (काव्येन) काव्य के द्वारा(ते सु महत नमः कृणोमि) तुझे बहुत नमस्कार करता हूं । (यत सम्यञ्चौ अभियन्तौ मही रोध-चक्रे) क्यों कि मिले हुए गतिमान् बडे प्रतिरोधक गतिवाले चक्रोंके समान (अत्र क्षां अभि वावृधेते) यहां पृथ्वीपर दोनों बढते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रत्येक धर्म कृत्यमें आदरसे भाग लेते हैं, और उसमें अजर अमर पुराण पुरुषका आदर करते हैं । वे अतीन्द्रियार्थ दर्शी और बलके प्रेमी बनकर अपनी बहिनके पतिका आदर करनेके समान आदर भावसे सबके साथ व्यवहार करते हैं ॥ ४ ॥

हे सबके संचालक ईश्वर ! उक्त हेतुसे ही मैं कविकी दृष्टिसे अपनी काव्यमय वाणीके द्वारा तेरा महान् यश गाता हुआ तेरे सन्मुख अत्यंत नम्र होता हूं । विरुद्ध गतिवाले दो चक्र यदि एकही कार्यके लिये एक केन्द्रमें मिलकर कार्य करने लगे,तो बडी शक्ति उत्पन्न होती है । [यहां जड चेतन ये विरुद्ध गुण धर्मवाले दो पदार्थ तेरे सन्मुख झुक जाते हैं और इस नम्रतासे शक्ति शाली बनते हैं यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये ।
दर्शन् नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥ ८ ॥
अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर ।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् ॥
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥ ९ ॥

अर्थ- (पुत्रः क्षत्रं पितरं ईडे) पुत्र अपने दुःखसे रक्षण करने वाले पिता की सहायता चाहता है । (उत मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्) और मर्यादा स्थापन करनेवाले श्रेष्ठको कल्याणके लिये पुकारते हैं । (याः ते वि-स्थाः ता नु दर्शयन्) जो तेरे विशेष स्थान हैं उनको दर्शाता हुआ, हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो! (आवर्व्रततः वपूंषि कृणवः) आपही वारंवार भ्रमण करनेवाले के शरीरोंको करते हैं ॥ ८ ॥

हे (अ-मूर) अमूढ अर्थात ज्ञानवान्! (पयसा अर्धेन अर्धं पृणक्षि) तू पोषक रस से आधेसे ही आधे की पूर्णता करता है । और (अर्धेन शुष्म वर्धसे) आधेसे बल बढाता है । (अविं शग्मियं) रक्षक और समर्थ (सखायं वरुणं) मित्र और श्रेष्ठ (अदित्याः इषिरं पुत्रं) अदीनताको बढाने वाला और नरक से बचाने वालेको (वृधाम) बढाते हैं । (सत्यवाचा रोदसी) सत्य वचनी द्यावापृथिवी (अस्मै कविशस्तानि वपूंषि अवोचाम) इसके कवियों द्वारा प्रशंसित शक्तियों को वर्णन करते हैं ॥९॥

भावार्थ- पिता अपनी रक्षा करता है इसलिये हरएक पुत्र पितासे सहायता प्राप्त करना चाहता है । इसी प्रकार मर्यादाका आदेश देनेवाले श्रेष्ठ गुरुजनोंको भी मनुष्य पुकारते हैं । इन दोनों कारणोंके लिये सर्वश्रेष्ठ प्रभुकी प्रार्थना करते हैं क्यों कि वह अपने श्रेष्ठ स्थानोंको बनाता है और वारंवार शरीर देकर रक्षा भी करता है ॥ ८ ॥

हे सर्वज्ञ प्रभो ! तू पोषक रससे हमारे आधे भागको पूर्ण करता है और आधे भाग का बल भी तू ही बढाता है । तू रक्षक, समर्थ, मित्र, श्रेष्ठ, अदीनताको बढानेवाला, नरकसे बचानेवाला है; इसलिये तेरा महात्म्य हम गाते हैं । सत्यवचन कहनेवाले इसीके प्रशंसनीय शक्तियोंके गुणोंका गान करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मोन्नति का मार्ग।

आत्माकी शक्ति जिस मार्गसे चलनेसे बढ सकती है उसको आत्मोन्नतिका मार्ग कहते हैं। इस मार्गका उपदेश इस सूक्तमें किया है, इसलिये साधक लोगोंकी दृष्टिसे इस सूक्तका महत्व बहुत है। भाषाकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह सूक्त बडाही क्लिष्ट है, अर्थात् इसकी भाषासे शीघ्र बोध नहीं होता, तथापि विचार करनेपर और पूर्वापर संगति देखनेसे जो बोध मिलता है, वह यहां देते हैं—

आत्माकी उन्नति।

(१) अमृतासुः– (अ-मृत-असुः) यह जीवात्मा अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, अर्थात् यह अमर है, कभी मरनेवाला नहीं है। 'अज' और 'अमर' ये दो इसके नाम ही हैं। इन नामोंसे यह 'अजन्मा और न मरनेवाला' है, यह बात सिद्ध होती है। यद्यपि यह वस्तुतः न मरनेवाला और न जन्मनेवाला है, तथापि यह शरीरके जन्मके साथ जन्म लेता है और शरीरके मरनेसे मरता है, ऐसा माना जाता है। इसका वर्णन 'अजायमानो बहुधा विजायते। (य. ३१। १९)' न जन्म लेनेवाला बहुत प्रकार जन्म लेता है अर्थात् यह अजन्मा आत्मा स्वयं अमर प्राणशक्तिसे युक्त है तथापि जन्ममरणकी अवस्थाका अनुभव लेता है। इस मंत्रमें भी "अमृतासुः सुजन्मा" अमर जीवन शक्तिसे युक्त होता हुआभी उत्तम जन्म लेनेवाला, ऐसा इसका वर्णन किया है, इसका हेतु यही है। (मं. १)

(२) सु–जन्मा–उत्तम जन्म लेनेवाला। जन्म लेकर उत्तम कार्य करनेवाला। जिसने अपने जन्मका सार्थक किया है। यह आत्मा वस्तुतः अमर और अजन्मा है तथापि यह शरीरके साथ जन्म लेता है, यहां आकर परम पुरुपार्थ करता है और अपने अमरत्वको प्राप्त करता है। (मं० १)

(३) वर्धमानः–बढनेवाला। पूर्वोक्त प्रकार परम पुरुपार्थ करता हुआ यह अपनी शक्ति विकसित करता है, अर्थात नरजन्म प्राप्त करके आत्मोन्नतिके मार्गसे चलकर अपनी अमर और अजर शक्तिकी वृद्धि करता है। (मं० १)

(४) ऋधङ्+मन्त्रः–सत्यका मंत्र जपनेवाला। अर्थात् सत्यका पालन करनेवाला, सत्यका मनन अथवा विचार करनेवाला, जब यह होता है, तभी इसकी उन्नति होने लगती है। (मं १)

(५)अदब्ध+असुः=न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त, यह अदम्य बलसे संपन्न है।

पूर्वोक्त प्रकार सत्यका निष्ठासे पालन करनेसे उसका आत्मिक बल बढ जाता है और आत्मिक बलसे ही उसको अपनी अजर अमर और अदम्य आत्मशक्तिका अनुभव होता है । (मं० १)

(६) भ्राजमानः-प्रकाशनेवाला। इस समय यह अपने तेजसे चमकता है । सत्य-निष्ठा और आत्मिक बलके कारण मनुष्यका तेज बढ जाता है । (मं० १)

(७) योनिं आबभूव— अपने मूल उत्पत्तिस्थान को प्राप्त होता है । परिधके पास न जाते हुए मध्य केन्द्र में पहुंचता है । चक्रके परिधमें गति अधिक और केन्द्रमें गति नहीं होती है । इसलिये परिधमें अशान्ति होती है और केन्द्रमें शान्ति रहती है । अतः योगीजन केन्द्रस्थानमें स्थित परमात्मामें प्राप्त होकर शान्ति कमाते हैं और अन्य जन परिधमें आकर महागतिके वेगसे चक्कर खाते रहते हैं । पूर्वोक्त प्रकार का मुमुक्षु जीव मध्य केन्द्र स्थानमें जाता है और शान्तिका अनुभव करता है ।

इस प्रकार यह (त्रितः) रक्षक और (धर्ता) धारक होता है अर्थात् दूसरोंका रक्षण और धारण करता है और (त्रीणि दाधार) अपनी स्थूल सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं का धारण करता है, अर्थात् इन अवस्थाओंको अपने वश में करता है । इस प्रथम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेसे निम्नलिखित बोध प्राप्त होता है—

प्रथम मंत्रसे बोध ।

अदम्य आत्मशक्तिका तेज ।

" मनुष्य अपने आत्माको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे, नरजन्म प्राप्त होनेके पश्चात् अपने जन्मकी सार्थकता करने के लिये उत्तम प्रशस्त कर्म करे और अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे । सत्यका पालन करके अपनी आत्मिकशक्ति की अदम्यताका अनुभव करके उत्तम प्रकार दिनके प्रकाशके समान प्रकाशित होता रहे । अन्तमें स्वयं परमात्माके केन्द्र में अपना स्थान स्थिरकरके जनताका रक्षक और धारक बन कर अपने तीनों अवस्थाओंको अपने आधीन करे । " (मं० १)

इस मंत्रका तात्पर्य देखनेसे स्वयं पता लगता है कि " जनताका रक्षण और धारण करनेके बिना अर्थात् जनताके उद्धारके प्रयत्नमें आत्मसमर्पण करनेके बिना अपनी अदम्य आत्मशक्तिका विकास नहीं होगा और आत्मविकास की अन्तिम भूमिका भी प्राप्त नहीं होगी । " अस्तु अब द्वितीय मंत्रका आशय देखिये—

(८) **यः प्रथमः धर्माणि आससाद**=जो पहिला होकर धर्म नियमोंका प करता है। अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ बन कर धर्मनियमोंका पालन योग्य रीतिसे करत और कभी धर्मनियमोंके पालनमें किसी प्रकारकी शिथिलता होने नहीं देता। (मं०

(९) **ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे**= उससे विविध शारीरिक शक्तियोंको धारण करता है। 'वपु' का अर्थ शरीर अथवा शरीर की शक्ति है। मनुष्यके श स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन हैं और उनकी तीन शक्तियां हैं। पूर्वोक्त प्रकार ध नियमोंका पालन करनेसे मनुष्यकी इन शरीरोंकी शक्ति बढ जाती है, मानो, मनु धर्मनियमोंके पालन द्वारा इन शरीरोंकी विविध शक्तियोंकोही बनाता या बढा है। (मं० २)

(१०) **यः अनुदितां वाचं चिकेत** = जो अप्रकट वाणीको जानता है, अर्था जो गुह्य वाणीके द्वारा प्रकट होनेवाला संदेश जानता है। जो वाणी मनुष्य बोलते है वह व्यक्त अथवा प्रकट किंवा 'उदित वाणी' है। यह व्यक्त वाणी अतिस्थूल है। इसको 'वैखरी' कहते हैं। इसके पूर्व 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा' ये तीन गुप्त, गुह्य, अव्यक्त अथवा अनुदित वाणियां हैं। प्रकट वाणीकी अपेक्षा इन गुप्त वाणियोंमें आत्मा का प्रभाव अधिक भरा होता है, जो प्रकट वाणीसे उतना व्यक्त नहीं होता। ज्ञानी जन इस अनुदित वाणीके संदेशोंको जानते हैं और उसको अपनाते हैं,इस विषयमें वेदमें अन्यत्र इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
ऋ. १।१६४।४५ अथर्व. ९।१०(१५)२७

"वाणीके चार पद हैं, उनको विवेकी ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। उनमेंसे तीन हृदयमें गुप्त हैं और चतुर्थ वाणीको मनुष्य बोलते हैं।" इस मंत्रके कथनके साथ इस मंत्रका विचार करना चाहिये। इसमें जो 'अनुदितां वाचं' [अप्रकट गुह्य वाणी] को देखनेकी बात कही है, वह वाणी (गुहानिहिता) हृदयकी गुहामें गुप्त है। ब्रह्मज्ञानी ही उसको जानते हैं। अर्थात् जो इस गुप्तवाणीको जानता है, उसकी विशेष योग्यता होती है।

(११) **प्रथमः धास्युः योनिं आविवेश**=पहिला धारणशक्तिसे युक्त होकर मूल उत्पत्तिस्थानमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है वह मूल केन्द्रस्थानमें प्रविष्ट होकर अप्रतिम शान्तिका अनुभव लेता है। [इस विषयमें प्रथम मंत्रके प्रसंगमें विशेष कहा है, उसको यहां दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है।]

इस तृतीय मंत्रके उत्तम बोधका मनन करते हुए हम अब चतुर्थ मंत्रका विचार करते हैं—

(१५) सदः सदः आनिषदन्तः अजुर्यं पूर्व्यं प्रतरं प्रभुः = हरएक धर्म विचार की यज्ञशालामें बैठने वाले लोग अजर पुरातन और सर्वोत्कृष्ट आत्माको प्राप्त करते हैं। जिसको प्राप्त करना है वह (अजुर्य) जरा रहित, (पूर्व्य) सबसे प्राचीन पुरातन तथा पूर्ण और (प्रतरं) सबसे अत्यंत उत्कृष्ट है। इसीलिये उसको प्राप्त करना चाहिये। उसके प्राप्त होने से हम जरा रहित, पूर्ण और उत्कृष्ट हो सकते हैं। यही अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबके प्रयत्न होने चाहिये। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम ऐसी सभाओंमें जाना कि जहां धर्मका विचार होता है और यज्ञ किया जाता है। ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें रहनेसे शनैः शनैः मनपर शुभ संस्कार होते हैं और मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ उन्नत होता है। ' उप+नि+षद् ' नाम ब्रह्मविद्याका है, इस शब्दमें ' उप+नि ' ये उपसर्ग हटाये जांय, तो शेष ' सद् ' शब्द रहता है, वही यहांका ' सद ' शब्द है। ब्रह्मप्राप्तिका उपाय चिंतन करनेवाले लोग जहां शांतिसे बैठते हैं उस सभाका नाम ' सद, अथवा उपनिषद ' है। (अजुर्य) अजर (पूर्व्य) प्राचीन और (प्रतरं) उत्कृष्ट आत्माके (उप) पास (नि) निकट (सद्) बैठना, यह इस शब्दका भाव है। इससे आत्म प्राप्तिके अनुष्ठान का मार्ग ध्यानमें आसकता है।

(१६) कविः शुभस्य मातरा, जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे, एरयेथां = अतीन्द्रियार्थदर्शी और धनकी मान्यता करनेवाले होकर बहिनके हितके लिये उसके धुरीण पतिकी प्रशंसा करनेके समान, सबके साथ व्यवहार करते हैं। बहिनके पतिका विशेष आदर करते हैं, बहिनके घर उसका पति आया तो सब उसका सन्मान करते हैं। क्यों कि उसका अपमान किया जाय, तो बहिनको ही कष्ट होंगे, यह विचार उनके मनमें रहता है। इतना आदरका विचार दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके समय मनमें धारण करना चाहिये। घरमें आये दामादका जैसा आदर पूर्वक सन्मान करते हैं, उसी प्रकार आदर भावसे सबके साथ व्यवहार करना चाहिये। कईयोंको दूसरोंका अपमान करनेकी आदत होती है, इससे व्यर्थ द्वेषभाव बढ जाता है। इसलिये प्रेमका संवर्धन करनेवाला व्यवहार करना उचित है। मनुष्य को दूर दृष्टि प्राप्त करना चाहिये और बलका भी आदर करना चाहिये, परंतु उस बलका उपयोग दूसरोंके साथ प्रेम करनेमें करना चाहिये न कि दूसरोंको दबानेके कार्य करनेमें।

विकास करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यदि ये परस्पर विघातक होने लगे, तो शक्तिकी क्षीणता होती है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये कि यहां स्थूल शरीर है और अन्दर सूक्ष्म शक्ति है। शरीरको संयम आदि सुनियमोंसे उत्तम अवस्थामें रखा जाय तो वह स्थूल शरीर सूक्ष्म शक्तियोंका सहायक, पोषक और संवर्धक होता है। इस के विपरीत शरीर को असंयम द्वारा व्यसनादिमें लगानेसे दोनों शक्तियोंका क्षय होता है। यहां अपने शरीरमें ही पाठक देखें की यहां ये स्थूल सूक्ष्म दो रोधक चक्र कैसे हैं और ये परस्पर विरोधक होनेपर भी मिलजुल कर रहनेसे परस्पर सहायकारी कैसे हो सकते हैं और परस्पर घातक भी किस अनियम के कारण होते हैं। यह देखनेसे मंत्र का उपदेश पाठकोंको प्रत्यक्ष हो जायगा! इन परस्पर विरोधक चक्रोंको एक कार्य में लगाने और परस्पर का सहायक बनाकर अपनी शक्तिका विकास करनेके कार्य में प्रयुक्त करने का उपदेश इस मंत्रमें किया है। इस प्रकार विरोधक शक्तियोंको एक कार्यमें परस्पर सहायक बनाकर अपनी शक्ति बढाना और काव्य दृष्टिसे स्थूलमें सूक्ष्मको अनुभव करके उसके सन्मुख भक्तिसे नम्र होना, यह आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है। (मं० ५)

पञ्चम मंत्रका भाव।

विरोधक शक्तियोंकी एकतासे वृद्धि।

"मैं अपनी स्थूल शारीरिक शक्ति और सूक्ष्म आत्मशक्ति को एक सत्कार्यमें लगाकर, उनके परस्पर विरोधको दूर करके उनको परस्पर सहायक बना कर, दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंका पोषण करता हूं, इस प्रकार अतीन्द्रियार्थ दृष्टीसे स्थूल के अंदर सूक्ष्म शक्तिको देख कर अपने काव्य से उस चालक अन्तःशक्तिके सन्मुख भक्तियुक्त अन्तःकरणसे नम्र होता हूं॥ ५॥

इस पञ्चम मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब षष्ट मंत्रका विचार करते हैं—

(१०) कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः, तासां एकां इत् अभि अगात्, अंहुरः = ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं, उनमेंसे एक मर्यादा का भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। "(१) चोरी न करना, (२) व्यभिचार न करना, (३) ब्रह्महत्या न करना, (४) गर्भपात न करना, (५) सुरापान न करना, (६) वारंवार दुराचार न करना, (७) पाप होनेपर असत्य बोलकर उसको

अथवा समाप्तिका स्थान, (पथां) संपूर्ण मार्गोंका (विसर्गः) वह विरामका अथवा समाप्तिका स्थान है । किंवा 'सर्ग' का अर्थ है 'उत्पत्ति;' 'वि+सर्ग' का अर्थ होता है विगत सर्ग अर्थात् 'उत्पत्ति जहां नहीं है ऐसा स्थान' । जहां विविध मार्गोंका झंझाट नहीं है, अथवा जहां विविध मार्ग एकरूप हो जाते हैं वह स्थान । ऐसे स्थानमें रहना चाहिये कि जिस स्थानमें रहनेसे विविध मार्गोंके ऊपरसे आक्रमण करनेका कष्ट उठाना न पडे। सभी मार्गोंसे गये हुए लोग जहां पंहुंचते हैं, उस स्थानमें पंहुंचना और वहां जाकर स्थिर रहना चाहिये ।

षष्ठ मंत्रका भाव ।

सात मर्यादाएं ।

" ज्ञानी मनुष्योंने मनुष्य व्यवहारके लिये सात मर्यादाएं निश्चित की हैं। उनमेंसे एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पापी होता है। परंतु जो सातों मर्यादाओंका उल्लंघन न करता हुआ धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवनका आधारस्तंभ बनता है, वह सबके लिये उपमा देने योग्य परमात्माके स्थानमें, जहां अनेक मार्ग पहुंचते हैं, वहांके आधार-स्थानमें स्थिर रहता है ॥ ६ ॥ "

छठे मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब सप्तम मंत्र देखते हैं—

(२९) व्रतः कृण्वन् अमृतासुः एमि ।–व्रतरूप हो कर विविध सत्कर्म करता हुआ अमर प्राण शक्तिसे युक्त होकर आगे बढता हूं । उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको योग्य है कि वह (व्रतः) व्रतरूप बने । व्रतरूप बननेका तात्पर्य यह है कि व्रत पालन करना जिसका स्वभावही बना है । एक मनुष्य ऐसा होता है कि वह नियम करता है और उनके अनुकूल चलता है । और दूसरा ऐसा मनुष्य होता है कि जो स्वभावसे ही नियमके विरुद्ध नहीं जाता है । पहिला मनुष्य प्रयत्नसे नियम पालन करता है और दूसरा स्वभावसे ही पालन करता है । इस प्रकार नियम रूप जो बना है वह मनुष्य 'व्रतः' शब्दसे यहां बताया है । ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य स्वभावसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मोंको करता है और (अ+मृत+असुः) अमर जीवन शक्तिसे संपन्न बनता है । स्वभावसे व्रत पालन करना, और स्वभावसे ही सत्कर्म करना यहां अभीष्ट है । पहिले जब प्रयत्नसे यह व्रत पालन और सत्कर्म करेगा, तब जाकर बहुत समयके पश्चात् इसका यह स्वभाव बनेगा। और स्वभाव बननेसे अमृत रूप बनेगा । यहां अमर बननेकी मुख्य बात कही है, यह पाठक न भूलें । इस समय मनुष्य स्वभावसे असत्य बोलता है, कुकर्म करता है, और नियम

तोडता है, इस कारण इसका अधःपात होता है। परंतु जिस समय यह स्वभावसे बोलेगा और असत्यकी कल्पना तक इसके मनमें न उठेगी, इसी प्रकार अन्यान्य पालन स्वभावसे ही होगा, तब इसकी सब रुकावटें दूर होंगी और यह अमर बनेगा। (मं

(२३) तत् आत्मा असुः तन्वः सुमङ्गुः = उक्त अनुष्ठानसे आत्मा और शरीर ये सब उत्तम गुणवान बनते हैं। अर्थात् आत्मा प्राण और शरीर शुभगुण और बलसे संपन्न होते हैं और वह मनुष्य विलक्षण कार्य सफल करनेमें समर्थ है। पूर्वोक्त अनुष्ठानसे यह लाभ होता है। (मं० ७)

(२४) शक्तः रत्नं दधाति = समर्थ होकर धनका धारण करता है। यह पूर्वोक्त अनुष्ठानकाही फल है। (मं० ७)

(२५) हविर्दाः ऊर्जया सचते = अपना हवि समर्पित करनेवाला बलसे युक्त होता है। तन मन धन यज्ञके लिये समर्पित करनेवाले मनुष्य की शक्ति वृद्धिंग होती है, परोपकारसे अपना बल बढता है। (मं० ७)

सप्तम मंत्रका भाव।

" उत्तम व्रतोंका अनुष्ठान करना और परम पुरुषार्थ करना यह जिसका स्वभाव बना है, वह अदम्य अमर जीवन शक्तिसे युक्त होकर और आत्मिक, प्राणसंबंधी और शारीरिक शक्तियोंसे बलवान और पूर्ण समर्थ होता हुआ, आत्मशक्तियोंका परोपकारार्थ यज्ञ करके कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७ ॥

सप्तम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेके पश्चात् अब अष्टम मंत्रका विचार करते हैं—

(२६) पुत्रः क्षत्रं पितरं ईडे।—पुत्र अपना दुःख निवारण करनेवाले पिताकी स्तुति करता है, सहायता चाहता है, अथवा उसकी कृपा चाहता है। (क्षत्+त्र) क्षत्र शब्दका अर्थ है दुःखसे बचानेवाला। पिता दुःखसे बचानेवाला है, इस कारण पुत्र पिताकी शरणमें जाता है। इसी प्रकार मनुष्य इसीलिये परमात्माकी उपासना करते हैं कि वह सबके दुःखोंको दूर करता है। परमेश्वर इसी हेतुसे सबका परमपिता कहलाता है। (मं०८)

(२७) मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्त।=मर्यादाके पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष की प्रार्थना अपने कल्याणके लिये ही सब करते हैं। अर्थात् अपने कल्याण की इच्छा हरएक मनुष्यमें है इस लिये वह श्रेष्ठ गुरुजनोंकी उपासना और ईश्वरकी पूजा करते हैं। (मं०८) अर्थात् दुःखोंसे बचने और कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको परमेश्वरकी भक्ति करना चाहिये ॥

(२८) विस्थाः दर्शयन्=वह ईश्वर अपने (वि) विशेष (स्थाः) स्थान दिखाता है। जो मनुष्य उस परमात्माकी उपासना करते हैं उनको वह ईश्वर अपने विशेष आनंद प्राप्तिके स्थान देता है कि वहां ये जीवात्मा जांय और वहांका आनंद प्राप्त करें॥ (मं०८)

(२९) आवर्त्ततः वपूंषि कृणवः=वारंवार जन्ममरणके मार्गमें भ्रमण करनेवालोंके शरीरोंको बनाता है। अर्थात् जो मनुष्य पूर्वोक्त उपासना द्वारा मुक्तिको प्राप्त नहीं करते, उनको मुक्ति देनेकी इच्छासे वही ईश्वर उत्तम उत्तम शरीर उनको देता है। इसका हेतु यह है कि ये जीव इन शरीरोंकी सहायतासे प्रशस्ततमकर्म करें और अपने लिये मुक्ति धाम प्राप्त करें, तथा वहांके परम आनंदके भागी बनें ॥ (मं० ८)

अष्टम मंत्रका भाव।

परमपिताकी उपासना।

" पुत्र अपनी रक्षा के लिये पिताकी शरण जाता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने कल्याण के लिये श्रेष्ठोंकी संगति करता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने परमपिता और परमगुरु जो परमात्मा है उस, की उपासना करते हैं। ऐसे उपासकों को वह ईश्वर अपने विशेष आनंद के स्थान बनाता है, इस लिये कि वे वहां जायें और आनंद से पूर्ण बनें। परंतु जो मनुष्य उसकी उपासना नहीं करते, उनके लिये वारंवार जन्ममरण के अनुभव देनेके लिये शरीर देता है, ता कि वह इन शरीरोंसे आवश्यक अनुभव प्राप्त करे और अपनी शक्ति विकसित करके मुक्ति धाम का योग्य बने ॥ ८ ॥

यहां अष्टम मंत्रका भाव समाप्त हुआ है। इसको स्मरण करके अब नवम मंत्रका विचार करते हैं—

(३०) अर्धेन पयसा अर्धं पृणक्षि । = आधे पौष्टिक रससे आधा भाग पूर्ण करता है। यहां शरीर इंद्रियां आदि स्थूल शरीरकी पुष्टि विवक्षित है। आधाभाग स्थूल का है और आधाभाग सूक्ष्म का है। हमारे स्थूल भागकी अर्थात् शरीर, इंद्रियां आदि की पुष्टि विविध पौष्टिक रसोंसे परमेश्वर ही करता है। ये पदार्थ निर्माण करने द्वारा उसने संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर अनंत उपकार किये हैं। यह देखकर उसके उपकारोंका स्मरण करना चाहिये। (मं० ९)

(३१) अर्धेन शुष्मं वर्धसे । = आधेसे बल बढाता है। जैसा वह आधेसे पोषण करता है उसी प्रकार आधेसे बल बढाता है। इस प्रकार पुष्टि और बल देकर वह परमात्मा सबको पुष्ट और बलवान करता है। (मं० ९)

(३२) वह ईश्वर (अविं = अवति) रक्षक, (शग्मियं) सुख बढानेवाला, (सखायं) सबका मित्र, (इपिरं) अन्नादिसे युक्त और (वरुणं-वरं) वरिष्ट सबसे श्रेष्ठ है। इसके ये गुण जगत्‌में अनुभव करने चाहिये और इन गुणोंका स्मरण और अनुभव करते हुए उसकी उपासना करना चाहिये। (मं० ९)

(३३) कविशस्तानि वपूंषि अस्मै अवोचाम। = कविकी दृष्टिसे प्रशस्त विविध रूपोंको देख कर इसकी हम प्रशंसा करते हैं। इस जगत्‌में जो विविध शरीर हैं उनके विलक्षण गुणधर्म देखकर मनुष्य इस ईश्वरके महान ऐश्वर्यका अनुमान करता है, और ईश्वरके सामर्थ्यकी कल्पना करता है।

(३४) रोदसी सत्यवाचा = द्यावा पृथिवीमें उसीकी सत्यवाणी भरपूर हुई है, वही गुह्य वाणी है जो सदा सत्य है। इसी गुह्य वाणीका गुप्त संदेश मनुष्यको अपनाना चाहिये। इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें अप्रकट वाणीका जो संदेश सुननेको कहा है, वही वाणी (सत्या वाक्) सत्यवाणी है और वह इस द्यावा पृथिवीके अंदर अर्थात् इस संपूर्ण विश्वके अंदर भरी है। हमारी बोलनेकी वैखरी वाणी क्षणभंगुर है, परंतु यह विश्वव्यापक सत्य अमृतरूप है, इसलिये शुद्धात्माओंको उसका अखंड संदेश हृदयके अंदरसे सुनाई देता है। जगत्‌का स्थूल शब्द सुननेके कान भिन्न हैं और यह सत्यवाणीका अखंड संदेश अन्य श्रुतियों द्वारा सुना जाता है। (मं० ९)

नवम मंत्रका भाव।

ईश गुणवर्णन।

" परमेश्वर अपने एक भागसे सबका पोषण करता है, और दूसरे भागसे सबको बल देता है। वह सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सुखदाता है, वही सबको अन्नादि देकर पोषण करता है, संपूर्ण जगत् के पदार्थोंको देखकर और उसमें कविकी दृष्टिसे प्रशंसायोग्य गुणधर्मोंका अनुभव करके उस के द्वारा हम सब परमात्माकी ही प्रशंसा करते हैं, हम देखते हैं कि उसकी सत्यवाणीने संपूर्ण द्यावापृथिवीको व्यापा है।" ॥९॥

यहां नवम मंत्रका मनन समाप्त होता है। पाठक इन नौ मंत्रोंमें आत्माके साक्षात्कार का मार्ग देख सकते हैं और वैदिक गूढ अध्यात्मविद्या इस सूक्तमें कैसी है इसका अनुभव मनन पूर्वक ले सकते हैं। इस सूक्तमें जो गूढ रीतिसे उन्नतिके मार्ग का उपदेश किया है उसका सारांश यह है—

इस सूक्तका सार।

(१) मनुष्य अपने आपको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे। अपने जन्मकी सार्थकता के लिये प्रशस्त कर्म करे। अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यपालनसे अपनी आत्मिक शक्ति को अदम्य बनावे। जनताका रक्षक और आधार बनकर अपनी सब अवस्थाओंको अपने आधीन रखे। इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करके अपने स्वरूपस्थितिके केन्द्रमें आनंदसे रहे।

(२) मनुष्य श्रेष्ठ बननेकी इच्छा मनमें धारण करे। उसकी सिद्धिके लिये सदा श्रेष्ठ सत्कर्म करता रहे। अपने शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, आदिकी शक्तियां विकसित करके उनको स्वाधीन रखे। गुह्य वाणीके गुप्त संदेशको सुन कर, उसके अनुसार आचरण करे और अपनी स्वरूपस्थिति को प्राप्त करके वहां आनंदसे रहे।

(३) मनुष्यको ये शरीर इसलिये प्राप्त हुए हैं कि, इसके आत्माका प्रकाश चारों ओर फैल जावे। इस में अनेक अमृत रस भी भरे हैं। जिस की कृपासे यह सब प्राप्त हुआ है उसके सन्मुख शुद्ध होकर और दोषोंको दूर करके जाना उचित है। अर्थात् अपने मलीन वस्त्र दूर करके उस के सन्मुख अपने शुद्ध रूपमें खडा होना चाहिये।

(४) सज्जनोंकी संगतिमें रह, परमात्माकी प्रीतिका विचार उनके साथ रह कर कर। दिव्य दृष्टिसे देख और हरएक प्रकारके बलका आदर कर। हर एकके साथ अत्यंत आदरके साथ बर्ताव कर, कभी किसीका निरादर न कर।

(५) अपनी सब शक्तियोंको सत्कार्य में प्रयुक्त कर। परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका विरोधक भाव दूर करके उनको परस्पर सहायक बना, ऐसा करनेसे परस्पर की शक्तिसे परस्परका पोषण होगा। स्थूल में सूक्ष्म शक्तिका कार्य देख कर उस महान सूक्ष्म शक्तिके सन्मुख नम्रतासे रह।

(६) चोरी, व्यभिचार, दुराचार, मद्यपान, गर्भपात आदि कुकर्म न कर, ज्ञानी के मार्गमें विघ्न न खडे कर, एकही कुकर्म मना करने पर भी वारंवार न करता रह, और दुराचार होनेपर भी उसको छिपानेका यत्न न कर। सदाचार की ये मर्यादाएं हैं। इनका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओं में रहनेसे मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उन्नतिको

प्राप्त होता है। यह पुण्यमार्गी मनुष्य धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ संयम से अपने जीवन का आधार बन कर ऐसे स्थानमें जाता है कि जहां संपूर्ण विविध मार्ग एकरूप बनते हैं और जहां उपमा देने योग्य परमात्माका स्थान है।

(७) उत्तम व्रतों और नियमोंका पालन कर और परमपुरुषार्थी बन। अपनी आत्माकी अदम्य शक्तिका अनुभव कर और अपनी शक्तियोंका विस्तार करके उनका उपयोग जनताकी भलाई के प्रशस्त सत्कर्मोंमें कर॥

(८) जिस प्रकार बालक निर्भयताके लिये अपने पिता की शरण और कल्याणके लिये सद्गुरुकी शरण जाता है, इसी प्रकार निर्भयता और कल्याण प्राप्त करनेके लिये परमपिता और परमगुरु परमात्मा की शरणमें जा। वह सब उपासकों को आनंद के स्थानमें पंहुचाता है और जो उसकी भक्ति नहीं करते, उनको विविध शरीर धारण कराता है, वे वहां के विविध अनुभव लेते हुए अन्तमें उसी के पास पंहुचते हैं।

(९) परमेश्वर अपनी आधी शक्तिसे सबकी पुष्टि करता है और आधी शक्तिसे सबको बलवान करता है। वही सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सहायक है। उसके गुणोंका ध्यान करके उनके गुणोंका कार्य जगत्में देखकर उसकी बडी शक्तिका अनुभव सब करें। उसीकी सत्यवाणी सर्वत्र व्यापक है, उस गुह्यवाणीका संदेश प्राप्त कर और उन्नत हो।

इस प्रकार इस सूक्तका सार है। यह सार बडाही बोधप्रद है और सच्ची आत्मोन्नतिका मार्ग बता रहा है। पाठक इसका अधिक मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। इस सूक्तका उपदेश अपने आचरणमें लानेवाले पाठक निःसंदेह अपनी विशेष योग्यता बना सकते हैं और उच्च श्रेणीमें जाकर सन्मानित हो सकते हैं।

यह सूक्त गूढ अध्यात्मविद्याका उपदेश दे रहा है। यह विद्या अत्यंत गूढ है, संभवतः इसी लिये इस सूक्तकी भाषाभी अत्यंत गूढ और गुप्त भावसे परिपूर्ण रखी गई है। इस सूक्तके शब्द और वाक्य सरल नहीं हैं जो सहजहीमें समझे जावें। इस कारण इस सूक्तका मनन पाठकोंको बहुत करना चाहिये। यहां हमने विविध प्रकारसे सूक्तका भाव सरलताके साथ बतानेका प्रयत्न किया है, तथापि कई मंत्रभाग दुर्बोध और अस्पष्टही रहे हैं। यदि कोई पाठक अधिक मनन करके इन मंत्रोंपर अधिक प्रकाश डालेंगे तो उनके जनतापर बहुत उपकार हो सकते हैं।

भुवनोंमें ज्येष्ठ देव ।

(२)

(ऋषिः— बृहद्दिवो अथर्वा । देवता-वरुणः ।)

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः ।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यदे॑नं॒ मद॑न्ति॒ विश्व॒ ऊमाः॑ ॥ १ ॥

वा॒वृ॒धा॒नः शव॑सा॒ भूर्यो॑जाः॒ शत्रु॑र्दा॒साय॑ भि॒यसं॑ दधाति ।
अव्य॑नच्च॒ व्यन॑च्च॒ सस्नि॒ सं ते॑ नवन्त॒ प्रभृ॑ता॒ मदे॑षु ॥ २ ॥

अर्थ- (तत् इत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस) वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म था, (यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे) जहांसे उग्र तेजोबलसे युक्त सूर्य उत्पन्न हुआ । यह (सद्यः जज्ञानः शत्रून् नि रिणाति) तत्काल प्रकट होते ही शत्रुओंका नाश करता है । (यत् एनं विश्वे ऊमाः अनुमदन्ति) इस कारण इसको प्राप्त करके सब संरक्षक हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

(शवसा वावृधानः भूरि-ओजाः शत्रुः) बलसे बढनेवाला महाबलवान् शत्रु (दासाय भियसं दधाति) दासको ही भय देता है । यहां (अव्य-नत् च व्यनत् च सस्नि) प्राणरहित और प्राण युक्त साथ साथ रहे हैं । और (ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त) वे पोषित होकर आनन्दमें स्तुति करते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संपूर्ण भुवनोंमें वही श्रेष्ठ तत्त्व है कि, जहांसे सूर्य जैसे तेजस्वी गोल निर्माण होते हैं । वह प्रकट होते ही अंधेरा दूर होता है, इसलिये इसको देख कर संरक्षक लोग निर्भय होनेके कारण हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

बहुत बलवान शत्रु दास वृत्तिवाले लोगोंके अन्तःकरणमें भी भय उत्पन्न करते हैं [वीर वृत्तिके लोग शत्रुसे कभी नहीं डरते ।] इस जगतमें प्राणरहित और प्राणसहित ये दोनों एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं और वे परस्परकी सहायतासे परिपुष्ट होकर आनंदित होते हैं [अर्थात विभक्त होनेपर वे क्षीण होते हैं ।] ॥ २ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥
यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥ ४ ॥
त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(यत् एते ऊमाः) जब ये रक्षक (त्वे अपि क्रतुं भूरि पृञ्चन्ति) तुझमें ही अपनी बुद्धिको बहुत प्रकार जोडते हैं। तब (द्विः त्रिः भवन्ति) दुगुणे तिगुणे होते हैं। (स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सं सृज) स्वादुसे भी अधिक मधुर रसको मीठेके साथ संयुक्त कर। और (अदः सुमधु मधुना समभि योधीः) उस मधुर रसके प्रति मधुरताके साथ प्राप्त हो ॥ ३ ॥

हे (शुष्मिन्) बलवन्? (चित् नु) निश्चयसे (रणे रणे धना जयन्तं त्वा) प्रत्येक युद्धमें धनको जीतनेवाले तुझको प्राप्त होकर (यदि विप्रा अनुमदन्ति) यदि ज्ञानी लोग आनंदित होंगे, तो उनके लिये (स्थिरं ओजीयः आतनुष्व) स्थिर बल फैला। (दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्) दुराचारी और शोक करनेवाले तुझे न दबावें ॥ ४ ॥

(भूरि युधेन्यानि प्रपश्यन्तः) बहुत युद्धमें प्राप्त धनोंको देखते हुए (वयं रणेषु त्वया शाशद्महे) हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। (ते आयुधा वचोभिः चोदयामि) तेरे शस्त्रोंको वचनोंके द्वारा चलाता हूं। और (ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि) तेरी गतियोंको ज्ञानसे मैं तीक्ष्ण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- सब रक्षक जब परमात्मामें अपनी बुद्धिका योग करते हैं, तब ही दुगुणा और तिगुणा बल प्राप्त करते हैं। ये स्वयं मधुर रससे भी अधिक मीठे बन कर उसमें भी अधिक माधुर्य उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करके धन कमानेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। और ये दोनों मिलकर स्थिर बल फैलावें। दुष्ट दुराचारी लोग सज्जनोंको कभी न दबा सकें ॥ ४ ॥

युद्धमें प्राप्त होनेवाले धनोंको देखते हुए हम सब तेरे जैसे उत्तम वीर

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१मिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ ९ ॥

अर्थ-(महान् बृहद्दिवः अथर्वा) बडे महातेजस्वी योगी ऋषिने (स्वां तन्वं इन्द्रं एव एव अवोचत्) अपने शरीर में रहनेवाले इन्द्र कोही यह स्तोत्र कहा। (मातरि+भ्वरी स्वसारौ) मातृभूमि में भरणपोषण करनेवाली दोनों बहिनें (च अ+रिप्रे एने) जो निर्दोष हैं उन दोनों को (शवसा हिन्वन्ति च वर्धयन्ति) बलसे प्रेरित करते हैं और बढाते हैं ॥ ९ ॥

भूमि सबको आधार देती है उस प्रकार सबको आधार देते है ॥ ७ ॥

आत्मिक प्रकाशसे युक्त तेजस्वी ज्ञानी लोग प्रभुकी बहुत स्तुति करते हैं अर्थात् उस के गुण वर्णन करते हैं। वे राष्ट्रके स्वाधीन राजा होकर वेग शील और तपस्वी होते हुए संपूर्ण विश्वमें अपने प्रभावको बढाते हैं ॥ ८ ॥

बडे तेजस्वी योगी ज्ञानी जन अपने शरीरमें रहनेवाले आत्माका स्तोत्र करते हैं। मातृभूमिमें रहनेवाली दोनों बहिनें [अर्थात् मातृभाषा और मातृसभ्यता] मातृभूमिका भरणपोषण करती हुई निर्दोष बनकर अपने बल से सबको प्रेरित करके सबको बढाती हैं ॥ ९ ॥

सूक्तकी विशेषता ।

यह सूक्त यद्यपि मुख्यतया सर्वश्रेष्ठ परमात्माका वर्णन करता है और उसकी प्राप्ति का उपाय बताता है; तथापि श्लेषालंकारसे राज्यशासन विषयक और अन्यान्य अभ्युदय विषयक महत्त्वपूर्ण बातोंकाभी साथ साथ उपदेश दे रहा है। इस कारण यह सूक्त जिस प्रकार संसारी जनोंको लाभकारी है, उसी प्रकार परमार्थ के लिये प्रयत्न करने वालोंके लिये भी बोधंकर है। इसमें प्रायः प्रत्येक मंत्रमें श्लेषार्थ होनेसे यह सूक्तभी पूर्व सूक्तकी तरह अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध हुआ है। तथापि इसके मनन करनेसे जो विचार मनमें आगये हैं, उनको यहां देते हैं—

ज्येष्ठके लक्षण ।

प्रथम मंत्र में ज्येष्ठ के तीन लक्षण कहे हैं। ये लक्षण प्रथम यहां देखिये-

(१) यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे। = जहांसे उग्र तेज उत्पन्न होता है। जिससे तेजस्विता बढती है। (मं१)

(२) सद्यः जज्ञानः शत्रून् निरिणाति । = उत्पन्न होते ही शत्रुओंको दूर करता है । कार्य को प्रारंभ करते ही वैरियोंको पराजित करता है । (मं०१)

(३) विश्वे ऊमाः एनं अनुमदन्ति । = सब संरक्षक जिसके अनुकूल रह कर आनंदित होते हैं । जिसके साथ आनंदसे रहते हुए सब संरक्षक अपना रक्षाका कार्य उत्तम प्रकार करते हैं ॥ (मं०१)

(४) तत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस । -वह निःसंदेह भुवनोंमें श्रेष्ठ है । जिसमें पूर्वोक्त तीन लक्षण संगत होते हैं, वह सबमें श्रेष्ठ है ऐसा कहना चाहिये । (मं. १)

सबसे प्रथम परमेश्वरको 'ज्येष्ठ, और श्रेष्ठ, कहते हैं क्योंकि (१) उससे सूर्यके समान तेजोगोल उत्पन्न होते हैं और प्रकाशते हैं; (२) वह जहां प्रकट होता है वहां शत्रुता नष्ट होती है और (३) सब उसकी मान्यता करते हैं । अर्थात् ज्येष्ठत्वके तीनों लक्षण उसमें सार्थ होते हैं, इसी कारण कहते हैं कि परमेश्वर सब भुवनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, दूसरा कोई उसके बराबरी का श्रेष्ठ नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि तेजस्विता, शत्रुदूरीकरण की शक्ति और रक्षक वीरोंकी अनुकूलता, जिसके पास होती है उसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहना योग्य है । राष्ट्रमें भी जो श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं " वे तेजस्वी होते हैं, उनकी योजनाओंसे दूसरे मनुष्य भी तेजस्वी कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, वे धार्मिक, सामाजिक औद्योगिक, अथवा राजकीय शत्रुओंको हटा देते हैं और इनके साथ राष्ट्रके वीरोंकी अनुकूल संमति होती है ।" जिन पुरुषोंमें ये तीन लक्षण होते हैं, वे ही सबसे श्रेष्ठ और सबके धुरीण माने जाते हैं ।

प्रथम लक्षणमें 'त्वेष+ नृम्णः' शब्द है । वस्तुतः यह शब्द 'त्वेष+नृ+मनः' है अर्थात् इसका अर्थ' तेजस्वी मनुष्यका मन, अथवा मनुष्यका तेजस्वी मन है । जिसमें ऐसा तेजस्वी मन होता है वही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । वह मन भी ' उग्र ' अर्थात् वीरता युक्त चाहिये । शौर्य वीर्य धैर्य आदि गुणोंसे युक्त मन होना चाहिये । मनुष्य-का मन तेजस्वी और वीर भावनासे युक्त होनेसे ही वह अपने शत्रुओंको दूर हटा सकता है और लोकमत की अनुकूलता भी उसको मिल सकती है । व्यक्तिके अंदर भी श्रेष्ठ त्वके लिये येही तीन गुण आवश्यक हैं । जिस आत्मासे ऐसा मनका बल प्रकट होता है वह श्रेष्ठ आत्मा है । इस प्रकार प्रथम मंत्रका व्यापक भाव है ।

दास की घबराहट ।

दासके लक्षण ।

द्वितीय मन्त्रमें " दास " के लक्षण कहे हैं । पहिले मन्त्रमें श्रेष्ठ वीर पुरुषके तीन

अपनी कारीगरीसे अपने राष्ट्रकी पूजा करें, ये परस्पर धर्मवाले लोग परस्पर मिलकर रहें और अपनी शक्ति बढावें। इस प्रकारकी एकता हमेशा लाभदायक हो सकती है। मनुष्य के व्यवहार में विरोधके प्रसंग अनेक आते हैं, उस समय यदि इस नियम का स्मरण होगा तो जनताका बडा कल्याण हो सकता है।

शक्तिकी वृद्धि।

(७) ऊमाः त्वे क्रतुं पृञ्चन्ति, द्विः त्रिः भवन्ति।=संरक्षक वीर तेरे अन्दर अपनी बुद्धिका योग करते हैं, जिससे वे दुगणे और तिगणे बलवान् हो जाते हैं। जो लोग अपने अन्तःकरणको ईश्वरमें लगाते हैं, चित्तकी एकाग्रता करके परमेश्वरका ध्यान करते हैं, उनका बल बढ जाता है। यहां 'क्रतु' शब्दका अर्थ 'प्रज्ञाशक्ति और कर्म-शक्ति' है। अर्थात् जो मनुष्य अपनी बुद्धिको और कर्तृत्वशक्तिको ईश्वरार्पण बुद्धिसे एकही सत्कर्ममें लगाते हैं, उनकी शक्ति बढती है। यहां बुद्धि और कर्मशक्तिको एक केन्द्रमें लगानेका महत्त्व बताया है। किसी भी व्यवहारके एक केन्द्रमें मन बुद्धि चित्त आदि अपनी सब शक्तियोंको एकाग्र करनेसे शक्तिकी वृद्धि होती है अथवा अपनी शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य होनेकी संभावना हो जाती है। अपने अन्तःकरणको अनेक कार्योंमें व्यग्र रखनेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है, परंतु अनेक व्यवसायोंका झंझाट हटाकर किसी एक कार्यमें मनको लगाया जाय, तो एकाग्रतासे अपना बल बढनेके कारण सिद्धी सहजहीमें हो जाती है। 'ऊम' का अर्थ है स्वसंरक्षण करनेवाले लोग। जो अपनी और जनताकी रक्षाके कार्य करते हैं, उनको इस प्रकार अपने मनको एकाग्र करना अत्यंत आवश्यक है, यदि उनका मन अनंत चिन्ताओंसे व्यग्र रहा, तो उनसे रक्षाका कार्य भी नहीं हो सकता। अर्थात् चित्तको एकाग्र करनेसे शक्ति द्विगुणित अथवा त्रिगुणित हो सकती है और चित्तकी व्यग्रता बढानेसे शक्ति क्षीण होती है। इसी नियमसे योगमार्गकी उत्पत्ति हुई है। चित्तवृत्तियोंका निरोध कर-नेका नाम योग है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेकाही अर्थ चित्तको अनेक स्थानोंसे हटाकर किसी एक स्थानमें स्थिर करना। अपने मन की शक्ति बढानेके लिये ही यह योगसाधन है। उदाहरणके लिये पाठक देखें की किसी मनुष्यके पास एक रुपयेकी शक्ति है। यदि वह एक कार्यमें एक पाईकी शक्ति देगा तो १९२ कार्योंको एक एक पाईकी शक्तिही मिल जायगी और कोई कार्य नहीं होगा, परंतु यदि वह एक रुपयेकी शक्ति किसी एकही कार्यमें लगायेगा, तो उसको अधिक सिद्धि मिल सकती है। एका

यहां इससे भी अधिक आशय है वह यह है—"प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करनेवा क्षत्रिय वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी ब्राह्मण करेंगे, तो जिस देशमें ऐसे मिलजुल कर का करनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय रहते हैं, उस राष्ट्रमें हमेशा रहनेवाला स्थिर बल उत्प होता है, अर्थात् वह राष्ट्र अत्यंत बलवान हो जाता है।" यजुर्वेदमें कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
यजु. २० । २५

"जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल जुलकर साथ साथ चलते हैं, उस राष्ट्रक पुण्य देश कहते हैं।" इस कथन के साथ इस सूक्तके पूर्वोक्त कथन की तुलन पाठक करें।

१ रणे रणे जयन्तं विप्राः अनुमदन्ति=युद्धमें विजय पानेवाले वीरका ज्ञानं अनुमोदन करते हैं।

२ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ सह चरतः-जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल जुल कर रहते हैं।

ये दोनों वर्णन जहां सङ्गत होते हैं, उस राष्ट्रमें स्थिर बल रहता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके ज्ञानी और शूर मिलजुलकर रहें,और अपना बल बढावें। इसकी प्रतिकूल स्थिति जहां होगी वहां अर्थात् जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसमें झगडते रहेंगे, वह राष्ट्र अधोगतिके कीचडमें फंस जायगा, इसमें कोई शङ्का नहीं है। ब्राह्मण क्षत्रियोंकी एकतासे बलकी वृद्धि और आपसके युद्धसे बलका नाश होता है।

(१०) दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्। - दुष्ट और शोक उत्पन्न करनेवाले तुझे न दबावें। अध्यात्मपक्ष में-'दुष्ट विचार और शोक के विचार मनुष्य के मनको न दबावें। राष्ट्रके पक्ष में दुष्ट घातपात करनेवाले लोग और दूसरोंको रुलानेवाले लोग राष्ट्रको न दबावें।' ब्राह्मण और क्षत्रियोंने आपसमें एकता करके अपने राष्ट्रका बल ऐसा बढाना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें दुष्ट लोगोंका उपद्रव बढने न पावे। सर्वत्र रक्षा का प्रबन्ध ऐसा उत्तम हो कि जिससे दुष्ट सदा दबे रहें और कभी सिर ऊपर न उठा सकें। व्यक्तिमें, कुटुम्बमें, जातीमें और राष्ट्रमें यह उपदेश बडा बोधप्रद है। ब्राह्मण क्षत्रियोंका आपस में युद्ध हुआ, अर्थात् दोनोंमें एकमत न रही, तो इन दुष्टोंको सिर ऊपर उठानेके लिये अवसर मिल जाता है, अतः राष्ट्रके अन्दर अभेद्य एकता रखना चाहिये, और दुष्टोंको बढनेके लिये समयही नहीं देना चाहिये।

(२) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातारो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन।
ऋ. ५ । ५९ । ६

" (१) जिनमें कोई बडा नहीं और जिनमें छोटा भी कोई नहीं है, ये सब परस्पर भाई हैं और ये सब अपने कल्याणके लिये मिलकर प्रयत्न करते हैं॥ (२) उनमें कोई बडा नहीं, कोई छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं। वे सब एक जैसे हैं और वे अपने उदयके लिये उत्साहसे प्रयत्न करते हैं। वे उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, भूमिको माता माननेवाले, दिव्य मनुष्य, हमारे पास अच्छीप्रकार आवें।"

इन मंत्रोंमें ऐसे वीरोंका वर्णन है कि जिनमें उच्चनीच कोई नहीं है, सब एकही श्रेणीके हैं और सब मातृभूमिकी उपासना करनेवाले और अपने सामुदायिक यशके लिये यत्न करनेवाले हैं। येही छोटे और बडे एक घरमें रहनेके समान रहते हैं और अपने मेलसे अपनी शक्ति बढाते हुए उन्नति करते हैं। अध्यात्मपक्षमें परमात्माके घरमें छोटे और बडे सब एक जैसे ही होते हैं, यहां का छोटेपन वहां छोटा नहीं होता और यहां का बडापन वहां बडा नहीं होता। वहां तो अन्तःशुद्धतासे सबकी उच्चनीच श्रेणी मानी जाती है। (मं० ६)

(१५) **जिगत्नुं मातरं आस्थापयत।** = प्रगतिशील अपनी मातृभूमि को अपने अन्तः करणमें स्थापन करते हैं। पूर्व स्थानमें दिये हुए ऋग्वेद मंत्रमें ये मातृभूमिके उपासक होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहाही है, वही बात यहां कही है। इसी विषयमें दूसरा एक मंत्र यहां देखने योग्य है वह अब देखिये—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ऋ. १ । १३ । ९
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही
भारती गृणाना॥ अथर्व. ५ । २७ । ९ यजु. २७ । १९

" (इळा, भारती) मातृभाषा (सरस्वती) मातृसभ्यता वा मातृसंस्कृति और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां अन्तःकरणमें स्थिर रहें।" अर्थात् मनुष्यको अपने अन्तः करणसे इन तीन देवियोंकी उपासना करनी चाहिये। यही उपदेश इस सूक्तके इस मन्त्रभागमें है, (मातरं आस्थापयत) मातृभूमिको अपने मनमें उत्तम प्रकार स्थापित करो अर्थात् मातृभूमिके उद्देश्यसे ब्राह्मण क्षत्रिय, छोटे बडे, उच्च नीच सब एक हों और मिलजुलकर अपनी उन्नति करनेके लिये यत्न करें तथा आपस में झगडे मिटे

करके अपनी शक्तिका ही नाश कदापि न करें। (मं० ६)

(१६) अतः भूरि कर्वराणि इन्वत ।=इससे बहुत उत्तम कर्म तुम सिद्ध कर सकोगे। यदि पूर्वोक्त प्रकार एकतासे लोग रहेंगे, तो ही वे प्रबल पुरुषार्थ कर सकेंगे। अर्थात् आपसके झगडोंमें अपना समय बिता देंगे, तो उनसे कोई पुरुषार्थ नहीं होगा, और वे गिरते जांयगे। आपस के झगडोंसे मनुष्योंकी पुरुषार्थ शक्ति ही नष्ट होती है। (मं० ६)

आप्त पुरुषकी स्तुति।

(१७) पुरुवर्त्मानं ऋभ्वाणं इनतमं आप्त्यानां आप्तम् सं स्तुष्व ।=बहुत मार्गवाले, तेजस्वी, श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त पुरुषकी ही प्रशंसा कर। अन्यकी स्तुति न कर। परमेश्वर के पास जानेके अनेक मार्ग हैं और वह अनेक मार्गोंसे लोगोंका कल्याण कर सकता है, वह तेजस्वी और सबमें श्रेष्ठ है, और सब आप्तोंमें परम आप्त वही है, इसलिये वही स्तुति करने योग्य है। उसके स्थानपर किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। आप्त पुरुष वह है कि जो सदा सत्यवचनी होता है और कभी किसीके अहित की बात नहीं करता, जिसके शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं उसका नाम आप्त है। ऐसे आप्तोंमें जो सबसे श्रेष्ठ आप्त पुरुष होता है, वह "आप्त्यानां आप्तः" है अर्थात् प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक वही है। इसीलिये परमेश्वरको सब गुरुओंका भी महागुरु अथवा आदिगुरु कहते हैं। यह वर्णन तो परमात्मविषयक हुआ, अब इस सूक्तका अन्य मनुष्य विषयक भावार्थ देखते हैं। जो मनुष्य (पुरु – वर्त्मानं) बहुत मार्गोंवाला है अर्थात् अपनी उन्नतिके लिये तथा अपने राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अनेक मार्गोंसे बहुत प्रयत्न करता है, एक मार्गसे असिद्धि होगई तो दूसरे मार्गसे अपना कदम आगे बढता है और सिद्धि अवश्य प्राप्त करता है, (ऋभ्वाणं, ऋभु) कुशल, कारीगर, कला जाननेवाला, हुनर जाननेवाला, कुशलतासे कार्य करनेवाला, जो कार्य हाथमें लेगा वह कुशलतासे करनेवाला, (इन+तमं) अत्यंत शक्तिमान, सामर्थ्यवान, बलवान्, ओजस्वी, (आप्त्यानां आप्तं) प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक, ऐसा जो पुरुष होगा उसकी स्तुति कर। जो अनेक उपायोंसे कार्य सिद्धी करनेवाला, कर्म करनेमें कुशल और प्रामाणिक पुरुष होगा, वही प्रशंसाके लिये योग्य है। किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। केवल ज्ञानी, केवल अधिकारी, केवल धनी पुरुष जो होंगे, वे यदि ऊपर लिखा हुआ जनहितका कार्य तत्परताके नहीं करेंगे, तो वे स्तुतिके लिये योग्य नहीं होंगे। (मं० ७)

आदर्श पुरुष।

(१८) भूरि+ओजाः शवसा आदर्शोति । = बहुत बलवाला मनुष्य अपने सामर्थ्य से आदर्शरूप होता है। मनुष्य जो जनतामें आदर्श होजाता है वह बल के कारण होता है। जिसमें किसीभी प्रकारका बल नहीं है, वह कदापि आदर्श पुरुष नहीं हो सकता। आत्मिक, बौद्धिक, मानासिक, शारीरिक आदि अनेक बल हैं। पुरुषमें किसी भी बल की अधिकता होगी, तो ही वह लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। मनुष्य में बल हो और उस बलका उपयोग जनताका उद्धार करनेके कार्य में वह करे, तो वह सबके लिये आदर्श होता है। पूर्वापर संगतिसे पाठक इस भावार्थ को स्वयं जान सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुष किन गुणोंसे बनते हैं, इसका बोध इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें प्रकाशित हो सकता है, उस आशय के साथ इस मंत्र भाग को देखनेसे स्पष्ट होता है कि आदर्श पुरुष बननेके लिये स्वयं बल कमाना और उस बलका उपयोग परोपकारार्थ करना आवश्यक है। इस विषयमें अगला मंत्रभाग देखने योग्य है—

(१९) पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति ।-वह पृथिवीके साथ समानता प्राप्त करता है, वह भूमिका नमूना बनता है। जिस प्रकार गंभीरता, गुरुत्व और सहनशीलता का आदर्श पृथ्वी है, उसी प्रकार वह गंभीर, बडा और सहनशील बनता है। पृथ्वी सब स्थिरचरको आधार देती है, स्थिरचरके आघात सहन करती हुई भी सबको उत्तम पोषणके पदार्थ देती है। यह शांति और परोपकारका आदर्श है। पृथ्वी सबको यह उपदेश देरही है। यह आदर्श जो पुरुष अपने सन्मुख रख सकता है और अपने जीवनमें ढाल सकता है, वही आदर्श पुरुष बन सकता है। पृथ्वी जिस प्रकार अपनी शक्ति परोपकारमें लगाती है, उसप्रकार जो पुरुष अपनी सब शक्तिको जनताकी भलाईके लिये खर्च करता है, वही अन्य लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। (मं० ७)

काव्य कैसा हो !

(२०) अग्रियः स्वर्+साः बृहद्दिवः शूषं ब्रह्म कृणवत्-प्रथम श्रेणीमें स्थित, अपने प्रकाशसे, युक्त बडे द्युलोकके समान तेजस्वी ऋषि, बल उत्पन्न करने वाला काव्य करता है। इस मंत्रमें प्रथम ऋषिके गुण कहे हैं। वह कवि सबमें प्रथम स्थानमें विराजनेवाला आत्मिक प्रकाशसे प्रकाशनेवाला, द्युलोकसे भी अधिक विस्तृत और प्रभावशाली हो, तभी वह कवि ऋषि कहलायेगा। यह ऋषि (शूषं ब्रह्म) बल बढानेवाला स्तोत्र या काव्य बनावे। कवि लोग काव्य इस प्रकारका बनावें कि जिसके पठनेमें

पढनेवालेके मनमें बलका पोषण होवे, निर्बल अन्तःकरण भी बलशाली बनें, उदासीन लोग उत्साही बनें और पुरुषार्थ हीन लोग प्रबल पुरुषार्थी बनें । काव्य इस प्रकारका बनना चाहिये । ऋषिके काव्यका यही लक्षण है । ऋषिका काव्य निर्जीव मनुष्योंको भी विलक्षण पुरुषार्थी बना सकता है । इस प्रकारके ऋषिके काव्यको पढनेवालेकी योग्यता किस प्रकार बढ सकती है, यह अगले मंत्र भागमें देखिये—

(२१) महः गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति । = बडे गोरक्षण राष्ट्रका स्वतंत्र राजा होकर रहता है । 'गो+त्र' का अर्थ गौकी रक्षा करनेवाला । पुष्टि और बलके लिये गोकी रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है । ऐसे गोरक्षक राष्ट्रमें वह राजा बनकर रहता है। जो पूर्वोक्त प्रकार बल बढानेवाला काव्य करता है, वह मानो राष्ट्रका स्वतंत्र राजाही होता है, जो राजाको सन्मान मिलता है वही उक्त ज्ञानीको मिलता है, किंवा उससे भी अधिक उसकी मान्यता होजाती है इसका कारण अगले मंत्र भागमें देखिये-

(२२) तुरः चित् तपस्वान् विश्वं अर्णवत् । = शीघ्रतासे कार्य सफल करनेवाला वह तपस्वी विश्वको ही हिला देता है । इतनी उसमें शक्ति उत्पन्न होती है। तपस्वी मनुष्य संपूर्ण विश्वको अपने काव्यसे हिला देता है, संपूर्ण जगत्में चेतना उत्पन्न करता है । (मं० ८)

(२३)महान् बृहद्दिवः अ+थर्वा स्वां तन्वं इन्द्रं एव अवोचत्= बडा तेजस्वी स्थिर चित्तवाला योगी अपने शरीरमें रहनेवाले इन्द्रको ही इस प्रकार बोला । उक्त योगी ऋषिने अपने शरीरके इन्द्र—आत्मा—को ही इस प्रकार स्तोत्र रूपी वचन कहा, किंवा उसका वर्णन किया । अर्थात् इस सूक्तमें जो है वह अपने शरीरके अंदरके आत्माका ही वर्णन है, ऐसी भावनासे ऋषीने वर्णन किया है। दूसरोंको जो उपदेश दिया जाता है, या जो काव्य कवि करते हैं, वह दूसरोंके लिये नहीं करते, प्रत्युत वह अपने अंदर चरितार्थ हुआ देखते हैं, किंवा उनमें जगत् के कल्याण का भाव उतना ही तीव्र होता है, जितना की अपने कल्याणका भाव साधारण मनुष्यमें हुआ करता है । इस लिये कवि और ऋषि जो भी बोलते हैं वह विशेष करके अपने अन्तरात्माके लिये होता है, उससे जगत्के लोग जितना चाहिये उतना लाभ उठावें । परंतु कविमें उपदेश देनेकी घमंड नहीं होती, वे जो बोलते हैं केवल अपने आत्माकी शान्तिकेलिये होता है। (मं०९)

(२४) मातरि+श्वरि स्वसारौ अ+रिप्रे हिन्वन्ति, शवसा वर्धयन्ति । = मातृभूमि का पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृसभ्यता] निर्दोष होने के कारण सब को हिलाती हैं और बलसे बढाती भी हैं । मातृभूमि, मातृभाषा और

मातृसभ्यता ये तीन देवियां हैं, इस विषयमें इसी सूक्तके विवरणके प्रसङ्गमें अन्यत्र विशेष रीतिसे कहा ही है । ये तीनों देवियां दोष रहित हैं, सबको चेतना देनेवाली हैं और सबको बल के साथ बढानेवाली हैं । कवि अथवा ऋषि अपने काव्यसे ऐसी चेतना मनुष्यके अन्तःकरणमें उत्पन्न करते हैं, इसी लिये उनकी योग्यता असाधारण समझी जाती है ।

परमेश्वर महाकवि और महाऋषि होनेके कारण यह वर्णन उसके काव्यके लिये पूर्ण रूपसे लगता है । मनुष्योंमें जो कवि होंगे उनके लिये यहां आदेश देकर सूचित किया जाता है कि वे अपने काव्यमें उक्त प्रकारकी चेतनाशक्ति रखें। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका वर्णन परमगुरु परमात्मपरक और मानवी कवियोंपरकभी लगता है इतना कहनेके पश्चात् इस सूक्तकी एक विशेष बातकी ओर पाठकोंका मन आकर्षित करना चाहते हैं, वह बात यह है कि इस सूक्तका ऋषि "बृहद्दिवः अथर्वा" है और वह ही ऋषिनाम मं० ८ और ९ में आया है । इसलिये इसी ऋषिका यह सूक्त है ऐसा कहते हैं । यह नाम इस ऋषिका है इसमें संदेह ही नहीं है, तथापि इसका श्लेषालंकारसे अर्थ हमने ऊपर बताया है । इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ भी ऊपरके अर्थमें विशद हुआ है । (बृहत्+दिवः अ+थर्वा) द्युलोकसे बडा निश्चल आत्मा यह इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ है । इस प्रकार ये शब्द तीनों स्थानोंमें योग्य प्रकार लग सकते हैं । पाठक इस बातका अधिक विचार करें । अब यहां इस सूक्तका राष्ट्र उन्नति परक भावार्थ सरल शब्दोंमें देते हैं—

राष्ट्रोन्नतिका सन्देश ।

(१) जिससे उग्र तेजस्विता निर्माण होती है वही सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ है । वह निर्माण होते ही शत्रुओंका पराभव करता है, इस लिये सब संरक्षकगण उसको अपना अग्रणी करके हर्षित होते हैं ।

(२) शक्तिसे युक्त होकर बढनेवाले प्रबल शत्रुको देखकर दासवृत्तिवाले मनुष्यही डर जाते हैं (वीर वृत्तिवाले कदापि नहीं डरते)। वस्तुतः देखा जाय तो जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जड और चेतन इकट्ठे रहनेसे परस्परके बलसे बलवान होकर आनंदित होते हैं [उसी प्रकार विरुद्ध धर्मवाले मनुष्यगण यदि इकट्ठे होकर रहने लगे, तो ही वे परस्परके बलसे बलवान होकर परमानन्दको प्राप्त कर सकते हैं ।]

(३) जो अपनी बुद्धि और कर्म शक्तिको बहुत देरतक एकही कार्यमें स्थिर करते हैं, वे द्विगुणित और त्रिगुणित बलको प्राप्त करते हैं । मीठेसे

मीठे पदार्थ में और भी मिठास रख कर उत्तम मधुरता उत्पन्न कर, और मीठेसे मीठे को बढा [अर्थात् अपने आचरणमें मिठास रखो और जिनके साथ संबंध आजाय उनको भी मीठा बनाओ ॥]

(४) युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। इस प्रकार वीर और ज्ञानियों के ऐक्य से राष्ट्रमें स्थिर बल उत्पन्न होगा और दुष्ट मनुष्य प्रबल नहीं होंगे।

(५) युद्धसे प्राप्त होनेवाले विजयादिको देखकर हम सब ज्ञानी वीरोंके साथ होकर शत्रुका नाश करते हैं, और अपने ज्ञानसे वीरोंके शस्त्रोंको चेतावनी देते हैं तथा वीरोंकी हलचलों को अधिक तेज बनाते हैं।

(६) बडे और छोटे जिस देशमें एक घर में रहने के समान रहते हैं, उसी देशकी अपने बलसे रक्षा होती है। प्रगतिशील मातृभूमिको अपने अन्तः करणमें स्थापन करो और विशेष पुरुषार्थ करो।

(७) जो बहुत मार्गोंसे उन्नति सिद्ध करता है, जो कुशल कर्म करनेवाला होता है, जो श्रेष्ठ होता है और जो अधिक प्रामाणिक है उसी उत्तम पुरुषकी प्रशंसा किया करो [किसी अन्य हीन पुरुषकी स्तुति न करो।] बहुत बलवाला मनुष्य अपने बल के कार्योंसे आदर्श पुरुष बन जाता है, जो पृथिवीके समान लोगोंके लिये आधार देनेवाला बनता है।

(८) बडे तेजस्वी आत्मिक बलवाले श्रेष्ठ ऋषिका बल उत्पन्न करनेवाला यह इन्द्र सूक्त है। यह तपस्वी ऋषि सब विश्वको ही हिला देता है, और स्वतंत्र राजा जैसा बनकर रहता है।

(९) बडे तेजस्वी योगी ऋषिने इन्द्रका—मानो अपने अन्दरकी देवताका—ही स्तोत्र बनाया। इसमें मातृभूमिका भरण पोषण करनेवाली दो बहिने (मातृभाषा और मातृसभ्यता ये दोनों) निर्दोष रहकर उन्नतिके लिये प्रेरणा करती हैं और सबको बलवान बनाकर बढाती हैं।

यह भावार्थ राष्ट्रीय उन्नति विषयक है। यह अर्थ इस सूक्तमें प्रधान स्थान रखता है, इसलिये विस्तार पूर्वक दिया है। परमात्माके वर्णन परक अर्थ भी यहां विशेष करके है वह आशय पाठक समझही गये होंगे।

देवता।

इस सूक्तका देवता 'वरुण' सर्वानुक्रमकारने लिखा है। परंतु इसी सूक्तके नवम

और दशम मंत्रमें यह सूक्त 'इन्द्र' देवताका है ऐसा स्वयं स्पष्ट कहा है, इस लिये इसका देवता 'इन्द्र' मानना उचित है। तथापि यह बात खोज करने योग्य है।

ईश्वर विषयक भावार्थ।

अब इस सूक्त का ईश्वर विषयक भावार्थ संक्षेपसे लिखते हैं— " (१) जिस से सूर्यादि तेजस्वी गोल निर्माण हुए हैं, वह ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है। इस से अंधेरा दूर होता है अतः सब रक्षक इससे आनंदित होते हैं। (२) यह बलसे बढता और दुष्टको भय देता है। इसीकी योजनासे जड चेतन इकट्ठे रह कर सबको आनन्द देते हैं। (३) जो इस ईश्वरमें मन लगाते हैं वे द्विगुणित बल प्राप्त करते हैं और मधुरसेभी अधिक मधुर होते हैं। (४) यह ईश्वर हरएक युद्धमें विजयी होता है इसलिये ज्ञानी इसको प्राप्त करके आनंद भोगते, स्थिर बल प्राप्त करने और दुष्टोंको दूर करते हैं। (५) हे ईश्वर! तेरा विजय सर्वत्र देखकर हम तेरे साथ रहते हुए शत्रु को हटायेंगे। तेरे आयुधोंको हम शब्दोंसे प्रेरित करेंगे और ज्ञानसे तेरी गतिको जानेंगे। (६) तेरे घरमें छोटे और बडे समान अधिकारसे रहते हैं, और तू बलसे सबकी उत्तम रक्षा करता है। हमको तुम प्रकृतिमाता की गोदमें रखता है जिससे हम उत्तम कर्म करसकते हैं। (७) जो विविध मार्गोंसे प्राप्त होनेवाला, श्रेष्ठ कारीगर और परमआप्त पुरुष है, उसकी ही स्तुति कर। वह बलवान होनेसे सबके लिये आदर्श है, और पृथ्वीके समान सबका आधार है। (८) महातेजस्वी आत्मप्रभावी आदि ऋषिने यह सूक्त इंद्रकी प्रशंसामें किया। वह महातपस्वी इस संपूर्ण जगत्को चलाता है, और स्वतंत्र राजा होकर इस जगत्में रहता है। (९) महातेजस्वी योगी ऋषिने यह स्वयं अपने ही प्रभुशक्तिपर स्तोत्र किया। जिसके पास (प्रकृति) माता और दो बहिनें (शक्तियां) रहकर सबको प्रेरित करती हैं और बलसे सबकी वृद्धि करती है। "

इस प्रकार इस सूक्तका परमात्म विषयक भावार्थ है। पाठक इन दोनों भावार्थोंकी तुलनासे इस सूक्तका गंभीर आशय जान सकते हैं। और अनुष्ठानसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह सूक्त समझनेमें बहुत कठिण है अतः इतना विवरण करनेपर भी इसके अर्थकी अधिक खोज करना आवश्यक है।

विजयकी प्राप्ति ।

[३]

(ऋषिः- बृहद्दिवोऽथर्वा । देवता-अग्निः । विश्वे देवाः)

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥ १ ॥
अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः ।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवो मैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥ २ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (विहवेषु मम वर्चः अस्तु) सब युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । (वयं त्वा इन्धानाः तन्वं पुषेम) हम तुझे प्रदीप्त करते हुए अपने शरीरको पुष्ट बनावें । (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नमें । (त्वया अध्यक्षेण पृतनाः जयेम) तुझ अध्यक्षके साथ रहकर संग्रामोंमें विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (परेषां मन्युं प्रतिनुदन्) शत्रुओंके क्रोधको दूर करता हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नः विश्वतः परिपाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर । (दुरस्यवः पराञ्चः निवताः यन्तु) दुःखदायी दूर हटाने योग्य नीच लोग दूर चलें । (एषां प्रबुधां चित्तं अमा विनेशत्) ये दुष्ट प्रबुद्ध हुए तो भी उनका चित्त साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । तुझे अपने अंदर प्रकाशित करके हम अपने शरीरको पुष्ट और बलवान करेंगे। मेरे सन्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नम्र हों । तेरी अध्यक्षतामें हम सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें विजयी होंगे ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका क्रोध दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर । दुःख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जांय । यदि वे शत्रु बुद्धिमान हों तो उनकी दुष्ट बुद्धी भी साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः ।
मम॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामा॑या॒स्मै ॥ ३ ॥
मह्यं॑ यजन्तां॒ मम॒ यानी॒ष्टाकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु ।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि र॑क्षन्तु मे॒ह ॥ ४ ॥
मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः ।
दैवा होता॑रः सनिषन् न ए॒तदरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीराः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ-(सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मरुतः विष्णुः अग्निः) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ मरुत् विष्णु और अग्नि (विहवे मम सन्तु) युद्धमें मेरे पक्षमें हों। (मम अन्तरिक्षं ऊरुलोकं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विशेष स्थानवाला होवे। (वातः मह्यं अस्मै कामाय प्रवतां) वायु मेरे लिये इस कार्यके लिये बहता रहे ॥ ३ ॥

(मम यानि इष्टा मह्यं यजन्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों। (मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे। (अहं कतमच्चन एनः मा नि गां) मैं किसीभी प्रकारके पापको न करूं। (विश्वे देवाः इह मा अभिरक्षन्तु) सब देव यहां मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

(देवाः मयि द्रविणं आयजन्तां) देव मेरे लिये धन देवें। (मयि आशीः, मयि देवहूतिः अस्तु) मुझ में आशीर्वाद और मुझमें देवताओंको पुकारनेकी शक्ति रहे। (दैवा होतारः नः एतत् सनिषन्) दिव्य होतागण हमें यह देवें। हम (तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम) अपने शरीरसे नीरोग और उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

भावार्थ-सब देवोंकी सहायता हमें स्पर्धाके समय प्राप्त हो। इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा अन्यान्य देव हमें सहायक हों। मेरा अन्तःकरण बहुत विशाल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें॥३॥ मेरी सब कामनाएं पूर्णतया सिद्ध हों। मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों। मेरेसे कोई पापकर्म न हो। और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥ सब देव मुझे धन्य बनावें, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी निष्ठा मेरे मनमें स्थिर हो। यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो। हम अपने शरीरोंसे नीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

दे॒वीः षडु॑र्वीरु॒रु नः॑ कृणोत॒ विश्वे॑ देवास इ॒ह मा॑दयध्वम् ।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृजि॒ना द्वेष्या॒ या ॥ ६ ॥
ति॒स्रो दे॒वीर्महि॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत प्र॒जायै॑ नस्त॒न्वे॒३ यच्च॑ पु॒ष्टम् ।
मा हा॑स्महि प्र॒जया॒ मा त॒नूभि॒र्मा र॑धाम द्विष॒ते सो॑म राजन् ॥ ७ ॥
उ॒रु॒व्यचा॑ नो महि॒षः शर्म॑ यच्छत्व॒स्मिन् ह॒वे पु॑रुहू॒तः पु॑रु॒क्षु ।
स नः॑ प्र॒जायै॑ हर्यश्व मृडेन्द्र॒ मा नो॑ रीरिषो॒ मा परा॑ दाः ॥ ८ ॥

अर्थ- (देवीः षट् ऊर्वीः) ये दिव्य छः बडी दिशाओं! (नः उरु कृणोत) हमारे लिये विशाल स्थान करो। हे (विश्वे देवासः) सब देवो! (इह मादयध्वं) यहां हमें आनंदित करो। (अभिभाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो। (अशस्तिः मा उ) अकीर्ति न आवे, (या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आजावें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियो! (नः महि शर्म यच्छत) हमें बडा सुख प्रदान करो। (यत् च पुष्टं नः तन्वे प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजा के लिये दो। (प्रजया मा हास्महि) हम संततिसे हीन न हों और (मा तनूभिः) शरीर भी कृश न हो। हे (राजन् सोम) राजा सोम! (द्विषते मा रधाम) शत्रुके कारण हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

(ऊरुव्यचाः पुरुहूतः महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षु शर्म यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रशंसित देव इस यज्ञमें हमें बहुत अन्नयुक्त सुख देवे। हे (हर्यश्व इन्द्र) रसहरणशील किरणवाले देव! हे प्रभो! (नः प्रजायै मृड) हमारी प्रजाके लिये सुख दो। (नः मा रीरिषः) हमारा नाश न कर। (मा परादाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

भावार्थ-दिव्य दिशायें हमारे लिये विस्तृत स्थान देवें। सब देव हमें आनन्दित करें। निस्तेजता, अकीर्ति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥६॥ तीन देवियां हमें बडा सुख देवें। हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो। हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीडित न हों ॥७॥ विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें उत्तम सुख देवे। हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विभक्त न हों ॥ ८ ॥

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सवितामिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥
ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥
अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

अर्थ-(धाता विधाता) धारक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवनस्य पतिः अभिमातिषाहः सविता देवः) जो भुवन का पालक सञ्चालक घमंडी शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र, तथा (उभा अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

(ये नः सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो हमारे वैरी हैं वे दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्यां एनान् अव बाधामहे) इन्द्र और अग्निकी सहायतासे इनको हम प्रतिबन्ध करते हैं । (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र, और ऊपरके स्थानको स्पर्श करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेत्तारं अधिराजं अक्रत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले मुख्य अधिराजको बनाते हैं ॥ १० ॥

(यः गोजित्, धनजित् यः अश्वजित्) जो गौ, धन और घोडोंको जीतनेवाला है उस (अर्वाञ्चं इन्द्रं अमुतः हवामहे) हमारे पासवाले इन्द्रकी वहांसे स्तुति करते हैं । (नः विहवे इमं यज्ञं शृणोतु) विशेष स्पर्धा में किये हमारे इस यज्ञको सुनें । हे (हर्यश्व) रसहरणशील किरणवाले देव! (अस्माकं मेदी अभूः) तू हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ-ईश्वर तथा सविता आदि सब अन्य देव हमें पापसे बचावें ॥९॥

जो हमारे वैरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं। तथा आदित्य आदि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान ऐसा राजा दें ॥ ११ ॥

जो गौ, घोडे, आदि विविध धनोंको देनेवाला है, उस प्रभु की हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं । हे प्रभो! यह हमारी प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥

अपने विजय की प्रार्थना।

इस सूक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है। मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है। यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परंतु उस विजय को प्राप्त करनेके लिये किस प्रकार मनमें विचार धारण करने चाहिये, बुद्धिमें कौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये, और शरीरसे कौनसे कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता। मन बुद्धि चित्त आदि अन्तःशक्तियोंके तथा शरीरादि बाह्य शक्तियोंके उत्तम सहकार्य और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यका विजय हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है विजय प्राप्त होना अथवा न होना अपनी शक्तिपर ही निर्भर है। बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार जाग्रत होंगे, उनका ही परिणाम जय अथवा पराजय होता है। अर्थात् मनमें विजयी विचार रहें तो विजय और हीन विचार रहें तो पराजय होगा। इसका संबंध ऐसा है कि, मनके शुभाशुभ विचारोंके अनुसार शरीरसे शुभाशुभ कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम परमेश्वरीय नियमानुसार विजय अथवा पराजयमें होता है। इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहियें, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो। इस सूक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनको मनमें धारण करनेसे मनुष्यका निःसन्देह विजय होगा, ये विचार अब देखिये--

विजयी विचार।

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और क्षुद्र विचार कदापि मनमें आने नहीं देने चाहिये। इस सूक्तमें प्रारम्भसे अन्ततक विजयी विचार कहे हैं। इस लिये इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकते हैं, और उनका विजय निःसन्देह हो सकता है। ये विजयी विचार अब देखिये--

१ विहवेषु मम वर्चः अस्तु। (मं० १)
२ पृतनाः जयेम। (मं० १)

"युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। और हम युद्धोंमें शत्रुवोंकी सेनाओंको पराजित करेंगे।" यह मनका निश्चय रहना चाहिये। मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूंगा। और विजय संपादन करूंगा।

३ एनान् अव बाधामहे। (मं० १)

"इन शत्रुओंको हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे।" अर्थात् किसीभी मार्गसे शत्रु आने लगे तो उनको हम रोक देंगे। और आगे बढने नहीं देंगे। इस मंत्रभागसे अपनी युद्ध-विषयक तैयारी कैसी रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है। हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये। मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे। जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा। इस विजयके विषयमें व्यक्तिके लिये क्या और राष्ट्रके लिये क्या दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बडे होते हुए भी, शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेषही रीतिसे करना आवश्यक है। इस प्रकार की पूर्व तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही वह कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम्। (मं० १)

"चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें" अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवशिष्ट न रहे। इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु। (मं० ३)

"मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानवाला होवे।" हरएक मनुष्य के लिये अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बडा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है। जो प्रबल पुरुषार्थी होते हैं उनके लिये संपूर्ण जगत्के समान विशाल अंतरिक्ष होता है और आलसी तथा आत्मघातकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है। अपने अधिकारके अन्दर कितना अन्तरिक्ष आगया है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है। मानो, यह एक अपनी परीक्षाकी उत्तम कसौटी ही है। पाठक इन पांचों वाक्यों की परस्पर संगति देखेंगे, तो उनको विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यंत आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना।

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रुको दबा कर रखना और उसको उठने न देना, यह करना विजयके लिये मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें ये मंत्रभाग देखिये—

६ सपत्ना अप भवन्तु । (मं० १०)

७ दुरस्यवः निवताः अपाञ्चः यन्तु । (मं २)

" वैरी दूर हों, तथा दुष्ट लोग नीच गतिसे नीचेकी ओर चले जावें । " अर्थात् वे अपना सिर उपर न करें । तथा और देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या वृजिना मा नो विदन् । (मं० ५)

" निस्तेजता, अकीर्ति और द्वेष करने योग्य कुटिलता हमारे पास न आवे " अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें । इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना सिर ऊपर न कर सकें । इन मंत्रभागोंमें व्यक्तिके अन्तर्गत और बाह्य, तथा समाजके अन्तर्गत और बाह्यके सब शत्रु दूर करनेकी सूचना मिलती है । सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे और अपने अभ्युदयका मार्ग खुला करे ।

कामनाकी तृप्ति ।

अपना विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी तृप्तिके लिये ही है । मनुष्यके अन्तःकरणमें कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्णता हुई तो उसको अपने जीवनकी सार्थकता होगई ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनको निरर्थक समझता है । इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं किस प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मै कामाय वातः पवताम् । (मं० ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं० ४)

११ मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु । (मं० ४)

१२ देवा मयि द्रविणं, आशीः, देवहूतिः च आ यजन्ताम् । (मं.५)

१३ तिस्रो देवीः नः मह्रि शर्म यच्छत । (मं० ७)

१४ नः प्रजायै मृड । (मं० ८)

" मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु अथवा प्राण चले । जो मेरे इष्ट मनोरथ हैं, वे परिपूर्ण हों । मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों । सब देव मुझे धन, आशीर्वाद, और देवभक्ति दें । तीन देवियां अर्थात् मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता मुझे बडा सुख देवें । ईश्वर हमारी सब प्रजाको सुखी करे । " इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हर एक मनुष्यके अंदर न्यूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं । मनुष्यका सुख और दुःख इन कामना

का भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध और पवित्र बने हुए मनुष्यको ही वह सहायता मिलती है।

देवोंकी सहायता।

प्रायः मनुष्य सङ्कट समयमें देवताओंकी सहायता चाहता ही है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धी करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो निःसन्देह उसको वह सहायता मिल सकती है। इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य हैं—

१८ विहवे सर्वे देवा मम सन्तु। (मं० ३)
१९ इह विश्वेदेवाः मा अभिरक्षन्तु। (मं० ४)
२० विश्वेदेवासः इह मादयध्वम्। (मं० ६)
२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः अन्ये च देवाः
निर्ऋथात् पान्तु। (मं० ७)
२२ अस्मिन् हवे पुरुहूतः महिषः पुरुक्षु शर्म यच्छतु। (मं० ८)
२३ अस्माकं मेदी अभूः। (मं० ११)
२४ देवीः षट् उर्वीः नः उरु कृणोत। (मं० ६)
२५ परेषां मन्युं प्रतिनुदन् नः विश्वतः परिपाहि। (मं० २)

" युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों। संपूर्ण देव मेरी रक्षा करें। सब देव यहां मेरा आनन्द बढावें। धाता विधाता भुवनपति और अन्य देव दुःखसे हमारी रक्षा करें। इस यज्ञके समय बहुत प्रशंसित समर्थ प्रभु बहुत भोगयुक्त सुख हमें देवें। प्रभु हमारा सहायक हो। दिव्य छः दिशाएं हमारे लिये बडा विस्तृत कार्यक्षेत्र बनावें। शत्रुओंको क्रोध दूर करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें।"

शत्रुवोंको दूर करनेके विषयमें येही इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं। विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यकोभी अपने मनमें येही इच्छाएं धारण करना चाहिये। पूर्वोक्त वाक्यों मेंसे अन्तिम वाक्यमें " शत्रुओंका क्रोध दूर करनेकी प्रार्थना " है। यह प्रार्थना विशेष महत्त्वकी है। " शत्रुका क्रोध दूर करके उनकी शुद्धता कर " यह आशय इस प्रार्थना में है। शत्रुका नाश करनेकी अपेक्षा यदि शत्रुके क्रोधादि दुष्टभाव दूर होकर वह भला आदमी हुआ तो अच्छाही है। इस दृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है। वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे प्रथम शत्रुके दोष दूर करके उसको शुद्ध करनेका यत्न करें, यह न हुआ तो उसको दूर करें अथवा नाश करें। यह नीतिका उत्तम नियम इस वेदमंत्र द्वारा बताया है।

राजप्रबंध।

अपने राजप्रबन्धकी उत्तमतासे विजय हो सकता है और राज्यशासनकी अव्यवस्थासे हानि होती है, इसलिये अपने शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहियें इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य मननपूर्वक देखने योग्य है–

२६ देवाः चेत्तारं उग्रं अधिराजं अक्रत। (मं० १०)

"सब देव चेतना देनेवाले शूर वीर राजाको हमारे लिये बनावें" अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि वह प्रजामें चेतना और नवजीवन सञ्चारित करे और स्वयं शूर वीर प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज कम करनेवाला राजा कदापि राज्यगद्दीपर न आवे, यह उपदेश इस स्थानपर मिलता है। विजय प्राप्त करनेके मार्गका आक्रमण करनेवालोंको इस उपदेशका महत्त्व सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल।

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बल बढाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुषेम। (मं० १)
२८ तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम। (मं० ५)
२९ नः तन्वे प्रजायै पुष्टम्। (मं० ७)
३० तनूभिः प्रजया मा हासिषम्। (मं० ७)
३१ नः मा रीरिषः। (मं० ८)

"अपने शरीरका बल बढायेंगे और उनको पुष्ट करेंगे। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम वीर बनेंगे। हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान हीन और दीन न हों। हम दुर्बल न हों।" इस प्रकार शारीरिक बल और पुष्टि बढानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूक्तमें इतने हैं। पाठक इन सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह आ सकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। व्यक्ति समाज और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि पाठक मनमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण करेंगे तो विजयका मार्ग उनके लिये खुला और भयरहित हो जायगा।

कुष्ठ औषधि।

[४]

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता-कुष्ठः)

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहिं तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥ १ ॥
सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (तक्मनाशन कुष्ठ) रोगनाशक कुष्ठ नामक औषधि! (यः गिरिषु अजायथाः) जो तू पर्वतोंमें उत्पन्न होता है और जो (वीरुधां बलवत्तमः) सब औषधियोंमें अत्यंत बल देनेवाला है,वह तू (तक्मानं नाशयन् इतः आ इहि) रोगोंका नाश करता हुआ वहांसे यहां आ ॥ १ ॥

(सुपर्ण-सुवने गिरौ हिमवतः परि जातं) गरुड जहां होते हैं ऐसे हिमालयके शिखरपर जो होता है उसका वर्णन (श्रुत्वा धनैः अभियन्ति) सुनकर धनोंके साथ लोग वहां जाते हैं और (तक्म-नाशनं विदुः हि) रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

(इतः तृतीयस्यां दिवि देवसदनः अश्वत्थः) यहांसे तीसरे द्युलोकमें देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं कुष्ठं देवाः अवन्वत)वहां अमृतका दर्शन होनेके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— कुष्ठ औषधि पर्वतोंपर उगती है। बलवर्धक औषधियोंमें सबसे अधिक बलवर्धक है। इससे क्षयादि रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

हिमालयकी ऊंची ऊंची चोटियोंपर यह औषधि उगती है, वहां मिलती है यह जानकर बडा धन खर्च करके लोग वहां जाते हैं और रोगनाशक इस औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

यहांसे तीसरे उच्च द्युलोकमें जहां देवताएं बैठती हैं वहां अमृतके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥
हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥
इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥
देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौ दिवि अचरत) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका द्युलोकमें चलती है। (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ देव प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(हिरण्ययाः पन्थान आसन्) सोनेके मार्ग थे और (अरित्राणि हिरण्यया) वल्लियां भी सोनेकी थी तथा (नावः हिरण्ययीः आसन्) नौकायेंभी सोनेकी थी (याभिः कुष्ठं निरावहन्) जिनसे कुष्ठको लाया था ॥ ५ ॥

हे कुष्ठ नामक औषधि! (मे इमं पुरुषं आवह) मेरे इस पुरुषको उठा, (तं निष्कुरु) उसको निःशेष रीतिसे चंगा कर और (मे तं उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुषको नीरोग कर ॥ ६ ॥

(देवेभ्यः अधिजातः असि) देवोंसे तू उत्पन्न हुआ है और (सोमस्य सखा हितः) सोम औषधिका तू मित्र और हितकारी है। इसलिये (सः प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड) वह तू प्राण, व्यान और चक्षुआदिके लिये इस मेरे पुरुषको सुख दे ॥ ७ ॥

भावार्थ— सुवर्णकेसमान तेजस्वी आकाशनौका जहां चलती है वहां अमृतका ही पुष्परूप यह कुष्ठ देवोंने प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

उस आकाश नौकाके मार्गभी सुवर्णके थे और बल्लियांभी सोनेकी थी जिनसे कुष्ठ औषधी यहां लाई गई ॥ ५ ॥

यह कुष्ठ औषधी मनुष्यको रोगमुक्त करती है ॥ ६ ॥

देवोंसे उत्पन्न और सोमकेसमान हितकारी यह कुष्ठ औषधि प्राण, व्यान, चक्षुआदिके लिये सुखकारी है ॥ ७ ॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

अर्थ- (सः हिमवतः जातः) वह तू हिमालयसे उत्पन्न होकर (जनं प्राच्यां उदङ् नीयसे) मनुष्यको प्रगतिकी उच्च दिशामें ले जाता है। (तत्र कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि) वहां कुष्ठ औषधिके उत्तम नाम (विभेजिरे) अलग अलग विभक्त हुए हैं ॥ ८ ॥

हे कुष्ठ ! (उत्तमः नाम असि) तेरा नाम उत्तम है (ते पिता उत्तमो नाम) तेरा उत्पादक अथवा रक्षकभी उत्तम है। (सर्वं यक्ष्मं नाशय) सब क्षयरोग दूर कर (च तक्मानं अरसं कृधि) और ज्वरको निःसत्त्व कर ॥ ९ ॥

(शीर्षामयं) शिरके रोग, (अक्ष्योः उपहत्यां) आंखोंकी कमजोरी, और (तन्वः रपः) शरीरके दोष (तत सर्वं) इन सबको (दैवं वृष्ण्यं सं अह) दिव्य बल बढाकर (कुष्ठः निष्करत्) कुष्ठ औषधी दूर करती है ॥ १० ॥

भावार्थ— हिमालयसे उत्पन्न होकर मनुष्योंकी उन्नति करती है, इस लिये इसके यश बहुत गाये जाते हैं ॥ ८ ॥

कुष्ठ स्वयं उत्तम है, जो उसको अपनेपास रखता है, वह भी उत्तम है। इससे क्षयादि सब रोग दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इससे सिरके रोग, आंखोंके व्याधि, तथा शरीरके दोष दूर होते हैं। इस कुष्ठसे शरीरका बल बढता है और दोष दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है ॥ १० ॥

कुष्ठ औषधि।

कुष्ठ औषधिका वर्णन इस सूक्तमें है। इस औषधिसे सिरके रोग, नेत्रके रोग, शरीरके अन्यत्र होनेवाले रोग, ज्वर तथा क्षय और कुष्ठरोगभी इस औषधिसे दूर होते हैं। इसलिये सोमके समान ही इस औषधिका महत्त्व है। इस औषधिका सेवन बहुत प्रकारसे होता है। रस आदि पेटमें लिये जाते हैं और घृतादि बनाकर शरीरपर लेप दिये जाते हैं। इस औषधिके गुणधर्म वैद्यकग्रन्थमें देखने योग्य हैं। वैद्यक ग्रन्थोंमें आये हुए इसके नाम विचार करने योग्य हैं—

१ नीरुजं=नीरोगता उत्पन्न करनेवाली औषधि।
२ पारिभद्रकं=सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला।
३ रामं=आनंद देनेवाला।
४ पावनं=शुद्धि करनेवाला।

कुष्ठ औषधिके ये नाम वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इन नामोंसे इस औषधिसे होनेवाले लाभ ज्ञात हो सकते हैं। अब इसके गुण देखिये—

कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु।
हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥ भा० प्र० पू० १
विषकण्डूखर्जूदद्रुहृत् कान्तिकरं च॥ रा० नि० व० १०

"यह कुष्ट औषधि उष्ण कटु स्वादु है, शुक्र उत्पन्न करती है, तिक्त और लघु है। वात, रक्त, वीसर्प, खांसी, कुष्ठ और कफ इन रोगोंको दूर करती है। इसी प्रकार विष, खुजली, दाद आदि रोगोंको दूर करती है और कान्तिको बढाती है।"

वैद्यक ग्रंथोंमें लिखे हुए ये वर्णन बिलकुल स्पष्ट हैं और पाठक इन गुणोंकी तुलना वेदके मंत्रोंके साथ करेंगे तो उनको वेद मंत्रोंका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायगा।

इस औषधिका हिंदी नाम "कुठ" है। यह अतिप्रसिद्ध औषधि है। इसका उपयोग अन्दर पीने और बाहरसे लेपन करनेमें होता है। इसका शीतोष्ण कषाय पीनेसे अन्तः शुद्धि होती है और इसके तैल, घृत आदिका लेप करनेसे कुष्ठ आदि दुःसाध्य रोग भी दूर होते हैं। वैद्योंको इस औषधिके प्रयोग करनेकी रीतिका अधिक विचार करना चाहिये।

लाक्षा ।

[५]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- लाक्षा)

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥
यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥ २ ॥
वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते माता रात्री, पिता नभः, पितामहः अर्यमा) तेरी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह अर्यमा है। (नाम सिलाची वै असि) तेरा नाम सिलाची है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है ॥ १ ॥

(यः त्वा पिबति, जीवति) जो तेरा पान करता है वह जीता है (त्वं पुरुषं त्रायसे) तू मनुष्यकी रक्षा करती है।(शश्वतां जनानां हि भर्त्री न्यञ्चनी च असि) सब जनोंका भरण पोषण करनेवाली और आरोग्य देनेवाली तू है ॥ २ ॥

(वृषण्यन्ती कन्यला इव) पुरुषको चाहनेवाली कन्याके समान (वृक्षं वृक्षं आरोहसि) प्रत्येक वृक्षपर चढती है। तू (जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती) विजय करनेवाली और प्रतिष्ठित होनेवाली है। (स्परणी नाम वै असि) तेरा नाम स्परणी भी है ॥ ३ ॥

भावार्थ-सिलाची वनस्पतिकी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह सूर्य है। यह इंद्रियोंको बहिन के समान सुखदायक है ॥ १ ॥

जो इस औषधिके रसका पान करता है वह जीवित रहता है। इस औषधिसे सब मनुष्योंकी रक्षा पुष्टि और नीरोगिता होती है ॥ २ ॥

बहुत वृक्षोंपर यह होती है, इससे रोगोंपर विजय प्राप्त किया जाता है और आयुष्य स्थिर होता है, इसलिये इसको स्परणी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥

अर्थ—(यत् दण्डेन, य इष्वा) जो दण्डेसे और जो बाणसे, (यत् वा हरसा अरुः कृतं) अथवा जो रगडसे घाव होगया है, (तस्य निष्कृतिः त्वं असि) उससे बचाव करनेवाली तू है, (सा इमं पुरुषं निष्कृधि) वह तू इस पुरुषको चंगा कर ॥ ४ ॥

(भद्रात् प्लक्षात् अश्वत्थात् खदिरात धवात्) भद्र, पाकर, पीपल, खैर, धव, (भद्रात् न्यग्रोधात् पर्णात) बड, पलाश इन वृक्षोंसे (निः तिष्ठासि) निकलती है। हे (अरु-धति) घावोंको भरनेवाली वनस्पति! (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके समान रंगवाली भाग्यशालिनी! (सूर्यवर्णे वपुष्टमे) सूर्यके समान वर्णवाली और शरीरके लिये हितकारी हे (निष्कृते) रोग दूर करनेवाली! तेरा (नाम निष्कृतिः वै असि) नाम निष्कृति है अतः तू (रुतं गच्छासि) व्रण या रोग के पास पहुंचती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—दण्डा, बाण अथवा किसीकी रगड लगनेसे जो व्रण होता है वह व्रण इस औषधिसे अच्छा होजाता है ॥ ४ ॥

पीपल, खैर, पलाश आदि अनेक वृक्षोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह घावको भरनेवाली है ॥ ५ ॥

यह पीले रंगवाली तेजस्वी और शरीरके लिये हितकरी है। यह रोग दूर करती है इसलिये इसका निष्कृति नाम हुआ है ॥ ६ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे । अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥७॥
सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव । अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८
अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे । सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥९॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके रंगवाली भाग्यशालिनी! हे (शुष्मे लोमश-वक्षणे) बलशालिनी और बालोंवाली! हे (लाक्षे) लाक्षा नामक औषध! (त्वं अपां स्वसा असि) तू जलोंकी बहिन है। (ते आत्मा वातः ह बभूव) तेरा आत्मा वायु ही हुआ है॥ ७॥

(सिलाची नाम कानीनः) सिलाची नामक औषधि कन्याके समान है। (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पालक अजबभ्रु, अर्थात् बकरियोंको पुष्ट करनेवाला वृक्ष है। (यमस्य यः श्यावः अश्वः) यमका जो गतिशील अश्व है (तस्य ह अस्ना उक्षिता आसि) उसके मुखसे तूं सींची गई है ॥८॥

(अश्वस्य अस्नः सम्पतिता) घोडेके मुखसे संमिलित हुई (सा वृक्षान् अभिसिष्यदे) वह वृक्षोंको सींचती है। हे (अरु-धति) घावको भरनेवाली! (पतत्रिणी सरा भूत्वा) चूनेवाली और प्रवाहित होनेवाली होकर (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ९ ॥

भावार्थ-यह सुवर्णके रंगवाली, बलवाली और अंदरसे तन्तु निकालनेवाली है। इसका नाम लाक्षा औषधि है। यह रसवाली है, परंतु वातस्वभाववाली है ॥ ७ ॥

इसका नाम सिलाची तथा कानीना भी है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं, उनपर यह मिलती है। सूर्यके गतिशील किरणोंके द्वारा यह बनती है ॥ ८ ॥

सूर्य किरणसे तप्त होकर वृक्षोंसे बाहर आती है। यह वृक्षसे चूती है और बाहर आती है। यह व्रणोंको ठीक करनेवाली है ॥ ९ ॥

लाक्षा ।

लाक्षा का वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें बहुत आता है। इसको भाषामें लाख कहते हैं। लाख भी इसीका नाम है। इसके संस्कृत नाम बहुत हैं, परंतु उनमेंसे निम्नलिखित नाम इस सूक्तके साथ विचार करने योग्य हैं—

१ जन्तुका, जतु, जतुका - कृमियोंसे बननेवाली।
२ क्रिमिजा, कीटजा - " "
३ क्रिमिहा - क्रिमियोंका नाश करनेवाली।
४ रक्षा, राक्षा, लाक्षा - रक्षा करनेवाली।
५ रङ्ग माता - रङ्ग जिससे बनता है।
६ क्षतघ्ना, क्षतघ्नी - व्रणका नाश करनेवाली।
७ खदरिका - खैरके वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली।
८ पलाशी - पलाश " "
९ द्रुमव्याधिः, द्रुमामयः - यह वृक्षका रोग है।
१० दीप्तिः - यह तेजःस्वरूप है।
११ द्रवरसा - द्रव रसरूप है।

ये इस लाक्षाके नाम इस सूक्तमें कहा आशयही बता रहे हैं। देखिये —

यह लाक्षा खैर और पलाश तथा अन्यान्य वृक्षोंसे प्राप्त होती है यह बात इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कही है। जिसके सूचक नाम वैद्यक ग्रंथोंमें " खदरिका और पलाशी " ये हैं। इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें " दीप्ति " कहा है, इस गुणका वर्णन षष्ठ और सप्तम मंत्रमें " हिरण्यवर्णा " आदि शब्दोंसे हुआ है। " द्रव रसा " इसका नाम वैद्यक ग्रंथमें है। यही भाव नवम मंत्रके " सरा " पदसे जाना जाता है। सरा और रसा ये शब्द अक्षरके उलट पुलट होनेसे भी बनते हैं।

लाक्षाका नाम " क्षत-घ्नी " है। इसका अर्थ व्रणको ठीक करनेवाली है। यही बात इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है। " दण्डेसे बाणसे अथवा रगडसे होनेवाला व्रण लाक्षाके प्रयोगसे दूर होता है" इस प्रकार मंत्रमें कहे हुए गुण और इन शब्दोंमें कहे हुए गुण परस्पर मिलते जुलते हैं। अब इस लाक्षाके गुण देखिये —

तिक्ता कषाया श्लेष्मपित्तघ्नी विषघ्नी रक्तघ्नी विषमज्वरघ्नी च। रा०नि०व०६

" लाक्षा तिक्त और कषाय है। तथा कफ, पित, विष, रक्तदोष और विषमज्वर को दूर करनेवाली है।" इसके ये गुण हैं, इसीलिये यह मनुष्यकी रक्षा करती है ऐसा इस सूक्तमें बार बार कहा है।

इस सूक्तमें लाक्षा औषधिके माता, पिता, पितामह बहिन, कन्या आदि संबंधियोंका वर्णन मं० १, ७, ८ में आगया है। इस वर्णनके आशयकी अधिक खोज करनी चाहिये। वैद्योंको उचित है कि, वे इसका अधिक विचार करें और इस खोजकी पूर्णता करें।

प्रथम मंत्रमें सिलाची लाक्षा का वर्णन करते हुए "देवानां स्वसा" ऐसा उसका वर्णन किया है। यह लाक्षा देवोंकी बहिन है, अर्थात् इंद्रियोंकी सहायक है। "देव" शब्द यहां इंद्रियवाचक है, आगे जाकर हरएक अंग और अवयवके व्रणको दूर करनेवाली यह लाक्षा है, ऐसा कहा है, इसलिये यह इंद्रियोंकी सहायक है यह बात सिद्ध होती है।

द्वितीय मंत्रमें इसका पान करनेवाला दीर्घजीवी होता है, ऐसा कहा है। यह लाक्षा रस करके किस प्रकार पीयी जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका सेवन पेटमें करनेसे यह मनुष्यकी रक्षा करती है। रक्षा करनेके कारण ही इसको 'रक्षा, राक्षा अथवा लाक्षा' कहते हैं। यह व्रणको ठीक करती है, सडने नहीं देती और मनुष्योंका भरण पोषण करती हुई मनुष्यको आरोग्यसंपन्न करती है। द्वितीय मंत्रका यह कथन पूर्वोक्त वैद्यक ग्रंथोक्त गुणोंके साथ भी मिलता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि यह बहुत वृक्षोंपर होती है, यह रोगोंपर विजय करती है, रोगोंका सामना करती है। इस कारण बहुत लोग इसको चाहते हैं। सब लोग इसकी स्पृहा करनेके कारण इसका नामही 'स्परणी' हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि विविध प्रकारसे उत्पन्न हुए व्रण आदिको यह लाक्षा दूर करती है। रोगोंकी निष्कृति करनेके कारण इसका नाम "निष्कृति" हुआ है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि पिलखन, पीपल, खैर, बबूल, पलाश आदि वृक्षोंपर यह होती है, और यह 'अरुं-धती' है अर्थात् व्रणोंको चंगा करनेवाली है। इसके प्रयोगसे नाना प्रकारके घाव भर जाते हैं।

षष्ठ और सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें इसके तेजस्वी होनेका वर्णन है। सूर्यके समान, तप्त सुवर्णके सदृश अथवा सूर्यके रंगके समान तेज इसमें है। यह 'वपुष्टमा' अर्थात् शरीरके लिये हित करनेवाली है। शरीरको पुष्ट और तेजस्वी करनेवाली है। "रुत" अर्थात् व्रण आदिको दूर करती है और सब दोषोंको हटा देती है। रोगों और व्रणादिकोंका निराकरण करनेके कारण इसको "निष्कृति" नाम प्राप्त हुआ है। यह बात प्रकृतिवाली है, मानो इसका आत्माही बात है।

अष्टम मंत्रमें 'अजबभ्रु' यह लाक्षा का पिता है, ऐसा कहा है। अज नाम बकरीका है, बकरियोंका जो पोषण करते हैं, उन वृक्षोंका यह नाम है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं उन पीपल, बेरी आदि वृक्षोंका यह नाम है। इनपर लाख उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस सूक्तमें लाक्षाका वर्णन किया है। वैद्य इसके उपयोगका अधिक विचार करें और जनताके लाभके लिये उसका प्रकाश करें।

ब्रह्मविद्या ।

[६]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-सोमारुद्रौ)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥
अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसेभी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सुरुचः सीमतः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है । (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत और असत के उत्पत्ति स्थानकोभी (वि वः) विशद करता है ॥ १ ॥

(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां कष्ट न दें । (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख धर देता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत् के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

पहिले ज्ञानी पुरुषोंने जो जो प्रशस्त कर्म किये थे, उनका स्मरण करके वैसे कर्म तुम करो, और बालबच्चों और वीरोंको बचाओ, यही तुम्हारे लिये कहना है ॥ २ ॥

सहस्रंधार एव ते समंस्वरन् दिवो नाके मधुंजिह्वा असुश्चतः।
तस्य स्पशो न नि मिंषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनंः सन्ति सेतंवे ॥ ३ ॥
पर्यू षु प्र धन्वा वाजंसातये परिं वृत्राणिं सक्षणिंः।
द्विषस्तदध्यंर्णवेनेंयसे सनिस्रसो नामांसि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥४॥

अर्थ— (दिवः सहस्रधारे नाके एव) द्युलोकके सहस्रों धाराओंसे युक्त सुखपूर्ण स्थानमें ही (ते असश्चतः मधुजिह्वाः समस्वरन्) वे निश्चल शांत स्वभाववाले और मधुरभाषणी लोग सब मिलकर एक स्वरसे कहते हैं, कि (तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति) उसके पकडनेवाले पाश लिये दूत कभी आंख नही बंद करते हैं। (सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति) बांधनेके लिये पद पद पर पाश लिये खडे हैं ॥ ३ ॥

(वाजसातये वृत्राणि सक्षणिः) अन्नदानके लिये प्रतिबंध करनेवाले शत्रुवोंको दूर करनेवाला बन कर (उपरि सु प्र धन्व) उनको सब ओरसे भगा दे। क्यों कि (तत् द्विषः अर्णवेन अधि ईयसे) तू शत्रुओंपर समुद्रकी ओरसे भी चढाई करते हो। इस कारण आपका (सनि-स्रसः नाम असि) सनिस्रस अर्थात् चढाई करनेमें कुशल इस अर्थका नाम है। (त्रयोदशः मास इन्द्रस्य गृहः) तेरहवां महिना इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

भावार्थ-प्रकाशपूर्ण स्वर्ग धाममें रहनेवाले शांत और मधुर स्वभाववाले ज्ञानी लोग एक स्वरसे कहते हैं कि उस प्रभुके दूत कभी आंख बंद नहीं करते; अपने आंख सदा खुले रखकर हाथमें पाश लिये हुए पापियोंको बांधनेके लिये पद पद पर तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

जो लोग अन्नदान आदि परोपकारके कार्योंमें विघ्न उत्पन्न करते हैं, उनको दूर करो। जिस प्रकार शत्रुपर भूमिसे चढाई की जाती है, उस प्रकार समुद्रकी ओरसे शत्रुपर चढाई करनेमें भी तू कुशल बन। तेरहवां महिना भी अन्य मासोंके समान इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

न्वे॒ ३ तेना॑रात्सीर॒सौ स्वाहा॑ ।
ति॒ग्माyu॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ५ ॥
अवै॒तेना॑रात्सीर॒सौ स्वाहा॑ ।
ति॒ग्मायु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ६ ॥
अपै॒तेना॑रात्सीर॒सौ स्वाहा॑ ।
ति॒ग्मायु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ७ ॥
मु॒मु॒क्तम॒स्मान्दु॑रि॒ताद॑व॒द्याज्जु॒षेथा॑ य॒ज्ञम॒मृत॑म॒स्मासु॑ धत्तम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(नु एतेन असौ अरात्सीः) निश्चयसे इस प्रकार उस तूने सिद्धि प्राप्त की है । (स्वा-हाः) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही सिद्धिका मार्ग है। (तिग्मायुधौ तिग्महेती) तीक्ष्ण हथियारवाले और तीक्ष्ण अस्त्रवाले (सु-सेवौ सोमारुद्रौ) उत्तम सेवा करने योग्य सोम और रुद्र(इह नः मृडतं) यहां हमें सुखी करें ॥ ५ ॥

(एतेन असौ अव अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है, (स्वाहा) त्याग ही सिद्धिका मूल है । (तिग्मायुधौ०) उत्तम शस्त्रास्त्र वाले वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

(एतेन असौ अप अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है । (स्वाहा) त्यागही सिद्धिका मूल है। (तिग्मा०) उत्तम शस्त्रास्त्रधारी वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

(अस्मान् अवद्यात् दुरितात् मुमुक्तं) हम सबको निंदनीय पापसे छुडावो (यज्ञं जुषेथां) यज्ञका सेवन करो और (अस्मासु अमृतं धत्तं) हममें अमृत धारण करो ॥ ८ ॥

भावार्थ-इस मार्गसे हरएकको सिद्धि मिल सकती है। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनाही सिद्धिका मूल है । उत्तम शस्त्रास्त्रधारी सेवा करने योग्य वीर उक्त प्रकार यहां सबको सुखी करें ॥ ५ ॥ इसी रीतिसे हरएक मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। त्यागभावही सिद्धिका मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें॥६॥ इसी प्रकार सिद्धि मिलती है। त्यागभाव ही सिद्धि का मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥७॥ पापसे दूर रहो । यज्ञमय सत्कर्म करो और अमरत्व प्राप्त करो ॥ ८ ॥

चक्षु॑षो हे॒ते मन॑सो हे॒ते ब्रह्म॑णो हे॒ते तप॑सश्च हेते ।
मे॒न्या मे॒निर॑स्यमे॒नय॒स्ते स॑न्तु॒ ये॒३॑स्माँ अ॑भ्यघा॒यन्ति ॥ ९ ॥
यो॒३॑स्माँश्चक्षु॑षा॒ मन॑सा॒ चित्त्याकू॑त्या च॒ यो अ॑घा॒युर॑भि॒दासा॑त् ।
त्वं तान॑ग्ने मे॒न्याम॒नीन् कृ॑णु॒ स्वाहा॑ ॥ १० ॥
इन्द्र॑स्य गृ॒होऽ॑सि ।
तं त्वा॒ प्र प॑द्ये॒ तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः॒ सर्व॑पूरुषः॒ सर्वा॑त्मा॒ सर्व॑तनूः
स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ ११ ॥

अर्थ-हे (चक्षुषः हेते) आंखके आयुध! (मनसः हेते) हे मनके शस्त्र! (ब्रह्मणः हेते) हे ज्ञानके आयुध! और (तपसः च हेते) तपके आयुध! तू (मेन्याः मेनिः असि) शस्त्रका शस्त्र है। (ये अस्मान् अभ्यघायन्ति) जो हमें सताते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे शस्त्ररहितसे बनें ॥ ९ ॥

(यः यः अघायुः अस्मान्) जो कोई पापाचरण करनेवाला हमें (चक्षुषा मनसा चित्या) आंख, मन, चित्त, (च आकूत्या अभिदासात्) और संकल्पसे दास बनानेका यत्न करे, हे अग्ने! (त्वं तान मेन्या अमेनीन् कृणु) तू उनको शस्त्रसे शस्त्रहीन कर। (स्वा—हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही मुक्तिका हेतु है ॥ १० ॥

(इन्द्रस्य गृहः असि) तू इन्द्रका घर है। मैं (सर्व-गुः) सर्व प्रकारकी गतिसे युक्त, (सर्व-पुरुषः) सब पुरुषार्थशक्तिसे युक्त, (सर्व—आत्मा) सर्व आत्मबलसे युक्त, (सर्व-तनूः) सब शारीरिकशक्तियोंसे युक्त (यत मे अस्ति तेन सह) जो कुछ मेरा है, उसके साथ (तं त्वा प्रपद्ये) उस तुझको प्राप्त करता हूं, और (तं त्वा प्रविशामि) उस तुझमें प्रविष्ट होता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ-आंख, मन, ज्ञान और तप ये बडे शस्त्रास्त्र हैं, ये शस्त्रोंकेभी शस्त्र हैं। इनसे उन दुष्टोंको शस्त्रहीन कर, कि जो अपने बलसे दूसरोंको सताते हैं ॥ ९ ॥

जो कोई पापी आततायी चक्षु, मन, चित्त अथवा संकल्प से दूसरोंको दास बनानेका यत्न करेगा, उसको तू उक्त शस्त्रोंसे शस्त्रहीन कर। इस मार्गमें आत्मसर्वस्वका समर्पण ही बंधमुक्त होनेका उपाय है ॥ १० ॥

इन्द्रस्य शर्मासि।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः
सह यन्मेस्ति तेन ॥ १२ ॥

इन्द्रस्य वर्मासि।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः
सह यन्मेस्ति तेन ॥ १३ ॥

इन्द्रस्य वरुथमसि।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुःसर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः
सह यन्मेस्ति तेन ॥ १४ ॥

अर्थ-(इन्द्रस्य शर्म असि) इन्द्रका तू आश्रयस्थान है। मैं (सर्व-गुः०) सब गति, पुरुषार्थशक्ति, आत्मिकबल और शारीरिकशक्तिसे युक्त होकर तथा जो भी कुछ मेरे पास है उसके साथ तुझे प्राप्त होता हूं, और तुझमें आश्रय लेता हूं ॥ १२ ॥

(इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्रका कवच तू है। मैं सब गति, पौरुषशक्ति, आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होकर तथा जो कुछ मेरे पास है उसको लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १३ ॥

(इन्द्रस्य वरूथं असि) इन्द्रकी ढाल तू है। मैं सब गति, पौरुषशक्ति, तथा आत्मिक और शारीरिक बलके साथ तथा जो कुच्छ मेरा है, उस सबके साथ तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ- सब गति, सब पुरुषार्थशक्ति, सब आत्मिकबल और संपूर्ण शारीरिकबलोंके साथ तथा और भी जो कुच्छ मेरा कहने योग्य है उसको साथ लेकर, प्रभुके शरणमें जाता हूं, उसके घरमें प्रविष्ट होता हूं और वहां ही रहता हूं ॥ वही हम सबका सच्चा घर और सबके लिये सुरक्षित स्थान है ॥ ११—१४ ॥

ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग ।

इस सूक्तका पहिला मंत्र (कां० ४ । १ । १) चतुर्थ काण्डके प्रथम सूक्तका पहिला मंत्र है, तथा इस सूक्तका द्वितीय मंत्र चतुर्थ (कां० ४ । ७ । ७) काण्डमें सप्तम मंत्रका सप्तम मंत्र है । इन मंत्रोंके अर्थ, भावार्थ और स्पष्टीकरण पाठक वहां देखें ।

यद्यपि द्वितीय मंत्र कां० ४ । ७ । ७ में है, तथापि यह मंत्र वहां विष दूर करनेके औषधि प्रकरणमें है । इसलिये प्रकरणानुसार वहां औषधि प्रकरणका सामान्य अर्थ बता रहा है । परन्तु यहां ब्रह्मविद्या और आत्मोन्नतिका प्रकरण है, इस प्रकरणमें इसका अर्थ इसी प्रकरणके अनुकूल होगा और ऐसा करनेके लिये शब्दोंके वेही अर्थ लेकर अर्थ देखा जायगा । क्यों कि यह सामान्य अर्थवाला मंत्र है और ऐसे मंत्र भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें भी आकर वहांके योग्य अर्थ बता सकते हैं । जैसा किसीने अपने अनुयायियोंसे कहा कि "तुम तैयार हो जाओ" तो यह सामान्य निर्देश होनेसे हरएक शाखाके कार्यकर्ता अपने अपने कर्तव्यकर्ममें तैयार होनेका आशय ले सकते हैं, और इस आदेशानुसार ब्राह्मण अपने ज्ञानकर्ममें, क्षत्रिय अपने युद्धकर्ममें, वैश्य अपने व्यापारव्यवहारके कार्यमें तथा शूद्र अपनी कारीगरीके कार्यमें अपनी सिद्धता कर सकता है । एक ही सामान्य आज्ञा भिन्न भिन्न श्रोताओंमें भिन्न भिन्न कार्यके लिये प्रेरणा कर सकती है । इसी प्रकार इस मंत्रकी सामान्य आज्ञा पूर्वोक्त स्थान (कां० ४ । ७ । ७) पर औषधिप्रयोगके कर्मकी प्रेरणा देती है और यहां उपासनायोगकी प्रेरणा देती है । पाठक इसका विचार करके इस सामान्य मंत्रका महत्त्व जान सकते हैं ।

प्रथम मंत्रका विस्तृत स्पष्टीकरण चतुर्थ काण्डके सू० १ मं० १ की व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं । इस प्रथम मंत्रका यह आशय है—"**ब्रह्म सबसे पहिले प्रकट हुआ है, उसके प्रकाशकी जहां मर्यादा होती है, वहां देखकर ज्ञानी इस ब्रह्म-को जानता है । यही ज्ञानी सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंका अद्भुत तेज देखकर और उनको उपमा देने योग्य अनुभव करके, इस दृश्यके अनुसंधानसे मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त करके उसका उपदेश कर सकता है । (मं० १)**"

जिस प्रकार सूर्यका तेज किसी पदार्थपर गिरनेसे, अर्थात् उस तेजकी मर्यादा होनेसे, दिखाई देता है, मर्यादा न हुई तो सूर्यका तेज नहीं दिखाई देता; इसी प्रकार परमात्मा-के परम तेजका अनुभव भी सूर्यादि विविध केन्द्रोंमें उसकी मर्यादा होनेसे ही होता

अर्थात् यदि जगत् न बने तो परमात्माके अद्भुत सामर्थ्यका अनुभव कैसे हो सकता है। परमात्मा परम तेजस्वी है, सबसे पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है, यह सब सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रादि केन्द्रोंमें जब उसके तेजकी अन्तिम सीमा बनती है, तब ही उसके सामर्थ्य का पता लग सकता है। जिस प्रकार घरके कमरेमें चमकनेवाले दीपका प्रकाश कमरे की दिवारोंपर गिरनेसे नजर आता है। यदि दिवारोंकी रुकावट न होगी, तो नजर नहीं आवेगा। इसी प्रकार इस विश्वके कमरेमें परमात्माका दीप चमक रहा है, अग्नि आदि देवतारूपी दिवारोंपर उसके किरण पडकर जो मर्यादा उत्पन्न होती है, उस मर्यादासे उसकी शक्तिका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्तिके मार्गकी यह एक सीढी है।

जगत्में परमात्माकी शक्तिका कार्य देख कर सदसत्के मूल आदि कारणको जानना चाहिये। ज्ञानी, कवि, सन्त ही इस प्रकार परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके संबंधका सत्य उपदेश कर सकते हैं।

यह प्रथम मंत्रका आशय है। इसके पश्चात् द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—"पूर्व कालके ज्ञानी भद्रपुरुषोंने जिस प्रकार प्रशस्ततम कर्म किये थे, उसी प्रकार तू भी प्रशस्ततम कर्म कर, अपने बालबच्चों और वीरोंको बचाओ और उनकी उन्नति करो, यही तुम्हें कहना है। (मं० २)" तुम्हारे सन्मुख वही आदर्श रहे, जो कि प्राचीनकालके श्रेष्ठ पुरुषोंने अपने सामने रखा था। इसी प्रकार प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन चरित्र भी तू अपने सन्मुख रख और उनके समान बननेका यत्न कर। उन्होंने परमार्थसाधन करते हुए भी संसारयात्रा किस प्रकार चलाई, परमात्माकी भक्ति करते हुए ही अपने बालबच्चोंकी उन्नति किस प्रकार की, अपने संतानोंको विनाशसे कैसा बचाया, इत्यादि बातोंको उनके चरित्रोंमें देख कर उन बातोंको अपनी जीवनीमें ढाल दो और उनके समान आचरण करके अपनी आत्मिक उन्नतिका साधन कर। यह उपदेश इस द्वितीय मंत्रद्वारा मिलता है। यह सामान्य व्यवहारका मंत्र वैद्यक प्रकरणमें वैद्यका व्यवहार उत्तम करनेकी प्रेरणा दे रहा है और यहां आत्मोन्नतिके प्रकरणमें संसारके साथ परमार्थका साधन करनेकी प्रेरणा दे रहा है। पाठक इन सामान्य मंत्रोंका महत्त्व यहां देखें और वेदकी इस शैलीका अनुभव करें।

इन दो मंत्रोंका इस प्रकार आशय देखनेके पश्चात् अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं।

स्वर्गके महन्तोंकी घोषणा।

जिनको स्वर्गसुखका अनुभव प्राप्त हुआ है, वे महन्त जनताको जो कल्याणका उपदेश करते हैं, वह उपदेश इस तृतीय मंत्रमें कहा है—

ते असश्चतः मधुजिह्वा। सहस्रधारे दिवो नाके समस्वरन् ॥ (मं० ३)

" ये स्थितप्रज्ञ, मधुरभाषण करनेवाले, सहस्र धाराओंसे जहां अमृत प्राप्त होता है उस द्युलोकके स्थानका अनुभव लेनेवाले सन्त महन्त एक स्वरसे यह उपदेश देते हैं।" अर्थात् ये लोग जनताकी भलाईके लिये एक स्वरसे निम्नलिखित उपदेश करते हैं ।

तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति ।
सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति ॥ (मं० ३)

" उस परमात्माके दुष्टोंको पाशोंसे बांधनेवाले दूत आंख कभी मूंदते नहीं, अर्थात् लोगोंके पुण्यपापोंको अपने खुले आंखोंसे सदा देखते रहते हैं। पापियोंको पाशोंसे बांधनेके लिये अपने पाश लेकर सब जगत्‌में हरएक स्थानमें सदा तैयार रहते हैं। " अर्थात् इनकी दृष्टिसे कोई पापी कभी बच नहीं सकता, हरएक पापीको उसके पापके अनुसार दण्ड देनेके लिये ये दूत सदा तैयार रहते हैं और अवश्य ही उस पापीको बांध देते हैं। अतः कोई पापी यह न समझे कि मैं पाप करके परमात्माके दण्डसे बच जाऊं। पद पद पर उसके दूत आंख खोलकर खडे हैं, वे तत्काल पापीको पकडते हैं। यहां तक इन दूतोंका प्रबंध पूर्ण है कि, पकडा गया हुआ पापी कभी कभी अपने आपको स्वतंत्र भी समझता है, परन्तु वह उस समय पूर्णरीतिसे बंधा हुआ होता है। परमात्माका इतना अद्भुत प्रबंध है, इस लिये सब मनुष्योंको उचित है कि वे उचित धर्मानुकूल व्यवहार दक्षताके साथ करनेका यत्न करें। पापसे बचें और इस प्रकारके सावधान आचरणसे परमात्माके इन गुप्तचरोंसे बच जांय। इसका बिलकुल संभव नहीं है कि कोई छिपकर पाप करे और वह छिपनेसे बच जाय। इस कारण विशेष सावधानताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य पुण्यमार्ग परसे जानेवाला होगा तो उसकी उत्तम रक्षा येही ईश्वरके दूत उतनी ही सावधानीसे करते हैं, इसलिये पुण्यात्माको किसीसे डर नहीं होता ।

जो पाठक इस मंत्रका उत्तम विचार करेंगे उनका आचरण अवश्य ही सुधर जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। यदि आत्मिकशक्तिका विकास करनेकी इच्छा पाठकोंमें होगी, तो उनके लिये परिशुद्ध आचरणकी अत्यंत आवश्यकता है, यह उपदेश इस मंत्र द्वारा उत्तम रीतिसे मिलता है।

शत्रुको भगाना ।

चतुर्थ मंत्रमें शत्रुका लक्षण कहकर ऐसे शत्रुको दूर करनेका उपदेश किया है। 'वृत्र' शब्द यहां शत्रु वाचक है, जो घेरता है, चारों ओरसे प्रतिबंध उत्पन्न करता

है, विशेषतः (वाज-सातेय) अन्नदान आदि परोपकारके कृत्योंमें जो रुकावटें खडी करता है, वह शत्रु है। पाठक विचार करेंगे तो उनकी रुकावट करनेवाले उनके शत्रु कौन हैं इसका उनको पता लग जायगा। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक अथवा सांघिक रुकावटें उत्पन्न करनेवाले अनेक शत्रु विद्यमान हैं। इनको दूर करके अपना उन्नतिका मार्ग खुला करना आवश्यक है। ऐसे शत्रुओंको (परि सु प्र धन्व) सब ओरसे उत्तम प्रकार विशेषरीतिसे भगा दो। अपनेपास ठहरने न दो। शत्रुपर चढाई भूमिकी ओरसे तथा समुद्रकी ओरसे भी होती है। तथा ऊपरसे भी हो सकती है। कोई अन्यरीतियां भी होती होंगी। यहां तात्पर्य रीतियोंके कहनेसे नहीं है। जो भी रीति हो उसका अवलंबन करके शत्रुको दूर भगाया जावे, और अपना उन्नतिका मार्ग प्रतिबंधरहित बनाया जावे। प्रतिबंधरहित होना ही मुक्ति है। उसका मार्ग इस मंत्रने बताया है। यह तो आध्यात्मिक मुक्तिके लिये और सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्तिके लिये भी अत्यंत उपयोगी है।

सिद्धिका मार्ग।

शत्रुओंका प्रतिबंध दूर करने, अपना मार्ग प्रतिबंध रहित करने और स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश इन चार मंत्रोंमें पूर्वोक्त प्रकार किया है। अब विचार यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस शंकाके उत्तरमें कहा है—

एतेन नु अरात्सीः। (मं० ५)
एतेन अव अरात्सीः। (मं० ६)
एतेन अप अरात्सीः। (मं० ७)

" इसी मार्गसे तू सिद्धिको प्राप्त करेगा " अर्थात् पूर्वोक्त चार मंत्रोंमें जो धर्ममार्ग कहा है उसका आचरण करनेसे ही मनुष्यको सिद्धि मिल सकती है। चार मंत्रोंमें जो धर्म कहा है उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है- (१) परमेश्वरकी भक्ति करना, (२) श्रेष्ठोंका आदर्श अपने सन्मुख रखना, (३) पापका भय धारण करना, (४) और प्रतिबंधक विघ्न अथवा शत्रु दूर करना। " ये उन्नतिके चार सूत्र हैं। इनका आचरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। इस उन्नतिमें एक बातकी आवश्यकता है और वह है " स्वाहा " करना। स्वाहा करनेका अर्थ अब देखिये—

स्वा-हा करो।

इस सूक्तमें मं० ५ से ७ तकके तीन मंत्रोंमें तथा दसवें मंत्रमें मिलकर चार बार ' स्वाहा ' शब्द आगया है। इसलिये इस सूक्तमें अनेक वार और बार बार स्वाहा

आनेसे इसका महत्त्व इस सूक्तोक्त सिद्धीमें अधिक है। इस लिये 'स्वाहा' शब्दका अर्थ देखना चाहिये।

(स्व) अपने सर्वस्वको (हा) त्याग देनेका नाम स्वाहा है। अपने अधिकारमें जो तन, मन, धन आदि है उसका सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम स्वाहा करना है। अपनी शक्ति केवल अपने भोग बढानेमें ही खर्च न करते हुए संपूर्ण जनताकी भलाई करनेके प्रशस्ततम कार्य करनेमें उसका व्यय करना स्वाहा शब्दसे बताया जाता है। इसलिये यज्ञके हवनमें स्वाहा शब्दका उच्चार होता है। इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें दी हुई आहुति दूसरोंकी उन्नतिके लिये दी है, उससे मैं अपने भोग बढाना नहीं चाहता। यही यज्ञकी शिक्षा है। द्रव्ययज्ञ, विद्यायज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनंत यज्ञ हैं, इनका अर्थ ही यह है कि द्रव्य ज्ञान आदिका परोपकारार्थ समर्पण करना और उनको केवल अपने भोग बढानेके लिये न लगाना। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेका नाम स्वाहाकार है। यह स्वाहाकार करनेसे ही इस सूक्तमें कही परम उच्चसिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह स्वाहाकार जितना होगा उतनी सिद्धि होगी। सिद्धिके लिये इस स्वाहाकारकी अत्यन्त आवश्यकता है। मं० ५ – ७ तकके तीन मंत्रोंमें तीन वार लगातार कहनेसे इस आत्मसमर्पणका अत्यंत महत्त्व सिद्ध होता है। पाठक भी यहां देख सकते हैं कि जगत्में भी स्वार्थत्याग करनेवालेकी ही विशेष प्रतिष्ठा होती है, वैसी स्वार्थी मनुष्यकी नहीं होती। अर्थात् स्वार्थत्याग जैसा जगत्के व्यवहारमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थसाधनके लिये भी आवश्यक है।

सोम और रुद्र।

जगत्में शांति करनेवाली और उग्रता बढानेवाली दो शक्तियां हैं, इनके 'सोम-रुद्र, अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम' ये नाम वेदमें आ गये हैं। सोमशक्ति जगतमें शान्ति करनेवाली है और रुद्रशक्ति उग्रता बढानेवाली है। प्रत्येक स्थानमें ये दोनों शक्तियां कार्य करती हैं, कहीं कदाचित एक न्यून होती है और दूसरी प्रबल होती है। जो प्रबल होती है उसका प्रभाव होता है, अर्थात् यदि किसीमें सोमशक्तिका प्रभाव अधिक हुआ तो वह पुरुष, शान्त, गम्भीर, विवेकी विचारी होगा, तथा किसीमें रुद्रशक्तिकी प्रधानता हुई तो वह पुरुष शूर वीर, युद्धप्रिय, क्रूर अथवा कठोर होगा। इस प्रकार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखनेसे पता लग जाता है कि इसमें कौनसी शक्ति विशेष प्रबल है और कौनसी न्यून है।

जिस प्रकार व्यक्तिमें सोम अथवा रुद्र शक्तिकी न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार

समाजमें अथवा जातिमें सोम या रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है। इसी कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण क्रमशः शान्तस्वभाव तथा उग्रस्वभाव हुए हैं। ब्राह्मणकी शान्ति और क्षत्रियकी उग्रता उस कारणसे सुप्रसिद्ध है। अतः सोमारुद्रौ इस देवतावाचक शब्दसे आदर्श ब्राह्मण क्षत्रियोंका बोध होता है।

मं० ५--७ तकके तीनों मंत्रोंमें सोमारुद्रौ देवता है। 'ये दोनों देवता हमें सुखी करें' ऐसी प्रार्थना इन तीनों मंत्रोंमें है। व्यक्तिके अंदर जो शान्ति और उग्रता होती है वह उसके हितके लिये सहायक होवे, अर्थात् मनुष्यकी शान्ति उसको शिथिल बनानेवाली न हो और मनुष्यकी उग्रता उसको हिंसक न बनावे, यह आशय यहां लेना उचित है। समाजमें भी शान्तिप्रिय ब्राह्मण और युद्धप्रिय क्षत्रिय परस्पर सहायकारी होकर परस्परकी उन्नति करते हुए राष्ट्रका उद्धार करनेवाले हों। इस प्रकार मनुष्यकी उन्नति होती रहे और सबका सुख बढता रहे और कोई हीन और दीन न बने। पूर्वोक्त कही रीतिके अनुसार मनुष्य त्यागभावसे स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण करता हुआ और शान्ति तथा उग्रतासे योग्य सहायता लेता हुआ सिद्धिको प्राप्त करे। यह आशय इन तीन मंत्रोंका है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आ सकती है कि किस प्रकार स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पणपूर्वक आत्मोन्नतिके मार्गका अवलंबन करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त हो सकता है। इन तीनों मंत्रोंका आशय ही भिन्न शब्दोंसे अष्टम मंत्रमें कहा है। इस अष्टम मंत्रके तीन भाग हैं—

तीन उपदेश।

१ अवद्यात् दुरितात् अस्मान् मुमुक्तम्। (मं० ८)
२ यज्ञं जुषेथाम्। (मं० ८)
३ अस्मासु अमृतं धत्तम्। (मं० ८)

"(१) निंद्य पापाचरणसे हमें मुक्त कर, (२) यज्ञका सेवन कर, (३) हममें अमृतको धारण कर।" ये तीन उपदेश अष्टम मंत्रमें हैं। पापाचरणसे दूर रहना, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करना और अन्तमें अमृतको प्राप्त करना, ये तीन उपदेश हैं, जो पूर्वके मंत्रोंका सार है। इस समय तक जो उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं उनका सार इन तीन मंत्रभागोंमें आगया है। "पापसे बचना, सत्कर्म करना, और मृत्युको दूर करके अमृतको प्राप्त करना" सब धर्मके नियम इन तीन मंत्रभागोंमें संमिलित हुए हैं। अमृत प्राप्त करना यह मनुष्योंका साध्य है, उसका साधन यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करना है और पापाचरण न करना यह निषिद्ध कर्मका निषेध है। इस प्रकार यह त्रिवृत यज्ञ

किंवा त्रिकर्म करना है। यदि और कुछ सिद्ध न हुआ तो ये तीन उपदेश मनुष्यके मनमें स्थिर रहे तो उसका बेडा पार हो सकता है। कितने व्यापक महत्त्वके उपदेश कितने थोडे शब्दोंमें वेदने यहां दिये हैं; इसका विचार पाठक करेंगे; तो उनको इन उपदेशोंका महत्त्व समझ सकता है।

शस्त्रोंके शस्त्र।

शत्रुको दूर करनेका उपदेश इससे पूर्व कईवार किया है। उसका पालन करनेके लिये शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्र वढानेकी आवश्यकता होती है। हमारे शस्त्रास्त्र देखकर शत्रुभी अपने शस्त्रास्त्र वढाता है। इस प्रकार दोनों ओरके शस्त्रास्त्र वढने लगे, तो वे इतने वढ जाते हैं कि उसकी कोई परिमिति नहीं रहती। इसके पश्चात् जो अत्यधिक शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित राष्ट्र होता है, उसका नियमन किस रीतिसे किया जाय; यह प्रश्न विचारी मनुष्योंके सन्मुख उपस्थित होता है, इस प्रश्नका उत्तर नवम मंत्रने दिया है—

चक्षुषः मनसः ब्रह्मणः तपसः हेतिः मेन्याः मेनिः॥ मं० (९)

" आंख, मन, ज्ञान और तपके जो शस्त्र हैं, वे शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं।" अर्थात् शस्त्रोंसे कई गुणा अधिक शक्ति इन में है। इन में जो आत्मिकवल होता है वह शस्त्रास्त्रोंके वलसे कई गुणा अधिक समर्थ होता है। इसलिये शस्त्रास्त्रोंके पाशवीवलका प्रतीकार नेत्र-मन-ज्ञान-तपरूपी आत्मिक वलवाले आध्यात्मिक शक्तियोंसे किया जा सकता है। केवल दृष्टिक्षेपसे, केवल मनकी इच्छासे, केवल ज्ञानके योगसे अथवा तपके प्रभावसे पाशवी शस्त्रोंका प्रतीकार किया जा सकता है। लोहेके शस्त्रास्त्र क्षत्रिय के हैं और ये आत्मिक वल ब्राह्मणके होते हैं। विश्वामित्र के पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठकी इच्छाशक्तिके सामने व्यर्थ सिद्ध हुए, यह इतिहासिक कथा यहां देखने योग्य है।

पाशवी वलका आत्मिक वलसे प्रतिकार।

पाशवी वल जिसके पास वढता है, वह अपने सुखको वढानेके लिये दूसरोंपर अत्याचार करता है, इस कारण वह (अघ+आयुः) जिसकी आयु पापमय हो चुकी है, ऐसा पापी वनता है। जिस प्रकार एक पापी व्यक्ति दूसरोंपर अत्याचार करती है उसी प्रकार पाशवी शस्त्रास्त्रोंसे युक्त एक पापी राष्ट्रभी दूसरोंपर भी अत्याचार करता है, इस लिये उसकोभी "अघ—आयु" अर्थात् पापी जीवनवाला राष्ट्र कहते हैं, उसका वर्णन यह है—

ये अस्मान् अभ्यघायन्ति। (मं० ९)

यो अघायुः अस्मान् अभिदासात्। (मं० १०)

"जो हमें सब ओरसे पापाचरणसे कष्ट देते हैं। जो पापी हमें दास करना चाहता है अथवा हमारा सर्वस्व नाश करना चाहता है।" इन मंत्र भागोंमें पाशवी अत्याचार का स्वरूप बताया है, (१) एक तो यह है कि दूसरेका घातपात पापपुण्यका विचार न करते हुए करना, (२) और दूसरा यह है दूसरोंका सर्वस्व नाश करना। यह पाशवी अत्याचारका स्वरूप है। जगत्के अन्दरकी सब गुलामी और लोगोंके सब दुःख इसीके कारण हैं। पाठक जगत् के इतिहासमें देखेंगे, तो उनको मालूम होगा कि 'एक बलवान् दूसरे निर्बलको अपने पेटकी पूर्तिके लिये खा रहा है।' यही पाशवी अत्याचार है। इस बलवानके शस्त्रोंको निर्बल करनेका उपाय केवल आत्मिक बल ही है—

चक्षुषा मनसा चित्त्या आकूत्या मेन्या तान् अमेनीन् कृणु। (मं० १०)

ब्रह्मणाः तपसः न मेन्या ते अमेनयः सन्तु। (मं० ९)

"आंख, मन, चित्त और संकल्परूपी शस्त्रसे उन अत्याचारी शत्रुओंको शस्त्रहीन कर। ज्ञान और तपके शस्त्रसे उनको शस्त्रहीन कर।" अर्थात् पाशवी शस्त्रोंका प्रतिकार इन आत्मिक बलोंसे कर। अपने आंख, मन, चित्त, संकल्प, ज्ञान और तप ये हि आत्माके शस्त्र हैं। इनको तेजस्वी बना और इनसे तू लोहेके शस्त्रोंका प्रतिकार कर। जितना अंदरसे आत्मिकबल जितने प्रमाणसे बढेगा, उतने हि प्रमाणसे शत्रुके शस्त्रादि बल बलहीन हो जायेंगे। पाशवी शक्तिवालोंका सामना करनेका यही सनातन मार्ग है। इसी मार्गसे आचरणसे वसिष्ठने विश्वामित्रका और प्रल्हादने हिरण्यकशिपुका सामना किया था। इस आत्मिकबलके मार्गसे अन्यायी निःसंदेह निःशस्त्र होता है। सबसे अधिक प्रभावशाली यह आत्मिकबल है। जो पाशवी बलवाले होते हैं वे अपने लोहशस्त्रोंकी घमंडमें अपना आत्मिकबल बढानेका यत्न नहीं करते किंवा [illegible] प्रवृत्तिके कारण अपना आत्मिकबल बढा नहीं सकते। इसलिये [illegible] आत्मिक बलके मार्गपर [illegible] लोग [illegible] इतना [illegible] विजय ही होता रहा है, [illegible] नहीं, [illegible] आत्मिकबलके मार्गपर [illegible] [illegible] इसका कारण यह है कि यदि [illegible] [illegible] [illegible]

अत्याचारी क्षात्रबलका त्याग करके शांतिमय अनत्याचारी ब्राह्मबलका स्वीकार किया । तत्पश्चात् दोनोंमें झगडा होनेका कुछ भी कारण न रहा । इस प्रकार आत्मिकबलवालोंकी सदा जीत ही होती रहती है ।

इस आत्मिकबलद्वारा पाशवी अत्याचारोंको रोकनेके मार्गमें "स्वा-हा" अर्थात् आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है, इसीलिये दशम मंत्रमें पुनः 'स्वाहा' शब्दद्वारा आत्मत्यागका उपदेश दिया है । पाठक यहां स्मरण रखें, कि अत्यंत स्वार्थत्यागके विना यह आत्मशुद्धि और आत्मबलके मार्गपरसे चलना असंभव है । इस आत्मसर्वस्वके समर्पणका स्वरूप देखिये—

आत्मसमर्पण

"अपना कहने योग्य जो भी कुछ हो उसका सत्कार्यमें समर्पण करना आत्मसमर्पण कहलाता है ।" इसका वर्णन इस प्रकार है—

> यत् मे अस्ति तेन सह, सर्वतनूः, सर्वगुः, सर्वात्मा, सर्वपूरुषः त्वा प्रपद्ये, त्वा प्रविशामि ॥ ११-१४ ॥

"जो कुछ मेरा है उसको लेकर तथा सब शरीर, सब इंद्रिय, सब आत्मशक्तियां, सब पुरुषार्थशक्तियां लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तुझमें प्रविष्ट होता हूं ।"

इस मंत्रमें स्वार्थसमर्पणकी परम सीमा वर्णन की है । जो कुछ मेरा इस जगत्में है उसको भी परमार्थकी सिद्धता करनेके लिये समर्पण करता हूं और उसके साथ मेरा शरीर, मेरे इंद्रिय, मेरी मन आदि शक्तियां, और सब पुरुषार्थकी शक्तियां भी उसी परम कार्यके लिये समर्पित करता हूं । अर्थात् जो कुछ मेरा कहने योग्य है, वह सब ध्येयकी सिद्धीके लिये समर्पित करता हूं । यह 'स्वाहा' शब्दका स्पष्ट अर्थ इन मंत्रों द्वारा बताया गया है । इन मंत्रोंको देखनेसे आत्मसमर्पणका अर्थ कितना व्यापक है, इस बातका पता लग सकता है । इस प्रकारका आत्मसमर्पण जो कर सकते हैं वेही त्यागी अन्तमें बंधमुक्त होकर अमृत प्राप्त कर सकते हैं, जिनको किसी भी प्रकारकी पाशवी शक्तिसे बांधा नहीं जा सकता ।

इस रीतिसे इस सूक्तमें आत्मोन्नतिके मार्गका उपदेश दिया है, इस मार्गसे आत्म-शुद्धि होकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय और पारमार्थिक उन्नतिका साधन मनुष्य कर सकता है । यह सूक्त कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है । जो पाठक इस दृष्टिसे रीतिसे इस सूक्तका अधिक मनन करेंगे, वे अपने उद्धारका उत्तम बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥
उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥
या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥
हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही ।
तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

अर्थ- हे (असमृद्धे) असमृद्धि ! (परः अप इहि) परे चली जा (ते हेतिं विनयामसि) तेरे शस्त्रको हम अलग करते हैं। हे (अराते) अदानशीलते ! (अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद) मैं तुझको निर्बल करनेवाली और अंदरसे चुभनेवाली जानता हूं ॥ ७ ॥

हे (अराते) अदानशीलते ! (उत नग्ना बोभुवती) और नंगी होकर (जनं स्वप्नया सचसे) मनुष्यको आलस्यसे युक्त करती है। इस प्रकार (पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वि ईर्त्सन्ती) मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

(या महती महोन्माना) जो बडी और विशाल होनेके कारण (विश्वा आशा व्यानशे) सब दिशाओंमें फैली है। (तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्यै) उस सुवर्णके समान बालवाली विपत्तिको (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

(हिरण्यवर्णा सुभगा) सुवर्णके समान वर्णवाली, ऐश्वर्यवाली (मही हिरण्यकशिपुः) बडी सुवर्ण वस्त्रवाली है (तस्यै हिरण्यद्रापये अरात्यै) उस सुवर्णके वस्त्रोंसे आच्छादित अदानशीलताके लिये (नमः अकरं) नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ- असमृद्धि दूर चली जावे। तेरे आघातको हम हटाते हैं। मैं जानता हूं कि असमृद्धिसे निर्बलता होती है और अंदरसे ही कष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

कंजूसी मनुष्यको नंगा बनाती और आलसी बनाती है। और मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

यह बडी विशाल है और सर्वत्र फैली है। उस सुवर्णके समान रंगवाली विपत्तिके लिये दूरसेही नमस्कार है ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान सुंदर, ऐश्वर्यवाली, सुवर्णके आभूषणवाली इस अदान-शीलताको हम दूरसे नमन करते हैं ॥ १० ॥

विपत्तिपूर्ण सम्पत्ति ।

आपत्तिपूर्ण विपत्ति और संपत्तिमय विपत्ति, ऐसी दो प्रकारकी विपत्तियां हैं। इनमेंसे वस्तुतः दोनों निंदनीय ही हैं; परंतु पहिलीका सर्वथैव निषेध और दूसरीका कुछ नियमोंसे निषेध वेदमें किया है। आपत्तिपूर्ण विपत्ति वह है कि जो परिपूर्ण निर्धनताके साथ अनंत आपत्तियां लगीं रहती हैं। यह अवस्था तो पुरुषार्थके साथ दूर करनी चाहिये। परंतु दूसरी जो संपत्तिमय विपत्ति है, जिसको भाषामें "कंजूसी" कहते हैं; इस अवस्थामें मनुष्यके पास संपत्ति तो विपुल रहती है, परंतु दान न करनेके कारण घरमें विपुल धन होते हुए भी इसकी स्थिति कंगाल जैसी होती है। यह भी अवस्था दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है। और इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

पाठक ऐसे मनुष्यकी कल्पना अपने मनमें करें कि जो बडा धनी है, परंतु अत्यंत कंजूस है, अत्यंत आवश्यक धर्मकृत्यके लिये भी दान नहीं देता है। ऐसा मनुष्य संपत्तिमय विपत्तिसे घेरा हुआ होता है, इसका वर्णन इस सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें किया है। जो पाठक इन दोनों मंत्रोंका आशय ठीक प्रकार समझेंगे, उनको इस सूक्तका तात्पर्य समझनेमें कोई काठिनता न होगी।

नवम मंत्रमें (हिरण्यकेशी निर्ऋती) सोनेके बालोंवाली विपत्तिका वर्णन है। जहां बालबालमें सुवर्ण भरा है, ऐसी यह धनमय निर्धनता है। इसीको धन पास होते हुए निर्धन कहा जाता है। इसीका और वर्णन दशम मंत्रमें देखिये—

हिरण्यवर्णा, सुभगा, हिरण्यकशिपुः मही,
हिरण्यद्रापी, अरातिः। (मं० १०)

" सोनेके वर्णसे युक्त, उत्तम भाग्यवती, सोनेके शरीरसे युक्त, बडी और सोनेके कपडे ओढी अदानशीलता यह है। "जिस धनीके पास सोना चांदी विपुल हैं, अन्यान्य ऐश्वर्य जितना चाहिये उससे भी अधिक है, हरएक स्थानपर सोनेके ढेर लगे हुए हैं, घरमें कपडे वर्तन और अन्यान्य साधन भी सुवर्णके ही बने हैं, ऐसे महाधनी पुरुषके अंदर जो दान न देनेका भाव रहता है उसका नाम " धनयुक्त निर्धनता " है। निर्धन मनुष्य दान न देवे तो वह उसका न देना समर्थनीय है, क्यों कि उसके पास

देनेके लिये कुछ भी नहीं है, परंतु जो मनुष्य संपत्तिमें लदा हुआ होनेपर भी सत्कर्मके लिये उचित दान नहीं देता, उसको तो दूरसे ही (नमः अकरं। मं० १०) नमस्कार करना चाहिये। उसके पास भी जाना योग्य नहीं है। इस प्रकारकी धनमयी विपत्ति बहुत स्थानोंमें दिखाई देती है, इसी विषयमें नवम मंत्रमें कहा है—

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे। (मं० ९)

"यह संपत्तिमयी विपत्ती बडी विशाल है और सब दिशाओंमें व्यापी है" अर्थात् कोई दिशा इससे खाली नहीं है। हरएक दिशामें इस संपत्तिमयी विपत्तिमें डूबे हुए लोग होते ही हैं। कोई गांव इससे खाली नहीं है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक दान देनेवाले अथवा जनताकी भलाईके लिये आत्मसर्वस्वका पूर्णतया समर्पण करनेवाले उदारधी दानी महात्मा थोडे ही होते हैं। परंतु बहुत अल्पदान करनेवाले अथवा बिलकुल दान न देनेवाले लोग ही बहुत होते हैं। इसीलिये नवम मंत्रमें कहा है कि "यह दानहीना बडी विशाल और सर्वत्र उपस्थित है।" कोई नगर इससे खाली नहीं है। प्रशस्त कर्म करनेके लिये धनकी याचना करनेवाले धर्मसेवक किसी भी नगरमें जावें, वहां इस प्रकारके धनवान होते हुए भी निर्धनके समान व्यवहार करनेवाले लोग ही उनको चारों ओर दिखाई देंगे। इस कंजूसीसे क्या होता है देखिये—

कंजूसीसे गिरावट।

नग्ना बोभुवती स्वप्नया जनं सचते॥

अरातिः पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वर्त्सयन्ती॥ (मं०८)

"यह कंजूसी स्वयं नंगी रहनेके समान लोगोंकोभी नंगा बना देती है। और उनको आलसी भी बना देती है। यह कंजूसी मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन कर देती है।" उदारचित्त दानी पुरुष जैसा सदा प्रसन्नचित्त रहता है, और उसको जैसे चारों ओर मित्र मिलते हैं, उस प्रकार अदानी कंजूस का नहीं है, वह सदा आलसी होता है और उसका चित्त और संकल्प मलीन होता है। उसमें कभी प्रसन्नता नहीं होती। यह कितनी हानि है, इसका विचार पाठक करें और इस कंजूसीसे बचनेका प्रयत्न करें। क्यों कि यह मनुष्यको मनुष्यत्वसेभी गिरा देती है। इसीलिये सप्तम मंत्रमें कहा है—

असमृद्धे! परः अपेहि। ते हेतिं विनयामसि।

अराते! अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद। (मं० ७)

"हे असमृद्धि! दूर हट जा। तेरे शस्त्र हम दूर हटा देते हैं। मैं खूब जानता हूं कि

तू लोगोंको निर्बल बनानेवाली और अन्दरसे दुःख देनेवाली है ! " वस्तुतः यह दानहीनता ऐसी कष्ट देनेवाली है इसलिये इसको हटा देना चाहिये। किसी को भी इसके आधीन नहीं होना चाहिये । क्यों कि यह निर्बलता बढानेवाली और आंतरिक कष्ट देनेवाली है । इसीसे मनुष्य गिर जाता है । इसलिये कहा है कि--

अरातिं प्रतिहर्यत । (मं० ६)

" कंजूसीका विरोध करो " । विरोध करके अपने अंदर कंजूसी न रहे ऐसी व्यवस्था करो । और अपने अंदर—

अद्य सर्वे दित्सन्तः । (मं० ६)

" आज सब ही दान देनेमें उत्सुक होवें " कोई कंजूस अपने अंदर न रहे। समाज ऐसे उदारचित्त दानी महाशयोंसे युक्त होवे और कभी कंजूसोंसे युक्त न होवे ।

हार्दिक इच्छा

हमारी हार्दिक इच्छा क्या होनी चाहिये, इस विषयमें विचार करनेके समय निम्नलिखित मंत्रभाग हमारे सन्मुख आ जाता है ।

१ यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे । (मं० ४)

२ जुष्टां मधुमतीं वाचं अवादिषम् । (मं० ५)

३ सरस्वत्या मनोयुजा वाचा यं याचामि
तं अद्य श्रद्धा विन्दतु । (मं० ५)

" (१) हम प्रगतिका प्रयत्न करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको चाहते हैं । (२) हम सेवन करने योग्य मीठी बात ही बोलते हैं । (३) विद्या और सुविचार से युक्त सुसंस्कृत वाणीसे जिसके पास हम मांगते हैं, उसमें देनेकी श्रद्धा होवे " वास्तवमें हम चाहते हैं कि हम सबको विद्या, सुबुद्धि और संपत्ति प्राप्त हो । हम इसी लिये मधुर वाणीसे बोलते हैं । हम श्रेष्ठ सत्कर्म करना चाहते हैं, इन कर्मोंके लिये जिसके पास धनादिकी याचना करेंगे, उसमें देनेकी बुद्धि बसे । इस प्रकारके दानसे जनताकी भलाईके प्रशस्ततम कर्म किये जाते हैं, जिससे सबका उद्धार होगा और सबका यश बढेगा । तथा-

१ नः देवकृता बनिः दिवा नक्तं वर्धताम् । (मं० ३)
२ नः वनिं वाचं मा वीत्सीः । (मं० ६)

" देवों द्वारा बनायी हमारी यह श्रद्धामयी बुद्धि दिनरात बढे और (२) इस श्रद्धाभक्तियुक्त वाणीमें घटाव न होवे । " अर्थात् दानबुद्धि, परोपकारका भाव और आत्मसर्वस्व समर्पणकी श्रद्धा हममें स्थिर रहे और बढे । इस धर्मबुद्धिसे परस्परकी सहायता करते हुए हम उन्नतिको प्राप्त हों ।

यहां तक इस सूक्तके आठ मंत्रोंका विचार हुआ । इससे पाठकों को पता लग सकता है, कि इस सूक्तका मुख्य उपदेश क्या है । अदानशीलता अथवा कंजूसीका स्तोत्र करनेका विचार इसमें नहीं है; प्रत्युत मनुष्योंको हानिकारक कंजूसीसे निकाल कर उच्चता स्थापन करनेवाले श्रद्धापूर्ण दानशूरताकी ओर ले जाना इस सूक्तको अभीष्ट है ।

प्रथम मंत्रमें भी अदानशीलताको दूरसे नमन किया है । जो कंजूसी (दक्षिणां मा रक्षीः) दान देनेमें क्षति उत्पन्न नहीं करती, अर्थात् दान देनेके लिये निकाला हुआ धन भी फिर अपनी संदूकमें बंद नहीं करती, अर्थात् अपनी योग्यताके योग्य दान देती है वह बुरी नहीं है, उस संग्रहवृत्तिसे (आ भर) अपने पास धन भर दे और खजाना जिस प्रमाणसे भरेगा उस प्रमाणसे दान भी होगा । परंतु जो (अराति) कंजूसी असमृद्धि कंगालताका प्रदर्शन करती है और (वीत्सी) मलीनता युक्त व्यवहार कराती है, वह हानिकारक है । यह प्रथम मन्त्रका भाव मननीय है । इसका भाव यह है कि योग्यप्रमाणसे संग्रह किया जाय और उचित दानभी दिया जाय । जो कंजूसी कङ्गालके समान दिखती है वह हानिकारक है । धन पास होते हुए भी कंगालके समान व्यवहार करनेकी बुद्धि होनी बहुत हानिकारक है । मनुष्यमें चाहे बहुत औदार्य न हो, परन्तु धन होते हुए भी कंगाल जैसी वृत्ति तो रहनी नहीं चाहिये ।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है । यद्यपि इस सूक्तमें अदानशीलताको नमन किया है, तथापि वह उस वृत्तिको दूर करनेके लिये ही है । इस दृष्टिसे विचार करने से इस सूक्तमें बडा गंभीर आशय है यह बात पाठकोंके मनमें आ जायगी । यह सूक्त बडा कठिन है, सहज समझमें आने योग्य सुगम नहीं है । तथापि जो पाठक इस स्पष्टीकरणमें दर्शायी रीतिसे इसका मनन करेंगे, वे इस सूक्तका आशय जान सकते हैं ।

शत्रुको दवाना।

[८]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता–नानादैवत्यं १,२ अग्निः, ३ विश्वेदेवाः, ४–९ इन्द्रः)

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह ।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।
तेभिः शकेम वीर्यं जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (वैकङ्कतेन इध्मेन) श्रुवा वृक्षके इन्धनसे (देवेभ्यः आज्यं वह) देवोंके लिये घृत पहुंचा। और (तान् इह मादय) उनको यहां प्रसन्न कर, वे (सर्वे) सब (मे हवं आयन्तु) मेरे यज्ञमें आवें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (मे हवं आयाहि) मेरे यज्ञमें आ पहुंच। जो (इदं करिष्यामि तत् शृणु) यह प्रार्थना मैं करूंगा, वह तू सुन। (इमे ऐन्द्रा अतिसराः) ये इन्द्रसंबंधी अग्रगामी पुरुष (मे आकूतिं सं नमन्तु) मेरे संकल्पके अनुकूल झुकें। हे (तनू-वशिन् जातवेद) शरीरको वशमें करनेवाले ज्ञानवान् ! (तेभिः वीर्यं शकेम) उन प्रयत्नोंसे वीर्य की प्राप्ति हम कर सकें ॥ २ ॥

भावार्थ- अग्नि इस यज्ञमें देवोंके लिये घृतकी आहुतियां पहुंचावे और यहां देवोंको आनन्दित करे, जिससे सब देव संतोषसे मेरे यज्ञमें आते रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र! तू मेरे यज्ञमें आ और जो मैं प्रार्थना करता हूं, वह श्रवण कर। ये जो इन्द्रके संबंधमें कार्य करनेवाले हैं, वे मेरे अनुकूल कार्य करें। हे शरीर-को वश करनेवाले ज्ञानी ! उनसे हमको वीर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति ।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन ॥ ३ ॥
अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।
अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥४॥
यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये ।
इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

अर्थ- हे (देवाः) देवो! (असौ अ-देवः सन्) वह देवता रहित होकर (अमुतः यत् चिकीर्षति) वहांसे जो कुछ घात करना चाहता है, (तस्य हव्यं अग्निः मा वाक्षीत्) उसका हव्य अग्नि न पंहुचावे। (देवाः अस्य हवं मा उपगुः) देवभी इसके यज्ञमें न जावें। प्रत्युत (मम एव हवं एतन) मेरेही यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे (अतिसराः) अग्रगामी पुरुषो! (अतिधावत) वेगसे दौडो। (इन्द्रस्य वचसा हत) इन्द्रके वचनसे मारो। (अविं वृक इव मथ्नीत) जैसे भेडको भेडिया मारता है, उस प्रकार शत्रुको मथ डालो। (सः जीवन्) वह शत्रु जीता (वः मा मोचि) तुम्हारेसे न छूट जावे। (अस्य प्राणं अपिनह्यत) इसके प्राणको भी बांध डालो ॥ ४ ॥

(अमी यं ब्रह्माणं) ये जिस ज्ञानीको (अपभूतये पुरः दधिरे) अवनति के लिये ही आगे धर देते हैं। हे इन्द्र! (सः ते अधस्पदं) वह तेरे पांवके नीचे होवे, (तं मृत्यवे प्रत्यस्यामि) उसको मृत्युके लिये फेंकता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ- हे देवो! जो वस्तुतः प्रभुकी भक्ति न करता हुआ जो कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी आहुतियां अग्निभी देवोंको न पहुंचावे और देव भी इसके यज्ञमें न जावें। परंतु वे मेरे यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे अग्रगामी पुरुषो! वेगसे शत्रुपर हमला करो। इन्द्रकी आज्ञासे शत्रुका वध करो। जैसा भेडिया भेडको मारता है, उस प्रकार तुम शत्रुको मार डालो। शत्रुके प्राण लो। कोई शत्रु तुम्हारे हाथसे न बच जावे॥४॥

जो शत्रु अपने अन्दरके विद्वान् पुरुषको भी अवनतिके कार्य में ही लगा देते हैं, उनकी अधोगति होवे, मैं तो उसको मृत्युके लिये समर्पित करता हूं ॥ ५ ॥

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ ६ ॥
यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥ ७ ॥
यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वेऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ-(यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि शत्रुओंने देवोंके नगरोंपर चढाई की है और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञान को ही अपना कवच बनाया है, और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीररक्षक साधन भी जो बनाते हुए (यत् उप ऊचिरे) जो कुछ कहते हैं (सर्वं तत् अरसं कृधि) वह सब नीरस करो ॥ ६ ॥

(असौ यान् अतिसरान् चकार) इसने जिनको अग्रगामी बनाया था और (च यान् कृणवत्) जिनको अभी बनाया है। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र! (त्वं तान् पुनः प्रतीचः आकृधि) तू उनको पुनः प्रतिगामी कर (यथा अमुं जनं तृणहान्) जिससे उस जनसमूहको हम मार डालें ॥ ७ ॥

(यथा इन्द्रः उद्वाचनं लब्ध्वा) जैसे इन्द्रने बडबडनेवाले शत्रुको प्राप्त करके उनको (अधस्पदं चक्रे) पांवके नीचे किया (तथा अहं) उस प्रकार मैं (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) सदाके लिये (अमून् अधरान् कृण्वे) इन शत्रुओंको नीचे करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ- यदि देवोंके नगरोंपर शत्रुओंने चढाई की है, और अपनी शरीररक्षाके लिये कवचादिके द्वारा अच्छी तैयारी की है, तथा अपने सब ज्ञानको भी इस युद्धकर्ममें ही लगा दिया है, ऐसे शत्रुका यह सब प्रयत्न विफल होवे ॥ ६ ॥

जो शत्रु अपने वीरोंको अग्रगामी करके हमला करता है, वे शत्रुके प्रयत्न उलटे हो जावें, जिससे सब शत्रुओंको हम मार डालेंगे ॥ ७ ॥

जिस प्रकार इन्द्र घमंडी शत्रुको भी नीचे दबाता है, उस प्रकार मैं सदा अपने शत्रुको नीचे दबाकर रखता हूं ॥ ८ ॥

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य ।
अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्यहं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥

अर्थ- हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (अत्र उग्रः एनान् मर्मणि विध्य) यहां शूर होकर इनको मर्मोंमें छेद । हे इन्द्र ! (अत्र एव एनान् अभितिष्ठ) यहांही इन पर चढाई कर।(अहं तव मेदी)मैं तेरा मित्र होकर रहता हूं । हे इन्द्र ! (त्वा अनु आरभामहे) तेरे अनुकूल हम कार्यारम्भ करते हैं और (तव सुमतौ स्याम) तेरी सुमतिमें हम रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! तू उग्र होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंको छेद, इन शत्रुओंपर चढाई कर । मैं तेरा मित्र होकर तेरे अनुकूल कार्य करता हूं और तेरी सुमतिमें स्थिर रहता हूं ॥ ९ ॥

शत्रुका नाश ।

यह सूक्त शत्रुका नाश करनेका उपदेश करनेवाला है । इसके पहिले दो मंत्रोंमें परमेश्वर प्रार्थना करके बल प्राप्त करनेका उपदेश किया है—

ईश प्रार्थना ।

अग्निमें घृतकी आहुतियां देकर यजमान प्रार्थना करता है कि— "मैं देवताओंके उद्देश्यसे ये आहुतियां इस यज्ञमें दे रहा हूं, ये आहुतियां देवताओंको प्राप्त हों और इससे देवताएं सन्तुष्ट होकर मेरी प्रार्थना सुनें । प्रभुकी भी मैं प्रार्थना करता हूं कि वह मेरी प्रार्थना सुनें और सब उसकी शक्तियां मेरे अनुकूल हों और हमको बहुत बल प्राप्त होवे । (मं० १-२)

नास्तिकोंकी असफलता ।

जिस पुरुषके मनमें परमात्माकी भक्ति नहीं होती, उसको नास्तिक अथवा भक्ति-हीन मनुष्य कहा करते हैं । युद्ध उपस्थित होनेपर दोनों पक्षके लोग प्रभुकी प्रार्थना करते हैं । सत्पक्षभी जैसा अपने यशके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता है, उसी प्रकार दुष्ट

पक्षके लोगभी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं। ऐसी दोनों ओरके सैनिक विजय प्राप्ति के लिये प्रार्थना करने लगे और यज्ञयाग करने लगे, तो प्रभु किस पक्षकी सहायता करता है और किसकी नहीं करता, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उपदेश लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है—

" जिस समय नास्तिक भक्तिहीन दुष्ट मनुष्य अपने विजयके लिये यज्ञयाग अथवा ईशप्रार्थना आदि करता है, उस समय अग्नि उसकी आहुतियां देवताओंके प्रति नहीं पंहुचाता और देवतायेंभी उसके यज्ञमें नहीं जातीं, क्योंकि देवताएं केवल आस्तिक भक्तोंके यज्ञमेंही जाती हैं।" (मं० ३)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि, दोनों पक्षके लोग भी प्रार्थना करने लगे, तौ भी धार्मिक लोगोंकी ही प्रार्थना परमेश्वर सुनता है, दुष्टोंकी प्रार्थनाएं कभी नहीं सुनता। इसलिये सत्यपक्षके लोगही प्रार्थनासे ईश्वरीय बल प्राप्त करते हैं और वह बल असत्य पक्षके लोगोंको नहीं प्राप्त होता; इस कारण सदा अन्तमें सत्यपक्षका ही विजय होता है। इसलिये चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि-"प्रभुकी आज्ञाके अनुसार शत्रुपर हमला करो,शत्रु-को मार डालो, कोई शत्रु तुम्हारे हमलेसे जीता न बचे।" (मं० ४) यह बल सत्यपक्ष-कोही प्राप्त होता है,इसलिये सत्यका पक्ष व्यवहारकी दृष्टिसे अशक्त प्रतीत हुआ तोभी वह आत्मिक बलकी दृष्टिसे शक्तिसंपन्न होनेके कारण अन्तमें विजयी होता है। अस-त्यपक्षवालोंको परमेश्वरकी भक्तिसे लाभ नहीं होता, यही बतानेके लिये पंचम और षष्ठ मंत्रोंका उपदेश है—

" जो असत्पक्षका आश्रय करनेवाले लोग अपने विजयके लिये ब्राह्मणको भी अपने अवनतिकारक कर्ममें उपासनादि कार्य करनेके लिये बाधित करते हैं, उनको परमेश्वर अवनत करता है और मृत्यु तक पहुंचाता है॥ जो दुष्ट देवजनोंके नगरोंपर हमला करके अपने विजयके लिये उपासनादि कर्म करते रहते हैं और समझते हैं कि इससे हमारी रक्षा होगी और हम सुरक्षित होंगे, वे भ्रममें रहते हैं, क्यों कि उनके ये सब प्रयत्न विफल होनेवाले हैं। (मं० ५—६)

अर्थात् असत्पक्षका विजय कभी नहीं होगा। सदा सत्यका पक्ष ही जय प्राप्त करेगा। यह वैदिकधर्मका त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। कोई इसको उलटपुलट कर नहीं सकता।

अन्तिम तीनों मंत्रोंमें यही बात भिन्न रीतिसे कही है—" जो दुष्ट शत्रु अपने सैनिकोंको आगे बढाकर वेगसे हमला चढाता है, उनका वह कार्य उसीके विरुद्ध अन्तमें होजाता है। (मं० ७) " अर्थात् बलकी घमंडमें आकर शत्रु सत्पक्षका नाश करनेकी जैसी जैसी तैयारी करता है, वैसा वैसा वह अधिकसे अधिक गिरता जाता है। बडे बडे साम्राज्य इसी दुष्ट भावके कारण नाशको प्राप्त हुए हैं और वे कभी पुनः उठे नहीं, यह जान कर लोगोंको उचित है कि वे कभी अधर्मपथसे न चलें और दूसरोंके नाशसे अपनी उन्नति करनेके कार्य न करें। क्यों कि ऐसे कार्योंमें कदापि सफलता प्राप्त नहीं होगी।

" ऐसे घमंडी और बकबक् करनेवाले शत्रु प्राप्त होनेपर उनको नीचे दबाना चाहिये, यह सदा पालन करने योग्य नियम है। " (मं० ८) अर्थात् सज्जनोंको भी शत्रुकी उपेक्षा करना योग्य नहीं है।

शत्रुके नाशका उपाय।

नवम मंत्रमें शत्रुका नाश करनेका उपाय कहा है। यह बात अब देखिये-

(१) उग्रः अत्र मर्माणि विध्य। - शूर होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंपर वेध कर। (मं० ९)

(२) अत्रैव एनान् अभितिष्ठ। - यहांही उनका सामना कर अर्थात् उन शत्रुओंपर वेगसे हमला चढा दे। (मं० ९)

(३) अहं तव मेदी। तव सुमतौ स्याम। त्वा अन्वारभामहे—मैं तेरा मित्र होकर रहूंगा, तेरी सुमतिमें मैं रहूंगा और तेरे अनुकूल कार्य करूंगा। (मं० ९)

परमात्माके अनुकूल कार्य करनेका तात्पर्य धर्मानुकूल व्यवहार करना है। इस प्रकार धार्मिक व्यवहार करते हुए आत्मिक बल बढाकर, परमात्माके प्रेमी बन कर रहना और शत्रुका हमला उलटा देनेका सामर्थ्य भी अपने पास रखना, अर्थात् अपने पक्षको कमजोर न रखना। इस प्रकार आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होनेसे सब युद्धोंमें विजय अवश्य ही प्राप्त होता है।

आत्मिक वल ।

[९]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-वास्तोष्पतिः)

दिवे स्वाहा ॥ १ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ दिवे स्वाहा ॥ ५ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ ६ ॥
सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥७॥
उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (दिवे) द्युलोक (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोक के लिये (स्वाहा=सु+आह) उत्तम प्रशंसा का वचन कहते हैं । १—६॥

(सूर्यः मे चक्षुः) सूर्य मेरा चक्षु है (वातः प्राणः) वायु प्राण है,(अन्तरिक्षं आत्मा) अंतरिक्ष आत्मा है और (पृथिवी शरीरं) पृथिवी मेरा शरीर है । (अस्तृतः नाम अयं अहं अस्मि) अमर नामवाला यह मैं हूं । (द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय) द्यावापृथिवीद्वारा सुरक्षित होने के लिये (सः आत्मानं निदधे) वह मैं अपने आपको निःशेष देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी (आयुः उत्) आयु उत्तम, (बलं उत्) वल उत्तम, (कृतं उत्) किया हुआ कर्म उत्तम, (कृत्यां उत्) काटनेकी शक्ति उत्तम,(मनीषां उत्) बुद्धि उत्तम, (इन्द्रियं उत्) इन्द्रिय उत्तम होवे । (आयुष्कृत् आयुष्पत्नी) आयुकी वृद्धि करनेवाले और जीवनका पालन करनेवाले तथा (स्वधावन्तौ) अपनी धारकशक्ति बढानेवाले तुम दोनों द्यावापृथिवी (मे गोपा स्तं) मेरे रक्षक होओ । (मा गोपायतं) मेरी रक्षा करो । (मे आत्मसदौ स्तं) मेरे आत्मामें रहनेवाले हो और (मा मा हिंसिष्टं) मुझे कभी विनाश न करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवी लोक इन तीनों लोकों-

की और इनमें विद्यमान पदार्थोंकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ १—६ ॥

सूर्यही मेरा आंख, वायु मेरा प्राण, अन्तरिक्ष मेरा अन्तःकरण, और पृथ्वी मेरा स्थूलशरीर बना है। मैं अमर और अदम्य हूं। द्युलोक और पृथिवीलोक मेरी रक्षा करते हैं,इसलिये मैं अपने आपको उनके आधीन कर देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी आयु, शक्ति, क्रियाशक्ति, काटनेकी शक्ति, मननशक्ति इंद्रिय-शक्ति, आदि शक्तियां उत्तम अवस्थामें रहें। आयु देनेवाली तथा जीवन का पालन करनेवाली और धारकशक्तिसे युक्त दोनों द्यावापृथिवी हैं, वे मेरी रक्षा करें, वे दोनों मेरे अंदर रहकर मेरी रक्षा करें और कभी मेरी शक्ति क्षीण न करें।

[१०]

अश्मवर्म मेंसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥
अश्मवर्म मेंसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ २ ॥
अश्मवर्म मेंसि यो मा प्रतिच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ३ ॥
अश्मवर्म मेंसि यो मोदींच्या दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ४ ॥
अश्मवर्म मेंसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ५ ॥
अश्मवर्म मेंसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेंसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥
बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(मे अश्मवर्म असि) मेरा पत्थरका दृढ कवच तू है। (यः अघायुः) जो पापी (प्राच्याः, दक्षिणायाः, प्रतीच्याः, उदीच्याः, ध्रुवायाः, दिशां अन्तर्देशेभ्यः) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व और इन दिशाओं के मध्यके प्रदेशोंसे (मा अभिदासात्) मेरा नाश करे, (सः एतत् ऋच्छात्) वह स्वयं इस विनाशको प्राप्त होवे॥१—७॥

(बृहता मन उपह्वये) बडे ज्ञान के साथ मनको मैं मांगता हूं। (मातरिश्वना प्राणापानौ) वायुसे प्राण और अपान, (सूर्यात् चक्षु) सूर्यसे आंख, (अन्तरिक्षात् श्रोत्रं) अन्तरिक्षसे कान, (पृथिव्याः शरीरं) पृथिवीसे शरीर, (मनोयुजा सरस्वत्या वाचं) मननसे युक्त विद्याके साथ वाणीको (उपह्वयामहे) मांगते हैं ॥ ८ ॥

[१०]

भावार्थ—यह मेरा कवच है। जो पापी मेरे ऊपर सब दिशा उपदिशाओंसे हमला करके मेरा नाश करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट होवे॥१-७॥

मुझे ज्ञानयुक्त मन, वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथ्वीसे स्थूल शरीर, और मननशक्तिसे संयुक्त विद्याके साथ उत्तम वाणी को चाहता हूं, इनकी मुझे प्राप्ति होवे ॥ ८ ॥

आत्मिक शक्ति।

अपने अन्दर आत्मिकशक्तिका विकास करनेके लिये जिन विशेष विचारोंकी धारणा अपने मनके अंदर करना आवश्यक है, वह धारणा इन दो सूक्तोंमें कही है। नवम और दशम ये दोनों सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है और देवता वास्तोष्पति है। अर्थात् ये दोनों एक ही विषयके सूक्त हैं, इसलिये इनका मनन भी साथ साथ ही करते हैं।

नवम सूक्तके पहिले छः मंत्र, वस्तुतः ये तीन ही मंत्र हैं और दुबारा आनेसे छः बने हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंके लिये स्वाहा अर्थात् (सु+आह) उत्तम शब्दोंद्वारा प्रशंसा कही है। द्युलोकमें सूर्य नक्षत्र आदि हैं, अन्तरिक्षमें इन्द्र, वायु, चंद्र, विद्युत् आदि हैं और पृथ्वीपर धान्य जल आदि अनंत पदार्थ हैं, जिनका उपयोग मनुष्य करता है और सुखी होता है। इस कारण ये तीन लोक और इनमें रहनेवाले अनंत पदार्थ मनुष्यके द्वारा प्रशंसा करने योग्य हैं। क्यों कि इनके विना मनुष्य जीवितही नहीं रह सकता, अतः ये प्रशंसा करने योग्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इन तीनों लोकोंके अंदर रहनेवाले सभी पदार्थ इस प्रकार मनुष्यके लिये अ
अत एव मनुष्यके प्रशंसाके लिये योग्य हैं। यह जानकर इनको अपने अंदर
चाहिये, अर्थात् ये मेरे अंदर आकर रहे हैं और मेरी शक्तिको बढाते हैं तथा प्र
करते हैं। यह भाव मनमें धारण करनेको सप्तम मंत्रने कहा है। इस मंत्रका आशय यह
"सूर्य मेरा आंख हुआ है, वायु मेरा प्राण बना है, अन्तरिक्ष लोक मेरा अन्त
बना है, और पृथिवीसे मेरा स्थूल शरीर बना है। (मं० ७)" यह सप्तम
कहना है। देखिये, इस प्रकार द्युलोकका सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु, और पृथिवी
के पदार्थ क्रमशः मेरे आंख, प्राण और स्थूलशरीरमें आकर रहे हैं, इस प्रका
साक्षात् संबंध इन तीनों लोकोंके साथ है, इन तीनों लोकोंके अंश आकर मेरे शरीर
हैं, अथवा इनका अवतार मेरे शरीरमें हुआ है। इस बातका विचार करनेसे अपनी
शक्तिकी कल्पना सहजहीमें हो सकती है, यही बात अथर्ववेदके अन्य मंत्रोंमें
कही है, देखिये—

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥
अथ० ११।८(१०)३१

"सूर्य और वायु ये क्रमशः पुरुष के आंख और प्राणमें विभक्त हुए हैं,
प्रकार इसके इतर आत्मभागोंको इतर देवोंने दिया है।" अतः कहते हैं कि—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते।
अथर्व ११।८(१०)३२

"इसीलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म मानता है, क्यों कि सब देवताएं इसमें
रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं।" इस मंत्रमें तो सभी देवताएं मनुष्यके शरी
विविध अवयवोंमें रहती हैं, ऐसा कहा है। पूर्वोक्त मंत्रोंमें कुछ देवताओंका यह
निवास वर्णन किया है, और इस मंत्रमें कहा है कि सब देवताएं यहां रहती हैं, अ
अन्य देवताओंका पता मननसे लगाना चाहिये। यह मनन करके उपनिषदोंमें
अन्य देवताओंका भी स्थान निर्देश किया है, वह मनोरंजक विषय अब देखिये—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके
प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा
कर्णौ प्राविशन्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्रा-

विशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशत् ॥

ऐ० उ० १।२।४

" अग्नि वाणी बनकर मुखमें घुसा, वायु प्राण बनकर नाकमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें रहने लगा, दिशाएं कान बनकर कानके स्थानपर रहने लगीं, औषधि और वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट होगई, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें घुसा, मृत्यु अपान होकर नाभिमें रहने लगा, जल रेत बनकर शिस्नमें प्रविष्ट हुआ।" इस प्रकार अन्यान्य देवताएं अन्यान्य स्थानोंमें रहने लगीं। यह है अपने शरीरमें देवताओंका निवास। यहां देवताएं रहती हैं, इसलिये इस शरीरको "देवों का मन्दिर" कहते हैं। बाह्य सृष्टिमें बडे बडे सूर्यादि देव हैं; उनके अंश बीजरूपसे यहां अपने शरीरमें आगये हैं और इन्हीं अंशोंके बडे विस्तृत देव फिर बनते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित उपनिषद्वचन देखिये—

मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः,....नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः,...अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः,...कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः,...त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः, ...हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः,....नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिस्नाद्रेतो रेतसः आपः ॥४॥

ऐतरेय उ. १।१

" मुखसे वाणी, वाणीसे वाचा;....नासिकासे प्राण, प्राणसे वायु; ....आंखोंसे चक्षु, चक्षुसे सूर्य; ... कानोंसे श्रोत्र, श्रोत्रसे दिशाएं; ··· त्वचासे लोम, लोमोंसे ओषधि-वनस्पतियां;.... हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा;...नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु;... शिस्नसे रेत और रेतसे जल हुआ।"

इन दोनों वचनोंमें पाठक तुलना करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि पहिलेमें बृहत् देवताओंसे अपने अन्दरके सूक्ष्म देव होनेका वर्णन है और दूसरेमें इन सूक्ष्म अंशोंसे फिर वृद्धि होकर बडे देव बननेका वर्णन है। जिस प्रकार मनुष्य शरीरसे वीर्यबिंदु उत्पन्न होता है और फिर इस वीर्यबिन्दुसे मनुष्य शरीर बनता है, उसी प्रकार संकोच और विस्तार यहां भी होता है। अस्तु।

मनुष्यके अंदर सूर्यादि सब देवोंकी शक्तियां हैं यह बात यहां मनुष्यने स्मरणमें रखना चाहिये। मैं तुच्छ नहीं हूं, परंतु मैं उनही शक्तियोंसे युक्त हूं कि जिनसे युक्त
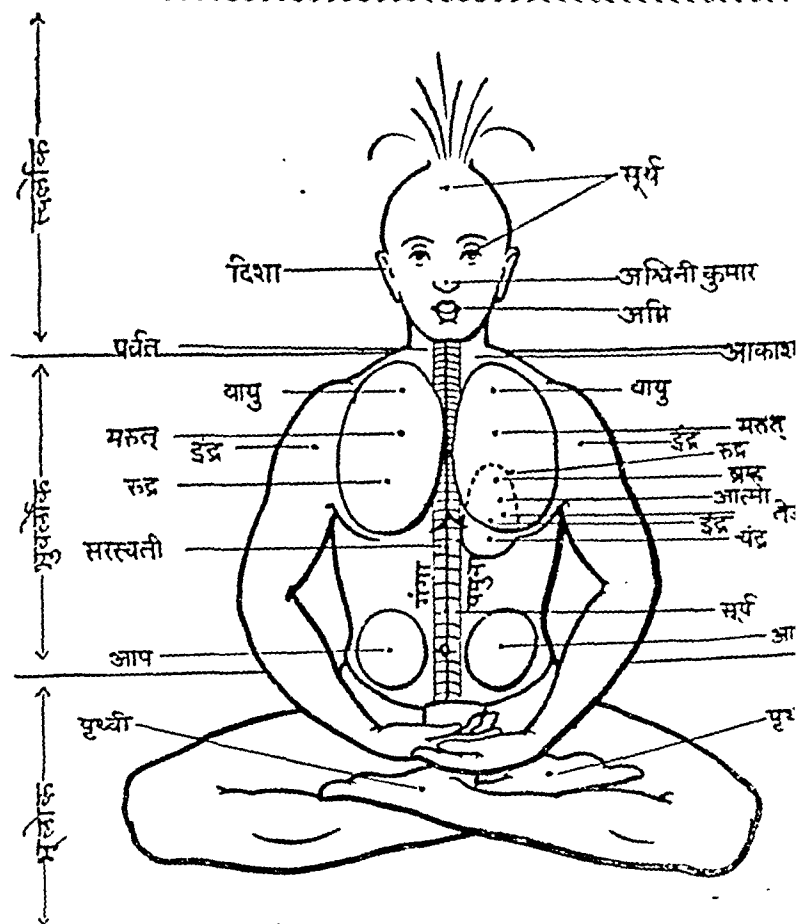
परमात्मा है । मेरी शक्तियां अंशरूप हैं और उसकी पूर्णरूप हैं । अर्थात् श
शरीरमें हैं, जिनका विकास धर्मानुष्ठानसे करना है । यह सप्तम मंत्रका आश
मंत्र मनुष्यको एक विशेषही शक्ति दे रहा है । पाठक, इसका अनुभव अ
करें । इस शक्तिको अपने अन्दर देखनेके बाद ही कहा जाता है कि—

अयं अहं अस्तृतः नाम अस्मि । (मं० ७)

" यह मैं अमर अथवा अदम्य शक्तिसे युक्त हूं " पाठक इसका विचार
अन्दर इतनी शक्ति है और मैं अमर हूं, शरीरनाश होनेसे मैं नष्ट नहीं हो
प्रकार परमात्मा ' अ-मर ' है, उसी प्रकार आत्मदृष्टिसे मैं भी ' अ-मर
विश्वास इस मंत्रने दिया है । पाठक ही अनुभव करें कि इस विचारको मन
करनेसे कितना आत्मिकबल बढता है । वेदकी शिक्षा आत्मिक बल बढाते

अपनी शक्तियोंका ज्ञान कराती है, वह बात इस प्रकार है। जब यह मनुष्य इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव लेता है, तब यह सब जगत्के लिये अपने आपका समर्पण करता है--

आत्मानं द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय निदधे। (मं० ७)

" मैं अपने आपको द्यावा पृथिवीके लिये रक्षाके अर्थ देता हूं। " इस प्रकार सब जगत् इसकी रक्षा करता है, सब विश्वसे जो सुरक्षित होता है, वह निर्भय होकर विचरता है। इसी निर्भयतासे उसकी उन्नति होती है। इसके पश्चात् वह जितना अधिक आत्मसमर्पण करता है,उतना अधिक बल प्राप्त करता है। इस रीतिसे—" आयु, बल, शक्ति, कर्म, बुद्धि, इन्द्रिय, आदिकी शक्तियां उत्कृष्टतम हो जाती हैं। " (मं० ८) यह उसका शक्तिविकास है। " इस प्रकार अन्न देनेवाले दोनों लोक इसकी पूर्ण रक्षा करते हैं। " (मं० ८) ये लोक वस्तुतः—

मे आत्मसदौ स्तम्। (मं० ८)

" मेरी आत्मामें रहनेवाले हैं।" यह बात उपनिषद्वचनोंसे इसके पूर्व बतादी है। अपने शरीरमें आत्माके आधारसे ये सब सूर्यादि पदार्थ अर्थात् तीनों लोक रहते हैं।

ये सब उन्नति ही करते हैं और धर्मपथपर चलने से कभी अवनति नहीं करते। इस प्रकार नवम सूक्तका विचार हुआ, अब दशम सूक्तका विचार करते हैं—

पत्थरका कवच।

दशम सूक्तके आदिके सात मंत्रोंमें 'पत्थरके कवच' का वर्णन आया है। पूर्वोक्त ज्ञानही मनुष्य का 'पत्थर जैसा दृढ कवच' है, जिससे मनुष्य सुरक्षित होकर उन्नतिको प्राप्त कर सकता है। " किसीभी दिशासे शत्रु हमला चढावे, जिसके शरीरपर यह पूर्वोक्त ज्ञानरूपी कवच है वह हमेशा सुरक्षित रहता है। " (मं० १-७) यह इन सात मंत्रोंका तात्पर्य है। जो ज्ञान पत्थर जैसा सुदृढ कवच है, वही पूर्वोक्त मंत्रमें कहा हुआ ज्ञान इस सूक्तके अष्टम मंत्रमें पुनः कहा है—

"सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथिवीसे शरीर, वायुसे प्राणापान और बृहच्छक्ति से मन, सरस्वतीसे वाणी, प्राप्त करता हूं।" (मं० ८) इस मंत्रमें भी पूर्व सूत्रोक्त ज्ञान ही कहा है। क्यों कि यही मनुष्यका रक्षक सुदृढ कवच है। पाठक, इस ज्ञानको अपनावें और निर्भय बनें।

श्रेष्ठ देव।

[११]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता-वरुणः)

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः॥ १॥
न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।
केन नु त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः॥ २॥

अर्थ— (महे असुराय कथं अब्रवीः) महान् शक्तिवान् के लिये तुमने कैसा क्या कहा? और (त्वेषनृम्णः इह हरये पित्रे कथं) स्वयं तेजस्वी होता हुआ तू यहां दुःख हरण करनेवाले पिताके लिये भी कैसा क्या कहा है? हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो! हे (पुनर्मघ) पुनः पुनः धन देनेवाले देव! (पृश्निं दक्षिणां ददावान) गौ आदि दक्षिणा देता हुआ (त्वं मनसा अचिकित्सीः) तूने मनसे हमारी चिकित्सा की है॥१॥

(कामेन पुनर्मघः न भवामि) केवल इच्छासे ही मैं पुनः पुनः धनवाला नहीं होता हूं। मैं (कं संचक्षे) किसे यह कहूं? (एतां पृश्निं उप अजे) इस गौ आदिको पास ले चलता हूं। हे (अथर्वन्) शान्त स्वभाववाले देव! (केन नु काव्येन त्वं) किस काव्यसे तू और (केन जातेन जातवेदाः असि) किसके होनेसे तू जातवेद हुआ है॥ २॥

भावार्थ- (भक्तका कथन)= हे ईश्वर! बडे बडे शक्तिमानको भी तुमने क्या उपदेश दिया है? और सबका दुःख हरण करनेवाले पिताको भी तुमने क्या कहा था? तू स्वयं तेजस्वी है। तूने ही यह गौ, भूमि, वाणी आदिका दान दिया है और हे पुनः पुनः धन देनेवाले देव! तूने ही हमारी चिकित्सा की है॥ १॥

केवल इच्छा करने मात्रसेही धनवान नहीं होता हूँ। यह मैं किसे ठीक प्रकार कहूं? मैं इस गौ, भूमि, वाणी आदिको प्राप्त करता हूं। हे देव! किस काव्यके बनानेसे तथा किस पदार्थके बनानेसे तू जातवेद कहा जाता है?॥ २॥

सत्यमहं गंभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः ।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥ ३ ॥
न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥ ४ ॥
त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥ ५ ॥

अर्थ-(सत्यं अहं गभीरः) सत्य है कि मैं गंभीर हूं। और (सत्यं) यह भी सत्य है कि मैं (जातेन काव्येन जातवेदाः अस्मि) काव्य उत्पन्न करनेसेही जातवेद कहलाता हूं। (यत् अहं धरिष्ये) जिसका मैं धारण करता हूं (मे व्रतं) उस मेरे नियमको (न दासः न आर्यः) न तो दास और न आर्य (महित्वा मीमाय) महत्त्वके साथ तोड सकता है ॥ ३ ॥

हे (स्वधावन् वरुण) अपनी धारण शक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव! (त्वत् अन्यः कवितरः न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक कवि नहीं है। (मेधया धीरतरः न) और बुद्धिके कारण अधिक धीरवाला भी कोई नहीं है। (त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ) तू उन सब भुवनोंको जानता है। इसलिये (सः मायी जनः) वह कपटी मनुष्य (त्वत् चित् नु बिभाय) तुझसे निःसंदेह भयभीत होता है ॥ ४ ॥

हे (अङ्ग स्वधावन् सुप्रणीते वरुण) प्रिय, अपनी धारणाशक्तिसे युक्त, उत्तम चलानेवाले श्रेष्ठ देव!(त्वं हि विश्वा जनिमा वेत्थ) तू ही सब जन्मों-को जानता है। हे (अ-सुर) ज्ञानी ! (एना रजसः परः अन्यत् किं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है? (एना परेण अवरं किं) और इस परे-वाले के उरे भी क्या है? ॥ ५ ॥

भावार्थ-(ईश्वरका उत्तर)-यह बात सत्य है कि मैं बडा गंभीर हूं और यह भी सत्य है, कि इस काव्यके प्रकाशित होनेके कारण मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हूं। जिस नियमको मैं बनाता हूं, उसको कोई तोड नहीं सकता, फिर वह आर्य हो वा दास हो ॥ ३ ॥

(भक्तका कथन) हे श्रेष्ठ और समर्थ देव ! तेरेसे भिन्न कोई भी अधिक श्रेष्ठ कवि नहीं है और बुद्धिवान् भी नहीं है। तू ही संपूर्ण भुवनोंका

एक॑ं रज॑स एना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना प॒र एके॑न दु॒र्णशं॑ चिद॒र्वाक् ।
तत् ते॑ वि॒द्वान् व॑रुण॒ प्र ब्र॑वीम्य॒धोव॑चसः प॒णयो॑ भवन्तु
नी॒चैर्दा॒सा उप॑ सर्पन्तु॒ भूमि॑म् ॥ ६ ॥
त्वं ह्य॑१ङ्ग व॑रुण॒ ब्रवी॑षि॒ पुन॑र्मघेष्ववद्या॒नि भूरि॑ ।
मो षु प॒णीँर॒भ्ये॒३तावे॑तो भू॒न्मा त्वा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ-(एना रजसः परः अन्यत् एकं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा एक पदार्थ है। और (एना एकेन परः) इस एकसे परे जो है उसके (अर्वाक् चित् दुर्णशं) उरे का भी पदार्थ दुष्प्राप्य है। हे (वरुण) श्रेष्ठ देव! (ते तत् विद्वान् प्रब्रवीमि) तेरा वह महिमा जाननेवाला मैं कहता हूं कि (पणयः अधो वचसः भवन्तु) कुत्सित व्यवहार करनेवाले लोग नीचे मुख करनेवाले होवें, तथा (दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु) दास भाववाले लोग भूमिपर नीचेसे चलते रहें॥ ६॥

हे (अङ्ग वरुण) प्रिय श्रेष्ठ प्रभो! (त्वं हि पुनर्मघेषु) तू भी फिर धन प्राप्त करनेके व्यवसायोंमें (भूरि अवद्यानि ब्रवीषि) बहुत निन्दायोग्य दोष होते हैं, ऐसा कहता है। (एतावतः पणीन् मो सु अभिभूत) इन व्यवहार करनेवालोंकोभी हानि कभी न होवे और (जनासः त्वा अराधसं मा वोचन्) लोग तुझे धनहीन भी न कहें॥ ७॥

ज्ञाता है इसलिये सब दुष्ट कपटी लोग तेरेसे ही डरते रहते हैं॥ ४॥

हे ईश्वर! तू सबके सब जन्मोंको जानता है। हे देव! इस प्रकृतिके परे क्या है और सबसे परे है उसके उरेभी क्या है? ॥ ५॥

(ईश्वरका उत्तर)= इस प्रकृतिके परे एक वस्तु है, और उस आन्तिम वस्तुके उरेभी एक दुष्प्राप्य वस्तु है। (भक्तका कथन)= हे देव! तेरा महिमा जानकर मैं कहता हूं कि दुष्ट व्यवहार करनेवालोंका मुख नीचे हो जावे और सब दास भाववाले भी अधोगतिको पहुंचें॥ ६॥

हे श्रेष्ठ देव! तुमने कहा है कि वारंवार धन बढाने के प्रयत्नोंमें बहुत ही दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये मैं प्रार्थना करता हूं कि सबपर ऐसी दया कर, कि ये व्यवहार करनेवाले भी कभी हानि न उठावें और दूसरे लोगभी तुमको कंजूस न कहें॥ ७॥

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि ।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥ ८ ॥
आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥ ९ ॥
समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।
ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥ १० ॥

अर्थ-(जनासः मा अराधसं मा वोचन्) लोग मुझे धनहीन न कहें। हे (जरितः) स्तुति करनेवाले! (ते पृश्निं पुनः ददामि) तेरी गौको मैं फिर देता हूं। (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओं-के बीचमें (शचीभिः मे विश्वं स्तोत्रं आयाहि) बुद्धियोंके साथ मेरे सब स्तोत्रको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(ते स्तोत्राणि) तेरे स्तोत्र (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंमें (उद्यतानि यन्तु) उत्तम प्रकार फैलें। (यत् मे अदत्तः) जो मुझे दिया नहीं, (नु मे देहि) वह मुझे दे। क्यों कि तू (मे सप्तपदः युज्यः सखा असि) मेरा सात चरण चल कर बने हुए के समान योग्य मित्र है ॥ ९ ॥

हे (वरुण) श्रेष्ठ देव! (नौ समा बन्धुः) हम दोनों समान बन्धु हैं। और (जा समा) हमारी उत्पत्ति भी समान है। (अहं तत् वेद) मैं वह भी जानता हूं (यत् नौ एषा समा जा) कि जो हमारी यह समान उत्पत्ति है। (यत् ते अदत्तः) जो तुझे नहीं दिया है (तत् ददामि) मैं वह देता हूं। (ते युज्यः अस्मि) तेरे योग्य मैं हूं। तेरा (सप्तपदः सखा अस्मि) सात चरण चलकर बना हुआ मित्र मैं हूं ॥ १० ॥

भावार्थ-लोग मुझेभी धनहीन या कंजूस न कहें। हे देव! जो गौ आदि मेरा धन है, वह सब तेरे लिये समर्पित करता हूं। मैं चाहता हूं कि यह तेरा स्तोत्र सर्वत्र जगत्के मनुष्योंमें फैले ॥ ८ ॥

तेरे स्तोत्र जगत्के मनुष्योंमें फैल जांय। हे देव! जो अभीतक मुझे प्राप्त नहीं हुआ वह मुझे अब प्राप्त हो, क्योंकि मैं तेरा सुयोग्य मित्र हूं ॥ ९ ॥

हे ईश्वर! हम दोनों बन्धु हैं, हमारा जन्मभी समान है। मैं जानता हूं

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥

अर्थ-(गृणते देवाय वयोधाः देवः) स्तुति करनेवाले विद्वान्के लिये अन्न देनेवाला देव तू है। तथा तू (स्तुवते विप्राय सुमेधाः विप्रः) स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये उत्तम मेधावान् ज्ञानी है। हे (स्वधावन् वरुण) हे अपनी धारणाशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव! तू (देवबन्धुं पितरं अथर्वाणं अजीजनः) देवों के भाई जैसे पालक अथर्वा-योगी को बनाता है। (तस्मा उ सुप्रशस्तं राधः कृणुहि) उसके लिये उत्तम प्रशंसनीय धन प्रदान कर। (नः सखा असि) तू हमारा मित्र है और (परमं च बन्धुः) परम बन्धु भी तूही है ॥ ११ ॥

कि यह हमारी समानता कैसी है। मैंने जो अभीतक तेरे लिये समर्पित नहीं किया है, वह मैं तुम्हें अब समर्पित करता हूं। अब मैं तेरा योग्य मित्र हूं और सखा भी हूं ॥ १० ॥

स्तुति करनेवाले उपासक को अन्नादि देनेवाला तूही एक देव है। उपासक को उत्तम ज्ञान देनेवाला भी तूही है। हे श्रेष्ठ देव! तू ही रक्षकोंको उत्पन्न करता है, और उनको धनादि पदार्थ अथवा सिद्धि देता है। तू ही हम सबका मित्र है और भाई भी है ॥ ११ ॥

ईश्वर और भक्तका संवाद।

ईश्वर और भक्तका संवाद इस सूक्तमें होनेसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। वेदमें इस प्रकारके संवादात्मक सूक्त बहुत थोडे हैं, इसलिये इन सूक्तोंका मनन कुछ विशेष रीतिसे करना आवश्यक है।

इस सूक्तमें ईश्वरका नाम " पुनर्मघ " आया है। पुनः पुनः धन देनेवाला, जो एकवार निर्धन हुआ है, उसको भी पुनः धन देनेवाला, यह इस शब्दका अर्थ है। दो प्रकारसे ईश्वरकी सहायता होती है। यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कही है—

१ पृश्निं दक्षिणां ददावान्। (मं० १)

२ त्वं मनसा अचिकित्साः। (मं० १)

" (१) परमेश्वर भूमि, गौ, वाणी आदि धनोंकी दक्षिणा वारंवार देता है, और

प्रयत्न का महत्त्व।

केवल इच्छा करनेसेही सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, इच्छाके साथ प्रयत्नकी भी अत्यंत आवश्यकता है, यह बात विशेष रीतिसे द्वितीय मंत्रमें कही है—

न कामेन पुनर्मघो भवामि। (मं० २)

" केवल इच्छा करने मात्रसेही पुनः धनयुक्त नहीं होता हूं।" अर्थात् इच्छाके साथ विशेष प्रयत्नकी भी आवश्यकता है। जो इच्छा करेगा और सिद्धिके लिये प्रयत्न करेगा उसको ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नहीं तो इच्छा करनेवाला कोई मनुष्य धन हीन नहीं रहेगा। परंतु हम देखते हैं कि हरएक मनुष्य धनी बननेकी इच्छा करता है, परंतु सभी निर्धन रहते हैं और क्वचित् कोई मनुष्य धनी होता है और धनी होनेपर बहुत ही थोडे सुखी होते हैं! इसलिये पुरुषार्थका महत्त्व विशेषही है। यह बात—

कं संचक्षे? (मं०२)

"किससे मैं कहूं।" अर्थात् हर कोई मनुष्य धनी होना चाहता है, परंतु प्रयत्न करनेकी तैयारी नहीं करता। यह अवस्था होनेके कारण मंत्र कहता है कि "केवल इच्छामात्रसे सिद्धि नहीं हो सकती, यह बात मैं किससे कहूं? कौन इस उपदेशको सच्ची प्रकार सुननेको तैयार है? सुनते तो सबही हैं, परंतु करते बहुत ही थोडे हैं। जो प्रयत्न करते हैं वे—

एतां पृश्निं उप आजे। (मं० २)

"इस प्रकृति (भूमि, वाणी, गौ आदि) को चलाते हैं, प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार उनसे कार्य लेते हैं।" यह सब प्रयत्नसे ही साध्य होता है, परंतु जो लोग प्रयत्न तो करते नहीं और इच्छाएं बडी बडी करते रहते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वे सदिच्छा धारण करें और उसकी सिद्धता के लिये हो सकता है उतना प्रयत्न भी करें।

ईश्वरका महत्त्व।

जैसे इतर पदार्थ हैं वैसा ही ईश्वर भी है। फिर सबके ऊपर परमेश्वरका शासन कैसा हुआ, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका प्रश्न बडा मननीय है—

हे अथर्वन्! त्वं केन? केन काव्येन जातेन
जातवेदाः असि? (मं० २)

"हे निश्चल देव! तू किस कारण निश्चल हुआ है और किस काव्यके प्रकट करनेसे जातवेद कहलाता है?" अर्थात् तू जो निश्चल है और तुझे कोई भी अपने स्थानसे

हिला नहीं सकता, इतनी शक्ति तेरे अन्दर किस कारण प्राप्त हुई है और तुम्हें ज्ञानका उगम कहते हैं, वह भी किस कारण है ? किस पुरुषार्थके कारण परमेश्वरका यह महात्म्य प्रसिद्ध हुआ है, परमेश्वरकी ऐसी कौनसी पुरुषार्थ शक्ति है कि जिससे परमेश्वरका ऐसा ऐश्वर्य बढा हुआ है ? यह प्रश्न यहां है भक्तका यह प्रश्न श्रवण करके परमेश्वर तृतीय मंत्रमें उत्तर देते हैं—

यत् अहं धारिष्ये, (तत्) मे व्रतं न दासः आर्यः मीमाय। (मं० ३)

"मैं जो नियम करता हूं, उस मेरे नियमको दास अथवा आर्य कोई भी तोड नहीं सकता।" व्रतपालनकी यह दक्षता परमेश्वर में है, इसलिये उसका शासन सर्वतोपरि हुआ है। नियमका पालन स्वयं करना और दूसरोंसे नियमका पालन करवाना, ये कार्य आत्मशक्तिसे होते हैं। परमेश्वर सबसे अधिक शक्तिमान है, इसलिये वह स्वयं नियमपालन करता है और दूसरोंसे नियमपालन करवाता है और उसने अपने विश्वव्यापक राज्यमें ऐसी व्यवस्था रखी है कि उसके नियमोंको कोई भी तोड न सके। ऐसा उत्तम शासन रहनेके कारण उसका अधिकार सर्वतोपरि हुआ है। यह बात परमेश्वरकी शक्तिके विषयमें हुई, अब उसके ज्ञानके विषयमें देखिये—

सत्यं, काव्येन जातेन अहं जातवेदाः अस्मि। (मं० ३)

"यह बात सत्य है कि यह काव्य प्रसिद्ध होनेके कारण ही मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ हूं।" जातवेदका अर्थ 'जिससे वेद प्रसिद्ध हुए' ऐसा है। परमेश्वरका यह निश्वसित वेद जगत्में प्रसिद्ध होनेके कारण ही ईश्वरकी ज्ञानविषयमें श्रेष्ठता जगत्में प्रसिद्ध होगई है। पहिले मंत्रभागमें उसकी शक्तिका वर्णन हुआ और प्रबंधशक्तिका भी वर्णन हुआ है। इस मंत्रभागमें उसकी ज्ञानशक्तिका वर्णन हुआ। सबसे पूर्ण और श्रेष्ठ ज्ञान परमेश्वरही सबको देता है, जो ध्यान लगाते हैं वे उससे समाधान प्राप्त करते हैं। यह सामर्थ्य परमेश्वरका ही है। इसी प्रकार परमेश्वरकी गंभीरताका भी वर्णन इसी मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार है—

सत्यं, अहं गभीरः। (मं० ३)

"यह सत्य है कि, मैं गंभीर हूं।" गंभीर उसको कहते हैं कि जिसकी गहराईका किसीको पता नहीं लगता। सबसे गंभीर परमेश्वर ही है, क्यों कि उसकी गहराईका पता अभी तक किसीको लगा नहीं, इतनाही नहीं, परंतु उसके द्वारा बनाई गयी यह सृष्टि है, इसकी गंभीरताका भी पता अभीतक किसीको भी लगा नहीं है। उसकी

गंभीरता इतनी है। ये गुण परमात्मामें होनेसे ही परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि होगया है।

इस प्रकार तृतीय मंत्रमें परमात्माका भाषण श्रवण करके भक्त फिर ईश गुणोंका वर्णन कर रहा है—

१ त्वत् अन्यः कवितरः न। (मं० ४)
२ [त्वत् अन्यः] मेधया धीरतरः न (मं० ४)

" (१) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक श्रेष्ठ कवि वा ज्ञानी नहीं है, और (२) तेरेसे भिन्न बुद्धिसे अधिक बुद्धिवान् भी कोई नहीं है। " अर्थात् तूही इन गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ है। क्यों कि-

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ। (मं० ४)
त्वं विश्वा जनिमा वेद। (मं० ५)

" तू ही इन सब भुवनोंको और जन्मोंको जानता है। " संपूर्ण पदार्थमात्रका ज्ञान तेरे अंदर है, तेरे लिये कोई अज्ञात पदार्थ नहीं है। तू सर्वज्ञ, श्रेष्ठ कवि और विशेष ज्ञानी होनेके कारण सब लोगोंके गुण दोष तू यथावत् जानता है, इसी कारण-

मायी जनः त्वत् बिभाय। (मं० ४)

" कुटिल मनुष्य तुझे डरता रहता है।" क्योंकि कपटी मनुष्य यद्यपि अन्य लोगोंके साथ कपट कर सकता है, तथापि वह परमेश्वर के साथ नहीं कर सकता; क्योंकि परमेश्वर उसके कर्मोंको यथावत् जानता है, उसे छिपा हुआ कुछ भी नहीं हैं। इसीलिये सब छली और कपटी उस परमेश्वरसे सदा डरते रहते हैं। जाहिरी तौरपर बतावें या न बतावें, परंतु वे मनमें डरते रहते हैं। इस सर्वज्ञताके कारण परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि हुआ है।

पंचम मंत्रमें भी यही बात पुनः कही है कि " वह ईश्वर सबके जन्मोंको यथावत् जानता है। " फिर कौन उससे कैसा छिपा सकता है। पञ्चम मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि-

रजसः परः किम् अन्यत् अस्ति ? (मं ५)
किं परेण अवरम् ? (मं० ५)

" इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है और उसके परे भी और क्या है?" उत्तरमें कहते हैं-

रजसः एकं परः अन्यत् अस्ति।
परः एकेन दुर्णशं चित् अर्वाक्॥ (मं० ६)

" इस प्रकृतिके परे एक श्रेष्ठ तत्त्व है और उसके परे अविनाशी तत्व है। " यहां

प्रकृति जीवात्मा और परमात्माका वर्णन स्पष्टतासे आया है। मनुष्यको उचित है कि वह इनको जाने और अपनी उन्नतिका मार्ग इनके आश्रयसे है यह निश्चित रूपसे समझे।

धनप्राप्तिमें दोष ।

पूर्वोक्त प्रकार अध्यात्मका विषय बतानेके पश्चात् व्यवहारका थोडासा उपदेश करते हैं। इह लोकका व्यवहार करनेके लिये धन बहुत चाहिये, यह धन कमानेके बहुत मार्ग हैं, परंतु—

पुनर्मघेषु भूरि अनवद्यानि । (मं० ७)

" पुनः धन कमानेमें बहुत दोष अथवा निंद्य कर्म होते हैं " अर्थात् दोष न करते हुए और निंद्य कर्म न करते हुए जितना धन कमाया जा सकता है, उतना कमाना चाहिये। दोष और निंद्य कर्म करके जो धन कमानेका व्यवहार करते हैं, वे दण्डनीय समझने चाहिये, इस विषयमें देखिये—

पणयः अधोवचसः भवन्तु । (मं० ६)
दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु (मं ६)

" व्यवहारमें निंद्य कर्म करके धन कमानेकी इच्छा करनेवालोंका मुख नीचेकी ओर होवे। और दूसरेका घात करके धन कमानेवाले नीच स्थितिमें गिर जावें।" अर्थात् जो धन कमाना हो, वह धर्मानुकुल व्यवहार करके कमाया जावे। और कोई मनुष्य निंद्य व्यवहार और घातपात करके धन कमानेका यत्न न करे।

इस मंत्रभागमें " पणि " शब्द है, इसका अर्थ " क्रय विक्रय करनेवाला बनिया " है। पणि शब्दमें कोई वस्तुतः बुरा भाव नहीं है। परंतु पाठक जानते ही है कि बनियाओं में शुद्ध धर्मानुसार व्यवहार करके धन कमानेकी इच्छा करनेवाले बहुत थोडे होते हैं, और जैसा मर्जी चाहे बुरा भला व्यवहार करके शीघ्र धनी होनेकी इच्छा करनेवाले ही बहुत होते हैं। इसलिये उक्त मंत्रभागोंमें जिन (पणियों) बनियोंको नीचे मुख करनेका शाप दिया है, वे दुष्ट व्यवहार करनेवाले हैं। इसी प्रकार 'दास' शब्दका धात्वर्थ " क्षय करनेवाले, घातपात करनेवाले " ऐसा होता है। दूसरोंकी लूटमार करके धनी होनेवाले यह अर्थ इस मंत्रमें दास शब्दसे लेना योग्य है। इन सब कुत्सित व्यवहार करनेवालोंकी अन्तमें दुर्दशा होती है, इसलिये धर्ममार्गसे उत्तम व्यवहार करके धनी बननेका प्रयत्न सब लोग करें, यह उपदेश यहां है। इतना होनेपर भी—

एतावतः पणीन् मा सु अभिभूत् । (मं० ७)

" बनियोंको भी नुकसान न होवे।" अर्थात् वे भी उत्तम धर्मानुकूल व्यवहार

करके योग्य लाभ अवश्य कमावें। जब तक धर्मानुकूल व्यवहार वे कर रहे हैं तब उनको कोई रुकावट न होवे, परंतु जिस समय वे धर्मनियमका भंग करेंगे, तब उनको दूर किया जावे। हरएक व्यवहार करनेवाले लोग इस उपदेशके अनुसार अपना व्यवहार करें और धनी बनें।

आगे अष्टम और नवम मंत्रमें "परमेश्वरका स्तोत्र अर्थात् ईशभक्ति सब लोगोंमें फैले" यह इच्छा प्रकट की है, इसका अर्थ यही है कि, सब लोग एक ईश्वर भक्तिसे रंगे जायगे, तो उनमें बुराईका व्यवहार करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होगी और सब लोग उत्तम रीतिसे धर्मानुकूल चलेंगे। ईशभक्तिसे मनुष्य का जीवन ही पवित्र होता है।

ईश्वर का सखा।

हर एक मनुष्यको ऐसा विश्वास होना चाहिये कि मैं परमेश्वरका मित्र हूं। जो धार्मिक भक्त होते हैं, उनमेंही यह भाव हो सकता है—

१ मे युज्यः सप्तपद्ः सखा असि। (मं० ९)
२ ते युज्यः सप्तपद्ः सखा अस्मि। (मं० १०)
३ सखा नः असि। बंधुः च असि। (मं० ११)

"ईश्वर मेरा मित्र और बन्धु है।" वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा परस्पर मित्र, बंधु और एक वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षियोंके समान परस्पर सख्य करनेवाले हैं। परंतु कितने लोग ऐसे हैं कि जो इस मित्रताका अनुभव करते हैं, इसका विचार किया जाय तो पता लगेगा कि बहुत ही मनुष्योंने इस मित्रताको भुला दिया है। ईश्वर के साथ जीवित और जाग्रत मित्रता का संबंध रखनेवाले कचित कोई सन्त महंत होते हैं, शेष लोग इस मित्रताके संबंधको भूले हुए होते हैं। यह ईशमित्रता का संबंध जितने अन्तःकरणोंमें जाग्रत हो जाय उतना अच्छा है। जिनमें यह संबंध जाग्रत होता है वे ही—

देहि नु मे यत् मे अदत्त। (मं० ९)
ददामि तत् यत् ते अदत्त। (मं० १०)

" दे मुझे वह जो अभी तक नहीं दिया है। मैं तुझे वह देता हूं कि जो तुझे अभी तक नहीं दिया है।" यह भक्त और ईश्वरका वार्तालाप तब प्रत्यक्ष हो सकता है कि जब मनुष्य ईश्वरको अपना मित्र अनुभव करेगा। जो अबतक दी नहीं गई ऐसी वस्तु " मोक्ष " ही है जो इस समय भक्त मांगता है और परमेश्वर भी देता है। परमेश्वरसे प्राप्त होनेवाला यह अन्तिम दान है जो भक्तको सबसे अन्तमें प्राप्त होता है।

यज्ञ ।

[१२]

(ऋषिः—अङ्गिराः । देवता—जातवेदाः)

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥
तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) ज्ञान प्रकाशक देव ! (अद्य मनुषः दुरोणे समिद्ध देवः) आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ तू देव(देवान् यजासि) देवोंका यजन करता है । हे (मित्रमहः) मित्रके समान पूज्य देव ! तू चिकित्वान् आवह च) ज्ञानवान् उनको यहां ला । (त्वं कविः प्रचेता दूतः असि) तू कवि और विशेष ज्ञानी दूत है ॥ १ ॥

हे (तनू-न-पात् सुजिह्व) शरीरको न गिरानेवाले और उत्तम जिह्वा-वाले देव ! (ऋतस्य यानान् पथः मध्वा समञ्जन् स्वदय) सत्यके चलने योग्य मार्गोंको मधुरतासे युक्त करता हुआ स्वादयुक्त कर । (धीभिः मन्मानि) बुद्धियोंसे मननीय विचारों को (उत यज्ञं ऋन्धन्) और यज्ञको सिद्ध करता हुआ (देवत्रा नः अध्वरं च कृणुहि) देवोंके मध्यमें हमारा अहिंसामय कर्म पूर्ण कर ॥ २ ॥

भावार्थ— आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ अग्निदेव देवोंके लिये यज्ञ करता है और उनको यहां लाता है। यह मित्रके समान पूज्य, ज्ञानी, कवि, उत्तम चित्तवाला देवोंका दूत है ॥ १ ॥

शरीरको न गिरानेवाला और मधुर भाषणी देव सत्यको पहुंचानेवाले मार्गोंको माधुर्ययुक्त करता है । उत्तम मननीय विचारोंसे यज्ञको सिद्ध करके देवोंके बीचमें हमारा यज्ञ पहुंचता है ॥ २ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥
व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

अर्थ-हे अग्ने! (आजुह्वानः ईड्यः वन्द्यः च) हवन करनेवाला स्तुति और वन्दन करने योग्य तू (सजोषाः वसुभिः आयाहि) प्रेमसे वसुओंके साथ आ। हे (यह्व) पूज्य! (त्वं देवानां होता असि) तू देवोंका आह्वान करनेवाला है। (सः इषितः यजीयान् एनान् यक्षि) वह इष्ट और याजक तू इनका यजन कर ॥३॥ (अह्नां अग्रे) दिनके प्रथम भागमें (अस्याः पृथिव्याः प्रदिशा) इस पृथ्वीकी दिशासे (वस्तोः बर्हिः प्राचीनं आवृज्यते) आच्छादनके लिये तृणादि पूर्व दिशाके अभिमुख फैलाया जाता है। यह आसन (वितरं वरीयः) विस्तृत और श्रेष्ठ (देवेभ्यः अदितये स्योनं) देवोंके लिये तथा स्वतंत्रताके लिये सुखदायक (उ विप्रथते) फैलाया जाता है ॥ ४ ॥ (शुम्भमाना जनयः पतिभ्यः न) शोभायमान स्त्रियां जिस प्रकार पतियोंके लिये आदर करती हैं उस प्रकार (व्यचस्वती उर्विया) विस्तृत और महान् (बृहतीः विश्वं इन्वाः) बडे और सबको प्राप्त करनेवाले (देवीः द्वारः) हे दिव्य द्वारो! (देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत) देवोंके लिये सुखसे आने जाने योग्य होवो ॥ ५ ॥

भावार्थ- उत्तम हवन करनेवाला, स्तुति योग्य और नमस्कारके लिये योग्य तू देव वसुओंके साथ यहां इस यज्ञमें आ। तू देवोंको बुलानेवाला है। इसलिये तू याजकोंमें उत्तम याजक उन देवोंको यहां ले आ ॥ ३ ॥

प्रातः कालमें ही इस पृथिवीको आच्छादित करनेके लिये पूर्वदिशाकी ओरसे आसन फैलाते हैं। यह विस्तृत और उत्तम आसन सब देवोंके बैठनेके लिये सुखदायक है और यह स्वतंत्रताके लिये भी उत्तम है ॥४॥

स्त्रियां जिस प्रकार पतिको सुख देती हैं उस प्रकार ये हमारे दिव्य दरवाजे, जो विस्तृत बडे और सबको आने जाने लिये योग्य हैं, वे देवों को सुखपूर्वक अन्दर लानेवाले हों ॥ ५ ॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥
दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥
आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(सुष्वयन्ती यजते उपाके) उत्तम चलनेवाली यजनीय और समीपस्थित (दिव्ये योषणे) दिव्य और सेवनीय (बृहती सुरुक्मे) बडी सुन्दर(शुक्रपिशं श्रियं अधि दधाने) शुद्ध शोभाको धारण करनेवाली (उषासानक्ता योनौ नि आसदताम्) दिन और रात्री हमारे घरमें आवे ॥ ६ ॥

(प्रथमा सुवाचा दैव्या होतारा) पहिले, सुन्दर बोलनेवाले दोनों दिव्य होता (मनुषः यज्ञं यजध्यै मिमाना) मनुष्यके यज्ञमें यजन करनेके लिये निर्माण करनेवाले (विदथेषु प्रचोदयन्ता कारू) यज्ञोंमें प्रेरणा करने वाले कर्मकर्ता (प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्तौ) प्राचीन ज्योतिको उसकी दिशासे बताते हैं ॥ ७ ॥

(भारती नः यज्ञं तूयं आ एतु) सबका भरण करनेवाली मातृभूमि हमारे यज्ञमें बलके साथ आवे । (इडा मनुष्वत् यज्ञं चेतन्ती इह) मातृभाषा मनुष्योंसे युक्त यज्ञकी चेतना देती हुई यहां आवे । (सरस्वती सु-अपसः आसदन्तां) मातृसभ्यता उत्तम कर्म करनेवालोंके पास बैठे और ये (तिस्रः देवीः इदं स्योनं बर्हिः) तीनों देवियां इस उत्तम आसन पर आकर विराजें ॥ ८ ॥

भावार्थ-उत्तम गमन करने योग्य,एक दूसरेके साथ संबंधित,दिव्य और सुंदर प्रातः काल और रात्रीका समय सुखपूर्वक हमारे घरमें बीते ॥ ६ ॥ ये सुंदर मंत्रगान करनेवाले दिव्य होतागण मनुष्योंका यह यज्ञ पूर्ण करनेके लिये पूर्वदिशाकी ज्योतिका संदेश देते हुए, सबको प्रेरणा करनेके लिये यहां आवें ॥७॥ हमारे इस यज्ञमें सबका पोषण करनेवाली मातृभूमी यज्ञकी प्रेरणा करनेवाली मातृभाषा और उत्तम कर्मकी प्रेरणा करनेवाली प्रवाहसे प्राप्त मातृसभ्यता यहां आकर इस यज्ञमें विराजें ॥ ८ ॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥
उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥
सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

अर्थ-(इमे जनित्री द्यावापृथिवी) ये उत्पन्न करनेवाली द्यु और पृथिवीमें (विश्वा भुवनानि रूपैः यः अपिंशत्) सब भुवनोंको विविध रूपोंसे रूपवान जिसने बनाया है। हे (होतः) याजक! (यजीयान् इषितः विद्वान्) यज्ञ करनेवाला इष्ट विद्वान् तू (अद्य इह तं देवं त्वष्टारं यक्षि) आज यहां उस त्वष्टा देवके लिये यजन कर ॥ ९ ॥

(त्मन्या समञ्जन्) स्वयं प्रकट होता हुआ तू (देवानां पाथः हवींषि ऋतुथा उप अवसृज) देवोंके लिये अन्न और हवन ऋतुके अनुसार दे। (वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः) वनस्पति, शान्तिकर्ता अग्निदेव (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मधुर घृतके साथ हव्यका स्वाद लेवे ॥ १० ॥

(सद्यः जातः अग्निः यज्ञं वि अमिमीत) शीघ्र प्रकट हुआ अग्नि यज्ञका निर्माण करता है। वह (देवानां पुरोगाः अभवत्) वह देवोंका अग्रगामी होता है। (अस्य ऋतस्य होतुः प्रशिषि वाचि) इस सत्य प्रवर्तक होता की प्रकृष्ट शासनवाली वाणीमें (स्वाहाकृतं हविः देवा अदन्तु) स्वाहाकार द्वारा दिया हुआ हव्य देव खावें ॥ ११ ॥

भावार्थ-जो सब भूतोंको विविध रूप देती है वे दोनों द्यावापृथिवी हैं। हमारा याजक त्वष्टा देवका यहां यजन करे ॥ ९ ॥

स्वयं यहां प्रकट होकर सब देवोंको ऋतुओंके अनुसार हवि और अन्न दे। वनस्पति, शमिता, और देव अग्नि ये सब हमारा हवि और घृत मीठेसे युक्त करें ॥ १० ॥

प्रज्वलित अग्नि यहां हमारा यज्ञ निर्माण करता है। यह देवोंका अग्रणी है। इस होता अग्निकी वाणीमें अर्थात् मुखमें स्वाहाकार पूर्वक डाला हुआ हवि सब देव खावें ॥ ११ ॥

यजमानकी इच्छा।

यजमान अपने घरमें यज्ञयाग अथवा होमहवन करता है, उस समय उसके मनमें जो विचार होने चाहियें वे इस सूक्तमें वडे सुंदर वर्णन के साथ दिये हैं। घरमें कोई धर्मकृत्य, धर्मका कोई संस्कार, करनेके समयमें भी ये ही विचार यजमानको मनमें धारण करना योग्य हैं—

"(१) यह मेरे घरमें प्रदीप्त किया हुआ यज्ञीय अग्नि निःसंन्देह सव देवताओंका यजन करता है। वह निःसंदेह सव देवोंको यज्ञस्थानमें ले आता है, क्योंकि वह देवोंको बुलानेवाला, और हवि उनको पंहुंचानेवाला प्रत्यक्ष देवदूत ही है।

(२) यह उत्तम जिह्वावाला अग्निदेव सत्यको पहुंचनेवाले धर्ममार्गोंपर मीठे पाथेय देनेवाला है। यह यहां आता है उत्तम स्तोत्रोंसे यज्ञ करता है, और अहिंसामय कर्मोंको देवोंतक पहुंचा देता है॥

(३) हे अग्ने! पृथिव्यादि आठ वसु देवोंको तू यहां इस यज्ञमें ला। तूं वंदनीय और प्रशंसनीय देव है। तू देवोंको यहां बुलानेवाला है, इसलिये देवोंको यहां बुलाकर उनके लिये यजन कर।

(४) हमने प्रातःकालसे ही देवताओंके सुखपूर्वक बैठनेके लिये पूर्वदिशाके सन्मुख आसन फैला कर रखे हैं। देव यहां आवें और सुखपूर्वक यहां विराजें।

(५) हमारे घरके द्वार पूर्णतया खोलकर रखे हैं, इनमेंसे देव सुखपूर्वक आवें और इस यज्ञमें मंगल करें।

(६) सवेरेसे सायंकालतकका शोभन और तेजस्वी समय है, यह सव समय उत्तम आनन्दकारक रीतिसे हमारे घरमें वीते अर्थात् हमारे लिये यह समय सुख देनेवाला होवे।

(७) दिव्य होतागण हमारे यज्ञमें आजांय, मनुष्योंको बुलावें, उत्तम प्रकार यज्ञ कर्म करें और इस यज्ञसे प्रकाशका मार्ग सबको बतावें।

(८) इस यज्ञसे सबका भरणपोषण करनेवाली मातृभूमिका सत्कार हो, यहां मातृभाषा सबको उत्तम प्रेरणा देवे, प्रवाहसे प्राप्त सभ्यता उत्तम कर्मकी प्रेरणा करें। इस प्रकार ये तीनों देवियां इस यज्ञमें आकर कार्य करें।

(९) ये द्यावापृथिवी है, इनके कारण ही सव स्थिर चर पदार्थ रूपसे संपन्न हुए हैं। इनके बीचमें यह यज्ञ चल रहा है, अतः इस यज्ञमें सवको आकार देनेवाले त्वष्टा देवके लिये हवन अवश्य होवे।

(१०) यज्ञकी समिधाएं, अग्नि और हवन सामग्री घीसे युक्त होवे, हवन सामग्रीमें मीठा मिलाया जावे। और ऋतुओंके अनुकूल देवोंके निमित्त हवन होता रहे।

(११) अग्नि प्रदीप्त होते ही यज्ञका प्रारंभ होता है, और देवभी उस यज्ञस्थानमें आते हैं। इस अग्निमें स्वाहाकारपूर्वक किया हुआ हवन सब देव खाते हैं और तृप्त होते हुए हमारा कल्याण करते हैं।

इस प्रकार यजमान अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करता है। जिस यजमानके मनमें विश्वासपूर्वक ये बातें रहती हैं और जो सच मुच समझता है कि इस यज्ञकर्ममें सब देवताएं भाग लेती हैं और मनुष्यका कल्याण करती हैं, वही यजमान वैदिक कर्मोंसे आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। अविश्वासीके उद्धारका कोई मार्ग नहीं है।

इस सूक्तके कथनानुसार पाठक स्वयं जान सकते हैं कि सामग्री कैसी सिद्ध करना। यज्ञकी विधि जाननेके लिये भी इस सूक्तके मननसे बहुत लाभ हो सकता है।

अग्निका नाम इस सूक्तमें " तनू-न- पात् " आया है। इसका अर्थ है " शरीरको न गिरानेवाला " अर्थात् शरीरको चलानेवाला। इस शरीरमें अग्नि शरीरको चलाता है, यह बात इस मंत्रमें स्पष्ट कही है। पाठक स्थूल दृष्टिसे भी विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मृत मनुष्यका शरीर शीत होजाता है और जीवित मनुष्यके शरीरमें उष्णता रहती है। इस अनुभवसे भी पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरको चलानेवाला अग्नि है। आगे चलकर यही तनूनपात् शब्द आत्माका वाचक हो जाता है और आत्मा शरीरका चालक है यह बात सब जानतेही हैं।

जो यज्ञ अग्निमें किया जाता है उसका नाम अध्वर है, यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। अ-ध्वरका अर्थ " अ-हिंसा " है अथवा " अ-कुटिलता " भी है। अर्थात् यज्ञका अर्थ अहिंसा युक्त और कुटिलता रहित कर्म है। मनुष्यको इस प्रकारके ही कर्म करने चाहिये। परंतु कई मनुष्य यज्ञके नामसे हिंसामय कर्म करते हैं, और आश्चर्यकी बात यह है कि वे उस हिंसाको ही अहिंसा मानते हैं। इससे अर्थका अनर्थ तो और क्या हो सकता है ? अस्तु।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक उचित बोध प्राप्त करें।

सर्पविष दूर करना ।

[१३]

(ऋषिः—गरुत्मान् । देवता-तक्षकः । विषम्)

दृदिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम् ।
खातमखातमुत सुक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम् ॥ १ ॥
यत् ते अपोदकं विषं तत् तं एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

अर्थ— (दिवः कविः वरुणः हि मह्यं ददिः) द्युलोकके कवि वरुणने मुझे उपदेश दिया है कि (उग्रैः वचोभिः ते विषं निरिणामि) बलवान् वचनोंके द्वारा तेरा विष दूर करता हूं । (खातं अखातं उत सक्तं) घाव अधिक खुदा हुआ हो, न खुदा हुआ हो अथवा विष केवल उपर चिपका ही हुआ हो, इस सब विषको (अग्रभं) मैं लेता हूं । (धन्वन् इरा इव) रेतीले स्थानमें जिस प्रकार जलधारा नष्ट होती है उस प्रकार (ते विषं निजजास) तेरा विष निःशेष नाश करता हूं ॥ १ ॥

(यत् ते अप-उदकं विषं) जो तेरा जलशोषक विष है (तत् ते एतासु अग्रभं) वह तेरा विष इनमें लेता हूं । (ते उत्तमं मध्यमं उत अवमं रसं गृह्णामि) तेरा उत्तम मध्यम और नीचेवाला रस पकडकर लेता हूं । जो (आत् उ ते भियसा नेशत्) तेरे भयसे नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— दिव्य ज्ञानी कहता है कि बलवाले वचनोंसे सर्पका विष दूर होता है । विष गहरे घावमें गया हो, छोटे घावमें गया हो अथवा केवल ऊपर ही ऊपर चिपका हो । उसको मैं पकडता हूं और निःशेष करता हूं ॥ १ ॥

सर्प विष शोषक है । उसको ऊपर मध्यभागमें और नीचे के भागमें पकड लेता हूं और सर्पविषके भयसे तुम्हें दूर करता हूं ॥ २ ॥

वृषा मे रवो नर्भसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥
चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥
कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(मे रवः नभसा तन्यतुः न वृषा) मेरा शब्द आकाशकी गर्जनाके समान बलवान है। (उग्रेण वचसा आत् उ ते ते बाधे) बलवाले वचनों से निश्चयपूर्वक तुझे तुझेही बाधा करता हूं। (अहं नृभिः अस्य तं रसं अग्रभं) मैंने मनुष्योंके साथ इसके उस रसको लिया है। (तमसः ज्योतिः सूर्यः इव उदेतु) अन्धकारसे ज्योति देनेवाले सूर्यके समान यह उदयको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(चक्षुषा ते चक्षुः हन्मि) आंखसे तेरे आंखका नाश करता हूं। (विषेण ते विषं हन्मि) विषसे तेरा विष नाश करता हूं। हे (अहे म्रियस्व, मा जीवीः) सर्प ! तू मर जा, मत् जीता रह। (विषं त्वा प्रत्यक् अभ्येतु) विष तेरे प्रति लौटकर आ जावे ॥ ४ ॥

हे (कैरात, पृश्ने, उपतृण्य,बभ्रो,असिताः, अलीकाः) जंगलमें रहनेवाले, धब्बेवाले, घासमें रहनेवाले, भूरे रंगवाले, कृष्णसर्प और निंदनीय सर्पो! (मे आशृणुत) मेरा भाषण सुनो। (मे सख्युः स्तामानं अपि मा स्थात) मेरे मित्रके घरके पास मत ठहरो। (आश्रावयन्तः विषे नि रमध्वं) सुनाते हुए दूर अपने विषमें ही रमते रहो ॥ ५ ॥

भावार्थ— मेरा शब्द प्रभावशाली है, उससे विषकी बाधा दूर करता हूं। मैं अन्य मनुष्योंकी सहायतासे विषके रसको स्तंभित किया है, अब यह सूर्यउदयके समान जाग उठेगा ॥ ३ ॥ विषसे विष दूर करता हूं। हे सांप! अब तू मर जा, जीवित न रह। तेरा विष लौटकर तेरे प्रति जावे ॥ ४ ॥ जंगलमें रहनेवाले, धब्बोंवाले, घांसमें रहनेवाले और भूरे रंगवाले, काले और घृणित ऐसे सांप होते हैं। हे सब सर्पों ! मेरे मित्रके घरके पास न ठहरो! दूर कहां जाकर अपने विषके साथ रमो ॥ ५ ॥

असितस्यं तैमातस्यं ब्भ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥ ६ ॥
आलिगी च विलिगी च पिता चं माता चं ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥
उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(असितस्य) कृष्ण (तैमातस्य) गीले स्थानपर रहनेवाले (बभ्रोः) भूरे रंगवाले (अप-उदकस्य) जलसे दूर रहनेवाले और (सात्रासाहस्य मन्योः) सबको पराजित करनेवाले क्रोधी सर्पके विषबाधाको मैं (वि-मुञ्चामि) ढीला करता हूं, जिस प्रकार (धन्वनः ज्यां इव, रथान् इव) धनुष्यसे दोरी और रथोंके बंधनोंको ढीला करते हैं ॥ ६ ॥

(आलिगी च विलिगी च) चिपकनेवाली और न चिपकनेवाली (पिता च माता च) तथा नर और मादा (वः बन्धु सर्वतः विद्म) तुम सबके बंधुओंको भी हम सब प्रकारसे जानते हैं। (अरसाः किं करिष्यथ) तुम नीरस होने पर क्या करोगे? ॥ ७ ॥

(उरु-गुलाया दुहिता जाता) बहुत हिंसक सर्पिणीकी दुहिता (आसि-क्न्याः दासी) कृष्णसर्पिणीकी दासी होगई है। इन (दद्रुषीणां सर्वासां) दाद पैदा करनेवाली सब सांपिनियोंका (प्रतङ्कं विषं अरसं) कष्ट-दायक विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ-कृष्ण, गीले स्थानपर रहनेवाले और भूरे रंगवाले, जल स्थानसे दूर रहनेवाले और क्रोधी सर्पकी विषबाधाको मैं दूर करता हूं। धनुष्यपर से डोरी उतारनेके समान मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

विषकी बाधकता नष्ट होनेपर सांपोंका नर या मादा क्या हानि करेगा? ॥ ७ ॥

हिंसक, कृष्णसर्पिणी, और दाद उत्पन्न करनेवाली सांपिणीका विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥
ताबुवं न ताबुवं न घेत् त्वमसि ताबुवम्।
ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥
तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम्।
तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

अर्थ— (कर्णा श्वावित्) कानवाली साही (गिरेः अवचरन्तिका) पहाडके नीचे घूमनेवाली (तत् अब्रवीत्) वह बोली (याः काः च इमाः खनित्रिमाः) जो कोई ये भूमिको खोदकर रहते हैं, (तासां विषं अरसतमं) उनकाविष नीरस होवे ॥ ९ ॥

(ताबुवं न ताबुवं) ताबुव हिंसक नहीं है। (त्वं ताबुवं न घ इत् असि) तू ताबुव तो हिंसक निःसंदेह नहीं है। (ताबुवेन विषं अरसं) ताबुवके द्वारा विष नीरस होता है ॥ १० ॥

(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव भी नाशक नहीं है। (त्वं तस्तुवं न घ इत् असि) तू तस्तुव तो नाशक निःसंदेह नहीं है। (तस्तुवेन विषं अरसं) तस्तुव द्वारा विष निरस होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ- सब पहाडी सर्पोंका विष साररहित हो जावे ॥ ९ ॥

ताबुव और तस्तुव नामक पदार्थ विशेषसे सांपोंका विष निर्बल होता है ॥ १०-११ ॥

सर्प विष।

इस सूक्तमें निम्नलिखित सर्पजातियोंका वर्णन है—

१ कैरातः- भील जहां रहते हैं उस जंगलमें रहनेवाला सर्प,
२ पृश्निः - धब्बोंवाला सर्प,
३ उपतृण्यः- घासमें रहनेवाला सर्प,
४ बभ्रुः- [illegible] रंगवाला सर्प,
५ असितः- [illegible] नीलवाला सर्प,
६ अलीकः— [illegible] सर्प,

७ तैमातः— गीले प्रदेशमें रहनेवाला सर्प,
८ अपोदकः— जो जलके पास नहीं रहता,
९ सात्रासाहः— इसके संबंधमें आनेवालेका नाश करनेवाला सर्प,
१० मन्युः— क्रोध धारण करनेवाला सर्प,
११ आलिगी— चिपकनेवाली अर्थात् शरीरको लपेटनेवाली सांपीन,
१२ विलिगी— शरीरसे दूर रहनेवाली सांपिन,
१३ उरु-गुला— जिसका निम्न प्रदेश वडा होता है,
१४ असिक्नी— काली सांपीन,
१५ दद्रुषी - जो सांपीन काटनेसे शरीरपर दाद उठती है और दादसे रक्त निकलता है।
१६ कर्णा— कानवाली सांपीन,
१७ श्वावित् -कुत्ता जिसको काटता है, कुत्ता जिसको ढूंढकर निकालता है।
१८ खनित्रिमा- खोदी हुई भूमिमें रहनेवाली सांपीन,

इतनी सांपोंकी जातियोंके नाम इस सूक्तमें हैं। इनमेंसे दो तीन नामोंके विषयमें हमें संदेह है और उनके ज्ञान निश्चित करनेके लिये अभी बहुत खोजकी अपेक्षा है।

उपाय।

सर्पविषकी बाधा पर " ताबुव और तस्तुव " का उपाय इस सूक्तके अन्तिम दो मंत्रोंमें लिखा है। परंतु ये पदार्थ क्या हैं इसका ज्ञान खोज करने पर भी अभीतक हमें नहीं हुआ। संभव है कि ये कुछ औषधी खनिज पदार्थ या पत्थर जैसे पदार्थ अथवा मणि हों। संभव है ये सर्पविशेषके मस्तकमें मिलनेवाले मणियोंके नाम हों। कुछ निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें खोज करनेकी आवश्यकता है।

दूसरा उपाय तीन स्थानपर बंध लगाकर विषकी गतिको रोकना है—

गृह्णामि ते मध्यमं उत्तमं अवमम्।
एतासु विषं अग्रभम् (मं० २)

"ऊपर, मध्यमें और नीचे रसीसे बांधके, इनमें विषको पकड लेता हूं।" यह विधि इस प्रकार है। प्रायः हाथ या पांवको सांप काटता है। जहां काटता है वहांसे विष ऊपर चढता है, इसलिये काटते ही जंघाके मूलमें, घुटनेपर तथा कटे स्थानसे किंचित् ऊपर रसीसे बांध देनेसे विषकी ऊपर जानेकी गति रुक जाती है। इस प्रकार विषकी गति रोककर फिर जहां तक विष गया हो, वहां पर उक्त पदार्थोंका प्रयोग करनेसे विष निःसत्त्व हो जाता है।

परंतु "तावुव और तस्तुव" पदार्थ प्राप्त न होनेकी अवस्थामें यह उपाय कैसा किया जाय यह एक शंका है।

जहां तक धमनीमें विष पहुंचा होता है, वहांके बाल खडे नहीं रहते, इसलिये बालोंको देखनेसे पता लगता है कि यहां तक विष आया है। अतः विष जहां है वहां जलता अग्नि रखकर वह स्थान जला दिया जाय तो मनुष्य बच सकता है। परंतु यह बात इस सूक्तमें कही नहीं है।

यह सूक्त दुर्बोध है। इसलिये कई मंत्रोंका अर्थ भी ठीक प्रकार समझमें नहीं आया है, इस कारण मंत्रोंका विवरण भी अधिक नहीं हो सकता।

इस सूक्तके कई मंत्र ऐसे हैं कि मंत्रसामर्थ्यसे सांपको कुछ कहनेके समान भाषा उसमें है। जैसा—

प्रत्यक् अभ्येतु ते विषम्। (मं० ४)
अहे! म्रियस्व। (मं० ४)

"हे सांप! तेरा विष लौटकर तेरे पास जावे! हे सर्प! तू मर जा।" तथा—

मे सख्युः स्तामानं मा अपि स्थाः। (मं० ५)

"मेरे मित्रके घरके पास न ठहर।" इत्यादि मंत्र पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्र प्रभाव, अथवा कहनेवालेकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे सर्पपर कुछ परिणाम होता है। हमने स्वयं अभीतक देखा नहीं है, परंतु बहुत लोग कहते हैं कि महाराष्ट्रमें ऐसे मांत्रिक हैं कि जो सर्पद्वारा दंशित मनुष्यके पास उस काटनेवाले सांपको बुलाते हैं, और उससे व्रणसे सब विष चुसवा लेते हैं। और इस प्रकार सर्पका विष शरीरसे बाहर गया तो वह मनुष्य जाग्रत होनेके समान उठता है। तृतीय मंत्रके अन्तिम चरणमें "अन्धकारसे सूर्य उदय होनेके समान यह मनुष्य जाग उठे" (मं० ३) ऐसा कहा है। संभव है कि इस प्रकारका कुछ भावही इसमें हो।

यह सर्पदंशका विषय अत्यंत महत्त्वका है और इस लिये सब प्रकारके उपचारोंकी बडी खोज करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि कौनसा उपाय निश्चित गुणकारी है।

इस प्रकारके सूक्त गूढ आशय होनेके कारण बडे दुर्बोध होते हैं और इसी कारण इस विषयको सुबोध करनेके लिये बहुत खोजकी अपेक्षा होती है।

घातक प्रयोगको लौटाना।

[१४]

(ऋषिः— शुक्रः । देवता-वनस्पतिः । कृत्याप्रतिहरणम्)

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥
अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि ।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥
रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः ।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥
पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय ।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (सुपर्णः त्वा अन्वविन्दत्) गरुडने तुझे प्राप्त किया और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूअरने तुझे अपनी नासिकासे खोदा है। हे औषधे! (त्वं दिप्सन्तं दिप्स) तू नाशकका नाश कर और (कृत्याकृतं अवजहि) हिंसा करनेवालेको मार डाल ॥ १ ॥

(यातुधानान् अवजहि) यातना देनेवालोंको मार डाल। (कृत्याकृतं अवजहि) काटनेवालेको मार डाल। (अथो यः अस्मान् दिप्सति) और जो हमें मारना चाहता है, हे औषधे! (तं उ त्वं जहि) उसको तू मार॥२॥

हे (देवाः) देवो! (रिश्यस्य परिशासं इव) हिरनको चारों ओरसे चुभनेवालोंके समान और (निष्कं इव) सुवर्णभूषणके समान (त्वचः परि परिकृत्य) त्वचाके ऊपर घाव करके, (कृत्याकृते कृत्यां प्रतिमुञ्चत) हत्या करनेवालेके प्रति उसीके काटनेवाले प्रयोगको वापस करो ॥ ३ ॥

(पुनः कृत्यां हस्ते गृह्य) फिर काटनेवाले साधनको हाथमें पकडकर (कृत्याकृते परा णय) प्राणघातक उपाय करनेवालेके पास वापस भेजो। (अस्मै समक्षं आधेहि) इसके लिये सामने रख दे, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे हिंसाकारी मारा जाय ॥ ४ ॥

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥
यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥
यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥
अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व ।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥
कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि ।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

अर्थ-(कृत्याः कृत्याकृते सन्तु) मारक साधन हिंसकोंके ऊपर ही लौट जांय। (शपथः शपथीकृते) गालियां गाली देनेवालेके पास लौट जांय। (सुखः रथः इव) सुख देनेवाला रथ जैसा जाता है उस प्रकार(कृत्याः कृत्याकृतं पुनः वर्ततां) घातपातके उपाय घातकके ऊपरही फिर पहुंच जावें॥५॥ (यदि स्त्री यदि वा पुमान्) चाहे स्त्रीने अथवा चाहे पुरुषने (कृत्यां पाप्मने चकार) घातक प्रयोग पापकी इच्छासे किया है। (तां उ तस्मै नयामसि) उसको उसके पासही हम लौटा देते हैं, (अश्वा-अभि-धान्या अश्वं इव) घोडेको बांधनेकी रसी जिस प्रकार घोडेके पास ले जाते हैं ॥ ६ ॥ (यदि वा देवकृता असि) यदि तू देवोंद्वारा की गई हो अथवा (यदि वा पुरुषैः कृता) यदि मनुष्योंद्वारा बनाई गई हो, (तां त्वा वयं) उस तुझको हम (इन्द्रेण सयुजा) सहयोगी इन्द्रके द्वारा (पुनः नयामसि) पुनः हटा देते हैं ॥७॥

हे (पृतनाषाट् अग्ने) संग्राम जीतनेवाले तेजस्वी पुरुष ! (पृतनाः सहस्व) शत्रुसेनाओंका पराभव कर। (पुनः कृत्याकृते) फिर घातपात करनेवालेके प्रति (प्रतिहरेण कृत्यां प्रति हरामसि) प्रतिहार करनेके उपायसे घातक प्रयोगको लौटा देते हैं ॥ ८ ॥ हे (कृत-व्यधनि) घातकका वेध करनेवाले! तू (तं विध्य) उसका वेध कर। (यः चकार तं इत् जहि) जिसने घात किया उसका नाश कर(अचक्रुषे त्वां वधाय न संशिशीमहि) हिंसा न करनेवाले तुझको वधके लिये हम उत्तेजना नहीं देते ॥ ९ ॥

सत्यका विजय ।

[१९]

(ऋषिः- विश्वामित्रः । देवता-वनस्पतिः)

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥
द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ २ ॥
तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ४ ॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतजाते ओषधे) सत्यपालक और सत्यसे उत्पन्न औषधि ! तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधु करः) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर। (मे एका च दश च अपवक्तारः) मेरे लिये एक या दस निंदक क्यों न हों। इसी प्रकार (द्वे विंशतिः च) दो और वीस, (तिस्रः त्रिंशत् च) तीन और तीस, (चतस्रः चत्वारिंशत् च) चार और चालीस, (पञ्च पञ्चाशत्) पांच और पचास, (षट् षष्टिः च) छः और

अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ८ ॥
नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ९ ॥
दश च मे शतं च मेऽपवक्तारं ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १० ॥
शतं च मे सहस्रं चापवक्तारं ओषधे ।
ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १२ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

साठ, (सप्त सप्ततिः च) सात और सत्तर,(अष्ट अशीतिः च) आठ और अस्सी, (नव नवतिः च) नौ और नव्वे, (दश शतं च) दस और सौ, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवक्तारः) निंदक क्यों न खडे हों और मुझे प्रतिबंध करनेका यत्न क्यों न करें, मैं सत्यमार्गसे ही उनका प्रतिकार करूंगा । इसलिये सर्वत्र मेरे लिये मधुरता फैले ॥ १-११॥

सत्यसे यश ।

इस सूक्तमें ऋतावरी ऋतजाता औषधिका नाम है । यह कौन औषधि है, इसका पता नहीं लगता । परंतु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है । परंतु जो निंदक शत्रु हैं उनको सत्यपालन और सत्य व्यवहार से ही ठीक करना और सत्यका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है । सत्यपालन करनेवालेके लिये सब दिशाएं मधुरतायुक्त हो जाती हैं, अर्थात् उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता । सत्यपालन करनेवाला मनुष्य शत्रुरहित होजाता है । मानो " सत्यपालन का व्रत" ही सब दोषोंको धोनेवाली दोषधी अथवा ओषधि है । इस सूक्त में कही संख्याका क्या भाव है वह समझमें नहीं आता ।

आत्मबल।

[१६]

(ऋषिः— विश्वामित्रः । देवता-एकवृषः)

यद्येकवृषोसि सृजारसोसि ॥ १ ॥ यदि द्विवृषोसि सृजारसोसि ॥ २ ॥
यदि त्रिवृषोसि सृजारसोसि ॥ ३ ॥ यदि चतुर्वृषोसि सृजारसोसि ॥ ४ ॥
यदि पञ्चवृषोसि सृजारसोसि ॥ ५ ॥
यदि षड्वृषोसि सृजारसोसि ॥ ६ ॥
यदि सप्तवृषोसि सृजारसोसि ॥ ७ ॥
यद्यष्टवृषोसि सृजारसोसि ॥ ८ ॥
यदि नववृषोसि सृजारसोसि ॥ ९ ॥
यदि दशवृषोसि सृजारसोसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोसि सोपोदकोसि ॥ ११ ॥

अर्थ— (यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः, पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः, असि) यदि तू एक दो तीन चार पांच छः सात आठ नौ और दस शक्तियोंसे युक्त है, तो (सृज) बल उत्पन्न कर, नहीं तो (अरसः असि) तू निःसत्व ही रहेगा। तथा यदि तू (एकादशः असि) ग्यारहवां है, तो (अपउदकः असि) तू प्राकृतिक जीवन रससे रहित है ॥ १—११ ॥

मनुष्यमें दस इंद्रियशक्तियां हैं। प्रत्येक इंद्रियमें बडी भारी वृषशक्ति, अथवा अश्वशक्ति भी कहिये, है। शरीरस्थ आत्मा इन सब शक्तियोंसे युक्त रहता है। आत्मा शरीरमें आनेके पश्चात् उसको उचित है कि वह अपना बल बढावें, यदि यह बल बढानेका प्रयत्न न करेगा, तो निःसंदेह इसका बल घटता जायगा। बल न घटे इसलिये इसको उचित है कि, वह अपना बल बढानेका यत्न करे। जिस समय यह ग्यारहवां शुद्ध आत्मा अर्थात् देहसे विरहित आत्मा होता है, उस समय उसके पास ये प्राकृतिक शक्तियां नहीं होती हैं। उस समय वह केवल आत्मिक शक्तिसे ही युक्त रहता है और वह अखंड शक्ति होती है, इसलिये उस समय उसमें घट बढ कुछ नहीं कहा जा सकता है।

स्त्रीके पातिव्रत्यकी रक्षा ।

[१७]

(ऋषिः—मयोभूः । देवता—ब्रह्मजाया)

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥
सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥ २ ॥

अर्थ— (अ-कू-पारः सलिलः) अगाध समुद्र, (मातरिश्वा) वायु (वीडुहराः) बलवान तेजवाला अग्नि, (उग्रं तपः) उग्र ताप देनेवाला सूर्य (मयो-भूः) सुख देनेवाला चन्द्र, (देवीः आपः) दिव्य जल, (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यका पहिला प्रवर्तक देव (ते प्रथमाः) ये पहिले देव भी (ब्रह्म किल्बिषे अवदन्) ब्राह्मणके संबंधमें पातक करनेवालेके विषयमें गवाही देते हैं ॥ १ ॥

(अहृणीयमानः प्रथमः सोमो राजा) क्रोध न करता हुआ पहिला सोम राजा (ब्रह्म जायां पुनः प्रायच्छत्) ब्राह्मणकी भार्याको पुनः वापस देने लगा। उस समय (वरुणः मित्रः अन्वर्तिता आसीत्) वरुण और मित्र ये साथ चलनेवाले थे और (होता अग्निः हस्तगृह्य निनाय) होता अग्नि हाथ पकड कर चलाता रहा ॥ २ ॥

भावार्थ- अग्नि, जलनिधि समुद्र, वायु, तेजस्वी सूर्य, सुख देनेवाला चन्द्रमा, तथा अन्य सब देव ब्राह्मणके संबंधमें पाप करनेवाले पापीके पापाचरणके विषयमें सत्य बात स्पष्ट कह देते हैं ॥ १ ॥

सोमने शान्तिके साथ ब्राह्मणकी स्त्रीको पुनः वापस दिया, वहां वरुण और मित्र उपस्थित थे और अग्निभी पाणिग्रहण के समय होता बना था ॥ २ ॥

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रह्येया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ ३ ॥
यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥४॥
ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५॥

अर्थ- (हस्तेन एव ग्राह्यः अस्याः आधिः) हाथसे ही ग्रहण किया जावे, ऐसा इसका आदेश है, (ब्रह्मजाया इति चेत् अवोचत) यदि यह ब्राह्मणकी पत्नी है ऐसा कहा जाय। (एषा दूताय प्रहेया न तस्थे) यह दूतके लिये लेजाने योग्य होकर नहीं ठहरती, (तथा क्षत्रियस्य गुपितं राष्ट्रं) वैसा ही क्षत्रियका सुरक्षित राष्ट्र होता है ॥ ३ ॥ (विकेशी एषा तारका इति) बंधन रहित यह तारका है ऐसा (ग्रामं अवपद्यमानां दुच्छुनां यां आहुः) जिस को ग्रामके ऊपर गिरनेवाली विपत्ति करके कहते हैं। इसी प्रकार (सा ब्रह्मजाया राष्ट्रं विदुनोति) वह ब्राह्मण स्त्री राष्ट्रको विशेष हिला देती है, (यत्र उल्कुषीमान् शश प्रअपादि) जहां उल्कायुक्त शशक गिरता है ॥४॥ (ब्रह्मचारी विषः वेविषत् चरति) ब्रह्मचारी प्रजाओंकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये (सः देवानां एकं अंगं भवति) वह देवोंका एक अंग बनता है। (तेन बृहस्पतिः जायां अन्वविन्दत्) उसके द्वारा बृहस्पतिने भार्या प्राप्त की (सोमेन नीतां जुह्वां न देवाः) जिस प्रकार सोमने लायी हुई चमस से हुत आहुती देव प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ-जो ब्राह्मणकी पत्नी कही जाती है वह पाणिग्रहण विधिसे ही विवाहित हुई होती है। यह किसीके दूतद्वारा भगाई जाने योग्य नहीं होती, इसकी सुरक्षासे क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित होता है ॥ ३॥ जिस प्रकार आकाशकी तारका और उल्का किसी ग्रामपर गिरती है और वह दुश्चिन्ह कहा जाता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मणस्त्री भगाई जाने पर राष्ट्रका नाश करती है ॥४॥ ब्रह्मचारी विद्या समाप्त करनेपर जनताकी सेवा करता हुआ जगत् में संचार करता है, इसलिये उसको देवतांश कहते हैं। यह उक्त अत्याचार का पता लगाता है, और जिसकी स्त्री उसके पास पहुंचाता है ॥५॥

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥
ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥
उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

अर्थ-(एतस्यां पूर्वे देवाः वै अवदन्त) इसके संबंधमें पूर्व देवोंने कहा है, तथा (ये तपसा निषेदुः सप्त ऋषयः) जो तप करनेके लिये बैठते हैं उन सप्त ऋषियोंने भी वैसाही कहा है। (ब्राह्मणस्य अपनीता जाया भीमा) ब्राह्मणकी भगाई पत्नी भयंकर होती है, उसे (परमे व्योमन् दुर्धां दधाति) परम धाममें भी दुःख देनेवाली वह है ऐसी धारणा करते हैं ॥ ६ ॥ (ये गर्भाः अवपद्यन्ते) जो गर्भ गिर पडते हैं, (जगत् यत् च अप लुप्यते) जो चलनेवाले प्राणी नाशको प्राप्त होते हैं, (ये वीराः मिथः तृह्यन्ते) जो वीर परस्पर लडते भिडते हैं, (तान् ब्रह्मजाया हिनस्ति) उनको ब्राह्मणकी भार्या मार डालती है ॥ ७ ॥ (उत् यत पूर्वे अब्राह्मणाः स्त्रियाः दश पतयः) और जो पहिले ब्राह्मणसे भिन्न स्त्रीके दस पति होते हैं, (ब्रह्मा चेत् हस्तं अग्रहीत्) ब्राह्मणने यदि उसका पाणिग्रहण किया, तो (स एव एकधा पतिः) वह उसका एकही पति होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ-तप करनेवाले ऋषि और सब देवता लोग इस विषयमें वारंवार कहते आये हैं कि, इस प्रकार भगाई गुरुपत्नी भयानक हानि करती है और दूसरे उच्च लोकोंमें भी बडी पीडा देती है ॥ ६ ॥

राष्ट्रमें जिस समय अकालमें बालकोंकी मृत्यु होती है और प्राणियोंका बहुत संहार होता है, और आपसमें वीर लोग एक दूसरेके सिर फोडने लगते हैं, तब समझना चाहिये कि यह परिमाम गुरुपत्नी के पूर्वोक्त कष्ट से ही हो रहा है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणसे भिन्न दस पति स्त्रीके होते हैं, परंतु जिस समय ब्राह्मण किसी स्त्रीका पाणिग्रहण करता है, उस समय उस स्त्रीका वही एक पति होता है, कदापि उस स्त्रीका दूसरा पति नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्योऽ३न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्याः अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥
पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १२ ॥

अर्थ— (ब्राह्मण एव पतिः न राजन्यः न वैश्यः) ब्राह्मणही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। (सूर्यः पञ्चभ्यः मानवेभ्यः तत् प्रब्रुवन् एति) सूर्य पांचों मनुष्योंको वह कहता हुआ चलता है ॥ ९ ॥ (देवाः वै पुनः अददुः) देवोंने पुनः दिया, (मनुष्याः पुनः अददुः) मनुष्योंने पुनः दिया है। (सत्यं गृह्णानाः राजानः) सत्यका पालन करने वाले राजालोगभी (ब्रह्मजायां पुनः ददुः) ब्राह्मणस्त्रीको पुनः देते हैं ॥ १० ॥ (देवैः निकिल्बिषं कृत्वा ब्रह्मजायं पुनर्दाय) देवोंने पापरहित करके ब्राह्मणस्त्रीको पुनः देकर (पृथिव्याः ऊर्जं भक्त्वा) पृथिवीके बलका विभाग करके (उरुगायं उपासते) बडी प्रशंसा करने योग्य देवताकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥ (यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्मजाया निरुध्यते) जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी स्त्री प्रतिबंधमें डाली जाती है। (अस्य शतवाही कल्याणी जाया तल्पं न आशये) उसकी सौ संतान उत्पन्न करनेवाली कल्याण कारिणी स्त्री भी बिस्तरेपर न सोवे ॥ १२ ॥

भावार्थ— ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, यह बात सूर्य ही पञ्चजनोंको कहता है ॥ ९ ॥ देव, मनुष्य और सत्यपालक राजा लोग गुरुपत्नीको सुरक्षित गुरुके प्रति पहुंचाते हैं ॥ १० ॥ जहां निष्पापतासे गुरुपत्नीको सुरक्षितता के साथ गुरुगृहके प्रति पंहुचाया जाता है, वहां भूमिका सत्व बढता है और यश फैलता है ॥ ११ ॥ परंतु जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीको प्रतिबंध होता है, उस राष्ट्रमें मानो कोई सुवासिनी स्त्री बिस्तरे पर सुरक्षित नहीं सो सकती ॥ १२ ॥

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १३ ॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १४ ॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १५ ॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १६ ॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या ॥ १७ ॥
नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

अर्थ-जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधमें पडती है (तस्मिन् वेश्मनि विकर्णः पृथुशिराः न जायते) उस घरमें विशेष सुननेवाला और बडे शिर वाला पुत्र उत्पन्न नहीं होता ॥ १३ ॥ जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधमें पडती है, (अस्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानां अग्रतः न एति) उस राष्ट्रका वीर सुवर्णालंकार गलेमें धारण करके लडकियोंके सन्मुख नहीं जाता है ॥१४॥ जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधमें पडी होती है (अस्य श्वेतः कृष्णकर्णः धुरि युक्तः न महीयते) उस राष्ट्रमें श्यामकर्ण श्वेतवर्ण का घोडा धुरामें युक्त होकर महत्त्वको प्राप्त नहीं होता ॥ १५ ॥ जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधित होती है (अस्य क्षेत्रे न पुष्करिणी) उसके क्षेत्रमें कमलोंवाले तलाव नहीं होते और (बिसं आण्डीकं न जायते) कमलको बीज भी नहीं होता ॥ १६ ॥ जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी स्त्री प्रतिबंधमें डाली जाती है, उस राष्ट्रमें (ये अस्याः दोहं उपासते) जो इसके दोहन के लिये बैठते हैं वे (अस्मै पृश्निं न दुहन्ति) इसके लिये गौ दुहते नहीं ॥ १७ ॥ (विजानिः ब्राह्मणः) स्त्रीरहित होकर ब्राह्मण (यत्र रात्रिं पापया वसति) जहां रात्रीमें पापबुद्धिसे रहता है, (अस्य) उसके राष्ट्रमें (न कल्याणी धेनुः) कल्याण करनेवाली धेनु नहीं

होती है और (न अनड्वान् धुरं सहते) न बैल धुराको सहता है ॥ १८॥

भावार्थ- जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नी का अपमान होता है उस राष्ट्रमें उत्तम पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकते॥ सुवर्णके आभूषण धारण करके कोई वीर बालिकाओंके साथ खेल नहीं सकता॥ श्यामकर्ण घोडेको कोई जोत नहीं सकता॥ कमलयुक्त तालाव प्रफुल्लित नहीं होते ॥ गौवें दूध नहीं देतीं ॥१३-१७॥

जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीकी मानहानि होती है और उस कारण धर्मपत्नी न होनेसे गुरु अकेला ही त्रस्त होकर क्रोधकी भावना मनमें धारण करके सोता है, उस राष्ट्रमें गौभी कल्याण नहीं करती और बैलभी कार्य करनेवाला नहीं होता है ॥ १८ ॥

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा ।

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा करनी चाहिये, यह उपदेश देनेके लिये यह सूक्त है। जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्य की रक्षा की जाती है, और सब पुरुष स्त्रीके चारित्र्यकी रक्षा करनेके लिये तत्पर रहते हैं उस राष्ट्रकी उन्नति होती है। परन्तु जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्य की रक्षा नहीं होती, वह राष्ट्र पतित होता है। सारांशसे इस सूक्तका यह उपदेश है।

इस सूक्तमें ब्राह्मणकी स्त्री क्षत्रियके द्वारा भगाई जानेसे राष्ट्रपर कितने अनर्थ गुजरते हैं, इसका वर्णन है। " वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। " अर्थात् सब वर्णोंको विद्यादान देनेवाला सबका अध्यापक अथवा " गुरु " ब्राह्मण है। इसलिये ब्राह्मणकी स्त्री सबकी " गुरुपत्नी " होती है। जिस प्रकार " ब्राह्मण " सब पुरुषोंको ज्ञानोपदेश देता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, उसी प्रकार " ब्राह्मणी " भी सब स्त्रियोंको धर्मका उपदेश करती हुई भ्रमण करती है। गुरुपत्नीका यह कर्तव्य ही है। यह कर्तव्य करनेके लिये जब गुरुपत्नी बाहर भ्रमण करती है तब उसके चारित्र्य का रक्षण सब लोग करें। कोई भी उसको प्रतिबन्ध न करें और न उसका किसी प्रकार अपमान करें।

जो गुरुपत्नीका अपमान करनेका साहस करेंगे, वे अन्यस्त्रियोंका अपमान करनेसे पीछे नहीं हटेंगे, यह भाव यहां है। वास्तवमें सभी स्त्रियोंके चारित्र्यकी रक्षा होनी चाहिये। क्योंकि इसी पर राष्ट्रका गौरव अवलंबित है। जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीका भी चारित्र्य अथवा पातिव्रत्य गुण्डोंके अत्याचारके कारण सुरक्षित नहीं रहता, वहांकी अन्य स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन ही क्या हो सकता है? इसलिये सब स्त्रियोंके चारित्र्यके उत्कर्षकी दृष्टिसेही इस सूक्तमें कहा है कि सब जनता गुरुपत्नीका अपमान न करें। यह सूक्त आकाशस्थ तारोंकी गतिपर रचा हुआ अलंकार है, इसका स्पष्टीकरण अब देखिये—

बृहस्पति और तारा।

आकाशमें बृहस्पति नामका एक सितारा है, जिसको 'गुरु' भी कहते हैं। यह प्रसिद्ध सितारा है, जो रात्रीके समय पाठक देख सकते हैं। आकाशस्थ अन्य नक्षत्रोंमें "तारा अथवा तारका" नामका एक नक्षत्र है, रूपकसे समझा जाता है कि यह 'गुरु' की 'धर्मपत्नी' है, अर्थात् बृहस्पति की यह भार्या है। यहां धर्मपत्नी कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि यह बृहस्पति इस नक्षत्रमें बहुत देरतक और इसके बहुत समीप रहता है। इसलिये इनकी आपसमें पतिपत्नीकी कल्पना की है। बृहस्पति का 'ब्रह्मणस्पति' भी दूसरा नाम वेदमें है। इसका अर्थ 'ज्ञानी गुरु' होनेसे इसका वर्ण ब्राह्मण माना गया, अर्थात् इसकी धर्मपत्नी होनेसे तारा भी " ब्राह्मणी, गुरुपत्नी अथवा ब्रह्मजाया, " कहलाती है। इस प्रकार यहां एक ब्राह्मण परिवार की कल्पना हुई। यह बृहस्पति देवोंका गुरु है और जब आकाशमें देवोंकी सभा रात्रीके समय लगती है, उस समय यह देव गुरू उसमें विराजते हैं और मानो, देवोंको सुयोग्य सलाह देते हैं।

इसी प्रकार राजा सोम भी देवसभामें उपस्थित होते हैं। इस समय ये एक क्षत्रिय राजा माने गये हैं। ये क्षत्रिय राजा अपनी राज्याधिकारकी धुंदमें अनेक तारागणोंसे संबंधित होते हैं अर्थात् अनेक स्त्रियोंसे संबंध करते हैं। इस अत्याचारके कारण उनको क्षयरोग होता है। इस अनाचारके कारण बिचारे राजासाहेब क्षीण होते जाते हैं, अमावास्याकी रात्रीमें तो इनकी हालत बहुत खराब होती है। उस समय कुछ उपचार के करनेपर शुक्लपक्षमें कुछ पुष्ट होने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें गुरुपत्नी तारा का दर्शन होता है और उसका दर्शन होते ही क्षयी राजाका मन चञ्चल हो जाता है। राजा अपने शासनाधिकारके कारण उन्मत्त होनेके कारण गुरुपत्नीका गौरव और आदर न करता हुआ, उसका धर्षण करता है। इस प्रकार स्त्रीके पातिव्रत्यका नाश करनेके कारण जो पाप होता है, उस पापके कारण राष्ट्रमें बडा क्षोभ होता है। और सब प्रजा त्रस्त होजाती है। जहां गुरुपत्नीका इस प्रकार अपमान होता है, वहां अन्य स्त्रियोंके पातिव्रत्यका क्या होता होगा, ऐसा विचार करके अत्याचारी राजाका निषेध उपस्थित ऋषि और सदस्य देव करने लगते हैं। राजा अपने घमंडमें आकर विरोधक ऋषियों और देवोंको दबानेका यत्न करता है; इससे प्रजामें अधिक क्षोभ होता है। तत्पश्चात् राजा सोम देखता है कि अपनी प्रजा प्रतिकूल होगई है और अपनेको राज्यसे पदच्युत करनेका विचार करती है, इसपर प्रजाको अधिक दबानेके लिये असुर सेनाकी सहायता

लेता है। और विदेशी असुर सेनासे अपनी प्रजाको दबानेकी चेष्टा करता है। इससे प्रजा अधिक क्षुब्ध होती है और बडी लडाई छिडती है। दोनों ओरका बहुत संहार होनेपर दोनों पक्षोंकी आपसमें कुछ सलाह होती है। इस संधिके अनुसार राजा सोम गुरुपत्नीको वापस करता है। उस समय वरुण और मित्र साथ रहते हैं और अग्नि मार्गदर्शक होता है। इस प्रकार चन्द्रमाको कलंक लग कर इस बुरे कर्मका फल उसको मिलता है।

इस समय सोम और तारा के संगमसे बुधकी उत्पत्ति होती है। तारा अग्नितापसे शुद्ध होकर फिर अपने घर पहुंचती है। इस प्रकारकी कथा बहुत पुराणोंमें है। इस विस्तृत कथाका कुछ मूल इस सूक्तमें दिखाई देता है। जिस प्रकार वृत्रकी कथा मेघ और सूर्य इस पर रूपकालंकार मानकर रची है, उसी प्रकार चंद्रमा, तारका, गुरु आदिके ऊपर यह बोधप्रद अलंकार रचा है। वेदमें इस प्रकारके अनेक अलंकार हैं। और उनसे अनेक प्रकारका बोध प्राप्त होता है।

यहां भी यह बोध मिलता है कि कोई राजा अपने अधिकारके मदसे उन्मत्त होकर स्त्रियोंपर अत्याचार न करे, यदि करेगा, तो उसको परमेश्वरके राज्यमें उसी प्रकार दण्ड मिलेगा जैसा कि सोम राजाको जन्मभर कलंकित होना पडा था। उसका अपमान हुआ, कलंकित होना पडा, रोगी होना पडा, राजविद्रोह हुआ, राष्ट्रमें बलवा होगया, और न जाने क्या क्या आपत्तियां आपडी होंगी। यदि इतने समर्थ सोम राजाकी यह अवस्था हुई, तो उसके बहुत छोटे पार्थिव राजाकी क्या अवस्था होगी। और यदि राजाकी ऐसी दुर्दशा होगई तो कोई प्रजाजन यदि ऐसा कुकर्म करेगा तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, ऐसा विचार मनमें लाकर हरएक पुरुषको स्त्रीके पातिव्रत्य की रक्षा करना उचित है। केवल गुरुपत्निके ही पातिव्रत्यकी रक्षा यहां अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत संपूर्ण स्त्रीजातिके पातिव्रत्यकी रक्षाका यहां उपदेश है। गुरुपत्नी यहां केवल उपलक्षण मात्र है।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंकी पातिव्रत्यरक्षा अच्छी प्रकार होती है और स्त्रीके इधर उधर सुखपूर्वक भ्रमण करनेमें स्त्रीको किसी प्रकार भी अपमानकी संभावना नहीं होती, वह राष्ट्र अत्यंत सुरक्षित होता है—

न दूताय प्रह्यो तस्थ एषा
राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ (मं० ३)

" यह स्त्री दूतको ले जाने योग्य नहीं होती, अर्थात् किसीका दूत इस प्रकार

भयानक कुकर्म करनेको जिस राष्ट्रमें साहस नहीं कर सकता, वह क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित रहता है।" अर्थात् जिस राष्ट्रमें स्त्रीके ऊपर अत्याचार होते हैं वह राष्ट्र किसी सज्जनके रहनेके लिये योग्य नहीं होता है।

"जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंपर अत्याचार होते हैं उस राष्ट्रमें गर्भपात भी होते हैं, प्राणी अकालमें मरते हैं, वीर लोग आपसमें लडते भिडते हैं" (मं० ७) इस लिये स्त्रियोंकी सुरक्षितता अवश्य होनी चाहिये।

क्षत्रिय वैश्योंमें नियोगके कारण और शूद्रोंमें पुनर्विवाहके कारण एकके पश्चात् दूसरा इस प्रकार दस तक पतियोंकी संख्या हो सकती है। परंतु ब्राह्मणोंके लिये तो न नियोगकी प्रथा और ना ही पुनर्विवाह की प्रथा उचित समझी जाती है, इसलिये ब्राह्मणीका ब्राह्मणके साथ एकबार विवाह हुआ तो उसका किसी भी कारण दूसरा पति नहीं हो सकता। क्यों कि ब्राह्मणोंको भोगमें फंसना नहीं चाहिये। इत्यादि विषय आठवें मंत्रमें देखने योग्य है। शेष मंत्रोंमें स्त्री पर अत्याचार करनेवाले राष्ट्रकी जो दुर्दशा होती है उसका वर्णन है। इस लिये उनके अधिक विचरणकी आवश्यकता नहीं है।

इस सूक्तमें कई प्रकारके बोध प्राप्त होते हैं। सबसे प्रथम लेनेयोग्य बोध यह है कि राजाको अपना आचरण बहुत ही निर्दोष रखना चाहिये। बहुत स्त्रियां करना और दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ कुकर्म करना बहुत ही बुरा है। बहुपत्नी व्यवहार करनेसे सबसे पहिला जो कष्ट होता है वह ब्रह्मचर्य नाश और वीर्यनाशके कारण क्षयरोग होनेकी संभावना है। शरीरमें जबतक भरपूर वीर्य रहता है तब तक क्षयरोग होही नहीं सकता। वीर्य दोष उत्पन्न होनेसे क्षयरोग होता है और अन्तमें उससे मृत्यु निश्चित है। राजाका आचार व्यवहार देखकर अन्य लोग उसी प्रकार आचार करते हैं, राजाओंके ऊपर यह बडी भारी जिम्मेवारी है। राजा बिगड जानेसे राष्ट्रके लोग बिगड जाते हैं और इस प्रकार राष्ट्रका नाश होता है। अतः बडे लोगोंको अपने आचार व्यवहार धर्मानुकूल ही करने चाहिये। राजाके पास जो अधिकार होता है उसकी घमंड करके अपने अधिकारका दुरुपयोग करना राजाको योग्य नहीं है। प्रजाके कल्याण का उद्योग करनेके लिये राजाके पास अधिकार दिया होता है। इस अधिकार का उपयोग अपने स्वार्थ भोग भोगनेके लिये करनेसे ही राजा दोषी होता है। इसलिये राजाको उचित है कि वह सदा समझे कि मेरा निरीक्षण करनेवाला परमेश्वर है, इसलिये मुझे कोई अकार्य करना योग्य नहीं है। इस प्रकार विचार करके राजा अपना आचार व्यवहार सुधारे और अपने योग्य प्रबंधसे संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार करे।

ब्राह्मणकी गौ ।

[१८]

(ऋषिः — मयोभूः । देवता—ब्रह्मगवी)

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

अर्थ— हे नृपते ! (ते देवाः एतां तुभ्यं अत्तवे न ददुः) उन देवोंने इस गौको तुम्हारे लिये खानेके अर्थ नहीं दिया है । हे (राजन्य) क्षत्रिय ! (ब्राह्मणस्य अनाद्यां गां मा जिघत्सः) ब्राह्मणकी न खाने योग्य गौको मत खा ॥ १ ॥

(अक्ष-द्रुग्धः पापः) जुआडी, पापी (आत्म-पराजितः राजन्यः) अपने कारण पराजित हुआ हुआ क्षत्रिय, (सः ब्राह्मणस्य गां अद्यात्) वह यदि ब्राह्मणकी गौको खावे, तो (अद्य जीवानि, मा श्वः) वह आज जीवे, कल नहीं ॥ २ ॥

भावार्थ—हे क्षत्रिय ! हे राजा ! यह सब तेरे ही उपभोगके लिये तुम्हारे पास देवोंने नहीं दिया है । ब्राह्मणकी भूमि, गाय आदि जो भी कुछ धन होगा वह बलसे हरण करना तुम्हें योग्य नहीं है ॥ १ ॥

जो जूएमें हरा हुआ, पापी, दुराचारी और आत्मघातकी क्षत्रिय होगा वही ब्राह्मणकी भूमि और गौ आदिका बलसे हरण करके भोग करेगा, इससे वह आज जीवित रहा होगा, तो कल भी जीवित रहेगा, इस विषयमें निश्चय नहीं है ॥ २ ॥

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥
निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥
य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ-हे (राजन्य) क्षत्रिय! (एषा ब्राह्मणस्य गौः अनाद्या) यह ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं है। क्योंकि (सा चर्मणा आविष्टिता) वह चर्मसे ढंकी (तृष्टा पृदाकूः इव अघविषा) प्यासी सांपिनके समान भयंकर विषसे भरी होती है ॥ ३ ॥

(यः ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते) जो क्षत्रिय ब्राह्मणको अपना अन्नही मानता है, (स तैमातस्य विषस्य पिबति) वह सांपका विषही पीता है। वह अपमानित ब्राह्मण (क्षत्रं वै निः नयति) क्षत्रियको निःशेष करता है, (वर्चः हन्ति) तेज नाश करता है, (आरब्धः अग्निः इव) आरंभ हुए प्रदीप्त अग्निके समान (सर्वं विदुनोति) सब नष्ट करता है ॥ ४ ॥

(यः देवपीयुः धनकामः) जो देवशत्रु धनलोभी (एनं मृदुं मन्यमानः न चित्तात् हन्ति) इस ब्राह्मणको कोमल मानता हुआ विना विचारे मारता है। (इन्द्रः तस्य हृदये अग्निं सं इन्धे) इन्द्र उसके हृदयमें अग्नि जला देता है (उभे नभसी चरन्तं एनं द्विष्टः) दोनों भूलोक और द्युलोक विचरते हुए इसका द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे क्षत्रिय! ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ तुम्हारे उपभोगके लिये नहीं है। मानो, चर्मसे ढंकी हुई, विषभरी, क्रोधी सांपिनके समान वह तुम्हारे लिये नाशक सिद्ध होगी ॥ ३ ॥ जो क्षत्रिय विद्वान ब्राह्मणको अपने भोगका विषय मानता है, वह मानो सांपका विषही पीता है। उस प्रकार अपमानित हुआ ब्राह्मण क्षत्रियका नाश करता है, उसका तेज नष्ट करता है, और जलती आगके समान सब राष्ट्रको हिला देता है ॥ ४ ॥ जो क्षत्रिय धनलोभसे देवोंका अन्नभाग स्वयं खाता है, और ब्राह्मणको निर्बल मानकर उसको कष्ट देता है, उसके हृदयमें अग्नि जलाकर इन्द्र उसका नाश करता है और सब द्यावापृथिवीके निवासी उसकी निन्दा करते हैं ॥ ५ ॥

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो३ऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥
शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते ॥ ७ ॥
जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

अर्थ- (प्रियतनोः अग्निः इव) प्रियतनुरूप अग्निके समान (ब्राह्मणः न हिंसितव्यः) ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करना चाहिये । (सोमः हि अस्य दायादः) सोम इसका संबंधी है और (इन्द्रः अस्य अभिशस्ति-पाः) इन्द्र इसका शापसे बचानेवाला है ॥ ६ ॥

(यः मल्वः ब्रह्मणां अन्नं) जो मलीन पुरुष ब्राह्मणोंका अन्न (स्वादु अद्मि इति मन्यते) स्वादसे खाता हूं ऐसा समझता है वह (शत-अपाष्ठां निगिरति) सैंकडों प्रकारकी दुर्गतिको प्राप्त होता है और (निःखिदन् तां न शक्नोति) उसको प्राप्त करके सहन नहीं कर सकता है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणकी (जिह्वा ज्या भवति) जीभ धनुषकी डोरी होती है। (वाक् कुल्मलं) वाणी धनुष्यका दण्डा होती है (तपसा अभिदिग्धाः दन्ताः नाडीकाः) तपसे तीक्ष्ण बने हुए दान्त बाणरूप होते हैं । (ब्रह्मा) ब्राह्मण (तेभिः देवजूतैः हृद्बलैः धनुर्भिः) उन देवसेवित आत्मबलके धनुष्योंसे (देव-पीयून् विध्यति) देव शत्रुओंपर आघात करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ- अग्निके समान ही ब्राह्मण है, जिसको छेडना उचित नहीं है । क्यों कि सोम उसका संबंधी और इन्द्र उसका रक्षक है ॥ ६ ॥

जो पापी क्षत्रिय ब्राह्मणका धन अपने भोगके लिये है ऐसा मानता है और उसका मैं उत्तम भोग करता हूं ऐसा समझता है, उसपर सैंकडों आपत्तियां आती हैं और उसका सामर्थ्य ही नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

उस समय ब्राह्मणकी जिह्वा दोरी, वाणी धनुष्य, और उसके तपसे युक्त दन्त बाण होते हैं । इन धनुष्योंसे वह ब्राह्मण देवतोंका अन्न खानेवालेका नाश करता है ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यांॾन सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥
ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवम् ॥ १० ॥
गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

अर्थ-(तीक्ष्ण-इषवः हेतिमन्तः ब्राह्मणाः) तीक्ष्ण बाणोंसे युक्त, अस्त्रोंसे युक्त ब्राह्मण (यां शरव्यां अस्यन्ति) जिस बाणप्रवाहको फेंकते हैं (न सा मृषा) वह मिथ्या नहीं होती है। (तपसा च उत मन्युना अनुहाय) तप के और क्रोधके साथ पीछा करके (एनं दूरात् अवभिन्दन्ति) इसको दूरसे ही भेद डालते हैं ॥ ९ ॥

(ये वैत-हव्याः सहस्रं अराजन्) जो देवोंका हव्य खानेवाले सहस्रों राजे होगये थे, (ये उत दशशताः आसन) और जो दस सौ थे, (ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) वे ब्राह्मणकी गौ खाकर (पराभवन्) पराभवको प्राप्त हुए ॥ १० ॥

(हन्यमाना गौ एव) कष्ट दी हुई गौने ही (तान् वैतहव्यान् अवातिरत्) उन देवतोंका अन्न खानेवालोंका विनाश किया है। (ये केसरप्रबन्धायाः चरम-अजां अपेचिरन्) जो केशोंकी रस्सीसे बांधी हुई अन्तिम अजाको भी पचाते हैं, हडप करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ— ये ब्राह्मण बडे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंवाले होते हैं, इसलिये उक्त अस्त्र ये जिसपर फेंकते हैं वे व्यर्थ नहीं होते। अपने तप और क्रोधसे पीछा करके दूरसेही ये उसका नाश करते हैं ॥ ९ ॥

देवतोंके उद्देश्यसे अलग रखा हुआ अन्न स्वयं भोग करनेवाले सहस्रों राजा लोग ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ हरण करके, उसका अपने लिये भोग करनेसे पराभूत होगये ॥ १० ॥

वह कष्टको प्राप्त हुई ब्राह्मणकी गायही उन देवतान्नभोजी क्षत्रियोंका नाश करनेके लिये कारण होती है ॥ ११ ॥

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

अर्थ-(ताः जनताः एक-शतं) वे जनताके लोग एकसौ एक थे (याः भूमिं व्यधूनुत) जिन्होंने भूमिको हिला दिया है। (ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) विना संभावनाके ही वे पराभव को प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

(देव-पीयुः गर-गीर्णः मर्त्येषु चरति) देवशत्रु जहर पीये मनुष्यके समान मनुष्योंके बीचमें घूमता है। और (अस्थि-भूयान् भवति) वह केवल हड्डी ही हड्डीवाला होता है। (यः देव-बन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) जो देवोंके बन्धुरूप ब्राह्मणको कष्ट देता है (सः पितृयाणं अपि लोकं न एति) वह पितृयाण लोकको भी नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

(अग्निः वै नः पदवायः) अग्नि ही हमारा मार्ग दर्शक है। (सोमः दायादः उच्यते) सोम संबंधी है, ऐसा कहा जाता है। (इन्द्रः अभिशस्ता हन्ता) इन्द्र यह शापदेनेवालेका नाशकर्ता है (तथा वेधसः तत् विदुः) इस प्रकार ज्ञानी यह बात जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ- सैकडों क्षत्रिय भूमिपर बडा पराक्रम करनेवाले होते हैं, परन्तु यदि उन्होंने ब्राह्मणोंको कष्ट देना शुरू किया तो वे सहजहीमें पराभूत होते हैं ॥ १२ ॥

देवोंका शत्रुरूप बनकर पृथ्वीपर संचार करनेवाला दुष्ट मनुष्य विष पीये अस्थिरूप मनुष्यके समान निर्बल होता है और जो देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है उसको पितृलोक भी नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

सब ज्ञानी जानते हैं कि अग्नि हमारा मार्गदर्शक, सोम हमारा संबंधी, और इन्द्र हमारा रक्षक है ॥ १४ ॥

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥

अर्थ- हे नृपते ! हे गोपते ! (दिग्धा इषुः इव) विषभरे बाणके समान, (पृदाकुः इव) सांपके समान, (सा ब्राह्मणस्य घोरा इषुः) वह ब्राह्मणका भयंकर बाण (तया पीयतः विध्यति) उससे हिंसकका वेध करता है॥ १५ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तू स्मरणमें धर कि विषयुक्त बाणके समान और सांपके समान ब्राह्मणका भयंकर बाण हिंसकका अवश्य नाश करता है ॥१५॥

ब्राह्मणकी गौ ।

"गौ" शब्दका अर्थ "वाणी, भूमि, गाय, इन्द्रिय, प्रकाश" आदि है। अर्थात् "ब्रह्मगवी" का अर्थ "ब्राह्मणकी वाणी, भूमि, गाय" आदि होता है। यही ब्राह्मणकी संपत्ति होती है। ब्राह्मण शम, दम, तप युक्त कर्म करता है, इसलिये शान्तवृत्तिवाला होता है, अतः उग्रवृत्तिवाले क्षत्रिय अशक्त ब्राह्मणको लूटमार कर उसकी संपत्ति हराकर उस धनसे अपना भोग बढा सकते हैं। परंतु ब्राह्मण तपस्वी और अध्यापन करनेवाला होनेके कारण यदि वह इस प्रकार दुःखी हुआ तो राष्ट्रमें अध्ययन अध्यापन बंद होजाता है और उस कारण अन्तमें सब राष्ट्रका ही नाश होता है। इस प्रकार ब्राह्मणके कष्ट राजाका नाश करनेके लिये कारण होते हैं।

"ब्राह्मणस्य गौ अनाद्या" (ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं) ऐसा इस सूक्तमें वारंवार कहा है। कई लोग इस वाक्यसे "क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी गौ खाने योग्य है ऐसा अर्थ करते हैं और ब्राह्मण की गौ कोई नहीं खाता था, परंतु अन्य वर्णोंकी गौ लोग खाते थे," ऐसा अनर्थकारक अनुमान निकालते हैं। इसलिये इस विषयमें अवश्य विचार करना चाहिये। क्यों कि "गौ अघ्न्या" है ऐसा वेदमें सर्वत्र कहा है, उसके विरुद्ध इस सूक्तमें गौ खानेका उल्लेख कैसा आगया है। इसलिये यह बात अवश्य विचार करने योग्य है। इस सूक्तका आशय देखनेके लिये निम्नलिखित वचन सबसे प्रथम देखिये—

यो ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते, स विषस्य पिबति । (मं० ४)

" जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह मानो, विषही पीता है।" इस मंत्रमें उग्र क्षत्रिय नरम स्वभाववाले ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है ऐसा कहा है। इससे ब्राह्मणके टुकडे करके क्षत्रिय खाते थे यह भाव लेना उचित नहीं है, क्षत्रिय नरमांस

भोजी कदापि नहीं थे। फिर जो क्षत्रिय कदापि नरमांस नहीं खाते वे ब्राह्मणको ही अपना अन्न कैसा मान सकते हैं, इस शंकाको दूर करनेके लिये निम्नलिखित मंत्रका भाग देखिये। —

> यो मत्यः ब्राह्मणं अन्नं स्वादु अद्मि इति मन्यते।
> स शतापाष्ठां गिरति। (मं० ७)

" जो मलीन क्षत्रिय ब्राह्मणोंका अन्न सुखसे मैं भोगता हूं, ऐसा मानता है वह सेंकडों विपत्तियोंमें गिरता है। " यहां ब्राह्मणका अन्न लूट मारकर क्षत्रिय खावे, तो उसकी बडी दुर्गति होती है ऐसा कहा है। "ब्राह्मणको अन्न माननेका अर्थ" यह है कि ब्राह्मणके पासके सब उपभोगके पदार्थ लूटकर अथवा जबरदस्तीसे छीन कर, उनका उपभोग करना। हैहयवंशी क्षत्रियोंने ऐसा ही किया था। वे क्षत्रिय ब्राह्मणोंके आश्रम लूटते थे और अपने भोग बढाते थे, इस कारण परशुरामने उनका नाश करके पुनः धर्मका नियम शुरू किया। इस सूक्तमें भी वीतहव्य नामक राजाओंका पराभव ब्राह्मणोंको पीडा देनेसे हुआ ऐसा कहा है। वसिष्ठ ऋषिको इसी प्रकार विश्वामित्रने कष्ट दिये थे। इस सबका तात्पर्य ब्राह्मणका मांस खानेसे नहीं है, अपितु ब्राह्मणकी संपत्ति, गौवें, भूमि, तथा अन्य समृद्धि लूटना और उसका उपभोग स्वयं करना यही है।

ब्राह्मणके पासका धन यज्ञयाग और विद्यावृद्धिके लिये होता है, यदि वह धन लूटा जावे, तो यज्ञ नहीं होंगे और विद्याका नाश होगा। इससे अन्तमें सब जनताका नाश होगा। ब्राह्मणोंकी वाणीको प्रतिबंध करना, उनकी संपत्ति लूटना, गौ चुराना अथवा बलसे हरण करना, और अन्यान्य प्रकार ब्राह्मणोंके आश्रमोंको कष्ट देना अन्तमें राज्यका नाश होनेके लिये कारण होता है; ब्राह्मणको अन्न माननेका यह अर्थ है। इसी प्रकार ब्राह्मणकी गाय हरण करना और उसका दूध आदि स्वयं पीना, उसकी भूमि हरण करके उस भूमिका धान्य स्वयं खाना, इत्यादि प्रकार हानिकारक हैं यह भाव यहां है। ब्राह्मण जनताको विद्या देते हैं, जनताके रोगोंकी चिकित्सा करते हैं, धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, इसलिये जनताका प्रेम ब्राह्मणोंपर होता है, और जो क्षत्रिय ब्राह्मणोंको कष्ट देता है उसको जनता राज्य भ्रष्ट कर देती है। वेदमें 'गौ'शब्द "गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, गौके दूधसे और घीसे बनी सब प्रकारकी मिठाई, गोचर्म, गायके सींग, और गौ" इतने पदार्थोंका वाचक है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यहां "क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मण की गौका खाना" ब्राह्मणकी गौ आदि सब संपत्ति हडप करना ही है। सब सूक्तका आशय ध्यानमें लानेसे यही आशय स्पष्ट प्रतीत होता है।

ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा असंभव्यं पराभवन्। (मं० १२)
ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। (मं० १०)
यो देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति स पितृयानं लोकं न एति।(मं० १३)

" ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देनेसे सहज पराभव होता है। ब्राह्मणकी गौ हडप करनेसे वीतहव्य क्षत्रिय पराभूत हुए। जो क्षत्रिय ब्राह्मणको कष्ट देता है वह पितृलोकको भी प्राप्त नहीं होता है।" इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणोंको कष्ट देना, उनको लूटना, उनके धर्म, कर्म चलानेमें रुकावटें उत्पन्न करना, राजाके लिये अनिष्ट है, यह बात यहां कही है। यहां ब्राह्मणको खाने अथवा उसकी गौको खानेका आशय बिलकुल नहीं है।

इसके अतिरिक्त " खानेका " अर्थ कई प्रकारसे होता है। 'वह ओहदेदार पैसा खाता है,' इस वाक्यका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अन्न न खाते हुए रुपये आने और पाई खाकर हजम करता है। परंतु इसका अर्थ इतनाही है कि अयोग्य रीतिसे वह धन कमाता है। यही अर्थ संस्कृतमें भी है। ब्राह्मणको खानेका अर्थ ब्राह्मणकी धन दौलत लूटना और उसका स्वयं उपभोग करना। आजकल कहते हैं अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि राजा मनुष्योंका मांस खाता है, अपितु राजा प्रजाको सताता है यह इसका अर्थ है। शतपथमें—

तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। श० प० ब्रा० १३।२।९।७

" अनियंत्रित राजा प्रजाके लिये घातक है।" यहां जो प्रजाका घात वर्णन किया है वह केवल प्रजाका काटना नहीं; अपितु प्रजाकी उन्नतिमें बाधा डालना है। इस सब वर्णनसे इस सूक्तका आशय ध्यानमें आसकता है।

राजाका कर्तव्य।

राजाका कर्तव्य है कि वह ज्ञानियोंको विद्यादान करनेमें, वैश्योंको व्यापार करनेमें, शूद्रोंको अपना कारीगरीके व्यवहार करनेमें उत्तेजना दें। अपने पास शक्ति है इस लिये निर्बलोंपर अत्याचार स्वयं न करे और ऐसा राज्यशासन करे कि जिससे सबकी उन्नति यथायोग्य रीतिसे होसके। जिस राज्यमें शमदम और तप करनेवाले ब्राह्मणोंपर अत्याचार होते हैं वहां अन्योंकी सुरक्षितता कहां रहेगी ?

पाठक पूर्व सूक्तके साथही इस सूक्तको पढें और उचित बोध प्राप्त करें। आगामी सूक्त भी इसी आशयका है।

*

ब्राह्मणको कष्ट ।

[१९]

(ऋषिः— मयोभूः । देवता-ब्रह्मगवी.)

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥
ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥
ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥ ३ ॥

अर्थ- (सृञ्जयाः) हमला करके जय प्राप्त करनेवाले वीर (अतिमात्रं अवर्धन्त) अत्यन्त बढे, (न दिवं इव उत्स्पृशन्) इतने की द्युलोकको जैसा उन्होंने स्पर्श किया । परंतु वे (वैत—हव्याः) देवोंका अन्न स्वयं भोगने लगे तब (भृगुं हिंसित्वा) भृगुऋषिकी हिंसा करके (पराभवन्) पराभूत होगये ॥ १ ॥ (ये जनाः बृहत्सामानं) जो लोग बडे साम गायक (आंगिरसं ब्राह्मणं आर्पयन्) आंगिरस ब्राह्मणको सताते रहे, (तेषां तोकानि) उनके संतानोंको (पेत्वः अविः) हिंसक (उभयादं आवयत्) दोनों दांतोंके बीचमें रगडता रहा ॥ २ ॥ (ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्) जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, (ये वा अस्मिन् शुल्कं ईषिरे) अथवा जो इससे धन छीनना चाहते हैं, (ते अस्नः कुल्यायाः मध्ये) वे रुधिर की नदीके बीचमें (केशान् खादन्त आसते) केशोंको खाते हुए बैठते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विजयी सृंजय क्षत्रिय बहुत बढ गये थे, परंतु जब वे ब्राह्मणोंको सताने लगे और देवोंके लिये दिया हव्य स्वयं भोगने लगे, तब राज्यभ्रष्ट होगये ॥ १ ॥

जिन्होंने सामगायक आंगिरस ब्राह्मणको सताया था, उनके बालबच्चों को हिंसक पशुओंने दांतोंसे पीसा था ॥ २ ॥

जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, और उससे धन छीनते हैं, वे रुधिरकी नदीमें बालोंको खाते रहते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥
क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते ।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥
उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥
अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥

अर्थ— (सा पच्यमाना ब्रह्मगवी) वह हडप की गई ब्राह्मणकी गौ (यावत् अभि विजङ्गहे) जिस कारण तडफती रहती है, उस कारण उस (राष्ट्रस्य तेजः निर्हन्ति) राष्ट्रका तेज मारा जाता है और वहां (वृषा वीरः न जायते) बलवान वीर भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ ४ ॥ (अस्याः आशसनं क्रूरं) इसको कष्ट देना बडा क्रूरताका कार्य है, (पिशितं तृष्टं अस्यते) मांस तो तृषा बढानेवाला होनेके कारण फेंकने योग्य है । (यत् अस्याः क्षीरं पीयते) जो इस ब्राह्मणकी गौका दूध पीया जाता है (तत् वै पितृषु किल्बिषं) वह निःसंदेह पितरोंमें पाप कहा जाता है ॥५ ॥ (यः राजा उग्रः मन्यमानः) जो राजा अपने आपको उग्र मानता हुआ (ब्राह्मणं जिघत्सति) ब्राह्मणको सताता है, (तत् राष्ट्रं परासिच्यते) वह राष्ट्र बहुत गिर जाता है (यत्र ब्राह्मणः जीयते) जहां ब्राह्मणको कष्ट पंहुचता है ॥ ६ ॥

(अष्टापदी चतुरक्षी) आठ पांववाली, चार आंखोंवाली, (चतुः श्रोत्रा चतुर्हनुः) चार कानोंवाली और चार हनुवाली (द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा) दो मुखवाली और दो जिह्वावाली होकर (ब्रह्मज्यस्य राष्ट्रं सा अवधूनुते) ब्राह्मणको सतानेवाले राजाके राष्ट्रको वह हिला देती है ॥ ७ ॥

भावार्थ-जो ब्राह्मणकी गाय हडप करता है उस क्षत्रियके राष्ट्रका तेज नष्ट होता है और उसमें बलवान वीर नहीं उत्पन्न होते ॥४॥ गायको कष्ट देना बडी क्रूरताका कार्य है । दूसरेकी गायका दूध पीना भी विषके समान ही है ॥ ५ ॥ अपने आपको बलवान मानता हुआ जो राजा ब्राह्मणको सताता है, उसका राष्ट्र गिर जाता है ॥ ६ ॥ ब्राह्मणकी गाय दुखी होनेपर

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥
तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥
विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥
नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

अर्थ- (यत्र ब्राह्मणं हिंसन्ति) जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचाते हैं (तत् राष्ट्रं दुच्छुना हन्ति) वह राष्ट्र विपत्तिसे मरता है। और (तत् वै राष्ट्रं) वह राष्ट्रको (आ स्रवति) गिरा देता है (उदकं भिन्नां नावं इव) जैसा जल टूटी हुई नौकाको बहा देती है ॥ ८ ॥ (नः छायां मा उपगाः इति) हमारी छायामें यह न आवे, इस इच्छासे (तं वृक्षाः अपसेधन्ति) उसको वृक्ष दूर हटा देते हैं। हे नारद ! (यः ब्राह्मणस्य धनं सत् अभिमन्यते) जो ब्राह्मणका धन मनमें अपना मानता है ॥ ९ ॥ (राजा वरुणः अब्रवीत्) वरुण राजाने कहा है कि (एतत् देवकृतं विषं) यह देवोंका बनाया विष है। (ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) ब्राह्मणकी गायको हडप कर (कश्चन राष्ट्रे न जागार) कोई भी राष्ट्रमें नहीं जागता है ॥ १० ॥ (याः नव नवतयः) जो निन्यानवे प्रकारकी प्रजाएं हैं (ताः भूमिः एव वि अधूनुत) उनको भूमिने ही हटा दिया है। वे (कल्याणीं ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) कल्याण करनेवाली ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) असंभवनीय रीतिसे पराभूत हुए ॥ ११ ॥

हिंसुलित मारक, बाँस आदिसे युक्त होकर उसके राष्ट्रका नाश करती है ॥७॥ जहां ब्राह्मण सताया जाता है वह राष्ट्र विपत्तिमें गिरता है। टूटी नौका के समान वह बीचमें ही डूब जाता है ॥ ८ ॥ जो ब्राह्मणका धन हडपता है उसको वृक्षभी अपनी छायामें आने नहीं देते ॥९॥ राजा वरुण ने कहा है कि ब्राह्मणकी गौको हडप करना विष पीनेके समान घातक है, इसको स्वीकार करने से कोईभी जीवित नहीं रह सकता ॥१०॥

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥
अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥
येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥
न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

अर्थ-(यां पदयोपनीं कूद्यं) जिस पादचिन्ह हटानेवाली कांटोंवाली झाडू को (मृताय अनुबध्नन्ति) मृतके साथ बांधते हैं, हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (देवाः तत् ते उपस्तरणं अब्रुवन्) देवोंने कहा है कि वह तेरा बिस्तर है ॥ १२ ॥ हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (यानि अश्रूणि) जो आंसू (कृपमाणस्य जीतस्य वावृतुः) निर्बल और जीते गये मनुष्यके बहते हैं। (देवाः तं वै ते अपां भागं अधारयन्) देवोंने उसको ही तेरा जलका भाग निश्चय किया है ॥ १३ ॥ हे (ब्रह्मज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (येन मृतं स्नपयन्ति) जिससे प्रेतको स्नान कराते हैं, (येन श्मश्रूणि च उन्दते) जिससे मोंछ दाढीके बाल गीले करते हैं (तं वै देवाः ते अपां भागं अधारयन्) उसको ही देवोंने तेरा जलभाग निश्चय किया है ॥ १४ ॥ (मैत्रावरुणं वर्षं) मित्रावरुणसे प्राप्त होनेवाली वृष्टि (ब्रह्मज्यं न अभिवर्षति) ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके ऊपर नहीं गिरती। और (अस्मै समितिः न कल्पते) इसको सभा सहमति नहीं देती (न मित्रं वशं नयते) और न मित्र वशमें रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ- निन्यानवे वीर जिन्होंने सब भूमिपर विजय प्राप्त किया था, वे जब ब्राह्मणोंको सताने लगे तब वे परास्त होगये ॥११ ॥ कांटेकी झाडू जो स्मशान झाडनेके लिये काम आती है, उसपर वह मनुष्य सोता है कि जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १२ ॥ निर्बल होनेके कारण पराजित हुए मनुष्यके आंखमें जो आंसू आते हैं, उस आसुओंका जल उसको पीनेके लिये दिया जाता है, जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— जिस जलसे मुर्देको स्नान कराते हैं और जो जल हजामत करनेके समय दाढी मोंछ भिगोनेके काम आता है, वह जल उसको मिलता है, कि जो ब्राह्मणको कष्ट देता है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके राष्ट्रपर अच्छी वृष्टि नहीं होती, राष्ट्रसभा वैसे राजाके लिये अनुकूल नहीं होती, और वैसे क्षत्रियको कोई मित्र नहीं रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानीका कष्ट।

ज्ञानी मनुष्यको दिया हुआ कष्ट राज्यका नाश करता है। जिस राज्य शासनमें ज्ञानी सज्जनोंको कष्ट भोगने पडते हैं वह राज्यशासन नष्ट हो जाता है। जिस राज्य शासनमें ज्ञानी लोगोंकी वाणीपर प्रतिबंध डाला जाता है, उनको उत्तम उपदेश देनेसे रोका जाता है, जहां सुविज्ञ ज्ञानी पुरुषोंकी धनसंपत्ति सुरक्षित नहीं होती, जहां अन्य प्रकारसे ज्ञानी सज्जनोंको क्लेश पहुंचते हैं, वह राष्ट्र अधोगतिको प्राप्त होता है।

यह आशय इस सूक्तका है। राष्ट्रमें ज्ञानकी और ज्ञानी की पूजा होती रहे। क्यों कि ज्ञानोपदेशसे ही राष्ट्रका सच्चा कल्याण हो सकता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके लोग ज्ञानीका सत्कार करें और अपनी उन्नतिके भागी बनें।

अन्त्येष्टीकी कुछ बातें।

इस सूक्तका विचार करनेसे कुछ बातोंका पता लगता है, देखिये—

(१) मृतं स्नपयन्ति— मृत मनुष्यके शवको स्नान डालते हैं।

(२) मृताय पदयोपनीं कूद्यं अनुबध्नन्ति— मृतके लिये पांवका चिन्ह मिटाने वाली झाडू अथवा किसी अन्य चीजको बांधते हैं। (इसमें 'कूद्य' का अर्थ ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है। यह खोजका विषय है)

हजामत।

(३) श्मश्रूणि उन्दन्ते-हजामत बनवानेके समय बाल भिगोये जाते हैं।

इस सूक्तके कुछ शब्दोंका ठीक ठीक भाव समझमें नहीं आता है, इस कारण भी इसका विवरण संदिग्ध होता है। इस संबंधमें अधिक विचार पाठक करें।

दुन्दुभीका घोष।

[२०]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता=वानस्पत्यो दुंदुभिः)

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव ।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित् ।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

अर्थ—(उच्चैर्घोषः सत्व-नायन्) जिसका ऊंचा शब्द है और जो बल बढाता है, उस प्रकारका (वानस्पत्यः दुन्दुभिः) वनस्पतिसे बना हुआ दुन्दुभी (उस्रियाभिः संभृतः) गोचर्मोंसे वेष्टित (वाचं क्षुणुवानः) शब्द करता हुआ, (सपत्नान् दमयन्) शत्रुओंको दबाता हुआ और (सिंह इव जेष्यन्) सिंहके समान विजय चाहता हुआ यह ढोल (अभिसंस्तनीहि) गर्जता रहे ॥ १ ॥

तू (द्रुवयः विबद्धः) वृक्षसे निर्माण हुआ और विशेष प्रकार बांधा हुआ (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान गर्जता है। (वासितां वृषभः अभिक्रन्दन् इव) गौके लिये जैसा बैल गर्जता है। (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते सपत्नाः वध्रयः) तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभिमातिषाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूथे गव्यन् वृषा इव) गौवोंके समूहमें गौकी कामना करनेवाले सांडके समान तू (सहसा संधनाजित्) बलसे विजय प्राप्त करनेवाला, और (विदानः) जाना हुआ (अभिरुव) गर्जना कर। (परेषां हृदयं शुचा विध्य) शत्रुओंका हृदय शोकसे युक्त कर। (शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यन्तु) शत्रु गांवोंको छोडकर गिरते हुए भाग जावें ॥ ३ ॥

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥
दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥
पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥
अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥
धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।

अर्थ-हे दुन्दुभे! (ऊर्ध्व-मायुः पृतनाः संजनयन्) ऊंचा शब्द करनेवाला, शत्रुसेनाओंको पराजित करता हुआ (गृह्याः गृणानः बहुधा विचक्ष्व) ग्रहण करने योग्योंको लेनेवाला तू बहुत प्रकार देख। (दैवीं वाचं आ गुरस्व) दिव्य शब्द उच्चारण कर। (वेधाः शत्रूणां वेदः आभरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके धन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्तीं) दुन्दुभीका स्पष्ट बोला हुआ (वाचं आशृण्वती घोषबुद्धा) शब्द सुननेवाली और गर्जनासे जागी हुई (भीता नाथिता आमित्री नारी) डरी हुई दुखी शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे वीरोंके पुत्रको (हस्तगृह्य धावतु) हाथ पकडकर भाग जावे ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे! (पूर्वः वाचं प्रवदासि) सबसे पहिले तू शब्द करता है। (भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशता हुआ तू शब्द कर। हे ढोल! (अमित्रसेनां अभिजञ्जभानः) शत्रुसेनाका नाश करता हुआ तू (द्युमत् सूनृतावत् वद) प्रकाशरीतिसे सत्य बोल ॥ ६ ॥

(इमे नभसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें तेरा घोष होवे। (ते ध्वनयः शीभं पृथक् यन्तु) तेरे ध्वनि शीघ्र चारों दिशाओंमें फैलें। (उत्पिपानः श्लोककृत्) बढनेवाला और यश करनेवाला (मित्रतूर्याय स्वर्धी) मित्रहितके लिये संपन्न होता हुआ (अभिक्रन्द, स्तनय) शब्द कर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

(धीभिः कृतः वाचं प्रवदाति) बुद्धिके द्वारा बनाया हुआ ढोल शब्द

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥
यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥५॥
यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥
परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥
यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।
तैरमित्रांस्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

अर्थ-(यथा आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते)जिस प्रकार वनके मृग मनुष्यसे डरकर भागते हैं, (एवा त्वं अमित्रान् अभिक्रन्द) इस प्रकार तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे और (अथो चित्तानि मोहय) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा अजावयः वृकात् बहु बिभ्यतीः धावन्ति)जिस प्रकार भेड बकरियां भेडियेसे बहुत डरती हुई भाग जाती हैं,उस प्रकार हे दुंदुभी! तू शत्रुओं-पर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा पतत्रिणः श्येनात् संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं, और (यथा स्तनयोः सिंहस्य अहः-दिवि) जिस प्रकार गर्जने वाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं, उस प्रकार हे दुन्दुभि! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

(ये संग्रामस्य ईशते) जो युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवाः) सब देव (हरिणस्य अजिनेन दुन्दुभिना च) हरिणके चर्मसे बने हुए नगाडेसेही (अमित्रान् परा अतित्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७ ॥

(इन्द्रः यैः पद्-घोषैः) इन्द्र जिन पादघोषोंसे और (छायया सह) छायारूप सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है,(तैः नः अमीः अमित्राः त्रसन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको त्रास होवे कि (ये अनीकशः यन्ति) जो सेनाकी पंक्तियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

ज्वर निवारण।

[२२]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः । देवता-तक्मनाशनः)

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥
अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥
यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ॥ ३ ॥

अर्थ— अग्नि, सोम, ग्रावा, वरुण, पूतदक्षाः वेदि, ये पवित्र बलवाले देव और वेदी (बर्हिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप्त समिधाएं, (इतः तक्मानं अप बाधतां) यहांसे ज्वरादि रोगको दूर करें। (अमुया द्वेषांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अयं यः विश्वान् हरितान् कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है। (अग्निः इव उच्छोचयन् अभि दुन्वन्) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (अध हि अरसः भूयाः) और तू नीरस हो जा। (अधा न्यङ् अधराङ् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर होजा॥ २ ॥

(यः पुरुषः पारुषेयः) जो पर्वपर्वमें होता है और जो पर्वदोषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अवध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है। हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकारके सामर्थ्यवाले ! (तक्मानं अधराञ्चं परासुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ- यज्ञसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥

ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वीर्य बनाता है, इस कारण यज्ञसे ज्वर हटता है ॥ २ ॥

ज्वरसे पर्व पर्वमें दर्द होती है, इस लिये ऐसे ज्वरको दूर हटाना चाहिये ॥ ३ ॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥
आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥
एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥
॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (ज्या-घोषाः दुन्दुभयः) धनुष्यकी डोरीके शब्द के साथ [illegible] (याः दिशः अभिक्रोशन्तु) जो दिशाएं हैं उनमें शब्द करें। जिस (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी संघशः पराजित [illegible] सेना भाग जावे ॥ ९ ॥ हे (आदित्य) सूर्य ! (चक्षुः आदत्स्व) शत्रु[illegible] दृष्टि हर ले। (मरीचयः अनुधावत) प्रकाश किरण हमारें अनुकूल दौड़[illegible] (बाहुवीर्ये विगते) बाहु वीर्य कम होनेपर (पत्-संगिनीः आ सजन्तु) पांवोंको बांधनेकी रसियां शत्रुओंके पांवमें बांधी जावें ॥ १० ॥ (पृश्नि-मातरः उग्राः मरुतः) हे भूमिको माता माननेवाले,शूर,मरनेके लिये सि[illegible] हुए वीरो! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत) इन्द्र अर्थात् शूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार डालो। सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन्द्र ये सब शूरोंको सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥ (एताः देवसेनाः सूर्य-केतवः) ये दिव्य सेनाएं सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवाली (सचेतसः) उत्तम चित्तसे युक्त होकर (नः अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका परा-भव करें। विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगारा।

ये दोनों सूक्त नगारेका वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

आर्योंका ध्वज। बारहवे मंत्रमें सूर्य चिन्हयुक्तकेतुका वर्णन है। यह वर्णन देखनेसे आर्योंका ध्वज सूर्य चिन्हयुक्त था यह बात स्पष्ट होजाती है।

ज्वर निवारण।

[२२]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः । देवता—तक्मनाशनः)

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥
अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥
यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ॥ ३ ॥

अर्थ— अग्नि, सोम, ग्रावा, वरुण, पूतदक्षाः वेदि, ये पवित्र बलवाले देव और वेदी (बर्हिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप्त समिधाएं, (इतः तक्मानं अप बाधतां) यहांसे ज्वरादि रोगको दूर करें। (अमुया द्वेषांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अयं यः विश्वान् हरितान् कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है। (अग्निः इव उच्छोचयन् अभि दुन्वन्) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (अध हि अरसः भूयाः) और तू नीरस हो जा। (अधा न्यङ् अधराङ् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर होजा ॥ २ ॥

(यः पुरुषः पारुषेयः) जो पर्वपर्वमें होता है और जो पर्वदोषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अवध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है। हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकारके सामर्थ्यवाले ! (तक्मानं अधराञ्चं परासुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ- यज्ञसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥

ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वीर्य बनाता है, इस कारण यज्ञसे ज्वर हटता है ॥ २ ॥

ज्वरसे पर्व पर्वमें दर्द होती है, इस लिये ऐसे ज्वरको दूर हटाना चाहिये ॥ ३ ॥

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥
येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥
हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥
अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

अर्थ-(सूर्यः उत पुरस्तात् एति) सूर्य आगेसे चलता है वह (विश्वदृष्ट अदृष्ट-हा) सबको जो प्रत्यक्ष है और जो न दीखनेवाले कृमियोंका भी नाश करनेवाला है, वह (दृष्टान् च अदृष्टान् च सर्वान् क्रिमीन्) दीखने वाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंको (घ्नन् प्रमृणन्) नाश करता है और कुचल डालता है ॥६॥ (येवाषासः कष्कषासः) येवाष, कष्कष, (एजत्काः शिपवित्नुकाः) एजत्क और शिपवित्नुक ये क्रिमी हैं । (दृष्टः क्रिमिः हन्य तां) दीखनेवाले क्रिमीको मारा जाय और (उत अदृष्टः च हन्यतां) और न दीखनेवाला भी मारा जाय ॥ ७ ॥ (क्रिमीणां येवाषः हतः) क्रिमियों मेंसे येवाष नामक क्रिमी मारा गया। (उत नदनिमा हतः) और नाद करनेवालाभी मरगया, । (सर्वान् मष्मषा नि अकरं) सबको मसल मसलकर नष्ट किया (दृषदा खल्वां इव) जिस प्रकार पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ ८ ॥ (त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं) तीन शिरोंवाले, तीन कुदानवाले (सारङ्गं अर्जुनं क्रिमिं) चित्रविचित्र रंगवाले और श्वेत रंगवाले क्रिमीको (शृणामि) मैं मारता हूं । (अस्य पृष्टीः अपि) इस की पसुलियों को भी तोडता हूं और (यत् शिरः वृश्चामि) जो सिर है उसको कुचलता हूं ॥ ९॥ हे (क्रिमयः) जंतुओं ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व जमदग्निके समान (वः हन्मि) तुमको मारता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिके ज्ञानसे (क्रिमीन् संपिनष्मि) रोगके क्रिमियोंको

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥
हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

पीसता हूं ॥ १० ॥

(क्रिमीणां राजा हतः) रोगक्रिमियोंका राजा मारा गया, (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति मारा गया। और (हत-माता हत-भ्राता) जिसके माता और भाई मारे गये हैं तथा (हत-स्वसा क्रिमिः हतः) जिसकी वहिन मारी गई है ऐसा क्रिमी भी मारा गया ॥ ११ ॥

(अस्य वेशसः हतासः) इसके घरवाले मारे गये, (परिवेशसः हतासः इसके परिवारवाले मारे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) और जो क्षुल्लक क्रिमी थे (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमी मारे गये हैं ॥ १ ॥

(सर्वेषां च क्रिमीणां) सब पुरुष क्रिमियोंका और (सर्वासां च क्रिमीणां) सब स्त्री क्रिमियोंका (अश्मना शिरः भिनद्मि) पत्थरसे सिर तोडता हूं और (अग्निना मुखं दहामि) अग्निसे मुख जलाता हूं ॥ १३ ॥

रोगक्रिमियोंका नाश।

रोगके क्रिमि शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह बात वेदके कई सूक्तोंमें कही है। अग्नि, वायु, जल आदि द्वारा इन क्रिमियोंका नाश होता है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। छोटे बालकोंके शरीरमें भी क्रिमि होते हैं उनको दूर करनेके लिये वचा औषधिका उपयोग करना चाहिये यह द्वितीय मंत्रका उपदेश मननीय है।

आंख, नाक और दांतोंमें क्रिमि जाते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह तृतीय मंत्रका कथन प्रत्यक्ष देखने योग्य है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें क्रिमियोंके रंगोंका वर्णन है। सूर्यकिरणसे सब रोगक्रिमियोंका नाश होता है, यह अत्यंत महत्त्व पूर्ण वात षष्ठ मंत्रमें कही है। विपुल सूर्यकिरणोंके साथ अपना संबंध करके पाठक रोगक्रिमियोंसे अपना बचाव कर सकते हैं। अन्य मंत्रोंका कथन स्पष्ट है, इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

सुरक्षितताकी प्रार्थना ।

[२४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता-मन्त्रोक्ता, नाना देवताः)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ २ ॥
द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ३ ॥
वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ४ ॥
मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् ।

अर्थ—(अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठामें, (अस्यां चित्यां) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें, (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादमें, (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंकी प्रार्थनामें, (स्व-आ-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण करता हूं। इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब चेतनाओंका अधिपति प्रेरक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥ (सः वनस्पतीनां अधिपतिः अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥ (ते दातॄणां अधिपत्नी द्यावापृथिवी मा अवतां) वे दाताओंके अधिपती द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥ (सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ (तौ वृष्ट्या अधिपती

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ५ ॥
मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ६ ॥
सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ७ ॥
वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ८ ॥
सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ९ ॥
चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ११ ॥

मित्रावरुणौ मा अवतां) वे दोनों वृष्टिके अधिपती मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥ (ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु) वे पर्वतोंके अधिपती मरुत् मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥ (सः वीरुधां अधिपतिः सोमः मा अवतु) वह औषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥ (सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥ (सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥ (सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अवतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥ (सः

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १२ ॥
मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १३ ॥
यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १४ ॥
पितरः परे ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १५ ॥
तता अवरे ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १६ ॥
ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

दिवः अधिपतिः इन्द्रः मा अवतु) वह द्युलोकका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥ (सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता मा अवतु) वह पशुओंका अधिपति मरुत्पिता मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥ (सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः मा अवतु) वह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे॥ १३॥ (सः पितॄणां अधिपतिः यमः मा अवतु) वह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥ (ते परे पितरः मा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥ (ते अवरे ततः मा अवन्तु) वे पिछले पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥ (ते ततः ततामहाः मा अवन्तु) वे बडे प्रपितामह मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता।

ज्ञानोपदेशका कर्म, अन्यान्य पुरुषार्थ, यजन याजन, सबकी स्थिरता और सुदृढता बढानेवाले कर्म, चित्तसे चिंतन मनन आदि कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्यान्य कर्तव्य कर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएं और उन देवताओंका प्रेरक परमात्मा मेरी रक्षा करे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। यह स्पष्ट आशय है इस लिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

गर्भधारणा।

[२५]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता-योनिगर्भः)

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

अर्थ— (पर्वतात् दिवः) पर्वतसे लेकर द्युलोकपर्यंत स्थित पदार्थों के (अंगात् अंगात सं आभृतं) अंग प्रत्यंगसे इकट्ठा किया हुआ (योनेः) योनिके स्थानमें (रेतोधाः शेपः) वीर्य की स्थापना करनेवाला पुरुषेन्द्रिय (सरौ पर्णं इव) जलप्रवाहमें पत्ता रखनेके समान (गर्भस्य आदधत्) गर्भका बीज आधान करता है ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) समस्त भूतोंके गर्भ को धारण करती है, (एवा ते गर्भं दधामि) इस प्रकार तेरा गर्भ धारण करती हूँ (तस्मै अवसे त्वां हुवे) उस रक्षा के लिये तुझे बुलाती हूं ॥ २ ॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥
गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥
विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥
यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (सिनीवालि) अल्प चन्द्रवाली रात्री देवी! (गर्भं धेहि) गर्भका धारण कर। हे (सरस्वति) ज्ञानदेवी! (गर्भं धेहि) गर्भका धारण कर। (उभौ पुष्करस्रजौ अश्विनौ) दोनों कमलमाला धारण करनेवाले अश्विदेवो (ते गर्भं आधत्तां) तेरे गर्भका धारण करें ॥ ३ ॥

(मित्रावरुणौ ते गर्भं) मित्र और वरुण तेरे गर्भको पुष्ट करें (देव बृहस्पतिः गर्भं) देव बृहस्पति गर्भको धारण करे। (इन्द्रः च अग्निः च गर्भं) इन्द्र और अग्नि तेरे गर्भका धारण करे। (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भका धारण करे ॥ ४ ॥

(विष्णुः योनिं कल्पयतु) विष्णु योनिको समर्थ बनावे। (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु) त्वाष्टा रूपोंको अवयवोंवाला बनावे। (प्रजापतिः आसिंचतु) प्रजापति गर्भको सींचे और (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भका धारण करे ॥ ५ ॥

(यत् राजा वरुणः वेद) जो वरुण राजा जानता है, (वा यत् देवी सरस्वती) अथवा जो देवी सरस्वती जानती है। (यत् वृत्रहा इन्द्रः वेद) जो वृत्रका नाश करनेवाला इन्द्र जानता है (तत् गर्भ-करणं पिब) व गर्भको स्थिर करनेवाला यह रस पान कर ॥ ६ ॥

(ओषधीनां गर्भः असि) तू औषधियोंका गर्भ है, और (वनस्पतीनां गर्भः असि) तू वनस्पतियोंका गर्भ है, तू (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥
वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥
धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ११ ॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १२ ॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

भूतमात्रका गर्भ है, हे अग्ने ! (सः इह गर्भं आधाः) वह तू यहां गर्भका धारण कर ॥ ७ ॥

(अधिस्कंध) उठकर खडा हो, (वीरयस्व) वीरता कर, (योन्यां गर्भं आधेहि) योनिमें गर्भकी स्थापना कर। हे (वृष्ण्यावन् ! वृषा असि) वीर्यवान् ! तू बलवान है। (त्वा प्रजायै नयामसि) तुझे केवल सन्तानके लिये ही ले जाते हैं ॥ ८ ॥

हे (बार्हत्सामे) बृहत्साम गानेवाली स्त्री ! तू (विजिहीष्व) विशेष प्रकार तैयार रह। (ते योनिं गर्भः आशयां) तेरी योनिमें गर्भ स्थिर होवे। (सोमपाः देवाः उभयाविनं पुत्रं ते अदुः) सोमपान करनेवाले देवोंने तुम दोनोंकी रक्षा करनेवाले पुत्रको तुझे दिया है ॥ ९॥

हे (धातः) धाता ! और हे (त्वष्टः) रूप बनानेवाले देव ! हे (सवितः) उत्पादक देव ! हे (प्रजापते) प्रजापालक देव ! (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस स्त्रीके दोनों गर्भधारक नाडियोंके बीचमें (श्रेष्ठेन रूपेण पुमांसं पुत्रं आधेहि) उत्तम सुंदर रूपके साथ पुरुष संतान स्थापन कर और (दशमे मासि सूतवे) दसवें मासमें उत्पत्ति होनेके लिये उसे योग्य कर ॥ १०-१३ ॥

गर्भकी सुरक्षितता।

गर्भकी सुरक्षितताके लिये परमेश्वरकी तथा अन्यान्य देवताओंकी प्रार्थना इस सूक्त में की गई है। इस प्रकार की प्रार्थना करनेसे मानस शक्तिकी जाग्रति द्वारा बहुत लाभ होता है। इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें गर्भविषयक अन्यान्य बहुतसी उपयुक्त बातें कहीं हैं, उसका थोडासा विचार यहां करना आवश्यक है।

पृथ्वीके ऊपरके पर्वत से लेकर द्युलोक पर्यंत अर्थात् इस द्यावा पृथिवीके अन्दर जितने पदार्थ हैं, उन सबके अंग प्रत्यंगोंके अंश लेलेकर और उन सब अंशोंको विशेष योजनासे इकठा करके यह गर्भ बनाया गया है। यह प्रथम मंत्रका कथन है। अर्थात् इस गर्भमें जिस प्रकार सूर्य और चंद्रके अंश हैं, उसी प्रकार वायु और जलके अंशभी हैं और उसी रीतिसे ओषधिवनस्पतियोंके भी अंश हैं। जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। ब्रह्माण्डका एक अंश ही पिंड है। इसी प्रकार पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व वीर्य बिन्दुमें आता है और उसी वीर्य बिन्दुसे गर्भ होता है, इस लिये गर्भमें पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व आया हुआ होता है। इस प्रकार एक दृष्टीसे यह गर्भ सब ब्रह्माण्डका सत्त्वांश है और दूसरी दृष्टिसे यह गर्भ पिताका सत्वांश है। गर्भमें, मानो, इतनी प्रचण्ड शक्तियां हैं, इस लिये गर्भकी जितनी सुरक्षा हो उतनी करनी चाहिये और उसकी जितनी उन्नति हो सके उतना यत्न करना चाहिये।

मंत्र २ से ५ तक देवताओंकी प्रार्थना है कि सब देव इस गर्भकी रक्षा के लिये सहायता देवें। और जो देवताओंके अंश यहां रहे हैं उनको अपनी शक्तिसे सुरक्षित रखें और बढावें। पाठक यहां स्मरण रखें कि रक्षा तो देवोंद्वारा ही होनी है, मनुष्यका कार्य इतना ही है कि वह उसमें रुकावट न करे। जिस प्रकार बंद कमरेमें सदा रहनेसे सूर्यकी रक्षासे मनुष्य दूर रहते हैं, उसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी रक्षासे मनुष्य अपनी अज्ञानताके कारण दूर रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको इन देवताओंके स्वाधीन करे। ऐसा करनेसे इसकी उत्तम रक्षा हो सकती है। गर्भकी भी सुरक्षितताके लिये गर्भिणी स्त्री शुद्ध वायुमें तथा धूप आदिमें अपने आपको रखेगी और सूर्यादि देवोंसे जो रक्षा प्राप्त होती है उससे लाभ उठावेगी तो अधिक लाभ हो सकता है।

गर्भ उत्तम रीतिसे बढकर दसवें मासमें माताके उदरसे बाहर आना चाहिये। यह समय उसकी पूर्ण वृद्धिका है। यह बात दशम मंत्रमें कही है।

अन्य मंत्र गर्भाधान विषयक हैं वे सुविज्ञ पाठक सहजहीमें समझ सकते हैं।

यज्ञ।
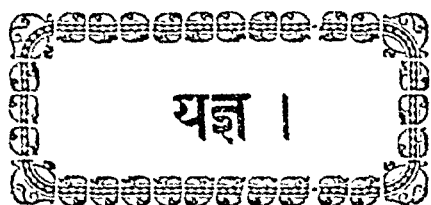
[२६]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता–वास्तोष्पतिः । मन्त्रोक्ताः)

यजूंषि युज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् युज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥
इन्द्र उक्थामदान् यस्मिन् युज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥
प्रैषा युज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥
छन्दांसि युज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्र विद्वान् अग्निः इह यज्ञे) विशेष ज्ञानी अग्नि इस यज्ञमें (वः यजूंषि समिधः) आपके लिये यजुर्वेद मंत्र और समिधाएं (युनक्तु, स्वाहा) उपयोगमें लावे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ १ ॥

(महिषः प्रजानन् सविता देवः) महान् ज्ञानी सर्व प्रेरक सविता देव (अस्मिन् यज्ञे युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें हवन सामग्रीका उपयोग करे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ २ ॥

(प्रविद्वान् सुयुजः इन्द्रः) ज्ञानी सुयोग्य इन्द्र, (अस्मिन् यज्ञे उक्थमदानि युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें आनन्दकारक स्तुतिस्तोत्रोंको प्रयुक्त करे, इसमें मेरा समर्पण हो ॥ ३ ॥

(प्रैषाः निविदः इह यज्ञे युक्ताः शिष्टाः) आज्ञाएं और आत्मनिवेदन करनेकी रीतियां जाननेवाले इस यज्ञमें नियुक्त हुए शिष्ट लोग (पत्नीभिः वहत, स्वाहा) अपनी धर्मपत्नियोंके साथ यज्ञका भार उठावें, यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ४ ॥

(माता इव पुत्रं) माता जैसी पुत्रको पूर्ण करती है, उस प्रकार (इह यज्ञे युक्ताः मरुतः) इस यज्ञमें लगे हुए मरुत् देव (छंदांसि पिपृत, स्वाहा) छंदोंको पूर्ण करें, मेरा समर्पण यज्ञके लिये होवे ॥ ५ ॥

एयमंगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥
विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥
त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥
भगो युनक्त्वाशिषोन्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥
सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥
अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(इयं अदितिः बर्हिषा प्रोक्षणीभिः) यह अदिती देवी हवन साम और शोधक साधनोंके साथ (यज्ञं तन्वाना आ अगन् स्वाहा) यज्ञ विस्तार करती हुई आई है। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ६ ॥

(सुयुजः विष्णुः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य विष्णु देव इस यज्ञमें (तपां बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपनी तपन शक्तियोंका बहुत प्रकार उपयोग करे इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ७ ॥

(सुयुजः त्वष्टा अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य त्वष्टा देव इस यज्ञमें (रूपा नु बहुधा युनक्तु, स्वाहा) विविध रूपोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ८ ॥

(सुयुजः प्रविद्वान् भगः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य ज्ञानी भग देव इस यज्ञमें (असै नु आशिषः युनक्तु, स्वाहा) इस के लिये आशीर्वाद देवे इस यज्ञमें मेरा आत्मसमर्पण होवे ॥ ९ ॥

(सुयुजः सोमः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य सोम देव इस यज्ञमें (पयांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) जलोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे, मेरा समर्पण इस यज्ञमें होवे ॥ १० ॥

(सुयुजः इन्द्रः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य इन्द्र देव इस यज्ञमें (वीर्याणि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपने सामर्थ्योंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ११ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (ब्रह्मणा वषट् कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ) ज्ञान

और दान द्वारा यज्ञको बढाते हुए (अर्वाञ्चौ आयातं) हमारे पास आवो। हे बृहस्पते! (ब्रह्मणा अर्वाङ् आयाहि) ज्ञानके साथ पास आ। (अयं यज्ञः यजमानाय स्वः) यह यज्ञ यजमान के लिये तेज बढानेवाला होवे। (स्वाहा) यज्ञमें आत्मसमर्पण होवे ॥ १२ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

" स्वाहा " शब्दका अर्थ (स्व+आ+हा) ' अपना करके कहने योग्य जो जो पदार्थ हैं उन सबका जगत्‌की भलाईके लिये समर्पण करना ' है। वास्तविक रीतिसे यज्ञमें यह आत्मशक्तिका समर्पण अत्यंत मुख्य भाग है। मानो, इसके विना कोई यज्ञ हो नहीं सकता। यज्ञमें आहुति देते समय " स्वाहा, न मम " (यह पदार्थ मैंने यज्ञमें दिया है, अब यह मेरा नहीं है) यह मंत्र जो पढा जाता है उसका तात्पर्य आत्मसमर्पणका पाठ देना ही है। इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें ' स्वाहा ' शब्दका पाठ इसी लिये किया है।

अग्नि, सविता, इन्द्र, मरुत्, अदिति, विष्णु, त्वष्टा, भग, सोम, अश्विनौ, बृहस्पति आदि सब देवताएं जगत्‌के यज्ञमें अपना अपना कार्य कर रहीं हैं, अर्थात् अपनी अपनी शक्तियोंका समर्पण कर रही हैं, यह देवताओंका आत्मसमर्पण देखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह भी अपनी संपूर्ण शक्ति यज्ञमें समर्पित करे और अपने जीवनकी सार्थकता यज्ञद्वारा करे। अग्नि उष्णता देता है, सविता प्रकाश देता है, इन्द्र चमकता है, मरुत् जीवन देते हैं, अदिति आधार देती है, विष्णु सर्वत्र व्यापकर सबकी रक्षा करता है, त्वष्टा सब पदार्थोंके रूप बनाता है, भग सबको भाग्यवान बनाता है, सोम सबको शांति देता है, अश्विनी देव सबके दोष दूर करते हैं, बृहस्पति सबको ज्ञान देता है किंवा एक ही परमात्मदेव इतनी शक्तियों द्वारा जगत्‌का यज्ञ सांग संपूर्ण करता है। ये सब देव ये कार्य अपने सुखके लिये नहीं करते, परंतु सब जगत्‌की भलाईके लिये आत्मशक्तिका समर्पण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी तन मन धनादि सब शक्तियोंका यज्ञ जनताकी भलाईके लिये करे और इस आत्मसर्वस्व समर्पणके यज्ञद्वारा अपने जीवनकी सफलता करे। इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस सूक्तने दिया है।

अग्निकी ऊर्ध्वगति।

[२७]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- अग्निः)

उर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥१॥
देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥
मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद् देवः सविता विश्ववारः ॥३॥
अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥
अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

अर्थ-(अस्य अग्नेः समिधः ऊर्ध्वाः भवन्ति) इस अग्निकी समिधाएं ऊंची होती हैं, तथा इस अग्निकी (शुक्रा शोचींषि ऊर्ध्वा भवन्ति) शुद्ध ज्वालाएं ऊंची होती हैं। यह अग्नि (द्युमत्तमा) अति प्रकाशवाला, (सु-प्रतीकः, ससूनुः) सुंदररूपवाला, पुत्रोंसहित रहनेवाला, (तन्-न-पात्, असु-रः) शरीरको न गिरानेवाला, जीवन देनेवाला, (भूरि-पाणिः) अनेक हाथोंसे अर्थात् ज्वलाओंसे युक्त है ॥ १ ॥

(देवेषु देवः देवः) सब देवोंमें मुख्य देव (मध्वा घृतेन पथः अनक्ति) मधुर घृतसे मार्गको प्रकट करता है ॥ २ ॥

(नराशंसः सुकृत् सविता विश्ववारः देवः अग्निः) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होने योग्य, उत्तम कर्म करनेवाला, प्रेरक, सबको स्वीकार करने योग्य दिव्य अग्नि (मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति) मधुरतासे यज्ञको प्रेरित करता हुआ चलता है ॥ ३ ॥

(अयं ईडानः वह्निः शवसा घृता नमसा चित्) यह स्तुति किया गया अग्नि बल, घृत और नमनादिके साथ (अच्छ एति) भली प्रकार चलता है ॥ ४ ॥

(अध्वरेषु स्रुचः प्रयक्षु अग्निः) यज्ञोंमें स्रुचाओं [चमसों] की इच्छा करनेवाला अग्नि होता है। (सः अस्य अग्नेः महिमानं यक्षत्) वह यजमान इस अग्निकी महिमाकी उपासना करे ॥ ५ ॥

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥ ६ ॥
द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥
उरुव्यचसाऽग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥८॥
दैव्या होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु ।
देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

अर्थ-(तरी मन्द्रासु प्रयक्षु) तारण करनेवाला अग्नि हर्षके समयमें यजन करनेवाला होता है। (वसु-धा-तरः वसवः च अतिष्ठन्) धनोंका अधिक धारण करनेवाला अग्नि और वसु सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं ॥ ६ ॥

(अस्य व्रतं देवीः द्वारः) इस के व्रतकी दिव्य द्वार और (विश्वे) सब अन्य देव (विश्व-हा अनु रक्षन्ति) सर्वदा अनुकूलतासे रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

(अग्नेः उरु-व्यचसा धाम्ना) अग्निके अतिविस्तृत धाम से (पत्यमाने सु-सु-अयन्ती उपाके यजते) पतिरूप बनने वाली, उत्तम रीतिसे चलनेवाली, समीपस्थित, परस्पर संगत, (उषासानक्ता नः इमं अध्वरं यज्ञं आ अवतां) प्रातःकाल और सायंकाल हमारे इस हिंसारहित यज्ञकी उत्तम रक्षा करें ॥ ८ ॥

हे (दैव्या होतारः) दिव्य होता गण! (नः ऊर्ध्वं अध्वरं अग्नेः जिह्वया अभिगृणत) हमारे ऊंचे यज्ञकी अग्निकी जिह्वा के द्वारा प्रशंसा करो और (नः स्विष्टये गृणत) हमारी उत्तम इष्टीके लिये प्रशंसा करो। (इडा सरस्वती भारती मही) मातृभाषा, मातृसभ्यता, और पोषण करनेवाली मातृभूमि ये (तिस्रः देवीः) तीन देवताएं (इदं बर्हिः सदन्तां) इस यज्ञमें विराजें ॥ ९ ॥

(देव त्वष्टः) हे त्वष्टा देव ! (नः तत् तुरी-पं अद्भुतं) हमारे लिये शीघ्र त्वरासे रक्षा करनेवाला अद्भुत (पुरुक्षु रायः पोषं) निवास के लिये हितकारी धन और पुष्टि दे और (अस्य नाभिं विष्य) इसकी मध्य ग्रंथी को खोल दे ॥ १० ॥

वनस्पतेऽव सृजा रराणः ।
त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

अर्थ-- हे वनस्पते ! (रराणः अवसृज) दान करता हुआ तू दानकर। (शमिता अग्निः त्मना देवेभ्यः हव्यं स्वदयतु) शान्ति स्था करनेवाला अग्निदेव आत्मशक्तिसे देवोंके लिये हवनीय पदार्थोंका स्व देवे ॥ ११ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी प्रकाशस्वरूप देव! (स्वाहा कृणुहि) तू स्वा रूप यज्ञ कर। तथा (इन्द्राय यज्ञं) इन्द्रदेव के लिये यज्ञ कर। (वि देवाः इदं हविः जुषन्तां) सब देव यह हवि सेवन करें॥ १२॥

यज्ञका महत्त्व।

यह सूक्त यज्ञकी प्रशंसापर है। यज्ञयाग करनेसे दिव्य लोकमें जानेका मार्ग खु होता है यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। जिस प्रकार (अग्नेः उर्ध्वाः शोचींषि) अग्नि की ज्वाला ऊपर जाती है और कभी नीचेकी दिशामें नहीं जाती, ठीक इस प्रकार अग्नि उपासना करनेवाला याजक सीधा उच्च मार्गसे उच्च गति प्राप्त करता है। यज्ञयाग यह महान फल है।

यज्ञके द्वारा मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमिका आदर बढता है, क्यों कि यज्ञके द्वारा इनकी ही सेवा की जाती है। यज्ञमें इनके लिये अग्रस्थान मिलता है यह बात नवम मंत्रमें कही है।

इस सूक्तमें कहे अग्निके विशेषण विचार करने योग्य हैं। उन गुणोंका मनन कर उनसे बोधित होनेवाले गुण उपासकको अपने अन्दर बढाना चाहिये। उन्नतिका यह सीधा मार्ग है।

दीर्घायु और तेजस्विता ।

[२८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता-त्रिवृत्)

नव॑ प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वार्य शतशारदाय ।
हरि॑ते त्रीणि रजते त्रीण्यर्यसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥ १ ॥
अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥

अर्थ- (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षवाले दीर्घ जीवन के लिये (नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते) नव प्राणोंको नव इंद्रियोंके साथ समानतासे मिलाता है । (हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि) सुवर्ण में तीन, चांदीमें तीन और लोहेमें तीन (तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे विशेष प्रकार स्थित हैं ॥ १ ॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, (प्रदिशः दिशः) उपदिशाएं और दिशाएं, (ऋतुभिः संविदानाः आर्तवः) ऋतुओंके साथ मिले हुए ऋतुविभाग (अनेन त्रिवृता मा पारयन्तु) इस तीनों के योग से मुझे पार ले जावें ॥ २ ॥

भावार्थ- दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये नव प्राणोंको नव इंद्रियोंमें सम प्रमाणमें स्थिर करते हैं । सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन मिलकर नौ धागे उष्णतासे इकट्ठे जोड देते हैं । यह सुवर्णका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥

जिसके तीनों धागोंमें क्रमशः भूमि, जल, अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, दिशा उपदिशाएं, और ऋतु आदि कालविभाग ये नव दिव्य तत्त्व रहते हैं, वह तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत मुझे दुःखोंसे पार करके दीर्घ जीवन देवे ॥ २ ॥

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥
इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णुः ॥ ४ ॥
भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(त्रिवृति त्रयः पोषाः श्रयन्तां) इस तिहरे उपवीतमें तीन पुष्टियां बनी रहें। (पूषा पयसा घृतेन अनक्तु) पूषा दूध और घीसे हमें भरपूर करे। (अन्नस्य भूमा) अन्नकी विपुलता, (पुरुषस्य भूमा) पुरुषों की अधिकता, तथा (पशूनां भूमा) पशुओंकी समृद्धि (ते इह श्रयन्तां) तेरे यहां ये सब स्थिर रहें ॥ ३ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो! (इमं वसुना सं उक्षत) इसको तुम वसुओं से सींचो। हे अग्ने! (वावृधानः इमं वर्धय) तू स्वयं बढता हुआ इसको बढा। हे इन्द्र! (इमं वीर्येण सं सृज) इस को वीर्यसे युक्त कर। (अस्मिन् पोषयिष्णु त्रिवृत् श्रयतां) इसमें पोषण करनेवाला तिहरा उपवीत स्थिर रहे ॥ ४ ॥

(भूमिः हरितेन त्वा पातु) भूमि सुवर्णके द्वारा तेरी रक्षा करे। (विश्वभृत् सजोषाः अग्निः अयसा पिपर्तु) सबका पोषण करनेवाला प्रेममय अग्नि लोहके द्वारा तुझे पूर्ण करे। (वीरुद्भिः संविदानं अर्जुनं सुमनस्यमानं दक्षं) औषधियों द्वारा प्राप्त होनेवाला कलंकरहित शुभसंकल्पमय बल (ते दधातु) तेरे लिये धारण करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— इस तिहरे उपवीतसे तीन पुष्टियाँ मिलती हैं। पोषण कर्ता परमेश्वर हमें दूध और घी भरपूर देवे। अन्नकी पुष्टि, मनुष्योंकी सहायता, पशुओंकी विपुलता ये तीन पुष्टियां हमें यहां मिलें ॥ ३ ॥ आदित्य हमें सब वसुओंकी शक्ति प्रदान करे। अग्नि हमारी वृद्धि करे। इन्द्र वीर्य बढावे। इस प्रकार यह तिहरा यज्ञोपवीत सब दुःखोंसे पार करनेवाला हमारे ऊपर स्थिर रहे ॥ ४ ॥ सुवर्णके धागेसे भूमि रक्षा करे। लोहेके धागेसे सबका पोषक अग्नि हमारी पूर्णता करे। तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी शक्तियोंके साथ हमें उत्तम मनयुक्त बल प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥
त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥
त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥

अर्थ-(इदं हिरण्यं जन्मना त्रेधा जातं) यह सुवर्ण जन्मसेही तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ। उनमें से (एकं अग्नेः प्रियतमं बभूव) एक अग्निको अतिप्रिय हुआ है। (एकं हिंसितस्य सोमस्य परापतत्) दूसरा निचोडे सोमसे बाहर निकलता है। (एकं वेधसां अपां रेतः आहुः) तीसरा सारभूत जलका वीर्य है ऐसा कहते हैं। (तत् त्रिवृत् हिरण्यं) वह तिहरा सुवर्ण (ते आयुषे अस्तु) तेरी आयुके लिये होवे॥ ६॥

(जमदग्नेः त्र्यायुषं) जमदग्निकी तिहरी आयु, (कश्यपस्य त्र्यायुषं) कश्यप की तिहरी आयु, यह (अमृतस्य त्रेधा चक्षणं) अमृतका तीन प्रकारका दर्शन है। इससे (ते त्रीणि आयूंषि अकरं) तेरे लिये तीन आयुष्यों को करता हूं॥ ७॥

(यत् शक्राः त्रयः सुपर्णाः) जब समर्थ तीन सुपर्ण (त्रिवृता एकाक्षरं अभि संभूय आयन्) तिहरे होकर एक अक्षरमें सब प्रकार मिलकर रहे हैं। वे (अमृतेन साकं विश्वा दुरितानि अन्तर्दधानाः) अमृतके साथ सब अनिष्टोंको मिटाकर (मृत्युं प्रति औहन्) मौत को दूर करते हैं ॥८॥

भावार्थ-स्वभावतः सुवर्ण तीन प्रकारका है। एक अग्निके लिये प्रिय है, दूसरा सोमके रसके रूपसे प्राप्त होता है, और तीसरा सारभूत जल जो वीर्य रूपसे शरीरमें रहता है। यह तिहरा सुवर्ण है, यह मेरी आयु बढानेवाला होवे ॥ ६ ॥ जमदग्नि और कश्यपकी बाल तरुण और वृद्ध अवस्थामें व्यापनेवाली तिहरी आयु, मानो, अमृतका साक्षात्कार करनेवाली है। यह तीन प्रकार की आयु हमें प्राप्त होवे ॥ ७ ॥ तीन बडी शक्तियां हैं जो एक ही अक्षरमें रहती हैं। उस अमृतसे सब अनिष्ट दूर होते हैं और उससे मृत्युको दूर किया जाता है ॥ ८ ॥

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयुस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥
इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥
पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदावधे मे ॥ ११ ॥

अर्थ-(हरितं त्वा दिवः पातु) सुवर्ण तेरी द्युलोकसे रक्षा करे, (अर्जुनं त्वा मध्यात् पातु) श्वेत तेरी अन्तरिक्षसे रक्षा करे, (अयस्मयं भूम्याः पातु) लोहमय भूमिके स्थानसे तेरी रक्षा करे। (अयं देव-पुराः प्रागात्) यह देवोंकी पुरियोंमें प्राप्त हुआ है॥ ९॥

(इमाः तिस्रः देव-पुराः) ये तीन देव नगरियां हैं, (ताः सर्वतः त्वा रक्षन्तु) वे सब प्रकारसे तेरी रक्षा करें। (त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी) तू उनको धारण करके तेजस्वी हो कर (द्विषतां उत्तरः भव) वैरियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो॥ १०॥

(देवानां हिरण्ययं पुरं अमृतं) देवों की सुवर्णमय नगरी अमृत रूप है। (यः प्रथमः देवः अग्ने आबेधे) जिस पहिले देवने सबसे पूर्व इनको बांधा था। (तस्मै दश प्राचीः नमः कृणोमि) उसको मेरी दस अंगुलियां जोडकर नमस्कार करता हूं। (त्रिवृत् मे आबधे, अनुमन्यतां) यह तिहरा उपवीत मेरे शरीरपर बांधता हूं, इसके लिये अनुमति दें॥ ११॥

भावार्थ- सुवर्ण द्युलोकसे, चांदी अन्तरिक्षसे, और लोहा भूमीसे तेरी रक्षा करे। ये देवोंकी नगरियां ही प्राप्त हुई हैं॥ ९॥

ये तीन देवनगरियां हैं। ये तीनों सबकी रक्षा करें। इनका धारण करनेवाला तेजस्वी होकर शत्रुओंको नीचे कर देता है॥ १०॥

देवोंकी सुवर्णमय नगरी अमृतसे परिपूर्ण है। जो पहिला देव इसको सबसे पहिले स्थिर करता है, उसको हाथ जोडकर नमस्कार करते हैं। यह तिहरा उपवीत मैं अपने शरीरपर बांधता हूं, मुझे अनुमति दीजिये॥ ११॥

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥ १४ ॥

अर्थ- अर्यमा, पूषा, बृहस्पति (त्वा आ चृततु) तुझे बांधे। (अहः-जातस्य यत् नाम) प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाले का जो नाम है (तेन त्वा अति चृतामसि) उससे तुझको अत्यन्त बांधते हैं॥ १२॥

(आयुषे वर्चसे) आयुष्य और तेजके लिये (ऋतुभिः आर्तवैः) ऋतुओं और ऋतुविभागोंसे और (संवत्सरस्य तेन तेजसा) संवत्सरके उस तेजसे (सं-हनु कृण्मसि) संयुक्त करता हूं ॥ १३ ॥

(घृतात् उल्लुप्तं)घीसे भरा हुआ, (मधुना समक्तं) मधुसे सींचा हुआ (भूमिदृंहं अच्युतं पारयिष्णु) भूमीके समान स्थिर और पार ले जाने वाला (सपत्नान् भिन्दत्) वैरियोंको छिन्न भिन्न करनेवाला और उनको (अधरान् कृण्वत् च) नीचे करनेवाला तू (महते सौभगाय मा आरोह) बडे सौभाग्यके लिये मेरे ऊपर आरोहण कर ॥ १४ ॥

भावार्थ-अर्यमा, पूषा, बृहस्पति और दिनमें प्रकाशने वाला सूर्य ये सब देव यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये तुझे अनुमति देवें ॥ १२ ॥

संवत्सर, ऋतु और अन्य कालविभागोंके तेजसे तुझे संयुक्त करके तुझे दीर्घ आयु और उत्तम तेज देते हैं ॥ १३ ॥

यह घृतादि पौष्टिक पदार्थोंसे युक्त, मधु आदि मधुर पदार्थोंसे परिपूर्ण, भूमिके समान सुदृढ, न गिरानेवाला और सब दुःखोंसे पार करनेवाला है। यह शत्रुओंको छिन्नभिन्न करता और उनको नीचे करता है। यह उपवीत बडा सौभाग्य मुझे देकर मेरे ऊपर रहे ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीत का धारण।

इस सूक्तमें यज्ञोपवीत का महत्त्व वर्णन किया है। यज्ञोपवीतके वर्णनके विषयमें अत्यंत थोडेसे मंत्रभाग वेदमें हैं। परंतु यह संपूर्ण सूक्तका सूक्त दीर्घ आयु और तेजस्विताका उपदेश करते करते यज्ञोपवीतके महत्वका वर्णन कर रहा है इसलिये इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। इस सूक्तका पठन करके पाठक यज्ञोपवीतका महत्त्व जानें और यज्ञोपवीत धारण करते समय मनमें समझें की मैं इतने महत्त्वका यह यज्ञसूत्र धारण कर रहा हूं।

तीन धागे।

सब जानते हैं कि यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र होते हैं और प्रत्येक सूत्रमें फिर तीन तीन धागे होते हैं, अर्थात् सब मिलकर नव सूत्र होगये। ये तीन धागे इस प्रकार बनें—

हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि। (मं० १)

' सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन ' अर्थात् प्रत्येक सूत्रके अंदर सोना, चांदी और लोहेकी तारें हों। इस प्रकार तीन धातुओंसे बना हुआ यह यज्ञोपवीत होना चाहिये। ' अयस् ' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ' लोहा ' है, परंतु इसका दूसरा अर्थ ' केवल धातुमात्र ' ऐसा भी है। अर्थात् तांबा भी इसका अर्थ हो सकता है।

सुवर्णका यज्ञोपवीत।

यह यज्ञोपवीत सोना, चांदी और तांबेका बने अथवा सोना, चांदी और लोहेका बने, इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये। ये तीनों धातु इस प्रकार शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें कुछ मंदसा विद्युत्प्रवाह शुरू होता है, जिससे शरीरस्वास्थ, बल और दीर्घायु प्राप्त होना संभव है। ये तीनों धातुओंकी तारें(तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे परस्पर जोडी हुई हों अर्थात् एक दूसरेके साथ जुडी हुई अवस्थामें रहें, तभी ये तारें कार्य करती होंगी। जिस प्रकार—

इन्द्रिय और प्राण।

शतशारदाय दीर्घायुत्वाय नव प्राणान् नवभिः संमिमीते। (मं० १)

" सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये जिस प्रकार नव प्राणोंको नव इंद्रियोंमें मिलाना चाहिये" अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करना हो तो प्राणोंका शरीरसे, इंद्रियोंसे और अवयवोंसे वियोग शीघ्र न हो सके ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अर्थात् प्राणको अपने शरीरके सब अवयवोंमें ह

करने योग्य बनाना चाहिये। यह बात प्राणायामसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे होती है। जो प्राणायामसे अपना बल नहीं बढाते उनकी किसी अवयवमें प्राण शक्ति नहीं कार्य करती। ऐसा होनेसे वह अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होता है। कई मनुष्योंके कई अवयव कमजोर होते हैं, इसका कारण यही है। यही कमजोरी आयुको क्षीण करती है।

इसी प्रकार तीन धातुओंके ये नव धागे उष्णतासे इकठे हुए शरीरका आरोग्य, बल और दीर्घ आयु बढाते हुए शरीरमें उत्साह कायम रखते हैं। इस यज्ञोपवीतके नव धागोंमें निम्न लिखित नव देवतायें रहती हैं—

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्योरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ॥
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ (मं० २)

"भूमि-अग्नि-आपः, अन्तरिक्ष-चन्द्रमा-दिशा; और द्यौः-सूर्य-ऋतु ये नव देवताएं इस तिहरे यज्ञोपवीतमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें।"

पृथ्वीस्थानीय तीन देव, अन्तरिक्ष स्थानीय तीन देव और द्युस्थानीय तीन देव, ये सब नव देव यज्ञोपवीतके नव धागोंमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। यह इच्छा इस मंत्रमें प्रकट हुई है। यज्ञोपवीत धारण करनेका आशय इतने देवताओंका तेज और वीर्य अपने अंदर धारण करना तथा इनके विषयमें अपने कर्तव्य करना है। यज्ञोपवीत केवल भूषणके लिये नहीं धारण किया जाता है; यह तो बडी भारी जिम्मेवारीका कार्य है। तीन लोकों और उनमें स्थित सब दैवी शक्तियोंके साथ अपना संबंध व्यक्त करनेके लिये यह त्रिवृत्त सूत्र धारण किया जाता है। इस संबंधसे अपना उनके विषयक कर्तव्य जानना और उनसे दिव्य तेज प्राप्त करना चाहिये। जो यह न करेगा, उसके लिये यज्ञोपवीत यज्ञोपवीत नहीं रहता। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको इस मंत्रका उपदेश अपने मनमें अवश्य धारण करने योग्य है। इस यज्ञोपवीतमें तीन प्रकारकी पोषण शक्तियां हैं, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्ताम्।
अन्नस्य भूमा। पुरुषस्य भूमा। पशूनां भूमा। (मं० ३)

"तीन पुष्टियां इस तिहरे यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें। अन्नकी विपुलता, अनुयायी मनुष्योंकी विपुलता, और पशुओंकी विपुलता," ये तीनों विपुलतायें इस यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें।

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले यज्ञ करते हैं, उस यज्ञमें बहुत मनुष्य संमिलित होते हैं

और संगठन होकर मनुष्योंकी संघशक्ति बढती है, यज्ञके कारण पर्जन्यादि ठीक
होते हैं इस कारण विपुल अन्न प्राप्त होता है, और यज्ञमें दूध और घीके हवनके लि
आदि बहुत पशु लाये जाते हैं, पशुओंकी शक्तियां बढाई जाती हैं, इस कारण पशुअ
भी उन्नति होती है। ये तीनों लाभ यज्ञसे होते हैं और यज्ञका अधिकार इस यज्ञोपवी
प्राप्त होता है, इस लिये यज्ञोपवीतसे उक्त लाभ होते हैं ऐसा इस मंत्रमें कहा है

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' आदित्यसे शक्ति, अग्निसे वृद्धि और इन्द्रसे वीर्य प्र
हो ' और इस त्रिधृत् सूत्रसे हमारा उत्तम प्रकार पोषण होवे। इस यज्ञोपवीतके ए
एक धागेमें एक एक देवताकी शक्ति विद्यमान है, इस लिये जो मनुष्य इस भावना
यज्ञोपवीतका धारण करता है उसको बहुत लाभ हो सकता है। इस विषयमें नि
लिखित मंत्र देखिये—

भूमिः हरितेन पातु।
अग्निः अयसा पिपर्तु।
अर्जुनं वीरुद्भिः दक्षं दधातु॥ (मं० ५)

"भूमि सुवर्णके धागेसे रक्षा करे, लोहे या तांबेके धागेसे अग्नि पूर्णता करे, तथा
चांदीके धागेसे औषधियोंकी सहायतासे बल धारण होवे।" इस प्रकार ये तीन देव
यज्ञोपवीतके तीन धागोंमें रहकर मनुष्यकी उन्नति करते हैं। अर्थात् यज्ञोपवीत केवल
सूत्रकाही बना नहीं है, प्रत्युत वह इन देवताओंकी शक्तियोंसे बना है, यह भाव यहां
देखने योग्य है। जो यज्ञोपवीतको केवल धागाही समझते हैं वे उसके महत्त्वको नहीं
जानते। जो सुवर्ण, चांदी और तांबेसे अथवा लोहेसे बने हुए आभूषण रूप यज्ञोपवीतको
धारण करेंगे उनको तो निःसन्देह विद्युत्संचार शरीरमें होनेके कारण बडा लाभ होगा
ही, परंतु जो सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण करनेमें असमर्थ हों, वे सूत्रका यज्ञोपवीत भी
धारण करें, परंतु वह धारण करनेके समय इस भावनासे धारण करें, जिससे इसके
मनोबल द्वारा आकर्षित हुई उक्त देवताएं इसकी अवश्य सहायता करेंगी।

षष्ठ मंत्रमें सुवर्णके तीन भेद कहे हैं, एक सुवर्ण अर्थात् सोना, दूसरा सोमादि औषधी
का रस और तीसरा वीर्य जो शरीरमें होता है। यज्ञोपवीत धारियोंको उचित है कि वे
इन तीनों सुवर्णोंका उपार्जन करें। ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य स्थिर करें, शरीरमें वीर्य
बढावें और ऊर्ध्वरेता बनें। शरीरपोषण के लिये सोमादि औषधियोंका रस, कंदमूल
फल का ही सेवन करें और उसके साथ दूध घृत आदि हविष्य पदार्थोंका ही सेवनकरें,

अर्थात् मद्यमांसादिका सेवन न करें। और तीसरा सोना अर्थात धन आदि प्राप्त करें। ये तीनों पदार्थ इस मंत्रमें उपलक्षण रूप हैं और इनसे 'वीर्य, अन्न और धन' का बोध मुख्यतया होता है। यज्ञोपवीत धारण करने वालोंको उचित है कि वे इन तीनोंका उचित प्रमाणसे उपार्जन करें। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंके ऊपर इतने कार्यका भार रखता है।

मनुष्यमें बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन अवस्थाएं हैं, यज्ञोपवीतके तीन धागोंसे इन तीन अवस्थाओंका बोध होता है। इन तीन अवस्थाओंमें ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मानुष्ठान करनेसे यज्ञोपवीत धारण करनेका सार्थक होता है। यह बात सप्तम मंत्रके 'त्र्यायुषं,' 'त्रीणि आयूंषि ते अकरं।' (मं० ७) इन शब्दोंसे व्यक्त होती है। बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य ये तीन आयुकी अवस्थाएं तीन आयु नामसे इस मंत्रमें कही हैं। जिस प्रकार सारे यज्ञोपवीतमें एकही धागा तीनों सूत्रोंमें परिणत हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यके धर्माचरण का एकही धागा पूर्वोक्त तीनों आयुओंमें आयुरूप हो जाना चाहिये।

ओंकार की तीन शक्तियां।

एकही 'ओं' रूपी अक्षरमें 'अ-उ-म्' ये तीन महाशक्तियां रहती हैं, 'त्रयः...एकाक्षरं...आयन्' (मं० ८) तीन शक्तियां एकही अक्षरमें वसतीं हैं। ये तीनों शक्तियां मृत्युको दूर करतीं हैं और अनिष्ट दुःखादिकोंको हटातीं हैं। ओंकारनामक एकही अक्षरमें अकार-उकार-मकार नामक तीन शक्तियां हैं। ये तीन अक्षर यज्ञोपवीतके तीन सूत्र समझिये। जिस प्रकार इन तीनों अक्षरोंके एकरूप संयोगसे ओंकार रूप महानाद उत्पन्न होता है; उसी प्रकार तीनों सूत्रोंसे मिलकर एक यज्ञोपवीत होता है। इसलिये यह यज्ञोपवीत पूर्वोक्त तीनों महाशक्तियोंका बोध करता है। अ-उ-म इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः 'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति' ये तीनों अवस्थाएं बोधित होती हैं। मनुष्यका संपूर्ण जीवन इन तीन अवस्थाओंमें व्याप्त है, मानो मनुष्यका जीवन रूपी जो एक महायज्ञोपवीत है उसके तीन धागे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये ही तीन हैं। इनको यज्ञरूप बनानेका कार्य यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको अवश्यमेव करना चाहिये। अ-उ-म के अनेक अर्थ हैं, उनका विचार यहां पाठक करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस यज्ञोपवीत द्वारा कितने शुभ कर्मोंको करनेका भार यज्ञोपवीत धारियोंपर रखा गया है। विस्तार होनेके भयसे हम इन अक्षरोंके तत्त्वज्ञानका विचार यहां करके

लेख का विस्तार बढाना नहीं चाहते । ओंकार के ऊपर बहुतसे ग्रंथ निर्माण हुए हैं यदि पाठक उनके आशयको यहां विचारार्थ ध्यानमें लायेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस मंत्रने कितना महत्त्व पूर्ण उपदेश किया है ।

देवोंके नगर ।

हरितं दिवः पातु । अर्जुनं मध्यात् पातु ।
अयस्मयं भूम्याः पातु ॥ (मं० ९)

" सुवर्णका द्युलोकसे, चांदीका मध्य भागसे और लोहेका भूमि स्थानसे रक्षा करे । " इस मंत्रमें शरीरके तीनों भागोंका रक्षण करनेका कार्य तीन धातुओंसे निर्मित तीन धागे करें ऐसा कहा है । शरीरमें द्युलोक सिरमें, मध्यभाग अथवा अन्तरिक्ष लोक नाभीमें और भूलोक पांवमें है । इसलिये सिरपर सुवर्ण, मध्यभागमें चांदी और पांवमें लोहा रखनेके समान यह एकही (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत धारण करनेवाले की रक्षा करे । ' अयस् ' शब्दका अर्थ यद्यपि यहां हमने लोहा ऐसा किया है तथापि सुवर्ण और चांदीसे कुछ भिन्न अन्य धातु ऐसा लेनेसे किसी अन्य धातुका बोधक यह शब्द हो सकता है । यह कौनसी धातु है इस विषयमें खोज करना आवश्यक है। लोहा, तांबा या कुछ अन्य धातु यहां अपेक्षित है जिसके आभूषण बन सकते हैं ।

तिस्रः देवपुराः त्वा सर्वतः रक्षन्तु ।
त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी द्विषतां उत्तरः भव ॥ (मं० १०)

" यज्ञोपवीतके ये तीन धागे (देव-पुराः) देवोंके, मानो, नगर ही हैं, इनमें दैवी शक्ति भरी है, इसलिये ये सब प्रकार तेरी रक्षा करें । तू उन तीनोंको धारण करके (वर्चस्वी) तेजस्वी बन और शत्रुओंकी अपेक्षा अधिक ऊंचे स्थानपर आरूढ हो । "

यज्ञोपवीतके तीन धागे ये केवल धागे नहीं हैं, ये देवोंके नगर ही हैं, अर्थात् इनमें अनंत दैवी शक्तियां भरी हैं । जो इस श्रद्धासे इस त्रिवृत यज्ञोपवीतको धारण करेगा वह तेजस्वी होगा और उसके तेजके प्रभावके कारण उसके सब शत्रु नीचे हो जांयगे।

यह देवोंकी शक्तियोंसे परिपूर्ण त्रिवृत् यज्ञोपवीत जो मनुष्य अपने शरीरपर धारण करता है, (यः देवानां अमृतं आबेधे) जो इस देवोंके अमृतको अपने शरीर धारण करता है (तस्मै नमः कृणोमि । मं० ११) उसको नमस्कार करता हूं । अर्थात् जो यज्ञोपवीत धारण करते हैं वे नमस्कार करने योग्य हैं । यह सूत्र धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है । इतने महत्त्व का यह यज्ञोपवीत होनेके कारण इसके धारण करनेका अधिकार तब प्राप्त हो सकता है, जब कि श्रेष्ठ लोग धारण करनेकी अनुमति देवें—

त्रिवृत् मे आवेधे। अनुमन्यताम्। (मं० ११)

"यह (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत अपने शरीरपर मैं बांधता हूं अथवा धारण करता हूं, इस लिये मुझे अनुमोदन दीजिये।" आप जैसे श्रेष्ठ लोगों की अनुमती हुई तो ही मैं धारण कर सकता हूं, इस लिये आप अनुमोदन देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। इस प्रकार की प्रार्थना पहिले की जाय, तत्पश्चात् महाजनोंकी आज्ञा मिलनेके नन्तर ही वह मनुष्य यज्ञोपवीत अपने शरीरपर धारण करे। जिसके मनमें आवे वह मनुष्य एकदम इस यज्ञोपवीत को धारण नहीं कर सकता, महाजन, महात्मा श्रेष्ठ लोग जिसको आज्ञा देवें, अर्थात् पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा सूचित हुए कर्तव्य करनेमें जो पुरुष समर्थ हो उसीको वे आज्ञा देवें, और वही पुरुष यज्ञोपवीत धारण करे। ऐसा करनेसे यज्ञोपवीतका महत्त्व स्थिर रह सकता है। विना योग्यताके यदि मनुष्य धारण करेगा, तो उसका वह केवल सूत्र ही होगा, परंतु पूर्वोक्त प्रकार जिसने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है, उसके शरीर पर धारण किया हुआ यह यज्ञोपवीत देवोंके नगरोंके समान अनंत दिव्य शक्तियोंसे युक्त हो जाता है। यज्ञोपवीतको केवल सूतका धागा बनाना, अथवा उसको दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बनाना, इस प्रकार मनुष्य समाजके आधीन है।

न्याय, पुष्टि और ज्ञान।

इस त्रिवृत यज्ञोपवीतके तीन सूत्र 'अर्यमा, पूषा और बृहस्पति' (मं० १२) इन तीन देवताओंके साथ संबंध रखते हैं। 'अर्यमा' = (अर्यं मिमीते) श्रेष्ठ कौन है और हीन कौन है इसका निश्चय जो करता है, उसको अर्यमा कहते हैं। पुष्टि करनेवालेका नाम 'पूषा' होता है, और ज्ञानीका नाम 'बृहस्पति' है। अर्थात् इन तीन धागोंसे ज्ञान, पोषण और न्यायकारिता इन तीन दैवी गुणोंकी सूचना मिलती है। जो यज्ञोपवीत धारण करना चाहते हैं, वे मानो, इन तीन गुणोंको अपने जीवन में डालनेके उत्तरदाता हैं। देखिये यज्ञोपवीतने कितनी बडी भारी कर्तव्य दक्षता मनुष्य पर रखी है। जो ये कर्तव्य पालन करेंगे वेही यज्ञोपवीत धारनेके अधिकारी होते हैं।

जिस प्रकार एक वर्षमें छः ऋतु होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी संपूर्ण आयुमें छः ऋतु होते हैं। मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी मानी है उसमें प्रायः बीस बीस वर्षोंका एक एक ऋतु होता है। आयु कम माननेपर कम वर्षोंका भी ऋतु हो सकता है। इन ऋतुओं द्वारा आयु, बल और तेजकी प्राप्ति करनेके कर्तव्य यज्ञोपवीत द्वारा सूचित होते हैं, यह कथन तेरहवे मंत्रका है।

मनुष्यकी आयुमें जो छः ऋतु होते हैं, उन सब ऋतुओंमें अर्थात् मनुष्य अपनी आयुभरमें ऐसा यत्न करे कि जिससे उसको तेज और बल प्राप्त होकर दीर्घजीवन भी प्राप्त हो। ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करनेद्वारा यह सब हो सकता है। इसलिये इस मंत्र द्वारा ये तीन गुण अपनेमें बढानेकी सूचना मिली है। यज्ञोपवीतके तीन सूत्र तेज, बल और दीर्घ आयु प्राप्त करनेकी सूचना देते हैं, यह बात तेरहवें मंत्रसे मिलती है। पाठक यह उपदेश ठीक प्रकार ध्यानमें रखें और उचित अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

अन्तिम चौदहवे मंत्रमें इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके कौनसे विशेष गुण हैं, इसके धारण करनेसे कौनसे लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन किया है। वे गुण बोधक शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

यज्ञोपवीतसे लाभ।

१ पारयिष्णु=दुःखोंसे पार करनेवाला, कष्टोंसे बचानेवाला,
२ अ-च्युतं=न गिरनेवाला अथवा न गिरानेवाला, इसके पहननेसे मनुष्य गिरावटसे बच सकता है,
३ भूमि-दृंहं=मातृभूमिको बलवान बनानेवाला,
४ सपत्नान् भिन्दत्=शत्रुओंका नाश करनेवाला,
५ अधरान् कृण्वत्=वैरियोंको नीचे करनेवाला, दुष्टोंको हीनबल करनेवाला,
६ मधुना समक्तं=सब मधुरतासे युक्त, मधुरताको देनेवाला,
७ घृतात् उल्लुप्तं=घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ देनेवाला और पोषण करनेवाला,

इस प्रकारका सामर्थ्यशाली यह यज्ञोपवीत है इसलिये हे यज्ञोपवीत! तू—

८ महते सौभगाय मा आरोह=बडे सौभाग्यके लिये मेरे शरीरपर आरोहण कर, अर्थात् मेरे शरीर पर चढ कर विराजमान हो।

हर एक द्विजको उचित है कि वह इस प्रकारकी भावनासे और पूज्य भावसे यज्ञोपवीत पहने और अपने कर्तव्यकर्म करके अपनी उन्नतिका साधन करे।

यज्ञोपवीतकी यह महिमा है। पाठक इसका विचार करें और इस यज्ञोपवीत धारणसे अपना भाग्य बढावें। यज्ञोपवीत की महिमा बढे और यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंसे सब जगत्का कल्याण होवे।

रोग-क्रिमि-निवारण।

[२९]

(ऋषिः- चातनः । देवता—जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः ।)

पुरस्तांद् युक्तो वंह जातवेदोग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥
तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥
यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः । विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥३॥

अर्थ— हे जातवेद अग्ने! (त्वं भिषक्) तू वैद्य और (भेषजस्य कर्ता असि) औषध का करनेवाला है। (पुरस्तात् युक्तः वह) पहिलेसे सब कार्योंमें नियुक्त होकर कार्यके भारको उठा। (यथा इदं क्रियमाणं विद्धि) जैसा यह कार्य किया जा रहा है उसको तू जान। (त्वया गां अश्वं पुरुषं सनेम) तेरी सहायतासे गौ, घोडे और मनुष्योंको उत्तम प्रकार नीरोग अवस्थामें हम प्राप्त करेंगे ॥ १ ॥

हे जातवेद अग्ने! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ (तथा तत् कुरु) वैसा प्रबंध कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह मर्यादा गिर जावे. (यः नः दिदेव) जो हमें पीडा देता है और (यतमः जघास) जो हमें खा जाता है ॥ २ ॥

हे जातवेद अग्ने! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ तू (तथा कुरु) वैसा आचरण कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह सब सीमा नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे तेजस्वी वैद्य! तू स्वयं वैद्य है और औषध बनानेमें प्रवीण है। रोगनिवारणके उपाय जो यहां किये जाते हैं वे ठीक हैं वा नहीं, इसका निरीक्षण कर। तेरी चिकित्सासे हम गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम नीरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकेंगे ॥१॥ तू जल, औषधि, वायु आदि देवताओंको अनुकूल बनाकर ऐसा प्रबंध कर कि जिससे पीडा देनेवाले और मांसको क्षीण करनेवाले रोगजन्तुओंकी शरीरमें बनी मर्यादा नष्ट हो जावे ॥२-३॥

अ॒क्ष्यौ॒३॑नि वि॑ध्य॒ हृद॑यं॒ नि वि॑ध्य जि॒ह्वां नि तृ॑न्द्धि॒ प्र द॒तो मृ॑णीहि।
पि॒शा॒चो अ॒स्य य॑त॒मो ज॒घासाग्ने॑ यविष्ठ॒ प्रति॒ तं शृ॑णीहि ॥ ४ ॥
तद॑स्य हृ॒तं विहृ॑तं॒ यत् परा॑भृतमा॒त्मनो॑ ज॒ग्धं य॑त॒मत् पि॑शा॒चैः।
तद॑ग्ने वि॒द्वान् पुन॒रा भ॑र॒ त्वं शरी॑रे मां॒सम॑सु॒मेर॑यामः ॥ ५ ॥
आ॒मे सुप॑क्वे श॒बले॒ विप॑क्वे॒ यो मा॑ पिशा॒चो अश॑ने द॒दम्भ॑।
तदा॒त्मना॑ प्र॒जया॑ पिशा॒चा वि या॑तयन्ताम॒ग॒दो॒३॑ऽयम॑स्तु ॥ ६ ॥

अर्थ-हे अग्ने! (अस्य अक्ष्यौ निविध्य) इसके आंखोंको छेद डाल, (हृदयं निविध्य) हृदयको वेध डाल, (जिह्वां नितृन्धि) जिह्वाको काट दे, (दतः प्र मृणीहि) दांतोंको भी तोड डाल। हे (यविष्ट) बलवाले! (अस्य यतमः पिशाचः जघास) इसको जिस रक्त भक्षकने खाया है (तं प्रतिशृणीहि) उसका नाश कर ॥ ४ ॥

हे विद्वन् अग्ने! (पिशाचैः अस्य आत्मनः) मांस भक्षकोंने इसके अपने शरीरका (यत् हृतं, विहृतं, यत् पराभृतं) जो भाग हरा गया छीना गया और जो लूट दिया है और (यतमत् जग्धं) जो भाग खाया गया है, (त्वं तत् पुनः आभर) तू वह फिर भर दे। और (शरीरे मांसं असुं आ ईरयामः) शरीरमें मांस और प्राणको स्थापित करते हैं॥ ५॥

(यः पिशाचः आमे सुपक्के) जो मांस भोजी क्रिमी कच्चे, अच्छे पक्के (शबले विपक्के अशने मा ददम्भ) आध पके, विशेष पके भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे हानि पंहुंचाता है, (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह स्वयं और प्रजाके साथ वे सब मांस भोजी क्रिमी (वि यातयन्तां) हटाये जांय और (अयं अगदः अस्तु) यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस मांस भक्षक रोगक्रिमीने इस के मांस को खाया है उसका नाश कर, उसके सब अवयव नष्ट कर दे ॥४॥

मांस भक्षक रोगक्रिमियोंने इस रोगीके जो जो अवयव क्षीण किये हैं, उनको फिर पुष्ट कर और इसके शरीर में पुनः मांसकी वृद्धि होवे ॥५॥

जो शरीर क्षीण करनेवाला क्रिमी कच्चे, आधपके, पक्के और अधिक पक्के हुए भोजनमें प्रविष्ट होकर सताते हैं, उनका समूल नाश किया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥६॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्येइयः ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोइयमस्तु ॥ ७ ॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोइयमस्तु ॥ ८ ॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोइयमस्तु ॥ ९ ॥

अर्थ—(यतमः क्षीरे मन्थे अकृष्टपच्ये धान्ये) जो दूधमें, मठेमें, विना खेती उत्पन्न हुए धान्यमें तथा (यः अशने मा ददम्भ) जो भोजन में प्रविष्ट होकर मुझे दबाता है। (तत् आ०) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हट जावे और यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ७ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभक्षक क्रिमि (अपां पाने) जलके पान करनेमें और (यातूनां शयने शयानं) यात्रियोंके विछोने पर सोते हुये (मा ददम्भ) मुझको दबा रहा है (तत् आ०) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हटाया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ८ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभोजी क्रिमी (दिवा नक्तं यातूनां शयने शयानं मां ददम्भ) दिनमें वा रात्रीमें यात्रियोंके शयन स्थानमें सोते हुए मुझको दबाता है (तत् आ०) वह अपनी संततिके साथ दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

भावार्थ—दूध, छाछ, धान्य तथा अन्य भोजन के पदार्थोंद्वारा शरीरमें प्रविष्ट होकर जो रोगकृमी सताते हैं उनको दूर किया जावे, और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ७ ॥

जो मांसक्षीण करनेवाले कृमि जलपानके द्वारा तथा अनेक मनुष्योंके साथ सोनेसे शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥८॥

जो कृमि दिनके समय अथवा रात्रीके समय अनेक मनुष्योंके साथ सोनेके कारण शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥९॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानन्नु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥

अर्थ- हे जातवेद अग्ने ! (क्रव्यादं रुधिरं मनोहनं पिशाचं जहि) मांस भक्षक, रुधिररूप, मनको मारनेवाले, रक्त खानेवाले, क्रिमी को नाश कर। (वाजी इन्द्रः तं वज्रेण हन्तु) बलवान इन्द्र उसको वज्रसे मार देवे,(धृष्णुः सोमः अस्य शिरः छिनत्तु) निर्भय सोम इसका सिर काट देवे॥ १० ॥

हे अग्ने ! (यातुधानान् सनात् मृणासि) पीडा देनेवाले क्रिमियों को तू सदा नष्ट करता है । (त्वा रक्षांसि पृतनासु न जिग्युः) तुझे राक्षस संग्रामोंमें पराभूत नहीं करते । (सह-मूरान् क्रव्यादः अनुदह) समूल मांस-भक्षकों को जला दे । (ते दैव्यायाः हेत्या मा मुक्षत) तेरे दिव्य शस्त्रसे कोई न छूटने पावे ॥ ११ ॥

हे जातवेदः! (अस्य यत् हृतं यत पराभृतं) इस का जो भाग हर लिया और नष्ट कर लिया है उस भागको (समाहर) पुनः ठीक प्रकार भर दे। (अस्य गात्राणि वर्धन्तां) इसके अंग पुष्ट हो जावें,(अयं अंशुः इव आप्यायतां) यह मनुष्य चन्द्रमा के समान वृद्धिको प्राप्त होवे ॥१२॥

भावार्थ- रक्त और मांसकी क्षीणता करनेवाले, मनको मोहित करनेवाले रोग क्रिमी हैं, उनको इन्द्र और सोम के प्रयोगसे दूर किया जावे ॥१०॥

अग्नि इन क्रिमियोंको सदा दूर करता है, ये क्षीणता करनेवाले क्रिमी अग्निको परास्त नहीं कर सकते । अतः अग्निद्वारा इन रोगक्रिमियोंका कुल समूल नाश किया जावे ॥११॥

इस रोगीका जो अवयव क्षीण हुआ था, वह फिर पुष्ट होवे और उसके सब अवयव पुनः पुष्ट हों, जिस प्रकार चंद्रमा बढता है उस प्रकार यह बढे ॥१२॥

(१) यः दिदेव–जो शरीरमें पीडा देते हैं, जिनके कारण शरीर मथित हुए सम अशक्त होता है, अवयव टूट जानेके समान जिसमें अशक्तता आती है। (मं०

(२) यतमः जघास–जो शरीरको खा जाता है और क्षीण करता है। (मं.३,

(३) पिशाच्– (पिशिताच्) मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला। जो रोगक्रि शरीरमें घुसनेके बाद रक्त मांस आदि धातु क्षीण होने लग हैं। (मं० ४–१०)

(४) ह्रुतं, विह्रुतं, पराभृतं, जग्धं– शरीरके रक्त मांसका हरण करते हैं, विशे प्रकार लूटते हैं, शरीरकी जीवन शक्तिको नष्ट करते हैं, औ खा जाते हैं। (मं० ५)

(५) क्रव्याद्– (क्रवि–अद्) जो शरीरका कच्चा मांस खाते हैं। (मं० ८-११)

(६) रुधिरः–यह रक्तरूप होता है, रक्तमें मिलजानेवाला है, रक्तमें रहता है। (मं० ११)

(७) मनोहनः–मनकी मनन शक्तिका नाश करता है। जब ये रोगक्रिमी शरीर में जाते हैं, तब मननशक्ति नष्ट होती है, मन क्षीण होता है। (मं०१०)

(८) यातुधानः –– (यातु) यातना (धानः) धारण करनेवाला। ये क्रिमी शरीरमें गये तो रोगी को यातनाएं होती हैं। (मं० ११)

(९) रक्षः–(क्षरणः) क्षीण करनेवाला। (मं०११)

ये सब शब्द रोगजन्तुओंके गुण बताते हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करके रोग-क्रिमियोंका स्वरूप जानें और उनसे होनेवाले रोगोंके कष्टोंका विचार करें। ये क्रिमी किस प्रकार शरीरमें प्रवेश करते हैं इस विषयमें अब देखिये—

रोगजन्तुओंका शरीरमें प्रवेश।

आमे, शबले सुपक्के, विपक्के, अकृष्टपच्ये धान्ये, अशने, क्षीरे, मन्थे, अपां पाने, यातूनां शयने ददम्भ। (मं० ६–८)

दिवा नक्तं ददम्भ। (मं० ९)

"कच्चा, आधपका, अच्छा पूर्ण पका, अधिक पका जो अन्न होता है, खेतीके विना जो उत्पन्न होता है वह धान्य, आदि पदार्थोंका भोजन, दूध, दही, मठा, छाछ, पानी आदी का पान करना, और अमंगल लोगोंके बिस्तरेपर सोना, इन कारणोंसे रोगक्रिमी दिनमें तथा रात्रीमें शरीरमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। यही बात अन्य रीतिसे यजुर्वेदमें आगई है देखिये—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (यजु० १६ । ६२)

" जो अन्नमें और पीनेके पात्रोंमें रहकर जनोंके शरीरोंमें घुसते हैं और उनके स्वास्थको वेध डालते हैं। " अर्थात् बीमार करते हैं। इसी मंत्रका स्पष्टीकरण ऊपर लिखे दो तीन मंत्र हैं। पाठक इस दृष्टीसे यजुर्वेद मंत्र और अथर्ववेद मंत्र की तुलना करके मंत्रका ठीक भाव ध्यानमें धारण करें।

आरोग्य प्राप्ति।

उक्त प्रकार रोगकृमि शरीरमें जाते हैं फिर वहांसे उनको किस रीतिसे हटाना होता है इसका विचार अब करना है। इसकी पहिली रीति यह है—

युक्तः भिषक्। भेषजस्य कर्ता। क्रियमाणं अग्रे वेत्ति। (मं० १)

" सुयोग्य वैद्य, जो औषध बनाना जानता है। किया जानेवाला प्रयोग पहिलेसे जानता है। " इस प्रकारका सुयोग्य वैद्य अपने इलाजसे रोगी मनुष्यको निरोग करे। यह वैद्य—

विश्वेभिः देवैः संविदानः अस्य परिधिः पनाति। (मं० २, ३)

" सब देवोंसे सहायता प्राप्त करनेकी रीति जानता हुआ, इस रोगकी अन्तिम मर्यादाको तोड डालता है। " इस प्रकार उसकी मर्यादा गिरानेके पश्चात् रोगकी जड स्वयं नष्ट हो जाती है। देवोंके साथ परिचय रखनेका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक देवता की शक्तिसे जो चिकित्सा हो सकती है वह चिकित्सा करके रोग दूर करनेकी शक्ति रखना। मृत्तिका-चिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, सौरचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, वायुचिकित्सा, औषधिचिकित्सा, मानसचिकित्सा, हवनचिकित्सा, आदि सब चिकित्साएं देवताओंकी शक्तियोंकी सहायतासे होती हैं, देवोंके साथ मिलकर रोग दूर करनेका तात्पर्य यही है। चिकित्सक उक्त देवोंके साथ रहता हुआ रोग दूर करता है। इस प्रकार—

तं प्रतिशृणीहि। (मं० ४)

अयं अगदः अस्तु। (मं० ५-९)

' उस रोगकिमि का नाश कर। और यह मनुष्य नीरोग होजावे और—

विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु। जीवतु। (मं० १३)

'इस रोगीको दोषरहित, पवित्र और नीरोग कर। यह मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करे।' वैद्यको उचित है कि वह रोगी की ऐसी चिकित्सा करे कि रोगीके शरीरके सब दोष दूर हो जांय, रोगीका शरीर पवित्र बने और उसके शरीरसे सब रोग हट जांय। [illegible]

रोगको रोकनेवाले वैद्य अच्छे नहीं होते, रोका हुआ रोग किसी न किसी रूपसे कभी न कभी बाहर प्रकट होगा ही। इस लिये शरीर निर्दोष और मलरहितकरके रोग का बीज दूर करना चाहिये। चौदहवे मंत्रमें—

पिशाचजम्भनीः समिधः। (मं० १४)

'इन खून सुखानेवाले कृमियोंका नाश करनेवाली समिधाओंका वर्णन है।' यज्ञीय वृक्षोंकी लकडियों का यह गुण है। हवन सामग्रीको साथ रखनेसे भी यही गुण बढ जाता है। हवन चिकित्साका यह तत्त्व है, पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार की चिकित्सासे—

गां अश्वं पुरुषं सनेम। (मं० १)

'गौवें, घोडे, और मनुष्योंको निरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकते हैं।'

ग्यारहवे मंत्रमें अग्निचिकित्सासे इन रोगजन्तुओंको दूर करनेका संकेत है। जहां ये क्रिमि होते हैं वहां अग्नि जलानेसे अथवा हवन करनेसे वहांका स्थान नीरोग होता है।

संसर्ग रोग।

कई रोग एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं, मलीन लोगोंके बिस्तरेमें (शयने शयानं) सोनेसे तथा उनके संसर्गमें रहनेसे रोग होते हैं। संसर्गके स्थानमें अग्नि प्रदीप्त करनेसे संसर्ग दोष दूर होता है। मिलकर हवन करनेसे भी इसी कारण संसर्ग दोष दूर होता है।

रोग हटनेका लक्षण।

रोग हटते ही मनुष्यका शरीर पुष्ट होने लगता है, यही आरोग्य प्राप्तिका लक्षण है—

शरीरे मांसं भर। असुं ऐरयामः। (मं० ५)
सोमस्य अंशु इव आप्यायतां। (मं० १२, १३)

"शरीरमें मांस बढना, प्राणकी चेतना प्राप्त होना, चन्द्रमाकी कलाओंके समान वृद्धिको प्राप्त होना।" यह नीरोगताका चिन्ह है। चन्द्रमाके समान मुख दिखाई देने लगा तो समझना की यह मनुष्य नीरोग है।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करनेसे अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार विचार करके बोध प्राप्त करेंगे।

दीर्घायुकी प्राप्ति ।

[३०]

(ऋषिः— उन्मोचनः आयुष्कामः । देवता—आयुः)

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥
यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥
यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ३ ॥

अर्थ- (ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः आवतः) तेरे दूरसे दूरसे भी (ते असुं दृढं बध्नामि) तेरे अंदर प्राण को मैं दृढ बांधता हूं। (इह एव भव) यहां ही रह। (पूर्वान् मा नु गाः) पूर्वजों के पीछे न जा, (मा पितॄन् अनु गाः) पितरोंके पीछे न जा अर्थात् शीघ्र न मर ॥ १ ॥

(यत् स्वः पुरुषः) यदि तेरा अपना संबंधी पुरुष अथवा (यत् अरणः जनः) यदि कोई हीन मनुष्य (त्वा अभिचेरुः) तेरे ऊपर कुछ घातक प्रयोग करता है, तो उस के लिये मैं (वाचा ते) अपनी वाणीसे तुझे (उभे उन्मोचन-प्रमोचने वदामि) दोनों छूटने और दूर रहनेकी विद्या कहता हूं॥२॥

(यत् स्त्रियै पुंसे अचित्या दुद्रोहिथ) यदि स्त्रीसे अथवा पुरुषसे विना जाने द्रोह किया है किंवा (शेपिषे) शाप दिया है, तो (वाचा०) वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं मैं तुझे कहता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे रोगी ! तेरे प्राणको मैं दूरके अथवा समीपके उपायसे तेरे अन्दर स्थिर करता हूं। तूं इस मनुष्य लोकमें दीर्घकाल तक रह। मरे हुए पूर्वजोंके पीछेसे शीघ्र न जा ॥ १ ॥

जो तेरा अपना संबंधी अथवा कोई पराया मनुष्य,जो कुछ भी घातक प्रयोग करता है; उससे बचनेके दो उपाय हैं एक उन्मोचन और दूसरा प्रमोचन ॥ २ ॥

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥४॥
यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥
अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

अर्थ– (यत् मातृकृतात् एनसः) यदि माताके किये हुए पापसे अथवा (यत् पितृकृतात् च शेषे) यदि पिताके लिये पापसे (शेषे) तू सोया है (वाचा०) तो वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं तुझे कहता हूं ॥४॥ (यत् ते माता) जो तेरी माता व (यत ते पिता) जो तेरे पिताने तथा (जामिः भ्राता च सर्जतः) जो तेरी बहिन और भाईने तैयार किया है; (भेषजं प्रत्यक् सेवस्व) उस औषधको ठीक प्रकार सेवन कर; (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला मैं तुझको करता हूं ॥ ५ ॥ हे (पुरुष) मनुष्य! (सर्वेण मनसा सह इह एधि) संपूर्ण मन के साथ यहां रह। (यमस्य दूतौ मा अनु गाः) यमके दूतोंके पीछे मत जाओ। (जीवपुराः अधि इहि) जीवकी पुरीमें निवास कर ॥ ६ ॥ (उदयनं पथ विद्वान्) ऊपर चढनेके मार्गको जानता हुआ (अनुहूतः पुनः आ इहि) बुलाया हुआ फिर यहां आ (जीवतः जीवतः आरोहणं आक्रमणं अयनम्) प्रत्येक जीवित मनुष्यका चढना और आक्रमण करना ये दो गतियां हैं ॥७॥

भावार्थ– स्त्री का अथवा पुरुषका द्रोह, माताका पाप और पिताका पाप, आदिके कारण जो घात होता है उससे बचनेके लिये भी वे ही दो उपाय हैं ॥ ३–४ ॥

माता, पिता, भाई, बहिन, आदिकों द्वारा तैयार किया हुआ औषध रोगी सेवन करे और दीर्घजीवी बने ॥ ५ ॥

अपने मनकी संपूर्णशक्ति रोगनिवृत्तिमें ही विश्वाससे लगाई जावे। कोई मनुष्य यमदूतोंके वशमें न जावे, और इस शरीरमें–अर्थात जीवात्माकी नगरीमें–दीर्घकाल तक रहे ॥ ६ ॥

उन्नतिका मार्ग जानना चाहिये। अर्थात मनुष्य आरोग्य की उन्नति करनेके उपाय जाने और रोगोंपर आक्रमण करके उनको परास्त करे ॥ ७ ॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥८॥
अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥
ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥
अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥११॥

अर्थ— (मा बिभेः, न मरिष्यसि) मत् डर, तू कभी नहीं मरेगा। (जरदष्टिं त्वा कृणोमि) वृद्धअवस्थातक रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं। (तव अङ्गेभ्यः अङ्गज्वरं यक्ष्मं अहं निरवोचं) तेरे अङ्गोंसे शरीरके ज्वरको और क्षयरोगको मैं बाहर निकाल देता हूं ॥ ८ ॥ (अङ्गभेदः अङ्गज्वरः) अवयवोंकी पीडा, अंगोंका ज्वर (यः च ते हृदयामयः) और जो तेरा हृदयरोग है (वाचा साढः यक्ष्मः) वचासे पराजित हुआ यक्ष्मरोग (श्येन इव परस्तरां प्रापप्तत्) श्येनपक्षी की तरह परे भाग जावे ॥ ९ ॥ (बोधप्रतिबोधौ ऋषी) बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं। (अस्वप्नः यः च जागृविः) एक निद्रारहित है और दूसरा जागता है। (तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ) वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं, वे तेरे अन्दर (दिवा नक्तं च जागृतां) दिन रात जागते रहें ॥ १० ॥ (अयं अग्निः उपसद्यः) यह अग्नि उपासनाके योग्य है। (इह ते सूर्यः उदेतु) यहां तेरे लिये सूर्य उदय होवे। (गंभीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः चित्) गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे भी (परि उदेहि) परे उदयको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

भावार्थ-हे रोगी! तू मत् डर, तू मरेगा नहीं। तेरी पूर्ण आयु बनाता हूं। तेरे संपूर्ण अवयवोंसे ज्वर और क्षय दूर करता हूं ॥८॥ शरीरका दुखना, अंगोंका ज्वर, हृदयरोग और क्षयरोग ये सब तेरे शरीरसे दूर हों ॥९॥ तेरे अन्दर बोध और प्रतिबोध ये दो मानो ऋषि हैं। एक सुस्ती आने नहीं देता और दूसरा जगा देता है। ये तेरे प्राण रक्षक हैं, ये दिनरात जागते रहें ॥१०॥ यहां प्राणाग्नि की तुम्हें उपासना करनी चाहिये। इससे तेरे अन्दर आत्मारूपी सूर्य प्रकाशित होता रहे। ऐसा करनेसे गूढ अन्धकार रूपी मृत्युसे तू दूर होगा और अपने प्रकाशसे प्रकाशित होगा ॥ ११ ॥

नमो॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॒ नमः॑ पि॒तृभ्य॑ उ॒त ये नय॑न्ति।
उ॒त्पार॑णस्य॒ यो वेद॒ तम॒ग्निं पु॒रो द॑धे॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥ १२ ॥
ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म्।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॒दां तत् प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु ॥ १३ ॥
प्रा॒णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा॒ सं सृ॑जे॒मं समी॑रय त॒न्वा॒३॑ सं बले॑न।
वेत्था॒मृत॑स्य॒ मा नु गा॒न्मा नु भू॑मिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

अर्थ-(यमाय नमः) यमके लिये नमस्कार है। (मृत्यवे नमः अस्तु) मृत्युके लिये नमस्कार होवे। (उत ये नयन्ति, पितृभ्यः नमः) जो हमें ले जाते हैं, उन पितरोंके लिय नमस्कार है। (यः उत्पारणस्य वेद) जो पार करना जानता है (तं अग्निं अस्मै अरिष्ट-तातये पुरः दधे) उस अग्निको इस कल्याणवृद्धि के लिये आगे धर देते हैं ॥ १२ ॥

(प्राणः आ एतु) प्राण आवे, (मनः आ एतु) मन आवे, (चक्षुः अथो बलं) आंख और बल आवे। (अस्य शरीरं विदां सं ऐतु) इसका शरीर बुद्धिके अनुसार चले। (तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु) वह पांवोंसे प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

हे अग्ने! (प्राणेन चक्षुषा संसृज) प्राण और चक्षुसे संयुक्त कर। (तन्वा बलेन इमं सं सं ईरय) शरीर और बलसे इसको प्रेरित कर। (अमृतस्य वेत्थ) तूं अमृतको जानता है। (मा नु गात्) तेरा प्राण न चला जावे। (भूमिगृहः मा नु भुवत्) भूमिको घर करनेवाला न हो अर्थात् मरकर मिट्टीमें न मिल ॥ १४ ॥

भावार्थ-यम और मृत्युके लिये नमस्कार है, तथा जो मृत्युके पश्चात ले जाते हैं उन पितरोंके लिये भी नमस्कार है। मृत्युसे पार होनेकी विद्या जो जानता है उस अग्निसे कल्याण प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियां शरीरमें फिरसे निवास करें और यह शरीर अपने पांवसे खडा रह सके ॥ १३ ॥

यह प्राण और चक्षु की शक्तियोंसे युक्त हो। शरीरके बलसे यह प्रेरित होवे। अमृत प्राप्तिका उपाय जान और उससे तेरा प्राण शीघ्र न चला जावे ॥ १४ ॥

मा ते॑ प्राण उप॑ दसन्मो अ॑पानोऽपि॑ धायि ते ।
सूर्य॑स्त्वाधि॑पतिर्मृत्योरुदाय॑च्छतु रश्मिभिः॑ ॥ १५ ॥
इयमन्तर्व॑दति जिह्वा बद्धा प॑निष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निर॑वोचं शतं रोपी॑श्च तक्मनः॑ ॥ १६ ॥
अयं लोकः प्रियत॑मो देवानामप॑राजितः ।
यस्मै॑ त्वमिह मृत्यवे॑ दिष्टः पु॑रुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु॑ ह्वयामसि मा पुरा जरसो॑ मृथाः ॥ १७ ॥

अर्थ-(ते प्राणः मा उपदसत्) तेरा प्राण नष्ट न होवे। (ते अपानः मो अपि धायि) तेरा अपान न आच्छादित होवे। (अधिपतिः सूर्यः रश्मिभिः त्वा उदायच्छतु) अधिपति सूर्य किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे ॥ १५ ॥

(पनिष्पदा इयं अन्तः बद्धा जिह्वा) शब्द बोलनेवाली यह अंदर बंधी हुई जिह्वा (वदति) बोलती है। (त्वया यक्ष्मं) तेरे साथ रहनेवाला क्षयरोग और (तक्मनः च शतं रोपीः) ज्वरकी सौ प्रकार की पीडा (निः अवोचं) दूर करता हूं ॥ १६ ॥

(अयं अपराजितः लोकः देवानां प्रियतमः) यह पराजित न हुआ हुआ लोक देवोंका प्यारा है। (यस्मै मृत्यवे दिष्टः पुरुषः त्वं इह जज्ञिषे) जिस लोककी मृत्युको निश्चित प्राप्त होनेवाला तू पुरुष यहां उत्पन्न होता है। (सः च त्वा अनुह्वयामसि) वह और तुझे बुलाते हैं। और कहते हैं कि (जरसः पुरा मा मृथाः) बुढापेसे पूर्व मत मर ॥ १७ ॥

भावार्थ-तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरमें दृढतासे रहे। सूर्य अपनी किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे अर्थात जीवन देवे ॥ १५ ॥

अपनी वाक्शक्तिसे मैं कहता हूं कि क्षय, ज्वर तथा अन्य पीडाएं इस प्रकार दूर की जाती हैं ॥ १६ ॥

तूं देवोंका प्रिय है, यद्यपि तू इस मृत्युलोकमें जन्म लेनेके कारण मरनेवाला है, तथापि हम यह ही कहते हैं कि, तू वृद्धावस्थाके पूर्व न मर ॥ १७ ॥

आरोग्य युक्त दीर्घ आयु।

इस सूक्तमें आरोग्यपूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करनेके बहुतसे निर्देश हैं। पाठक इन मनन करेंगे, तो उनको बहुत लाभ हो सकता है। यहां दीर्घायुके विषयमें मुख्य प्र आत्मविश्वासका है, इस विषयमें प्रथम मंत्रका निर्देश देखने योग्य है—

आत्मविश्वाससे दीर्घायु।

इह एव भव, पूर्वान् पितॄन् मा अनुगाः।
ते असुं दृढं बध्नामि। (मं० १)

" यहां अर्थात् इस शरीरमें रह, प्राचीन पूर्वजोंके पीछे मत जा अर्थात् शीघ्र मर। तेरे शरीरमें प्राणोंको दृढतासे बांधता हूं।" ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा बता हैं कि आत्मविश्वाससे दीर्घआयु होनेमें सहायता होती है। " तू मत् मर जा " उसीको कहा जा सकता है, कि जिसके आधीन शीघ्र या देरीसे मरना हो। यदि मनु ष्यके आधीन यह बात न होगी, तो ' इस समय न मर, वृद्धावस्थाके पश्चात मर इत्यादि आज्ञायें व्यर्थ होगी। ये आज्ञाएं कंठरवसे कह रहीं हैं, कि मनुष्यकी इच्छा शक्तिपर मृत्युको शीघ्र या देरीसे प्राप्त होना अवलंबित है। मैं शीघ्र न मरूंगा, मैं दीर्घायु होऊंगा, मैं अपनी आयु धर्म कार्यमें समर्पण करूंगा ' इस प्रकारकी मनकी सुदृढ भावना रही, तो सहसा अल्प आयुमें मृत्यु न होगी, परंतु यदि कोई विश्वकी क्षण भंगुरताका ही ध्यान करेगा, तो वह स्वयं क्षणभंगुर बनेगा। आत्मविश्वास यह अन्य दीर्घायुप्राप्तिके अनुष्ठानोंकी बुनियाद है। अन्य अनुष्ठान तब सिद्ध होसकते हैं, जब कि यह बुनियाद ठीक सुदृढ हुई हो।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ' उन्मोचन और प्रमोचन ' ये दो उपाय हैं जिनसे नीरो गता और दीर्घायु सिद्ध हो सकती है। ये विधि क्या हैं, इसकी खोज करनी चाहिये। इनमेंसे एक विधि आरोग्य बढानेवाला और दूसरा अकालमृत्यु हरण करनेवाला है।

कुविचारसे अनारोग्य।

तृतीय मंत्रमें स्त्री पुरुषोंको शाप देना, गालीयां देना, अथवा बुरे शब्द प्रयुक्त करना बुरा है ऐसा कहा है। किसीके साथ द्रोह करना भी घातक है। बुरे शब्द बोलनेसे प्रथम अपना मन बुरे विचारोंसे भर जाता है और जो वैसे हीन विचारके शब्द सुनते हैं उनमें वैसे ही हीन भाव जम जाते हैं। इस प्रकार मनका स्वास्थ्य बिगडनेके लिये ये बुरे शब्द कारण होते हैं। मनका स्वास्थ बिगडनेसे ही शरीरमें रोग बीज प्रविष्ट होते हैं

ी कारण वहां स्थिर होते हैं।

मातापिता का पाप।

पाचरणसे भी रोग होते हैं यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है—

कृतात् पितृकृतात् च एनसः शेषे ॥ (मं० ४)

ाता के किये पापाचरणसे तू बीमार होकर पडा है। " इस मन्त्र कि बीमारीका एक हेतु मातापिताके पापाचरण भी है। मातापिताके ार के कारण जन्मतः ही लडके का शरीर निर्बल होता है और ीमारियोंका घर बन जाता है। गृहस्थ धर्ममें रहनेवाले लोग इस ार करें, क्यों कि यदि वे कुछ भी पाप करेंगे, तो वे अपने वंशको पी हो सकते हैं। इससे पता चलता है कि, व्यभिचार, मद्य पान फंसे हुए लोग न केवल स्वयं दुःख भोगते हैं, प्रत्युत अपने वंश- के महासागरमें डाल देते हैं। वेदने यह मंत्र कह कर जनता के बडा उत्तम उपदेश दिया है, परंतु पाठकोंको चाहिये कि वे इसका ारणमें लावें।

। है कि [भेषजं सेवस्व । त्वा जरदष्टिं कृणोमि । (मं०५)] ावन कर, इतना पथ्य करेगा तो मैं तुम्हें दीर्घायु बनाता हूं।" ाथ्य पालन करनेसे अवश्य दीर्घायुवाला हो जायगा।

मानसशक्ति।

ो शक्तिका वर्णन किया है जो विशेष महत्त्वका है—

ृरुष ! सर्वेण मनसा सह इह एधि।

रमस्य दूतो मा अनुगाः। जीवपुरा अभि इहि ॥ (मं० ६)

ापनी सब मानसिक शक्तिके साथ तू यहां रह। यमके दूतोंके पीछे ुरियोंमें अर्थात् शरीरमें यहां स्थिर रह।"

र पहिले मंत्रके कथनके साथ बहुत ही घनिष्ट है। अपनी सब मान- र इच्छा पूर्वक 'मैं दीर्घायु बनूंगा' ऐसा मनमें निर्धार करना कि विलक्षण है, मनकी शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी निश्चयसे । मनकी कल्पनासे रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी निर्बल होता है और निर्बल भी बलवानके समान कार्य करनेमें समर्थ ी यह विलक्षण शक्ति होनेके कारण प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि

वह अपने मनमें सुविचारोंकी धारणा करता हुआ नीरोगता पूर्वक दीर्घायु प्राप्त करे। हीन विचार मनमें न आने दें। क्यों कि हीन विचारोंसे मनुष्य क्षीणायु हो जाता है। मरनेके विचार कभी मनमें न आने दें। पूर्ण स्वास्थ्यके विचार ही मनमें स्थिर किये जावें।

उन्नति का मार्ग।

अपनी उन्नतिका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान श्रेष्ठ मनुष्योंसे प्राप्त करें और तदनुसार आचरण करें, आरोग्य प्राप्तिके मार्गका नाम ' उदयनं पथः ' है, अर्थात् उन्नतर अवस्था प्राप्त करनेका यह राजमार्ग है। इस परसे ' आरोहणं आक्रमणं ' अर्थात् इस आरोग्यके मार्ग पर आना और उसपरसे चलना मनुष्यके लिये लाभ दायक है—

उद्यनं पथः विद्वान् ऐहि।
आरोहणं आक्रमणं जीवतः अयनम् ॥ (मं० ७)

" उन्नतिके मार्गको जान कर ही इस संसारमें रह। इस मार्गपर आना और इसी मार्गपरसे चलना जीवित मनुष्यके लिये हित कारक है। " इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने आरोग्यके बढानेके उपायोंको जानें और उनका आचरण करके अपनी आयु और आरोग्य बढावे। इस प्रकार करनेसे कितने लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन अष्टम मंत्रमें किया है—

मा बिभेः। न मरिष्यसि। त्वा जरदष्टिं कृणोमि। (मं० ८)

यदि तू पूर्वोक्त मंत्रोंमें कहे मार्गके अनुसार आचरण करेगा, तो " तू शीघ्र नहीं मरेगा, तू मत डर, मैं तुझे दीर्घायु करता हूं। " जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार आचरण करेगा, उसके लिये यह आशीर्वाद अवश्य मिलेगा। पाठक ! विचार करके देखिये, तो मालूम होगा कि यह मार्ग सीधा है, परंतु मनुष्य प्रलोभनमें पडता है और फंसता है—

मार्गदर्शक दो ऋषी।

अपने ही अंदर मार्ग बतानेवाले दो ऋषि बैठे हैं ये ऋषि दशममंत्रमें देखिये—

बोधप्रतिबोधौ ऋषी। अस्वप्नः जागृविः।
तौ प्राणस्य गोप्तारौ दिवानक्तं च जागृताम् ॥ (मं १०)

" मनुष्यके अन्दर बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान ये दो ऋषि हैं। इनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। इनमेंसे एक (अ-स्वप्नः) सुस्त नहीं है और दूसरा सदा जागता रहता है। ये ही दो ऋषि मनुष्यके प्राणोंके रक्षक हैं। अतः ये दिन रात यहां जागते रहें। " ये दो ऋषि यहां जागते रहनेसे ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु हो सकता है। ज्ञान विज्ञानसे उसको यहांका व्यवहार कैसा करना चाहिये

इसका ज्ञान हो सकता है। ठीक व्यवहार करके यह मनुष्य अपना स्वास्थ्य उत्तम रखता है और दीर्घायु होता है। व्यक्तिमें और समाजमें ये बोध और प्रतिबोध अथवा ज्ञान और विज्ञान जागते रहें। जब तक इनकी जाग्रति रहेगी तबतक उन्नति होना स्वाभाविक है। इसलिये कहा है—

गम्भीरात् कृष्णात् तमसः परि उदेहि ॥ (मं० ११)

"गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे ऊपर उठ" अर्थात् मृत्युके अंधकारमें न फंस और जीवनके प्रकाशमें नित्य रह। यहां पूर्वोक्त दो ऋषियोंकी सहायतासे मृत्युसे बचनेका उपदेश है। क्यों कि वेही मृत्युको दूर करके दीर्घ जीवन देनेवाले हैं।

मृत्युको दूर करना।

यहां एक बात लक्ष्यमें रखने योग्य कही है वह यह है कि "मृत्यु अन्धकार है" और 'जीवन प्रकाशमय है।" यह अनुभव सत्य है। जीवित मनुष्यका प्रकाशवर्तुल आकाशभर व्यापक होता है, यह प्रकाशवर्तुल मरनेके समय शनैःशनैः छोटा छोटा हो जाता है। जब यह प्रकाश वर्तुल अंगुष्ट मात्र रह जाता है उस समय मनुष्य मरा होता है। मरनेवाले मनुष्यको मरनेसे पूर्व कुछ घण्टे ऐसा अनुभव आता है कि जगत्के अंदर व्यापनेवाला प्रकाश अब घरके अंदर ही रहा है और बाहर अन्धकार है। मृत्युको छाया रूप वर्णन किया है इसका कारण यह है। यह कविकल्पना नहीं है परंतु सत्य बात है। अपने आपको अन्धेरेसे वेष्टित होने न देना आवश्यक है, यही मृत्युको दूर करनेका तात्पर्य है। प्रकाशका महत्त्व इतना है, यह प्रकाश अपने आत्माका ही है बाहरका नहीं।

जीवनका लक्षण।

बारहवे मंत्रमें उन पितरोंको नमन किया है कि जो जीवको इस लोकसे यमलोकमें ले जाते हैं। वे कृपा करें और हमारे (उत्पारण) मृत्युपार होनेके अनुष्ठानमें सहायता करें। बारहवे मंत्रमें यह कहनेके पश्चात् तेरहवें मंत्रमें जीवन का लक्षण बताया है। 'मनुष्यके शरीरमें प्राण, मन, चक्षु, और बल रहे और यह अपने पांवके बलसे खडा रहे।' (मं० १३) यह जीवनका लक्षण है, मृत्युका लक्षण भी इसीसे ज्ञात हो सकता है, वह इस प्रकार है—'शरीरमें प्राण, मन, आंख, और बल न रहे और शरीर अपने पांवपर खडा न रह सके।' इन शक्तियोंका यहां होना और न होना जीवन और मृत्यु है। और पूर्वोक्त प्रकार मृत्युको दूर और जीवनको पास किया जा सकता है।

पाठक इन मंत्रोंका अच्छी प्रकार विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तमें कही जीवन विद्याका ज्ञान हो सकता है।

घातक प्रयोगको दूर कराना ।

[३१]

(ऋषिः—शुक्रः । देवता—कृत्यादूषणम्)

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ १ ॥
यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ २ ॥
यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ३ ॥
यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ४ ॥

अर्थ- (यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिसको वे कच्चे बर्तन में करते हैं, (यां मिश्रधान्ये चक्रुः) जिसको मिश्रधान्यमें करते हैं, (आमे मांसे यां कृत्यां चक्रुः) कच्चे मांसमें जिस हिंसा प्रयोग को करते हैं (तां पुनः प्रति हरामि) उसको मैं हटादेता हूं ॥ १ ॥

(यां ते कृकवाकौ चक्रुः) जिसको वे पक्षिविशेषमें करते हैं, (यां वा कुरीरिणि अजे) अथवा जिसको सींगवाले मेढे में अथवा बकरेमें करते हैं (यां कृत्यां ते अव्यां चक्रुः) जिस घातक प्रयोग को वे भेडीमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(यां ते एकशफे चक्रुः) जिसको वे एक खुरवाले पशुमें करते हैं, (पशूनां उभयादति) पशुओंमें जिनको दोनों ओर दांत होते हैं, उनमें जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां गर्दभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको गधेमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

(यां ते अमूलायां चक्रुः) जिसको वे अमूला औषधिमें करते हैं, और (नराच्यां वा वलगं) नराची औषधीमें बल घटानेका जो प्रयोग करते हैं (यां कृत्यां ते क्षेत्रे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे खेतमें करते हैं (तां० उसको मैं हटाता हूं ॥ ४ ॥

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः।
शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ५ ॥
यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने।
अक्षेषु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ६ ॥
यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ७ ॥
यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥
यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

अर्थ-(यां ते गार्हपत्ये चक्रुः) जिसको गार्हपत्य अग्निमें करते हैं, (उत दुश्चितः पूर्वाग्नौ) और जिसको बुरी तरहसे प्रज्वलित पूर्व अग्नि में करते हैं तथा (यां कृत्यां शालायां चक्रुः जिस घातक प्रयोगको शालामें करते हैं (तां०) उस को मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(यां ते सभायां चक्रुः) जिसको वे सभामें करते हैं, (यां अधिदेवने चक्रुः) जिसको खेलमें करते हैं, (यां कृत्यां अक्षेषु चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको पासोंमें करते हैं, (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

(यां ते सेनायां चक्रुः) जिसको वे सेनामें करते हैं, (यां इषु-आयुधे चक्रुः) जिसको बाण और मनुष्यपर करते हैं, (यां कृत्यां दुन्दुभे चक्रुः) जिस घातकप्रयोगको दुन्दुभी पर करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ७ ॥

(यां कृत्यां ते कूपे अवदधुः) जिस घातक प्रयोग को वे कूएंमें करते हैं, (श्मशाने वा निचख्नुः) अथवा जिसको श्मशानमें गाड देते हैं, (यां कृत्यां सद्मनि चक्रुः) अथवा जिस घातक प्रयोगको घरमें ही करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ८ ॥

(यां ते पुरुषास्थे चक्रुः) जिसको वे मनुष्यकी हड्डीमें करते हैं, (संकसुके अग्नौ चक्रुः) प्रज्वलित अग्निमें जो करते हैं, (म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं प्रति) चोरीसे प्रज्वलित किये मांस खानेवाले अग्नि के प्रति (पुनः तां प्रति हरामि) फिर उसको मैं हटा देता हूं ॥ ९ ॥

अपथेना जंभारैणां तां पथेतः प्र हिंण्मसि ।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जंभाराचित्त्या ॥ १० ॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकारं भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥
कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ–(अपथेन एनां आजभार) कुमार्गसे इस हिंसा को लाया है (तां पथा इतः प्रहिण्मसि) उसको सुमार्गसे यहांसे हटाते हैं। (अधीरः मर्या धीरेभ्यः) मूढ मनुष्य मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषोंसे (अचित्या संजभार) बिना सोचे उपाय प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥

(यः कर्तुं चकार) जिसने हिंसा करनेका यत्न किया, वह (न शशाक) वह समर्थ नहीं हुआ। परन्तु (पादं अंगुरिं शश्रे) उसने ही पांव और अंगुलिको तोड दी है। (अभगः) उस अभागीने तो (अस्मभ्यं भगवद्भ्यः भद्रं चकार) हम सौभाग्यवानोंके लिये तो उसने कल्याणही किया है ॥ ११ ॥

(इन्द्रः वलगिनं) इन्द्र इस नीच (मूलिनं शपथेय्यं) जडमें दुःख देने वाले और गालियां देनेवालोंको (महता वधेन हन्तु) बडे वधोपायसे मारे और (अग्निः अस्तया विध्यतु) अग्नि अस्त्रसे वेध डाले ॥ १२ ॥

भावार्थ– कच्चा वर्तन, मिश्रधान्य, कच्चा मांस, कृकवाक पक्षी, मेंढे, बकरी, भेडी, एक खुरवाले पशु, दोनों ओर दांत वाले पशु, गवा, अमूला औषधि, नराची वनस्पति, खेत, गार्हपत्य अग्नि, पूर्वाग्नि, घर या कमरा, सभा, खेल का स्थान, पासे, सेना, बाण और मनुष्य, दुन्दुभी, कूवा, श्मशान, घर, पुरुषकी हड्डी, प्रज्वालित अग्नि, मांस जलाने वाला अग्नि आदि स्थानोंमें दुष्ट लोक घातक प्रयोग करते हैं। उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ॥ १-१ ॥

पंचम काण्डकी विषय सूची।